अभिज्ञानशाकुन्तलम्

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये रियायती मूल्य
के कागज पर मुद्रित ।

महाकवि-श्रीकालिदासप्रणीतम्
अभिज्ञानशाकुन्तलम्

सम्पादक

डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

[व्याकरणादि सप्तविषयाचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न]

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

इन्स्टीट्यूट ऑफ ओरियन्टल फिलासफी, वृन्दावन (मथुरा)



प्राक्कथन लेखक

डॉ० बाबूराम त्रिपाठी

शास्त्री, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०

सस्कृत विभागाध्यक्ष (नि०)

सेण्ट जॉन्स कॉलिज, आगरा

महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२

प्रकाशक :

महालक्ष्मी प्रकाशन

पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता

शहीद भगतसिंह मार्ग, आगरा–२८२ ००२

दूरभाष ६५४१५

शाखाएँ

आगरा . कचन मार्केट (फर्स्ट फ्लोर)
हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ० प्र०)

जयपुर : डिग्गी हाउस, जयपुर (राज०)

तृतीय सस्करण : १६८१-८२

मूल्य : १८·८५

मुद्रक : पुष्पराज प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा



टेलीफोन { निवास—७४३४७
कार्यालय— ७२१६४/१२
पी बी एक्स

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ

आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

विद्यानिवास मिश्र
निदेशक

आगरा-४ (पिन-२८२००४)

दिनांक १९८ ई

अभिज्ञान शाकुन्तल महाकवि कालिदास की रससिद्ध कृति है, इसमें प्रणयवार्ता मात्र नहीं है इसमें तपोवन की आग है, तपोवन की शान्ति है राजमद का विगलन है, पश्चात्ताप की स्निग्धता है, एकनिष्ठ प्रेम के गौरव की दीप्ति है, नारी के उदात्त मातृरूप का दर्प है, पर सबसे अधिक है इस जीवनदृष्टि की धाप कि 'परिणामरमणीया हि ग्रीष्मदिवसा' गर्मी के दिनों की ढलान सुखद होती है जीवनसन्ध्या की रमणीयता तप और ताप से गुजरने पर ही सम्भव होती है। शाकुन्तल रूमानी प्यार की स्थापना के लिए नहीं लिखा गया, वह लिखा गया अनिवार्य शर्त के रूप में प्रेम के पथ को प्रतिष्ठित करने के लिए और ग्रीष्मशान्त दिवस की सघनशीतल छाँह की भावानुभूति का साक्षात्कार कराने के लिए।

अभिज्ञान शकुन्तल की मार्मिक रसनिष्पत्ति को प्रियवर श्री वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी ने बहुत ही विशद और रोचक ढंग से समझाया है। वे बधाई के पात्र हैं।

२८-८-८१ विद्यानिवास मिश्र

डॉ० चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल को आद्योपान्त पढ़ने का अवसर मिला, इसकी आशुबोधिनी नामक टीका वस्तुत. आज के छात्रो के लिए आशु-बोधिनी ही है, विद्वान टीकाकार का यह स्तुत्य प्रयास, आज के विद्यार्थियो की आवश्यकता की पूर्ति को लक्ष्य मे रखकर ही है, अतएव यह, इस दृष्टि से एक बडा ही उपयोगी प्रयास है । आशा है छात्र वर्ग इसे अपनाकर अपनी आज की समस्त परीक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सफलता प्राप्त कर सकेगा।

कारण, इस टीका की अपनी कुछ निजी विशेषताएँ हैं जो अद्यावधि प्रकाशित अभिज्ञानशाकुन्तल की टीकाओ मे उपलब्ध नही होती । जिन-जिन विश्वविद्यालयीय परीक्षाओ मे यह नाटक निर्धारित है, प्रश्न शैली मे समय-समय पर कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है । किसी समय सस्कृत श्लोको की व्याख्या केवल हिन्दी या अग्रेजी मे ही पूछी जाती थी, पर कालान्तर मे व्याख्या न पूछकर अनुवाद पूछा जाने लगा तथा कुछ सस्कृत श्लोको का सस्कृत मे भी अर्थ लिखना अनिवार्य कर दिया गया। प्राचीन टीकाओ मे और इस टीका के पूर्व की टीकाओ मे सस्कृत मे अथवा हिन्दी मे अथवा दोनो मे श्लोको की व्याख्याये ही उपलब्ध होती हैं अनुवाद नही, कुछ मे व्याख्या और यत्र-तत्र अनुवाद मिश्रित रूप मे भी मिलता है जोकि आज के छात्रो की आवश्यकता की पूर्ति मे उतना सक्षम नही है जितनी कि आवश्यकता है । इस विद्वान् टीकाकार का ध्यान सर्वत्र इसी बात पर रहा है कि आज की परीक्षाओ मे पायी जाने वाली प्रश्न शैली के अनुरूप इस टीका मे सभी बातें यथास्थान प्राप्य हो जोकि अनिवार्यत आवश्यक है, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्लोको के अन्वय एव शब्दार्थ के बाद इस टीका मे श्लोको का शब्दानुयायी अनुवाद दिया गया है, आजकल की परीक्षाओ मे श्लोको का अनुवाद ही पूछा जाता है, इसमे कोई सन्देह नही, कि विद्यार्थी के सुव्यवस्थित अध्ययन के परीक्षण के लिए श्लोको के अनुवाद का पूछना आवश्यक है, किन्तु श्लोक के अनुवाद मात्र से श्लोक का तात्पर्य कभी स्पष्ट नही होता है, अतः यह अत्यावश्यक है कि अनुवाद के बाद श्लोक का भावार्थ भी सरल भाषा मे स्पष्ट किया जाय, एतदर्थ प्रस्तुत टीका मे प्रत्येक श्लोक का भावार्थ स्पष्ट किया गया है ।

टीका के 'विशेष' नामक शीर्षक के अन्तर्गत श्लोकगत अलकारो का स्पष्टी-करण तथा छन्दों का भी विवरण दिया है जो छात्रो के लिए आवश्यक है ।

श्लोको की संस्कृत व्याख्या तो प्रायः अन्य टीकाओ मे भी उपलब्ध होती है, पर जैसा कि आज श्लोको का सस्कृत मे अर्थ, जोकि परीक्षाओ मे अनिवार्यतः पूछा

जाता है, अन्य पुस्तको मे उपलब्ध नही है, विद्वान् टीकाकार ने इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक श्लोक का सरल सस्कृत मे अर्थ भी दिया है, जोकि आज के परीक्षार्थियो के लिए विशेष लाभकारी है ।

इसके बाद प्रत्येक श्लोक की टीका के अन्त मे एक टिप्पणी भाग है, जिसमे कि न केवल उस श्लोक का ही अपितु उस श्लोक से सम्बद्ध गद्य का भी तात्पर्य स्पष्ट किया गया है । इस भाग मे न केवल शब्दो की व्युत्पत्ति—समास सन्धि विग्रह आदि है, अपितु इसमे यथा स्थान प्रयुक्त पौराणिक सकेतो का भी विवरण सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है । धर्मशास्त्रीय या पौराणिक अन्त. कथाओ को भी इसी भाग मे रखा गया है, जहाँ किसी स्थल पर विद्वानो मे मतभेद देखा गया है उसे भी इसी भाग मे स्पष्ट किया गया है । साथ ही इस भाग मे नाटकीय पारिभाषिक शब्दो—सन्धि अवस्था, अर्थ प्रकृति, नाट्यालकार, इतिवृत्त, नाट्य, लक्षण, अन्त सन्धि, अर्थोपक्षेपक एव इसी प्रकार के समस्त नाटकीय पारिभाषिक शब्दो का विस्तृत विवरण दिया गया है । नाटककार का नाटकीय कौशल एव उसकी नाट्य प्रतिभा का पता लगाने के लिए यह टिप्पणी भाग अत्यन्त उपयोगी है । इसी प्रकार टीका भाग मे परीक्षा की दृष्टि से आज जो कुछ अपेक्षित है वह इसमे सर्वत्र उपलब्ध होता है, मैं नही समझता कि इसके अतिरिक्त और क्या शेष रह जाता है ?

इस टीका की सबसे बड़ी दो और भी विशेषताएँ है—एक तो इसका भूमिका भाग जिसमे विद्वान् लेखक ने परीक्षाओ मे प्रष्टव्य प्राय. सभी आलोचनात्मक प्रश्नो के अविकल उत्तर प्रस्तुत किये हैं यथा—भारतीय नाट्य कला, नाटको की उत्पत्ति और विकास-भेद तथा स्वरूप, पाश्चात्य विद्वानो की मान्यताएँ और उनकी समीक्षा । कालिदास एक सर्वोत्कृष्ट नाटककार, कालिदास के पूर्व एव उत्तरकालीन नाटककार, कालिदास का स्थिति काल, जीवन-चरित्र, जन्म स्थान, कुल सम्प्रदाय आदि, जीवन दर्शन, कालिदासकालीन सामाजिक स्थिति, कथानक का मूल स्रोत, कथानक मे परिवर्तन, परिवर्द्धन एव इसका उद्देश्य, वस्तु योजना, अन्तर्द्वन्द्व, भाषा शैली, रस व्यञ्जना षष्ठाङ्क की उपयोगिता, प्रकृति चित्रण, प्रेम और सौन्दर्य चित्रण, अलंकार योजना, अन्य नाटकीय विशेषताएँ, उपमा कालिदासस्य, शाकुन्तल की लोकप्रियता, सभी पात्रो का चरित्र-चित्रण, अन्य नाटको के साथ तुलनात्मक दृष्टि इत्यादि ।

इसकी दूसरी विशेषता है, इसके अन्त मे दिये गये परिशिष्ट । इन अलग-अलग परिशिष्टो मे प्रक्षिप्त श्लोको एव गद्याशो की टीका, अकारादि क्रम से श्लोकानुक्रमणिका—इसमे अलकार और छन्दों का भी साथ-साथ उल्लेख है जो कि छात्रों की सुविधा की दृष्टि से किया गया है, छन्दो एव अलकारो का अलग-अलग परिशिष्टों मे पूर्ण विवरण, शाकुन्तल की गद्य पद्यात्मक सूक्तियो का सग्रह, कवि विषयक प्राचीन सूक्तियों का संग्रह, नाटकीय पारिभाषिक शब्दो का विस्तृत विवरण आदि, इन परिशिष्टों के माध्यम से पठित विषय को शीघ्र ही हृदयङ्गम किया जा सकता है।

अन्त मे मैं यह नि.सकोच कह सकता हूँ कि डॉ० चतुर्वेदी ने इस टीका को प्रस्तुत कर आज के परीक्षार्थियो के लिए एक बड़े अभाव की पूर्ति की है, इस सम्बन्ध मे इनका यह प्रयास स्तुत्य है। जहाँ तक उनकी भाषा और लेखन शैली का सम्बन्ध है, वह सरल, सुबोध एव प्रवाहमयी है, उनके सस्कृत सरलार्थ मे प्रयुक्त भाषा सरल एवं स्पष्ट है जिसे परीक्षार्थी भली-भाँति समझ सकते है, टिप्पणी भाग मे जहाँ व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओ का निर्देश किया गया है वहाँ स्पष्ट एव सरल भाषा का प्रयोग है, यद्यपि पाणिनि सूत्रो का यथास्थान उल्लेख कर शब्द व्युत्पत्ति को प्रमाणित किया गया है तथापि वहाँ भी अति सुगम शैली को अपनाया गया है, भूमिका भाग में और मुख्यतया चरित्र-चित्रण मे यद्यपि अनेक उद्धरणो को प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया गया है फिर भी उसकी लेखन शैली नीति सक्षिप्त एव नीति विस्तृत है, वह सर्वत्र प्रासादिक एव रमणीय है, उनमे उत्तरोत्तर विकासशील प्रवाह सर्वत्र देखा जाता है।

हमे पूर्ण विश्वास है कि यह नवीन टीका छात्रो के लिए विशेष उपयोगिनी सिद्ध होगी और वे इसे अपनाकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लाभान्वित हो सकेगे।

—बाबूराम त्रिपाठी

अपने विचार

"डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' सर्वथा उपयोगी है। उसमे कोई बात छूटने नही पाई है। सम्पादक और प्रकाशक दोनो को बधाई।"

डॉ० शिव शंकर अवस्थी
रीडर, सस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

"महालक्ष्मो प्रकाशन, आगरा से प्रकाशित डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी द्वारा प्रणीत आशुबोधिनी टीका देखने का अवसर मिला।

"इसमे अनुवादात्मक प्रश्न शैली, भूमिका मे पृष्टव्य प्रश्न, उपयुक्त टिप्पणी, एव सस्कृत में सरलार्थ (शुद्धता पूर्ण) ये सभी ऐसी विशेषताएं हैं जो प्राय. किसी भी ग्रन्थ मे समन्वित रूप मे कम ही देखने को मिलती है। यह कहना उचित ही होगा कि यह टीका यथार्थनाम है।"

डॉ० रामकिशोर शर्मा
एम० ए० (सस्कृत, हिन्दी) पी-एच० डी० साहित्याचार्य
प्राध्यापक, सस्कृत विभाग
एन० ए० एस० स्नातकोत्तर कॉलेज, मेरठ

"डॉ० चतुर्वेदी की 'आशुबोधिनी' टीका कालिदास के काव्यार्थ को अध्येताओ तक अव्याज मनोहर शैली मे सम्प्रेषित करने की क्षमता रखती है। इसके विविध आयाम काव्य बोध को उन्नृद्ध करने मे सहायक है। इसकी भूमिका और विविध परिशिष्ट शोधार्थियो के लिए परम उपयोगी हैं। ऐसे ग्रन्थ रत्न के प्रकाशन के लिए आपको और लेखक को साधुवाद।"

उमाकान्त शुक्ला
रीडर सस्कृत विभाग
एस० डी० कॉलेज, मुजफ्फरनगर

डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित एवं आप द्वारा प्रकाशित 'शाकुन्तलम्' का आवरण जितना आकर्षक है, कलेवर उतना ही उपयोगी। मुद्रण अत्यधिक स्वच्छ एव स्पस्ट है। भूमिका भाग सम्पादक महोदय की समीक्षात्मक बौद्धिक निपुणता का परिचायक है। वर्ण्य विषय की व्याख्या एव व्याकरण सम्मत टिप्पणियाँ छात्रोपयोगी है। सम्पिण्डित रूप से समग्र पुस्तक विद्यार्थियो हेतु उपादेय है।"

डॉ. प्रेम शंकर त्रिपाठी
एम ए. साहित्यरत्न-साहित्याचार्य, पी. एच. डी.
प्राध्यापक सस्कृत विभाग
कमला नेहरू डिग्री कॉलिज, तेजगाँव
(रायबरेली)

दो शब्द

अभिज्ञानशाकुन्तल का प्रस्तुत आलोचनात्मक सस्करण बी० ए०, एम० ए० तथा तत्समकक्ष विद्यार्थियो की आवश्यकता की पूर्ति को लक्ष्य मे रखकर किया गया है। यद्यपि आज इस विश्वविख्यात नाटक पर अनेक प्राचीन एव नवीन टीकाएँ उपलब्ध है तथापि बदलते हुए परीक्षा शैलीगत दृष्टिकोण, लोकरुचि एव आज के परीक्षार्थियो की अभिरुचि तथा उनकी आवश्यकताओ की दृष्टि से यह आशुबोधिनी नामक टीका लिखी गई है। अन्य टीकाओ की अपेक्षा इसमे क्या विशेषताएँ और परीक्षार्थियो की दृष्टि से इसमे क्या उपयोगिताएँ है, यह तो सम्पूर्ण पुस्तक को पढकर ही जाना जा सकता है, यहाँ स्वत. उनके लिखने की कोई आवश्यकता नही है। अध्येता ही किसी पुस्तक के अच्छे विवेचक हो सकते हैं, लेखक तो अपनी योग्यतानुसार लिखता ही है, पर यह कहना अप्रासगिक न होगा कि इसमे अनेक नवीन विशेषताएँ हैं जो कि परीक्षा की दृष्टि से अत्युपयोगी है, आशा है कि इनसे छात्र वर्ग लाभ उठा सकेगा।

यद्यपि निर्णय सागर प्रेस की पुस्तक का ही मूल इसमे प्राय अपनाया गया है तथापि यत्र-तत्र अन्य सस्करणो के भी पाठ, यदि उन्हे प्रसगानुकूल एव अधिक उपयोगी समझा गया है, भी अपनाये गये हैं। लगभग ७ श्लोक और कुछ गद्याश जो अन्य सस्करणो मे मूल पाठ मे देखे जाते है, उन्हे मैंने वस्तुत· प्रक्षिप्त ही माना है, क्योकि जहाँ उनका उल्लेख है वहाँ वे द्विरुक्तिमात्र प्रतीत होते है और प्रसग के अनुकूल भी नही हैं, अत ऐसे श्लोको एव गद्याशो को परिशिष्ट १ मे रखा गया है और वही उनकी टीका भी लिखी गई है।

यद्यपि प्रयत्न यह रहा है कि कही भी अनावश्यक विस्तार न हो, पर केवल सक्षेप के लिए कही भी आवश्यक विवरण का परित्याग नही किया गया है। अतएव ग्रन्थ का अधिक विस्तार हो गया है, ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इसकी उपयोगिता पाठक स्वय समझ सकेंगे।

सस्कृत टीका मे इस बात का ध्यान रखा गया है कि व्याख्या अत्यन्त सरल और सुबोध और स्पष्ट हो। सस्कृत सरलार्थ लिखने मे जो कि इस टीका की अपनी निजी विशेषता है और आज की परीक्षाओ के लिए अनिवार्य है, सरल से सरल भाषा का प्रयोग किया गया है, जिससे छात्रो को समझने मे कठिनाई न हो। ग्रन्थ को उपयोगी बनाने की ही दृष्टि से विस्तृत भूमिका दी गई है। इसके टिप्पणी भाग मे

व्याकरण सम्बन्धी बातो के स्पष्टीकरण के साथ ही साथ ग्रन्थान्तरो की समान उक्तियो, अन्तर्गत कथाओ, पारिभाषिक शब्दो आदि के विवरणो का समावेश किया गया है ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे प्राय सभी सस्करणो का पूरा उपयोग किया गया है। फिर भी निर्णय सागर सस्करण विशेषतया उल्लेखनीय है । भूमिका भाग के लिखने मे, प्रो० मिराशीकृत कालिदास, सस्कृत साहित्य की रूपरेखा, कालिदास ग्रन्थावली आदि से विशेष सहायता ली गई है, एतदर्थ लेखक इनका अत्यन्त आभारी है ।

इस पुस्तक के सम्पादन मे मेरे प्रिय छात्रो के अतिरिक्त मुझे डॉ बाबूराम त्रिपाठी से यथासमय पर्याप्त सहायता मिली है, पुस्तक के यत्र-तत्र सशोधन तथा प्रूफ सशोधन आदि कार्यों मे उन्होने जो मुझे पूर्ण सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ, पुस्तक पर प्राक्कथन लिखकर भी उन्होने इसकी उपयोगिता और भी बढा दी है । प्रकाशक महोदय ने जिस परिश्रम और तत्परता से ग्रन्थ को प्रकाशित कर सस्कृत के प्रति अपनी रुचि को दिखलाया है एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र है ।

इसमे लेखन एव प्रिटिग की अनेक त्रुटियाँ हो सकती है, यदि विद्वान् उचित सशोधनादि के सुझाव भेजेगे तो उनको साभार स्वीकार कर अगले सस्करण मे अपना लिया जायेगा ।

—वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी

विषय-सूची

भूमिका भाग

मूल भाग

परिशिष्ट भाग

भूमिका

आज से लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व 'काव्यादर्श'-प्रणता आचार्य दण्डी ने कहा था—"सस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभि"। भारत की धर्मप्राण जनता आज के वैज्ञानिक युग मे भी सस्कृत को देववाणी कहने मे किसी भी प्रकार के सकोच का अनुभव नही करती। कारण, विश्व का समृद्धतम एव प्राचीनतम साहित्य इसी भाषा मे उपलब्ध होता है। वेद का रचना-काल तो इतना प्राचीन है कि उसके आदिकर्त्ता का भी स्मरण नही है अतएव मीमासक आदि वैदिक मतानुयायियो ने उसे शताब्दियों पूर्व 'अपौरुषेय' घोषित कर दिया था। प्रागैतिहासिक वैदिक युग से अद्यावधि सस्कृत-वाङ्मय मानव-ज्ञान की विविध विधाओ से आप्लावित एव सुसम्पन्न होता रहा है। सहिता, ब्राह्मण-आरण्यक, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, सूत्र, काव्य, नाटक, ज्योतिष, व्याकरण आदि विविध साहित्यो द्वारा सस्कृत भाषा ने ज्ञान रूपी अतल सागर की गहराइयो को जितनी सूक्ष्मता तथा आधिकारिता से मापा है उतना विश्व की किसी भाषा ने नही। अत आज के विज्ञान-परिमित ज्ञान को व्यापक एव सार्वजनीन बनाने की दृष्टि से सस्कृत भाषा के महत्व को विस्मृत नही किया जा सकता।

मानव इस भूलोक का सर्वाधिक—नही, एकमात्र—मननशील प्राणी है। अपनी मननशील प्रकृति के कारण एक ओर उसने "कुत स्म जाता कुत इयं विसृष्टि," इस जिज्ञासा द्वारा अपनी मूल प्रकृति के आधारभूत रहस्यो को समझने का उपक्रम किया तो दूसरी ओर अपनी आदि जननी प्रकृति के नाना उपकारो से गद्गद् होकर उसने हृदय के विमल उच्छवासो को मार्मिक वाणी मे परिणत कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। प्रथम प्रकार के साहित्य को आज हम दर्शन, विज्ञान, शास्त्र आदि नामो से अभिहित करते है, तो दूसरे प्रकार के साहित्य को 'काव्य' के नाम से जानते हैं।

काव्याचार्यों ने काव्य के स्थूलत दो भेद किये हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्यों मे नाटक प्रमुख है और श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य गीति-काव्य आदि को सम्मिलित किया जाता है। हृदय पक्ष प्रधान किंवा भावुक साहित्य में सहज रमणीयता और चित्ताकर्षकता होती है, इसीलिए सस्कृत वाङ्मय मे 'काव्य' नाम से विश्रुत साहित्य की ही प्रचुरता है।

काव्येषु नाटकं रम्यम्

काव्य का लक्षण बताते हुए पण्डितराज जगन्नाथ लिखते हैं—"रमणीयार्थं प्रतिपादक· शब्द काव्यम्" अर्थात रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द को

काव्य कहते है। रमणीय अर्थ वह कल्पना-रञ्जित भाव है जो सहृदय के सस्कार मे चिरस्थायी रहकर उसे आनन्द की अनुभूति कराता है। मानव के हृदय मे वासना रूप मे रति, हास, शोक आदि ऐसे चिरस्थायी भाव है जिनके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध है। जब ये जीवन-रस-प्रेरक भाव सहृदय के हृदय मे उद्‌बुद्ध होकर मनुष्यता की उच्च भूमि पर अभिव्यक्त होते है, तब हम उन्हे अपने ही भाव स्वीकार कर उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते है। ऐसी स्थिति मे स्व-पर-भेद का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है और हमारा मुक्त हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्दमयी स्थिति को प्राप्त हो जाता है जिसे शुक्ल आदि आचार्यों ने रस दशा कहा है। इस रस के साहित्य को ही आचार्यों ने काव्य कहा है, क्योंकि रस आनन्दित करने वाला होता है—"रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।" अत. सिद्ध हुआ कि रस का साहित्य होने के कारण काव्य रम्य होता है।

साहित्य दर्पणकार ने काव्य के दो भेद किये है—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दोनो मे अन्तर यह है कि श्रव्य काव्य मे पठन और श्रवण द्वारा ही रसानुभूति की जा सकती है जबकि दृश्य काव्य मे अनुभूति अभिनय द्वारा की जाती है। श्रव्य काव्य के आनन्द मे इतनी तीव्रता और प्रत्यक्षता नही होती कि उसे जन साधारण भी हृदयगम कर सके, जबकि दृश्य काव्य किवा नाटक मे अभिनय की प्रधानता होने के कारण अधिक हृदयग्राहिता, मनोरजकता, आकर्षकता, भावाभिव्यजकता और विषय विविधता होती है। 'नाट्यशास्त्र' मे नाटको की विशेषता का उल्लेख करते हुए आचार्य भरत ने कहा है कि नाटक मे ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, नवीन योजना, क्रिया-कुशलता आदि सभी का समन्वय रहता है और इनमे से यदि किसी को नाटक मे नही दर्शाया जा सके तो ससार मे उसका अस्तित्व ही नही समझना चाहिये—

न तज्ज्ञान न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ (ना० शा० १-११६)

दशरूपककार धनजय ने रूपक (नाटक) का लक्ष्य सहृदयो को अलौकिक आनन्द-स्वरूप रस का आस्वादन कराना माना है जो उनके "**आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु**" आदि कथन से सिद्ध होता है। इसका कारण यही है कि रूपक नट आदि द्वारा अभिनेय होता है। अभिनेता चरित्रो का स्वय आरोप कर लेते है। इसमें पात्रो का आगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक—इन चारो ढगो से अनुकरण किया जाता है। आचार्य धनजय अवस्था के अनुकरण को ही नाटक मानते है—"**अवस्थानुकृति-र्नाट्यम्**"। अवस्थानुकृति का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है चाक्षुस प्रत्यक्ष का विषय (अर्थ) है रूप, अत· इसे रूपक भी कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि नाटक मे श्रव्य काव्य की अपेक्षा रसास्वाद कराने की अधिक तीव्रता है, क्योंकि उसमे चाक्षुष प्रत्यक्ष की सर्वाधिक भूमिका रहती है। अत श्रव्य काव्य की अपेक्षा नाटक अधिक जनप्रिय एव रमणीय होता है। इसलिए किसी सहृदय मनीषी का यह कथन अक्षरश सत्य है कि—

"काव्येषु नाटकं रम्यम्" अर्थात् काव्य (जगत्) मे नाटक ही (अधिक) रमणीय होता है।

संस्कृत नाटकों का उद्भव और विकास

भारतवर्ष एक धर्मप्राण देश रहा है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु ईश्वर-प्रदत्त या विधि निर्मित समझी जाती है। वेद ईश्वरीय ज्ञान के मूल स्रोत ही नही, ईश्वरीय रचना है और शेष समस्त विद्याओ का उद्भव वेदो से ही हुआ है, ऐसी मान्यता अति प्राचीनकाल से इस देश मे चली आ रही है। पर, आज का बुद्धिवादी मानव इन मान्यताओ पर सहज विश्वास न कर प्रत्येक वस्तु का क्रमिक विकास होना ही स्वीकार करता है। अत किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दो ही प्रमुख मत प्रचलित है—एक दैवी उत्पत्ति का मत और दूसरा विकासवादी मत। नाटको की उत्पत्ति के विषय मे भी ये दोनो मत प्रचलित है। प्रथम मत के प्रवर्तक भरत मुनि है और दूसरे मत के आधुनिक पाश्चात्य एव भारतीय विद्वान् है। नाटको की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इन्ही दो प्रमुख दृष्टिकोणो को ध्यान मे रखते हुए विचार-विमर्श किया जायेगा।

(अ) आचार्य भरत का मत (दैवी उत्पत्ति)

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय मे उल्लेख है कि एक बार अनध्याय के दिन आचार्य भरत जब सन्ध्यादि से निवृत्त होकर अपनी शिष्य-मण्डली मे बैठे हुए थे तो आत्रेयादि कुछ मुनि उनके निकट पहुँचे और उन्होने आचार्य से पूछा कि हे प्रभो ! नाट्यवेद की उत्पत्ति किस प्रकर और किसके लिए हुई है ? इसके कितने अग है, क्या प्रमाण है और इसका प्रयोग किस प्रकार का है—

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्न कस्य वा कृते।
कत्यङ्ग किं प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य भरत ने कहा कि त्रेता युग के वैवस्वत मन्वन्तर मे, जब जनसाधारण की प्रवृत्ति सत्त्वगुणी न होकर रजोगुणी हो गयी थी, इन्द्रादि देवता ब्रह्मा जी के पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि हे महाराज ! हमे ऐसी मनोरजन की वस्तु दीजिये जो दृश्य और श्रव्य दोनो हो तथा जो चारो वर्णों के लोगो के लिए समान रूप से उपयोगी हो। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ब्रह्मा जी ने चारो वेदो से सार भाग लेकर पाँचवे नाट्यवेद की रचना की। उन्होने ऋग्वेद से पाठ्य (सवाद), सामवेद से सगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस-तत्वो को ग्रहण किया—

एवं संकल्प्य भगवान् सर्ब वेदानुस्मरन्।
नाट्यवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीति मेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादापि॥ (ना० शा० १/१६,१७)

नाट्यवेद की रचना सपन्न हो जाने के अन्तर देवताओ ने उसका अभिनय

प्रस्तुत करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए ब्रह्मा जी से कहा कि हे भगवन् ! देवता इस नाटक के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग मे अशक्त और नाट्यकर्म में अयोग्य है—

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे वास्य सत्तम् ।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि ॥

तब ब्रह्मा जी ने यह कार्य महर्षि भरत को सौप दिया । उन्होने अभिनय की सफलता हेतु शिव-पार्वती की सहायता ली । अपने सौ पुत्रो, मजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओ, नारद तथा कुछ गन्धर्वों के सहयोग से इन्द्रध्वज महोत्सव पर सर्वप्रथम 'दैत्य-मानव' नामक नाटक का अभिनय किया । यह नाटक सुन्दर ढग से रचित रगशाला मे खेला गया था ।

भरत मुनि की उक्त कथा मे कोई सार नही है, ऐसी बात नही । नाट्य वेद की रचना ब्रह्मा या ईश्वर द्वारा भले ही न मानी जाय, पर इतना तो माना ही जा सकता है कि सवाद, सगीत, अभिनय और रस—ये चारो तत्त्व वेदो मे प्राप्य है, अत. नाटको की उत्पत्ति के प्रेरणास्रोत चारो वेद ही है । साथ ही भरत मुनि के समय तक भारतीय नाट्यकला अपने विकास की चरम सीमा पर थी ।

(ब) **विकासवादी मत**

विकासवाद के प्रवर्तको मे सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वान् आते हैं जिन्होने नाटको की उत्पत्ति के विषय मे विभिन्न मत प्रस्तुत किये है । तत्पश्चात् भारतीय विद्वानो का नम्बर आता है जिन्होने भारतीय दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए अपने विद्वत्तापूर्ण एव सारसम्मत मत प्रस्तुत किये हैं । सर्वप्रथम हम पाश्चात्य विद्वानो के मतो की समीक्षा प्रस्तुत करते है ।

१. **वेदों से उत्पत्ति न मानने वाले पाश्चात्य मत**—कुछ पाश्चात्य विद्वान् वेद से नाटक की उत्पत्ति न मानकर लोक से मानते है । इनमे प्रो० रिजवे (Ridgeway) प्रो० हिलीब्राट (Hillebrandt), प्रो० स्टेन कोनो (Sten konow), प्रो० पिशेल (Pischel) तथा प्रो० ल्यूडर्स (Luders) के नाम प्रमुख है । प्रो० रिजवे के अनुसार नाटकों का उद्भव मृतात्माओ को प्रसन्न करने तथा उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए हुआ था । प्रो० हिलीब्राट और स्टेन कोनो लोकप्रिय स्वागों से तथा प्रो० पिशेल कठपुतलियो के नाच से नाटको का विकास मानते हैं । प्रो० ल्यूडर्स ने नाटकों का विकास छाया नाटकों से स्वीकार किया । इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानो के मतानुसार छोटे-छोटे पर्वों पर खेले जाने वाले नाटकों तथा स्वागलीला से ही नाटको का जन्म हुआ है । पर ये सभी मत एकागी दृष्टिकोण से परिपूर्ण हैं । उपर्युक्त नृत्य, अभिनय आदि अति प्राचीन काल से लोक-जीवन मे प्रचलित रहे हैं अवश्य, पर शास्त्रीय नाटकों का जन्म लोक-साहित्य से मानना कदापि स्वीकार्य नही । हां, इतना माना जा सकता है कि शास्त्रीय नाट्य और लोक-नाट्य ने एक-दूसरे को प्रभावित अवश्य किया होगा ।

कुछ अन्वेषक विद्वान् जिनमे ओल्डन वर्ग (Olden Burg) का नाम प्रमुख है, इस मत के है कि नाटको का विकास महाकाव्यो से हुआ है। इस मत को अधिक विस्तार देते हुए कीथ (Keith) महोदय कहते है कि रामायण और महाभारत मे जहाँ कही भी नट' अथवा 'नाटक शब्द आये है वे क्रमश नर्तक और नाट्य अर्थो के ही वाचक है। दूसरी शती के 'हरिवश' पुराण मे रामायण का नाटक-रूप मे उल्लेख भी मिलता है। कीथ का दूसरा तर्क यह है कि 'भरत' शब्द का प्रयोग हास्यात्मक अभिनेता के लिए ही होता था जो आगे चलकर सामान्य अभिनेता के लिए हो गया। लोक भाषा के 'भाट' शब्द को वे 'भरत' का ही अपभ्र श मानते हैं। इसी प्रकार उन्होने रामायण के 'कुशीलव' शब्द को भी लिया है। उनका कथन है कि रामायण मे कुश और लव बाल्मीकि द्वारा रचित रामवृत्त का सगीतात्मक पाठ करते हुए दिखाये गये है। ये कुश और लव वास्तव मे 'कुशीलव' ही थे जो कालान्तर मे निम्न कोटि के स्वाग आदि करने वाले अभिनेताओ के रूप मे अपकर्ष को प्राप्त हो गये। नाटको को उत्पत्ति पाणिनि (४०० ई० पू०) से पूर्व सिद्ध करने के लिए कीथ ने पाणिनि के दो सूत्रो—पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयो (अष्टा० ४/३/११०) तथा कृशाश्वादिनि. (अष्टा ० ४/३/१११)—का हवाला दिया है जिनम दो नटसूत्रों (नाट्यशास्त्रो) के प्रणेताओं—शिलालिन् और कृशाश्व— के स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार कीथ महोदय के मतानुसार नाटक का उदय भारतवर्ष मे बहुत पहले हो चुका था और वह रामायण तथा महाभारत से ही हुआ था।

सर्वाधिक रोमाचक और पक्षपातपूर्ण मत प्रो० वेबर (weber) और प्रो० विडिश (windisch) के है जो भारतीय नाटको का विकास यूनानी नाट्यकला से मानते है। अपने मत के समर्थन मे वे 'यवनिका' शब्द का उद्धरण देते है जिसका अर्थ होता है 'यवन देश की।' ईसा पूर्व चतुर्थ शती मे सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतीय और यवन सस्कृतियो मे अति निकटता और घनिष्ठता स्थापित हो गयी थी। दोनो ही सस्कृतियो में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान भी हुआ था। समव है, 'यवनिका' का प्रयोग भारतीयो ने यवनो से ही सीखा हो, पर भारतीयो ने समग्र नाट्यकला को ही यवनों से सीखा था, इस मत मे कोई दम नही है और इसका खण्डन कीथ, मैक्समूलर, पिशेल, मैकडॉल आदि पाश्चात्य विद्वान् भी कर चुके हैं।

(२) **वेदों से उत्पत्ति मानने वाले पश्चात्य मत—लेवी** (Levy), प्रो० मैक्स-मूलर (Max Muller) तथा हर्टेल (Hertel) आदि विद्वान् नाटक की उत्पत्ति वैदिक सवादो से ही मानते है। मैक्समूलर महोदय ने अपने मत की पुष्टि मे ऋग्वेद के कुछ सवादो को उद्धृत किया है जिनमे पुरूरवा-उर्वशी-सवाद, अगस्त्य और लोपामुद्रा तथा उनके पुत्र के सवाद, इन्द्र-इन्द्राणी-सवाद, यम-यमी-सवाद, पणि-सरमा-सवाद आदि प्रमुख है। उनके मतानुसार इन्ही सवाद-सूक्तो मे नाटक के बीज निहित है। जर्मन विद्वान् वॉन श्रोडर (Von Schroeder) का मत है कि सवाद-सूक्त गायन तथा

नर्तन के साथ अभिनीत किये जाते थे। ये स्वयं धार्मिक नाटक है जिनका अभिनय यज्ञ के विशिष्ट अवसरो पर नृत्य, गीति तथा वाद्य के उपकरणो के साथ याज्ञिको द्वारा किया जाता था। अपने "La Theatre India Paris" नामक ग्रन्थ मे लेवी महोदय ने भी स्वीकार किया है कि वैदिक कालीन सस्कृति मे नृत्य और सगीत-कला समाविष्ट हो चुकी थी। डा० हर्टल का मत है कि ये संवाद-सूक्त वस्तुतः गाये जाते थे और गाने के लिए एक से अधिक व्यक्ति रखे जाते थे। उनके कथनानुसार इन्ही सूक्तो मे नाटको के बीज निहित हैं। जर्मनी के कुछ विद्वान् जिनमे ओल्डन वर्ग, विडिश और पिशेल के नाम उल्लेखनीय है, यह प्रवर्तित करते है कि ये सवाद-सूक्त गद्य-पद्य-मिश्रित थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मजुल होने के कारण बच रहा है और गद्य भाग अपनी नीरसता के कारण लुप्त हो गया है। पिशेल का मत है कि नाटको मे जो गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है वह इन वैदिक सवाद-सूक्तो के ही अनुकरण पर है।

(३) **अधुनिक भारतीय विद्वानों का मत**—सस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास लिखने वाले विद्वान् डॉ० बलदेव उपाध्याय, प० चन्द्रशेखर पाण्डेय आदि भारतीय विद्वान् भी मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानो के मत का ही अनुमोदन करते है जो कि भरत के मत का एक सशोधित किंवा वैज्ञानिक रूपान्तर है। भारतीय नाट्य कला पर पाश्चात्य जगत् का कोई प्रभाव स्वीकार नही किया जा सकता। डॉ० बलदेव उपाध्याय के शब्दो मे, "भारतवर्ष मे आरम्भ से नाट्य के प्रयोग मे स्वाभाविकता रही है। पुरुषो की भूमिका पुरुष ग्रहण करते थे और स्त्रियो की भूमिका स्त्रियाँ ग्रहण करती थी। पुरुषो का स्त्री-भूमिका ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। इस अस्वाभाविकता का निराकरण पाश्चात्य जगत् ने गत शताब्दी मे ही किया है।" डॉ० सत्य नारायण पाण्डेय के शब्दो मे, "वस्तुत नाटको की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से हुई और उनका विकास भी अपने ढग का निराला है।" कुल मिलाकर भारतीय विद्वान् नाटक की उत्पत्ति भारत मे ही मानते है और उसका बीज वेदो मे स्वीकार करते हैं।

संस्कृत नाट्य-साहित्य का विकास

हम देख चुके है कि नाट्य का विकास वेदो से ही हुआ है। वैदिक साहित्य से लेकर अद्यावधि सस्कृत नाट्य-साहित्य का सृजन होता रहा है। इस तथ्य के समर्थन मे हमारे पास प्रबल प्रमाण भी है। लौकिक साहित्य के आदि-काव्यो रामायण और महाभारत मे नट, नर्तक, नाटक, गायक, शैलूष, आदि शब्द नाट्य से ही सम्बन्धित हैं। रामायण मे स्पष्ट उल्लेख है कि पुरुष पात्रो के साथ स्त्रियाँ भी अभिनय करती थी—

शैलूषाश्च तथा स्त्रीभिर्यान्ति ····· · (रामायण २/८३/१५)

महाभारत के विराट् पर्व मे रगशाला का भी उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रामायण और महाभारत के रचना-कालो तक अनेक नाटक

अभिनीत किये जा चुके थे। महाभारत के हरिवश पुराण मे अध्याय ९१ से ९६ तक यह उल्लेख है कि वज्रनाभ नामक राक्षस की नगरी मे 'रामायण' और "कौबेररम्भाभिसार" नामक नाटको का अभिनय किया गया था।

हम ऊपर उल्लेख कर आये है कि महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के दो सूत्रो मे शिलालिन् तथा कृशाश्व नामक दो नटसूत्र (नाट्यशास्त्र) प्रणेताओ का उल्लेख किया है। निम्नलिखित श्लोक से यह भी स्पष्ट विदित होता है कि पाणिनि ने भी 'जाम्बवतीजय' नामक नाटक लिखा था—

स्वस्ति पाणिनये तस्मै येन रुद्रप्रसादत ।
आदौ व्याकरण प्रोक्त ततो जाम्बवतीजयम् ॥

इस नाटक के कुछ श्लोक भी अन्वेषको को प्राप्त हुए है।

महर्षि पतञ्जलि (लगभग १५० ई० पू०) ने भी अपने महाभाष्य (३/२/१११) मे 'कसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाटको के अभिनय का उल्लेख किया है—

ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्ष कसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धनन्तीति।

पर, उपर्युक्त नाटको मे से अभी तक कोई भी नाट्य रचना उपलब्ध नही हो सकी है। सन् १९०९ ई० मे टी० गणपति शास्त्री ने त्रावणकोर के पास भास के १३ नाटको की प्रतियाँ प्राप्त की थी। ये नाटक कम से कम ईसा पूर्व द्वितीय शतक और अधिक से अधिक ईसा पूर्व चतुर्थ शतक के है। वर्तमान खोजो के आधार पर भास ही उपलब्ध नाटककारो मे प्राचीनतम सिद्ध हुए है। भास के तेरह नाटको मे से तीन अधिक ख्याति प्राप्त हुए है—प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, स्वप्न वासवदत्तम् और चारुदत्त। इन तीनो के चरितनायक पौराणिक पात्र न होकर लौकिक व्यक्ति है। प्रथम दो नाटको का नायक वत्सराज उदयन है जो अपने रूप और गुणो के लिए शताब्दियो तक लोक-चर्चा का विषय रहा है और अन्तिम नाटक मे दरिद्र ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्रहिणी वीरागना वसन्तसेना के आदर्श प्रेम का वर्णन है। 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' नाटको की कथावस्तु रामायण पर आधारित है। 'पचरात्र' मध्यम व्यायोग', 'दूत घटोत्कच', 'कर्णभार', 'दूत वाक्य' और 'उरुभग' ये ६ नाटक महाभारतीय कथानको पर आधारित हैं। 'बालचरित, श्रीकृष्ण की बाल लीलाओ से सम्बन्धित है और 'अविमारक' एक प्राचीन आख्यायिका का नाटकीय रूप है जिसका सकेत कामसूत्र मे मिलता है। इस नाटक मे अविमारक तथा राजा कुन्तिभोज की पुत्री कुरगी के प्रेम का बडा ही सुन्दर और सरस वर्णन है। भास पश्चाद्वर्ती नाटककारो मे सर्वप्रथम शूद्रक आते है जिन्होने 'मृच्छकटिक' नामक नाटक की रचना की है। इस नाटक का चरितनायक भास का चारुदत्त ही है। भास और शूद्रक के नाटक अत्यन्त सरल, सरस और अभिनेय हैं। भाषा की दृष्टि से भी उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। पर इनके नाटको मे नाट्य-तत्त्वो का पूर्ण समावेश नही हो पाया है अत इन्हे विकास युग के नाटककार कहा जा सकता है।

भास और शूद्रक के पश्चात् कालिदास और अश्वघोष के नाम आते है। कालिदास के तीन नाटक प्राप्त हुए हैं—मालविकाग्नि-मित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुन्तल। प्रथम नाटक की कथावस्तु मे ईसा पूर्व द्वितीय शतक के शुंगवशीय राजकुमार अग्निमित्र और अवन्तिसुन्दरी मालविका के प्रेम का वणन किया है। दूसरे नाटक का उपजीव्य ऋग्वेद का पुरूरवा-उर्वशी-सवाद और तीसरे का महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान है जिन्हे कवि ने अपनी मौलिक कल्पना द्वारा जीवन्त एव यथार्थ रूप प्रदान कर दिया है। अभिज्ञान शाकुन्तल कालिदास की एक अद्वितीय रचना है जिसकी विश्व के मूर्द्धन्य मनीषियो ने भूरि-भूरि प्रशसा की है। अश्वघोष कुषाण सम्राट कनिष्क (७८ ई०) के राजकवि थे। सन् १९१० ई० मे ल्यूडस ने इनके तीन रूपको का पता लगाया। पहला रूपक 'शारिपुत्र-प्रकरण' है जो ९ अको का है तथा जिस पर बौद्ध धर्म की स्पष्ट छाप है। शेष दो रूपक अपूण है और उनके नाम भी अस्पष्ट है। इस विकसित युग मे विशाखदत्त नामक नाटककार का विशिष्ट स्थान है। यह नाटककार किसी राजवश मे उत्पन्न हुआ था, इसलिए उसके नाटको मे राजनीतिक दाव-पेचो का बड़ा ही विशद वणन है। विशाखदत्त का महत्त्वपूर्ण नाटक 'मुद्राराक्षस' है जिसमे ई० पू० चतुर्थ शतक के दो राजनीतिज्ञो—चाणक्य और नन्द के महामात्य राक्षस की कूटनीतियो का बड़ा ही सजीव वर्णन है। दूसरी ऐतिहासिक रचना देवी चन्द्रगुप्त हैं, जिसमे गुप्तवशीय नरेश रामगुप्त की दुबलता और उसके अनुज चन्द्रगुप्त द्वितीय की उत्कृष्ट वीरता का बडा ही मनोहारी विवरण है। तीसरी रचना वत्सराज उदयन के जीवन-चरित पर आधारित 'अभिसारिका-वाञ्चतक' है। विशाखदत्त की विशिष्टता यही है कि उनके नाटक ऐतिहासिक कथावस्तुओ पर आधारित है। विशाखदत्त का रचनाकाल पाँचवी या छठी शताब्दी ईस्वी तक स्वीकार किया जा सकता है। उनके बाद कितने नाटककार हुए, इसक प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नही है। अत विशाखदत्त के रचनाकाल क बाद हमे सातवी शताब्दी मे ही आकर रुकना पड़ता है। सातवी शताब्दी के प्रारम्भ मे सम्राट् हषवद्धंन (६०६ ई० से ६४८ ई०) ने तीन रूपको की रचना को—प्रिदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द। इनमे नागानन्द पाँच अको का नाटक है जो किसी बौद्ध अवदान के ऊपर आश्रित है। प्रियदर्शिका और रत्नावली चार-चार अको की नाटिकाएँ है जिनका सम्बन्ध उदयन के कथाचक्र के साथ है।

अष्टम शती के प्रथमार्द्ध में कन्नौज के सम्राट् यशोवर्मा और उनके आश्रित कवि भवभूति नामक प्रख्यात नाटककार हुए। समाट् यशोवर्मा ने 'रामाभ्युदय' नाटक लिखा था जो अब अप्राप्य है। नाट्य-जगत् मे भवभूति का नाम कालिदास के बाद लिया जाता है। इनका लोकविश्रुत नाटक उत्तर रामचरित है जिसमे 'एको रसः करुण एव' की पूर्ण सिद्धि की गयी है। इसकी कथावस्तु राम के राज्याभिषेक के उत्तरकालीन जीवन से सम्बन्धित है। दूसरा नाटक महावीर चरित है जिसमे रामकथा का पूर्वार्द्ध वर्णित है। भवभूति की तीसरी रचना मालती-माधव है, जो

१० अको का एक वशाल प्रकरण है। इसकी कथावस्तु कल्पना प्रसूत है जिसमे मालती और माधव के प्रेम-प्रसगो का बडी सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है।

आठवी शताब्दी मे ही भट्ट नारायण तथा मायूराज (अनग हर्ष) नामक नाटककार हुए भट्ट नारायण का वेणी सहार' गौडी शैली मे रचित है। इसका कथानक महाभारत पर आधारित है। मायूराज का 'तापसवत्सराज' राजा उदयन और वासवदत्ता से सम्बन्धित सरल तथा सुबोध भाषा मे लिखा गया नाटक है।

नवी शती के प्रारम्भ मे मुरारि नामक लोक ख्यात नाटककार हुआ जिसे कुछ आलोचको ने भवभूति से भी श्रेष्ठ कहा है। उसकी एकमात्र रचना 'अनर्घ राघव' है जो सात अको का नाटक है जिसमे रामकथा वर्णित है। भट्ट नारायण से मुरारि तक क नाटको मे काव्यात्मक चमत्कार की प्रधानता है अभिनय की दृष्टि से य असफल रचनाएँ है। अतः इन नाटको को ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति के परिचायक माना जाता है। ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति का अनुसरण राजशेखर (लगभग ८८० ई०) से ९२० ई०) ने भी किया है। उन्होने 'बालरामायण', 'बालभारत', 'कर्पूर मजरी' और 'विद्धशालभजिका' नामक चार रूपको की रचना की। बालरामायण के दस विशालकाय अको मे रामकथा को भव्य नाटक का रूप दिया गया है बालभारत के केवल दो ही अक प्राप्त हुए है। यह महाभारत की कथा का विराट् नाटकीय रूप है। कपूर मजरी और विद्धशालभजिका चार-चार अको मे समाप्त होने वाली नाटिकाएँ हैं। राजशेखर क नाटको मे लम्बे-लम्बे सवाद और शार्दूल विक्रीडित जैसे विशालकाय छन्द उन्हें कृत्रिमता का कोटि मे लाकर रख देते है।

दशम शतक के शक्तिभद्र नामक केरल निवासी कवि के तीन नाटको का विवरण मिलता है जिनमे से केवल एक 'आश्चर्य चूड़ामणि' ही पूर्ण रूप मे उपलब्ध हो सका है। दूसरा नाटक 'वीणावासवदत्ता' अपूण रूप मे प्राप्त हुआ है और तीसरा 'उन्माद-वासवदत्ता' अभी तक अनुपलब्ध है। ग्यारहवी शताब्दी म कृष्णमिश्र ने 'प्रतिबोध चन्द्रोदय' नामक नाटक की रचना की जिसमे अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने का असफल प्रयास किया गया है। पर, १२वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे वग-नरेश लक्ष्मण सेन के सभा-कवि जयदेव ने जिस सात अको के 'प्रसन्नराघव' नामक नाटक की रचना की और सरसता, सरलता और अभिनेयता की दृष्टि से उतना ही सफल और लोकप्रिय नाटक है जितना कि गेयता की दृष्टि से उनका 'गीतगोविन्द' एक सफल और लोकप्रिय गीतकाव्य है।

बारहवीं शताब्दी से १८ वी शताब्दी तक सस्कृत क्या, किसी भी भारतीय भाषा मे नाटक नही लिखे गये और यदि एकाध नाटक लिखे भी गये तो उन पर प्राचीन रूढ़ियो की ही छाप थी। १९वी शताब्दी मे देश मे राष्ट्रीय भावना के उदय के साथ साथ भारतीय भाषाओ मे नाट्य-रचनाओ का पुनर्जागरण हुआ। वर्तमान दो शताब्दियो मे सस्कृत-साहित्य मे जो नाटक लिखे गये, उनमे देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना की ही प्रेरणा मुखर है। इनमे प्रमुख नाटक ये है—प० अम्बिकादत्त व्यास कृत

'सामवतम्', मूलशकर माणिकलाल याज्ञिक कृत 'छत्रपतिसाम्राज्यम्', 'प्रतापविजय' और 'सयोगितास्वयवर', तथा हरिदास सिद्धान्त वागीश कृत 'मेवाडप्रताप' 'वगीयप्रताप' 'विराजरोजिजी', 'कसबध', 'जानकीशविक्रम' और 'शिवाजी चरित'। इन राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न नाटको के अतिरिक्त डॉ० राघवन के 'रासलीला' और 'काम शुद्धि' नामक प्रहसन भी उल्लेखनीय है। सच बात तो यह है कि आज संस्कृत भाषा के ज्ञाताओ की सख्या नगण्य है तो फिर सस्कृत नाटको की सख्या मे वृद्धि कैसे हो। अत: आजकल यदा-कदा कोई सस्कृत-रचना प्रकाश मे आ जाये तो उसे सस्कृत साहित्य का सौभाग्य ही समझिये, अन्यथा आज के युग मे सस्कृत काव्य रचना या लेखन अप्रचलित सा हो गया है।

कालिदास का स्थिति काल

कालिदास सस्कृत-साहित्य के अमर कवि हैं। उनका स्थान विश्व के उत्कृष्ट कोटि के कवियो मे गिना जाता है। उनकी अमर नाट्यकृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की तो विश्व के कोने-कोने मे प्रशसा सुनी जाती है। पर, खेद का विषय है कि सरस्वती के इस अमर पुत्र के जीवन-काल के सम्बन्ध मे अद्यावधि कोई ठोस एव निर्विवाद जानकारी प्राप्त नही हो सकी है। कवि ने तो अपने सम्बन्ध मे कुछ लिखा ही नही है और न किसी अन्य साक्ष्य से ही उनके जीवन-वृत्त पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। ऐसी परिस्थितियो मे हमे भारतीय वाड्मय के अन्तर्गत यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ अन्त· एवं बाह्य साक्ष्यो पर निर्भर रहकर सन्तोष करना पडता है।

कालिदास के जीवन-काल की तरह उनके जन्म-स्थान के विषय मे भी मतभेद है। कुछ विद्वान उनके नाम के आधार पर उनका बगवासी होना स्वीकार करते है। 'मेघदूत तथा 'कुमार सभव' काव्यो मे हिमालय-प्रदेश के सजीव वर्णन के आधार पर कुछ विद्वान उन्हे काश्मीर का निवासी बतलाते है। पर कालिदास ने उज्जयिनी के लिए जो विशेष पक्षपात दिखाया है (मेघदूत १।२६) उससे वही उनकी जन्मभूमि प्रतीत होती है। मेघदूत का यक्ष मेघ से कहता है कि यद्यपि रामगिरि से उत्तर दिशा मे अलका की ओर जाते समय तुम्हारा मार्ग टेढा होगा तथापि तुम श्री विशाला उज्जयिनी के विशाल भवनो और रमणियो के कुटिल कटाक्षो को देखने के लाभ से वचित मत होना। यही नही, कालिदास ने अवन्ति प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का बडा ही सूक्ष्म वर्णन किया है। उन्हे वहाँ की छोटी-छोटी नदियो तक के नाम मालूम है। महाकाल मे उनकी असीम आस्था थी। इसीलिए वह मेघ से कहता है कि उज्जयिनी मे तुम किसी समय पहुँचो, परन्तु सूर्य के अस्त होने तक तुम्हे वहाँ ठहरना होगा। प्रदोष-पूजा के अवसर पर तुम अपना स्निग्ध गम्भीर घोष करना, जो महाकाल की पूजा मे नगाडे का काम करेगा और तुम्हे अशेष पुण्यो का भाजन बनावेगा (मेघ० ३५)। उज्जयिनी उदयन और वासवदत्ता के उदात्त प्रेम की क्रीड़ा भूमि रही है। कालिदास इस प्रेम-प्रसग से पूर्ण परिचित है। इन सब बातो से कवि का उज्ज-

यिनी के प्रति विशेष पक्षपात ध्वनित होता है। अत· अधिकाश विद्वान् उन्हे उज्जयिनी का ही निवासी मानते है।

अब हम बाह्य और अन्त साक्ष्यो के आधार पर महाकवि कालिदास के स्थिति काल का निश्चय करने का प्रयास करेगे। बाह्य साक्ष्यो मे सर्वाधिक उल्लेखनीय बाणभट्ट की 'कादम्बरी' है जिसकी प्रस्तावना मे कवि ने कालिदास की प्रशस्त प्रशसा की है। बाण भट्ट कान्यकुब्जेश्वर सम्राट् हर्षवर्द्धन (६०६ ई० से ६४८ ई०) के राज कवि थे। अत. कालिदास का स्थिति काल सातवी शताब्दी से पूर्व का ठहरता है। अन्तः साक्ष्यो के आधार पर कालिदास के 'मालविकाग्नि मित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक नाटकों को लिया जा सकता है। 'विक्रमोर्वशीयम् का नायक पुरूरवा होने पर भी उसके स्थान पर विक्रम का नामोल्लेख तथा इस नाटक मे विद्यमान 'अनुत्सेक खलु विक्रमालकार' यह वाक्य यह प्रमाणित करते है कि वे किसी विक्रम अथवा विक्रमादित्य से सम्बद्ध थे। विद्वत्समाज मे यह धारणा अति प्राचीनकाल से चली आ रही है कि कालिदास विक्रम के नव-रत्नो मे एक थे। 'मालविकाग्निमित्र' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमे पुष्यमित्र शुग के पुत्र अग्निमित्र तथा मालविका नामक राजकुमारी की प्रणय-कथा वर्णित है। अग्निमित्र का स्थिति काल ईस्वीय द्वितीय शतक है। अत कालिदास के स्थिति काल की प्राचीन रेखा द्वितीय शतक ई० पू० के बाद की ठहरती है। तात्पर्य यह कि कालिदास द्वितीय शतक ईसा पूर्व तथा सप्तम शतक ईस्वीय के मध्य कभी रहे होगे। यो तो फ्रेंच विद्वान् हिप्पोलाइट फ्रॉश कालिदास को रघुवश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण का समकालीन मानते है जिनका स्थिति काल ८वी शताब्दी ईसा पूर्व है और डॉ० भाऊदाजी आदि विद्वानो ने उन्हे राजा भोज (११वी शताब्दी ई०) का समकालीन बतलाने का प्रयास किया है, पर उपर्युक्त अन्त एव बाह्य साक्ष्यों द्वारा इन भ्रान्तियो का स्वत प्रत्याख्यान हो जाता है। कालिदास के स्थिति काल के सम्बन्ध मे बहुचर्चित मत केवल तीन हैं जो निम्नलिखित है—

(१) षष्ठ शतक विषयक मत,
(२) गुप्तकालीन मत; और
(३) ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का मत।

(१) **षष्ठ शतक विषयक मत**—इस मत के प्रवर्तक डॉ० फर्ग्युसन, हार्नली और डॉ० हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान् है। इनका मत है कि छठी शताब्दी मे सम्राट् यशोधर्मन् ने बालादित्य नरसिह गुप्त की सहायता से हूणो को कारूर की लडाई मे परास्त किया था। इस महत्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य मे उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर एक नवीन सवत् चलाया था जो विक्रम सवत् के नाम से विख्यात हुआ, परन्तु इस सवत् को प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से उसने इसे ५७ ईसा पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारित की थी। हार्नली का कथन है कि 'रघु वश' महाकाव्य मे वर्णित रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्य-सीमा से बिल्कुल मिलता जुलता है।

पर इस मत मे काल्पनिकता ही अधिक है । 'राम चरित' काव्य मे 'ख्याति कामपि कालिदासकवयो नीता शकारातिना' द्वारा जिस 'शकाराति' विक्रमादित्य को कालिदास का आश्रयदाता बतलाया है वह इस 'हूणारि' विक्रमादित्य से सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है । दूसरी बात, विक्रम सवत् को यशोधर्मन् द्वारा चलाया जाना और उसे छ. सौ वर्ष की प्राचीनता देना भी बडा बेतुका तर्क है । इस देश मे विक्रम सवत् के अतिरिक्त शक सवत्, लक्ष्मण सवत् आदि अनेक सवत् प्रचलित हैं जिनमे से किसी मे भी प्राचीनता का पुट देने का प्रमाण नही मिलता, तो यशोधर्मन् ने प्राचीनता देकर इतिहास पर अत्याचार करने का दुःसाहस क्यो किया, यह बात समझ मे नही आती । सच बात तो यह है कि विक्रम सवत् ईसा पूर्व ५७ वर्ष मे प्रचारित 'मालव-सवत्' का ही रूपान्तर है । ४७३ ई० मे सम्राट् कुमारगुप्त की प्रशस्ति मे लिखे गये वत्सभट्टि के श्लोको पर कालिदास के ऋतु सहार तथा मेघदूत के पद्यो की स्पष्ट छाप झलकती है । इससे कालिदास का समय ४७३ ई०—पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध—से पूर्व होना सिद्ध होता है ।

(२) **गुप्तकालीन मत**—अधिकाश पश्चिमी विद्वान् कालिदास का स्थितिकाल गुप्त सम्राटो के शासन काल मे सिद्ध करते है । पूना के प्रोफेसर के० बी० पाठक कालिदास को स्कन्दगुप्त 'विक्रमादित्य' का समकालीन मानते है । स्कन्दगुप्त 'महेन्द्रादित्य' उपाधिधारी कुमारगुप्त के पुत्र थे जिन्होने ४५५ ई० मे हूणो को परास्त कर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी । रघुवश के चतुर्थ सर्ग के ६७वे छन्द मे कालिदास ने रघु द्वारा हूणो की पराजय का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनै. ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाल्लग्नकुकुम केसरान् ॥

कतिपय विद्वानो ने 'सिन्धु' के स्थान पर 'वक्षु पाठ स्वीकार किया है । 'वक्षु ऑक्सस नदी का सस्कृतीकृत रूप है जो पामीर के पठार से निकलकर अरब सागर मे गिरती है । यदि इस पाठ को सही मान लिया जाय तो रघु द्वारा हूणो को परास्त करने की घटना सन् ४५५ ई० से पूर्व की ही ठहरती है जबकि हूणो का भारत मे प्रवेश नही हुआ था । प्रो० विजयचन्द्र मजूमदार कुछ अन्य प्रमाण देकर कालिदास को कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त का समाकालीन मानते हैं । इन्ही विद्वानो के तथ्यो को हृदयगम कर हिन्दी के मूर्द्धन्य नाटककार स्व० जयशकर प्रसाद ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'स्कन्दगुप्त' मे कालिदास को कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त का ही समकालीन बतलाया है । पर स्कन्दगुप्त को कालिदास का आश्रयदाता या समकालीन मानने मे सबसे बडी आपत्ति यह है कि कालिदास का विक्रमादित्य 'शकारि' था, 'हूणारि' नही ।

मैकडॉनल, विण्टरनित्ज आदि अधिकांश पश्चिमी विद्वान् तथा डॉ० आर० जी० भण्डारकर प्रभृति भारतीय विद्वान् कालिदास को सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नो मे से एक मानते है । इन्होने शको को भारत भूमि से खदेड़कर 'विक्रमादित्य'

की उपाधि धारण की थी। ये सम्राट् समुद्रगुप्त के पुत्र थे। समुद्रगुप्त ने राजसूय यज्ञ कर देश-विदेश के अनेक राजाओ को परास्त किया था। विद्वानो की धारणा है कि समुद्रगुप्त की विजय यात्रा से प्रेरित होकर ही कालिदास ने 'रघुवश मे रघु की 'दिग्विजय' का वर्णन किया है। भीटा के शिलालेख मे समुद्रगुप्त की जिस दिग्विजय का उल्लेख है, वह रघु की दिग्विजय से पूर्ण साम्य रखती है। गुप्त सम्राट् मगध के शासक थे। 'रघुवंश' मे वर्णित 'इन्दुमती-स्वयवर' मे उपस्थित मगधराज के लिए जो उपमा या विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं, उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समय शाति और समृद्धि का काल था। विद्या, कला, धर्म और दर्शन को इस काल मे पूर्ण प्रोत्साहन मिला था। अत ऐसे प्रतापी तथा विद्यानुरागी शासक के सरक्षण मे कालिदास सदृश सरस्वतीपुत्र का पल्लवित होना असम्भव नही है। पर हमारे आलोच्य कालिदास को किसी भी गुप्त नरेश का समकालीन मानने मे कुछ सार्थक आपत्तियाँ है जो इस प्रकार है—

१ कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवश' मे वर्णित 'इन्दुमती-स्वयवर' प्रसग मे अवन्ति के राजा का उल्लेख कर उसके प्रति "अवन्ति-नाथोऽयमुदग्रबाहु • •" इत्यादि शब्दो द्वारा अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की है। 'मेघदूत' मे रास्ता टेढा होने पर भी उज्जयिनी की ओर मेघ को जाने का यक्ष द्वारा आग्रह किया गया है। इन सब बातो से ध्वनित होता है कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे, मगध के नही।

२. कालिदास ने ऋग्वेद की 'पुरुरवा-उर्वशी' को 'विक्रमोर्वशीयम्' नाम देकर 'विक्रम' नाम के प्रति विशेष सम्मान सूचित किया है 'विक्रम' के साथ ही उन्होने अनेक स्थलो पर 'महेन्द्र' शब्द का भी प्रयोग किया है। इससे ध्वनित होता है कि कालिदास के विक्रम या विक्रयमादित्य महेन्द्र या महेन्द्रादित्य के पुत्र थे। उक्त नाटक की निम्नलिखित पक्ति के आधार पर सभावना की जाती है कि 'विक्रमोर्वशीय' नाटक विक्रमादित्य के राज्याभिषेक के समय खेला गया था—**"रम्भे उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृत कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेक।"**

३ यदि यह कहा जाय कि रघु का दिग्विजय, वर्णन समुद्र गुप्त के दिग्विजय से मेल खाता है, तो यह कथन भी विश्वसनीय नही है। कालिदास ने अपने महाकाव्य मे जिन पारसीक, यवन, हूण, काम्बोज आदि जातियो का उल्लेख किया है, वे सब नाम पुराणो और महाभारत मे मिलले हैं। उदाहरण के लिए महाभारत का निम्नलिखित श्लोक दृष्टव्य है—

चीनान् शकाँस्तथा चोड्रान् बर्बरान् वनवासिनः।
वार्ष्णेयान् हारहूणाँश्च कृष्णान् हैमवताँस्तथा॥

अत स्पष्ट है कालिदास ने महाभारत के आधार पर ही हूणो का वर्णन किया है। इसी प्रकार यह कथन भी निराधार है कि कालिदास ने अश्वमेघ-प्रसग समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेघ के आधार पर लिखा था। महाभारत तथा पुराणों

में अश्वमेघ का अनेक स्थलो पर उल्लेख हुआ है। सम्राट समुद्रगुप्त से भी लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व शुंगवश के सस्थापक पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेघ यज्ञ किये थे।

४. कालिदास ने अपने काव्य मे सूयवशी राजाओ का यशोगान किया है, जबकि गुप्त सम्राट चन्द्रवशी थे। यद्यपि गुप्त नरेश उदार धार्मिक दृष्टि के थे, तथापि उनकी वैष्णव सम्प्रदाय मे पूर्ण निष्ठा थी। कालिदास भी धार्मिक दृष्टि से उदार थे, किन्तु उनकी शिव मे असीम श्रद्धा थी। अत एक शैव कवि को वैष्णव राजा के यहाँ समुचित समादर मिलना सर्वथा सम्भव नही। ऐसी स्थिति मे कालिदास का आश्रयदाता कोई सूर्यवशो शैव नृपति ही होना चाहिये।

५ गुप्त सम्राटो का अपना वशगत सवत् है। उनके किसी भी उत्कीर्ण शिलालेख मे 'मालव सवत्' अथवा 'विक्रम सवत्' का उल्लेख नही है। जब उनके उत्कर्ष काल मे 'विक्रम सवत्' नही प्रयुक्त हुआ तो पराभव काल मे विक्रम सवत्' द्वारा गुप्त-सम्राटो को गौरवान्वित करने का तर्क पूर्णत असगत और भ्रान्ति-जनक है।

६ भीटा के जिस शिलालेख मे समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उत्कीर्ण है, वह वर्ण्य-विषय की दृष्टि से कालिदास से साम्य भले ही रखती हो, भाषा शैली की दृष्टि से दोनो मे पर्याप्त अन्तर है। कालिदास ने सर्वत्र समासहीन वैदर्भी रीति को अपनाया है, जबकि उक्त शिलालेख की भाषा समास बहुला और कृत्रिमतापूर्ण है। कालिदास की भाषा मे यत्र तत्र आर्ष तथा अपाणिनीय प्रयोग भी मिल जाते है, जबकि उक्त शिला-लेख की भाषा पूर्णतः पाणिनीय व्याकरण के अनुकरण पर लिखी गयी है। शिलालेख की भाषा के हरिषेण नामक कवि है। यदि कालिदास जैसे यशस्वी कवि गुप्तकाल मे होते, तो शिलालेख की भाषा हरिषेण जैसे घटिया कवि से लिखवाने मे कौन-सी तुक थी ?

इन सब बातो से हम कहने को विवश हो जाते हैं कि कालिदास का अस्तित्व काल गुप्त-सम्राटो के शासनकाल से बहुत पहले का है।

(३) **ईसा पूर्व प्रथम शतक का मत**—ऐतिहासिक अनुसन्धानो से ईसा पूर्व प्रथम शतक मे शको को परास्त करने वाले, विद्वानो को विपुल दान देने वाले न्यायप्रिय उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के अस्तित्व का पता चलता है। ईस्वीय प्रथम शतक मे रचित हाल की 'गाथा सप्तशती' मे विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदारचरित राजा का उल्लेख है, जिसने शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष्य मे अपने भृत्यो को लाखो का उपहार दिया था। जैन कवि मेरुतुगाचार्य द्वारा विरचित 'पद्यावली' से विदित होता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से मालव गणराज्य को मुक्त किया था। यह घटना महावीर-निर्माण के ४७० वें वर्ष अर्थात् ईसा पूर्व ५७ वर्ष में हुई थी। इस घटना की पुष्टि प्रबन्धकोष तथा शत्रुञ्जय माहात्म्य से भी होती है।

सोमदेव-कृत कथासत्सिागर' मे उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य का उल्लेख

है। यह ग्रथ गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' (प्रथम शतक ई०) पर आश्रित है। इसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा परमारवशी महेन्द्रादित्य का पुत्र था जिसने शको का समूल उच्छेदन किया और इस महत्वपूर्ण घटना के उपलक्ष्य मे 'मालवगणस्थिति' नामक सवत् चलाया जो बाद मे 'विक्रम सवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने मलेच्छो का नाश कर वैदिक धर्म को पुन प्रतिष्ठित किया था। इसी राजा ने उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर का निर्माण कराया था। 'कथा सरित्सागर' मे विक्रमादित्य के राज्याभिषेक का वर्णन इस प्रकार है—

ततश्च यौवनस्थ तं विलोक्य प्राज्यविक्रमम् ।
अभिषिच्य सुत राज्ये यथाविधि जनप्रियम् ।।
महेन्द्रादित्यनृपति सभार्यासचिवोऽपि सः ।
वृद्धो वाराणसीं गत्वा शरण शिश्रिये शिवम् ।।
सोऽपि तद् विक्रमादित्यो राज्य मासाद्य पैतृकम् ।
नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितु क्रमात् ।।

उपर्युक्त श्लोको मे विक्रमादित्य, उसके पिता महेन्द्रादित्य तथा उनके शैव होने का स्पष्ट निर्देश है। कालिदास के ग्रथो का अवलोकन करने से भी स्पष्ट विदित होता है कि वे परम शैव थे और उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर के प्रति उनके हृदय मे अपार श्रद्धा थी। अत इस तथ्य मे कोई सन्देह नही होना चाहिए कि कालिदास के शकाराति विक्रमादित्य ये सूर्यवशी परम शैव उज्जयिनी नरेश विक्रम ही थे, विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले पाटिलपुत्र के चन्द्रवशी गुप्त शासक नही।

कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने मेघदूत के **"स्थानादस्मात् सरसनिचुला दुत्पतोदङ्मुखः ख, दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्"** इस कथन के आधार पर कालिदास को दिङ्नाग (पाँचवी शताब्दी ई०) नामक बौद्ध दार्शनिक का समकालीन तथा अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) से परवर्ती सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। कालिदास के टीकाकार मल्लिनाथ ने 'निचुल' और 'दिङ्नाग' मे श्लेष माना है। उनके मतानुसार दिङ्नाग कालिदास के प्रतिद्वन्द्वी कवि है। कवि और दार्शनिक मे अन्तर होता है। यदि दिङ्नाग नामक कोई कवि कालिदास के समय मे रहा हो तो हमे कोई आपत्ति नही पर बौद्ध दार्शनिक को उपर्युक्त श्लेष के आधार पर कालिदास का समकालीन मानना बाल की खाल खीचना और पक्षपातपूर्ण है। पहली बात तो यह है कि किसी कवि की किसी दार्शनिक से प्रतिद्वन्द्विता असमीचीन जान पडती है। दूसरी बात यह है कि 'दिङ्नागाना' पद के बहुवचन द्वारा कवि का दिङ्नाग के प्रति आदर व्यजित हो रहा है, जो कि उस काल मे किसी शैव द्वारा एक बौद्ध दार्शनिक के प्रति कभी सम्भव नही था। अत यह कथन कि कालिदास बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के समकालीन थे, बालुकाभित्तिवत् सारहीन है।

अब रही अश्वघोष की बात। अश्वघोष कुषाण सम्राट् कनिष्क (राज्यारोहण

७८ ई०) के गुरु तथा राज-कवि थे। उन्होने "सौन्दरानन्द' नामक महाकाव्य की रचना की जिसमे बौद्ध धर्म की शिक्षाओ का काव्यमय वणन है। उसके अनेक स्थलो पर कालिदास के 'रघुवश' के वणनो से भावसाम्य है। पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि कालिदास पर अश्वघोष का प्रभाव है। पर यह मत तभी तक साथक था, जब तक कि कालिदास का स्थिनि काल चौथी, पाँचवी या छठी शताब्दी तक माना जाता रहा। अश्वघोष मूलत बौद्ध है। बौद्ध साहित्य का प्रारम्भ पालि से हुआ। परवर्ती बौद्धो ने सस्कृत की लोकप्रियता के कारण सस्कृत को भी अपनी रचना का माध्यम बनाया। अश्वघोष भी उन्ही बौद्धो मे से हैं। मौलिक प्रतिभा का धनी, कविता-कानन केसरी कालिदास अश्वघोष-सरीखे निम्न कोटि के कवियो से भाव ग्रहण करे, यह बात कुछ जँचती नही। फिर कालिदास कृतघ्न कवि कदापि नही थे। यदि अश्वघोष उनके पूर्ववर्ती होते और उन्होने उनके काव्य से प्रेरणा ली होती तो "**भाससौमिल्ल कविपुत्र**" आदि की तरह अश्वघोष को भी वे अवश्य स्मरण करते। पर, अश्वघोष का कालिदास की किसी भी रचना मे उल्लेख नही है। इससे यही मानना पडेगा कि कालिदास ने अपने काव्य-सौन्दय से अश्वघोष को ही प्रभावित किया है, अश्वघोष ने कालिदास को नही। फिर, कालिदास की भाषा मे अनेक आष और अपाणिनीय प्रयोग है, जबकि अश्वघोष की भाषा पूणत पाणिनीय व्याकरण के नियमो से बँधी हुई है। इससे कालिदास की भाषा की प्राचीनता स्वत सिद्ध हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कष पर पहुँचने है कि कालिदास उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के नवरत्नो मे से एक थे जिनका स्थिति काल ईसा-पूर्व प्रथम शतक है।

कालिदास कालीन सामाजिक स्थिति

कालिदास का आविर्भाव जिस काल मे हुआ, वह काल बौद्ध धर्म के ह्रास तथा वैदिक धम के पुनरुत्थान का युग था। मौर्यों की राज्य सत्ता शुँगवशीय ब्राह्मणो के हाथो मे चले जाने के अनन्तर बौद्ध धम को राज्याश्रय मिलना भी बन्द हो गया था और वैदिक धम को राज्याश्रय प्राप्त होते ही याज्ञिक कमकाण्डो तथा वेदमन्त्रोच्चारो की धूम फिर से मचने लगी थी। कालिदास का धार्मिक दृष्टिकोण सहिष्णुतावादी था। उन्होने अपने ग्रन्थो मे कही भी प्रत्यक्ष रूप से बौद्ध धर्म का विरोध नही किया है, तथापि उनकी वैदिक धम दर्शन तथा उसके अनुसार व्यवस्थित वर्णाश्रम-धम मे गहन आस्था थी। स्मृतियो और पुराणो की रचना हो जाने से कालिदास के समय तक सगुण भक्ति और मूर्ति पूजा का प्रचलन भी हो गया था। स्वय कालिदास ने 'मेघदूत' मे उज्जयिनी के महाकाल के प्रति अपनी विशेष आस्था व्यक्त की है। कालिदास के युग तक वैदिक धम का रूप पौराणिक धर्म मे परिवर्तित हो गया था और पौराणिक धर्म दो बडे सम्प्रदायो—शैव और वैष्णव मे विभक्त हो गया था। कालिदास कालीन जनता शिव के साथ साथ विष्णु की भी उपासक थी और राम तथा कृष्ण को वह विष्णु के अवतारो के रूप मे भी स्वीकार कर चुकी थी।

वर्णाश्रम व्यवस्था—कालिदास के ग्रन्थो का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—मे विभक्त था। प्रत्येक वर्ण अपने कुल क्रमागत कम को ही करने मे अपना गौरव समझता था। ब्राह्मण, ऋषि, मुनि आदि का वर्ग अध्ययन-अध्यापन, यज्ञानुष्ठानादि धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करता था। अभिज्ञान शाकुन्तल मे वर्णित कण्व, मारीच आदि ऋषियों के आश्रमो मे पूर्वोक्त कर्म ही होते थे। यज्ञानुष्ठानो मे पशु-बलि का भी विधान था जिसका उल्लेख अभिज्ञान शाकुन्तल के षष्ठाक मे हुआ है—**पशुमारण कर्म दारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रिय**। क्षत्रिय तथा राजन्य वग का काय देश रक्षा तथा प्रजापालन था। प्रजा का सवथा हित करना राजा का नैतिक कत्तव्य था, जैसाकि कवि ने शाकुन्तल के भरत वाक्य मे सकेत किया है—**प्रवर्तता प्रकृतिहिताय पार्थिव**। वैश्यवर्ग का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य था। धनीमानी वैश्यो को 'श्रेष्ठी' कहा जाता था। व्यापारी लोग नावो द्वारा समुद्र-यात्रा कर विदेशो से व्यापार करते थे। शूद्र वग का मुख्य कम सेवा ही था। इस काल मे सभी जन सुख सम्पन्न एव समृद्धिशाली थे तथा अपने वणगत नियमो का पालन करना अपना परम कत्तव्य समझते थे। लोग अपने वर्ण-क्रमागत कुल कम को सहज कम समझकर उसके सदोष अथवा निन्दित होने पर भी नही त्यागते थे। अभिज्ञान शाकु तल का धीवर इसका प्रमाण है जो अपने कुल-कर्म को हेय न मानकर श्रेष्ठ मानता है। (सहज यत्किल विनिन्दितम्०)

कालिदास वर्ण व्यवस्था की भाँति आश्रम व्यवस्था मे भी आस्था रखते थे। कण्व के आश्रम मे शाङ्र्गरव और शारद्वत प्रभृति ब्रह्मचारी तथा अनसूया और प्रियवदा प्रभृति ब्रह्मचारिणियाँ अध्ययन-रत थी। ब्रह्मचय काल मे ये ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणिया पुरुषोचित तथा स्त्रियोचित विद्याएँ ग्रहण करते थे। वृक्ष-सेचन, अतिथि-सत्कार सगीत आदि स्त्रियों को सिखाया जाता था। अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम तथा द्वितीय अको मे इनके स्पष्ट उल्लेख हैं। ब्रह्मचर्य काल पूर्ण होने पर द्विज वर्ग को विधिवत् गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी और उन्हे आवश्यक शिक्षाएँ भी दी जाती थी जैसी कि अभिज्ञान शाकुन्तल के चतुथ अक मे कण्व ऋषि ने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करती हुई अपनी पुत्री शकुन्तला को शिक्षा दी है—"**शुश्रूषस्वगुरून्, कुरु प्रियसखी-वृत्ति सपत्नीजने**" इत्यादि। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ और तत्पश्चात् सन्यास आश्रमो का विधान था। पति-गृह गमन करती हुई शकुन्तला जब अपने पिता से भाव विह्वल होकर कहती है कि "तात, क्या मैं फिर कभी इस आश्रम को देख पाऊँगी ?" तो कण्व इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथ तनय निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पित कुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन्॥

इस कथन मे वानप्रस्थ आश्रम की ओर स्पष्ट सकेत है।

शिक्षा—कालिदास के युग मे अनेक आश्रम किंवा गुरुकुल थे, जिनमे शिक्षा की व्यवस्था थी। आश्रम के प्रधानाचार्य को कुलपति कहा जाता था। इन गुरुकुलो

को राजा की ओर से पूर्ण सरक्षण प्राप्त था। उनकी गरिमा बनाये रखने के लिए राजा तक भी विनीत वेश से ही आश्रमों मे प्रवेश करते थे, जैसाकि दुष्यन्त के निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है— **वनीत वेशेन प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम।"** इन आश्रमो मे वेद-वेदागादि के साथ साथ जीवनोपयोगी प्राय समस्त बातो की शिक्षा दी जाती थी जिनमे साहित्य-कला, चित्रकला, सगीत आदि प्रमुख हैं। इनके साथ साथ वृक्ष-पोषण, औषधोपचार, अतिथि-सत्कार आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। शाकु तल के प्रथम अक मे आश्रम बालिकाओ को वृक्ष-सेचन करते हुए दर्शाया गया है। शकु तला ने अपने प्रेमपत्र मे जिस मार्मिकता से अपने प्रणय का परिचय दिया है वह उसकी साहित्य ममज्ञता का परिचायक है। इसी प्रकार शकु तला तथा उसकी सखियो के कार्यो से स्पष्ट है कि वे प्राथमिक चिकित्सा, सगीत, अतिथि सत्कार आदि सभी स्त्रीजनोचित कार्यो मे पूणतया निपुण थी।

अध्ययन अध्यापन तथा अग्निहोत्रादि अनुष्ठानो से युक्त इन आश्रमो का वातावरण बडा ही पवित्र एव शान्तिपूण रहता था। आश्रमवासी बल्कल धारण करते थे, नीवारादि वन्य धान्य खाते थे और जटाओ मे इगुदी (हिगोटे) के तेल का उपयोग करते थे (दे० अभिज्ञान० प्रथम अक)। मारीच के शान्तिमय आश्रम मे पहुचकर स्वय राजा दुष्यन्त ही कह उठता है—**स्वर्गादधिकतर निवृ तिस्थानम्।"** आश्रमो मे जीव हिंसा पूणतया वर्जित थी। शाकु तल के प्रथम अक मे आश्रम मृग का अनुधावन करते हुए राजा को आश्रमवासियो ने यह कहते हुए रोक दिया था—'**भो भो राजन्। आश्रममृगोऽय न हन्तव्यो न हन्तव्य।"** कालिदास का समय प्राय समस्त ललित-कलाओ की उन्नति का समय था। उनका दुष्यन्त भी चित्रकला एव सगीत ममज्ञ था। उसके द्वारा "**कार्या सैकतहसलीन मिथुना स्रोतोवहा मालिनी** " इत्यादि मे दर्शायी गयी चित्रकला की निपुणता पर मुग्ध होकर स्वय सानुमती कहती है— "**अहो एषा राजर्षेर्निपुणता, जाने सख्यग्रतो मे वतते।"** हसपदिका के गीत पर मुग्ध होकर राजा स्वय कहता है—**अहो राग परिवाहिणी गीतिः।"** ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय आश्रमो के अतिरिक्त नगरो मे भी इन ललित कलाओ की शिक्षा का प्रबन्ध था। वहाँ रगशालाएँ होती थी जिनमे इन कलाओ की शिक्षा दी जाती थी। तात्पय यह कि कालिदास काल मे शिक्षा का पूण प्रबन्ध था।

परिवारिक जीवन—कालिदास की कृतियो मे एक आदश पारिवारिक जीवन की झलक मिलती है। उनके रघुवश आदि महाकाव्यो तथा अभिज्ञान शाकुन्तल आदि नाटको मे स्पष्ट निर्देश है कि गृहस्थो को गुरु, माता, पिता, बन्धु, पत्नी, दास, दासी, सन्तान तथा समाज से प्रेम एव सहानुभूति रखना आवश्यक है। 'रघुवश' मे कैकेयी के प्रति राम द्वारा तथा अभिज्ञान शाकुन्तल मे राजमाता के प्रति दुष्यन्त द्वारा प्रदर्शित आदर इसके ज्वलन्त उदाहरण है। उनकी रचनाओ मे जो सवत्र सामाजिक एव पारिवारिक शान्ति दिखाई पडती है उसका कारण यह है कि उस समय सभी वर्णों के लोग अपने वशक्रमागत कर्मों का यथोचित निर्वाह करते थे। पूज्यजनो का

अनादर कालिदास को कदापि सह्य नही था। इसीलिए उन्होने अपने काव्य ग्रन्थो मे प्रसगवश निर्देश दिया है—**प्रतिबध्नाति हि श्रेय पूज्यपूजा व्यतिक्रम**", "**आज्ञा गुरूणाँ ह्यविचारणीया**" इत्यादि।

परिवार मे पुरुषो का स्त्रियो के प्रति शिष्ट एव सभ्य व्यवहार था। ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष अवसरो पर परदा प्रथा का भी प्रचलन था। राजा के दरबार मे उपस्थित शकुन्तला के विषय में राजा द्वारा पूछा गया "**केयमवगुण्ठनवती**" यह प्रश्न यह सिद्ध करने में पूण सक्षम है कि कालिदास युग मे आशिक रूप मे परदा प्रथा भी विद्यमान थी। पति के साथ गुरुजनो के समीप जाती हुई स्त्रियाँ लज्जा एव सकोच का अनुभव करती थी, जैसाकि शकुन्तला के निम्न कथन से स्पष्ट है—"**जिह्रेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीप गन्तुम्।**" पति का पत्नी पर पूण अधिकार समझा जाता था—"**उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।**" समाज मे स्त्री जाति का सम्मान तो था पर उन पर विश्वास कम था। चरित्र की दृष्टि से सवथा सभी स्त्रियो पर विश्वास नही किया जा सकता था। दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति पचमाक का कथन इसका प्रमाण है। पर उस समय की नारियाँ पतिव्रत धम का पालन करने मे अपना गौरव समझती थी। दुष्यन्त से परित्यक्ता होकर भी शकुन्तला एक वेणीधरा विरहिणी के रूप मे मारीच ऋषि के आश्रम मे सात्त्विक वृत्तियो से अपना जीवन यापन करती रही और पति द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर वह तुरन्त उसके साथ हस्तिनापुर जाने को उद्यत हो गयी थी।

विवाह पद्धतियाँ—कालिदास ने अपने काव्यो मे शकुन्तला, इन्दुमती, मालविका आदि जिन कयाओ के विवाहो का उल्लेख किया है, वे सभी प्रौढा थी। इससे सिद्ध होता है कि उस युग मे बाल-विवाह नही होते थे। कन्याओ का विवाह प्राय अपने ही वण के कुमारो के साथ किया जाता था। कालिदास की इन्दुमती तथा शकुन्तला आदि क्षत्रिय कन्याओ का विवाह अज तथा दुष्यन्त आदि क्षत्रियो के साथ होना उस काल मे सवश्रेष्ठ समझा जाता था। यो तो मनुस्मृति मे अनुलोम (उच्च कुलोत्पन्न कुमार द्वारा निम्न कुलोत्पन्न कन्या से विवाह) तथा प्रतिलोम (निम्न कुलोत्पन्न कुमार द्वारा उच्च कुलोत्पन्न कन्या से विवाह) विवाहो का उल्लेख है, पर कालिदास के युग मे प्रतिलोम विवाह को हेय समझा जाने लगा था। गुरु की अनुमति के बिना दुष्यन्त के प्रेमपाश मे बँध चुकी शकुन्तला के कृत्य पर कण्व को तभी सन्तोष हुआ जब उन्हे विदित हो गया कि उसने किसी नीच व्यक्ति का वरण न कर सवण का ही वरण किया है। उनके निम्न कथन से यही ध्वनि निकलती है—**दिष्ट्या धूमाकुलित दृष्टेरपि यजमानस्य आहुति पावक एव पतिता।**" पर, अनुलोम विवाह को बुरा नही माना जाता था। कालिदास की क्षत्रिय कन्या मालविका ने शुगवशीय ब्राह्मण राजकुमार अग्निमित्र से विवाह किया ही था। इसी काल मे सातवाहन नामक ब्राह्मण राजवश के गौतमीपुत्र सातकर्णि तथा वासिष्ठी पुत्र सात-

कर्णि ने भी क्षत्रिय कन्याओ के साथ विवाह किये थे, ऐसे इतिहास ग्रन्थो मे प्रमाण दिये गये हैं।

मनुस्मति मे जिन आठ प्रकार के विवाहो का विधान है, उनमे आर्ष विवाह को ही सर्वोत्तम माना गया है। 'रघुवश' के प्राय सभी राजाओ ने आष विवाह ही किये थे। राजकुलो मे स्वयवर की प्रथा भी प्रचलित थी, 'इन्दुमती स्वयवर' जिसका स्पष्ट निदशन है। शकु तला ने दुष्यन्त के साथ गान्धव विवाह किया था। पर कालिदास तथा उनके समकालीन समाज की उसमे बहुत कम आस्था थी। स्वय शकु तला भी गुरुजन की अनुमति बिना दुष्य त से प्रणय करने को उत्सुक नही थी। उसके निम्नलिखित वाक्य इसके प्रमाण है—"**धर्माचरणेऽपि परवशोऽय जन**", "**न च सनिहितोऽत्र गुरूजन**" इत्यादि। दुष्यन्त द्वारा परित्यक्ता हो जाने पर जब शकुन्तला शाङ्ग रव की शरण माँगती है तो वह उसे फटकार लगाता हुआ कहता है—"**किं पुरो भागे ? स्वातत्र्यमवलम्वसे।**

अत परीक्ष्य कर्त्तव्य विशेषात्सगत रह।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम्॥

और तभी गौतमी भी बोल उठी—**नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्च बन्धुजन। परस्पस्मिन्ने चरिते भणामि किमेकैकम्।**" सच बात तो यह है कि बन्धुजनो तथा गुरुजनो की सम्मति के बिना केवल पारस्परिक प्रेममात्र से विवाह करना कालिदास की दृष्टि मे एक अपराध था और इसीलिए ऐसा अपराध करने वाले दुष्यन्त के प्रति उन्होने शाङ्ग रव के शब्दो मे अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा है—"**मुष्ट प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन।**"

सभवत कालिदास के समय मे धनिकवर्ग तथा राजाओ मे बहु विवाह का प्रचलन था। समुद्र व्यापारी धनमित्र की कई पत्नियाँ थी, जैसाकि निम्न वाक्य से सिद्ध है—"**बहुधनत्वाद बहुपत्नीकत्वेन तत्रभवता भवितव्यम्।**" राजा लोग प्राय बहु पत्नीक ही होते थे, जैसा कि अनसूया कहती है—"**वयस्य! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते**" तथा जैसी कि स्वय दुष्यन्त की स्वीकारोक्ति है—"**परिग्रहबहुत्वेऽपि दे प्रतिष्ठे कुलस्य न ।**"

राजा के अधिकार और कर्त्तव्य—कालिदास के समय मे देश मे राजतत्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी। राजा प्रजा वत्सल और मुनियो तथा विद्वानों का आदर करते थे। यद्यपि राज्य मे राजादेश ही सर्वमान्य होता था, तथापि राजा पर अमात्य, पुरोहित तथा विद्वान् ब्राह्मणो का अकुश रहता था। धार्मिक कृत्यो मे राजा को पुरोहित वर्ग की सम्पूर्ण व्यवस्था मान्य होती थी। वह प्रजा का पालन भी करता था और उनके विवाद भी शान्त करता था—"**प्रशमयसि विवाद कल्पसे रक्षणाय।**"—वह कुपथगामियो को कठोर दण्ड भी देता था जिससे कोई भी व्यक्ति अथवा वर्ण कभी उच्छ खल नही हो सकता था, जैसा कि दुष्यन्त के राज्य मे—"**न कश्चिद् वर्णानामपथम पकृष्टोऽपि भजते।**"—राजा

अपनी प्रजा का सदैव पुत्रवत् पालन करता था, जैसाकि शाकुन्तल मे उल्लेख है—"प्रजा प्रजा स्वा इव तन्त्रयित्वा स्वसुखनिरभिलाषो खिद्यसे लोक हेतो ।" यदि कोई व्यक्ति नि सन्तान ही मर जाता था तो उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसकी पत्नी या पत्नियो को नही मिलता था, अपितु उसे राजा की सम्पत्ति समझा जाता था। पर उस व्यक्ति की विधवाओ को पाप कर्म छोडकर सभी कर्मो मे राजा सहायता देता रहता था। अभिज्ञान शाकुन्तल के षष्ठाक मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है—

येन-येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासा दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥

शासन मे चोरी आदि अपराध अक्षम्य थे। इनके लिए अपराधी को शूली तक दी जाती थी। राजाङ्गुलीयक की चोरी के अपराध मे धीवर को शूली पर चढाने का ही प्रयास था। राजा द्वारा धीवर को क्षमा कर दिये जाने पर राजपुरुषो द्वारा उससे रिश्वत की बात करना भी बडा मनोरजक है। धीवर के पुरस्कार मे सम्मिलित होने के इच्छुक पुलिसजनो का यह कथन उनकी रिश्वतखोरी का स्पष्ट निदशन है—
"कादम्बरी सखित्वमस्माक प्रथमशोऽभिमतमिष्यते ।"

प्रजाजन की कुल आय का षष्ठाश राजा को कर के रूप मे दिया जाता था। इसलिए राजा को षठाशवृत्ति भी कहा जाता था। रघुवश' के एक प्रसग मे उल्लेख है कि ऋषि लोग भी उञ्छवृत्ति से प्राप्त नीवार धान्या का षष्ठाश राजा को देते थे—'तान्युञ्छषष्ठाकित सैकतानि " इत्यादि। पर आश्रमवासियो तथा वानप्रस्थियो से षष्ठाश ग्रहण करने को राजा का ओर से कोई आदेश नही था क्योकि ये तपस्वी लोग तो अपनी तपस्या का षड्भाग ही राजा को दे देते थे।— 'तप षड्भागमक्षय्य ददत्यारण्यका हि न ।"राजा लोभवश या अपने भोगाथ कर ग्रहण नही करता था, अपितु वह उसके द्वारा प्रजा की रक्षा करता था, जैसा कि रघुवश मे स्पष्ट उल्लेख है—"प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत ।" राजा रघु ने तो अपने विश्वजित् यज्ञ मे दिग्विजय से प्राप्त सम्पूण धन को दान कर दिया था और दुष्यन्त ने धनमित्र के धन को उसके गभस्थ बालक के लिए छोड दिया था। कर ग्रहण के बाद राजा उस धन को शिक्षा तथा प्रजा की जीविका के साधनो को जुटाने मे व्यय करता था, जैसा कि 'रघुवश' मे उल्लेख है—"प्रजाना विनयाधानाद्रक्षणाद्-भरणादपि "प्रजा की भाति राजा को आश्रमो की भी रक्षा करनी पडती थी। महर्षि कण्व के यज्ञ की रक्षा के लिए राजा दुष्यन्त स्वय वहाँ जाकर राक्षसो का वध करता है। यश कामी प्रतापी राजा अश्वमेध यज्ञ भी करते थे। 'रघुवश' मे रघु के अश्वमेध का कालिदास ने विशद वर्णन किया है। कालिदास से लगभग सौ वर्ष पूव शु गवशीय प्रतापी शासक पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध यज्ञ कर सम्पूण आर्यावत को एकता के सूत्र मे आबद्ध किया था। ईस्वी चतुथ शतक मे यही काय समुद्रगुप्त ने भी किया था। कालिदास की साम्राज्यवाद मे गहन आस्था थी, इसलिए उसके काव्यो मे दुष्यन्त तथा रघु आदि चक्रवर्ती सम्राटो की यशोगाथा का ही विशद वर्णन है। उन्हे

भारतीय नरेशो के पौरुष पर बडा गर्व था जिसकी व्यजना उनके निम्नलिखित कथन से हो जाती है—

"स्ववीर्यगुप्ता हि मनो प्रसूति ।"

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि कालिदास के ग्रन्थो के उपजीव्य रामायण, महाभारत तथा पुराणो के कथानक हैं, पर उन्होने उन प्राचीन कथानको मे नवीनता की उद्भावना कर अपने समय की सामाजिक परिस्थितियो का यथार्थ चित्रण किया है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के कथानक का मूल स्रोत

अभिज्ञान शाकुन्तल की कथावस्तु का मूल स्रोत महाभारत के आदि पर्व का 'शकुन्तलोपाख्यान' है। इसमे पौरवराज दुष्यन्त तथा ऋषि कन्या शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वर्णन है। इस उपाख्यान के अनुसार एक बार राजा दुष्यन्त अपनी सेना लेकर मृगया के लिए वन मे गया। अनेक पशु-पक्षियो का आखेट करता हुआ वह उस वन मे पहुँचा जिसमे कण्व ऋषि का आश्रम था। राजसी परिधान को उतारकर राजा विनीतवेश द्वारा कण्व ऋषि के दर्शन करने की अभिलाषा से आश्रम मे प्रविष्ट हुआ। वहाँ पर उसका शकुन्तला से साक्षात्कार हुआ जिसने उसे आतिथ्य हेतु आमन्त्रित किया। राजा उसके रूप पर मुग्ध हो गया। ऋषि के सम्बन्ध मे पूछने पर उसे विदित हुआ कि वे समिधाएँ लेने आश्रम से बाहर गये हुए है और थोडी ही देर मे लौटकर आने वाले है। राजा बोला, "हे सुमध्यमे! तुम कौन हो, किसको पुत्री हो और इस तपोवन मे किसलिए आयी हो? तुमने मेरा मन हर लिया है। मैं तुम्हारे विषय मे जानना चाहता हूँ।" शकुन्तला ने मन ही मन मुस्कराते हुए मधुर-वाणी मे उत्तर दिया कि वह भगवान् कण्व की दुहिता है। दुष्यन्त के सन्देह करने पर कि भगवान् कण्व तो ऊर्ध्व रेता हैं, वे अपने पथ से विचलित नही हो सकते, तो फिर तुम उनकी दुहिता कैसे हो, शकुन्तला ने उत्तर दिया कि वह विश्वामित्र तथा मेनका नामक अप्सरा के शुक्र-शोणित से उत्पन्न है। जन्म देने के अनन्तर उसकी माता उसे मालिनी-तट पर त्यागकर इन्द्र लोक चली गयी थी। थोडी देर बाद महर्षि कण्व मालिनी नदी मे स्नानार्थ आये और उन्होने तट पर शकुन्तो (पक्षियो) द्वारा सरक्षित एक शिशु बालिका को देखा। वे उसे वहा से उठा लाये और शकुन्तला नाम रखकर उसका लालन पालन किया। वही शकुन्तला मै हूँ। इस वृत्तान्त को सुनकर दुष्यन्त उसे क्षत्रिय द्वारा विवाह योग्य जान उससे गान्धर्व विवाह द्वारा अपनी भार्या बनाने की बात करने लगा। शकुन्तला ने पहले तो यह कहा कि आप ठहरिये, अभी थोडी देर मे ही तात आने वाले है, उन्ही की अनुमति से मै आपके प्रस्ताव को स्वीकार कर सकती हू। किन्तु जब दुष्यन्त ने उसे गान्धर्व-विवाह का औचित्य समझाकर बिना पिता की अनुमति के ही विवाह करने को राजी कर लिया तो उसने दुष्यन्त के समक्ष यह शर्त रख दी कि यदि मुझसे उत्पन्न पुत्र को ही आप युवराज बनायें तो मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार है—

मयि जायेत य पुत्र स भवेत्त्वदनन्तरम् ।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥
यद्येतदेव दुष्यन्त ? अस्तु मे सगमस्त्वया ।

राजा ने 'एवमस्तु' कहकर उसके साथ विधिवत् गान्धर्व-विवाह किया और उसे यह आश्वासन देकर कि "मै शीघ्र तुमको बुलाने के लिए अपनी चतुरगिणी सेना भेजूगा"—वापिस चला आया । पर चूकि उसने कण्व ऋषि की बिना अनुमति के यह प्रेम व्यापार किया था और उनसे मिले बिना ही लौट आया था, उससे वह लज्जित और पश्चात्ताप युक्त हुआ । कुछ ही क्षणो बाद वहाँ कण्व ऋषि आ गये और अपने ज्ञान से शकुन्तला के गान्धव विवाह का पता लगाकर उन्होने उसे पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया । अपने वचन के अनुसार दुष्यन्त ने शकुन्तला को बुलाने हेतु कोई भी व्यक्ति नही भेजा और शकुन्तला भगवान् काश्यप (कण्व) के ही आश्रम मे बनी रही । गर्भ पूण हो जाने पर उसने एक अति तेजस्वी बालक को जन्म दिया । बडा होने पर यह बालक अति बलिष्ठ और पराक्रमी सिद्ध हुआ । उसने वन के हिंस्रातिहिंस्र पशुओ का दमन किया । इसलिए उसका नाम 'सवदमन' रखा गया । 'सवदमन' के जन्म के सातवें वष शकुन्तला को पति गृह भेजा गया । पति-समीप पहुचकर शकुन्तला ने विधिवत् राजा की अचना की और कहा, "राजन् ! इस पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त कीजिये क्योकि समागम के समय पर आपने मुझसे प्रतिज्ञा की थी ।" राजा उसकी बात सुनकर और उसके साथ किये गये समागम तथा उसको दिये गये वचन का स्मरण होते हुए भी यह कहने लगा कि उसे उसके साथ समागम करने तथा उसको किसी भी प्रकार का वचन देने के विषय मे कुछ भी स्मरण नही है । इससे शकुन्तला बडी क्षुब्ध और अपने अविचारित कम पर लज्जित हुई । राजा से सवथा परित्यक्त हो जाने पर किंकत्तव्यविमूढ शकुन्तला ज्यो ही वहाँ से चलने को उद्यत हुई कि सभा मे आकाशवाणी गूँजने लगी—

भरस्व पुत्र दुष्यन्त माऽवमस्था शकुन्तलाम् ।
त्व चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥

आकाशवाणी द्वारा सभासदो का सन्देह निवारण हो जाने पर राजा ने शकुन्तला को सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

इस कथानक मे कुछ अक्षम्य दोष हैं । सवप्रथम तो दुष्यन्त और शकुन्तला की कामुकता अति गर्हणीय है कि वे दो घडी तक भगवान् कण्व के आश्रम लौटने की प्रतीक्षा न कर गान्धर्व विवाह कर बैठे । किसी अपिरिचित व्यक्ति से एक आश्रमवासिनी कन्या द्वारा इतने अल्पकाल मे समागम करने को राजी हो जाना भी अस्वाभाविक लगता है । फिर दुष्यन्त आया तो था, कण्व ऋषि के दर्शन करने और उनसे बिना मिले ही चला गया तथा लोक निन्दा के भय से उसने अपनी गान्धव विवाह परिणीता भार्या को न तो स्वय बुलवाया और न उसके समीप आने पर उसे स्वीकार करने को राजी हुआ । शकुन्तला भी आश्रमवासिनी तापस कन्या

सी नही जान पडती । वह अति प्रगल्भा, वाचाल और सासारिक सुखो की गरज से अपने शरीर को बेचने वाली जान पडती है। ऐसे पात्रो को इसी रूप मे किसी नाटक का नायक-नायिका नही बनाया जा सकता, क्योकि उनके उपरिवर्णित कृत्य समाज की मर्यादा के विरुद्ध होने से नायक तथा रस दोनो के ही अपकर्ष कारक है। दशरूपककार धनञ्जय की व्यवस्था है कि यदि किसी कथानक मे नायक अथवा रस की दृष्टि से अनौचित्य हो तो उस विरुद्धाश को या तो छोड देना चाहिए या उसमे परिवर्तन कर देना चाहिए—**यत्तत्रानुचित किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा। विरुद्ध तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥**

इसी बात को ध्यान मे रखते हुए महाकवि कालिदास ने अपने विश्वश्रुत नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कथानक मे कुछ आवश्यक परिवर्तन किये हे जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) अभिज्ञान शाकुन्तल मे मृगयाबिहारी दुष्यन्त ससैन्य नही अपितु अकेला ही आया है। वह हरिण का पीछा करता हुआ ही आश्रम के समीप पहुचता है जहाँ उसे तापसकुमारो से यह सूचना मिल जाती है कि भगवान् काश्यप एक लम्बे समय के लिए सोमतीर्थ गये हुए है और आश्रम मे उनकी दुहिता शकुन्तला ही अतिथि पूजा करती है। इस प्रकार राजा के मन मे शकुन्तला को देखने की उत्सुकता जागृत हो जाती है।

(२) महाभारत के दुष्यन्त की भाति कालिदास का दुष्यन्त सीधे शकुन्तला के आश्रम मे नही जाता। उसे कुछ दूर चलने पर वृक्ष सेचन करती हुई युवतियो के शब्द सुनाई पडते है। वह एक झाडी मे छिपकर उनके वार्तालापो को सुनता रहता है। इन ऋषि कन्याओ के साथ कण्व दुहिता शकुन्तला भी है जिसे सहसा एक भ्रमर आकर तग करने लगता है। ज्यो ही भयाक्रान्त शकुन्तला परित्राण की माग करती है, त्यो ही दुष्यन्त उनके मध्य उपस्थित हो जाता है। उसे देखकर शकुन्तला सहम जाती है और लज्जाभाव से एक ओर हट जाती है।

(३) अभिज्ञान शाकुन्तल की शकुन्तला एक निश्छल तापस कन्या है जो दुष्यन्त के प्रति आसक्ति होने पर भी उसे व्यक्त नही करती। उसमे लज्जा है, शील है, सयम है, गुरु भीरुता है, त्याग है। उसके चरित्र को उदात्त बनाने मे उसकी प्रिय सखियो—अनसूया और प्रियवदा—की बहुत बडी भूमिका रही है। महाभारत मे शकुन्तला स्वय अपना जन्म वृत्तान्त सुनाती है किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तल मे उसकी सखियाँ ही उसका वश-परिचय देती है।

(४) अभिज्ञान शाकुन्तल मे कण्व ऋषि सोमतीर्थ गये हुए है और इधर आश्रमवासियो की ओर से राक्षसो से आश्रम की रक्षार्थ राजा से निवेदन किया गया है। अत नायक और नायिका के प्रेम का क्रमिक विकास होकर ही परिपाक हुआ है जो मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दोनो दृष्टियो से ही समीचीन जान पडता है।

(५) महाभारत मे गान्धव विवाह के सात वष बाद शकुन्तला को पतिगृह भेजा गया है जबकि शाकु तल मे सोमतीथ से लौटते ही कण्व ऋषि ने अपनी आपन्नसत्त्वा पुत्री को उसके पति-गृह भेज दिया है। यह दूसरी बात है कि पुत्र सवदमन का जन्म और सात वष तक भरण-पोषण ऋषि-आश्रम मे ही हुआ है, पर वह काश्यप के आश्रम मे न होकर मारीच के आश्रम मे हुआ है।

(६) महाभारत मे दुष्यन्त जान बूझ कर शकुन्तला का तिरस्कार करता है और आकाशवाणी द्वारा प्रमाण दिये जाने पर उसे स्वीकार कर लेता है। अभिज्ञान शाकुन्तल मे दुर्वासा शाप की नूतन अवतारण की गई है जिसके कारण दुष्यन्त शाकुन्तला तथा उसके साथी तापस-तापसियो द्वारा बार-बार स्मरण दिलाये जाने पर भी अतीत की घटना का स्मरण करने मे असमथ रहता है। इसी बीच एक छाया-सी पडती है और वह शकु तला को उठाकर मारीच ऋषि के आश्रम मे ले जाती है। 'दुर्वासा शाप' की भाति 'धीवर प्रसग' भी कालिदास द्वारा जोडा गया नूतन वृत्तान्त है। दुष्यन्त ने आश्रम से विदा होते समय शकु तला को अपना स्वनामाकित अगुलीयक भेट किया था जिसे सरोवर मे हाथ-मुँह धोने वाली शकु तला की उँगली से गिर जाने पर एक मछली ने निगल लिया था। दैववशात् वह मछली एक धीवर के जाल मे पड गयी। जब उसका पेट चीरा गया तो उसमे से वह अगुलीयक निकला। राजपुरुपो ने धीवर को चोर घोषित कर उस अगुलीयक को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। अगुलीयक को देखते ही राजा को शकु तला का स्मरण हो आया। उसने धीवर को निर्दोष जानकर उसे प्रभूत परिमाण मे उपहार दिलवाया और स्वय अपनी प्रियतमा के वियोग मे सन्तप्त होने लगा।

(७) इसी प्रकार इन्द्र-सारथि मातलि द्वारा राजा को देवताओ के साहाय्यार्थ अमरावती ले जाने तथा वहा से लौटकर मारीच ऋषि के आश्रम मे राजा को पहुचाने की अवतारणायें भी कालिदास की कवि-प्रतिभा की मौलिक सूझ है। इसी आश्रम मे दुष्यन्त का सवप्रथम अपने पुत्र से साक्षात्कार हुआ। वह उसके रूप और गुणो पर रीझकर सहज वात्सल्य से अभिभूत होकर उसका आलिंगन कर लेता है। जब उस यह विदित हो जाता है कि बालक उसी का पुत्र है तो वह शकुन्तला के दशन की अभिलाषा करता है। शकुन्तला के उपस्थित होने पर वह उसके चरणो मे गिरकर क्षमा-याचना करता है और उसे अपनी भार्या तथा बालक को युवराज घोषित कर उन्हे अपने घर ले जाता है।

इस प्रकार मूल कथानक मे आवश्यक परिवतन कर कवि ने कथानक को रोचक बनाने के साथ-साथ अपने नायक-नायिका के चरित्रो की रक्षा करने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है और तत्कालीन लोक मर्यादा को भी अक्षुण्ण बनाये रखा है और इस प्रकार मूल कथानक से प्राप्त अस्वाभाविकताओ का सफलतापूर्वक निराकरण करते हुए नायक-नायिका के चरित्रों को नाटकोचित, स्वाभाविक एव मर्यादित

बनाने मे पूर्ण साफल्य प्राप्त किया है। उसके ये सभी परिवतन उसकी अद्भुत नाट्य प्रतिभा एव अपूर्व नाटय कौशल के परिचायक है।

शकुन्तला की कथा, महाभारत की भाति पद्मपुराण मे भी उपलब्ध होती है। पर इसकी कथावस्तु अभिज्ञान शाकुन्तल की कथावस्तु से बहुत कुछ साम्य रखती है। सम्भवत इसीलिये कुछ पाश्चात्य आलोचको की मा यता है कि कालिदास ने अपने नाटक का कथानक पद्मपुराण से ही लिया हे। इस सम्बन्ध मे केवल यही कहना है कि कालिदास को चौथी या पाचवी छठवी शताब्दी का कवि सिद्ध करने वाले पाश्चात्य आलोचक जो कुछ भी कहना चाहे, कह सकते है कि तु भारतीय परम्परा तो इस बात पर दढ है कि कालिदास का स्थितिकाल ई० पू० प्रथम शतक है जो पद्मपुराण के रचनाकाल से पूववर्ती ठहरता है। दूसरी बात यह है कि कालिदास मौलिक प्रतिभा के धनी थे। यदि पद्मपुराणकार महाभारतीय कथानक मे सशोधन कर सकता था, तो कालिदास पद्मपुराण के कथानक मे सशोधन करने मे कैसे चूक गये ? दोनो ग्रन्थो—पद्मपुराण तथा अभिज्ञान शाकुन्तल के कथानकों की एकरूपता से हमे यही मानने को बाध्य होना पडता है कि कालिदास ने अपने नायक-नायिका के चरित्र की रक्षा करने, कथानक मे नाटकीय सौन्दय उत्पन्न करने तथा समकालीन समाज की मर्यादाओ का पालन करने के निमित्त ही महाभारतीय कथानक मे कुछ आवश्यक परिवतन किये थे। रगमच पर पौन पुन्येन अभिनीत होने के कारण अभिज्ञान शाकु तल का कथानक इतना लोकप्रिय तथा सर्वग्राह्य हो गया कि जन सामान्य को महाभारतीय कथानक विस्मत हो गया अथवा नीरस तथा मर्यादा-विरुद्ध होने के कारण त्याज्य हो गया। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो के पौराणिक युग मे शकुन्तला का कालिदासीय कथानक ही अधिक लोकश्रुत था। इस लोकश्रुति का सम्मान करते हुए पद्मपुराणकार ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कथानक को ज्यो का त्यो अपना लिया हो, तो इसमे कोई सन्देह नही। सच बात तो यह है कि कथानक मे परिवतन कवि अथवा नाटककार को ह ी अभीष्ट होता है, पुराणकार को नही। इसलिए नि सन्देह पद्मपुराण की कथा का आधार 'अभिज्ञान शाकुन्तल' है जिसका आधार महाभारत है। पाश्चात्य विद्वान इस परिप्रेक्ष्य मे नही देख सके हैं और भ्रा तिवश ही उन्होने शाकु तल के कथानक को पद्मपुराण से गृहीत बतलाया है। आधुनिक अन्वेषकों ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि कालिदास का स्थितिकाल ई० पू० प्रथम शतक है, उस समय तक पद्मपुराण लिखा ही नहीं गया था। अत नि स देह, शाकुन्तल के कथानक का आधार महाभारत है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थल

यो तो कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' समग्रत एक रम्य तथा सरस रचना है, फिर भी उसमे कुछ ऐसे स्थल हैं जिनकी कवि ने साभिप्राय उद्भावना की है अथवा जिनमे पूर्ण रस परिपाक हुआ है। ऐसे स्थल निम्नलिखित है—भ्रमर-

दृश्य, दुर्वासा-शाप धीवर-प्रसग और चतुथ अक । सक्षेप मे इन्ही स्थलो की उपयोगिता पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

भ्रमर वृत्तान्त—अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अक मे पादप सेचन करती हुई शकु तला, सहकार की स्वयवर-वधू वन ज्योत्स्ना नामक नवमल्लिका को सिंचित करना, ज्यो ही प्रारम्भ करती है त्यो ही 'सलिलसेकसभ्रम' से उडता हुआ एक भ्रमर नवमल्लिका को छोडकर शकु तला के मुख की ओर आकर मँडराने लगता है। शकुन्तला के बार बार निषेध करने पर भी वह उसी की ओर आता है । इस दृश्य को विटपान्तरित दुष्य त देखकर रीझ रहा है। जब शकु तला पूव स्थान से कुछ कदम हट जाती है तो भ्रमर वहाँ जाकर भी उसे बाधित करने लगता है। तब शकु तला सखियो से अपने परित्राण की याचना करती है। उसकी दोनो सखिया अनसूया और प्रियवदा—हँसती हुई उससे कह बैठती है कि हम बचाने वाले कौन है ? दुष्यन्त को आवाज दो—"**का वअँ परित्तादु । दुस्सन्दं अक्कन्द ।**" दुष्यन्त अपने आपको प्रकट करने का उपयुक्त अवसर जान शीघ्रतापूवक पहुँचकर कहने लगता है—

क पौरवे वसुमतीं शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनय मुग्धासु तपस्विकन्यासु ।।

(अविनयी दुष्टो का शासन करने वाले पुरुवशी दुष्य त के पृथ्वी का शासन करते होने पर यह कौन भोली भाली तपस्वी कन्याओ के प्रति धृष्ठतापूवक आचारण करता है ।) दुष्यन्त और शकु तला का आमना सामना होता है और यही भ्रमर-वृत्ता त (Bee-Episode) की समाप्ति हो जाती है ।

यह छोटा-सा प्रकरण नाटकीय दृष्टि से बडा ही उपयोगी है। किसी अपरि-चित व्यक्ति का अकारण युवतियो के पास जाना लोक मर्यादा विरुद्ध होता है, अत भ्रमर-वृत्तान्त से राजा को उनके पास जाने तथा उनसे कुशल-क्षेम पूछने का अवसर देने मे भ्रमर-वृत्तान्त ने महत्वपूण भूमिका अदा की है। काव्यात्मक दष्टि से भी यह प्रसग बडा ही सरस और चित्ताकषक है। भ्रमर के इतस्तत परिभ्रमणशील होने के कारण वेपथुमती शकु तला के जो भ्रू-विक्षेप आदि आगिक व्यापार होते है वे दुष्यन्त के हृदयस्थ रति भाव को उद्दीप्त कर देते है और वह भ्रमर के भाग्य की सराहना करता हुआ अपने अभिलाष की अभिव्यजना करता हुआ यह स्वगत कथन करता है—

चलापागा दृ ष्ट स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचर ।
करौ व्याधुन्वत्या पिबसि रति सर्वस्वमधर
वय तत्त्वान्वेषान्मधुकर। हतास्त्व खलु कृती ।।

तात्पय यह है कि भ्रमर वृत्तान्त से दुष्य त के हृदय मे शकुन्तला के प्रति तीव्र आकषण उत्पन्न होता है। साथ ही उसके "क पौरवे" इत्यादि कथन से उसकी

वीरता और मुग्धा तपस्विकन्याओ की रक्षण तत्परता भी व्यजित होती है। इस प्रकार यह प्रसग नाटकीय दृष्टि से प्रसगानुकूल होने के साथ-साथ नायक के चारित्रिक गुणो का व्याख्याकार भी है और उसके हृदय मे रति भाव का उद्दीपक भी।

दुर्वासा-शाप—अभिज्ञान शाकुतल के चतुथ अक मे दुर्वासा शाप की अवतारणा भी साभिप्राय है। यद्यपि दुर्वासा नामक पात्र को नाटककार ने रगमच पर उपस्थित नही किया है पर आकाशभाषित द्वारा कहा गया उसका कथन नाटक के विकास मे क्रान्तिकारी मोड लाने वाला है। हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि महाभारत मे पति-गृह आयी हुई शकुतला को दुष्यन्त ने लोक-लाज के भय से जान बूझकर पहचानने मे अपनी असमथता व्यक्त की थी। उसका यह कृत्य उसकी कायरता और लम्पटता का परिचायक है। कालिदास ने अपने चरित नायक की रक्षा करने के निमित्त ही इस प्रकरण की उद्भावना की है। प्रकरण का सार इस प्रकार है—

आश्रम की रक्षा का काय पूण कर चुकने के बाद दुष्यन्त तापसजनो से विदा लेकर अपने नगर को चला गया। शकुन्तला उसके ध्यान मे दत्तचित्त रहकर आश्रमोचित कार्यों से उदासीन रहने लगी। एक दिन प्रात काल अनसूया और प्रियवदा पुष्पचयन करने गयी हुई थी। तभी आश्रम मे दुर्वासा ऋषि ने शकुन्तला को अपने आगमन की सूचना दी। पति-चि तन मे अनन्यमन से लीन शकुन्तला मुनि के 'अयमह भो' वाक्य को भी सुनने मे असमर्थ रही। क्रुद्ध होकर वे निम्नलिखित शब्दो मे शकुन्तला को शाप देते हुए आश्रम से चल पडे—"आ अतिथिपरिभाविनि!

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वा न स बोधितोऽपि सन्
कथा प्रमत्त प्रथम कृतामिव ॥

सहज क्रोधी दुर्वासा ऋषि के इन शाप वचनो को सुनकर दोनो सखियाँ अति भयभीत हुई और ऋषि को प्रसन्न करने का उद्यम करने लगी। प्रियवदा ने बार-बार अनुनय-विनय कर ऋषि को सानुक्रोश कर यह आशीवचन प्राप्त कर लिया कि "मे वचनमन्यथाभवितु नार्हति। किन्त्वभिज्ञानाभरणदशनेन शापो निवर्तिष्यति" अर्थात् मेरा वचन अन्यथा तो नही हो सकता किन्तु अभिज्ञान का आभूषण देख लेने से शाप छूट जायेगा। दुर्भाग्य से अभिज्ञान के अभाव मे पतिपरायणा शकुन्तला को पचमाक मे प्रत्याख्यान सहन करना पडा और अभिज्ञान की प्राप्ति पर नायक को पश्चात्ताप की अग्नि मे झुलसना पडा। इस प्रकार दुर्वासा का शाप नायक और नायिका दोनो के प्रति हमारे हृदय मे सहानुभूति और करुणा का ही उत्पादक सिद्ध होता है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का तिरस्कार किये जाने पर हम उसके प्रति सहानुभूति रखने लगते है क्योकि हमको यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडता है कि राजा जान बूझकर अपनी प्रिय भार्या का परित्याग नही कर रहा है, अपितु दुर्वासा के शाप

के कारण कर रहा है। अभिज्ञान स्वरूप अगुलीयक की प्राप्ति पर राजा के हृदय मे जो पश्चात्ताप होता है, वह उसको धीरोदात्त नायक की कोटि मे रख देता है। इस प्रकार दुर्वासा शाप के प्रसग ने नायक और नायिका दोनो के ही चारित्रिक गुणो का विकास किया है। यह लघु प्रकरण अथवा प्रकरी नायक नायिका के फलागम के यत्न मे बाधक बनकर उनमे परस्पर मिलन की कामना और आशा उत्पन्न करने वाला है, अत इसे 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था की सज्ञा दी जा सकती हे। अभिज्ञान इस नाटक की अति महत्त्वपूर्ण वस्तु होने से ही इसका नाम 'अभिज्ञान शाकुन्तलम रखा गया है और अभिज्ञान का बीज दुर्वासा शाप मे ही निहित है। तात्पर्य यह है कि नायक की चरित्र-रक्षा, प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था की अवस्थिति और नाटक के नामकरण की साथकता मे दुर्वासा ऋषि के शाप की महत्त्वपूण भूमिका रही है।

धीवर प्रसग—अभिज्ञान शाकुन्तल की सहायक कथाओ मे धीवर की लघु-कथा अथवा प्रकरी का भी बडा ही महत्त्वपूण स्थान है। 'दुर्वासा शाप' की चर्चा पहले की जा चुकी है। धीवर-प्रसग भी उसी प्रकार मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण स्थल है। आश्रम से विदा होते समय दुष्यन्त अपनी प्रियतमा शकु तला को स्वनाम।ङ्कित अगुलीयक भेट करके गया था। दैवदुर्विपाक से वह अगुलीयक शक्रावतार सरोवर मे शचीतीर्थ सलिल की वन्दना करते समय शकु तला की अगुली से गिर गया और उसे सरोवर की एक मछली निगल गयी। दुर्वासा ने शकुन्तला को यह शाप दे दिया था कि जिसे तू अनन्यमन से चिन्तन कर रही है वह तुझे विस्मृत कर देगा, पर बाद मे यह्न आशीर्वाद भी दे दिया था कि अभिज्ञानाभरण दशन से शाप शा त हो जायेगा। दुर्वासा के शापवशात् दुष्यन्त शकुन्तला को नही पहचान सका और अ त मे जब शकुन्तला ने अभिज्ञान द्वारा राजा की शका दूर करने का प्रयास किया तो अगुली को रिक्त देख वह दग रह गयी। अभिज्ञान के अभाव मे राजा शकुन्तला को स्वीकार करने मे असमर्थ रहा। इसी बीच एक स्त्री रूपिणी ज्योति प्रकट हुई और वह शकुन्तला को उठाकर ले गयी। यही पर पञ्चम अक की समाप्ति हो गयी और इसके साथ ही नाटक के कथानक का प्रवाह भी अवरुद्ध हो गया। इस अवरोध को दूर करने अर्थात् कथानक को फलागम की ओर मोड देने की दृष्टि से षष्ठ अक के अकावतार मे कालिदास ने धीवर-प्रकरण की अवतारणा की है। इस प्रकरण का सार यह है—नागरिक, श्याल और दो रक्षक एक धीवर को चोर घोषित कर रस्सी से बाँधकर राजा के पास ले चलते हैं। वह अपने आपको शक्रावतार ग्राम का रहने वाला धीवर बतलाता है और बार-बार निवेदन करता है कि वह चोरी नही करता है अपितु अपने वश परम्परागत कम को ही करता है। राजपुरुष उसकी बात पर विश्वास न कर उसे खरी-खोटी सुनाते हैं। किन्तु राजश्यालक का आदेश मिलने पर रक्षक चुप हो जाते हैं और धीवर अगुलीयक-प्राप्ति का वृतान्त सुनाता है। वह कहता है कि एक दिन मैंने ज्योही रोहित मत्स्य को खण्ड खण्ड करके काटा त्योही उसके उदर से यह रत्न प्रकाशित अगुलीयक निकल पडा। इसे लेकर मैं बाजार मे

बेचने आया कि आप लोगो ने मुझे पकड लिया। राजश्यालक ने कहा कि क्योकि इसके शरीर से कच्चे मांस की गन्ध आ रही है, अत नि सन्देह यह धीवर है, पर अगूठी इसे कैसे मिली इसका निणय करने के लिए तो राजकुल ही जाना पडेगा। बद्ध धीवर को रक्षियो के पास छोडकर श्याल राजा के पास गया। काफी देर बाद लौटकर वह रक्षियो को आदेश देता है कि वे धीवर को मुक्त कर दे क्योकि अगुलीयक के मिलने का ठीक-ठीक पता लग गया। धीवर मृत्यु डण्ड से तो बचा ही, उसे उपहार-स्वरूप प्रभूत धन भी मिला। राजा उस अगुलीयक को देखकर अपनी प्रेयसी शकुन्तला का स्मरण करने लगता है, जैसाकि राजश्यालक ने ही बताला था—"तस्य दशनेन भतु रभिमतो जन स्मारित । मुहूर्तं प्रकृति गम्भीरोऽपि पयु त्सुक-नयन आसीत् ।"

धीवर-प्रसग का नाटकीय दृष्टि से तो इतना ही महत्त्व है कि उसने टूटे हुए कथा-सूत्र का सयोजन किया है और नायक को नियताप्ति के लिए प्रेरित किया है, पर इस प्रसग से तत्कालीन स्थिति का भी एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। उस काल मे वर्णाश्रम धम के प्रति समाज मे आस्था बनी हुई थी। प्रत्येक व्यक्ति अपना कुल कर्म करने मे ही गौरव अनुभव करता था। मत्स्योपजीवी धीवर अपने सहज कर्म को निन्दनीय होने पर भी छोडना पसन्द नही करता। उसी के शब्दो मे—

सहज किल यद्विनिन्दित न खलु तत्कर्म विवजनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनु कम्पामृदुरेव श्रोत्रिय ॥

रत्नादि की चोरी पर मत्यु दण्ड का विधान था। धीवर अगुलीयक चोर नही था, अन्यथा मृत्यु दण्ड अनिवार्य था, जैसाकि सूचक के शब्दो से ध्वनित होता है—"एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापित ।" धीवर आदि निम्न वर्ग के लोग मदिरापान करते थे और उत्कोच रूप मे राजश्यालादि पुलिसजनो को भी मदिरापान कराते थे। धीवर ने रिश्वत के रूप मे जो 'सुमनोमूल्य' दिया उससे उसकी पुलिसजनो के कादम्बरी साक्षित्व (शराब की गवाही) मे मित्रता हो गयी थी। श्याल के शब्दो मे—"धीवर! महत्तरस्त्व प्रियवयस्क इदानी सवृत्त । कादम्बरी साक्षिकमस्माक प्रथम सौहृदमिष्यते । तच्छौण्डिकापणमेव गच्छाम ।" तात्पय यह है कि उस समय कादम्बरी हाट मे बिकती थी और निकृष्ट कर्मोपजीवी लोग जिनमे पुलिसजन भी सम्मिलित है उसका खुले आम प्रयोग करते थे। इस प्रकार कालिदास द्वारा उद्भावित धीवर-प्रसग नाटकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ सामाजिक तथा सास्कृतिक दृष्टि से भी उपयोगी प्रकरण है।

चतुथ अक—कालिदास की नाट्यकला के प्रशसक किसी आलोचक का कथन है कि काव्यो मे नाटक रम्य होता है, नाटको मे अभिज्ञान शाकुन्तल, उसमे भी चतुर्थ अक और उसमे भी श्लोक चतुष्टय रम्य है—

काव्येषु नाटक रम्य तत्र रम्या शकुतला ।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

अभिज्ञान शाकुतल के चतुर्थ अग का प्रारम्भ रौद्र रस से हुआ है और अवसान करुण रस मे । इसमे जहा एक ओर दुर्वासा-सदृश प्रकृति क्रोधी मुनि क कटुशब्द कर्ण गोचर होते है तो दूसरी ओर शमप्रधान तपोधन कण्व ऋषि की त्याग, ब्रह्मतेज एव वात्सल्यमयी मूर्ति के दशन होते है । अभिज्ञान शाकुन्तल का यही एकमात्र अक ऐसा है जिसमे दशको को कुलपति कण्व के रगमच पर दशन होते है और नायक का रगमच से तिरोभाव बना रहता है, यद्यपि तत्सम्बधिनी कथा अविकल रूप से चलती रहती है । इस अक मे शकुतला की विदाई का वणन ही प्रधान है जिससे प्रसग मे अति मार्मिकता और भावुकता के दशन होते है ।

चतुथ अक को शाकुन्तल मे सर्वोत्तम मानने का प्रमुख कारण यही है कि इसमे करुण भाव का बडा ही विशद एव मार्मिक चित्रण हुआ है । पुत्री की बिदाई पर उसके माता-पिता के हृदय मे जो करुण वात्सल्य उमड पडता है उसका कवि ने बडा ही स्वाभाविक तथा आकषक चित्रण किया है । गृहस्थ लोग तो ससारी जीव होने के कारण माया मोह मे लिप्त रहते है अत पुत्री के वियोग पर उनके चित्त मे विक्षोभ होना उतनी बडी बात नही जितनी कि कण्व सदृश वीतराग आरण्यौकस के चित्त का पीडित होना । पुत्री आज पति गृह जायेगी, इस कल्पना से पिता का करुणा-जनित अग विकार कितना मार्मिक है—

यास्यत्यद्य शकुतलेति हृदय सस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठ स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडदशनम् ।
वैक्लव्य मम तावदीदृशमिद स्नेहादरण्यौकस,
पीड्यन्ते गृहिण कथ न तनयाविश्लेषदु खैनवै ॥

कन्या पराया धन है । उसे सुरक्षित रूप से उसके ग्रहीता के पास भेजने मे पिता को सन्तोष-जनित सुख भी होता है । कण्व के ही शब्दो मे—

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतु ।
जातो ममाय विशद प्रकाम
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥

इधर पति-गृह जाती हुई पुत्री के हृदय मे औत्सुक्य और विषाद का जो द्वन्द्व होता है, उसका भी कवि ने यथाथ चित्रण किया है । शकुतला अपनी सवयस्का सखी प्रियवदा से कहती है कि यद्यपि उसके मन मे आय पुत्र के दशन की उत्सुकता है किन्तु अपनी बाल्य क्रीडा भूमि आश्रम को छोडने मे उसे दु ख होता है— 'हला प्रियवदे । नन्वायपुत्रदशनोत्सुकाया अप्याश्रमपद परित्यजन्त्या दु खेन मे चरणौ पुरत प्रवर्तेते । उसको अपने पिता तथा सखियो से स्नेह तो है ही, आश्रम के प्रत्येक लता-

पादप तथा पशु-पक्षियो से भी उसका सोदरस्नेह है। इस स्नेह से अभिभूत होकर वह अपनी लताभगिनी 'वनज्योत्स्ना' से विदा लेने जाती है।

इस अवसर पर पिता का अपनी पुत्री को उपदेश तथा जामाता से निवेदन भी आवश्यक हो जाता है। पर इस उपदेश तथा निवेदन मे भी पितृ-हृदय की करुण-वेदना ही छिपी रहती है। पुत्री के सुख-सौभाग्य की कामना करते हुए ऋषि कण्व अपनी पुत्री को सदुपदेश देते हुए कहते है।

शुश्रूषस्व गुरून कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने
भर्तु विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीप गम ।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामा कुलस्याधय ॥

[तुम सास-ससुर आदि गुरुजनो की सेवा करना, सपत्नियो के साथ प्रिय सखियो-जैसा व्यवहार करना, पति के द्वारा अपमानित होने पर भी रोष से उनके विरुद्ध आचारण मत करना, सेवको के प्रति अत्यन्त उदार रहना और अपने भाग्य पर गव मत करना। इस प्रकार आचरण करने वाली युवतियाँ ही 'गृहिणी' नाम को सार्थक करती हैं और इसके विपरीत आचरण करने वाली तो कुल के लिए सिर दर्द होती है।]

परिग्रहीना दुष्यन्त वहाँ उपस्थित नही है, अत शकुन्तला को अपने साथ लिवाकर ले जाने वाले वटुओ मे से एक—शार्ङ्गरव—के माध्यम से दुष्यन्त के प्रति अपना भाव भीना सन्देश देते हुए भगवान् कण्व कहते हैं—

अस्मान् साधु विचिन्त्य सयमधनानुच्चै कुलं चात्मन—
स्त्वय्यस्या कथमप्यबान्धवकृता स्नेहप्रवृत्ति च ताम्।
सामान्य प्रतिपत्तिपूर्वकमिय दारेषु दश्या त्वया
भाग्यायत्तमत पर न खलु तद्वाच्य वधूबन्धुभि ॥

अर्थात हम तपस्वियो की निश्छलता, अपने उच्चकुल तथा बिना हमारी अनुमति के इसके द्वारा तुमसे किये गये प्रेम का अच्छी तरह विचार करके तुम्हे इसके साथ अपनी अन्य पत्नियो के समान ही व्यवहार करना चाहिए, इसके बाद जो कुछ भी हो, वह उसके भाग्य की बात होगी अत उस विषय मे हमे कोई आपत्ति भी नही होगी।

शकुन्तला प्रकृति-पुत्री है। प्रकृति-पेलवा होने के कारण आश्रम के लता-वृक्षों तथा पशु पक्षियो के साथ उसका सोदरस्नेह है। वह पहले वृक्षो को जल पिलाकर जल पीती थी, अलकार प्रिया होने पर भी स्नेह के कारण वह उनका एक पत्ता भी नही तोडती थी तथा उनके प्रथम पुष्पोद्भव के समय वह पुत्रोत्सव मनाती थी। भाव-विह्वल भगवान् काश्यप ने आश्रम के वृक्षो को सम्बोधन कर यही तो कहा था।

पातु न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवता स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये व कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सव
सेय याति शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम् ।।

तुरन्त ही कोकिलरव द्वारा वनवासबन्धु वक्षो द्वारा अनुमति प्रदान कर दी जाती है और आकाश मे वन देवताओ का आशीवचन गूँज उठता है—

रम्यान्तर कमलिनीहरितै सरोभि—
श्छाया द्रुमैर्नियमितार्कमयूखताप ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्या
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था ।।

कालिदास ने प्रकृति मे एक विलक्षण चेतना के दशन किये है। जिस चेतना का विशद उल्लेख उन्होने मेघदूत मे किया है, उसी का उन्मेष इस अक मे भी दशनीय है। प्रकृति मे यह प्रबोध है कि उसके सुकुमार पालने मे पली हुई शकुन्तला अब वनवास का त्याग कर राजमहिषी होने जा रही है। ऐसी स्थिति मे उसके लिए वल्कल वस्त्र तथा पुष्पाभरण कदापि उपयुक्त नही है। अत तपोवन की वनस्पतियो ने उसके लिए राजसी परिधान उपहार मे दिये जिनका उल्लेख निम्नांकित छन्द मे है—

क्षौम केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारस केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्व भागोत्थितै
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभि ।।

अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति का जैसा सुन्दर समन्वय अभिज्ञान शाकुन्तल के चतुथ अक मे हुआ वसा अन्यत्र दुलभ है। कवियो को मानव के दुख सुखो की अनुभूति का आभास प्रकृति मे भी होता रहा है जैसे शकुन्तला पति के वियोग मे खिन्न है और उधर चन्द्रमा के छिपने से कुमुदिनी की अवस्था दयनीय हो गयी है (अभि० ४-३)। पर यह तो मानव-मन की अनुभूतियो का प्रकृति पर आरोपमात्र है। उपर्युक्त "पातु न प्रथम०" तथा "क्षौम केनचिद" आदि छन्दो मे तो मानव की प्रकृति से आत्मीयता झलकती है। यहा प्रकृति का मानव सदृश आचार दृष्टिगत होता है। आश्रमवासियो की तरह आश्रम के लता पुष्प तथा पशु-पक्षी भी शकुन्तला की विदाई के कारण दुखित है। मृगिया दर्भ नही खा रही है, मोरो ने नाचना छोड दिया है और लताएँ आसुओ के रूप मे पाण्डुपत्र विसर्जित कर रही है—

उद्गलितदर्भकवला मृग्य परित्यक्तनर्तना मयूरा ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता ।।

पशु पक्षियो की चेतना तो मुखर है। वे अपने प्रिय से प्रेम तथा अप्रिय से भय अथवा वैर करने मे कोई भूल नही करते। जिस मृगशावक को शकुन्तला ने पुत्रवत् पाला था वह पतिगृहगमनोत्सुक शकुन्तला का वस्त्र खीचने लगता है (अभि० ४-१४)

और शकुन्तला उसे देख वात्सल्य से अभिभूत होकर रो पडती है। यदि शकुन्तला प्रिय-मिलन के लिए आतुर है तो चकवी भी चकवा से क्षण भर के लिए वियुक्त नही रहना चाहती। शकुन्तला की हार्दिक अभिलाषा है कि उसकी 'वनज्योत्स्ना' नाम की लता भगिनी सदैव सहकार सगता बनी रहे।

तात्पय यह है कि चतुर्थ अक मे कालिदास ने जिस करुण भाव की व्यजना की है उससे प्रकृति का कण कण अभिभूत है। अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति का यह ऐकात्म्य इस अक को समूचे नाटक में रम्यतम बना देता है। इस अक मे भी जो चार परम रम्य श्लोक हैं, उनको प्राय उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा चुका है। सक्षेप मे चार श्लोक ये है—यास्यत्यद्य० (४ ६)-शुश्रूषस्व गुरून्० (४ १८), पातु न प्रथम० (४-९) तथा अस्मान् साधु० (४-१७)। यास्यत्यद्य० मे करुणभाव का सर्वोत्तम प्रवाह है अत वह चारो मे भी सर्वोत्तम है। पातु न प्रथम० मे करुण भाव के सुन्दर वणन के साथ-साथ अन्त प्रकृति और बाह्य-प्रकृति मे ऐकात्म्य का अनुभव होता है। अत इसे द्वितीय श्लोक मानना उचित है। शुश्रूषस्व० मे विदा होती हुई पुत्री के प्रति पिता का करुणा-शवल उपदेश है और अस्मान् साधु० मे क यापक्ष की ओर से वर के लिए सन्देश है। अत इनका स्थान क्रमश तृतीय और चतुथ है। वैसे तो शाकुन्तल के चतुथ अक का सौन्दय वणनातीत है। उसका कोई स्थल, कोई पक्ति और कोई छन्द ऐसा नही जिसमे कोमलकान्त पदावली, सहज प्रवहमाना भाषा तथा भावो की मनोरमता बिखरी हुई दृष्टिगोचर न होती हो। उसमे केवल काव्यात्मक सौन्दय ही नही जीवनोपयोगी बातो का भी बडा ही सजीव एव यथाथ चित्रण हुआ है जिनका ऊपर उल्लेख भी किया जा चुका है। मनोभावो के सूक्ष्म विश्लेषण मे भावुकता और मनोवैज्ञानिकता का मणिकाचन सयोग भी दृष्टिगोचर होता है। शकु तला के वियोग दु ख मे लताओ द्वारा पाण्डुपत्रो के मिस आँसू गिराने मे यदि भावुकता है तो मगियो के ग्रास उगल देने, मयूरो के नृत्य त्याग कर देने तथा मृग शावक द्वारा शकु तला का वस्त्र खीचने मे मनोवैज्ञानिकता है। इस प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल का चतुथ अक सभी दृष्टियो से एक उत्तम रचना है।

हसपदिका का सगीत—पचम अक के प्रारम्भ मे राजा दुष्यन्त को सगीत शाला से हसपदिका का कल विशुद्ध गीति का स्वर सुनाई देता है—

अहिणवमहुलोलुवो भव तह परिचुम्बिअ चूअमजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुरो महुअर ! विम्हरिओ सिण कह ॥
अभिनवमधुलोलुपो भवास्तथा परिचुम्ब्य चूतमजरीम्।
कमलवसतिमात्रनिवृतो मधुकर ! विस्मृतोऽस्येना कथम् ॥

अर्थात हे मधुकर [अभिनव मधु के लालची आप पहले उस आम्र-मजरी का उस प्रकार परिचुम्बन करके (अब) केवल कमलकोष मे निवासमात्र से सन्तुष्ट होकर इसे क्यो भूल गये हो।

यह सगीत अनेक दृष्टियो से महत्वपूण है। एक परित्यक्ता विरहिणी का अपने

प्रेमी के प्रति उपालम्भ की इस गीति मे व्यजना हुई है। हसपदिका राजा की प्रेमिका रही है किन्तु देवी वसुमती के भय से राजा ने उसका परित्याग कर दिया है। इसी बात को लक्ष्य कर हसपदिका ने भ्रमर-व्याज से अपना विरह-निवेदन कर राजा की भ्रमर-वृत्ति की ओर इगित किया है। इसके साथ ही राजा दुष्यन्त के शकुतला-विस्मरण रूप प्रस्तुत के प्रतीयमान होने से इस गीत मे गर्भ सन्धि के आपेक्ष नामक अग का भी निर्देश किया गया है।

दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त को शकुतला के साथ किया गया प्रणय विस्मृत हो चुका है। फिर भी हसपदिका के गीतार्थ को सुनकर वह विरह-विधुर-सा हो जाता है। वह स्वय कहता भी है "किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि।" ऐसा लगता है मानो राजा ने किसी जन्म मे किसी युवती से प्रेम किया था और यह गीत उसका आभास करा रहा है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिन कर्मो का हम जन्म जन्मान्तरो मे भोग कर चुकते हैं उनकी वासना अस्पष्ट रूप से हमारे अचेतन मन मे पडी रहती है और उन कर्मो से सादृश्य रखने वाली किसी घटना के अवसर पर वे अनायास उद्बुद्ध होते रहते है। किन्तु अस्पष्ट होने के कारण हम उनसे परिचित होते हुए भी अपरिचित ही बने रहते है। दुष्यन्त का यही विचार है कि—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ।।

रमणीक वस्तुओ का देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर सुखी प्राणी भी (प्रेमीजन के विरह के न होते हुए भी) जो उत्कण्ठित होने लगता है, उससे (मै यही समझता हू कि) निश्चय ही वह अपने चित्त के द्वारा जन्मान्तर के अनुभूत प्रणय आदि सम्बन्धो को जो कि स्वभावत उसके हृदय मे वासना रूप मे विद्यमान है, अबोध रूप से ध्यान करता है।

दुष्यन्त के उक्त कथन से यह स्वत सिद्ध है कि शकुन्तला के साथ किया गया प्रणय जननान्तर सौहृद की तरह अस्पष्ट रूप से इसे व्यथित किंवा उत्कण्ठित तो करता है किन्तु दुर्वासा शाप से अभिभूत उसकी स्मरण शक्ति तथ्य बोध मे पूणतया अशक्त है। इससे हमारे हृदय मे दुष्यन्त के प्रति श्रद्धा और सहानुभूति उत्पन्न होती है और आगे उसके द्वारा किये गये शकुन्तला के प्रत्याख्यान मे हम उसे दोषी नही ठहराते। साराश यह है कि हसपदिका प्रकरण दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा के लिए अति आवश्यक था, इसीलिए कवि ने उसकी मौलिक अवतारणा की है।

अब प्रश्न यह है कि दुर्वासा शाप का शिकार केवल राजा ही तो है विदूषक तो नही है। राजा ने शकुन्तला से जो प्रणय एव परिचय किया उसकी विदूषक को जानकारी थी। फिर तो विदूषक द्वारा स्मरण कराये जाने पर अथवा शकुन्तला

के प्रणयौचित्य का पक्ष लेने पर उसे उसका तिरस्कार नही करना चाहिए था। क्या कवि इस विषय मे जागरूक नही था ? उत्तर है कि कवि ने इस विषय मे पूण जागरूकता का परिचय दिया है। शकुतला के राज दरबार मे उपस्थित होने के समय कवि ने विदूषक को वहाँ रहने ही नही दिया है। वह तो पहले ही राजादेश से हसपदिका को समझाने बुझाने के लिए सगीत शाला मे चला गया है और जब तक विदूषक लौटकर आता है तब तक तो शकु तला का प्रत्याख्यान और तिरोधान नामक सभी खेल हो चुकते है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हसपदिका प्रकरण एक ओर काव्यात्मक सौ दय से ओत-प्रोत है, तो दूसरी ओर उसका नाटकीय महत्व भी कम नही है। इस प्रकरण से दुष्यन्त की प्रेमोत्कण्ठा के साथ-साथ दुर्वासा शाप की ककश अपरिहार्यता भी ध्वनित होती है। 'जननान्तर सौहृद' के अबोधपूण स्मरण मे कवि ने एक सच्चे मनोवैज्ञानिक की भूमिका अदा की है, और सबसे बडी बात तो यह है कि दुर्वासा-शाप पर सारा दोष मढने और अपने नायक के चरित्र की रक्षा करने के उद्देश्य से इस प्रकरण की अवतारणा की गयी है। इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट होता है कि कालिदास के समय मे नगरो मे सगीतशालाएँ होती थी और राजा लोग भी सगीतादि ललितकलाओ मे दक्षता रखते थे।

पात्र एव चरित्र चित्रण

यो तो 'अभिज्ञानशाकु तल' का मुख्य उद्देश्य रस-परिपाक है, पर रस की परिणति दशको के अनुरजन से ही सम्भव है और दशको का अनुरजन नाटक के पात्रो के आकषक चरित्र के बिना असम्भव है। सच बात तो यह है कि किसी नाटक की सफलता या असफलता उसके कथानक के साथ साथ उसके पात्रो के चरित्र-चित्रण पर भी निभर करती है। आलोच्य नाटक का कथानक तो कवि-कल्पना से सुन्दर हो ही गया है, उसके पात्र भी कालिदास की कल्पनाशक्ति तथा उज्ज्वल प्रतिभा से सजीव तथा आकषक बन गये है। यद्यपि नाटक मे कवि आद्योपान्त आदशवादी तथा मर्यादा-प्रशसक रहा है, तथापि उसके पात्र यथाथ की भूमि का स्पश करते है। वे किसी दिव्यलोक के प्राणी न होकर इसी लोक के जीव है और अन्य ससारी मानवो की भाँति उनमे भी मानवीय गुण तथा अवगुण विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि उनके चरित्र मे अवगुणो की अपेक्षा गुणो की मात्रा बहुत अधिक है इसलिए वे अवगुण उस गुण सन्निपात मे उसी प्रकार लुप्त हो जाते है जिस प्रकार च द्रमा की किरणो मे उसका कलक—"**एकोहिदोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः।**"

महाकवि कालिदास की एक विशद रचना होने के कारण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे पात्रो की सख्या भी अधिक है, पर जो पात्र मुख्य कथा से सवथा सम्बद्ध होने के कारण अपनी प्रमुखता का बोध कराते है वे निम्नलिखित हैं जिनका ब्योरेवार विवरण ही कालिदास की चरित्र चित्रण कला से पूर्ण परिचय कराने मे अल होगा—**दुष्यन्त,**

शकुन्तला, अनसूया, प्रियवदा, गौमती, कण्व, दुर्वासा मारीच, शार्ङ्गरव और शारद्वत तथा विदूषक ।

(१) **दुष्यन्त**—दुष्यन्त अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रमुखतम पात्र है जिसे नायक कहते है। शास्त्रीय दृष्टि से वह धीरोदात्त नायक है। दशरूपक (२ ४,५) के अनुसार, धीरोदात्त नायक को महाबली, अतिगम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर प्रकृति, अहकारहीन और दृढनिश्चयी होना चाहिए। उसे देव अथवा पौराणिक ऐतिहासिक उच्च कुलोत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए। पुरुवशी क्षत्रिय राजा दुष्यन्त मे उपरिवर्णित सभी गुण विद्यमान है जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

महाबली—'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे दुष्यन्त को एक रूपवान् तथा बलिष्ठ युवा के रूप मे चित्रित किया गया है। वह अति वीर एव पराक्रमी शासक है और अपने पौरुष के बल पर ही 'समुद्रवसना उर्वी' पर शासन करता है। देव, दनुज, मानव ही नही, पशु पक्षी तथा लता वृक्ष भी उसके शासन का पालन करते है। उस पराक्रमी मानवेन्द्र से दुष्टो को तो सदा भय बना रहता है, इसलिए उसके राज्य मे कोई भी व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म का परित्यागकर स्वेच्छाचारी किंवा कुपथगामी होने का दुसाहस कदापि नही कर सकता—"**न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।**" नाटक के आरम्भ मे ही उसे शरसधान कर मृगानुसरण करते हुए दिखलाया गया है और इस अवस्था मे राजा के सारथी ने उसको मृगरूपधारी यज्ञ का पीछा करते हुए पिनाकी (शिव) से उपमा दी है (अभि० १-६)। साधुओ के परित्राण तथा दुष्टो के विनाश के लिए निरन्तर धनुर्ज्या पर शर सन्धान करते रहने के कारण उसकी भुजा 'मौर्वीकिणाङ्क' से चिह्नित है, उसके इस सतत अध्यवसाय के परिणामस्वरूप राज्य मे तपोधन आदि सभी सत्पुरुषो के नित्य नैमित्तिक क्रियाकलाप निर्विघ्नरूप से सम्पन्न होते रहते है। जैसाकि कण्वाश्रम के वैखानस द्वारा राजा के प्रति कहे गये इस वचन से स्पष्ट है—

रम्यास्तपोधनाना प्रतिहतविघ्ना क्रिया समवलोक्य ।
ज्ञास्यसि किं यद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥

कुलपति कण्व के सोमतीर्थ चले जाने से दुष्ट राक्षस तपोवनवासियो के यज्ञादि अनुष्ठानो मे विघ्न उत्पन्न करने लगते है। उनके द्वारा रक्षा की अभियाचना किये जाने पर और उसी समय नगर से राजमाता का बुलावा आने पर वह विदूषक और सेनापति को तो सम्पूर्ण सैन्य सहित नगर को भेज देता है और स्वय अकेला तपोवन की रक्षा मे तत्पर हो जाता है। राक्षसो को परास्त करने मे उसे विशेष आयास नही करना पडता। वे तो राजा के धनुष की टकार सुनकर ही भाग खडे होते है—

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरत ।
हुँकारेणैव धनुष स हि विघ्नानपोहति ॥

'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे दुष्यन्त को देवराज इन्द्र का सखा बतलाया गया है।

दैत्यो से वैर अथवा युद्ध हो जाने पर देवागनाएँ केवल दुष्यन्त के अधिज्य कार्मुक और इन्द्र के वज्र से ही अपने त्राण की अपेक्षा करती है—

नैतच्चित्र यदयमधिश्यामसीमा धरित्री ।
मेक कृत्स्ना नगर परिघप्राशु बाहु र्भुनक्ति ॥
आशसन्ते सुर युवतयो बद्धवरा हि दैत्यै ।
रस्याधिज्ये धनुषि विजय पौरहूते च वज्रे ॥

यही नही, षष्ठ अक मे स्वय इन्द्र-सारथी मातलि राजा को देवो की रक्षा के निमित्त इन्द्रलोक को ले जाता है और उसके वहा पहुचते ही देवलोक मे पूण शान्ति स्थापित हो जाती है ।

देव, दनुज और मानव ही नही, पशु पक्षी और लता-विटप भी दुष्यन्त के आदेश का पालन करते है । षष्ठ अक मे राजा द्वारा वसन्तोत्सव न मनाया जाने का आदेश प्रसारित होते ही वृक्षो पर पुष्प विकास रुक जाता है, भ्रमर गु जन स्थगित हो जाता है, कोकिल की काकली उसके कण्ठ मे अवरुद्ध हो जाती है और स्वय कामदेव के पुष्पवाण भी उसके तूणीर मे धरे रह जाते है—

चूताना चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्व रज,
सनद्ध यदपि स्थित कुरवक तत् कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलित गतेऽपि शिशिरे पु स्कोकिलाना रुत,
शके सहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्ट शरम् ॥

महाबली होने के साथ साथ दुष्यन्त अप्रतिम धनुर्धर है । शत्रु के दृष्टिगोचर न होने पर भी वह उसके शब्द मात्र को सुनकर उसे बाण विद्ध करने मे समर्थ है । मातलि द्वारा पीडित विदूषक की चीत्कार और मातलि की चुनौती से उत्तेजित होकर वह शर सन्धान कर उसे ललकारता हुआ कहता है कि अब मै अपने उस शब्द-वेध बाण को चलाता हू जो तुझ वध्य को मार देगा और रक्षणीय द्विज की रक्षा करेगा—

यो हनिष्यति वध्य त्वा रक्ष्य रक्षिष्यति द्विजम् ।

उसकी इस ललकार से भयभीत होकर मातलि को तुरन्त राजा के सम्मुख उपस्थित होना पडता है । इससे सिद्ध हो जाता है कि दुष्यन्त अत्यन्त वीर, बली एव पराक्रमी व्यक्ति है ।

गम्भीर— गम्भीर' शब्द का अर्थ 'गहरा है । गम्भीर व्यक्ति वही होता है जो उत्तेजना के क्षणो मे भी उत्तेजित न होकर सयम से काम लेकर औचित्यानौचित्य का विचार करता है शकुन्तला के सौदर्य से आकृष्ट होकर उसके मन मे उसे प्राप्त कर लेने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाने पर भी वह सयम और विवेक को नही छोडता । वह उसकी सखियो से उसका वश परिचय जानकर और उसे 'क्षत्रपरिग्रहक्षमा' मानकर ही अपने हृदय को उसकी अभिलाषा करने की अनुमति देता है—'भव हृदय साभिलाष' —क्योकि वह अग्नि नही अपितु स्पर्शक्षम रत्न थी । दुर्वासा शाप के कारण वह

शकुन्तला के साथ किये गये गान्धव-विवाह की घटना को भूल गया है, अत अपने सम्मुख खडी हुई अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला का वह "**अनिर्वणनीय परकलत्रम्**" कहकर प्रत्याख्यान कर देता है। उसके इस सयम से आश्चयचकित होकर प्रतीहारी ने ठीक ही कहा है—"**अहो धर्मापेक्षिता भर्तु ईदृश नाम सुखोपनत रूप प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति।**" अर्थात् राजा की धर्मभीरुता प्रशसनीय है, अन्यथा ऐसे सहज सुलभ रूप को देखकर दूसरा कौन विचार करता। प्रेम के क्षणो की भाति क्रोध के क्षणो मे भी वह अतिसयम से काम लेता है। पाचवे मे शार्ङ्गरव आदि तपस्वियो के आक्षेपो का उत्तर वह अति विनम्रता के साथ देता शार्ङ्गरव उत्तेजित होकर राजा को नीच, शठ आदि विशेषणो से भी कलुषित कर देता है, पर राजा फिर भी अपने सयम को न छोडकर केवल यही उत्तर देता है कि "हे सत्यवादिन्! हम आपकी प्रत्येक बात को सत्य मानते है, पर इस बेचारी को ठगकर हमे क्या मिलेगा?" इससे हमे राजा मे विनयशीलता की पराकाष्ठा के दशन होते है। वह तपस्वियो तथा अन्य आदरणीयो के प्रति सदैव विनयशील रहता है। मृगानुसारी राजा से जब आश्रमवासियो ने निवेदन किया कि "**भो राजन्! आश्रममृगोऽय न हन्तव्य**" तो वह विनयपूवक अपने वाण को धनुर्ज्या से उतारकर तूणीर मे रख लेता है। इसी प्रकार माता के पास से दूत आने पर वह आदर से कहता है—"किमम्बाभि प्रेषित।" माता के प्रति आदर प्रकट करने के लिए वह विदूषक को अपने प्रतिनिधि के रूप मे हस्तिनापुर भेज देता है और स्वय आश्रमवासियो की रक्षाथ आश्रम मे ठहर जाता है। इन प्रमाणो से सहज स्पष्ट हो जाता है कि दुष्यन्त प्रकृति से गम्भीर होने के कारण ही सयमी, विनयी तथा क्षमाशील व्यक्ति है।

रूपवान् एवम् आदर्श भी—दुष्यन्त एक सुन्दर तथा प्रभावशाली व्यक्ति है। वह लगभग ३०-३५ वष की अवस्था का सुन्दर, सुपुष्ट, स्वस्थ और आकषक युवा है, जिसको देखकर कोई भी युवती आकर्षित हो सकती है। उसे देखकर तापस कन्याएँ भी प्रभावित हो जाती हैं और उनमे से एक—प्रियवदा—उसकी निम्न शब्दो मे प्रशसा करने लगती है—"चतुरगम्भीराकृतिर्मधुर प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते।" दुष्यन्त की बलशालिता की भाति उसके शारीरिक सौन्दर्य की व्यजना भी अनेक स्थलों पर होती है। उदाहरणार्थ षष्ठाक मे राजा के विषय मे कञ्चुकी का यह कथन उल्लेखनीय है—"अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देव।" दुष्यन्त के इसी सौन्दय को देखकर शकुन्तला उस पर मोहित हो गयी थी और उससे तिरस्कृत हो जाने पर भी वह उसका स्मरण कर विह्वल रहती थी जैसाकि षष्ठाक मे सानुमती के कथन से स्पष्ट है—"स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽपि अस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।" सप्तम अक मे मारीच ऋषि की पत्नी दाक्षायणी भी दुष्यन्त को देखकर उसके सौन्दर्य और प्रभावशालिता से प्रभावित होकर कह उठती है—"सभावनीयाऽनुभावा अस्याकृति।"

दुष्यन्त को कवि ने एक आदर्श प्रेमी के रूप मे चित्रित किया है। शकुन्तला के प्रति उसके प्रेम मे उद्दामता और उच्छृ खलता नही है। दुष्य न्त को यद्यपि अपने अन्त करण पर विश्वास है तथा शकु तला को देखकर उसके प्रति उत्पन्न प्रणय भावना को वह समाज से अनुमोदित समझता है, तथापि उसके प्रति प्रणयभाव को बढाने से पूर्व वह उसके कुल, जाति, माता-पिता, विवाह आदि के सम्ब न्ध मे पूरी छान बीनकर लेता है। इसके अतिरिक्त जब तक दुष्य न्त यह नही जान लेता कि शकुन्तला उसके प्रति अत्यधिक अनुरक्त है तब तक वह स्वय अपनी ओर से प्रेम-भाव का सकेत नही देता। शकुन्तला द्वारा प्रेम-भाव प्रकट किये जाने पर ही दुष्य त अधिक आग्रही होकर उससे गा न्धर्व विवाह का प्रस्ताव करता है। पर इस आग्रह मे उसका व्यवहार सर्वथा शिष्ट, विनम्र और प्रेम से परिपूर्ण रहता है। तृतीय अक मे विरह-विधुरा शकु न्तला के पास जाकर वह उसको शयन से खडे होने से रोकता है, उसको पखा करता है तथा उसके चरण दबाने को भी प्रस्तुत हो जाता है। शकु तला से गान्धर्व विधि से विवाह करके तथा कुछ दिनो के अन्दर ही उसे हस्तिनापुर बुलाने की प्रतिज्ञा करके वह अपनी राजधानी लौट जाता है। पर दुर्वासा-शाप के प्रभाव से वह अपनी प्रियतमा को बिल्कुल भूल जाता है। शकुन्तला को दी गयी अगूठी के मिलने के पश्चात् जब दुष्यन्त शकुन्तला विषयक पुरानी बातो का स्मरण कर विह्वल होता है तब उसका प्रणयी रूप पुनर्मु खरित हो उठता है। वह शकुन्तला के विरह की वेदना से अत्यधिक व्यथित हो जाता है। छठे अक मे दुष्यन्त की इस विरह वेदना का बडा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। उसे रात मे नीद नही आती और दिन मे आँसू बहते रहते है। उसकी दशा इतनी शोचनीय है कि रात्रि मे नीद न आने से वह शकु न्तला को स्वप्न मे भी नही देख सकता और दिन मे आसू बहते रहने के कारण वह उसके चित्र का भी भली-भाति दर्शन नही कर पाता—

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्या स्वप्ने समागम ।
बाष्पस्तु न ददात्येना द्रष्टु चित्रगतामपि ॥

सप्तम अक मे जब मातलि राजा को मारीच ऋषि के आश्रम मे ले जाता है तो वहाँ तपस्विनी विरह पीडिता शकुन्तला को अपने समक्ष देखकर दुष्यन्त की अनिर्वचनीय अवस्था हो जाती है। शकु तला के विरह मे वह इतना कृशकाय हो गया है कि प्रथम दृष्टि मे शकु न्तला भी उसको नही पहचान पाती—"न खल्वार्यपुत्र इव " इत्यादि। वह अपना अपराध स्वीकार कर शकुन्तला के चरणो मे गिर पडता है और शकुन्तला भी अपनी सहज उदारतावश दुष्यन्त को दोष न देकर अपने भाग्य को उलाहना देकर शान्त हो जाती है।

राजा होने के कारण दुष्यन्त की अनेक पत्नियाँ तथा प्रेमिकाएँ है। इसलिए नाटक की प्रस्तावना (१ ४) मे तथा पचम अक मे हसपदिका के गीत (५-१) मे भ्रमर तथा मधुकर शब्दो के प्रयोग के द्वारा कवि ने अन्योक्ति द्वारा दुष्यन्त की भ्रमर वृत्ति की ओर सकेत किया है। उसकी कुछ प्रेमिकाएँ तो ऐसी थी जिनसे उसने केवल एक ही

बार प्रेम किया था जैसाकि पचम अक मे दुष्यन्त के ही कथन से स्पष्ट है—"सकृत्कृत-प्रणरोऽय जन ।" पर वह एक भद्र और सभ्य नायक था । वह अपनी किसी भी प्रणयिनी को दु खा नही करना चाहता था । उपालम्भ देती हुई हसपदिका को समझाने के लिए विदूषक को भेजने मे उसका यही मन्तव्य स्पष्ट होता है । पर शकुन्तला के प्रति उसका प्रेम सदैव उदात्त ही रहता है । वह तृतीय अक मे शकुन्तला की सखियो से प्रतिज्ञा करता है—

परिग्रह बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य न
समुद्र वसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥

और सप्तम अक मे उसकी इस प्रतिज्ञा की पूर्ति हो जाती है । इतिहास साक्षी है कि शकुन्तला दुष्यन्त की पट्टमहिषी थी और उसके पुत्र सवदमन को ही युवराज पद दिया गया था ।

वात्सल्यपूण पिता—कालिदास ने दुष्य त को एक वात्सल्यपूर्ण पिता के रूप मे भी चित्रित किया है । दुष्यन्त को सन्तान के लिए अधिक अभिलाषा थी । अ य किसी रानी से उसका कोई पुत्र उत्पन्न नही हुआ था । अत अपने गभ को धारण करने वाली शकुन्तला की उसको बहुत याद आती थी (अभि० ६-२४) । मारीच के आश्रम मे सवदमन को देखकर उसका हृदय वात्सल्य से भर जाता है । पहले तो वह समझता है कि सन्तानहीनता के कारण ही मेरे हृदय मे इसके प्रति स्नेह उमड रहा है—' नूनमन-पत्यता मा वत्सलयति"—तथा उस बालक को गोदी मे उठाने के लिए तरस उठता है (अभि० ७-१७), परन्तु जब उसको विदित होता है कि यह उसका ही पुत्र है तो गोद मे उठाकर उसका आलिगन करता है । वह गद्गद् होकर भगवान् मारीच कहता है—"भगवन् ! अत्र खलु मे वश प्रतिष्ठा ।"

उदार तथा न्यायप्रिय शासक—दुष्य त उच्चकोटि का सफल शासक है । उसका दावा है कि उसके शासन मे कोई भी उद्दण्डता का आचरण नही कर सकता (अभि० १-२५) । वह प्रजा को अपनी सन्तान के समान पालता है—**प्रजा प्रजा स्वा इव तत्रयित्वा** (५ ५) । वह सभी प्रजाजनो का बन्धु है (त्वयि तु परिसमाप्त बन्धुकृत्य प्रजानाम्, ५-८) । वह ससार के कल्याण के लिए दु ख उठाता है (**स्वसुखनिरभिलाष खिद्यसे लोकहेतो**, ५-७) और कुमागगामियो को नियन्त्रित करता है (**नियमयसि कुमाग प्रस्थितानात्तदण्ड**, ५-८) षष्ठाशवृत्ति होकर भी वह तापसजनो से कर नही लेता, क्योकि उसके विचार से तापसजन उसे अपने तप का षष्ठाश देते रहते है—**तप षड्भागमक्षय्य ददत्यारण्यका हि न** (२ १३) ।

दुष्यन्त न्यायप्रिय शासक है और प्रतिदिन स्वय न्याय का वितरण करता है । किसी कारणवश मत्री आदि पर काय भार छोडकर भी उनको स्वय देखने का यत्न करता रहता है । अस्वस्थ होने पर उसने अमात्य पिशुन पर न्याय करने का भार सौप दिया है, परन्तु धनमित्र के सम्बन्ध मे अ तिम निणय वह स्वय ही देता है (अक ६) । दुष्यन्त

लोभी शासक नही है। वह चाहता तो धनमित्र के धन को राजकोष मे सम्मिलित कर लेता, परन्तु न्याय का विचार करके उसने वह धन धनमित्र के गर्भस्थ शिशु को दे दिया। जिन लोगो को अपने प्रियजनो से वियोग हो गया है उन्हे सान्त्वना देने के लिए उसने नगर मे यह घोषणा करवा दी कि वे दुष्यन्त को ही अपना परिवारी जन समझें—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादते तासा दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ (६—२३)

अत सिद्ध हुआ कि दुष्यन्त एक प्रजावत्सल तथा न्यायी शासक है।

कला कोविद—दुष्यन्त को ललित कलाओ का भी सूक्ष्म ज्ञान है। हसपदिका के गीत को सुनकर वह उसका रस लेता है और प्रशसा करता है—"अहो रागपरिवाहिणी गीति" (अक-५) चित्रकला मे वह अत्यन्त निपुण है। उसके द्वारा निर्मित शकुन्तला के चित्र को देखकर सानुमती को ऐसा प्रतीत होता है मानो शकुन्तला उसके सम्मुख खडी है—"अहो एषा राजर्षेनिपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तते" (अक ६)। यही नही, कामात्त तावश प्रकृति कृपण होकर स्वय दुष्यन्त भी उस चित्र को वास्तविक समझ लेता है।

दुष्यन्त की दृष्टि अनि सूक्ष्म है। वह प्रकृति के दृश्यो का आनन्द लेता हैं और उनका अति सूक्ष्म निरीक्षण भी करता है। रथ पर बैठकर वेग से दौडते हुए वन के दृश्य, आश्रम के दृश्य, स्वर्ग के माग के दृश्य आदि के वणनो मे कवि ने राजा की इस विशेषता को व्यक्त किया है। उसे प्रकृति निरीक्षण से विचित्र भावुकता प्राप्त हुई है। शकुन्तला के चित्र मे "कार्या सैकतहमलीनमिथुना" आदि द्वारा उसने जिन प्राकतिक दृश्यो के सयोजन का प्रस्ताव किया है, वे उसकी भावुकता के साथ-साथ सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचय देने मे भी पूणत सक्षम है।

उपयु क्त विवरण से स्पष्ट है कि कालिदास का दुष्यन्त एक सफल तथा आदर्श नायक है जिसमे प्राय सभी उदात्त मानवीय गुण विद्यमान है।

(२) **शकुन्तला**—शकुन्तला 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की नायिका है। वह राजर्षि विश्वामित्र और मेनका अप्सरा की पुत्री है। जन्म-काल से ही माता-पिता से परित्यक्त की गयी शकुन्तला का लालत पालन कण्व ऋषि ने किया है। यद्यपि वह कण्व की पालिता पुत्री है, तथापि वे उसे अपने प्राणो के समान प्रिय समझते है, जैसाकि नाटक के तृतीय अक के विष्कम्भक मे मुनि शिष्यो द्वारा कहा भी गया है—"सा खलु भगवत कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम्।" उसके चरित्र मे निम्नलिखित विशेषताएँ दष्टिगोचर होती है—

अनुपम सौन्दर्य—अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अक मे हमे शकुन्तला अपनी सखियो के साथ वृक्ष-सेचन करती हुई दिखाई देती है। वह लगभग १६-१७ वर्ष की कन्या है जिसमे अभी अभी यौवन के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अप्सरा की पुत्री होने के कारण उसका सौन्दर्य अनुपम है। उसे देखते ही दुष्यन्त के मुँह से सहसा

निकल पडता है—अहो मधुरमासा दर्शनम् । "शुद्धा‍ तदुर्लभमिद वपुराश्रमवासिनोयदि जनस्य" दूरीकृता खलु गुणै रुद्यानलतावनलताभि ? जन्मवृत्त ज्ञात होने पर वह स्वीकार करता है कि मत्यलोक मे किसी भी स्त्री मे ऐसा सौन्दर्य कहाँ से हो सकता है—

मानुषीषु कथ वा स्यादस्य रूपस्य सभव ।
न हि प्रभातरल ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥

कौमाय, सौ दर्य तथा लावण्य पर मुग्ध होकर दुष्यन्त उसे "अनाघ्रात पुष्प, अलून किसलय, अनाविद्ध रत्न, अनास्वादित मधु तथा अखण्ड पुण्यो का फल" कहता है (अभि० २-१०)। उसके सहज सौ दर्य को प्रस्फुटित करने के लिए किसी कृत्रिम प्रसाधन की आवश्यकता नही है। वह वल्कल पहिने हुए और भी अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। दुष्यन्त के ही शब्दो मे—

इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम् ॥१ १७॥

यौवन के प्रभाव से शकुन्तला के अगो मे असाधारण लावण्य उत्पन्न हो गया है। कवि ने दुष्यन्त के माध्यम से उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीय यौवनमगेषु सनद्धम् ॥

अभिज्ञान शाकुन्तल मे ऐसे अनेक उद्धरण है जिनसे शकु तला के अनुपम सौन्दर्य की व्यजना होती है।

लज्जाशीलता—अभिज्ञान शाकु तल का आद्योपान्त अध्ययन कर लेने पर हमे शकु तला के चरित्र मे सर्वत्र सुशीलता के ही दशन होते है। तपोवन की कन्या होने के कारण उसने सादगी, पवित्रता तथा निश्छलता जैसे सद्गुणो को ग्रहण किया है। युवती होने पर भी वह काम-विकार से सवथा रहित थी। राजा को देखकर उसके मन मे प्रथम बार काम का विकार उत्पन्न होता है, जिसको वह तपोवन के आचरण के विरुद्ध समझती है (किं नु खल्विम जन प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि सवत्ता)। परन्तु अपने इस भाव को लज्जावश वह अपनी अन्तरग सखियो से भी नही प्रकट करती। वह काम व्यथा से पीडित होने से दुबल हो गयी है फिर भी अपने मन की व्यथा को अपने मन मे ही छिपाये हुए है। सखियो के बार-बार अनुरोध करने पर ही वह अपने मनोभावो को व्यक्त करने का साहस कर पाती है, किन्तु राजा के सहसा प्रकट हो जाने पर वह लज्जा के मारे धरती मे गढ-सी जाती है। राजा द्वारा प्रणयानुरोध करने पर भी लज्जावश तथा अपने पिता की अनुमति बिना वह आत्मसमपण करने के लिए उद्यत नही होती अपितु राजा द्वारा आलिंगन किये जाने पर वह सकुचाती हुई कहती है—"पौरव ! रक्ष विनयम। मदनसतप्तापि न खल्वात्मन प्रभवामि।" लज्जावश वह अपने गान्धर्व विवाह का वत्तान्त किसी भी आश्रमवासी को नही बतलाती। उसके पिता को तो अग्निशरण मे प्रवेश करते समय

छन्दोमयी वाणी से उसके विवाह-वृत्तान्त की जानकारी हुई थी। दुष्यन्त की राज्य सभा मे वह अवगुण्ठनवती होकर ही जाती है और लज्जावश राजा से अपना प्रणय निवेदन भी नही कर पाती। प्रत्याख्यान के अवसर पर गौमती द्वारा आदिष्ट होकर ही वह थोडे से शब्दो मे राजा को अतीत का स्मरण कराती है किन्तु राजा तथा तपस्वियो द्वारा तिरस्कृत हो जाने पर वह अनाथ की तरह फूट फूट कर रोने लगती है। इस तरह प्रत्याख्यान के समय भी वह अपनी गरिमा और शालीनता को नही छोड पाती। सप्तम अक मे दुष्यन्त से भेट होने पर उसे असीम आनन्द की उपलब्धि होती है, परन्तु पति के साथ भगवान् मारीच के पास जाने मे वह लज्जा का अनुभव करती है (जिह्रेमि आयपुत्रेण सह गुरुसमीप गन्तुम्)। इस प्रकार कालिदास ने सवत्र शकुन्तला को एक सुशील एव लज्जाशील नारी के रूप मे चित्रित किया है।

एकनिष्ठ प्रेमिका—मुग्धा तपस्विकन्या शकुन्तला जिस दिन दुष्यन्त को देखकर आश्रम विरोधी काम विकार से युक्त हुई, उसी दिन से दुष्यन्त की प्रेममयी मूर्ति उसके हृदय मे अकित हो गयी। अपने मन-मोहन के पुनदशन की उत्कण्ठा मे वह प्रतिदिन क्षीणकाय होती जा रही है। सखियो द्वारा बार बार पूछे जाने पर वह केवल इतना ही कहती है—'सखि! यत प्रभृति मम दशनपथमागत स तपोवन-रक्षिता राजर्षि, तत एवारभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि सवृत्ता। तद् यदि वामनुमत तथा वर्तेथा यथा राजर्षेरनुकम्पनीयाभवामि। अन्यथा सिञ्चतमेतितोदकम्।" और उसका यह कथन ही उसके प्रेम की अनन्यता को पूण करन के लिए पर्याप्त है। गान्धव-विधि से विवाह कर दुष्यन्त के हस्तिनापुर चले जाने पर शकुन्तला तद्गत चिन्ता मे ही निमग्न रहती है और इस चिन्ता मे उसे अपने शरीर की भी सुध बुध नहीं रहती—"भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति। कि पुनरागन्तुकम्" उसका यही अनन्य चिन्तन उसके दुर्वासा शाप रूपी दुर्भाग्य का कारण बनता है। पचम अक मे दुष्यन्त से तिरस्कृत होने पर भी शकुन्तला उसका अहितचिन्तन नही करती है और केवल इतना ही कहकर चुप हो जाती है—"अनार्य! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।" पति से तिरस्कृत होकर शकुन्तला अपनी माता मेनका के साथ हेमकूट पवत पर चली जाती है और एक परित्यक्ता किन्तु पतिव्रता भारतीय नारी के आदश के अनुरूप तपोमय जीवन बिताती है। सप्तम अक श्लोक स० २१ "**वसने परिधूसरे वसाना**" इत्यादि मे कवि ने एक वेणीधरा शकुन्तला का वही गरिमामय चित्र प्रस्तुत किया है। मारीच ऋषि के आश्रम मे तापस वेषधारिणी होकर भी शकुन्तला अपने प्रियतम के रूप का क्षणभर भी विस्मरण नही कर पाती, जैसाकि षष्ठाक मे सानुमती के कथन से स्पष्ट है—"स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।" मारीचाश्रम मे प्रियतम के दशन होने पर वह उन्हे दोषी नही ठहराती, अपितु अपने सरल स्वभाववश उनसे केवल इतना पूछ लेती है—'अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुखभागयय जन" पति द्वारा चरणो मे गिरकर क्षमायाचना किये जाने पर उस आदर्श भारतीय ललना शकुन्तला का सारा आक्रोश

शा न्त हो जाता है और वह अपने प्रियतम को किसी भी प्रकार का उलाहना न देकर स्वय अपने ही भाग्य पर सारा दोष मढ कर शा त हो जाती है—नून मे सुचरित-प्रतिब धक पुराकृत तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरस सवृत्त ।" सक्षेप मे, शकु तला एक आदश एव एकनिष्ठ प्रेमिका है जो दु ख सुखादि सभी परिस्थितियो मे अपने प्रियतम की ही मगलाकाक्षिणी रहती है।

विद्या एव कलाओ मे नैपुण्य—कण्व ऋषि के आश्रम मे रहकर शकुन्तला ने स्त्रियोचित शिक्षा भी प्राप्त की है। वह पशु-पालन, बागबानी तथा अतिथि सत्कार एव गृह व्यवस्था मे पूण दक्ष है। उसकी दक्षता के विश्वास पर ही कुलपति कण्व आश्रम की व्यवस्था का भार अपनी पुत्री पर सौपकर सोमतीर्थ चले गये थे। वह साक्षर तथा काव्य रचना मे प्रवीण है। उसने अपने हाथो से ही दुष्य त के लिए मदन लेख लिखा था जिसमे विरह जनित उत्कण्ठा, अभिलाषा, उपालम्भ आदि की सुन्दर अभिव्यजना हुई है—

तुज्झ ण आणे हिअअ मम उण कामो दिवावि रत्तिम्पि ।
णिग्घिण तवइ बलीअ तुइ वुत्तमणोरहाइँ अङ्गाइँ ॥
तव न जाने हृदय मम पुन कामो दिवापिरात्रावपि ।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥

इससे स्पष्ट है कि शकुन्तला एक शिक्षित तथा कला प्रवीणा तापसबाला है।

निसर्गकन्या शकु तला—शकु तला की प्रकृति के प्रति इतना सहज और प्रगाढ स्नेह है कि परवर्ती आलोचको ने उसे निसग कन्या ही कह दिया है। उसका लालन पालन प्रकृति के सुरम्य एव सुविस्तृत प्रागण मे हुआ है जिससे उसके हृदय मे उदारता सहृदयता और सदाशयता प्रभृति सात्त्विक गुणो का सहज विकास हुआ है। आश्रम के वनस्पतियो के प्रति उसका सोदरस्नेह है—"अस्ति मे सोदरस्नेह एतेषु"। वृक्षो का सेचन करती हुई शकुन्तला को केसर वृक्ष अपनी ओर बुलाता हुआ सा प्रतीत होता है। उसी के शब्दो मे—"वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मा केसरवृक्षक ।" वनज्योत्स्ना नामक लता को वह अपने प्राणो से भी अधिक स्नेह करती है और पतिगृह-गमन करने से पूव वह उससे आलिंगन करती है (चतुथ अक)। तपोवन के तरुओ के प्रति उसके स्नेह की पराकाष्ठा कण्वऋषि के इस कथन से ही स्पष्ट हो जाती है कि वह पहले उनको जल पिलाकर जल पीती थी, आभूषण प्रिय होने पर भी वृक्षो की पत्तिया नही तोडती थी और उनके प्रथम कुसुमप्रसूतिकाल पर उत्सव मनाती थी—

पातुं न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या—
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवता स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये व कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सव ॥

आश्रम से विदा होते समय शकुन्तला को वनस्पतियाँ नानाविध उपहार देती है (अभि० ४-५)। इस समय आश्रम के मृग और लताएँ शकुन्तला को जाते देखकर रुदन

करते है। चलते चलते शकुन्तला पिता से कहती है कि जब उसकी लताभगिनी वन-ज्योत्सना मे फल आवे और मृगी शिशु का प्रसव करे तो उसको समाचार भेज दे (चतुर्थ अग)। इस प्रकार कालिदास की शकुन्तला प्रकृति की गोद मे पली और युवती हुई, प्रकृति का एक अभिन्न अग ही प्रतीत होती है।

सच बात तो यह है कि शकुन्तला कालिदासीय काव्य-जगत की एक विलक्षण एव अलौकिक सृष्टि है। उसका अ तर्बाह्य सौन्दय, प्रेम, औदाय, करुणा एव लज्जा से समान रूप से सराबोर है जिससे सहृदयो का चित्त सदैव अनुरजित होता रहता है। कालिदास ने शकु तला के जो विविध चित्र खीचे है—जैसे घट द्वारा वृक्ष सेचन करती, हुई भ्रमराक्रमण से भयभीत, राजा को लज्जापूवक देखती हुई, कामपीडिता होकर शिलास्थ पुष्पशय्या पर लेटी हुई तथा प्रेमपत्र लिखती हुई, राजा को अविनय से रोकती हुई, पिता, सखियो तथा तपोवनवासी पशु-पक्षियो एव लता वृक्षो से बिदा लेती हुई, दुष्यन्त द्वारा तिरस्कृत होने पर कारुण्य को प्राप्त होती हुई, मारीच आश्रम मे तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती हुई तथा पति के साथ पुनर्मिलन होने पर सन्तोष एव आनन्द का अनुभव करती हुई आदि—वे निश्चित रूप से अति मोदक, रमणीक एव आकषक है।

२ **विदूषक**—सस्कृत नाटको मे विदूषक भी एक महत्त्वपूण पात्र होता है। यद्यपि कथावस्तु के सगठन मे उसकी विशेष उपयोगिता नही होती, तथापि नायक के प्रेम व्यापारो मे साहाय्य प्रदान करने तथा दशको का मनोविनोद करने के लिए विदूषक का होना निता त आवश्यक माना जाता है। वह नायक का विनोदी तथा विश्वासपात्र सखा होता है जो अपने विकृत वेष, अटपटे वाक्यो तथा भौडी आकृतियो एव भगिमाओ द्वारा हास्य का वातावरण प्रस्तुत करता है और अपने मूखतापूण आचरण से प्राय सभी के लिए हँसी का पात्र बनता है। उसके नाम मे कसुम, वस त आदि अथवा उनके पर्यायवाची शब्दो का होना अनिवाय ह। साहित्यदपणकार ने विदूषक का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

कुसुमवसन्ताद्यभिध कमवपुर्वेशभाषाद्यै ।
हास्यकर कलहरतिर्विदूषक स्वकमज्ञ ।।

कालिदास के सभी नाटको मे मुख्यतया विनोद का पात्र विदूषक ही होता है। उनके विदूषक ब्राह्मण होते हुए भी प्राय अपढ एव मूख होते है। ये स्वभावत पेटू, भीरु और सुस्त होते है। ये सभी विशेषताएँ अभिज्ञान शाकुन्तल के विदूषक मे भी पायी जाती हैं।

शाकुन्तल मे यह विदूषक सर्वप्रथम द्वितीय अक मे मिलता है जहाँ वह अपनी अकमण्यता, भीरुता और भोजन प्रियता का परिचय देता हुआ कहता है—"हा हतोऽस्मि । एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि मध्यन्दिनेऽपि ग्रीष्मे विरलपादपच्छायासु वनराजिषु आहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवीम् । पत्रसकरकषायाणि

गिरिनदी जलानि पीयन्ते अनियतवेल शूल्यमासभूयिष्ठ आहारो भुज्यते । तुरगानुधावन-कण्डितसन्धे रात्रावपि निकाम शयितव्य नास्ति ।" जब राजा उससे अपने शकुन्तला-विषयक प्रेम-प्रसग मे सहायक बनने की इच्छा प्रकट करता है—"विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कमणि सहायेन भवितव्यम्"—तो पेटू विदूषक इसके उत्तर मे कहता है—"किं मोदिकखादिकायाम्" अर्थात् क्या लड्डू खाने के काम मे (मेरी सहायता की आवश्यकता है ?) राजा जब आश्रमललाम भूता शकुन्तला के प्रति अपनी रीझ व्यक्त करता है तो आलसी विदूषक पहले तो इस प्रसग को टालना ही चाहता है, पर जब राजा अपने प्रेम का औचित्य बतलाने लगता है तब विदूषक हास्यपूण ढग से राजा पर व्यग्य कसता हुआ कहता है—"यथा कस्यचित् पिण्डखर्जूरैरुद्विजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यथना ।" पेटू होने के कारण उसके इस दृष्टान्त मे खादनीय पदार्थों का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु जब राजा शकुन्तला के सौदर्य वर्णन द्वारा उसे आश्वस्त कर देता है तो वह राजा से सहमत हो जाता है और विनोदपूण ढग से उसे अपनाने के लिए कहता है—"तेन हि लघु परित्रायतामेना भवान् । मा कस्यापि तपस्विन इगुदीतैलमिश्रचिक्कणशीषस्य हस्ते पतिष्यति ।" साथ ही वह राजा के प्रेम-प्रसग को सफल बनाने के लिए उसे परामश देता है और स्वय उद्योग भी करता है, पर इसी बीच माता का सन्देश मिलने पर राजा उसे अपने स्थान पर राजधानी भेज देता है। इतने विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अभिज्ञान शाकुन्तल का माढव्यनामा विदूषक विनोदी स्वभाव वाला, भोजनभट्ट तथा आलसी ब्राह्मण है, और राजा का अतरग मित्र है। डरपोक तो इतना है कि तपोवन मे राक्षसो की उपस्थिति का वृतान्त सुनकर वह राजा के साथ भी तपोवन मे प्रवेश करने से साफ इन्कार कर देता है। राजा के यह पूछे जाने पर "माढव्य ! अप्यस्ति शकुन्तला दशने कुतूहलम्" वह भीरु स्वभाववश उसे उत्तर देता है—"प्रथम सपरीबाहमासीत् । इदानीं राक्षस वृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषित ।"

शाकुन्तल का विदूषक अत्यन्त सरल हृदय और मन्दबुद्धि है। द्वितीय अक मे जब राजा उसे राजधानी भेजता है और उसके चलते समय यह सोचकर कि कही यह वाचाल मेरे प्रेम प्रसग को अन्त पुर मे प्रकट न कर दे, वह उससे अन्त मे कह देता है, "परिहासविजल्पित सखे, परमार्थेन न गृह्यता वच," तो वह मूख उसे सत्य ही मान लेता है। काव्योक्तियो के गूढाथ को समझने की क्षमता तो उसमे है ही नही। वाच्याथ को ही परमाथ समझकर वह अपने आपको हास्यास्पद बना लेता है। षष्ठाक मे जब राजा बसन्तकालीन आम्रमञ्जरियो को मदन बाण कहकर उनके द्वारा अपने हृदय को विद्ध किये जाने की बात कहता है तो मूख माढव्य दण्ड काष्ठ उठाकर उन मदन-बाणो को गिराने दौडता है। यह देखकर विरह-सन्तप्त राजा को भी हँसी आ जाती है। प्रसगानुकूल बात करना तो वह जानता ही नही, उसे तो सबसे बडी चिन्ता अपने पेट की रहती है। षष्ठाक मे जब राजा अगुलीयक को उपालम्भ देता हुआ विदूषक के सामने शकुन्तला के परित्याग पर पश्चात्ताप दग्ध

हो रहा है तो विदूषक को उससे कोई सहानुभूति नही, क्योकि भूखे पेट से भजन नहीं होता अत उसे तो अपने पेट की ही चिन्ता है। भूख से पीडित होकर वह कहता है—"कथ बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि।" उसके ऐसे अव्यावहारिक आचरण से सानुमती भी उसे मूख समझती है और कहती हे—"अनभिज्ञ खल्वीदशस्य रूपस्य मोहदृष्टिरय जन ।"

विदूषक "कुपितवधूजनमानभञ्जन" भी होता है। पचम अक मे कायभार से श्रान्त राजा और विदूषक के कानो मे जब मधुर गीति ध्वनि पडती है तो राजा के मनोविनोदाथ विदूषक कहता है, "**कलविशुद्धाया गीते स्वर सयोग श्रूयते। जाने तत्रभवती हसपदिका वर्णपरिचय करोति।**" राजा गीत का तात्पर्याथ समझ लेता है और "मद्वचनादुच्यता हसपदिका निपुणमुपालब्धोऽस्मि" यह कहकर वह विदूषक को उसे समझाने के लिए जाने का आदेश देता है। पिटाई के भय से हसपदिका के पास जाने मे अपनी अनिच्छा व्यक्त करता हुआ विदूषक जब यह कहता हे "**गहीतस्य तया परकीयैर्हस्तै शिखण्डके ताडयमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्ष।**" तो राजा उसे नागरिक वृत्ति से समझाने का सुझाव देता है— "**गच्छ नागरिकवृत्त्या सज्ञापयनाम्।**"

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के विदूषक का कथासूत्र की प्रगति मे भी योगदान रहता है। दूसरे अक मे माता के बुलाने पर राजा अपने स्थान पर विदूषक को राजधानी भेज देता है। ऐसा करने से उसे अपने शकुन्तला विषयक प्रेम प्रसग को आगे बढाने का अवसर मिल जाता हे। छठव अक मे जब इन्द्र-सारथी मातलि विदूषक को आकाश मे उडा ले जाकर यातना देने लगता हे तो उससे विरही राजा मे वीर भाव की जागति हो जाती है। वह क्रुद्ध होकर ज्यो ही शर स धान करता है, त्यो ही मातलि राजा के समक्ष प्रकट होकर उसे इन्द्र का सन्देश देने लगता है। इस प्रकार विदूषक का काय केवल नायक कि वा सामाजिको का मनोविनोद करना ही नही अपितु कथा-सूत्र की प्रगति का सहायक होना भी है।

४ **अनसूया और प्रियवदा**—अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रारम्भिक चार अको मे अनसूया और प्रियम्वदा नामक शकुन्तला की दो सखियो की कथासूत्र की प्रगति मे महत्त्वपूण भूमिका रही है। ये दोनो शकुन्तला की अभिन्न सखियाँ उसकी सहधमचारिणी तथा उसका हितचिन्तन करने वाली है। शकुन्तला की भाँति ये दोनो भी सुन्दर है, तभी तो उन्हे देखकर दुष्यन्त ने कहा था—"अहो मधुरमासा दशनम्" तथा

शुद्धान्तमिद दुलभ वपुराश्रमवासिनो जनस्य यदि।
दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभि ॥

ये दोनो सखियाँ आयु और रूप मे शकुन्तला के समान ही हैं (अहो समवयो-रूपरमणीय भवतीना सौहादम् अक १)।

इन दो नारी-पात्रो की इस नाटक मे साभिप्राय सृष्टि की गयी है। इनके माध्यम से शकुन्तला का वश-परिचय तथा अभिमत राजा को विदित हो जाता है

जिससे महाभारतीय शकुन्तला की स्वैरवृत्ति तथा निलज्जता का तिरोभाव हो जाता है। लज्जाशीला शकुन्तला अपनी काम-व्यथा को इन अन्तरग सखियो से ही व्यक्त कर पाती है और इनके उद्योग से ही उसका दुष्य त से मिलन तथा गान्धव विवाह होता है। महाभारत की भाति अभिज्ञान शकुन्तला मे शाकु तल राजा से कोई शत नही रखती अपितु वह तो नि स्वाथ भाव से अपने आप को समपण कर देती है पर अनसूया परोक्ष रूप से उस शत को रख ही देती है "वयस्य ! बहुवल्लभा राजान श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी ब धुजनशोचनीया न भवति निर्वाह्यम्।" और प्रत्युत्तर मे वह राजा स यह वचन भी ले लेती है कि—

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य न ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम ।।

तात्पय यह है कि महाभारतीय शकुन्तला के चरित्र मे जो निलज्जता, प्रगल्भता, कामुकता आदि रूक्षताएँ थी उनका पूण निरास करने की दृष्टि से ही कालिदास ने अनसूया और प्रियवदा की सृष्टि की है।

अनसूया तथा प्रियवदा के चरितो मे जहा अनेक समानताएँ है, वहा कुछ स्वभावगत विषमताएँ भी है। दोनो सखी शकुन्तला की समवयस्का है और उससे नि स्वाथ स्नेह तथा उसका हितचिन्तन करती है। व्यावहारिक शिष्टाचार, विनयशीलता और मधुरभाषिता दोनो मे समान रूप से विद्यमान है। दोनो ही कमठ और उत्साहशील है तथा शकुन्तला के वृक्ष-सेचनादि प्रत्येक क्रियाकलाप मे उसका सोत्साह सहयोग करती है।

उपयु क्त समानताओ के होते हुए दोनो के चरितो मे अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ है। प्रियवदा की अपेक्षा अनसूया अधिक प्रौढ, गम्भीर विचारशील और दूरदर्शिनी है। दुष्यन्त के आश्रम मे उपस्थित होने पर वही आगे बढकर अतिथि का स्वागत करती है और कौतुकवश 'कतम आर्येण राजर्षेवशोऽलक्रियते" इत्यादि वाक्यो से परिचय पूछती है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के विषय मे पूछे जाने पर वही उसकी उत्पत्ति का वत्तान्त सुनाती है। वह विवेकशील है, और जल्दबाजी मे कोई काम करना उचित नही समझती। तृतीय अक मे जब उसको दुष्यन्त शकु तला के पारस्परिक प्रेम का पूरा निश्चय हो जाता है तभी वह शकुन्तला को मदन लेख आदि लिख कर आगे बढने तथा राजा से मिलने के उपाय पर विचार करती है।

अनसूया मे दूरदर्शिता भी है। राजा के प्रेम का निश्चय हो जाने पर भी वह अधिक आवश्वस्त होने के लिए उसे कह ही बैठती है कि "राजा लोग अनेक पत्नियो वाले होते हैं, अत आपको इसके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे इसके ब धु जन दु खी न हो।" तापसजनो के यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति हो जाने के पश्चात राजा के चले जाने पर भी उसे शकुन्तला के भविष्य के प्रति चिन्ता और शका उत्पन्न होती है कि कही राजा नगर मे जाकर यहाँ के वृत्तान्त को भूल न जाय—"अद्य स

राजर्षिरिष्टि परिसमाप्यर्षिभिर्विसर्जित आत्मनो नगर प्रविश्यान्त पुरसमागत इतोगत वृत्तान्त स्मरति न वेति" (चतुर्थ अक)।

अनसूया बहुत धीर और व्यावहारिक है। दुर्वासा के शाप को सुनकर प्रियवदा तो घबरा जाती है, पर अनसूया धैर्य धारणकर उसकी शाप निवृत्ति का उपाय सोचकर प्रियवदा को दुर्वासा के पास भेजती है। साथ ही, दुर्वासा के पास से लौटकर आयी हुई प्रियवदा से वह यह भी कहती है कि इस वृत्तान्त को गोपनीय भी रखा जाये— 'प्रियवदे! द्वयारेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठितु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।" इसी प्रकार जब कण्व के प्रति आशका प्रकट करती हुई प्रियवदा उससे कहती है कि न जाने तात इस वृत्तान्त को सुनकर क्या सोचेंगे, तो वह विश्रब्धभाव से उत्तर देती है कि वे इस विवाह का समर्थन ही करेंगे, क्योंकि गुणवान वर को कन्या देने का ही उनका सकल्प था— 'गुणवते कन्यका प्रतिपादनीया इत्यय तावत् प्रथम सकल्प। त यदि दैवमेव सपादयति, नन्वप्रयासेन कृतार्था गुरुजन।" अनसूया समयानुसार सभी को मत देती है और किसी भी विषम परिस्थिति के आ जाने पर न केवल शकुन्तला अपितु प्रियवदा भी उसी की मति के अनुसार काम करती है। महर्षि कण्व उसकी धीरता और विवेकशीलता को जानते है और सम्भवत इसी लिए प्रियवदा के रहते हुए भी वे अनसूया से ही बार बार कहते हैं—"अनसूये! अल रुदित्वा" और "अनसूये! गतवती वा सहधर्मचारिणी, निगृह्य शोकमनुगच्छत मा प्रस्थितम्।"

अनसूया के विपरीत प्रियवदा अधिक मधुरभाषिणी, परिहासप्रिय और जिज्ञासु है। शकुन्तला जब वल्कल को कसने का प्रियवदा को उलाहना देती हुई अनसूया से उसे ढीला करने के लिए कहती है तो वह परिहासपूर्वक शकुन्तला को उत्तर देती है— "अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व।" जब शकुन्तला केसर वृक्ष को सींचने के लिए उसके निकट पहुचती है तो प्रियवदा उसे थोडी देर वही रुकने को कहती है क्योंकि उसकी दृष्टि मे शकुन्तला का सामीप्य पाकर केसर वृक्ष लतासनाथ-सा हो गया है —"हला शकुन्तले! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ, यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवाय केसरवृक्षक प्रतिभाति।" उसके इन प्रवचनो से तुष्ट होकर ही शकुन्तला ने उससे कहा था—"अत खलु प्रियवदासि त्वम्।" दुष्यन्त की उपस्थिति मे उसके हासपरिहास के लज्जा एव रीझभरी खीझ से जब शकुन्तला वहाँ से उठकर चलने लगती है तो प्रियवदा उसे बलात् रोक देती है और कह देती है कि तुम पर दो वृक्षो का सींचना उधार है, उसे चुकाकर जाओ।

अनसूया की भाँति प्रियवदा भविष्य के प्रति शकालु नही है। दुष्यन्त के राजधानी लौट जाने पर अनसूया तो राजा के प्रति शका प्रकट करती है पर प्रियवदा "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" इस कहावत पर विश्वास करती हुई कहती है —' नहि तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।" वह निर्भीक है और समय पर काम बनाने की क्षमता रखती है। दुर्वासा के शाप की भनक पडते ही वह अनसूया से आदिष्ट होकर दौडकर दुर्वासा के पास जाती है और काफी अनुनय-विनय कर उस क्रोधी ऋषि

को भी सानुक्रोश बना लेती है। तृतीय अक मे उसी ने विरह-पीडित शकुन्तला को मदनलेख लिखने का परामश दिया था और उसे पत्र पुष्पो मे छिपाकर राजा के पास पहुँचाने की उसी ने हामी भरी थी। इससे उसकी निर्भीकता और व्यवहार कुशलता का अच्छा परिचय मिल जाता है।

इससे स्पष्ट है कि दोनो पात्र अपने-अपने क्षेत्र मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखते है। अनुसूया यदि सकट के समय मे उपयोगी है तो प्रियवदा प्रेम-प्रसग मे। एक यदि अधिक शिष्ट, चिन्तनशील और गम्भीर है तो दूसरी अल्हड, विनोदशील एव वाकपटु है। पर इन दोनो का अपनी सखी के प्रति प्रगाढ स्नेह है। उन्होने अपनी सखी की विदा के अवसर के लिए पहले से ही गोरोचना, तीर्थमृतिका, दूर्वाकिसलय आदि एकत्रित कर लिए है। शकुन्तला जब अपनी लताभगिनी वनज्योत्स्ना को अपनी सखियो को सौपती है तो वे दोनो आत्तस्वर से कहने लगती है—"अयजन कस्य हस्ते समर्पित ।" वे दोनो दुर्वासा-शाप से चिन्तित है। अत विदा के अवसर पर वे शकुन्तला को सचेत करती हुई कहती हैं कि यदि राजा तुम्हे पहचानने मे आनाकानी करे तो तुम उसकी यह अँगूठी दिखा देना। शकुन्तला के अन्तर्हित हो जाने पर वे बहुत दु खी होती है और तात कण्व से कहती है— 'तात ! शकुन्तलाविरहित शू यमिव तपोवन कथ प्रविशाव ।" कहना न होगा कि शकुन्तला की सखियो के रूप मे इन दो नारी-पात्रो की सृष्टि कर कवि ने अपनी विलक्षण प्रतिभा और कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। यदि नाटक मे ये दो नारी-पात्र न होते नो कालिदास की शकुन्तला का व्यक्तित्व आकषक नहीं बन पाता, उसमे लज्जाशीलता, मुग्धता, निष्कपटता आदि सात्त्विक गुणो की सुगन्ध का समावेश नही होता।

५ कण्व ऋषि—'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे कण्व अथवा काश्यप ऋषि भी एक महत्त्वपूण पात्र है। यद्यपि रगमच पर उनकी उपस्थिति केवल चतुत अक मे ही दशनीय है, पर पूववर्ती तीन अको मे ऋषि कुमारो, तापस कन्याओ आदि के द्वारा उनके सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, उससे उनके व्यक्तित्व का सुस्पष्ट चित्र अकित हो जाता है। वे एक आश्रम के कुलपति हैं। शकुन्तला उनकी पालिता पुत्री है, जिसके प्रति उनमे अत्यधिक स्नेह है। उसी की ग्रहशान्ति के लिए वे सोमतीथ गये थे।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' को पढने से कण्व के चरित्र की अनेक विशेषताएँ व्यक्त होती है। वे तपोनिष्ठ नैष्ठिक ब्रह्मचारी, अन्तर्ज्ञानी और महाप्रभावशाली हैं। अपने तपोबल से वे भूत, भविष्य और वतमान की सभी बातो को जानते है जैसाकि सप्तम अक मे स्वय महातेजा, ऊध्वरेता भगवान् मारीच ने स्वीकार किया है —' तप प्रभावात् प्रत्यक्षमेव तत्रभवत ।" उन्होने पहले ही जान लिया था कि शकुन्तला पर निश्चित रूप से कोई विपत्ति आयेगी और उसी की शान्ति के लिए वे सोमतीथ गये थे। आश्रम मे लौटकर उन्हे अपने तपोबल से ही ज्ञात हुआ था कि उनकी पुत्री ने दुष्यन्त से गान्धव विवाह कर लिया है।

उनकी तपस्या मे अद्‌भुत प्रभाव है। उनकी उपस्थिति मे राक्षसादि यज्ञो मे विघ्न नहीं कर सकते, केवल अनुपस्थिति मे ही विघ्न कर सकते है। सम्पूण नपोवन के प्राणी यहा तक कि अचेतन पदाथ भी उनसे प्रभावित है। शकु तला की विदाई के अवसर पर जब सखिया "आभरणोचित रूपमाश्रमसुलभैं प्रसाधनैंविप्रकायते" ऐसा कहकर खेद प्रकट करती है तो महर्षि कण्व के प्रभाव से आश्रम के वृक्ष तुरन्त मागलिक क्षौमयुगल, चरणोपभोगसुलभ लाक्षारस तथा आभरण दे डालते है। जब कण्व आश्रम के वृक्षो को सम्बोधित करते हुए कहते है कि तुम्हारी शुभाकाक्षिणी शकुन्तला पति गृह जा रही है, तुम सब लोग उसे अनुमति प्रदान करो—"**सेय याति शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम्**"—तो उसी समय कोकिलरव के ब्याज से वृक्ष उसे अनुमति दे देते है, और वन देवता उसके माग को प्रशस्त बनाने की कामना करते हुए कहने लगते हैं,—

रम्यान्तर कमलिनीहरितै सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमिताकमयूखताप ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्या शा`तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था ।।

दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होते हुए भी कण्व मे कुछ मानवीय गुण भी विद्यमान है। उन्हे भी एक पिता का कोमल हृदय मिला है। यद्यपि शकुन्तला उनकी पालिता पुत्री है तथापि वे उसे अपना 'जीवितसवस्व' मानते हे जैसी कि तृतीय अक के विष्कम्भक मे कण्व-शिष्य की स्वीकारोक्ति हे—"सा खलु भगवत कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् ।" शकुन्तला के प्रति उनके हृदय गे नि स्वाथ प्रेम है। इसीलिए शकु तला के विदा होने समय वे करुणाविह्वल हो जाते है। शकुन्तला अभी गयी नही है, आज चली जायेगी, इसी आशका से उनका हृदय चि ताकुल हो जाता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, और दशनशक्ति मन्द पड जाती है। वे स्वय कहते है कि पुत्री वियोग से जब मुझ जसे अरण्यवासी इस प्रकार दु खित है तो भला गृहस्थजन क्यो न पीडित हो—"**वैक्लव्य मम तावदीदृशमिद स्नेहादरण्यौकस, पीड्यन्ते गृहिण कथ नु तनयाविश्लेषदु खैर्नवै ।**" शकु तला जब अपने पिता से सानुनय कहती है कि आप मेरे लिए व्याकुल न हो, तो करुणार्द्र होकर गद्‌गद् वाणी से वे कहने लगते ह—

शममेष्यति मम शोक कथ नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढ नीवारबलि विलोकयत ।।

आरण्यवासी होते हुए भी कण्व लोक वृत्तान्त मे पूण निष्णात है। उन्होने स्वय कहा भी है—"वनौकसोऽपि स`तो लौकिकज्ञा वयम् ।" शकु तला के वियोगजन्य दुःखावेग को दबाकर वे दुष्यन्त के लिए सामयिक और राजोचित सन्देश देते है—"**अस्मान् साधु विचिन्त्य सयमधनान्**" इत्यादि और तुरन्त अपनी पुत्री को भी उपदेश देने लगते है—**शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने**" **इत्यादि।** इन वाक्यो मे उनके लोक व्यवहार ज्ञान का सुन्दर निदशन है। वे अच्छी तरह जानते है कि विवाहित पुत्री को अधिक समय तक पितृगृह मे नही रखना चाहिए, अत वे शकुन्तला को शीघ्र ही दुष्यन्त के पास भेज देते है। वे यह भी जानते हैं कि युवती तथा अविवाहिता कन्या को बाहर भेजना उचित नही है, अत वे अनसूया और प्रियवदा को शकुन्तला के साथ

हस्तिनापुर नही भेजते । पितृ वियोगकातरा शकुतला जब उनसे पूछती है कि "कदा नु भूयस्तपोवन प्रेक्षिष्ये" तो मुनि शान्त एव गम्भीर चित्त से उसे सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथ तनय निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन ।।

कण्व को मानव स्वभाव का भी अच्छा ज्ञान है । वे जानते है कि मनुष्य धीरे-धीरे अपने दुखो को भूल जाता है । अत वे शोकविह्वल शकुन्तला को समझाते हुए कहते हैं कि पति के घर के कार्यो मे सलग्न होकर तुम मेरे विरह के दुख को शीघ्र भूल जाओगी—"अभिजनवतो भर्तु श्लाध्ये० ।"

कण्व जानते है कि पुत्री पर पिता का अधिकार नही होता । वह तो उसके भावी पति की धरोहरमात्र है । इसलिए शकुन्तला को पतिगृह भेजकर वे सन्तोष की सास लेकर कहने लगते हैं—

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सप्रेष्य परिगृहीतु ।
जातो ममाय विशद' प्रकाम
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।।

इस प्रकार कालिदास के महर्षि कण्व दयालु, प्रेमीपिता, तपोनिष्ठ ब्रह्मचारी, सिद्धिमान् और लौकिक व्यवहारज्ञ हैं । वे मानवो पर ही नही, पशु-पक्षियो तथा लता-वृक्षो पर भी समान रूप से स्नेह करते है । वे विद्या, ज्ञान और प्रेम की साक्षात मूर्ति है तथा भारतीय सस्कृति के आदश रूप को मुखरित करते हैं ।

६ **शार्ङ्गरव और शारद्वत**—शार्ङ्गरव और शारद्वत दोनो ही कण्व के प्रिय शिष्य है । गुरु के प्रति उनकी अपार भक्ति एव श्रद्धा है तथा गुरू की अनुपस्थिति मे आश्रम की व्यवस्था का उत्तरदायित्व उन्ही पर रहता है । अभिज्ञानशाकुन्तल का अध्ययन करने पर विदित होता है कि ये दोनो ऋषिकुमार परिपक्व अवस्था के है तथा कण्व के आश्रम मे सभवत अध्यापन-कार्य भी करते है, क्योकि कण्व उनके लिए आदरसूचक शब्दो का प्रयोग करते है—'आदिष्यन्ता शार्ङ्गरवमिश्रा शकुन्तलानयनाय," अक-४ । राजा दुष्यन्त भी इन गुरुशिष्यो को गुरुसमान ही कहता है (अभि० ६-९) । कण्व को इन्ही दोनो शिष्यो पर अधिक विश्वास है, अत वे उन्ही के सरक्षकत्व मे शकुन्तला को हस्तिनापुर भेजते हैं ।

इन दोनो कण्व शिष्यो का सवप्रथम दशन हमे नाटक के द्वितीय अक मे होता है। दोनो ही ऋषिकुमार यह जानकर कि राजा आजकल आश्रम के समीप ही है, उसके पास जाकर यज्ञ रक्षाथ उससे प्रार्थना करते है। दोनो ही समान रूप से राजा के बल, पराक्रम, तेजस्विता आदि गुणो की प्रशसा कर उसे साधुवाद देते है। पर इस प्रकरण से दोनो के स्वभाव का कोई व्यक्तिगत परिचय नही मिलता।

चतुर्थं अक मे कण्व इनमे से एक को 'शाङ्‌र्ङरवमिश्रा' कहकर पुकारते है। इससे विदित होता है कि शाङ्ग रव आयु मे शारद्वत से बडा तथा अधिक उत्तरदायित्व-पूर्ण है। हस्तिनापुर जाने वाले दल का वही नेता प्रतीत होता है। शाङ्‌र्ङरव ही प्रत्येक अवसर पर आगे आकर वार्तालाप करता है। शारद्वत की अपेक्षा वह अधिक व्यवहार कुशल और लोक व्यवहारज्ञ भी है। वही कण्व को लोकप्रचलित कहावत का उदाहरण देकर जलाशय से आगे जाने से रोकता है—"भगवान्! ओदकात स्निग्धोजनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते तदिद सरस्तीरम्। अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमहसि।" इस अवसर पर महर्षि कण्व राजा के लिए जो सन्देश भेजते है वह शाङ्ग रव के माध्यम से ही। शाङ्‌र्ङरव वाक्‌चतुर भी है। ऋषि का सन्देश समाप्त होते ही वह कहता है, "गृहीत सन्देश" और मुनि के यह कहने पर "वनौकसोऽपि लौकिकज्ञा वयम" वह तुरन्त समयानुकूल उत्तर देता है, "न खलु धीमता कश्चिदविषयो नाम।'

शाङ्ग रव को नागरिको के जीवन से अरुचि है। वह राज प्रसाद को अग्नि की लपटो से घिरा हुआ समझता है—"जनाकीण मन्ये हुतवहपरीत गृहमिव।" वह स्पष्ट-वादी और क्रोधी स्वभाव का भी है। राजा जब शकुन्तला को पहचानने और उसे पत्नी-रूप मे स्वीकार करने मे अपनी पूर्ण असमथता प्रकट करता है तो शाङ्‌र्ङरव उसे शठ, धमद्वेषी, प्रमत्त आदि कहकर फटकारता है। वह कहता है कि जिसने दूसरो को धोखा देने की ही विद्या पढी है क्या वही विश्वासपात्र हो सकता—'परातिसन्धान-मधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाच ?" यही नही वह शकुन्तला को भी करारी फटकार लगाता हुआ कहता है—,,इत्थमातमकृतमप्रतिहत चापल दहति।" तथा "अत परीक्ष्य कत्तव्य विशेषात्सगत रह। अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम्।" पति से तिरस्कृत शकुन्तला जब इनके पीछे-पीछे आश्रम मे लौटना चाहती है, तब वह उसे डाँटकर कहता है—किं पुरोभागे! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे।" और उसे पतिकुल मे दासी रूप मे भी बने रहने का आदेश देता है—पतिकुले तव दास्यास्यमपि क्षमम्।"

शाङ्ग रव की अपक्षा शारद्वत अधिक शिष्ट, शान्त और व्यवहार कुशल है। वह शाङ्ग रव की भाँति राजा पर क्रोध प्रकट नही करता। उसमे बात को साध लेने की अपूव क्षमता हे। इसीलिए शाङ्ग रव के साथ शारद्वत को भेजा गया था। राजा द्वारा शकुन्तला को स्वीकार न करने और शाङ्ग रव के क्रोध करने पर वह बीच मे आ जाता है और शाङ्ग रव को शान्त कर स्वय राजा से शिष्ट ढग से निवेदन करता है। तत्पश्चात् वह शकुन्तला को आदेश देता है कि तुम स्वय राजा को विश्वास

दिलाओ—"शकुन्तले ! वक्तव्यमुक्तमस्माभि सोऽयमत्रभवानेवमाह, दीयतामस्मै प्रत्यय-वचनम् ।" पर जब बात किसी तरह बनती दिखाई नही दी तो क्रोधाविष्ट शाङ्ग रव से कहा—"शाङ्ग रव ! किमुत्तरेण। अनुष्ठितो गुरो सन्देश । प्रतिनिवृत्तामहे वयम ।" और इस बार वह दुष्यन्त को अपना अन्तिम निर्णय सुनाता हुआ कह देता है—

तदेषा भवत कान्ता त्यज वैना गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।।

इस प्रकार हमे शारद्वत मे विनयशीलता, स्पष्टवादिता और समयानुकूलता के दर्शन होते है । वह बोलता तो कम है, पर जब बोलता है तो सार्थक बात कहता है । मर्यादा का पालन और विनय का निर्वाह वही करता है । यदि वह न होता तो सम्भवत दुष्यन्त और शाङ्ग रव का वाक्कलह तूल पकड लेता जिसका परिणाम घातक भी हो सकता था । अत हम कह सकते है कि जिस प्रकार अनसूया के साथ प्रियवदा का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार शाङ्ग रव के साथ शारद्वत का होना अनिवार्य है ।

७ अन्य पात्र—इन पात्रो के अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तल मे और भी पात्र है, पर उनका व्यक्तित्व अधिक मुखरित नही हो सका है । इन गौण पात्रो मे दुर्वासा, मारीच और गौतमी के नाम उल्लेखनीय है । इनमे प्रथम दो ऋषि है और गौतमी महर्षि कण्व के आश्रम की एक तापस वृद्धा है

इन पात्रो मे दुर्वासा ऋषि तपस्वी होकर भी कठोर, मानी, क्रोधी तथा निष्ठुर दीख पडते है । यद्यपि वह अपनी दिव्य दृष्टि से यह जान लेते है कि शकुन्तला पति वियोग से शून्य हृदया-सी हो गयी है, फिर भी ऋषि उसकी अन्यमनस्कता मे अपना अनादर हुआ समझकर एक भोली भाली युवती को पति वियोग का दारुण शाप दे डालते हैं । उसका कितना छोटा अपराध और मुनि का कितना बडा दण्ड । इसीलिए तो प्रियवदा कहती है कि "कोऽन्यो हुतवाहाद्दग्धु प्रभवति ।" इस प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल मे दुर्वासा का क्रोधी एव उग्र रूप ही दिखाई देता है ।

महर्षि मारीच तो उस दिव्यलोक के वासी है जहाँ सभी स्वर्गीय साधनो के रहते हुए भी ऋषिजन उनसे अनासक्त रहकर तपश्चर्या मे लीन रहते है, कल्पवृक्ष के रहते हुए भी जहा ऋषिजन वायु-भक्षण करते हैं और अप्सराओ के सान्निध्य मे भी सयम का जीवन व्यतीत करते है । जब दुष्यन्त उनके "स्वर्गादधिकतर निवृत्तिस्थानम्" आश्रम मे पहुचा, उस समय महर्षि मारीच समाधिस्थ थे । उनकी कठिन तपस्या के लिए वह उन्हे वन्दना करता है । भगवान मारीच इन्द्रादि देवताओ के पिता है भगवान् विष्णु भी वामनावतार मे उनसे ही जन्म ग्रहण करते है । वे पूर्णकाम है तथापि लोकहित की कामना से तपोनिरत है । आश्रम मे पहुँचकर शकुन्तला को परम शान्ति मिली थी । महर्षि ने ही उसके पुत्र के सभी जातकर्मादि सस्कार सम्पन्न किये थे और उसे अप्रतिरथ होने का आशीर्वाद दिया था । कवि ने बडे ही कौशल के साथ ऐसे लोकपावन जगद्वन्द्य महात्मा के आशीर्वाद द्वारा नाटक की समाप्ति करायी है ।

गौनमी एक वृद्ध तापसी हे जो शकु तला पर पुत्रीवत् स्नेह करती है। प्रथम अक मे जब प्रियवदा शकु नला से परिहास करती है तो वह अनुसूया से कहने लगती है कि मै जाकर इसकी शिकायत आर्या गौनमी से करूँगी—इयमामसम्बद्धप्रलापिनी प्रियवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।" तृतीय अक मे जब उसे यह विदित होता है कि शकुन्तला बीमार हे तो वह अपने हाथ मे पात्र लेकर उसके पास पहुँचकर वात्सल्यपूवक पूछती हे— जाते, लघुसतापानि तेऽङ्गानि ।" गौतमी को आती हुई देखकर दुष्यन्त विटपान्तरित हो जाता है। इससे उसकी वृद्धजनो के प्रति समादरभावना विनयशीनता, लोकमर्यादापालनाभिलाषा, स्वमनोवृत्तिगोपनशीलता एव नैतिकता तथा व्यवहार कुशलता ही सूचित होती है। चतुथ अक मे महर्षि कण्व ने गौतमी को शकुन्तला की सरक्षिका बताकर भेजा था। राजा द्वारा शकुन्तला के प्रति अपना अपरिचय व्यक्त करने पर वह राजा को बडी बूढी स्त्री की तरह समझाती हे और शकुन्तला को भी अवगुण्ठन हटाकर बात करने का आदेश देती है। शकु तला द्वारा गुरुजनो की अनुमति बिना प्रेम करने पर खिन्न होकर वह राजा से कहती है—**नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्च बन्धुजन । परस्परस्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकैकम ।।"** जब शाङ्ग रव और शारद्वत शकुन्तला को छोडकर चल देते है तो गौतमी वात्सल्य से अभिभूत होकर कहने लगती है—"वत्स शाङ्गरव ! अनुगच्छतीय खलु न करुणपरिदेविनी शकु तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ?" इस प्रकार कालिदास ने गौतमी को एक वात्सल्यमयी माता के रूप मे चित्रित किया।

कालिदास का प्रकृति-चित्रण

कालीदास मे यद्यपि उत्तमोत्तम सभी नाट्य कला सम्बन्धी विशेषताये हैं, तथापि इनका प्रकृति चित्रण ता अप्रितम एव अतिरमणीय है। यह तो सर्वविदित ही है कि कालिदास की काव्य कला का विकास ही प्रकृति वणन से आरम्भ होता है, जो कि उनकी इस काव्य प्रतिभा का प्रमाण है कि उनकी रचनाओ मे कथानक गौण है, प्रकृति ही सब कुछ है। अभिज्ञान शाकु तल को यदि इस दृष्टि से पढा जाय तो उसमे आद्योपरान्त कोमल एव सरस प्रकृति का भव्य वणन मिलेगा। उनकी शकुन्तला वस्तुत प्रकृति कन्या ही हे। वह प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण मे उत्पन्न हुई, प्रकृति ने ही उसका पालन पोषण और श्रृङ्गार प्रसाधन किया तथा उसका अधिकाश जीवन भी प्रकृति की गोद मे ही व्यतीत हुआ और महर्षि कण्व के शब्दो मे "शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन्" उसने अपना अन्तिम जीवन भी प्रकृति की गोद ही मे व्यतीत किया। इसी प्रकृति कन्या को कवि ने मानवी रूप मे चित्रण किया है। इतना ही नही कवि का मेघदूत गीति काव्य तो प्रकृति काव्य ही है। उसका मेघ एक प्रकृति का ही अग है, उसका सारा काय व्यापार प्रकृति क्रीडा ही है। भारतवष के भव्य प्राकृतिक दृश्य इस गीति काव्य मे देखे जा सकते हैं। अत मेघदूत आद्योपान्त प्रकृति काव्य ही

है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य सभी रचनाओ मे प्रकृति के उत्तमोत्तम दृश्य देखने को मिलते है। अत यह कहना अत्युक्त न होगा कि कालिदास मूलत प्रकृति कवि है और उनकी काव्य कला का आरम्भ प्रकृति चित्रण से ही होता है तथा उसमे उत्तरोत्तर विकास एव परिमाजन होता गया है।

कवि की सवप्रथम रचना "ऋतु सहार" है। इसमे कवि ने विभिन्न ऋतुओ से मानवो पर पडने वाले प्रभावो का तथा उनके परिणामो का सु दर सरस वर्णन किया है। उन्होने प्राकृतिक दश्यो पर चेतन धम का समारोप कर उसका आलकारिक चित्र प्रस्तुत किया है और कही कही प्रकृति को शुद्ध आलम्बन रूप मे भी रखकर उसके प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया है। इस प्रकार ऋतु सहार का कवि यद्यपि प्रकृति प्रेमी जान पडता है तथापि यहाँ उसका यह प्रकृति प्रेम प्राय उद्दीपन का ही साधन है। इसमे स्त्रियो के बिभ्रम विलास एव शृगार की ही प्रधानता है। कवि ने इसमे कामिनियो के उन विचारो और भावो का ही विशेष रूप से वणन किया है जो कि उसमे प्रकृति के प्रभाव से उत्पन्न हुये है। इन कामिनियो के भावो का ही वणन करने के लिए कवि ने मानो यहा प्रकृति की पृष्ठभूमि का आश्रय लिया है। वस्तुत प्रकृति का वह आलम्बन रूप यहाँ देखने को नही मिलता जो कि उनके कुमारसम्भव और रघुवश आदि मे मिलता है। इन अपनी उत्तरकालीन रचनाओ मे कवि ने प्राकृतिक एव दैवी विभूतियो के बीच अद्भुत साम्य स्थापित किया है। इसके लिए कुमारसम्भव के प्रथम पाच सग द्रष्टव्य हैं। वह इन रचनाओ मे लता वक्षादिको मे दैवी विभूतियो का अस्तित्व स्वीकार करता है। शाकु तल मे शकुन्तला के विदा होते समय वृक्षो मे निवास करने वाले देवता उसको आभूपण वस्त्र एव प्रसाधन के अन्य पदार्थ भेंट कर विदा करते है। मेघदूत मे यक्ष जब स्वप्न मे अपनी पत्नी का दशन पाकर बडी उत्सुकतापूवक उसका आलिङ्गन करने के लिए अपनी भुजाये फैलाते है तब उसकी इस विवशता का देखकर वन देवियो की आखो से मोतियो के समान स्थूल अश्रुबि दु वृक्षो के पत्तो पर गिरने लगते है। कुमारसम्भव मे च द्रमा अपनी किरण रूपी अगुलियो से रजनी नायिका के अ धकार रूपी केशपाश को हटाकर उसके अधनिमीलित कमल नेत्र वाले मुख का चुम्बन करता है। "अङ्गुलीभिरिव
रजनीमुख शशी"।

इससे स्पष्ट कि इन उत्तरकालीन रचनाओ मे कवि के प्रकृति विषयक दृष्टिकोण मे पर्याप्त अ तर आ गया। यहा वह समस्त जड चेतन सृष्टि मे एक ही चेतन तत्व देखता है। उसकी धारणा है कि स्त्री-पुरुष के समान ही लता वृक्षादि भी उसी चैतन्य से चेतन हैं, मानव के साथ इनका चिरस्थायी अटूट सम्बन्ध है। अतएव मानव अपने सुख-दु ख का रूप प्रकृति मे देखता है और प्रकृति भी मानव से सश्लिष्ट है और उसके प्रति सहानुभूति पूण भी। वह उसके सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख मानती है। इस प्रकार मानव का कोई भी क्रिया-कलाप प्रकृति से बहिर्मुख नही होता। कवि की रचनाओ मे प्रकृति का यह सश्लिष्ट एव रूप योजनात्मक वणन सवत्र देखने

को मिलता है । शाकुन्तल के तो प्रत्येक अक मे प्रकृति का यह रूप देखने को मिलता ही है पर अब अन्य ग्रन्थ भी प्रकृति के इस मनोहर रूप से परिपुष्ट है ।

इसमे सन्देह नही कि कवि ने प्रकृति के मधुर सरस एव भव्य रूप का ही सवत्र चित्रोपम वणन किया है । प्रकृति का भयावह रूप जो कि भवभूति आदि अन्य कवियो मे मिलता है कालिदास की दष्टि उस ओर नही गई है । पर प्रकृति के बाह्य दृश्यो के रूप योजनात्मक वणन मे वे अद्वितीय है । उनके ये वणन सवत्र चित्रोपम सजीव एव हृदयग्राही ही है । रघुवश के त्रयोदश सग का वह वणन जहा कवि कहता है कि यमुना की तरगो मे मिलता हुआ गगा का प्रवाह ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मोनियो की लडी मे नीलम पिरो दिये गये हो अथवा श्वेत कमल माला मे मानो बीच बीच मे नीलकमल पिरो दिये गये हो "क्वचित्प्रभालेतिभि उत्खचिता-तरेव" रघु० त्रयोदश सग ।

इसी प्रकार मेघ प्रकृति को अपनी प्रियतमा के रूप मे देखता है —प्रियङ्गु लता ही उसकी प्रियतमा का कोमल सरस एव विकसित अग है, चकित हरिणियो के दष्टि-पात उसकी प्रियतमा के नयन कटाक्ष है च द्रमा उसका मुख है, मयूर पुच्छ केशपाश तथा नदियो की लोल लहरे उसके भ्रू विलास है 'श्यामास्वङ्ग चकित हरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम् मेघदूत ।

इतना ही नही कवि की दष्टि मे मानवीय सौ दय का मापदण्ड प्रकृति ही है। कुमारसम्भव मे जब भगवती पावती अरुणोदयकालीन सूय के समान रक्त परि-धान धारण कर पूजाथ जाती हे तब कवि कहता है कि मानो नवविकसित पल्लवो को धारण करने वाली कोई लता चल रही हो । केसर वृक्ष के नीचे खडी शकुन्तला के कारण केसर वृक्ष भी लतासनाथ प्रतीत होता है "त्वयोपगतया लतासनाथ इव केसर वक्षक प्रतिभाति' । और ऐसा होना स्वाभाविक ही है क्योकि शकुन्तला की भुजायें उस लता की कोमल टहनियाँ हैं, अधरोष्ठ की लालिमा किसलय की रक्तिमा है और अग-प्रत्यङ्ग पर व्याप्त यौवन ही उस लता की कुसुम समृद्धि है ।

क्योकि अनेकत्र कालिदास ने यह माना है कि मानव सौन्दय से बढकर प्रकृति सौन्दय है । मानव सौन्दय की अभिवृद्धि प्रकृति सौन्दय से ही होती है । इसीलिये उसने शकुन्तला के सौन्दय वणन मे सवत्र प्रकृति उपमानो का ही उपयोग किया है 'अनाघ्रात पुष्प किसलयमूलन कररुहै । अक्लिष्ठबालतरु पल्लव-लोभनीयम् । सवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ । कृत न कर्णार्पितबन्धन सखे, शिरीषमागण्डविलम्बि केसरम् । न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमल मृणालसूत्र रचित स्तनान्तरे । शा० पष्ठ० १८ । तथापि उसकी रचनाओ मे कई स्थल ऐसे भी है जहा कवि ने मानव सौन्दय को प्रकृति सौन्दय से बढकर माना है । मानव सौन्दय के आगे प्रकृति सौन्दर्य दब-सा जाता है । कुमारसम्भव मे कवि कहता है कि भगवती पावती की भुजाएँ शिरीष कुसुम से भी कही अधिक कोमल एव सुन्दर है "शिरीष कुसुमादपि सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्क (कु० सम्भव) गजशुण्ड त्वचा मे ककश होते है

और कदली स्तम्भो मे अत्यधिक शैत्य होता है अत जघाओ के लिए प्रकृति मे कोई उपमान ही नही रह गया है इत्यादि स्थल उसकी इस मान्यता को पुष्ट करते हैं कि मानव सौन्दय प्रकृति सौन्दय से बढकर है।

कालिदास की प्रकृति कही भी मूक चेतनाहीन एव निष्प्राण नही है, वह मानवो के समान ही सचेतन एव सजीव है। सुख दु ख एव सवेदना का अनुभव करती है, मानव से उसका अटूट प्रेम है। इसीलिए महर्षि कण्व और उसकी सखिया ही नही अपितु समस्त तपोवन ही उसकी विदाई के समय पीडित हो उठा है। जैसाकि प्रियवदा कहती है। "न केवल सख्येव त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि समवस्था दृश्यते "उदगलितदभकवला मृग्य, परित्यक्तनतना मयूरा। अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता।" वृक्षो ने अपनी कन्या की विदाई के समय केवल आभूषण, कौशेय वस्त्र एव लाक्षारस ही नही दिये अपितु कोकिल ध्वनि के द्वारा उसे जाने की अनुमति भी प्रदान की। ज्ञानी मानव होने के कारण भले ही महर्षि कण्व ने अपने आँसू रोक लिए हो, पर लताओ के आंसू न रुक सके, मयूर नृत्य छोडकर, मृगी दभ-कवल उगल कर उसकी ओर देखने लगती है। वनज्योत्स्ना अपनी शाखा-बाहुओ को फैलाकर विदा होती हुई अपनी बहिन से भेंट करना चाहती हैं। उसका कृतक पुत्र मृगशा-वक उसका पल्ला पकडकर उसे जाने से रोकने लगता है। कोनुखल्वेष निवसने मे सज्जते।

कालिदास की प्रकृति सहानुभूति प्रदशन मात्र ही नही दु खी जनो को सान्त्वना भी देती है। प्रियजन विरह से पोडित मानव को प्रकृति ही अपनी गोद मे लेकर पीडा सहन करने की क्षमता प्रदान करती है। चक्रवाकी-आरटन को सुनकर जब शकुतला कहती है "दुष्करमह करोमि" तब अनसूया कहती है "एषापि प्रियेण बिना गमयति रात्रि विषाददीघतराम्। गुवपि विरहदु खमाशाबन्ध साहयति" चक्रवाकी के इस उदाहरण से वह सान्त्वना प्राप्त करती है। विरह पीडित दुष्यन्त भी मनोविनोद के लिए प्रकृति का ही आश्रय लेता है। शक्यमरविन्दसुरभि आलिङ्गितु पवन इत्यादि। इसी प्रकार उशीरानुलेप मृणालवलय नलिनी पत्रवात पुष्प शयन आदि भी प्रकृति के सान्त्वनादायक पदाथ है। पर कदाचित् प्रकृति विरही के विरह को उद्दीप्त भी करती है और प्रकृति सौन्दय उसे विपरीत सा दिखाई पडने लगता है, इसीलिए विरह पीडित दुष्यन्त कहता है "विसृजति हिमगभै रग्निमिन्दुमयुखै त्वमपि कुसुम-वाणान् वज्रसारीकरोसि। तृतीयाङ्क।

वस्तुत शाकुन्तल प्रकृति चित्रण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसमे कवि के उत्कृष्ट प्रकृति प्रेम का, उसकी प्रकृति दृश्यो की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का और उसकी कमनीय कल्पनाओ का उत्प्रेक्षाओ और उपमाओ का सुन्दर चित्रण है। प्रकृति विषयक उद्भावनाओ का और प्रकृति सन्देश के मार्मिक उद्घाटन का शाकुन्तल से बढकर अन्यत्र उदाहरण न मिलेगा। शाकुन्तल का प्रारम्भ ही ग्रीष्म ऋतु वणन से होता है और इसकी समाप्ति भी मारीच के पवित्र प्रकृति प्रागण मे होती है। शाकुन्तल मे यद्यपि थोडे समय के लिए इन्द्रिय वासना ने अशान्ति उत्पन्न कर दी थी, पर वह

क्षणिक ही थी, और ज्योही वह शान्त हुई हम पुन मारीच के पवित्र प्रकृति प्राङ्गण मे दो विरही हृदयो को मिलते हुए पाते है। वस्तुत यह मिलन दो बिछुडे प्रेमियो का ही मिलन नही अपितु अन्त एव बाह्य प्रकृति के चिरन्तन सयोग की ही पुन प्रतिष्ठा है।

शकुन्तला ही नही कवि की सभी नायिकाओ का प्रकृति से अटूट प्रेम है। फूलो के बीच ही वे पनपती है और उन्ही के बीच उनके जीवन का विकास होता है।

राज कवि होते हुए भी कवि ने प्रकृति वणन मे साम्प्रदायिक रीति का ही अनुसरण नही किया है। उसके वणन परम्परा युक्त मात्र नही है अपितु उनमे प्रत्यक्ष निरीक्षण की स्निग्धता, सहृदयता की भावना, रसिकता तथा कल्पना की कमनीयता सवत्र देखी जाती है, इसीलिये वे प्रकृति-कवि है।

कालिदास की अलकार-योजना

वस्तुत "वाक्य रसात्मक काव्यम्" के अनुसार काव्य की आत्मा रस ही है जो कि सदा व्यङ्ग्य ही होता है। ध्वनिवादी मम्मट आदि आचाय भी व्यङ्ग्य प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य मानते हैं, पर भामह दण्डी आदि आचार्यों ने काव्य मे कल्पना विलास और शब्दाथ चमत्कार को भी महत्व दिया है। कालिदास किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी नही अत उनकी रचनाओ मे रस का प्राधान्य रहते हुये भी गुणलकारो को भी उचित स्थान दिया गया है।

वस्तुत कालिदास अलकारवादी कवि नही अपितु रससिद्ध कवि हैं। फिर उनके रचना के प्रवाह मे स्वाभाविक स्फूर्तिवश जो भी अलकार स्वत आ गये हैं उनका प्रयोग उनकी रचनाओ मे सवत्र देखा जाता है और वह भी बडा ही सरस और मधुर है।

रस सिद्ध कवि होने के कारण कवि ने शब्दालकारो का प्रयोग बहुत ही कम किया है। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालकार यदि वे स्वत रचना प्रवाह मे आ पडे तब तो वे उनकी रचनाओ मे स्थान पा गये है अन्यथा कवि ने उन्हे लाने का कही प्रयास नही किया है। अनुप्रास का तो अवश्य अधिक प्रयोग मिलता है पर यमक और श्लेष जैसे बुद्धिप्रधान अलकारो का तो कवि ने जानबूझ कर ही प्रयोग नही किया है, क्योकि इनकी योजना में विद्वत्ता प्रदशन ही अधिक है, रसिकता नही। इनसे काव्य मे कृत्रिमता ही अधिक आती है स्वाभाविकता नही इसीलिए इनका प्रयोग क्वचित्क ही है। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं "भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूय स भूमेधु रमासमाज। वधाय वध्यस्य शर शरण्य। प्रजा प्रजनाथ पितेव पासि। मनुष्य वाचा मनुवशकेतुम् (रघुवश) प्रजा प्रजा स्वा इव तन्त्रयित्वा (शाकुन्तल)।

अलकारो के प्रमुख दो भेदो—स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति—मे से कवि ने स्वभावोक्ति का बडा ही सुन्दर प्रयोग किया है जिसमे कवि ने दृष्टि या कल्पित पदार्थो या व्यक्तियो का यथाथ और अतिरमणीय चित्र खीचा है। शाकुन्तल मे पीछे

दौडते हुये रथ पर बैठे हुए राजा के बाण के लगने के भय से भागते हुए मृग का दृश्य "ग्रीवाभङ्गाभिरामम् शा० प्रथम अङ्क पृ० ६। निष्कम्प चामर शिखाओ वाले भागते हुए अश्वो का दृश्य "मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया, निष्कम्प चामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णा। आत्मोद्धतैरपिरजोभि रलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्या। तथा इसी प्रकार के अन्य स्वभावोक्ति के स्थल बडे ही सूक्ष्म पर मार्मिक और यथाथ है। शकुन्तला के बिदाई के समय कण्व के कथन मे और उनकी विह्वलता मे बडी ही स्वाभाविकता है।

पर कालिदास को कल्पना का रम्य विलास वक्रोक्ति मूलक उपमा उत्प्रेक्षा दृष्टान्त अर्थान्तिरन्यास अप्रस्तुतप्रशसा काव्यलिङ्ग आदि अलकारो मे देखा जा सकता है। पृथ्वी से आकाश तक समुपलब्ध, साधारणजनो के लिय नीरस और उपेक्षणीय पदार्थो मे भी सौ दर्याधान करने वाली कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति ने अलकारो के प्रयोग म एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इन अर्थालकारो मे भी भारतीय आलोचको ने उपमा के प्रयोग मे कालिदास को सवश्रेष्ठ माना है जैसाकि प्रसिद्ध है— **उपमा कालिदासस्य।**

इसमे कोई सन्देह नही कि उपमा के क्षेत्र मे कालिदास अनुपम है। इनकी उपमा-योजना, सरसता, रम्यता, विविधता एव मार्मिकता की दष्टि से बेजोड है। साथ ही ये उपमाएँ भावानुकूल, श्लेष की जटिलता से रहित, अनूठी एव विपयानुकूल है। य स्पष्ट एव नित्य व्यवहार मे देखी जाने वाली होने के साथ ही शास्त्रीय विषयो से अनुप्राणित है। कोई भी वस्तु सौ दय उनकी निरीक्षण वनि से बाहर नही जा सका है। उनकी सभी उपमाएँ प्रसगानुकूल है। इन्दुमती स्वयवर मे जिस-जिस राजा को छोड कर आगे चली जाती थी उस-उसके मुख पर निराशा की कालिमा उसी प्रकार छा जाती थी जैसे राजपथ की अट्टालिकाये जिन्हे रात्रि मे आगे बढती हुई दीपशिखा ने पीछे छोड दिया है। कालिदास की यह सवश्रेष्ठ उपमा है इसीलिये उनका नाम भी दीपशिखा पड गया था।" सचारिणी दीपशिखेव रात्रौ य य व्यतीयाय पतिवरा सा। रघु०। वन से लौटते समय दिलीप और सुदक्षिणा के बीच नन्दिनी उसी प्रकार शोभा पा रही थी जैसे दिन और रात्रि के बीच सध्या शोभा पाती है। उपमा की यह कल्पना कितनी यथाथ एव स्वाभाविक है। रक्ताभवणा नन्दिनी स्त्रीलिङ्ग सध्या है। पुलिङ्ग राजा दिलीप दिन के समान उसके पीछे चल रहे हैं और आगे आकर स्त्रीलिङ्ग क्षपा सुदक्षिणा उनका स्वागत कर रही है। यह सर्वाशिन पूण उपमा है ' दिनक्षपामध्यगतेव सध्या" रघु०।

कवि की उपमाएँ सहज साम्य के ऊपर ढली है। यथाथ और स्पष्ट तो वे इतनी अधिक हैं कि पाठको के मन मे वणनीय पदार्थो की यथाथ कल्पना उत्पन्न हो जाती है। हस्तनापुर जाते हुए ऋषि कुमारो के बीच शकुन्तला ऐसी ज्ञात होती है मानो पीले पत्तो के बीच नवीन किसलय उद्भुत हुआ हो "मध्ये तपोधनाना किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्" वृद्ध एव सूखी ऋषियो की आकृतियो के बीच पल्लवित लता जैसी

युवती शकुन्तला के लिए यह उपमा कितनी यथाथ है। इसी प्रकार उसकी अधरलालिमा किमलय राग के समान है, भुजायें कोमल शाखाये जैसी हैं और प्रत्येक अग मे लताकुसुम सदृश यौवन व्याप्त है। "अधर किसलयराग कोमल विटपानुकारिणौ बाहू कुसुममिव लोभनीय यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।'

शकुन्तला का वल्कलावृत शरीर सिवार से लिपटा हुआ कमल हे। आपन्नसत्त्वा शकुन्तला के अप्रतिम लावण्य से भ्रमित दुष्यन्त की वही दशा हो रही है जो कि उस भ्रमर की होती है जो कि प्रात काल तुषार से भरे हुये कुन्द पुष्प का न तो मकरन्द ही पान कर सकता है और न उसे छोडकर अन्यत्र ही जा सकता हे। 'भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषार न च खलु परिभोक्तु नैव शक्नोमि हातुम्" शाकुन्तल अक ५।

स्त्री हृदय निसगत मधुर प्रेममय और अति कोमल पुष्पवत् होता है जो कि सुगन्धित एव रमणीय होते हुए भी विरह का रूप किञ्चित् वातवेग से अध पतित हो जाता हे, इत्यादि अनेकविध उपमाएँ कवि रचनाओ मे उपलब्ध होती है।

इन उपमाओ की सबसे बडी विशेषता यह हे कि ये सृष्टि के विविध पदार्थों-लता, वृक्ष, फूल, फल, प्राणि वर्ग, आकाश, सूय चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि से ली गई हैं। महर्षि कण्व को सहसा प्राप्त नवजात शकुन्तला, अक वृक्ष पर सयोगवश गिर पडने वाला नवमालिकाकुसुम ही है "अकस्योपरि शिथिलच्युत मिव नवमालिका कुसुमम्"।

कुमार सम्भव मे मदनदाह से विह्वला रति तालाब सूख जाने के जलाभाव वश छटपटाती हुई मछली है अथवा अकेली पडी शोभाहीन कमलिनी सदृश है इत्यादि।

लिङ्गसाम्य, वर्णसाम्य, यथाथता एव स्पष्टता के अतिरिक्त कालिदास की उपमाओ की एक विशेषता यह भी है कि वे वातावरण के अनुकूल एव शास्त्रानुप्राणित है। शास्त्रो के व्यासग से भी उन्होने सुन्दर उपमाओ की कल्पना की है। ब्रह्म सरोबर से निकलने वाली सरयू नदी साख्य शास्त्र के अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धि तत्व के समान हे।। नन्दिनी गौ के पीछे-पीछे चलने वाली दिलीप पत्नी सुदक्षिणा श्रुति के अथ के पीछे चलने वाली स्मृति के समान है "श्रुतेरिवाथ स्मृतिरन्वगच्छत्'। देवताओ को स्थानच्युत करने वाले शत्रु सामान्य नियमो के बाधक अपवादो के समान है। बालि के सिहासन पर बैठने वाले सुग्रीव धातु के स्थान पर होने वाले आदेश के समान है। शत्रुघ्न के पीछे व्यर्थ लगी रहने वाली सेना, इङ् अध्ययन धातु के पीछे व्यर्थ लगे रहने वाले अधि उपसग के समान हे। तारकासुर का उपद्रव सन्निपातिक ज्वर के समान है। इत्यादि अनेक शास्त्रो के प्रसग से उपमाएँ ली गई है।

अनेक अमूत कल्पनाओ एव मनो व्यापारो से गृहीत उपमाएँ भी सुन्दर है। महर्षियो द्वारा प्रयुक्त उपमाएँ उनके वातावरण विद्याभ्यास एव ऋषिजनोचित अनुभव तथा व्यवहार से अनुप्राणित हैं। दुष्यन्त को प्राप्त शकुन्तला उसी प्रकार अशोचनीया बन नई हे जैसे सुशिष्य को दी गई विद्या अशोचनीय हो जाती है। "सुशिष्य-विश्वास

इसी प्रकार, "अकृतार्थेऽपि मनसिजे"। "कामी स्वता पश्यति" "अनुकारिणि पूर्वेषाम्" "लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियम्" "दृष्टप्रव.सजनितान्यबलाजनस्य" इत्यादि अर्थान्तरन्यास के उत्तम उदाहरण है।

इसी प्रकार अन्य अलकारो का प्रयोग भी कवि ने बडी ही सुन्दरता के साथ किया है अन्य अलकारो से उदाहरण के लिए परिशिष्ट भाग १ और ५ देखिये।

कालिदास की रस योजना

शाकुन्तल का प्रधान या अङ्गीरस शृङ्गार है। शृङ्गार के सभोग और विप्रलम्भ इन दोनो पक्षो मे से भी प्राधान्य सयोग शृङ्गार का ही है, यद्यपि विप्रलम्भ की भी अभिव्यक्ति इसमे कम नही है तथापि प्राधान्य सभोग शृगार का ही है। शाकुन्तल के प्रथम तीन अको मे सभोग ही प्रमुख है। विप्रलम्भ (करुण विप्रलम्भ और वात्सल्य विप्रलम्भ) वीर, भयानक, हास्य, अदभुत और शान्त आदि का भी अग रूप मे अभिव्यक्तीकरण किया गया है। यद्यपि विप्रलम्भ शृङ्गार का सम्भोग की अपेक्षा अधिक विस्तार देखा जाता है। फिर भी प्राधान्य सम्भोग का ही है, आरम्भ भी सभाग से होता है और अन्त मे दुष्यन्त शकुन्तला के मिलन के रूप मे भी सभोग शृङ्गार ही है। अतएव यहाँ सभोग को ही अगी रस मानकर रसो का वणन किया जायेगा।

प्रथमाङ्क मे वृक्ष सेचननिरता एव अपनी सखियो से वार्तालाप करती हुई शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय मे उसके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और कहता है, "मधुरमासा दशनम्" शुद्धान्त दुलभमिद वपु इत्यादि। इसके बाद वह उसके प्रति पूणत आसक्त हो जाता है और उसके अद्भुत सौन्दय की मन ही मन प्रशसा करता हुआ कहता है—"इद किलाव्याजमनोहर वपु" 'सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्यम्" इसके बाद वह प्रियवदा की यह उक्ति सुनकर "हला अत्रैव मुहुर्त तिष्ठ, नून त्वय्रोपगतया लतासनाथ इव केसर वृक्षक प्रतिभाति" वह उसे पल्लवित एव विकसित लता के रूप मे देखने लगता है और सोचता है, कि सचमुच यह लता ही है, क्योकि इसका "अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणो बाहू। कुसुममिब लोभनीय यौवनमङ्गेष सन्नद्धम्।" उसके जीवन वृत्तान्त को जानकर और उसे क्षत्रिय परिग्रहक्षमा मानकर राजा उसके साथ विवाह करने को उत्सुक हो जाता है अतएव वह शकुन्तला के मुख मण्डल पर मडराने वाले भ्रमर की चेष्टाओ से भी ईर्ष्या करने लगता है, "चलापाङ्गा दृष्टिम्" और इसी भ्रमर बाधा के निरकरण ब्याज से वह शकुन्तला सम्मुख उपस्थित हो उस पर अपना प्रेम अभिव्यक्त करताहै। तापस बाला शकुन्तला भी उसके सौन्दय पर मुग्ध होकर अपनी विलास चेष्टाओ के द्वारा अपना प्रेम प्रकट करती है "किं नु खल्विम जन प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीया,स्मि सवृत्ता"। राजा उसके भावो मे यह समझ लेता है कि "यथा वय तथैवेय मप्यस्मासु अनुरक्ता" अतएव वह स्पष्ट करता है 'वाच न मिश्रयति यद्यपि मदव चोभि" तृतीयाङ्क मे विरहातुर राजा शकुन्तला को खोजता जब लतामण्डप मे उसकी विरहवश दयनीय दशा को देखता है और काम पत्र के द्वारा जब उसे उसके प्रेम का पूण

सुशिष्य परिदत्तेव विद्याशोचनीयासि सवृत्ता" शकुन्तला पल्लविता अति मुक्त लता है तो दुष्यन्त उपभोग क्षम सहकार है। एक महानदी है तो दूसरा सागर, एक कुमुदवती है ता दूसरा शशाङ्क। विरहपरिम्लान शकुन्तला के अग आशुक्लान्त विषभगसुरभि है। उसका अधर अपरिक्षत कोमल नवकुसुम तुल्या है जिसका रस पान करने को भ्रमर दुष्यन्त लालायित है। चक्रवाक वधू को अपने सहचर से विमुक्त करने के लिये उपस्थित गौतमी रजनी का प्रयोग कितना स्वाभाविक प्रसगानुकूल एव वातावरण के अनुकूल है। उपमालकार के ऐसे ही अनेक उदाहरण उनकी शाकुन्तल आदि सभी रचनाओ मे उपलब्ध होते है जो कि उनकी उपमा के क्षेत्र मे उन्हे सवश्रेष्ठ कवि प्रमाणित करते है।

इस प्रकार यद्यपि "उपमा कालिदासस्य" यह कथन सवथा उचित है तथापि उपमा का प्रयोग ही कालिदास की सवश्रेष्ठता का सूचक नही हो सकता। वस्तुत वे अलकारवादी कवि नही है अपितु रससिद्ध कवि है, उनकी प्रतिभा सवतोमुखी है। उनकी सविधान कुशलता, रस योजना, भावाभिव्यञ्जना ध्वन्यात्मक एव प्रासादिक शैली भी अद्वितीय है। कुछ विद्वानो की मान्यता है कि कालिदास ने उपमालकार से बढकर अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया है—

"उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मत मम।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते॥

इतना ही नही मेघदूत मे कवि ने उत्प्रेक्षालकार का इतना सुन्दर प्रयोग किया है कि उसका साम्य अन्यत्र दुर्लभ है। शकुन्तला मे अप्रस्तुत प्रशसालकार का भी ऐसा सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। अत यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कवि ने जिस किसी भी अलकार का प्रयोग किया है वह अद्वितीय है। अत किसी माघ प्रशसक कवि की यह उक्ति—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरथ गौरवम्।
दण्डिन पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा॥

समीचीन प्रतीत नही होती, वस्तुत "उपमा कालिदासस्य" मे प्रयुक्त उपमा से सभी सादृश्य अलकारो का अथ ग्रहण करना चाहिये क्योकि उनकी रचनाओ मे सभी सादृश्य मूलक अलकारो का उत्तमोत्तम प्रयोग हुआ है।

अधोलिखित सादृश्य मूलक अलकारो के उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जायेगी —

"अनाघ्रात पुष्पम" इत्यादि श्लोक मे शकुन्तला के कान्तिमत् रूप के वर्णन मे रूपकालकार का सुन्दर प्रयोग है, यहा अनेक रूपको की एक साथ योजना करके कवि ने शकुन्तला के सौन्दर्य की कोमलता अम्लानता एव मादकता की ओर सकेत किया है। "गत्वेव पुन प्रतिनिवृत्त" 'कृत इव मुग्धविनीतोपदेश। लाक्षा नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु"। 'मुञ्चत्यश्रूणीव लता" इत्यादि उत्प्रेक्षा के सुन्दर उदाहरण है। मेघदूत तो उत्प्रेक्षाओ का भण्डार ही है।

हो जाता है तब वह वहा उपस्थित होकर उसे गान्धव विवाह को प्रेरित करता है, स्वीकृति मिलने पर वह उसकी सखियो के समक्ष, अपने अनन्य प्रेम और पत्नी रूप मे शकुन्तला की प्रतिष्ठा का विश्वास दिलाता है "इदमनन्यपरायणमन्यथा' 'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य न" । सखियो के चले जाने पर वह प्रेमाधिक्यवश उसके पाद-सवाहन के लिए उद्यत हो जाता है "सवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ" । और फिर अपरिक्षत कोमल उसके अधर पान का प्रयास करता है। इस प्रकार तृतीय अक तक सम्भोग शृङ्गार अक्षुण्ण रूप से चलता रहता है, और बीच मे कथा-प्रवाह मे आने वाल भयानक वीर, हास्य विप्रलम्भ आदि रस इसी अगी रस की पुष्टि करत रहत है। सप्तमाङ्क मे दोनो के मिलन के अवसर पर पुन यही सम्भोग शृङ्गार अभिव्यक्त होता है जहाँ राजा उसे देखकर "वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैक-वेणि" खेद प्रकट करता हुआ उसके पैरो पर गिरकर क्षमा याचना करता है सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते" और दोनो के मिलन को चन्द्र-रोहिणी का मिलन बतलाता है "उपरागान्ते शशिन समुपगता रोहिणी योगम्" ।

विप्रलम्भ शृ गार—जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि शाकुन्तल मे सम्भोग की अपेक्षा विप्रलम्भ का अधिक विस्तार से चित्रण किया गया है और सम्भोग शृङ्गार की सम्पुष्टि की गई है, अतएव यह ठीक ही कहा गया है कि "न विना विप्रलम्भेन सम्भोग पुष्टिमर्हति" । यही कारण है कि शृङ्ग र—प्रधान काव्यो मे विप्रलम्भ का विस्तृत वणन मिलता है । फलत शाकु तल के द्वितीय अक मे तृतीय अक के प्रारम्भ और अन्त मे तथा पूरे षष्ठ अक मे विप्रलम्भ का ही मुख्य रूप से वणन किया गया है तथा बीच-बीच मे अन्य रसो द्वारा उसकी पुष्टि की गई है। द्वितीयाङ्क मे विरही दुष्यन्त शकु तला की प्राप्ति को सुलभ न मानकर खेद प्रकट करता है 'काम प्रिया न सुलभा" । फिर भी वह उसकी चेष्टाओ का स्मरण कर कामी व्यक्ति के तुल्य उन्हे अपने लिए ही मान कर सन्तोष कर लेता है 'स्निग्ध वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेष । यत्या तया" । वह उसके अलौकिक सौ दय पर मुग्ध है अतएव वह उसे विधाता की अनुपम कृति ही मानता है और उसे पत्नी बनाने के लिये व्याकुल हो उठता है । "चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा" "अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि" और उसके भावो को विदूषक के सामने इन शब्दो मे व्यक्त करता है "अभिमुखे मयि सहृतमीक्षण, हसितमन्यनिमित्तकथा-दयम् विनयवारितवृत्तिरतस्तया न निवता मदनो न च सवृत" । "दर्भाङ्कुरेण चरण क्षत इत्यकाण्ड त वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा" इत्यादि ।

तृतीयाङ्क मे प्रथम राजा की काम पीडित अवस्था का चित्रण है, जहा वह शकु तला की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय सोचता है पर कुछ कर सकने मे अपने को असमथ पाकर दु खी होता है—"जाने तपसो वीय सा बाला परवतीति मे विदितम्" । इस काम पीडित अवस्था मे उसे दिन मे भी चन्द्रमा दिखलाई पडता है जो कि अपनी

हिममयी किरणो से अग्नि वर्षा करता हुआ प्रतीत होता है और कुसुमायुध भी उसके लिए वज्रायुध बन गया है। "तब कुसुमशरत्व शीतरश्मित्वमिन्दा" इतना ही नही वह शकु तला के वियोग मे जागते रहने और रोते रहने के कारण अतिकृश भी हो गया है अतएव उसका स्वणवलय ढीला होकर नीचे की ओर खिसकने लगा है। "इद मशिशिरैरन्तस्तापात्" ।

इधर शकुन्तला भी राजा के विरह मे अत्यधिक पीडित है। उसकी सखियाँ विरहताप शमनाथ उस पर उशीरानुलेप कर और उसे पुष्प-शय्या पर लिटा कर, उस पर नलिनी पत्र व्यजनो से हवा कर रही हैं और धीरे-धीरे उससे उसकी मनोव्यथा का कारण पूछती है—' क्रियात्मन आतङ्कमुपेक्षसे। अनुदिवस खलु परिहीयसेऽङ्गै। केवल लावण्यमयी छाया त्वा न मुञ्चति। "स्तनन्यस्तोशीर शिथिलितमृणालैक-वलयम्" क्षामक्षामकपोलमाननमुर काठिन्यमुक्तस्तनम" सखियो के आग्रह करने पर वह कहती है "यत प्रभृति मम दशनपथमागत स राजर्षि, तत आरभ्य तद्गतेना-भिलाषणैतदवस्थास्मि सवृत्ता। तद्यदि वामनुमत तदा तथा वतथा यथा तस्य राजर्षे रनुकम्पनीया भवामि। अन्यथा सिञ्चित मे तिलोदकम्"। सखिया उसकी अभिलाषा का अनुमोदन कर उससे कामपत्र लिखने का आग्रह करती हैं। राजा कामपत्र के विपय ' तव न जाने हृदयम्" को सुनकर उस अवधीरणाभीरुहृदया शकु तला को उद्देश्य कर कहता है "अय स ते तिष्ठति सगमोत्सुको विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्' और फिर 'तपति तनुगात्रि मदन" कहता हुआ उसके समीप पहुच जाता है। गान्धव विवाहोपरान्त शकुन्तला के चले जाने पर वह पुन खिन्न होकर कहता है "अहो विघ्नवत्य खलु प्रार्थितार्थसिद्धय"।

षष्ठाङ्क मे अँगूठी के मिलने पर शकुन्तला का स्मरण कर वह पुन पश्चात्ताप-ग्रस्त हो जाता है। उसकी इसी अवस्था का वणन कञ्चुकी करता है "रम्य द्विष्टि यथा पुरा" प्रजागरण से उसकी आखे प्रताम्र हो गई है "प्रत्यादिष्टविशेषमण्डन-विधि" इसी विरहावस्थावश उसने वस तोत्सव रोक दिया है। पर वसन्त तो आ ही गया है, अत आम्रमञ्जरी को देखकर उसका दु ख और उद्दीप्त हो उठता है और वह विदूषक से कहता है "मुनिसुताप्रणयप्रतिरोधिना" शकुन्तला के निराकरण की घटना का स्मरण कर "इत प्रत्यादेशात्" वह अधीर हो उठता है और विदूषक द्वारा आश्वस्त किये जाने पर भी "स्वप्नो नु माया नुमतिभ्रमो नु" कहकर वह व्याकुल हो उठता है। जब वह शकु तला की प्रतिकृति देखकर कुछ शाति प्राप्त करना चाहता है तभी उसकी आँखो मे आसू आ जाते है और वह चित्रगत भी शकु तला को न देख सकने के कारण बहुत दु खी होता है 'प्रजागरात् खिलीभूत तस्या स्वप्नेऽपि सङ्गम" यद्यपि वह शकु तला की प्रतिकृति मे उसकी प्रिय वस्तुओ का समावेश करना चाहता है— 'कार्या सैकतलीनहसमिथुना" "कृत न कर्णापितबन्धन सखे" पर ऐसा करने मे भी अपने को असमथ पाकर वह अति व्याकुल होकर विदूषक से कहता है—"सखे, त्रायस्व माम'।

शकुन्तला के चित्रगत भ्रमर के प्रति यहाँ राजा का कथन उसकी विरहजन्य उन्मादावस्था का ही द्योतक है, इसी प्रकार अँगूठी के प्रति उसका उपालम्भ भी विरहो माद का ही सूचक है। इसी बीच धनमित्र का वृत्तान्त जानकर और अपने को सन्तानहीन देखकर वह मूर्छित हो जाता है। इसी प्रकार कवि ने इस अक मे राजा के विरह का चित्रोपम वणन करते हुए विप्रलम्भ श्रृ गार की पूण अभिव्यक्ति की है।

इस विप्रलम्भ शृङ्गार के,अतिरिक्त नाटक मे एक दो स्थलो पर **करुण विप्रलम्भ** भी देखने को मिलता है, जैसे तृतीयाङ्क मे शकुन्तला की इस उक्ति मे 'अन्यथा सिञ्चित मे तिलोदकम्" तथा पञ्चम अक मे जहाँ दुष्यन्त से निराकृत होकर रोती हुई शकुन्तला "सा नि द ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेप क्रदितु च प्रवृत्ता" पुरोहित के पीछे जाती हुई कहती है 'भगवति ! वसुधे देहि मे विवरम्।"

वात्सल्य विप्रलम्भ—चतुथ अक के शकु तला के विदाई के प्रसग को कई विद्वानो ने करुण रस का उदाहरण माना है और इसमे मुख्यत करुण रस की ही अभिव्यक्ति स्वीकार की है। उनकी इस मान्यता का कारण सम्भवत महाकवि भवभूति की "एको रस करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवतान्" यह उक्ति ही रही हो, अतएव उन्होने इस वात्सल्य विप्रलम्भ को भी करुण ही मान लिया है। यदि ऐसा ही माना जाय तो इसे करुण कह ही सकेंगे, पर सामान्यत इसे करुण रस का उदाहरण नही माना जा सकता, क्योकि इसे करुण रस मानने मे शास्त्रीय दृष्टि से विरोध होगा। करुण रस का स्थायी भाव शोक होता है जो कि यहाँ कही भी नही देखा जाता। शकुन्तला तो पतिगृह जा रही है, उसके लिए प्रस्थान कौतुक मनाया जा रहा है, उसका मङ्गलसमालम्भन कर शृङ्गार प्रसाधन किया जा रहा है, सभी उसे वीर-प्रसविनी राजमहिषी भतु बहुमता होने का आशीर्वाद दे रहे हे। जब वह चलते समय रोती है तो उससे कहा जा रहा है 'न त उचित मङ्गलकाले रोदितुम्" स्वय महर्षि कहते हे कि "शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन्" अत मेरी दृष्टि से यहा शोक के अभाव मे करुण मानना उचित नही है, अपितु यहाँ वात्सल्य विप्रलम्भ मानना ही प्रसगानुकूल है।

कवि का यह वात्सल्य विप्रलम्भ चित्रण अत्यन्त हृदयग्राही और अनुपम है और उनकी प्रतिभा का उत्कृष्ट निदशन है। सामान्यत वात्सल्य विप्रलम्भ मे माता-पिता का ही अपनी सन्तान के प्रति चित्त का द्रवीभाव दिखलाया जाता है। पर यहाँ तो न केवल माता पिता और सखीजन ही द्रवित होते है, अपितु सम्पूण प्रकृति ही पशु पक्षी लता वृक्षादि भी शकु तला की विदाई के समय द्रवित हो उठे हैं। सखियो के लिए तो "इत्यश्रूणि विहरत" कहना स्वाभाविक था पर कवि ने तो यहाँ लताओ को भी आसू बहाते दिखलाया है। सम्पूण तपोवन शकुन्तला से अतिशय तादात्म्य मूलक अनुराग के कारण वियोगजन्य दु ख अनुभव करने लगा है।

शकुन्तला की विदाई के समय महर्षि कण्व उतने ही दु खी है जितना कि एक गृहस्थ अपनी कन्या के प्रथम वियोग के समय होता है। यद्यपि वे निष्काम वनवासी

ज्ञानी तपस्वी है और कन्या भी औरस नही पालिता पुत्री है, तथापि यह सोचकर कि "यास्यत्यद्य शकु तला" उनका हृदय उत्कण्ठा से भर गया है, नेत्र अश्रुपूरित हो गये है कण्ठ गद्गद हो गया है, दर्शन शक्ति क्षीण हो गई है। इसी उत्कण्ठाभरित वाणी मे वे तपोवन वृक्षो को सम्बोधित कर कहते हैं—पातु न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या सेय याति शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम्।" वृक्ष भी उसे विदा के अवसर दु खित हृदय से, शृगार प्रसाधन की सामग्री भेटकर कोकिलरव के द्वारा उसकी मङ्गलकामना करते हैं। विदा होते समय शकुतला तो कातर है ही पर उसके विरह से सम्पूर्ण तपोवन ही द्रवित हो उठा है "न केवल सखयव त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत् समवस्था दृश्यते।" मृगियो ने अर्ध चर्वित कुशग्रास उगल दिये है, मयूरो ने नाचना बन्द कर दिया है और लताये पाण्डुपत्र गिराने के व्याज से मानो अश्रु बहा रही है—"उद्गलितदर्भकवला मृग्य, परित्यक्तनर्तना मयूरा। अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता" चलते समय शकुन्तला अपनी प्रियलता वनज्योत्स्ना से विदाई लेती है और उसे गले लगाती हुई कहती है "वनज्योत्स्ने, चूतसगतापि मा प्रत्यालिङ्गेतोगताभि शाखाबाहुभि, अद्यप्रभृति दूरवर्तिनी ते खलु भविष्यामि"। फिर उसे सन्तोष नही होता तब वह अपनी सखियो से कहती है "हला, एषा द्वयोर्युवयाहस्ते निक्षेप" जिसे सुनकर सखिया उत्तर देती है 'अय जन कस्य हस्ते समर्पित इति बाष्प विहरत।" तब स्वय महर्षि कण्व अपने अश्रुप्रवाह को रोककर कहते हैं, "अनसूये अल रुदित्वा, ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकरणीया शकुन्तला।" इसी बीच एक मृगपोतक उसके पल्ले को पकड कर खीचने लगता है और इस प्रकार उसे जाने से रोकता है "को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते" शकुतला घूमकर उसे देखती, प्यार करती और समझाती हुई कहती है "वत्स किं सहवासपरित्यागिनी मामनुसरसि, त्वा तातश्चिन्तयिष्यति निवर्तस्व तावत् इति रुदती प्रस्थिता"। रोती हुई वह सखी से कहती है "आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपद परित्यजन्त्या दु खेन मे चरणौ पुरत प्रवर्तेते' वह बलात् अपने आसुओ को रोकती है पर हृदय से उमडकर आसू उसके नेत्रो मे भर जाते है जिससे वह गन्तव्य मार्ग को अच्छी तरह देख नही पाती। उसकी इस दयनीय स्थिति को देखकर महर्षि कहते है '...पक्ष्मणानयनयो" शकुन्तला पिता से लिपट कर कहती है 'कथमिदानी तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवित धारयिष्ये" वह सखियो से कहती है "हला द्वे अपि मा सममेव परिष्वजेथाम्"। पिता को विरह विह्वल देखकर वह कहती है तपश्चरणपीडित तातशरीरम्, तन्मातिमात्र मम कृत उत्कण्ठस्व' इस पर महर्षि दीर्घ श्वास लेकर केवल इतना ही कह पाते हैं—'शममेष्यति मम शोक कथ नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्। उटजद्वारविरूढ नीवारबलिं विलोकयत"। चतुर्थ अक का यह वात्सल्य विप्रलम्भ काव्य क्षेत्र मे अनुपम है। अतएव चतुर्थ अक इस नाटक का प्राण समझा जाता है।

हास्य रस—अभिज्ञान शाकुन्तल मे शिष्ट एव परिष्कृत हास्य की भी सुन्दर योजना हुई है, और इन हास्य प्रसगो का मुख्य श्रेय विदूषक को ही है। विदूषक राजा के

मृगया व्यापार से बहुत श्रान्त हो गया है। न उसे अच्छा खाना मिलता है न पीना न कुछ मनोरञ्जन का साधन है और न विश्राम का। घोडे के पीछे दौडते दौडते उसका शरीर शिथिल पड गया है, रात को भी आराम से सो नही पाता। इतना ही नही तब तक 'गडस्योपरि पिटक सवृत्त" क्योकि मेरे ही दुर्भाग्यवश राजा को शकुन्तला दिखलाई पड गई है। अत अब वह राजधानी को लौटने का नाम भी नही लेता—'तपस्व कयका शकुतला ममाधन्यतया दर्शिता, साम्प्रत नगरगमनाय मन कथमपि न करोति" तब वह एक उपाय सोचता है 'भवतु, अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि"। इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थित"। राजा के यह पूछने पर 'कुतोऽय गात्रोपघात" वह तुरन्त उत्तर देता है 'कुत किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारण पृच्छसि" किन्तु जब राजा कहता है कि मैं तुम्हारा मतलब नही समझा, साफ कहो, क्या बात है ? तब पुन वह और एक पहेली सुना देता है—"यद्वेतस कुब्जलीला विडम्बयति तत्किमात्मन प्रभावेण ननु नदीवेगस्य ?" राजा इतनी बात कहकर फिर शकुन्तला के विषय मे सोचने लगता है। तब विदूषक उसकी ओर देखकर कहता है 'अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये मया रुदितमासीत् ?" अस्तु राजा से छुट्टी पाकर जब वह जाने लगता है तब राजा कहता है।'विश्रान्तेन भवता ममाप्येकस्मिन्ननायसे कर्मणि सहायेन भवितव्यम" विदूषक राजा का अभिप्राय तो समझ गया था किन्तु वह उसे तुरन्त उत्तर देता है "कि मोदकखादिकायाम् ? तेन ह्यय सुगृहीत क्षण" क्या लड्डू खाने मे आपकी सहायता करूँ, तब तो यह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार है। जब सेनापति राजा से पुन शिकार खेलने का प्रस्ताव करता है तब वह कहता है—अरे जा, तू खेल शिकार, तुझे कोई बूढा रीछ खा जायेगा। राजा अब शिकार नही खेलेगे "अत्र भवान् प्रकृतिमापन्न, त्व तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।" जब राजा उससे शकुन्तला की प्रशसा करता है तब वह कहता है, कि आपकी यह इच्छा तो ऐसी ही है जैसी कि किसी पिण्डखर्जूर खा-खाकर छके हुये व्यक्ति की इच्छा खट्टी इमली खाने की होती है "यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्"। जब विदूषक राजा से पूछता है कि शकुन्तला का दृष्टिराग उस पर कैसा है तब राजा विस्तारपूर्वक उसके भाव प्रदर्शन एव उसकी अपने प्रति चेष्टाओ का वर्णन करता है जिसे सुनकर वह कहता है, कि—नही तो क्या, वह आपको देखते ही आपकी गोद मे आ बैठती ? "न खलु दृष्टामात्रस्य तवाङ्क समारोहति" राजा ने सभी परिजनो को जब अपने पास से हटा दिया और अकेला रह गया, तब वह कहता है, अच्छा हुआ आपने सभी मक्खिया उडा दी "कृत भवता निर्मक्षिकम्"। जब राजा कहता है कि यदि तुमने दर्शनीय व्यक्ति को नही देखा तो तुम्हे नेत्र पाने का कोई फल न मिला "अनवाप्तचक्षु फलोऽसि" तो वह तुरन्त कह देता है "ननु भवानग्रतो मे वर्तते" वह मन मे सोचता है कि मैं इसे शकुन्तला की बात चलाने का अवसर ही न दूँगा किन्तु जब राजा उसे यह विश्वास दिला देता हे कि वह भी मुझ पर अनुरक्त है और क्षत्रिय कन्या होने के नाते मेरे द्वारा विवाह योग्य भी है, तो

विदूषक कहता है कि यदि ऐसा है तब तो आप उसे तुरत प्राप्त करिये कही ऐसा न हो कि वह किसी चिकनी खोपडी वाले तपस्वी के हाथ पड जाय "तेन हि लघु परित्रायतामेना भवान् । मा कस्यापितपस्विन इङ गुदीतैलचिक्कणशीषस्य हस्ते पतिष्यति"। राजा के प्रणय प्रसग को सुनकर वह कहता है कि मुझे तो ऐसा लगता है कि आपने इस तपोवन को भी प्रमोद उद्यान बना डाला है "कृत त्वयोपवन तपोवन मिति पश्यामि ।" राजा जब ऋषियो की प्रथना पर तपोवन मे राक्षसो के वध के लिए जाने लगता है तब वह विदूषक के कहता है, कि क्या तुम शकुन्तला को देखना चाहते हो तो विदूषक कहता है कि पहले तो मेरी समुद्र के समान बडी इच्छा थी, पर अब तो राक्षस वृतान्त से उनमे से एक बूँद भी शेप नही रह गई है। "प्रथम सपरीवाहमासीद् इदानी राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषित ।" जब राजा उससे पूछता है कि इधर तो माता जी ने बुलाया है और उधर ऋषियो ने आश्रम मे बुलाया है अब मैं क्या करूँ किधर जाऊँ ? विदूषक कहता है कि अब तुम त्रिशङ कु की तरह बीच मे ही लटके रहो "त्रिशङ्कुरिवा तराले तिष्ठ ।"

पञ्चम अक मे जब राजा विदूषक को हसपादिका को समझाने के लिये भेजता है तब वह कहता है कि वह मेरी चोटी पकड कर दासियो से मुझे बहुत पिटवायेगी, और त्रियाजाल मे ऐसा फँसायेगी कि मैं कभी छूट न पाऊँगा "गृहीतस्य तया०"। षष्ठाङ्क मे काम पीडित राजा जब कहता है कि कामदेव अब मुझ पर आम्रमञ्जरी रूप बाण छोडना चाहता है तो विदूषक डण्डा लेकर दौडता है और कहता है—आप चिन्ता न करे, मैं इस कामबाण को तो अभी तोड देता हू । राजा कहता है, रहने दीजिये आपका ब्रह्मतेज देख लिया "भवतु दृष्ट ब्रह्मवचसम ।"

विदूषक स्वभावत पेटू होते है, वे सदा खाने पीने की बात करना चाहते हैं, अतएव जब राजा शकु तला वियोग मे उन्मत्त सा होकर वही सब बाते करता चला जा रहा है तब वह सहसा कह उठता है—अरे मुझे तो भूख खाय जा रही है, "कथ बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि"। जब राजा शकुन्तला के अधूरे चित्र मे मृग नदी आदि और बनाना चाहता है तब वह कहता है कि अब यह लम्बी दाढी वाले तपस्वियो का चित्र बनाकर इस सुन्दर चित्र को बिगाड ही देगा। "पूरितव्यमनेन चित्रफलक लम्बकूर्चाना तापसा कदम्बै"। मातलि द्वरा पकडे जाने पर भी वह अपना हास्य नही छोडता और कहता है—अरे यह कोई मुझे मरोड कर ईख की तरह तीन टुकडे किये देता है। मुझे इसने ऐसा पकड रखा है कि जैसे बिल्ली चूहे को पकड लेती है "एष मा कोऽपि" विडालगृहीतो मूषिक इव"। राजा को मातलि का स्वागत करते देखकर वह कहता है कि जिसने मुझे बलि पशु की तरह मसल कर मारा था उसका ही यह स्वागत कर रहे हैं ? "येनाहमिष्टिपशुमार मारित"। इसी प्रकार जब धीवर छूट जाता है तब वह कोतवाल पर करारा व्यङ्ग्य करता हुआ कहता है—कहिये मेरी अजीविका कैसी है ? "कीदृशो मे आजीव"।

वीर रस—शृङ्गार-रस प्रधान इस नाटक मे वीर रस तो कम ही है, तथापि

जहाँ कही भी यह आया है उत्तमतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ है। द्वितीयाङ्क मे "अध्याक्रान्ता वसनिरमुना" 'नैतच्चित्र यदयमुदधिश्यामसीमा धरित्रीम' इन श्लोको मे राजा की वीरता और उसके स्वग तक फैले यश का वणन किया गया है और उसे इन्द्र के समकक्ष माना गया है। तृतीयाङ्क मे "का कथाबाण सन्धाने" द्वारा उसकी वीरता का फल बतलाया गया है। पञ्चम अक मे अवश्य यह रस अधिक स्थान पा सका है। यहा राजा और शाङ्ग रव के वाग्युद्ध मे दोनो को धमवीर के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। दोनो ही अपने अपने धम और कतव्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध एव निर्भीक होकर सामने आ गये है। धमवीर शाङ्ग रव ने जब यह देखा कि यह शकुन्तला को स्वीकार नही कर रहा है तो वह कहता है कि तब क्या आप धम से विमुख हो रहे हैंयाअपने द्वारा किये गये काम से विमुख हो रहे हैं? यदि ऐसा ही है तो कोई आश्चर्य नही, ऐश्वय मदमत्त लोगो मे ऐसे ही विकार उत्पन्न होते हैं। जब राजा कुछ नही बोलता तब वह कहता है वस्तुत तुम एक डाकू हो और तुम उस मुनि का अपमान कर रहे हो जिसने अपने चुराये हुये धन को चोर को ही सौप दिया है 'किं कृतकाय द्वेष" "पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन"। जब आश्रम की घटना सुनाने पर भी वह शकु तला पर विश्वास नही करता और उसे पुश्चली घोषित करता है तथा अपने को धमवीर प्रमाणित करता है तब क्रोधित होकर शाङ्ग रव कहता है जो लोग परातिसन्धान को विद्या की तरह पढते हैं सबको धोखा देते है उनकी बात कैसे सत्य मानी जाय। राजा कहता है अच्छा मै ऐसा ही सही पर इसे धोखा देकर मुझे क्या मिलेगा? शाङ्ग रव क्रुद्ध होकर तुरन्त उत्तर देता है विनिपात' अर्थात नरक मिलेगा। जब वह गौतमी पर भी "स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु" कहकर आरोप लगाता है तब क्रुद्ध शाङ्ग रव उसे छली कपटी धूत आदि कहता है। इस प्रकार इस वाग्युद्ध मे धमवीर ही प्रमुखत प्रस्फुटित हुआ है। वस्तुत नाटक मे प्रत्यक्ष युद्ध कही नही होता, केवल युद्ध का फल मात्र बता दिया है और राजा की वीरता की प्रशसा कञ्चुकी ऋषि कुमार मातलि आदि के द्वारा करायी गई है। राक्षसो और दैत्यो के बध मे भी राजा की वीरता का उल्लेख है। इस प्रकार का ही वीर रस इसमे अग रूप मे अभिव्यक्त हुआ है।

रौद्र रस—इस रस की पूण निष्पति तो कही नही हुई है। एक दो स्थानो पर क्रोध भाव और आक्रोश भावो की व्यञ्जना हुई है। क्रोध भाव—आ अतिथिपरिभाविनि। विचिन्तयन्ती आदि मे तथा राजा के प्रत्याख्यान से अपमानित शकुन्तला की उक्तियो मे आक्रोश भाव व्यञ्जित हुआ है, "अनाय! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि" 'क इदानीमन्यो धमकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते" इत्यादि।

भयानक रस—इसके शकु तला मे केवल तीन स्थान हैं—"ग्रीवाभङ्गाभिरामम्" जहाँ भयभीत मृग का चित्रण, "तीव्राघातप्रतिहततरु" जहाँ आश्रम मे प्रविष्ट होते

हुये हाथी का चित्रण है तथा "सायन्तने सवनकर्मणि" तृतीयाङ्क मे जहाँ राक्षस भयानक रूप मे यज्ञ वेदी के चारो ओर मँडराने लगते है।

अद्भुत रस—कथानक के बीच मे कुछ स्थल अदभुत रस के देखे जाते हैं जैसे "दुष्यन्तेनाहित तेज"। चतुर्थ अक मे जहा आकाशवाणी द्वारा शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना दी गई है। शकुन्तला की विदाई के समय वृक्षो द्वारा वस्त्राभूषण देना क्षौम केनचिदिन्दु पाण्ड" पञ्चम अक मे, मेनका द्वारा शकुन्तला को उठा ले जाना "स्त्रीसस्थानम" इन्द्रलोक से लौटते समय आकाश से पृथिवी का वणन "शैलानाम-वरोहतीव" मारीचाश्रम मे तपस्यालीन मुनि का वणन "वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्ति" और "प्राणानामनिलेन' अपराजिता नाम औषधि का सर्प बनकर काटना (सप्तम अक) भरत द्वारा सिंह शावक के दाँत गिनना, राजा का मातलि के साथ इन्द्रलोक का आरोहण आदि स्थलो पर यह रस अभिव्यक्त हुआ है।

वात्सल्य—सप्तमाङ्क मे यह रस उस समय अभिव्यक्त होता है जब राजा सर्वदमन को देखकर उसको प्यार करने के लिए तथा गोदी मे उठाने के लिए उत्सुक हो जाता है। उसकी अकारण हँसी एव तोतली बोली पर मुग्ध होता है "आलक्ष्य-दन्तमुकुलान्' "यस्यायमङ्कात् कृतिन प्ररूढ" आदि स्थलो पर वात्सल्य देखा जाता है।

शान्त रस—सप्तमाङ्क मे मारीचाश्रम के वणन मे यह रस अभिव्यक्त हुआ है। राजा वहा पहुँच कर कहता है कि यह स्थान स्वग से भी अधिक शान्त एव सुखद है, ऐसा लगता है कि मै मानो अमृत कुण्ड मे स्नान कर रहा हू। "स्वर्गा-दधिकतर रमणीयम्" अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि। इसी प्रकार "प्राणानामनिलेन" "प्राहुर्द्वादिशधा" 'वाल्मीकाग्रनिमग्नमूर्ति' आदि श्लोको मे भी यह रस अभिव्यक्त हुआ है।

इस प्रकार शकुन्तला मे प्राय सभी रसो की योजना हुई है। पर ये सब रस सम्भोग शृङ्गार के अग रूप मे अभिव्यक्त होकर उसकी ही पुष्टि करते हैं।

कालिदास की नाट्यकला की विशेषताएँ

वस्तु योजना—

शाकुन्तल का कथानक पौराणिक आधार को लेकर चलता है। इसका प्रति-पाद्य विषय शृङ्गार है। कवि का नाट्य कौशल कथावस्तु को सजाने मे दशनीय है। कवि ने अपने तीनो ही नाटको मे प्राय पहले नायिकाओ की दयनीय स्थिति दिखला-कर और नायक द्वारा इन्हे उपकृत कराकर, उन्हे नायक की ओर आकृष्ट कराया है। उनके दो नाटको मे तो नायिकायें प्रथमत नायको की ओर आकृष्ट होती हैं पर शाकुन्तल मे प्रथमत नायक को नायिका की ओर आकृष्ट दिखलाया गया है। सभोग और विप्रलम्भ दोनो ही मे नायिका की अपेक्षा नायक को ही अधिक स्थान दिया गया है।

नाटक का प्रथमाङ्क मृगयादृश्य से आरम्भ होता है जिसमे नाटकीयत्व की अपेक्षा वणन कुशलता और कवित्व ही अधिक है । कण्वाश्रम मे पहुचकर दुष्य त जहाँ एक ओर तीन युवतियो के शुद्धा तदुलभ अनुपम सौ दर्य, आमोद-प्रमोद सग्ल स्वभाव एव सौकुमार्य को देखकर चकित होता है वहा वह दूसरी ओर शकु तला के खेदजनक आश्रमजनोचित काय व्यापार को देखकर मन ही मन भाग्य के वैचित्र्य पर आश्चय भी प्रकट करता है और महर्षि कण्व पर खिन्न होता है । भ्रमरबाधा से पीडित शकु तला की रक्षा क लिये उपस्थित होकर वह सवप्रथम उसे उपकृत करता है, जिसके लिये सखियाँ "मोचितास्यनुकम्पिनार्येण अथवा महाराजेन" कहकर शकुन्तला की ओर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हैं । इस प्रकार कवि ने सवप्रथम नायक मे ही पूर्व-राग दिखलाया है । तदनु नायिका मे भी रागजनित विकार का चित्रण, उसके द्वारा यह कहलाकर कराया है "कि नु खल्विम जन प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि सवृत्ता ।" यद्यपि प्रथमाङ्क का यह दृश्य नायिका के भोलेपन तथा नायक के कामुकत्व को ही प्रकट करता है तथापि कवि ने बडे कौशल से उसके धीरोदात्तत्व के रक्षण के लिये पहले तो उसके मुख से "सता हि स देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणम त -करणप्रवृत्तय " कहलाया है और तदनु दुर्वासा के शाप की कल्पना कर, उसे कामुकत्व दोष से बचाया है । फिर भी वह उसे राजजनोचित रसिकता से पूणत बचा नही पाया है क्योकि वह अपने को दुष्यन्त का राजपुरुष कहकर उन्हे धोखा देने का प्रयास करता है । पर कालिदास के नायक के लिये इतनी रसिकता तो क्षम्य ही है, क्योकि रसिको मे शृङ्गार फलता फूलता ही रहता है ।

इसी प्रसग मे दुष्यन्त और शकुन्तला के अलग होने का दृश्य तो बडा ही सु दर है । इससे कवि ने शकु तलागत औत्सुक्य की सरल एव स्वाभाविक व्यञ्जना कराई है । यद्यपि यहा नायिका के भाव प्रदशन का कोई स्पष्ट सकेत नही मिलता फिर भी द्वितीया ङ्क मे शकु तला के अनुराग व्यञ्जक भावो की यह कहकर मधुरा व्यञ्जना करा ई है "दर्भाङ्कुरेण चरण क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा" । इससे प्रभावित होकर राजा, कतव्यपालनाथ जाता हुआ भी अनुभव करता है 'गच्छति पुर शरीर पश्चाद्धावत्यसस्तुत चेत ।"

यद्यपि द्वितीयाङ्क मे राजा शकुन्तला की मानसिक एव शारीरिक चेष्टाओ का वणन कर उसका अपने प्रति अनुराग एव अपना भी उसके प्रति अनुराग विदूषक के सामने प्रकट कर देता है तथापि वह अन्त मे बडे कौशल से अपनी इस प्रणयाभिव्यक्ति को निरस्त भी कर देता है । वस्तुत इस अक मे क्रियाशीलता की कमी है । इसे प्रथम व तृतीय अको के बीच एक विष्कम्भक ही समझना चाहिये ।

तृतीयाङ्क मे प्रथम तो नायक नायिका को काम सन्तप्त दिखलाया गया है पर अन्त मे दोनो का मिलन कराकर सभोग की चरम परिणति दिखला दी गई है। परम्परा युक्त प्रेम पत्र यहा भी लिखवाया गया है पर इस प्रेमपत्र को पाने के पूर्व ही नायक वहाँ पहुच जाता है और नायिका भी आत्म समपण कर देती है। फलत कुछ समय के लिये तपोवन, प्रेमदवन बन जाता है। पर कालिदास जैसे नाट्य कुशल कवि ने यहाँ भी दोनो मे औत्सुक्य बनाये रखने के लिये तथा औचित्य की रक्षा के लिए गौतमी को बीच मे लाकर खडा कर दिया है जिसने दोनो प्रेमियो को अलग अलग कर दिया है। इस अवसर पर उस मुग्धा नायिका को, जो कि अपना जीवन वृत्तान्त भी लज्जावश नही बता सकती थी, वाकपटु और सरसा मनोरञ्जनशीला बना दिया है। जो प्रियवदा को बात बात पर झिडकती और गौतमी से शिकायत करने भागती थी, उसका वाक चातुय एव प्रौढा जैसी मुखरता दर्शनीय है कि गौतमी के आने का सकेत पाकर वह राजा से तुरन्त विटपान्तरित हो जाने को कहती है और लतावलय को पुन बिहार के लिये आमन्त्रित कर विदा लेती है। इस अक का उत्तरोत्तर विकासशील प्रणय अति मधुर और स्वाभाविक है। वास्तव मे नाटक का प्रतिपाद्य शृ गार तो यही समाप्त हो जाता है और सामान्यत नाटक की समाप्ति हो जाती है।

किन्तु कालिदास के प्रेम का आदश उसे और आगे खीच ले जाता है, फलत कथानक आगे बढने लगता है। कालिदास के आदर्श प्रेम की चरमावधि ऐन्द्रिय तृप्तिमात्र नही है, अपितु उनके प्रेम का उद्देश्य विवाह है जिसमे दो सरस अनुरागी हृदयो का आजम अटूट प्रेमपाश बन्धन होता है और जिसकी चरम परिणति सन्तानोत्पत्ति मे होती है, जहाँ पहुँचकर वह क्षीण नही अपितु अधिक गम्भीर और आजन्म स्थायी बन जाता है, जसा कि उसने रघुवश मे स्वय कहा है 'विभक्त मप्येक सुतेन तत्तयो परस्पस्योपरि पयचीयत"। अपने इसी आदश प्रेम की रक्षा के लिय उसने समाप्त प्राय भी कथासूत्र को बडे कौशल के साथ आगे बढाया है और दुर्वासा के शाप प्रसग से कथानक को जोड दिया है। यह है कवि का नाट्यकौशल और उसकी प्रतिभा तथा कल्पनाशक्ति का निदशन।

चतुथ और पञ्चम अको का विष्कम्भक वस्तु योजना कौशल का ज्वलन्त उदाहरण है। यह कथानक मे आमूलत परिवतन कर देता है और भावी विपत्ति की सूचना देकर कथानक को आगे बढाने मे सहायक बनता है। चतुर्थाक मे कण्व शिष्य की उक्ति मे प्रात कालीन सूय चन्द्रोदयास्त वर्णन, मानव भाग्य की आर सकेत करता हुआ बतलाता है कि ससार परिवतनशील है, जीवन या प्रणय आनन्दमय ही नही है, इसकी सफलता के लिय त्याग और तप की अनिवायता है। इसी के लिये कवि ने दुर्वासा शाप की योजना पर अपनी प्रखर कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। इस प्रसग से कवि नायिका के भावी वियोग की सूचना देकर बडे कौशल से तुरन्त नायिका के प्रणय को प्रस्तुत कर देता है। शकुन्तला के विदाई के अवसर पर अभिव्यक्त कवि प्रतिभा और भावुकता दशनीय है। पितृजनो, परिवारीजनो एव मित्रजनो के हृदय की भावनाओ के चित्रण मे, अकृत्रिम स्नेह की व्यञ्जना मे, तत्कालीन सामाजिक एव नैतिक आदर्शों के निरूपण मे अन्त तथा बाह्य प्रकृति के चित्रण मे, पशु पक्षियो एव लता-वृक्षो की मूकवेदना की अभिव्यक्ति मे वस्तुत यह अक शब्द निर्मित मानव हृदय ही है। यद्यपि यह अक करुणाप्लावित है तथापि

चक्रवाकी को लक्ष्य कर नायिका और उसकी सखियो की उक्तियो ने शृङ्गार को अक्षुण्ण बनाये रखा है। यह है कवि का नाट्यकौशल।

पञ्चमाङ्क का हसपदिका प्रसग नायिका के भावी प्रत्याख्यान की सूचना देकर कथानक को चरम सीमा पर पहुचा देता है। चतुर्थाङ्क मे जितना कवित्व और कारुणिकता है पञ्चमाङ्क मे उतनी ही नाटकीयता एव ओज है। यहाँ स्त्रियोचित स्वाभिमान भी राजोचित व्यवहार के आगे निष्फल हो जाता है, ऋषिजनो का निग्रहभय भी क्षीण हो जाता है, और शकुन्तला को उत्तेजना उसकी निसहाय स्थिति की परिचायिका मात्र बनकर रह जाती है। अन्त मे दिव्य ज्योति उसे उठाकर, मारीचाश्रम मे इसलिए पहुँचा देती है कि वहा रहकर वह सकृद् दर्शनजन्य रह सगति के प्रायश्चित के लिए विरहाग्नि से तप तप कर निखरे हुए प्रेम के स्थायित्व को प्राप्त कर सके।

षष्ठाङ्क वस्तुत तत्कालीन सामाजिक स्थिति का निदशन है। धीवर प्रसग लोक जीवन का वास्तविक एव स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करता है। अकारण प्रत्याख्यान के फलस्वरूप दुष्यन्त मानसिक वेदना का अनुभव करता है। कवि ने यहाँ प्रणय द्वद्व का भी सकेत दिया है, पर वसुमती को रगमञ्च पर नही आने दिया है, सम्भवत यह इसलिये कि वह नायिका के द्वद्व को नियति द्वद्व घोषित करना चाहता है और शकुन्तला के शुद्धान्त दुलभ सौदर्य को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है। धनमित्र के प्रसग से राजा का, शकुन्तला के प्रति प्रेमाग्रह हटकर सन्तान के प्रति मुड जाता है जो कि कवि प्रेम का आदर्श है। इसी समय मातलि का प्रवेश करुणा एव चिन्ता के इस दृश्य का पटाक्षेप कर दुष्यन्त को शान्ति लोक मे पहुचा देता है। यद्यपि इस अक का विशेष महत्व सामाजिक चित्रण मे है तथापि यह नाटकीय कथानक को आगे बढाने मे भी सहायक है। यह पञ्चमाक के प्रत्याख्यान द्वारा अवरोह की चरम सीमा को पहुचे हुए काय व्यापार को प्रत्याशा की ओर उन्मुख कर सप्तमाङ्क की पृष्ठभूमि तैय्यार करता है, नायक के उत्कट विप्रलम्भ का साधन बनकर इस उक्ति की पुष्टि करता है कि 'न बिना विप्रलम्भेन सभोग पुष्टिमहति।" अत षष्ठाङ्क भी उतना ही प्रयोजनीय महत्व रखता है जितना कि अन्य अक।

सप्तमाङ्क की घटना भूलोक से ऊपर पवित्र मारीचाश्रक मे मुख्यतया घटित होती है, नायक, पत्नी और पुत्र से मिलकर महर्षि का आशीर्वाद प्राप्त कर पूण सफलता प्राप्त करता है। कवि ने जैसे पवित्र वातावरण मे नाटक का आरम्भ किया था वैसे ही पवित्रतम एव सुखद वातावरण में उसकी समाप्ति दिखलाकर इसे सुखान्त ही नही पूण सुखान्त बना दिया है। कवि की नाट्यकला अद्वितीय है।

अतद्व द्व—अन्तद्व न्द्व भी नाटक की एक विशेषता है। यह द्वन्द्व कही तो प्रणय द्वन्द्व के रूप मे और कही मानसिक द्व द्व के रूप मे व्यक्त किया जाता है। प्रणय द्वद्व का सकेत तो षष्ठाङ्क मे दिया गया है पर मानसिक द्वन्द्व प्रथमाङ्क मे पहले तो राजा के हृदय मे उठता है जबकि वह सोचता है कि शकुन्तला मेरे द्वारा उपभोग्य है कि नही अथवा पञ्चमाङ्क मे जब शकुन्तला आपन्नसत्त्वा होकर राज दरबार मे पहुँचती है तो राजा सोचता है "भ्रमर इव विभाते कुदमन्तस्तुषार न च परिभोक्तु नैव शक्नोमि हातुम्।" पर यह अन्तद्वद्व शकुन्तला के हृदय मे उस समय उठता है जब कि वह प्रथमाङ्क मे एक ओर अपने तपस्विजनोचित सस्कार, मुग्ध स्वभाव एव

कन्याजनोचित लज्जा आधिक्य को और दूसरी ओर हृदय मे उठने वाले प्रणयवेग के तूफान के बीच में दोलायमान होने लगती है और प्रणयवेग को दबाने का असफल प्रयास करने लगती है। ऐसी ही आन्तरिक उथल पुथल उसके हृदय मे काम पत्र लिखते समय भी होती है।

सौन्दर्य एव प्रेम चित्रण

कालिदास की दृष्टि मे सौन्दय के लिए बाह्य प्रसाधनो की आवश्यकता नही 'किमिव हि मधुराणा मन्डन नाकृतीनाम्।" सहज सौन्दय सभी अवस्था मे सुन्दर और मनोहर लगता है 'अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषणाम'। रूप की रमणीयता अक्लिष्ट कान्तिमत होने मे है, कृत्रिम प्रसाधनो मे नहीं —"इय-मधिकमनोज्ञावक्क लेनापि तन्वी, "इद किलाव्याजमनोहर बपु"। प्राकृतिक सौन्दय ही वास्तविक सौन्दय है। अतएव वह शकुन्तला को एक पुष्पित लता से उपमित करता है "अधर किसलयराग"। क्षण-क्षण मे नवता धारण करने वाली प्रकृति मे जो माधुय सौन्दय और रमणीत्व है मानव सौन्दय उसी का एक अग है। ऐसा अकृत्रिम सौन्दय पाप के लिए नही होता अपितु वह शील और सदाचार का साधन बनता है—"यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच (कु० सम्भव) अपितु "यात्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"स्वभाव सुन्दर के लिए बाह्य अलकरण व्यथ है। अतएव वह विक्रमोवशीय मे कहता है 'आभरणस्याभरण प्रसाधनविशेसु प्रसाधन विशेष उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमान वपुस्तस्या।" यही कारण है कि न केवल प्रकृति ही अपनी कन्या शकुन्तला को शिरीषपुष्पो एव पल्लवों से सजाती है, दुष्यन्त भी उसे "कृत कर्णार्पितब धनसखे" कहकर प्राकृतिक प्रसाधनो से ही सजाना चाहता है और वह प्रकृति कन्या स्वत भी तो "अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै" ही है तथा अक्लिष्ट तरुपल्लव लोभनीय है। ऐसी अकृत्रिम सौन्दर्यशालिनी रमणी वस्तुत केवल रमण ही की वस्तु नही है अपितु 'गृहणी सचिव सखी मिथ प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" है। अतएव महर्षि कण्व इसे सुगृहिणी बनने का उपदेश देते है 'शुश्रूषस्व गुरुन्' स्त्री का वास्तविक सौन्दय सच्चरित्रता है। अतएव भगवती पार्वती ने "इयेष सा कर्तु मवन्ध्यरूपता समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन" क्योकि 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।" स्त्री सौन्दय मे लज्जाशीलता आदि गुणो का होना अनिवाय है, अतएव "वाच न मिश्रयति अभिमुखे मयि सवृतमोक्षणम्" आदि गुण शकुन्तला मे देखे जाते है। जहाँ स्त्री सौन्दय मे सुकोमलता आदि गुण आवश्यक हैं वहा पुरुष सौन्दय मे हृष्टता पुष्टता व्यायामशीलता आदि गुण आवश्यक हैं, अतएव दुष्यन्त मे "अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम्' आदि गुण देखे जाते हैं। मानव सौन्दय ही नही कवि ने पशु पक्षियो और लतावृक्षादिको मे भी सौन्दर्य देखा है "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्, मुक्तेषु रश्मिषु निरायत पूवकाया, तीव्राघातप्रहितरु इत्यादि इसके निदर्शन है।

कवि के प्रेम का आदर्श उच्चकोटि का है। चञ्चल ऐन्द्रिय प्रेम पर उनकी आस्था नही। शारीरिक सौन्दय ही स्त्रियो का परम गौरव एव चरम सौन्दर्य नही और न वह प्रेम का कारण ही है। यदि वह ऐसा होता तो भगवती पार्वती को घोर तप नहीं करना पडता। सच्चा प्रेम त्याग और तप से ही अर्जित किया जा सकता है "अवाप्यते वा कथ मन्यथा द्वय तथाविध प्रेम पतिश्च तादृश" कु स। कर्त्तव्य की उपेक्षा कर जो व्यक्ति कामवश हो जाता है वह दण्डनीय है। काम

कतव्य का विरोधी नही, और जहा वह ऐसा बन जाता है वहा वह भस्म कर दिया जाता है। शकुन्तला ने कत्तव्य की उपेक्षा की थी अतएव कवि ने उसे असहनीय विरहाग्नि मे वर्षों तक तपाया, प्रायश्चित पूरा होने पर ही उसे दुष्यन्त से मिलने दिया। इस प्रकार कवि ने काम की अपेक्षा कत्तव्य को प्राधान्य दिया और प्रेम का मूलभूत कारण, शारीरिक सौन्दय को न मानकर तप, त्याग, और पूव जन्म के सस्कार को माना है। "भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि "मनो हि जन्मान्तर। सङ्गतिज्ञम" रघु०। कवि की मान्यता है कि ऐसे उदात्त प्रेम की इतिश्री इसी जन्म मे नही होती अपितु 'सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमास मश्येति भवान्तरेष्वापि" "भूयो यथा मे जनान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोग"। यह है कालिदास का आदश प्रेम, उनकी सभी नायिकाये इसी प्रेम का सम्बल लेकर आगे बढ सकी हैं।

दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम प्रेम बाह्य सौन्दय पर आश्रित था, उसमे विषय वासना का आधिक्य था अतएव वह सफल नही हो सका। पर जबकि दोनो प्रेमियो ने उसे विरहाग्नि और पश्चात्तापाग्नि मे तपा कर खरा बना लिया तब वह सफल हुआ। इसीलिये सप्तमाक मे दुष्यन्त अपने द्वारा प्रत्याख्याता नियम क्षाममुखी धृतैकवेणी वसने परिधूसरे बसाना भी शकुन्तला को प्रेम की साक्षात् मूर्ति के रूप मे देखता है और उसके पैरो पर गिरकर क्षमा याचना करता है। कालिदास का प्रेम, भ्रमर वृत्ति का समथन नही। कवि अनियन्त्रित प्रेम को प्रेम नही मानता। वह प्रेम नही जिसमे कोई बन्धन न हो, कोई नियम न हो, त्याग न हो मर्यादा का पालन न हो। जो प्रेम अकस्मात् नर नारी को एक दूसरे पर मुग्ध करके सयम रहित बना देता है, वह क्षणिक आसक्त भले ही हो प्रेमबद्ध नही हो सकता।

कालिदास ने प्रेम की परिणति दाम्पत्य प्रेम मे और अन्तत सन्तानोत्पत्ति मे मानी है भ्रमर वृत्ति मे नही। यही कारण है कि जो शकुन्तला दुष्यन्त के लिये पहले केवल अनाघ्रात पुष्प थी, वह तृतीयाक मे कुलप्रतिष्ठा बनी और सप्तमाक मे वही अगाध प्रेम की प्रतिमा बनी। दुष्यन्त के शब्दो मे ही वह दाम्पत्य प्रेम के आदश की उद्घोषणा कराता हुआ अपना मन्तव्य प्रकट करता है 'कुमुदान्येव शशाङ्क' दाम्पत्य प्रेम ही वस्तुत प्रेम है, परस्त्री सम्पक सदा हेय है। उनकी कृतियो मे प्रेम का यही आदश रूप सवत्र देखा जाता है।

प्रकृति चित्रण

काव्य और नाटको मे प्रकृति चित्रण भी एक अनिवाय विशेषता है। कालिदास का प्रकृति प्रेम, उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और उनका प्रकृति चित्रण वैशिष्टय तो सवविदित ही है, और इस पुस्तक के "कालिदास का प्रकृति चित्रण" शीषक मे उसे विस्तारपूवक लिखा भी जा चुका है, पर उनकी एतत्सम्बन्धिनी सर्वोत्तम विशेषता, अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति के समन्वय मे देखी जाती है। कालिदास ने स्थान-स्थान पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि जो घटना परिस्थितिवश मानव हृदय मे हो रही है वैसी ही घटना बाह्य प्रकृति मे हो रही है क्योकि प्रकृति मानव की चिरसगिनी ही तो रही है। दोनो मे अटूट सम्बन्ध ही नहीं अपितु तादात्म्य भी रहा है, इसीलिये तो यह दिखलाया गया है कि राजा शकुन्तला से प्रेम कर उसे भूल जाता है और उधर प्रस्तावना के श्लोक मे भ्रमर शिरीष पुष्प का स्वाद लेकर उसे भूल जाता है—"ईषदीषच्चुम्बितानि"। चतुथ अक मे

शकुन्तला पति वियोग से खिन्न है और उधर चन्द्रमा के अस्त हो जाने से कुमुदवती की दशा दयनीय हो गई है 'अन्तर्हिते शशिनि" । विदाई मे समय मे शकुन्तला, उसके परिवार के सभी जन दु खी हैं और इसी अवस्था मे वे उसे विदा कर रहे है । उधर वृक्ष भी उसे वस्त्राभूषण देकर कोकिल के शब्दो मे सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे विदा दे रहे है । इधर सखिया रो रही है तो उधर लताये आँसू बहा रही है । इधर आश्रम को छोडते हुए शकुन्तला के पैर आगे नही बढते उधर मृगियो ने घास खाना और मयूरो ने नाचना बन्द कर दिया है तथा मृगशावक उसका पल्ला पकड कर उसे आगे बढने नही देता । यदि शकु तला प्रिय मिलन के लिए आतुर हे तो उधर चकवी, अपने चकवे से क्षण भर भी अलग नही होना चाहती । षष्ठ अक मे शकुन्तला के वियोग से दु खी राजा ने वसन्तोत्सव रोक दिया है और दु ख मे निमग्न है तो उधर आम्र वृक्षो की चिरनिर्गता भी कलिका पराग धारण नही कर रही है । विकसित होने को प्रस्तुत भी कुरवक कली के रूप मे ही रह गया हे । बसन्त आ जाने पर भी कोकिल ध्वनि कोयलो के गले से बाहर नही आ रही है । कामदेव भी आधा ही बाण निकाल कर फिर उसे तूणीर मे रख रहा है । "चूताना चिर-निगता" । इसी प्रकार प्राय सम्पूण नाटक मे अन्त एव बाह्य प्रकृति मे समन्वय दिखलाया गया है । शेष "प्रकृति चित्रण" शीषक मे देखिये ।

नाटक के मार्मिक स्थल

वैसे तो सम्पूण नाटक ही कालिदास की नाट्य कुशलता का सुन्दर निदशन है फिर भी इसके ये स्थल और भी अधिक रमणीय हैं जिसमे कालिदास की प्रतिभा कल्पनाशक्ति, कवित्व और नाट्य कुशलता मुखरित हो उठी है । प्रथम अक मे भ्रमर-बाधा प्रसग तथा राजा के साथ सखियो का वार्तालाप एव राजा तथा शकु तला का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व । द्वितीयाक मे शकु तला का सौन्दय वणन और विदूषक की उक्तियाँ । तृतीयाक मे दो प्रेमी हृदयो की आतुरता और तदनु मिलन तथा पुन वियोग शकु तला एव सखियो का वाकचातुय । चतुथ अक मे तो सब कुछ आद्योपा त मार्मिक ही है । पञ्चमाङ्क मे शाङ्ग रव और राजा का वाग्युद्ध, षष्ठाङ्क मे धीवर प्रसग तथा राजा का विरह वणन, सप्तमाङ्क मे पुत्र दशन तथा दो बिछुडे हृदयो का सदा के लिए मिलन, यह मुख्य मार्मिक स्थल है ।

भाषा—शकुन्तला की भाषा प्राञ्जल परिमार्जित एव सवथा परिष्कृत है । वह सर्वत्र प्रसादपूण तथा क्लिष्टता एव समास बहुलता अथवा दूरान्वय दोष से रहित है । साथ ही इसमे ऐसे चुस्त एव मुहावरेदार वाक्यो का प्रयोग है जो कि शिक्षाप्रद एव मार्मिक होने के साथ साथ भाषा मे सजीवता भर देते है । निम्नलिखित वाक्य कितने सशक्त एव परिमित है, ।'को नामाष्णोदकेन ' अयि आत्म गुणावमानिनि ' किमत्र चित्र यदि विशाखे ' नलिनीपत्रान्तरित-मपि " गुवपि विरहदु खम् इत्यादि ।

भाषा की यह दूसरी विशेषता है कि वह सर्व पात्रानुकूल एव वातावरण के अनुकूल है । तपस्वी, आश्रमवासी एव विद्याव्यसनी महर्षि कण्व के ये वाक्य उनके अनुकूल ही है । 'सुशिष्यपरिदत्तेव " धूमाकुलितदृष्टे " तथा हास्यकारी विदूषक के ये वाक्य "यथा कस्यापि " गृहीतपाथेयो भव बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि इत्यादि उसके स्वभाव और वातावरण के अनुकूल है ।

भाषा की सरलता सरसता और मनोरमता के उदाहरणार्थ शाकुन्तल के ये

उदाहरण द्रष्टव्य हैं—"मनोरथाय नाशसे" 'तत्साधुकृतसन्धानम्" 'गच्छति पुर शरीरम" "स्निग्ध वीक्षित " "अनाघ्रात पुष्पम् " 'यो हनिष्यति बध्य त्वाम्" सरसिजमनुविद्धम् इत्यादि ।

कालिदास का भाषा पर असाधारण अधिकार है और उनकी भाषा मे अपूव समाहार शक्ति है वे किसी भाव का लम्बा-चौडा वणन न कर अत्यन्त सक्षिप्त शब्दो मे उस भाव की व्यञ्जना कर देते है—दुष्य त कितने थाडे शब्दो मे अपने आन दातिरेक को व्यञ्जित करता है "अये लब्ध नेत्रनिर्वाणम्" । तापस बालाओ के प्रथम दशन पर वह अपना भाव केवल इन शब्दो मे करता है—"मधुरमासा दशनम,' । इस प्रकार के अ य वाक्य है—भवतीना सूनृतयेब गिरा कृतमातिथ्यम्, श्रुत श्रोतव्यम् पावक खलु वचनोप यास श्रोतव्यमिदानी सवत्तम्" स्वागत मपिलम्भिनो मनोरथस्य" "सशयोच्छेदि वचनम्" इत्यादि ।

भाषा मे सक्षेप और ध्वन्यात्मकता कालिदास की निजी विशेषता है—उनकी शकुन्तला केवल एक छोटे से श्लाक मे ही अपने चिरसञ्चित प्रणय को अभिव्यक्त कर देती है "तब न जाने हृदयम्" । दो हृदयो के मिलन वत्ता त की व्यञ्जना उसने केवल दो श्लोको मे बतला दी है 'अपरिक्षत् कोमलस्य" कि शीतलै " शाप प्रसग का केवल एक श्लोक मे ही समाप्त कर दिया है "विचि तयन्ती" । हस-पदिका प्रसग को भी केवल एक ही श्लोक मिल सका है "अभिनवमधुलोलुपो भवान्" । शकुन्तला के लिये दिये जाने वाले उपदेश मे तथा दुष्य त के स देश मे भी एक एक ही श्लोक मे सब कुछ अभिव्यक्त कर दिया गया है 'शुश्रूषस्व "अस्मान् साधु विचि त्य ।" सखिया अपने व्यथित हृदय को एक दो ही वाक्यो मे प्रकट कर देती है "अय जन कस्य हस्ते समर्पित" "तात ? शकु तलाविरहित शू य तपोवनम् " इसी प्रकार शाकुन्तल मे भाषा की समाहार शक्ति एव व्यञ्जकता सवत्र देखी जा सकती है ।

शैली—कालिदास की वणन शैली भी असाधारण है—उनकी शैली मे सवत्र प्रासादिकता ओजस्विता एव मधुरता के साथ साथ ध्वन्यात्मकता एव वणन कुशलता देखी जाती है । प्रासादिकता के लिये ये श्लोक द्रष्टव्य हैं —भव हृदय साभि-लाषम्" जाने तपसो वीयम" अय स ते तिष्ठति" क्व वय क्व परोक्षम मथः अर्थो हि क न्या ' भवन्ति नम्रास्तरव ," तदेषा भवत । माधुय के लिये ये श्लोक देखे जा सकते है—

इद किलाव्याज "सरजिसमनुविद्धम्" अधर किसलय राग "तव कुसुम-शरत्वम् ।" निम्नलिखित श्लोको मे ओज का प्राधान्य है—का कथावाणस धाने गाह ता महिषा "अध्याक्रान्ता वसति" नैतच्चित्रम्" नियमयसि कुमाग" तीव्राघात" इत्यादि ।

कालिदास के वणन कौशल के लिये इन श्लोको को देखना चाहिये जहाँ उसने घटना विशेष या व्यक्ति विशेष का नातिविस्तृत एव नातिसक्षिप्त अथ च स्वाभाविक एव चित्रोपम वणन किया है और यही शाकुन्तल के सर्वोत्तम स्थल भी है—

१—७, १—८, १—९, १—१४, २—१४, २—१५, ३—६, ३—७, ३—१०, ३—२३, ४—६, ४—५, ६—५, ६—६, ६—९, ६—२५, ७—११, १२, २७, —२१ आदि ।

भाषा की श्री वृद्धि करने एव उसमे चमत्कृति लाने मे अलकारो का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यद्यपि कालिदास अलकारवादी कवि नही है, रससिद्ध कवि है तथापि उनकी रचना क प्रवाह मे जो भी अलकार आय है उनका शाकुतल मे सहज सुन्दर प्रयोग हुआ है। इन अलकारो के प्रयाग म कही भी कृत्रिमता नही है और न अल कारो की भरमार ही है। इन अलकारो के प्रयाग के लिय इसी पुस्तक के "कालिदास की अलकार योजना" नामक शीषक को दखना चाहिये।

सवाद—शाकुतल के सवादो मे सक्षिप्तता के साथ-साथ रोचकता भी है। उदाहरणाथ प्रथमाङ्क का राजा और सखियो का वार्तालाप, द्वितीयाङ्क का राजा और विदूषक का वार्तालाप, तृतीयाङ्क का शकुन्तला के साथ उनकी सखियो का तथा राजा का वार्तालाप देखा जा सकता है—चतुथ अक मे कण्व तथा सखियो का शकुन्तला के साथ सवाद बडा ही शिक्षाप्रद सक्षिप्त एव रोचक है। इसी प्रकार पञ्चमाङ्क मे राजा और शङ्र्गरव का वार्तालाप, षष्ठ में राजा और विदूषक का सवाद भी रोचक है। सभी पात्र अपने-अपने स्वभाव एव वातावरण के अनुकूल वार्तालाप करते हैं। अतएव इनमे स्वाभाविकता भी है। सवाद यद्यपि छोटे-छोटे है तथापि इनमे बडे ही चुस्त वाक्यो का प्रयोग हुआ है।

चरित्र चित्रण—कालिदास की नाट्य कुशलता चरित्र-चित्रण मे देखी जाती है। कवि का चरित्र-चित्रण यद्यपि आदर्शोन्मुख है, तथापि वह सवथा सजीव एव स्वाभाविक है। पर चरित्र-चित्रण के अध्ययन के समय यह भी ध्यान रखना पडेगा कि कवि का उद्देश्य चरित्र-चित्रण नही अपितु रस-व्यञ्जना है। यही कारण है कि इनके पात्रो मे नाटकीय अ तद्व न्द्व का घोर सघष एव पात्रो की मनोवैज्ञानिक दशा का चित्रण इसमे उतनी विशदता से नही मिलता जितना कि अन्यत्र चरित्र प्रधान नाटको मे अथवा घटना प्रधान नाटको मे देखा जाता है। उनके सभी पात्र इस लोक के ही पात्र है और उनका यहाँ यथाथ स्वाभाविक चित्रण है। यह दूसरी बात है कि कवि ने अपने आदश प्रेम की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अर्थात् पार्थिव प्रेम को स्वर्गीय बनाने के लिये यथाथ के मृत्युलोक को स्वग से जोड दिया हो। नाटक के पुरुष पात्रो मे महर्षि कण्व दुष्यन्त, विदूषक एव शाङ्र्गरव तथा स्त्री पात्रो मे शकु तला अनसूया एव प्रियवदा मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कथानक के विकास के लिये कवि ने सानुमती सेनापति कञ्चुकी प्रतीहारी धीवर दुर्वासा आदि गौण पात्रो की भी सृष्टि की है।

इस प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक मे कवि का नाट्य कौशल असा-धारण है।

महाकविकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टि स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुत या हविर्या च होत्री,
ये द्वे काल विधत्त, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहु सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन प्राणवन्त,
प्रत्यक्षाभि प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश ॥१॥

येति-अन्वय—या स्रष्टु आद्या सृष्टि, या विधिहुत हवि वहति, या च होत्री ये द्वे काल विधत्त,, श्रुतिविषयगुणा या विश्व व्याप्य स्थिता, या सर्वबीजप्रकृति इति आहु, यया प्राणिन प्राणवन्त, ताभि प्रत्यक्षाभि अष्टाभि तनुभि प्रपन्न ईश व अवतु ॥

शब्दार्थ—या स्रष्टु आद्या सृष्टि =जो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की सर्वप्रथम सृष्टि है अर्थात् भगवान् शिव की जलमयी मूर्ति, या विधिहुतम् हवि वहति=जो विधि पूर्वक हवन की गई सामग्रियो को देवताओं के पास पहुँचाती है अर्थात् भगवान् शिव की अग्निमयी मूर्ति या च होत्री=और जो कि हवनकर्ता यजमान् स्वरूपा (है) अर्थात् भगवान् शिव की यजमान स्वरूपा मूर्ति ये द्वे काल विधत्त =जो दो मूर्तियाँ समय का विधान करती हैं अर्थात् भगवान् शिव की सूर्य चन्द्ररूपिणी दो मूर्तियाँ, श्रुतिविषयगुणा=श्रवण इन्द्रिय ग्राह्य शब्द रूप गुण की आश्रयभूता, या विश्व व्याप्य स्थिता=जो समस्त विश्व को व्याप्त करके स्थित है अर्थात् भगवान् शिव की आकाशमयी विश्व व्यापिनी नित्य स्वरूपा मूर्ति, याम सवबीजप्रकृति इति आहु = जिसको (ऋषिजन) सम्पूर्ण अन्नादि बीजो की उत्पत्ति स्थान कहते हैं अर्थात् भगवान् शिव की क्षितिमयी मूर्ति, यया प्राणिन प्राणवन्त =जिसके द्वारा प्राणी (चेतन जगत्) जीवन धारण कर सामर्थ्यवान् बनते हैं अर्थात् भगवान् शिव की वायुरूपा मूर्ति, ताभि प्रत्यक्षाभि अष्टाभि तनुभि = इन (उपर्युक्त) प्रत्यक्षत दृश्यमान अष्ट मूर्तियों से, प्रपन्न =समन्वित, ईश =सवशक्तिमान् भगवान् शिव व =आप सब सभ्य सामाजिको की, अवतु= रक्षा करें। अर्थात् जलरूप, अग्निरूप, यजमान रूप, सूर्यरूप, चन्द्ररूप, आकाशरूप, पृथिवीरूप एव वायुरूप अष्टमूर्तियो अथवा स्वरूपो से विशिष्ट अष्टमूर्ति भगवान् शिव सभासदो एव नटादिको की रक्षा करें।

अनुवाद—भगवान् शिव की प्रथम सृष्टिभूत जलमयी मूर्ति, विधिपूर्वक हुत हवनीय पदार्थों को देवताओ के पास ले जाने वाली अग्निरूपा मूर्ति, यजमान रूपा मूर्ति, काल का विधान करने वाली सूर्यचन्द्र रूपिणी दो मूर्तियाँ, आकाशमयी मूर्ति, क्षितिरूपा मूर्ति, एव वायुरूपा मूर्ति इन उपर्युक्त प्रत्यक्ष दृष्ट अष्टमूर्तियो से विशिष्ट अष्टमूर्ति भगवान् शिव (नाटक दर्शनार्थ समुपस्थित) सभ्य सामाजिको एव नटादिको का कल्याण करें।

भावार्थ—महाकवि कालिदास प्रस्तुत श्लोक द्वारा, निर्मिमित्सित अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नाटक की शिष्टाचारानुरोध से, निर्विघ्न परिसमाप्ति की कामना से परमेश्वर नामसकीतन रूप आशीर्वचनसयुक्त नान्दी अर्थात् मङ्गलाचरण प्रस्तुत करते हुये कहते है कि भगवान् शिव की जो प्रसिद्ध एव दृश्यमान जलादि अष्टमूर्तियाँ हैं जिससे कि वे अष्टमूर्ति कहे जाते हैं। इन अपनी जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, क्षिति, वायुरूप मूर्तियो से विशिष्ट होकर आप सभी सभासदो का कल्याण करें।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के "प्राणिन प्राणवन्त" मे यद्यपि पुनरुक्तता प्रतीति होती है तथापि "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तु जन्यु शरीरिण इस कोश वचन के अनुसार प्राणिपद से शरीरी अर्थ ग्रहण करने से तथा भिन्नाकार शब्दगत होने से यहाँ पुनरुक्ति न होकर पुनरुक्तवदाभास अलकार है। जैसा कि साहित्य दर्पण मे कहा है—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम्।
पुनरुक्तवदाभास स भिन्नाकारशब्दज ॥

स्रष्टु सृष्टि, वहति हुतम्, प्राणी प्राणेत्यादि मे छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास आदि शब्दालकार हैं। श्लोक में प्रयुक्त सर्वत्र 'या' इस स्त्रीलिङ्ग निर्देश से तथा तनुभि का अर्थ कृशाभि ग्रहण करने से समासोक्ति अलकार द्वारा अष्टनायिकायुक्त नायक व्यवहार समारोपण द्वार ाशृङ्गाररस व्यञ्जित होता है, इसी प्रकार पृथिवी आदि साधारण शब्दों का प्रयोग न कर या सृष्टि स्रष्टुराद्या आदि कथन से अतिशयित्व ध्वनित होता है अतएव परिकरालकार भी व्यञ्जित होता है। 'श्रुतिविषयगुणा' मे वितथरव-गुणा पाठ मानकर क्लिष्टत्व दोष का भी वारण किया जा सकता है।

इस श्लोक मे स्रग्धरा नामक छन्द है जिसका लक्षण "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनि-यतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" है, अर्थात् जिस छन्द के चारो चरणो मे क्रमश मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण इस क्रम से २१ अक्षर हो, और सात-सात वर्णों पर यति हो वह स्रग्धरा नामक छन्द होता है। यथा—

मगण	रगण	भगण	नगण	यगण	यगण	यगण
ऽ ऽ ऽ	ऽ । ऽ	ऽ । ।	। । ।	। ऽ ऽ	। ऽ ऽ	। ऽ ऽ
या सृ ष्टि,	स्र ष्टु रा,	द्या व ह,	ति वि धि	हु तं या,	ह वि र्या,	च हो त्री।

सप्तगणात्मक इस छन्द के प्रयोग से कवि ने अपने सात सर्गात्मक नाटक की भी सूचना दी है, तथा सवप्रथम मगण का प्रयोग कर इस श्लोक के मङ्गल-श्लोक अथवा नान्दी होने की भी सूचना दी है, जैसा कि कहा गया है "क्षेम सर्वगुरु र्दत्ते मगणो भूमिदैवत ।"

महाकवि कालिदास वैदर्भी रीति के कवि हैं, (प्रस्तुत श्लोक मे भी वैदर्भी रीति है, जैसाकि आचार्य वामन ने वैदर्भी रीति का लक्षण लिखा है—

अस्पृष्टा दोषमात्राभि समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीति रिष्यते ॥

संस्कृत व्याख्या—या तनु =मूर्ति, स्रष्टु =जगन्निर्माणकतु वेधस ब्रह्मण, आद्या=प्रथमा, सृष्टि =रचना—ब्रह्मणा सर्वप्रथम विरचिना जलमयी मूर्ति (स्रष्टा प्रजापति वेर्धा इत्यमर) ब्रह्मणा सवप्रथम जलमेव सृष्टम् यथोक्त मनुना—"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्य मवासृजत्" या=मूर्ति, विधिहुतम्=श्रुतिस्मृतिविहित विधानेन दत्तम्, हुतम्=हवनीयद्रव्यजात घृतादिकम्, वहति=देवान् प्रापयति, तत्तद्देवोद्देशेनाग्नौ प्रक्षिप्त हवनीयद्रव्य देवान् प्रापयतीत्यथ ।" तथा च श्रुति "इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्य वहतु प्रजानन् । अग्निमुखा हि देवा इति च' अन्यत्रापि—

अग्नौ प्रास्ताऽहुतौ सर्वा आदित्य मुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टि वृष्टेरन्न तत प्रजा ॥

भगवत शिवस्य वह्निरूपा मूर्ति, या तनु होत्री=हवनकर्त्री यजमानरूपा मूर्तिरित्यर्थ । ये द्वे तनू अर्थात् सूयचन्द्ररूपे तनू । कालम्=अहोरात्रम् मासतुवर्षादिक वा, विधत्त =कुरुत । या-मूर्ति श्रुते श्रोत्रस्य विषय शब्द गुण यस्या सा—श्रुतिविषयगुणा शब्दगुणेत्यर्थ या=आकाशरूपा मूर्ति, विश्वम्=निखिल जगत्, व्याप्य=व्याप्त कृत्वा, स्थिता=वतमाना अस्ति, भगवत शिवस्य शब्द गुणा आकाशमयी मूर्ति, (आकाशस्य तु विज्ञेय शब्दो वैशेषिको गुण) याम्=मूर्तिम्, सर्वबीजप्रकृति =सर्वविधशस्याङ्कुरयोनि, इति (विज्ञा) आहु =वदन्ति । क्षितिरूपा भगवत शिवस्य मूर्तिरिति भाव । यया=मूर्त्या, प्राणिन =जीवधारिण', प्राणवन्त =प्राणसमायुक्ता (सन्ति) ताभि =पूर्वोक्ताभि, प्रत्यक्षाभि =दृष्टिगोचराभि, अष्टाभि —अष्टसख्याकाभि, तनुभि =मूर्तिभि, प्रपन्न =समन्वित विशिष्टो वा, ईश =भगवान् शिव," =युष्मान्—सभ्यसामाजिकान् नटादिकान च, अवतु=रक्षतु ।

संस्कृत सरलार्थ—पूर्वोक्ताभि जलादिरुपाभि अष्टसख्याकाभि परिदृश्यमानाभि स्वकीयाभि मूर्तिभि विशिष्ट शिव युष्माक सभ्यसामाजिकाना नटादीनाञ्च कल्याण विदधातु ।

टिप्पणी

सृष्टि—रचना—सृज्+क्तिन्, स्रष्टु =सृज्+तृच् षष्ठ्येकवचन, आद्या= आदौभवा इत्यर्थे आदिशब्दात् यत् टाप्, सवप्रथमा । विधि हुतम्=विधिना श्रुतिस्मृति

विहितेन नियमेन हुतम् दत्तम्, अग्नौ निक्षिप्तम्, हु+क्त। होत्री—हवनकर्त्री=हु+तृच् ङीप्। श्रुतिविषयगुणा—श्रुते कर्णस्य (श्रु+क्तिन) विषय शब्द गुण यस्या सा। अर्थात आकाशरूपा, शब्द गुणकमाकाशम्। विषय - वि+सि+अच्। व्याप्य—वि+आप्+क्त्वा—ल्यप। स्थिता—स्था+क्त+टाप्। आहु—ब्रू+लट् प्रथम पुरुष बहुवचने, "ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव" ब्रू+आह+उस। सर्वबीजप्रकृति= सर्वेषा बीजाना प्रकृति उत्पत्ति स्थानम्, पृथिवीरूपेत्यथ, अत्र इतिना कमण उक्तत्वात् प्रकृतिरिति प्रथमा। प्राणिन प्राणवन्त—प्राणा सन्त्येषामित्यर्थे प्राण+इनि, प्राणिन=शरीरिण, प्राणवन्त प्राशस्त्ये चात्रमतुप प्राणादिवायुपञ्चन चैतन्यभाज प्राणोऽपान समानश्चोदानव्यानौ च वायव। वायुरूपा मूर्तिरित्यथ। ताभि पूर्वोक्ताभि प्रत्यक्षाभि अष्टाभि तनुभि मूर्तिभि—अक्षण प्रति इत्यव्ययीभावे प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षण इति वार्तिकेनात्र समासान्तष्टच तदनु अर्शआदिभ्य इति अच् टापि-प्रत्यक्षाभि। प्रपन्न—प्र+पद्+क्त—रदाभ्यामिति धातोदकारस्य प्रत्ययतकारस्य च नत्वम्। अष्टाभि—शिवस्याष्टमूतय विष्णुपुराणे-सूर्यो जल मही वह्नि र्वायुराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मण सोम इत्येतास्तनव स्मृता। प्रत्यक्षाभि पद से केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष का ही ग्रहण नही है, अपितु त्वगिन्द्रियग्राह्य वायु का स्पाशन प्रत्यक्ष एव श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य शब्द गुण के आश्रयभूत आकाश का औपचारिक प्रत्यक्ष भी ग्रहण किया गया है।

तनुभि—तनु का अथ अणु भी होता है और उससे यहाँ अणिमा शक्ति तथा बहुवचन निर्देश से अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ भी ग्रहण की जा सकती हैं, भगवान् शिव अणिमा आदि अष्ट सिद्धियो से सदा सेवित रहते हैं—अत जलादि अष्ट मूर्तियो से तथा चकारात् अणिमा आदि अष्ट सिद्धियो से प्रपन्न अर्थात् सेवित शिव व अवतु' यह अर्थ भी हो सकता है। "अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा ईशित्व चवशित्व च प्राकाम्य प्राप्ति रेव च"।

प्रस्तुत नाटक का यह प्रथम श्लोक नान्दी श्लोक कहा जाता है। नान्दी शब्द के कई प्रकार के लक्षण और व्युत्पत्तियाँ देखी जाती हैं, इसी प्रकार 'इसकी कई विशेषतायें भी देखी जाती हैं। नान्दी—नन्द, धातो ङीप्, "पृषोदरादीनि यथो पदिष्टानि" के अनुसार वृद्धि होकर नान्दी, अथवा नन्दयति इति नन्द पचाद्यच, नन्द एव नान्द प्रज्ञादिभ्यश्चेत्यण् नान्दी, नन्दन्ति देवा अत्रेति नान्दी जहाँ देवता आनन्दित होते हैं, अपनी स्तुति के द्वारा जिससे देवता प्रसन्न होते हैं वह नान्दी है, नाटक की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये सर्वप्रथम जो देवस्तुति की जाती है वह नान्दी कही जाती है। नाट्यप्रदीप मे इसका लक्षण है "नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गा कुशीलवा पारिषदाश्च सन्त। यस्मादल सज्जन सिन्धुहसी तस्मादिय सा कथितेह नान्दी।" "आशीवचन सयुक्ता स्तुति यस्मात् प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीना तस्मान्नान्दीति सज्ञिता" साहित्य दपण। अर्थात् देव द्विज नृप आदि की इसके द्वारा आर्शीवादयुक्त स्तुति की जाती है अत इसे नान्दी कहा जाता है। नाटय शास्त्र मे आशीर्वाद और नमस्कारयुक्त श्लोक को नान्दी कहा गया है जिसमे संकेत रूप मे काव्य का कथानक भी बताया गया

हो "आशीनमस्क्रियारूप श्लोक काव्याथ सूचक नान्दीति कथ्यते"। अथवा—देवद्विज नृपादीनामाशीवचन पूर्विका नन्दन्ति देवता यस्या तस्मान्नान्दीति कीर्तिता।

इन उपर्युक्त शब्दव्युत्पत्तियो एव लक्षणो से ज्ञात होता है कि नान्दी श्लोक मे देव द्विज नृपादि की आशीवचन युक्त स्तुति होनी चाहिये और काव्यार्थ की सूचना भी दी जानी चाहिये। इस दृष्टि से श्लोक का जो ऊपर अर्थ दिया गया है, उसमे भगवान् शिव की स्तुति तो स्पष्ट ही है, इसी प्रकार इसमे नृप अर्थात् राजा दुष्यन्त की भी स्तुति है, इस प्रकार की स्तुति के लिये श्लोक का अथ इस प्रकार किया जायेगा—ताभि प्रत्यक्षाभि अष्टाभि तनुभि प्रपन्न ईश अर्थात् उन प्रत्यक्ष अष्ट मूर्तियो से सेवित प्रजापालक दुष्यन्त आप लोगो की रक्षा करें, राजा का शरीर जल, अग्नि, वायु, पृथिवी और आकाश इन पाँच तत्वो से बना है, यज्ञानुष्ठानकर्ता दुष्यन्त यजमान रूप भी है। विशिष्ट तेजस्वी होने से सूय और प्रजारञ्जक होने से एव चन्द्रवशी होने से वह चन्द्ररुपिणी मूर्ति से भी विशिष्ट है इस प्रकार वह भी अष्टमूर्ति है। अथवा राजा अष्ट लोकपालो—अग्नि, वायु, यम, सूय, इन्द्र, वरुण, चन्द्र, कुबेर—के अश से उत्पन्न होने से भी अष्ट मूर्ति सम्पन्न है। राजस्तुति के लिये श्लोक का यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

नान्दी की दूसरी आवश्यक विशेषता है काव्यार्थ अर्थात् अभिप्रेय वस्तु की सूचना देना, यह भी प्रस्तुत श्लोक से सिद्ध हो जाता है, इसके लिये श्लोक का अर्थ निम्न विधि से करना पडेगा—

"**या सृष्टि स्रष्टुराद्या**—ब्रह्मा की सवप्रथम सृष्टि अर्थात् शकुन्तला, क्योंकि कि वह सौन्दर्यातिशयशालिनी है अब तक इतनी सुन्दर स्त्रीरत्न सृष्टि नही हुई थी। **या विधिहुत हवि वहति**—जो शकुन्तला विधि अर्थात् गान्धव विवाहोत्तर सुरतविधि से हुत अर्थात् दुष्यन्त द्वारा निषिक्त, हवि अर्थात् वीय को धारण करती है इससे शकुन्तला का गभवती होना सूचित किया गया है। **या च होत्री**—इससे यज्ञानुष्ठानकर्ता मुनित्रय और दुर्वासा का भी सकेत है अथवा इससे यज्ञानुष्ठानकर्ता दुष्यन्त की ओर भी सकेत माना जा सकता है। **ये द्वे काल विधत्त**—इस वाक्य से शापान्त समय बताने वाली अथवा दुष्यन्त से शकुन्तला के मिलन के लिये समुचित समय का निर्धारण करने वाली प्रियम्वदा एव अनुसूया की ओर सकेत है। **श्रुतिविषयगुणा**—इत्यादि से शकुन्तला का दुष्यन्तकृत शब्दात्मक प्रत्याख्यान तथा आकाशचारिणी मेनका के साथ उसका तिरोधान सूचित होता है। **विश्व व्याप्य स्थिता**—से शकुन्तला के पातिव्रत्य सौन्दय आदि गुणो से विश्व को व्याप्त करके स्थित होने का भी आभास मिलता है, इसीसे सानुमती की भी सूचना प्राप्त होती है क्योकि वह भी आकाश सचारिणी थी। अथवा विश्व विलध्य स्थिता से शकुन्तला का कश्यपाश्रम निवास सूचित होता है। **यामाहुः सवबीजप्रकृति**—से सव जीवो के उत्पत्ति स्थानभूत अदिति कश्यप की तथा शकुन्तला से भरत की उत्पत्ति की सूचना दी गई है। भरत का आश्रम का नाम सवदमन था 'नामैक देशे नाम ग्रहणात्' के अनुसार सवदमन की सूचना है। अथवा

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधार —(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये ! यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम् ।

(प्रविश्य)

नटी—आर्यपुत्र, इयमस्मि । [अज्जउत्त, इय ह्मि ।]

प्राभिम प्राणवस्त —से दुष्यन्त, शकुन्तला एव भरत का अपनी राजधानी को लौटना सूचित होता है जिन्हे देखकर प्रजाजन अति सन्तुष्ट हुये थे। इस प्रकार कवि ने प्राय सभी मुख्य पात्रो वा सक्षिप्त कथावस्तु की सूचना देकर इस नान्दी श्लोक को काव्यार्थ सूचक सिद्ध किया है।

नान्दी श्लोक में माङ्गलिक वस्तुओ का भी परिगणन होना चाहिये, इस दृष्टि से इसमे सूय चन्द्र आदि का भी परिगणन है, इस प्रकार नान्दी के उक्त सभी लक्षण इस मे घटते हैं।

नान्दी को अष्टपदात्मिका अथवा द्वादश पदात्मिका होना चाहिये "सूत्रधार पठेन्नान्दी मध्यमस्वरमाश्रित । पदैर्द्वादशभिरष्टाभि र्वाप्यलङ्कृताम्" श्लोक का एक-एक पाद भी पद कहा जाता है, सुब त तिङन्त आदि भी पद कहलाते हैं श्लोकान्तर्गत एक एक वाक्य भी एक-एक पद कहा जाता है, इस दृष्टि से श्लोक मे या सृष्टि स्रष्टु राद्या आदि आठ पद भी है अत यह अष्ट पदात्मिका नान्दी है।

नान्दी के अन्य कई भेदो मे पत्रावली नान्दी भी एक भेद होता है। प्रस्तुत नान्दी पत्रावली नामक नान्दी है क्योकि प्रस्तुत नान्दी मे अभिधेय कथावस्तु का श्लेष अथवा समासोक्ति के द्वारा बीज का वि‍यास किया गया है "यस्या बीजस्य वि‍यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुन । श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावली तु सा।

इस प्रकार ना‍दी के सम्पूण लक्षण प्रस्तुत श्लोक मे मिल जाते हैं, अत यह निर्विवाद रूप से नान्दी श्लोक है।

(नान्दी पाठ के उपरा‍त)

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये ! यदि कार्य (अभिनेताओ के द्वारा, काय, स्थिति, सम्भाषण आदि के अनुरूप वस्त्र आभूषण आदि धारण करने का कार्य) समाप्त हो गया है, तो इधर आइये।

(प्रवेश करके)

नटी—आर्यपुत्र ! मैं यह उपस्थित हूँ

टिप्पणी

नान्द्यन्ते—नान्द्या अन्ते अवसाने— ना‍दी पाठ के उपरान्त। **सूत्रधार**—सूत्रम् प्रयोगानुष्ठानम् धारयतीत्यर्थे सूत्र+धृ+णिच् तत कमण्यण् इत्यण प्रत्यये वृद्धौ—सूत्रधार । सूत्र का अथ है—रगमञ्च पर घटित होने वाली घटनायें, इनका धारण अर्थात् नियमित रूप से सचालन करने वाला सूत्रधार कहा जाता है। यह सूत्रधार ही

नान्दी पाठ (प्रथम मङ्गलाचरण) करता है और रगमञ्च का प्रमुख अधिष्ठाता होने के कारण सवप्रथम रगमञ्च पर उपस्थित होकर नान्दी पाठ करता है तथा अन्य नाटकीय पात्रो को आवश्यक निर्देश देता है। जैसा कि "सूत्रधार पठेन्नान्दी मध्यम-स्वरमाश्रित" नाटयशास्त्र के प्रथमाध्याय मे भरत मुनि द्वारा कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि सूत्रधार दो काय करता है— सर्वप्रथम नान्दी पाठ करता है तदनु वही नाटकीय कथावस्तु का आरम्भ करता हुआ अन्य अभिनेताओं को आवश्यक निर्देश भी देता है। नान्दी श्लोक पाठ के उपरान्त यही रगमञ्च के देवता की पूजा भी करता है और नाटकीय वस्तु का बीजारोपण करता हुआ नाटक का प्रारम्भ करता है जैसा कि निर्देश किया गया है। "नाटयस्य यदनुष्ठान तत् सूत्र स्यात् सबीजकम्। रग दैवत पूजाकृत् सूत्रधार इति स्मृत। कथावस्तु के बीज सहित नाट्य का अनुष्ठान ही सूत्र कहा जाता है, इसे सचालन करने वाला तथा रगमञ्च के देवता की पूजा करने वाला सूत्रधार कहा जाता है। यही बात 'सगीतसवस्व' मे भी कही गई है—"वतनीयतया सूत्र प्रथम येन सूच्यते रङ्गभूमि समाक्रम्य सूत्रधार स उच्यते।" जो व्यक्ति नाटकीय घटना की सवप्रथम रगमञ्च पर आकर सूचना देता है वह सूत्रधार कहा जाता है, "इसी प्रकार "नाट्योपकरणादीनि सूत्र मित्यभिधीयते, सूत्र धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते" नाटयोपकरण, नाटक मे काम आने वाली सामग्री ही सूत्र कही जाती है इसका प्रबन्ध करने वाला सूत्रधार कहा जाता है।

प्रस्तुत नाटक मे यह एक ही प्रधान सूत्रधार है जो कि सर्वप्रथम नान्दीपाठ करता है रगदेवता की पूजा करता है और कथासूत्र का आरम्भ करता है। किन्तु अन्य नाटकों मे दो प्रकार के सूत्रधार देखे जाते हैं जहाँ दो प्रकार के सूत्रधार होते हैं वहाँ प्राय "नान्द्यन्ते तत प्रविशति सूत्रधार" ऐसा पाठ मिलता है। भास के तथा अन्य नाटककारो के नाटको मे भी ऐसा देखा जाता है और ऐसा होना भी नाट्यशास्त्र के नियमानुसार ही है, जैसा कि दशरूपककार ने लिखा है कि "पूवरग विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते। तद्वन्नर प्रविश्यान्य सूत्रधार गुणाकृति सूत्रयेद् वस्तुबीजम्। यह दूसरा नट भी सूत्रधार ही कहा जाता है, इसकी वेषभूषा भी प्रधान नान्दी पाठकर्ता सूत्रधार जैसी हा होती है इस सूत्रधार को हम नटोपाध्याय या स्थापक सूत्रधार कह सकते हैं, यह नान्दी पाठकर्ता प्रधान सूत्रधार के मङ्गलाचरण अथवा नान्दी पाठ एव पूजा करके चले जाने पर रगमञ्च पर प्रवश करके कथासूत्र का आरम्भ करता है। किन्तु प्रस्तुत नाटक मे नान्द्यन्ते सूत्रधार केवल इतना ही पाठ है अत यहाँ एक ही प्रधान नट-सूत्रधार है, वही नान्दी पाठ करता है और कथासूत्र का आरम्भ भी करता है। इस विषय का विशेष विवरण परिशिष्ट ३ मे दिया गया है।

नेपथ्यविधानम्—"कुशीलवकुटम्बस्य गृह नेपथ्य मुच्यते" अर्थात् सभी अभिनेता जिस स्थान पर समय-समय पर अपनी वेषभूषा धारण करते है अथवा वेष परिवतन करत है, वह स्थान नेपथ्य कहा जाता है, इसे ही आजकल ग्रीनहाउस कहते

सूत्रधार—आर्ये, अभिरुपभूयिष्ठा परिषदियम् । अद्य खलु कालिदास-ग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभि । तत्प्रतिपात्रमाधीयता यत्न ।

नटी—सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते । [सुविहिदप्पओअदाये अज्जस्स ण कि पि परिहाइस्सादि ।]

हैं । नेपथ्य का दूसरा अर्थ वेशभूषा धारण करना भी है—आकल्पवेषो नेपथ्यम्" वेषरचना को भी नेपथ्य कहा जाता है यहाँ नेपथ्य का अथ वेषरचना ही है, नेपथ्य विधानम्=वेषभूषा रचना, किन्तु नेपथ्याभिमुख मवलोक्य मे 'नेपथ्य का तीसरा अर्थ पर्दा (मुख्य पर्दा) है, मुख्य पर्दे की ओर देखकर, इस पर्दे को ही जवनिका कहा जाता है ' नेपथ्य स्याज्जवनिका रगभूमि प्रसाधनम्" अमरकोश । **आर्ये**—नाटको मे पत्नी को 'आर्ये' कहकर सम्बोधित किया जाता है "पत्नी चार्येति सभाष्या" नाट्यशास्त्र, अतएव सूत्रधार नटी को आर्ये कहकर सम्बोधित करता है । **अवसितम**—समाप्त हो गया है—अव+षोऽतकमणि (सा)+क्त । **विधानम्**—काय, नेपथ्यस्य विधानम्= वेषभूषा रचना का काय । निन नेत्रस्य ने नेतु र्वा पथ्य हितकरम् अभिनेताओ के लिये जो हितकर हो अथवा नेत्रो के लिये जो हितकर हो नेपथ्य कहा जाता है इसमे तीनो ही अथ समाविष्ट हो जाते है वेषभूषा रचना, नेपथ्य गह और पर्दा । **आयपुत्र !** "सवस्त्रीभि पतिर्वाच्य आयपुत्रेति यौवने" नाट्यशास्त्र के इस वचन के अनुसार नाटको मे स्त्रियाँ अपने पति को आयपुत्र कहकर सम्बोधित करती हैं । अयते सेव्यत्वेन गम्यते इति आय श्वशुर तस्य पुत्र अर्थात् पति । ऋ+ण्यत्=आर्य । नाटको मे स्त्रीपात्र प्राकृत बोलते है, अत नाटक मे स्त्री पात्रो के लिये शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया गया है ।

सूत्रधार—आर्ये, यह सभा विशिष्ट विद्वानो की बहुसख्या वाली (है) अर्थात् इस सभा मे अनेक विशिष्ट विद्वान उपस्थित हैं । (अत) हमे आज कालिदास विरचित अभिज्ञान् शाकु तल नामक नवीन नाटक के द्वारा उपस्थित होना चाहिए, अर्थात् महाकवि कालिदास द्वारा जिसकी कथावस्तु का सयोजन किया गया है ऐसे अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नये नाटक का अभिनय दिखाकर इस विशिष्ट विद्वानो के समाज को प्रसन्न करना चाहिए । अत प्रत्येक पात्र पर (प्रत्येक अभिनेता की वेषभूषा आदि पर) विशेष ध्यान देना है ।

नटी—सुव्यवस्थित एव कुशल नाटकाभिनय के कारण आपकी कोई भी न्यूनता (त्रुटि न रह जायेगी) अर्थात् अभिनय की पूर्ण व्यवस्था कर ली गई है अत आपके लिए कोई भी कमी न होगी ।

टिप्पणी

अभिरुपभूयिष्ठा—"अभिरुपो बुधे रम्ये" यहाँ अभिरुप का अर्थ विद्वान् है । अभिलक्ष्य दर्शनीय रुप स्वरुप येषान्ते अभिरुपा विशिष्टा विद्वास , अतिशयेन बह्वी

इति भूयिष्ठा—वहु+इष्ठन्+टाप्। अभिरुपा विशिष्टा विद्वांस भूयिष्ठा अधिका यस्या सा=अभिरुपभयिष्ठा=बहुसख्यक विशिष्ट विद्वानो वाली। **परिषद्**—परित सीदन्ति अस्यामिति—परि+सद+क्विप्+परिषद्=सभा। **कालिदासग्रथितवस्तुना**—कालिदासेन एत नामकेन कविना ग्रथित सयोजितम् वस्तु कथावस्तु यस्य तेन—जिसकी कथावस्तु की सयोजना कालिदास द्वारा की गई है अर्थात् कालिदास के द्वारा रचित **अभिज्ञान शाकुन्तल नामधेयेन**—अभिज्ञान शाकुतल मिति नामधेय नाम यस्य तेन अभिज्ञान शाकु तल नामक (आख्याह्वेऽभिधानञ्च नामाधेयञ्च नाम च)—नाम+धेय प्रत्यय स्वार्थे नामधेय अर्थात् नाम। अभिज्ञायतेऽनेनेति अभिज्ञानम्—अभि+ज्ञाधातो करणाधिकरणयोश्चेति करणे ल्युट्—अभिज्ञानम् अर्थात् जिसके द्वारा पहचाना जाता है, यहाँ अभिज्ञान से तात्पय इस पहचान के चिह्न रूप अगूठी से है जोकि दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को दी गई थी और जब वह पहले खो गई थी तब दुष्यन्त उसे भूल गया था और जब वह मिल गई थी तब दुष्य त ने उसे इसी से पहचान लिया था। शकुन्तलाम् अधिकृत्य कृत नाटकम शाकु तलम् 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र से अण् प्रत्यय णित्वात् वृद्धि शाकुन्तलम—शकु तला विषयक नाटक। अभिज्ञान प्रधान शाकुन्तलम् इति अभिज्ञान शाकुन्तलम् "शाकपार्थिवादीना सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसख्यानम्" इति वार्तिकेन अत्र प्रधानेत्युत्तरपदस्य लोप अर्थात् अभिज्ञान प्रधान शकु तला विषयक नाटक। अथवा अभिज्ञानसहित शाकु तलम् अथवा अभिज्ञान स्मृत शाकुन्तलम् इस प्रकार भी विग्रह किया जा सकता है। सवत्र उत्तर पद लोप होकर अभिज्ञान शाकुन्तलम् बनेगा। अभिज्ञान शाकुन्तलमिति नामधेय यस्य तेन। (नाटक तथा इसके भेदोपभेद के विषय मे परिशिष्ट भाग ३ मे देखिये।) **उपस्थातव्यम्**—उप+स्था+तव्यत्=उपस्थित होना या सेवा अथवा प्रस्तुति करना चाहिए। **प्रतिपात्रम**—पात्र-पात्र प्रति=प्रत्येक पात्र के विषय मे, **आधीयताम्**—आ+धा+कर्मणि लोट यक। **सुविहितप्रयोगतया**—सुष्ठु शोभनप्रकारेण विहित कृत सुविहित (सु+वि+धा+क्त) सुविहित सुव्यवस्थित प्रयोग नाट्याभिनय तस्य भाव तया—जिसकी कुशलतापूवक व्यवस्था की गई है ऐसे नाटकाभिनय के प्रयुक्त होने के कारण। वस्तुत यहा नटी सूत्रधार की नाटिकाभिनय विषयक बहुज्ञता एव निपुणता तथा अनुभवशीलता की प्रशसा करती हुई कह रही है। **परिहास्यते**—परि+हा+कम लट। कोई भी बात छूटेगी नही, अभिनय मे कोई न्यूनता न रहेगी क्योकि आप एक कुशल नाट्याभिनय प्रयोक्ता प्रसिद्ध हैं।

सूत्रधार—आर्ये—यहाँ से लेकर तृतीय श्लोक तक भारती वृत्ति का **प्ररोचना** नामक भेद दिखलाया गया है। भारती सस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय। भेदै प्ररोचनायुक्तै वीथीप्रहसनामुखै। नट द्वारा प्रयुक्त प्राय सस्कृत का वाग्व्याहार भारती वृत्ति कहा जाता है जिसके प्ररोचना वीथी प्रहसन आमुख नामक अवान्तर (भेद होते हैं—यहाँ **प्ररोचना** भेद है "उ मुखी करण तत्र प्रशसात प्ररोचना" दशरूपक। जहाँ पर प्रशसा के द्वारा दशको को नाटिकाभिनय की ओर आकृष्ट किया जाता है। **वहाँ प्ररोचना होती है।**

सूत्रधार—आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम् ।
आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानां आत्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥२॥

"प्रतिपात्र यत्न आधीयताम्" सूत्रधार के इस कथन का तात्पर्य यह है कि यह नाटक कालिदास जैसे महान कवि द्वारा रचित है, नवीन है, और सामाजिक विशिष्ट सहृदय विद्वान् है, अत इसके सफल अभिनय के लिए विशेष सावधानी रखनी पडेगी अत सवथा सतक रहना चाहिए ।

सूत्रधार—आर्ये, मैं तुम से सत्य कहता हूँ ।

आपरितोषादिति-अन्वय—विदुषाम् आपरितोषात् प्रयोगविज्ञानम् साधु न मन्ये । बलवत् अपि शिक्षितानाम् चेत आत्मनि अप्रत्ययम् (भवति) ।

शब्दार्थ—विदुषाम्=विद्वानो के, आपरितोषात्=सन्तुष्ट होने तक, अर्थात् जब तक विद्वज्जनो को सन्तोष न हो जाय तब तक, प्रयोगविज्ञानम्=अपने नाट्याभिनय की विशेषज्ञता को, साधु न मन्ये=बहुत अच्छी, अथवा पूणत सफल नही मानता । बलवत् अपि=अच्छी प्रकार से, पूण अनुभव एव अभ्यास से दृढ भी, शिक्षितानाम्=सीखे हुये, पूणतया अभिज्ञता प्राप्त भी विद्वानो का, चेत=हृदय, आत्मनि=अपने विषय मे, अप्रत्ययम्=अविश्वस्त अथवा अविश्वासी, भवति=होता है ।

अनुवाद—जब तक विद्वानो को पूण सन्तोष न हो जाय, तब तक मैं अपनी नाटकाभिनय की विशेषज्ञता को पूण सफल नही मानता । भलीभाँति अभिज्ञता प्राप्त भी विद्वानो का हृदय अपने विषय मे (सदा) अविश्वासी ही रहता है ।

भावार्थ—नटी के यह कहने पर कि "सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते" सूत्रधार कहता है कि आर्ये सच बात तो यह है, कि मैं चाहे जितना नाटकाभिनय मे कुशल हूँ फिर भी इस नाटक के अभिनय को देखकर जब तक यहाँ दर्शक विद्वान् पूण सन्तुष्ट नही हो जाते तब तक मै अपनी नाटकीय विशेषज्ञता को सफल नही मानता हूँ । चाहे जो कोई किसी भी विषय मे कितना भी बडा कुशल विद्वान् क्यो न हो पर उसे भी अपने विषय मे अपनी पूण सफलता के विषय मे सन्देह बना ही रहता है । किसी विषय की विशेषज्ञता का प्रमाण विद्वानो की सन्तुष्टि ही होता है ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के पूर्वाध 'मे विद्वज्जन ही मेरे आङ्गिक आदि चतुर्विध अभिनय व्यापार की विशेषज्ञता की परीक्षा कर सकते हैं' यह अन्तर्निहित अभिप्राय है अत पर्यायोक्ति अलकार है 'पर्यायोक्ति यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।" उत्तराध म सामान्याथ स पूर्वोक्त विशेषाथ का समथन होने से अर्थान्तरन्यास अलकार है । "सामान्य वा विशेषण, विशेषस्तेन वा यदि । काय च कारणेनेद कार्येण च समर्थ्यते, साधर्म्येणेतरेणाथा तरन्यासोऽष्टधा मत ।" उक्त दोनो अलकारो का अङ्गाङ्गीभाव रूप साङ्कय भी है । श्रुत्यनुप्रासालकार तथा आर्या जाति नामक छन्द है—

नटी—आर्य, एवमेतत्। अनन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु। [अज्ज, एव एदम्। अणन्तरकरणिज्ज अज्जो आणवेदु।]

"यस्या प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥

अर्थात् जिसके प्रथम चरण मे १२ मात्रायें, और तृतीय मे भी १२ मात्रायें हो, द्वितीय चरण मे १८ तथा चतुथ चरण मे १५ मात्रायें हो वह आर्यानामक मात्रिक छन्द होता है।

संस्कृत व्याख्या—विदुषाम्=नाटक विशेषज्ञाना पण्डितानाम्, आपरितोषात्= सन्तोषप्राप्ति यावत्, यावद् विद्वासो न सन्तोष मेष्यन्ति तावत्कालमित्यर्थ। प्रयोगस्य आङ्गिकादिरूपाभिनय चतुष्टयस्य विज्ञान विशिष्ट ज्ञानम्—प्रयोग विज्ञानम् (अहम्) साधु=शोभन सफल वा, न मन्ये=न स्वीकरोमि। (यत) बलवदपि= निरन्तराभ्यासेन सुदृढ मपि, शिक्षितानाम्=मादृशाना नाटकाभिनयविशेषज्ञाना मभिज्ञानाम्, चेत=हृदयम् आत्मनि=स्वविषये—विद्वत्समाजे कलाप्रदशनकाल इत्यर्थ, अप्रत्ययम्=अविश्वसनीयम् (भवति)।

संस्कृत सरलार्थ—'सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते" इति नटीवाक्य माकर्ण्य सूत्रधार कथयति—मदीयनाटकाभिनयमवलोक्य यावद् विद्वास सामाजिका न सन्तोष मेष्यन्ति न तावदह स्वकीय नाटकाभिनयकौशल सफल गणयिष्ये, मम प्रयोगविज्ञानस्य साफल्यस्य परीक्षका अत्रोपस्थिता विद्वास एव, तेषां सन्तुष्टि रेव मम प्रयोगस्य ,साफल्ये प्रमाणभूता। यतो हि सुविज्ञानामपि विदुषा चेत स्वविषये विश्वासरहित सन्देहास्पद वा भवति।

टिप्पणी

भूतार्थम—"भूत क्ष्मादौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयो" इस कोशवचन के अनुसार भूत शब्द का अथ यहाँ सत्य बात है। **आपरितोषात्**—परि+तुष्+घञ्= परितोष, 'आ' यह कमप्रवचनीय सज्ञक है और मर्यादाबोधक है अत 'पञ्चम्यपाङ् परिभि सूत्र से यहाँ पञ्चमी है। **विदुषाम्**—विद्धातो विदे शतुवसु इति वसु प्रत्यये विद्वस् शब्दात् प्रथमैक वचने विद्वान्, षष्ठी बहुवचने विदुषाम् (विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञ ससुधी कोविदो बुध) **प्रयोगविज्ञानम**—प्रयोगस्य अभिनयस्य विज्ञानम् विशिष्ट ज्ञानम् कुशलताम् वा, प्र+युज+घञ्=प्रयोग, यह प्रयोग अर्थात् अभिनय—आङि गक, वाचिक, आहाय और सात्विक भेद से चार प्रकार का होता है। **बलवत अपि**—इसका सम्बन्ध कई विद्वान् शिक्षितानाम् के साथ मानते हैं और इसका अथ, विशेष रूप से शिक्षित करते हैं, कुछ विद्वानो ने इसे चेत का विशेषण माना है, विशेषरूप से दृढ चित्त भी। **शिक्षितानाम्**—शिक्ष्+क्त=शिक्षितम्, तदस्त्येषामिति शिक्षिता तेषाम्। अश आदिभ्योऽ च्। **आत्मनि**—आत्मविषये। **अप्रत्ययम**—प्रत्ययो विश्वास नप्रत्ययम् अप्रत्ययम् जो विश्वास योग्य न हो।

नटी—आय, ऐसा ही है तो अब आगे इसके बाद जो करना है उसका आप आदेश दें।

सूत्रधार—किमन्यदस्या परिषद श्रुतिप्रसादनत । तदिममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षम ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम् । सप्रति हि—

सुभगसलिलावगाहा पाटलसर्सागिसुरभिवनवाता ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसा परिणामरमणीया ।।३।।

सूत्रधार—इस सभा के कानो को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कोई दूसरी बात क्या (हो सकती है) तो शीघ्र ही प्रारम्भ हुये, (जल स्नान आदि) सुखोपभोग के योग्य, इस ग्रीष्म ऋतु के समय को लेकर अर्थात् इस ग्रीष्म ऋतु विषयक ही (कुछ) गाओ । क्योकि इस समय—

सुभगेति–अन्वय—सुभगसलिलावगाहा पाटलसर्सागिसुरभिवनवाता प्रच्छाय सुलभनिद्रा दिवसा परिणामरमणीया (भवन्ति) ।

शब्दार्थ—सुभगसलिलावगाहा =जिन दिनो जल मे खूब स्नान करना सुखकर (होता है) पाटलससर्गि सुरभिवनवाता =जिन दिनो पाटल=स्थल कमल अथवा प्रचलित गुलाब पुष्प से ससर्गी अर्थात् सम्पर्क प्राप्त करने वाले अत एव सुगन्धित वन पवन (हो जाते है) जिन दिनो सघन छाया मे नीद सरलता से आ जाती है, **दिवसा**—ऐसे ये दिन, परिणामरमणीया =सध्या समय अतिमनोहर होते है ।

अनुवाद—जिन दिनो मे जल मे खूब स्नान करना हितकर होता है, गुलाब से सम्पर्क प्राप्त अत एव सुगन्धित वन वायु बहते है । सघन छाया मे सरलता से नीद आती है, ऐसे ये ग्रीष्म काल के दिन, सध्या के समय परम सुख देने वाले होते हैं ।

भावार्थ—ग्रीष्म ऋतु के दिनो मे जल मे खूब नहाना बडा सुखकर प्रतीत होता है । इन्ही दिनो गुलाब खिलता है और इससे टकराकर सुगन्धित हुये वायु बहते हैं तथा इन दिनो सघन छाया मे अच्छी नीद आती है । ये दिन सूर्यास्त के बाद शीतल होने से सुखकर प्रतीत होते है ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के प्राय सभी विशेषण साभिप्राय है जो कि श्रमपरिहार को सूचित करते हैं । अत यहाँ **परिकरालकार** है "उक्ति विशेषणै साभिप्रायै परिकरो मत" । ग्रीष्मकाल का स्वाभाविक वर्णन होने से **स्वभावोक्ति** अलकार, **श्रुत्यनुप्रास और वृत्यनुप्रास** नामक शब्दालकार है । आर्याजाति नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—सुभग सुखकर सलिले जले अवगाह मज्जन येषु ते **सुभगसलिलावगाहा**, पाटलाना स्थलपद्माना पुष्पविशेषाणा वा ससर्ग सम्बन्ध येषु ते पाटलससर्गिण अत एव सुरभय मनोज्ञा सुगन्धियुक्ता वनवाता वनवायव येषु ते पाटलससर्गिसुरभिवनवाता, प्रकृष्टा सघना छाया येषु ते प्रच्छाया तेषु **प्रच्छायेषु** सघनच्छायायुक्तस्थलेषु सुलभा सुखेन लभ्या निद्रा स्वापा येषु ते—**प्रच्छायसुलभनिद्रा** दिवसा =ग्रीष्मकालदिवसा, परिणामे दिवसावसाने रमणीया **सुखदा मनोहरा** वा—परिणामरमणीया (भवन्ति) ।

नटी—तथा। (इति गायति)

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमाना प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥४॥
ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं।
(ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं।]

संस्कृत सरलार्थ—ग्रीष्मकालदिवसेषु सलिलेषु मज्जनमतिसुखकरं भवति। एषु दिवसेषु पाटलपुष्पसम्पर्कमवाप्य सुरभयो वनवायवो वान्ति एवञ्च दिवसेष्वेषु सघनच्छायास्थलेषु सुखेन निद्रा लभ्यते। इमे दिवसा दिनावसानसमये परममनोज्ञा भवन्ति।

टिप्पणी

अनन्तरकरणीयम्—न अन्तरं यस्मिन् कर्मणि तत् अनन्तरम्, अनन्तरं करणीयम् इति अनन्तरकरणीयम्—अविलम्ब करने योग्य कार्य, अत्र सुप्सुपेति समास। **श्रुतिप्रसादनतः**—श्रुतेः प्रसादनम्—श्रु+क्तिन्, श्रुति का अर्थ यहाँ कान है। प्र+सद्+णिच्+ल्युट्—प्रसादनम्=प्रसन्न करना अत्र पञ्चम्यर्थे तसिल्। **परिषदः**—परि+सद्+क्विप् षष्ठयेक वचने। **अचिरप्रवृत्तम्**—अचिरं प्रवृत्तम् अचिरप्रवृत्तम् अत्यन्त संयोगे चेति द्वितीयातत्पुरुष। प्र+वृत्—क्त। **उपभोगक्षमम्**—उपभोगस्य क्षमं योग्यम्, उप+भुज+घञ। अधिकृत्य=अधि+कृ+क्त्वा—ल्यप्। **अवगाह**—अव+गाह+घञ। **संसर्ग**—सम्+सृज+घञ्=संसर्ग सोऽस्ति येषान्ते संसर्गिणः, संसर्ग+इनि। **सुलभ**—सु+लभ्+खल्। **परिणाम**—परि+नम्+घञ्। **रमणीय**—रम्+अनीयर्। भागुरि आचार्य के मत में अव और अपि उपसर्गों के प्रथम अकार का लोप होने से वगाह अवगाह अपिधान पिधानम्, अवतंस वतंस आदि दो-दो रूप होते हैं। **परिणाम रमणीयाः**—पद से ध्वनित होता है कि नाटक का अन्त सुखद होगा, वैसे भी संस्कृत नाटक प्रायः सुखान्त ही होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में माधुर्य गुण और पाञ्चाली रीति है।

यहीं पर भारती वृत्ति का प्ररोचना नामक अंग समाप्त होता है और अब यहाँ से आगे आमुख नामक अंग आरम्भ होता है, इसी आमुख को प्रस्तावना भी कहा जाता है।

नटी—ऐसा ही हो (यह कहकर गाती है)।

ईषदिति-अन्वय—प्रमदाः दयमाना (सत्यः) भ्रमरैः ईषदीषत् चुम्बितानि सुकुमार केसरशिखानि शिरीषकुसुमानि अवतंसयन्ति।

शब्दार्थ—प्रमदाः=युवती स्त्रियाँ, दयमाना सत्यः=दयालु होकर अर्थात् दयाभाव से प्रेरित होकर, भ्रमरैः=भ्रमरों के द्वारा ईषत् ईषत्=कुछ कुछ धीरे-धीरे चुम्बितानि=आस्वादित किये गये अर्थात् भ्रमरों द्वारा धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा जिनका रस पान किया गया है। सुकुमारकेसरशिखानि=अत्यन्त कोमल किञ्जल्कों के अग्रभाग

वाले अर्थात् जिनके किञ्जल्क अति कोमल हैं, (ऐसे) शिरीषकुसुमानि+शिरीष के पुष्पो को, अवतसयन्ति= कर्णालिकार बना रही हैं।

अनुवाद—मद विह्वला तरुणी भी स्त्रियाँ, दयाभाव से युक्त होकर उन शिरीष के फूलो को अपना कर्णाभरण बना रही है, जोकि भ्रमरो के द्वारा कुछ-कुछ धीरे धीरे आस्वादित किये गये हैं और जिनके किञ्जल्को के अग्रभाग अति कोमल हैं।

भावार्थ—यद्यपि इस समय मदातिरेकवश तरुणी स्त्रियाँ शिरीषकुसुमो को तोडकर अपने कर्णालिकार बना रही हैं, फिर भी वे कुसुमावचयन मे उपेक्षा भाव न रख कर दयार्द्रभाव से ही ऐसा करती हैं, भ्रमरो ने धीरे-धीरे थोडा-थोडा इन कुसुमों का रसपान किया है और इनके किञ्जल्कों के अग्रभाग अति कोमल हैं। इनकी सुकुमारता के ही कारण युवतियाँ मदविह्वला होकर भी इन पर दयालु हैं और इसीलिये भ्रमर भी धीरे ही धीरे कुछ ही रसपान कर सकें है। शिरीष पुष्प सबसे अधिक कोमल होता है और ग्रीष्म काल मे खिलता है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे शिरीष कुसुमो को सुकुमार किञ्जल्क शिखाओ वाले बतलाया गया है अत एव युवतिया दयावती होकर ही उन्हे अपना कर्णाभरण बना रही हैं, इस प्रकार यहाँ काव्यलिङ्ग अलकार है 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते"। यहाँ उद्गाथा जाति नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—प्रकृष्टो मदो यासु ता प्रमदा=मदविह्वला तरुण्य, (तथापि) दयमाना कृपावत्य सत्य, भ्रमरै=मधुकरै, ईषदीषत्=मन्द मन्द यथा स्यात्तथा, चुम्बितानि=स्पृष्टानि, सुकुमारा अतिकोमला केसराणा किञ्जल्काना शिखा अग्रभागा येषा तानि सुकुमार केसरशिखानि, शिरीषकुसुमानि=शिरीषपुष्पाणि, अवतसयन्ति=कर्णाभरणता प्रापयन्ति।

सस्कृत सरलार्थ—मदविह्वला अपि तरुण्य दयावत्य सत्य एव तानि शिरीष पुष्पाणि स्वकर्णालङ्कारता नयन्ति, यानि मधुकरै मन्द मन्द मेव परिचुम्बितानि सन्ति, एवञ्च येषा शिरीष पुष्पाणा किञ्जलकाग्रभागा अति कोमला सन्ति।

टिप्पणी

प्रमदा—मदयुक्त भी युवतियाँ दयाभाव से युक्त होकर ही शिरीष पुष्पो का अवचयन करती हैं और उन्हे अपना कर्णाभरण बनाती हैं। इसी प्रकार भ्रमर भी बडी सावधानी से शिरीष पुष्पो का रसास्वादन करते है। वस्तुत इस कथन से कवि का यहाँ विशेष तात्पर्य है, प्रमदा पद से वह शकुन्तला की ओर सकेत करता है, शकुन्तला भी शिरीष पुष्पो को कर्णाभरण के रूप मे धारण करती है जैसाकि कवि ने स्वय आगे कहा है 'त्रस्त कर्णशिरीषरोधि वदने' और कृत न कर्णार्पितवन्धन सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्' कोमलता मे भी वह शिरीषकुसुम के समान ही है। भ्रमर पद से वह दुष्यन्त की ओर सकेत करता है, जिसका शकुन्तला से अस्थायी ही मिलन हुआ है और उसने भी उसका ईषद ही रसास्वादन किया है। शिरीषकुसुम ग्रीष्म काल मे ही विकसित होता है, इस ग्रीष्म ऋतु का वर्णन सूत्रधार ने भी 'सुभग

सूत्रधार—आर्ये, साधु गीतम्। अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्ग । तदिदानीं कतमत् प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयाम ।

नटी—नन्वार्यमिश्रै प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तल नामापूर्वं नाटक प्रयोगेऽधिक्रियताम् इति। [ण अज्जमिस्सेहि पढमं एव्व आणत्त अहिण्णाणसाउन्दल णाम अपुव्व णाडअ पओए अधिकरीअदु त्ति ।]

सूत्रधार—आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि । अस्मिन् क्षणे विस्मृत खलु मया। कुत —

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृत ।
एष राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणातिरहसा ॥५॥

(इति निष्क्रान्तौ ॥

प्रस्तावना

सलिलावगाहा' इत्यादि के द्वारा किया है और नटी ने भी, पर सूत्रधार के वर्णन में जहाँ बाह्य तथ्यो का ही उल्लेख है वहा नटी के गीत मे स्त्री सुलभ कोमलता एव सरसता है तथा एक प्रेमिका के हृदय की अभिव्यक्ति है। शिरीषकुसुम कालिदास को अतिप्रिय है अत एव उन्होने अपनी सभी रचनाओ मे इसका उल्लेख किया है। **अवतसयन्ति**—यहाँ अवतस शब्द से तत्करोति 'तदाचष्टे' से णिच् तथा लट् लकार बहुवचन है।

सूत्रधार—आर्ये, तुमने बहुत अच्छा गाया। ओह, तुम्हारे गीत के राग से आकृष्ट चित्त वाले दशक सब ओर चित्रित से हो गये हैं। तो अब किस नाटक का प्रदशन करके इनको प्रसन्न करें।

नटी—पूजनीय आपने तो पहले ही यह आदेश दिया था कि अभिज्ञान शाकुन्तल नामक अपूव नाटक का अभिनय किया जाय।

सूत्रधार—आर्ये, आपने मुझे ठीक याद दिलाई है। इस समय तो मैं यह भूल ही गया था। क्योकि—

तवेति-अन्वय—हारिणा तव गीतरागेण, अतिरहसा हारिणा सारङ्गेण एष राजा दुष्यन्त इव प्रसभ हृत अस्मि।

शब्दाथ—हारिणा=मनोहर तव=तुम्हारे गीतरागेण=सगीत के राग से, अतिरहसा =अनिवेगशाली, हारिणा=दूर तक हरण करने वाले सारङ्गेण=मृग के द्वारा, एष राजा दुष्यन्त इव=इस राजा दुष्यन्त के समान, (मैं भी) प्रसभ हृत अस्मि=वलात् हरण कर लिया गया हूँ।

अनुवाद—तुम्हारे मनोहर सगीत के राग से, अनिवेगशाली अतएव दूर तक हरण करने वाले मृग के द्वारा इस राजा दुष्यन्त की भाँति ही (मैं भी) बलात् हरण कर लिया गया हूँ।

भावार्थ—सूत्रधार कहता है कि तुम्हारे सगीत के मनोहर राग से मैं उसकी ओर वलात् इतना आकृष्ट हो गया था कि मैं यह भूल ही गया था कि मैंने पहले किस नाटक के अभिनय के लिए तुम से कहा था, यह ठीक इसी प्रकार हुआ जैसाकि देखो यह राजा दुष्यन्त अतिवेगशाली इस मृग के द्वारा आकृष्ट होकर वलात् इतनी दूर तक ले आया गया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे हारिणा और हृत शब्द श्लिष्ट है, हारिणा का अथ राजा के पक्ष मे दूर तक हरण करके ले जाने वाला है और गीत के पक्ष मे इसका अथ मन को हरण करने वाला है। हृत का अथ राजा के पक्ष मे, अपनी सेना से दूर तक खीच ले आया गया तथा गीत के पक्ष मे विमुग्ध किया गया है। 'अस्मि' पद यहाँ 'अहम्' अथ का द्योतक अव्यय है। 'राजेव' मे श्रौती उपमालकार है "श्रौती यथेव वा शब्दाविवार्थो वा वतियदि ॥" गीतरागेण हारिणा आदि पद कारण रूप मे प्रयुक्त है अतएव पदार्थ हेतुक रसना काव्यलिङ्ग अलकार भी है। श्रुति वत्ति शब्दालकार हैं। पथ्यावक्त्र नामक छन्द है "युजोश्चतुथतो जेन पथ्यावक्त्र प्रकीर्तितम्" अर्थात् जिस छन्द के समचरणो मे चतुथ वण के बाद जगण हो शेष वण अनुष्टुप छन्द के अनुसार हो अर्थात् सवत्र पचम वण लघु षष्ठवण गुरु हो और विषम चरणो मे चतुर्थवण के बाद भगण हो सम पादो मे सप्तमवण लघु हो वह पथ्यावक्त्र नामक छन्द होता है।

संस्कृत व्याख्या—हारिणा = हतु शीलमस्येति तेन हारिणा चित्ताकषकेण, तव = भवत्या, गीतरागेण = गानस्वरेण, अनिरहसा = अतिवेगशालिना, हारिणा = दूरमप कर्षकेण सारगेण = मृगेण, एष = पुरो दृश्यमान राजा दुष्यन्त इव, प्रसभम् = वलात्, हृत = विमुग्ध कृत अस्मि, राजपक्षे स्वसेनया दूर प्रच्यावित अस्मि।

संस्कृत सरलार्थ—सूत्रधार नटी कथयति यदह त्वदीयेन अनेन मधुरेण गीतस्वरेण तथैव विमुग्धीकृत अस्मि यथाय राजा दुष्यन्त अतिवेगवता अतएव दूरमपकषता मृगेण स्वसेनया दूर प्रच्यावित अस्ति।

अनुबोधित—स्मारित—अनु + बुध + णिच् + क्त। **विस्मृतम्**—वि + स्मृ + क्त। **गीतरागेण** = गीतस्य राग तेन। **हारिणा**—हृ + णिनि = हारी तेन। **प्रसभम्**—प्रगता सभा यस्मात् सभा इत्यस्य विचार इत्यथ यहाँ इसका अथ वलात् है। **सारङ्गेण**—सारमङ्ग यस्य तेन 'शकन्ध्वादिषु पररूप वाच्यमिति अकाररय पररूपम्। **रागवद्धचित्त-वृत्ति**—रागेण गीतस्वरेण वद्धा आकृष्टा चित्तवत्ति अन्त करणवत्ति स। रञ्जधातोर्घञि राग, वध + क्त—वद्ध। **रङ्ग**—रज्यति अस्मिन्निति रङ्ग। रञ्ज धातो घञि च भावकरणयोरिति भावे करणे चैव धातो नकारस्य लोप न तु अधिकरणेऽपि अतएव रज्यत्य स्मिन्निति विग्रहे रङ्ग रगशाला अत्र लक्षणया रगस्था सामाजिका इत्यथ। आलिखित = चित्रीकृत। **कतमत**-किम्शब्दात्डतमच प्रत्यये अदड् डतरादिभ्य इति अदड आदशो द्वितीयैक

वचने कतमत् । एनम्=रङ्गम् रङ्गशालास्थित जनम् अत्र जातौ एकवचनम्, इदमोऽन्वादेशे एन इत्यादेश । प्रकरणम्='प्रकरण' रूपक का एक भेद है। प्रकरण नामक रूपक भेद मे कथावस्तु कविकल्पित होती है, इसमे नायिका प्राय वेश्या होती है और इसमे साधारणतया दश अक होते हैं, शूद्रक का मृच्छकटिक प्रकरण है, नाटक नही। यद्यपि यहाँ सूत्रधार ने पहले नटी से अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का अभिनय करने को कहा था, परन्तु नटी के गीत माधुय से इस समय वह इतना विमुग्ध हो गया था कि वह सब कुछ भूल गया था, वह नाटक का नाम ही नही भूल गया था अपितु वह यह भी भूल गया था कि उसे नाटक अभिनीत करना है अथवा प्रकरण, अतएव यहाँ वह नाटक के स्थान पर प्रकरण शब्द का प्रयोग करता है, कवि ने यहाँ इस बात को उठाकर नटी के अति विमुग्धकारी गीतमाधुय की ओर सकेत किया है। अपनी इस विस्मृति को सूत्रधार आगे स्वय स्वीकार करता है 'अस्मिन् क्षणे विस्मृत खलु मया।" नटी के द्वारा याद दिलाने पर ही वह समझ पाता है कि अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का अभिनय करना है। जब नटी के गीतराग से सभी सामाजिक मन्त्रमुग्ध होकर चित्रलिखित से हो गये थे तब सूत्रधार का भी गीतराग से मन्त्रमुग्ध होकर सब कुछ भूल जाना स्वाभाविक ही था।

इतना ही नही कवि ने यहाँ सूत्रधार और नटी के इस कथोपकथन के द्वारा प्रस्तुत नाटक के कथानक की ओर भी सकेत किया है। वस्तुत इस नाटक मे 'भूल' एक विशेष महत्व रखती है सम्पूण नाटक मे भूल जाना और पुन याद दिलाने पर याद करना देखा जाता है, दुर्वासा के शापवश राजा अपनी प्राणप्रिया शकुन्तला को भी अपनी विवाह चिह्नरूप अँगूठी देकर भी उसे भूल जाता है, और ऐसा भूलता है कि उसके सामने आने पर भी उसे नही पहचानता और उसका प्रत्याख्यान कर देता है, पुन कालान्तर मे अँगूठी ही उसे शकुन्तला की याद दिलाती है और वह उसे स्वीकार करता है। इस प्रकरण मे सूत्रधार तो नटी के गीत मे ध्यानमग्न होकर अपने काय और कथावस्तु को भूल जाता है, आश्रम मे शकुन्तला दुष्यन्त के ध्यान मे निमग्न होकर दुर्वासा का आतिथ्य करना भूल जाती है और उसका दुष्परिणाम उसे भोगना पडता है। यहाँ नटी के द्वारा सूत्रधार को अनुबोधित किया जाता है और वहाँ अँगूठी (मुद्रिका) के द्वारा राजा को अनुबोधित किया जाता है। नटी और मुद्रिका दोनो ही स्मारिका बनकर सूत्रधार एव राजा को कतव्यपालन की प्रेरणा देती हैं। अत कवि ने यहाँ इस वार्तालाप के द्वारा प्राय सम्पूण कथानक का चित्र प्रस्तुत कर दिया है यही उसका नाट्यकौशल है।

आर्यमिश्रै—कुल शील दया दान धर्म सत्य कृतज्ञता अद्रोह इति येष्वेतत् तानार्यान् सप्रचक्षते" इस कथन के अनुसार इन गुणो से विशिष्ट जन ही आर्य कहे जाते हैं "वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया" नाटक मे आर्य शब्द का सर्वत्र प्रयोग इसी अथ मे हुआ है। साधारणत इसका अर्थ पूजनीय व्यक्ति लिया जाता है, इसके आगे मिश्र शब्द का प्रयोग आदर सूचनाथ ही किया जाता है। इस शब्द का

प्रयोग आर्य शब्द के बाद ही और बहुवचन मे ही होता है। "पूज्ये मिश्रवचनम नित्य बहुवचनान्तम् "स्यादुत्तरपदे मिश्रस्त्रिषु श्रेष्ठार्थ गोचर ।" आर्याश्च ते मिश्रा आर्यमिश्रास्तै । आर्यमिश्र शब्द का उपयोग इसी अर्थ मे आगे शाङ्ग रव के लिये भी किया गया है तथा अन्य पूज्यजनो के लिये भी।

इति निष्क्रान्तौ—यह कहकर नटी और सूत्रधार रंगमञ्च से बाहर निकल जाते हैं। यद्यपि यहाँ नटी स्त्रीलिङ्ग है और सूत्रधार पुल्लिङ्ग है तथापि दोनो का एक साथ प्रयोग करने मे पुल्लिङ्ग द्विवचन का ही प्रयोग होगा, पाणिनि सूत्र "पुमान् स्त्रिया" से यह नियम स्पष्ट है।

प्रस्तावना—अर्थात् यहाँ प्रस्तावना समाप्त होती है और आगे 'तत प्रविशति' से मुख्य कथानक आरम्भ होता है। जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि भारतीवृत्ति (नट प्रयुक्त सस्कृत प्राय वाग्व्यापार) के चार भेद होते हैं, प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, और आमुख, इनमे से किसी एक या दो का प्रयोग कवि स्वेच्छानुसार करता है, प्रस्तुत नाटक मे तृतीय श्लोक की समाप्ति पय त प्ररोचना और उसके बाद आमुख जिसका दूसरा नाम प्रस्तावना भी है आरम्भ होता है और वह यहाँ तक "इति प्रस्तावना" तक चलता है। यही पर प्रस्तावना समाप्त हो जाती है और इसके बाद मुख्य कथानक आरम्भ होता है। इस आमुख का लक्षण —

सूत्रधारो नटी ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम् ।
स्वकार्यं प्रस्तुता क्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ॥
प्रस्तावना वा तत्र स्यु कथोद्घात प्रवृत्तकम् ।
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥

अर्थात् जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (परिपार्श्विक) या विदूषक के साथ वार्तालाप करता हुआ विचित्र कथनो के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (कथावस्तु का सकेत कर) अपने कार्य का वर्णन करता है, उसे आमुख कहा जाता है। इस आमुख का ही दूसरा नाम प्रस्तावना है, जिसके कथोद्घात प्रवृत्तक एव प्रयोगातिशय नामक तीन अंग होते हैं, इन तीनो मे से कवि ने यहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख के अग का प्रयोग किया है। इस प्रयोगातिशय का लक्षण दशरूपककार ने इस प्रकार बतलाया है—

"एषोऽहमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगत ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मत ॥

अर्थात् जहाँ पर "वह आ रहा है अथवा यह मैं अब" इस प्रकार के वचन प्रयोग के द्वारा सूत्रधार किसी पात्र का प्रवेश सूचित करता है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख का तृतीय अङ्ग होता है, प्रकृत मे "एष राजेव दुष्यन्त" कहकर सूत्रधार ने मुख्य पात्र के रंगमञ्च पर प्रवेश की सूचना दी है, अत यहाँ पर यह प्रयोगतिशय नामक आमुख का तृतीय अंग प्रयुक्त हुआ है।

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च)

सूत —(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन् !

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् ॥६॥

प्रस्तावना का लक्षण साहित्य दर्पणकार ने इस प्रकार दिया है —

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा । सूत्रधारेण सहिता संलापं यत्र कुर्वते । चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः । आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा "दश रूपककार ने" सूत्रधारो नटीं ब्रूते, इत्यादि लक्षण दिया है, दोनों मे विशेष अन्तर नही है, इसी प्रस्तावना को अन्यत्र स्थापना भी कहा गया है। प्रस्तावना का स्पष्ट लक्षण — विधेर्यथैव संकल्पो मुखतः प्रतिपद्यते । प्रधानस्य प्रबन्धस्य तथा प्रस्तावना मता । प्रस्तावना का प्रयोग सदा नाटक के प्रारम्भ मे ही होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने इसे अवगलित नामक प्रस्तावना माना है, उनके अनुसार इसका लक्षण है —'यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते । प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावगलितं बुधैः" किन्तु आचार्य धनिक ने इसे प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना ही माना है, राघवभट्ट की भी यही मान्यता है।

तत इति—इसके बाद, धनुषबाण हाथ से लिये हुये और मृग का पीछा करते हुये रथारूढ राजा का और सारथि का प्रवेश।

सूत—(राजा और मृग को देखकार) चिरञ्जीविन् !

कृष्णसार इति अन्वय—कृष्णसारे अधिज्यकार्मुके त्वयि च चक्षुः ददत् (अहम्) मृगानुसारिणम् साक्षात् पिनाकिनम् पश्यामि इव ।

शब्दार्थ—कृष्णसारे=कृष्णसार मृग पर (कृष्णसार एक विशेष प्रकार का काला और चितकबरा मृग होता है) अधिज्यकार्मुके=धनुष पर प्रत्यञ्चा चढाये हुये, त्वयि च=और तुम्हारे ऊपर, चक्षुः ददत्=दृष्टि डालता हुआ (मैं) मृगानुसारिणम्=दक्ष प्रजापति के यज्ञ मे मृग रूप धारण कर भागते हुये यज्ञ का पीछा करते हुये, साक्षात् पिनाकिनम्=साक्षात् शिव को, पश्यामि इव=मानो देख रहा हूँ।

अनुवाद—(इस) कृष्णसार मृग पर तथा धनुष पर प्रत्यञ्चा चढाये हुये आप पर (एक साथ) दृष्टि डालता हुआ (मैं) मृगरूपधारी यज्ञ का पीछा करते हुये साक्षात् शिव को ही मानो देख रहा हूँ।

भावार्थ—राजा और मृग को एक साथ देखकर सूत राजा से कहता है कि जब मैं इस कृष्णसार मृग पर तथा धनुष पर बाण चढ़ाये हुये आप पर एक साथ दृष्टि डालता हूँ तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं मृग का पीछा करते हुये साक्षात् भगवान् शिव को देख रहा हूँ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे चकार का प्रयोग तुल्यकालताद्योतनार्थ है अर्थात् सूत, राजा और मृग को एक साथ ही देख रहा था, इस प्रकार एक ही चक्षु से एक साथ ही भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखने मे विशेषालकार है। इव पद प्रयोग से यद्यपि यहाँ उपमा की प्रतीति होती है किन्तु यहाँ प्रकृत दुष्यन्त और अप्रकृत पिनाकी मे तादात्म्य सम्बन्ध मात्र सम्भावित है अत उपमा न होकर यहाँ उत्प्रेक्षालकार है, अत पश्यामि के बाद इव का प्रयोग किया गया है। श्रुति वृत्ति अनुप्रास तथा अनुष्टुप् नामक छन्द है" पञ्चम लघु सर्वत्र, सप्तम द्विचतुर्थयो । षष्ठ गुरु विजानीया देतत् पद्यस्य लक्षणम् । अनुष्टप् को ही पद्य तथा श्लोक नामक छन्द भी कहा जाता है।

सस्कृत व्याख्या—कृष्णसारे=कृष्णसाराख्ये पुरोदृश्यमाने मृगविशेषे, ज्यामधिगतम अधिज्यम्, अधिज्य कार्मुक धनुयस्य तस्मिन्—अधिज्यकार्मुके=अध्यारोपितगुण—शरासने, त्वयि=दुष्यन्ते च, चक्षु ददत्=दृष्टिपात कुवन् (अहम्) मृगानुसारिणम् मृगरूपधर दक्षप्रजापतियज्ञ वधार्थमनुगच्छन्तम्, साक्षात्=प्रत्यक्षम्, पिनाकिनम्=पिनाकाख्यधनु र्धारिण शिवम्, पश्यामीव=अवलोकयामीव।

सस्कृत सरलार्थं—सूत राजान दुष्यन्त कथयति—कृष्णसारे मृगेऽस्मिन् आरोपितगुणशरासने त्वयि च यदाह समकालमेव दृष्टिपात करोमि तदैव प्रतीयते यदह मृगरुपधर दक्षयज्ञ वधार्थं मनुगच्छन्त साक्षात् भगवन्त शिव पश्यामि।

टिप्पणी

मृगानुसारी—मृग मनुसरतीति मृगानुसारी, मृग+अनु+सृ धातो णिनि द्वितीयैक वचने। सशरचापहस्त—शरेण सहित सशर, सशर चाप हस्तयो र्यस्य स। रथेन—अत्र 'वृद्धो यूना इति निर्देशात् विनापि सह योगे अत्र सहार्थे तृतीया। सूत—सुवति प्रेरयति अश्वान् इति सूत। मनुस्मृति के अनुसार क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण कन्या से उत्पन्न सन्तान सूत कही जाती है, ये सूत, सारथि का ही काम करते हैं "क्षत्रियाद् विप्रकन्यायां सूतो भवति जातित, सूतानामश्वसारथ्यम्" मातृगुप्ताचार्य के इस निर्देश के अनुसार "सामन्ताना देवतानां राजन्यामात्यसैनिके, वणिङ्मागधसूताना पाठ्य योज्य तु संस्कृतम्" सूत भी नाटको मे सस्कृत मे ही बोलता है। आयुष्मन्—आयुष्+मतुप् सम्बोधने आयुष्मन्। नाट्यशास्त्र के निर्देशानुसार सारथि अपने रथी को आयुष्मान् कहता है, इस नियम का सम्भवत यह कारण रहा होगा कि उस समय सूत एक प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता रहा होगा, आयु मे भी यह रथी की अपेक्षा बडा होता होगा, अत वह रथी को आयुष्मान् कहता होगा, सूत या सारथि युद्धों में राजा के साथ जाता था अत युद्ध के अवसर पर रथी दीर्घायु एव विजयी हो, इस तात्पर्य से भी सूत रथी को आयुष्मान् कहकर ही पुकारता होगा। "आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सवदा।" कृष्णसारे—कृष्णश्चासौ सार शवल स्तस्मिन् अत्र 'वर्णो वर्णेनेति कर्मधारय। यह एक विशेष प्रकार का मृग होता है यह चितकबरा होता है पर इस पर काले धब्बे अधिक होते हैं। ददत्—दा धातो शतृ, "नाभ्यस्ताच्छतु" इति नुमभाव। अधिज्यकार्मुके—ज्याम् अधिगतम् अधिज्यम्

अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया इति प्रादितत्पुरुष, कर्मणे प्रभवति इति कार्मुकम्—कर्मन् शब्दात् उकञ प्रत्यय। अधिज्य कार्मुक यस्य तस्मिन्—अधिज्यकामुके। मृगानुसारिण पिनाकिनम—यहाँ एक पौराणिक कथा का सकेत है। भगवान् शिव के श्वशुर दक्ष प्रजापति ने अश्वमेघ यज्ञ किया उसमे उन्होने सभी देवताओ को आमन्त्रित किया था पर भगवान् शिव को नही, इतना ही नही उन्होने पावती जी के समक्ष शिव के लिये अपमानजनक शब्द भी कहे थे, इससे भगवती ने वहीं अपना शरीर त्याग दिया था, इस समाचार को सुनकर क्रुद्ध हुये भगवान् शिव् ने आकर दक्ष का वध किया और यज्ञ जब मृग का रूप धर कर भागा तब शिवजी ने अपना पिनाक धनुष् लेकर उसका पीछा किया और उसका वध किया था। वायु पुराणदि मे यही कथा कुछ भिन्न रूप मे है।

सूत का लक्षण —

> निमित्तशकुनज्ञानो हयशिक्षाविशारद ।
> स्वामिभक्तो महोत्साह सर्वेषाञ्च प्रियम्वद ॥
> शूरश्च कृतविद्यश्च सारथि परिकीर्तित ।

प्रस्तुत नाटक मे यही से मुख्य कथावस्तु आरम्भ होती है। मुख्य कथावस्तु या इतिवृत्त प्रथम दो प्रकार का होता है, आधिकारिक और प्रासङ्गिक यह प्रासङ्गिक भी दो प्रकार का होता है, पताका और प्रकरी। यदि दो प्रकार का पताकास्थानक भी इसी मे जोड दिया जाय तो यह इतिवृत्त पाँच प्रकार का होगा। यद्यपि आचायविश्वनाथ ने पताकास्थानक को चार प्रकार का माना है तथापि आचार्य धनञ्जय दो ही प्रकार का मानते हैं, एक अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशसा के द्वारा और दूसरा समासोक्ति के द्वारा।

यह इतिवृत्त प्रख्यात उत्पाद्य एव मिश्र भेद से पुन तीन प्रकार का होता है। प्रख्यात—इतिहास पुराणादि से गृहीत होता है, उत्पाद्य कविकल्पित होता है और मिश्र मे दोनो का मिला जुला रूप रहता है। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु महाभारत से गृहीत है अत प्रख्यात कथावस्तु है।

नाटकीय कथावस्तु को पाँच भागो मे विभक्त किया जाता है, जिन्हें पाँच अर्थप्रकृतियाँ कहते हैं, ये नाटक के नायक की प्रयोजन सिद्धि का हेतु होती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य, ये पाँच अथप्रकृतियों के नाम हैं।

इसी प्रकार फलाभिलाषी नायक के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

उक्त पाँचो अर्थप्रकृतियो मे से एक-एक को, इन अवस्थाओ के एक-एक भेद से मिलाकर पाँच सन्धियाँ बनती हैं जो कि मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमश, उपसहार इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन को अग्रलिखित प्रकार से देखा जा सकता है—

अथ प्रकृति	अवस्था	सन्धि
बीज	आरम्भ	मुख
बिन्दु	यत्न	प्रतिमुख
पताका	प्राप्त्याशा	गभ
प्रकरी	नियताप्ति	सावमश
काय	फलागम	उपसहार

वस्तुत अथ प्रकृतियाँ कथावस्तु का ढाचा खडा करती हैं अत वे उपादान कारण कहलाती हैं। अवस्थाओ का सम्बन्ध नायक की मनोदशाओ से होता है। तात्पय यह कि अथ प्रकृतिया तो कथावस्तु का भौतिक दृष्टि से पाच भागो मे विभाजन करती है पर पञ्च अवस्थाए उस कथावस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन करती है क्योकि इनका सम्बन्ध नायक की मनोदशाओ से रहता है।

सन्धि का अथ सम्बन्ध है अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध कथाशो को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से अन्वित किया जाता है तब वह सम्बन्ध सन्धि कहा जाता है।

इन सन्धियो मे प्रथम मुख सन्धि है, इस सन्धि मे नाना प्रकार के रसो को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है अर्थात् इसी सन्धि मे कथा का बीज रहता है और काय का आरम्भ होता है, इस सन्धि के १२ तथा अन्य सन्धियो के भी अलग-अलग कई अग होने है, जिनका यथास्थान निर्देश किया गया है। मुख सन्धि का लक्षण है —

यत्र बीजसमुत्पत्ति र्नानाथरससम्भवा।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुख परिकीर्तितम ॥

प्रस्तुत नाटक मे "तत प्रविशति से लेकर प्रथमाङ्क की समाप्ति तक मुख सन्धि है। यद्यपि राघव भट्ट ने द्वितीय अक मे "उभौ परिक्रम्योपविष्टौ" तक यह सन्धि मानी है।

पाँच अवस्थाओ मे यहाँ पर प्रथम आरम्भ नामक अवस्था है "भवेदारम्भ औत्सुक्य यन्मुख्यफलसिद्धये" सा० दा०। अथवा "औत्सुक्यमात्रबन्ध स्तु यो बीजस्य निबध्यते। महत फलयोगम्य स खल्वारम्भ इष्यते। अर्थात् जहाँ फल प्राप्ति हेतु काय का आरम्भ किया जाय वहाँ आरम्भ नामक अवस्था होती है। प्रस्तुत नाटक के प्रथम अक मे "राजा—भवतु तामेव द्रक्ष्यामि" यह फलप्राप्ति हेतु नायक के काय के आरम्भ की प्रथम मनोदशा है। राजा का औत्सुक्य तो उक्त वाक्य से आरम्भ होता है पर शकुन्तला का औत्सुक्य "किं नु खल्विम जन प्रेक्ष्य" इस वाक्य से आरम्भ होता है।

राजा—सूत ! दूर ममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टा । अथ पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि ,
पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढै श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतर स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥७॥
तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीय सवृत्त ।

पाँच अथ प्रकृतियो मे यहाँ बीज नामक प्रथम अर्थ प्रकृति है जिसका लक्षण है ।—

अल्पमात्र समुद्दिष्ट बहुधा यत् प्रसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतु बीज तदभिधीयते ।

अर्थात् जो पहले अल्पमात्र हो और फिर फल प्राप्ति पर्यन्त उत्तरोत्तर फैलता जाय इसे बीज कहते हैं। प्रथमाङ्क मे वैखानस राजा से कहता है "पुत्र मेव गुणोपेत चक्रवर्तिन मवाप्नुहि" वैखानस का यह कथन कथावस्तु का बीज है जोकि धीरे धीरे फैलता हुआ फल प्राप्ति तक चलता है। वस्तुत दुष्यन्त शकुतला का प्रेम ही इस नाटक का बीज है जो कि उक्त कथन और "इदानी मेव दुहितर शकुतला सोमतीर्थ गत" से आरम्भ होता है ।

इसी प्रकार अन्य अथ प्रकृतियो अवस्थाओ सन्धियो एव सन्ध्यङ्गो का यथा स्थान निर्देश किया गया है ।

राजा—सूत ! यह हरिण तो हम लोगो को बहुत दूर ले आया है और फिर यह अब भी—

ग्रीवेति अन्वय—पश्य, अनुपतति स्यन्दने मुहु ग्रीवाभङ्गाभिराम बद्धदष्टि, शरपतनभयात् भूयसा पश्चार्धेन पूवकाय प्रविष्ट, श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि अर्धावलीढै दर्भै कीणवर्त्मा, उदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरम उर्व्याम् स्तोकम् प्रयाति ।

शब्दार्थ—पश्य=देखो, अनुपतति स्यन्दने=(अपने) पीछे दौडते हुये रथ पर, मुहु=बार बार, ग्रीवाभङ्गाभिरामम्=गरदन को मोडने से मनोहरतापूवक, बद्ध दृष्टि=एकाग्रदृष्टि से देखता हुआ, शरपतनभयात्=वाण लगने के भय से, भूयसा=बहुत अधिक, पश्चार्धेन=अपने पिछले आधे भाग से पूवकायम्=शरीर के अगले भाग मे, प्रविष्ट=प्रविष्ट हुआ (सा) श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि=(दौडने मे) थकावट के कारण खुले हुये मुख से गिरने वाले, अर्धावलीढै=आधे चबाये गये दर्भै=कुशो से, कीणवर्त्मा=जिसका माग व्याप्त हो गया है उदग्रप्लुतत्वात=ऊँचा उछलने के कारण, वियति=आकाश मे, बहुतरम्=बहुत अधिक, उर्व्याम्=पृथिवी पर, स्तोकम्=बहुत थोड़ा, प्रयाति=चलता है ।

अनुवाद—देखो, अपने पीछे दौडते हुये रथ पर बार-बार गरदन मोडने से मनोहरतापूर्वक एक दृष्टि से देखने वाला, बाण लगने के भय से अपने शरीर के पिछले आधे भाग से बहुत अधिक आगे के भाग मे प्रविष्ट हुआ सा, (दौड़ने मे) थकावट के कारण खुले हुये मुख से गिरने वाले, आधे चबाये हुये कुशो से जिसका माग व्याप्त हो गया है (ऐसा यह मृग) ऊँचा उछलने के कारण आकाश मे ही अधिक, (पर) भूमि पर बहुत कम चलता है।

भावार्थ—भागते हुए हिरण की चेष्टाओ का वर्णन करता हुआ राजा दुष्यन्त अपने सारथि से कहता है कि देखो, यह हिरण, अपने पीछे दौडते हुए मेरे रथ पर बार-बार अपनी गर्दन मोडकर मनोहरतापूर्वक दृष्टिपात कर रहा है, मेरे बाण के लगने के भय से इसने अपने शरीर का पिछला भाग बहुत अधिक शरीर के अगले भाग में समेट लिया है, इस प्रकार यह बिल्कुल गोलाकार बन गया है। भागने मे जो इसे थकावट होती है, इस से इसका मुख खुल गया है। फलत इसके द्वारा अधर्चवित कुश इसके मुख से गिर रहे हैं, इन कुशो से इसका मार्ग भर गया है। भयवश यह ऊँची-ऊँची छलाग मारता है। अतएव यह आकाश में ही देर तक ठहरा रहता है पृथ्वी पर तो यह कम ही चलता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में 'प्रविष्ट' इस पद के आगे 'इव' को लगाना पड़ेगा, क्योंकि मृग अपने पूर्वकाय मे प्रविष्ट तो हो ही नहीं सकता है अत, यहाँ गम्योत्प्रेक्षा लकार होगा। श्रम विवृतेत्यादि पद मे रसनाकाव्य लिंग अलकार है "प्रस्तुसरोत्तरार्थं यत् पूर्वपूर्वार्थ हेतुता रसनाकाव्यलिंग तत्" प्रधानतया तो यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है क्योकि यहाँ मृग की स्वभावगत चेष्टाओ का वणन है। छेक, वृत्ति और श्रुति, शब्दालकार हैं। काव्य प्रकाशकार से इस श्लोक को भयानक रस का उदाहरण माना है। मृगगत भय स्थायी भाव है, धनुर्धारी दुष्यन्त से आरूढ़ रथ का देखना आलम्बन विभाव, रथ का अनुपतन शरपतन आदि उद्दीपन विभाव ग्रीवाभङ्ग कुशो का गिरना, शरीर सकोच, चञ्चलता, विवृत मुख होना आदि अनुभाव त्रास शका आवेग आदि सचारी भाव हैं कम्प आदि सात्विक भाव हैं, अत इन सबसे परिपुष्ट यहाँ भयानक रस व्यङ्ग्य है। और इसमें स्रग्धरा नामक छन्द है जिसका लक्षण प्रथम श्लोक में बताया जा चुका है।

संस्कृत व्याख्या—पश्य=अवलोकय, अनुपतति=पश्चाद् धावति, स्यन्दने=रथे, मुहु=बारबारम्, ग्रीवाया कन्धराया भङ्गेन परावर्तनेन अभिरामम् मनोहरम् यथा स्यात्तथा—ग्रीवाभङ्गाभिरामम्, बद्धा दृष्टि येन स—बद्धदृष्टि—आसक्तलोचन, शरस्य पतन तस्माद् भयं तस्मात्—शरपतनभयात्=बाणक्षपातत्रासात्, भूयसा—अधिकेन, पश्चार्धेन=स्वशरीरस्य पश्चाध भागेन, पूर्वं कायस्य पूर्वकायस्तम् पूर्वकायम्=स्वशरीरस्य पूर्वभागम्, प्रविष्ट (इव) प्रवेश प्राप्त इव, मण्डलीभूत इवेत्यर्थ। श्रमेण

तीव्रधावनपरिश्रमेण विवृत व्यात्त यन्मुख मानन तस्मात् भ्रशिभि अध पतद्भि—श्रमविवृतमुखभ्रशिभि, अर्ध अवलीढा तै अर्धावलीढै—अधर्चर्वितै, दर्भै=कुशै, कीर्णं वर्त्म यस्य स कीर्णवर्त्मा=व्याप्तगमनमाग (एवम्भूतोऽय मृग) उदग्र प्लुत प्लवनम् यस्य तस्य भावस्तस्मात् उदग्रप्लुतत्वात्=उत्कटोत्प्लवनात्, वियति—आकाशे, बहुतरम्=अधिकम्, उर्व्याम्=भूमौ, स्तोकम्=अल्पम्, प्रयाति=गच्छति।

संस्कृत सरलार्थ—तीव्रगत्या धाव त मृग वणयन् राजा स्वसूत कथयति—सूत! पश्य, मृगोऽयम् अनुगच्छति मम रथे पुन पुन स्वकन्धरावतनेन मनोहरतापूवक दृष्टिपात करोति। स्वशरीरे मम बाणसपातत्रासात् अधिकेन स्वशरीरे पश्चार्धभागेन स्वकीय पूर्वकाय प्रविष्ट इवालक्ष्यते। धावने परिश्रमाद् व्यात्तमुखा दध पतद्भि रधर्चर्वितै कुशैरस्य धावनमाग व्याप्तोऽस्ति। उदग्रप्लवनैरयमाकाश एवाधिक तिष्ठति, भूमौ त्वय स्तोकमेव गच्छति।

सविलि—तो किस प्रकार यह मृग, मेरे पीछा करते हुये भी, कठिनता से ही दिखलाई पडने लगा है?

टिप्पणी

ग्रीवाभङ्गाभिरामम्—कन्धराया परावतनेन अभिराम यथा स्यात्तथा—अभि+रम्+घञ्। **अनुपतति**—अनु+पत्+शतृ सप्तम्येक वचने। स्यन्दने=स्यन्द् धातो ल्युटि रूपम्। **बद्धदृष्टि**—अ यत्र दत्तदृष्टि इति पाठ। वस्तुत बद्धदृष्टि के स्थान पर दत्तदृष्टि पाठ ही उचित है, क्योकि दृष्टि बाँध कर देखने वाला बार-बार पीछे मुडकर नही देख सकता, भयभीत होने के कारण भागता हुआ हिरण एकटक दृष्टि से पीछे आते हुये रथ को बार-बार नही देख सकता था अत दत्तदृष्टि ही पाठ ठीक है। **पश्चार्धेन**—अपरश्चासौ अधस्तेन 'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्य इति अपरस्य पश्चादेश। **शरपतनभयात्**—अत्र हेत्वर्थे पञ्चमी। **भूयसा**—बहुशब्दादीयसुन् तृतीयैक वचने भूयसा यहाँ "बहोर्लोपो भू च बहो" से बहु को भू आदेश और ईयस के ईकार का लोप होता है। **पूर्वकायम्**—पूर्वं कायस्येति विग्रहे पूर्वापरेति सूत्रेण एकदेशिसमास। **प्रविष्ट**—प्र+विश+क्त। बाण लगने के भय से मृग अपने शरीर के पिछले भाग को आगे के भाग मे समेटे हुये था अत ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वह पिछले भाग से आगे के भाग मे घुसकर गोलाकार बन गया है, पर इस प्रकार के अर्थ के लिये प्रविष्ट के आगे गम्योत्प्रेक्षा सूचक 'इव' की कल्पना करनी पडेगी। मृग वस्तुत अगले भाग मे प्रविष्ट नही हो सकता वह प्रविष्ट हुआ सा जान पडता था। **कीर्णवर्त्मा**—यहाँ सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समास नियम से समास है। **अर्धावलीढ**—भय और भागने के कारण मृग ने कुशो को आधा ही चबा पाया था। अव+लिह+क्त—अवलीढ। **श्रमविवृतमुखभ्रशिभि**—श्रमेण विवृतात् मुखात् भ्रशिन तै—भ्रश्+णिनि। **कीर्णवर्त्मा**—कॄ+क्त। उदग्रप्लुत=ऊंची और लम्बी छलाग मारना। मृग मे इस प्रकार के प्लवन की स्वाभाविक शक्ति होती है।

सूत—आयुष्मन्, उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेग । तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तर सवृन्न । सम्प्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति ।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषूव ।

सूत—यदाज्ञापय्रत्यायुष्मान् । (रथवेग निरूप्य) आयुष्मन्, पश्य पश्य—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णा
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्या ॥८॥

सूत—आयुष्मन् ! (यह) भूमि ऊँची नीची थी, इस कारण, मैंने लगाम खीचने से, रथ का वेग मन्द कर दिया था। इससे यह मृग अतिदूरवर्ती हो गया था। अब समतल भूमि पर स्थित आपके लिए यह दुष्प्राप्य न होगा अर्थात् अब इसका मिलना कठिन न होगा।

राजा—तो फिर लगाम ढीली कर दो।

सूत—जैसी आपकी आज्ञा (रथ के वेग का अभिनय करके) आयुष्मन् ! देखिये, देखिये—

मुक्तेष्विति अन्वय—रश्मिषु मुक्तेषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा, निभृतोर्ध्वकर्णा आत्मोद्धतै अपि रजोभि अलङ्घनीया अमी रथ्या मृगजवाक्षमया इव धावन्ति।

शब्दार्थ—रश्मिषु=लगाम, रास या बागडोरो के, मुक्तेषु=ढीली कर देने पर, निरायतपूर्वकाया =जिनके शरीर का अगला भाग पूर्णतया फैल गया है अर्थात् चौडा हो गया है, निष्कम्पचामरशिखा =(शोभावर्धनार्थ मस्तक पर बाधी गई) कलँगी या चौरी के अग्र भाग (जिनके) निश्चल हो गये है, निभृतोर्ध्वकर्णा =(जिनके दोनो) कान खडे हुए एव निश्चल है हिलते नही। आत्मोद्धतै =अपने द्वारा उठाई गई, अपि—भी, रजोभि —धूलियो से, अलङ्घनीया =जो उल्लङ्घनीय नही हैं, अमी रथ्या =ऐसे ये रथ के घोडे, मृगजवाक्षमया इव=मानो मृग के वेग को न सहन करने कारण, धावन्ति=भाग रहे है।

अनुवाद—(घोड़ो की) रस्सियो के ढीली कर देने पर, पूर्णतया विस्तृत शरीर के अग्रभाग वाले, चौरियो के निश्चल अग्रभाग वाले, शान्त एव खडे कानो वाले तथा अपने द्वारा भी उठाई गई धूलियो से स्पृष्ट न होने वाले ये रथ के घोडे मानो मृग के वेग को न सहन करने के कारण भाग रहे है।

भावार्थ—वेगपूवक मृग का पीछा करते हुये अश्वो का वणन करता हुआ सारथि राजा से कहता है, आयुष्मन् देखिये—अब मैने इन अश्वो की रस्सियाँ छोड दी है, अतएव अब ये मानो भागते हुए मग के वेग का न सहन करने के कारण, इतने वेग से उसका पीछा कर रहे है। वेगत भागने के कारण इनके शरीर का अगला भाग पूणतया लम्बा-चौडा हो गया है। (भागते हुए अश्वो के शरीर का अगला भाग स्वभावत लम्बा-चौडा हो जाता है) भागने के कारण ही इनके मस्तक पर शोभाथ बाँधी गइ चौरियो या कलगियो के अग्रभाग भी निश्चल एव शान्त हो गये है (अश्वो के मस्तक पर शोभाथ कलगी बाध दी जाती है, दौडते समय अश्व स्वभावत अपना मस्तक सीधा रखते है, अतएव कलगी हिल नही रही थी वह सीधी एव निश्चल खडी थी, साधारण गति के समय कलगी सिर के हिलते रहने के कारण हिलती रहती है, चामर का अथ अन्य टीकाकारो ने पुच्छ भी किया है, दौडते समय घोडो की पूछ भी नही हिलती, अन्य टीकाकारो ने चामर का अथ घोडो के कन्धो के बाल (अयाल) भी किया है, दौडते समय घोडो की पूछ और गरदन के ऊपर के बाल भी स्थिर एव निष्कम्प रहते है।) दौडने के कारण ही इनके कान खडे एव निश्चल हे (दौडते समय घोडो के कान स्वभावत खडे रहते है और निश्चल बने रहते हैं हिलते नही) दौडते समय अपने ही खुरो से उडाई गई धूलि भी इनका स्पश नही कर पाती (अति वेग से भागने के कारण खुरो से उठी हुई धूलि भी इन पर नही पड पाती, जब तक धूलि उडकर इनके पास तक पहुँचे ये आगे निकल जाते है, अत धूलि भी इन पर नही पड पाती है।)

विशेष—"मृगजवाक्षमया इव" मे **हेतूत्प्रेक्षालकार** है, अश्वो की स्वाभाविक चेष्टाओ का वणन होने से **स्वभावोक्ति** अलकार है। **वृत्यनुप्रास** शब्दालकार है। **वसन्ततिलका** नामक छन्द है "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग" अर्थात् जिस छन्द मे क्रमश तगण भगण जगण जगण और अन्त मे दो गुरु वर्णो के क्रम से चौदह (१४) वण होते हैं वह वसन्ततिलका नामक छन्द होता है —

तगण	भगण	जगण	जगण	गु० गु०	
S S |	S | |	| S |	| S |	S S	
मु क्ते षु,	र श्मि षु,	नि रा य,	त पू व,	का या	—१४ वण

सस्कत व्याख्या—रश्मिषु=प्रग्रहेषु, मुक्तेषु=शिथिलीकृतेषु, नितराम् आयत दीघ विस्तृतो वा पूवकाय शरीराग्रभाग येषा ते निरायतपूवकाया=सुविस्तृत-शरीराग्रभागा, निष्कम्पा निश्चला चामराणाम् चमरमृगपुच्छनिर्मिताना शोभार्थं मस्तके बद्धाना शिरोभूषणानाम् शिखा अग्रभागा येषा ते-निष्कम्पचामरशिखा, निभृतौ निश्चलौ ऊर्ध्वौ कर्णौ यषा ते-निभतोर्ध्वकर्णा, आत्मना उद्धतैं उत्थापितैं आत्मोद्धतैं=स्वखुरोत्थापितैं अपि रजोभि=धूलिभि, अलङ घनीया=अनति-क्रमणीया अस्पृष्टा इत्यथ, अमी पुरादृश्यमाना, रथ्या=रथवाहिन अश्वा मृगस्य जवस्य वेगस्य अक्षमा असहिष्णुता, तया=मृगजवाक्षमया इव, धावन्ति=वेगेन गच्छन्ति।

राजा—सत्यम्, अतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः। तथा हि—

संस्कृत सरलार्थ—समतल भूप्रदेश मासाद्य अतिवेगेन धावतोऽश्वान् दर्शयन् सूत राजान कथयति, आयुष्मन्, प्रग्रहेषु शिथिलीकृतेषु रथवाहिन एतेऽश्वा मृगवेगासहिष्णुत-येव धावन्ति, सवेग धावनकाले अश्वानामेतेषा शरीराग्रभागा सुविस्तृता अवलोक्यन्ते, एतेषा मस्तकेष्वावद्धाना चामराणा मग्रभागा निश्चला सन्ति, कर्णाविप्येतेषा निश्चलौ ऊर्ध्वंगतौ स्त, वेगेन धावन्त एते स्वखुरोत्थापितै रपि धूलिभिरस्पृष्टा सन्ति।

टिप्पणी

उद्घातिनी भूमि—उत् ऊर्ध्वं हन्तु शील मस्या इत्यर्थे उत्+हन्+णिनि+ङीप्—उद्घातिनी अथवा उद्घाता सन्ति अस्यामिति उद्घातिनी मत्वर्थक इनि। ऊबड़-खाबड़, ऊँची-नीची भूमि, जिस पर दौड़ने से ठोकर खाकर गिरने की सम्भावना हो, सारथि ने भूमि को उद्घातिनी देखकर ही अश्वो को लगाम खींच कर दौड़ने से रोक दिया था, उसे डर था कि कहीं घोडे ठोकर खाकर गिर न पड़े। **रश्मिसयमनात्**—रश्मीनाम् अश्वप्रग्रहाणा सयमन शिथिलीकरणम् तस्मात्—सम्+यम्+ल्युट। **मन्दीकृत**—अमन्द मन्द कृत इत्यर्थेच्वि प्रत्यय। **विप्रकृष्टान्तर**—विप्रकृष्टम् अतिदूरम् अन्तर यस्य स। **सवृत्त**—सम्+वृत्+क्त। **समदेशवर्तिन**—समदेशे साधु वर्तते तस्य, समदेश+वृत+णिनि, **दुरासद**—दु खने आसाद्यते प्राप्यते दुरासद, दुर्+आ+सद्+खल् प्रत्यय, खल्प्रत्ययान्त दूरासद योगे, न लोकेति निषेधात् समदेशवर्तिनस्ते, इत्यत्र न कर्तरि षष्ठी, अपितु शेषे षष्ठी। **अभीषव**—'अभीषु प्रग्रहे रश्मौ' इत्यमर। **मुच्यन्ताम**—मुच कर्मणि लोट्। **निरूप्य**—नि+रूप+णिच्+क्त्वा—ल्यप्। सामान्यत इसका अर्थ देखकर होता है, पर नाटको मे प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ 'अभिनय कर, के होता है, इसी प्रकार 'रूपयति' का अर्थ भी अभिनय करना होता है यथा 'शृङ्गारलज्जा रूपयति, भ्रमरबाधा रूपयति आदि। रूप धातु से ही रूपक बनता है अत रूपयति का अर्थ 'अभिनय करता है' होता है, अतएव यहाँ रथवेग निरूप्य' का अर्थ 'रथ के वेग का अभिनय करके' है। **मुक्तेषु**—मुच्+क्त। **निरायतपूर्वकाया**—नितराम् आयता पूर्वकाया येषान्ते। निर्+आ+यम्+क्त। **निष्कम्पचामरशिखा**—शिखा का अर्थ यहाँ अग्रभाग है, चामरो के अग्रभाग निश्चल थे। **निभृतोर्ध्वकर्णा**—निभृत=शान्त निश्चल एव ऊर्ध्व=खडे हुये कानो वाले। **रथ्या**—रथ वहन्ति—रथ+यत्। जहाँ रथ्या यह आकारान्त शब्द है वहाँ इसका अर्थ मार्ग या रास्ता है।

राजा—ठीक है। (ये मेरे) घोडे (वेग मे) सूर्य के और इन्द्र के अश्वो को भी अतिक्रमण कर रहे हैं। क्योंकि—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलतां,
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद् वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥

सूत! पश्यैनं व्यापाद्यमानम् ।

(इति शरसन्धानं नाटयति)

यदिति अन्वय—रथजवात् यत् आलोके सूक्ष्मम् तत् सहसा विपुलताम् व्रजति । यत् अर्धे विच्छिन्नम् तत कृतसन्धानम् इव भवति । यत् प्रकृत्या वक्रम् तत् अपि नयनयो समरेखम् (भवति) क्षणम् अपि किञ्चित् न मे दूरे न पार्श्वे (तिष्ठति) ।

शब्दार्थ—रथजवात्=रथ के वेग के कारण, यत्=जो वस्तु, आलोके=देखने मे, सूक्ष्मम्=छोटी सी (दिखाई पडती है) तत्=वह वस्तु, सहसा=एकाएक, विपुलता व्रजति=विशालता को प्राप्त हो जाती है । यत्=जो वस्तु, अर्धे विच्छिन्नम्=बीच से कटी हुई, या टूटी हुई सी, (जान पडती है) तत्=वह, कृतसन्धानम्=जोड़ दी गई सी, भवति=हो जाती है । यत्=जो वस्तु, प्रकृत्या=स्वभाव से ही, वक्रम्=टेढी (होती है) तत् अपि=वह भी, नयनयो =आखो के लिये, समरेखम्=सीधी सी (हो जाती है) क्षणम अपि=क्षणभर भी, किञ्चित्=कोई वस्तु, न मे दूरे न पार्श्वे (तिष्ठति) न मुझ से दूर ही और न पास ही (ठहरती है) ।

अनुवाद—रथ के वेग के कारण, जो वस्तु देखने मे छोटी सी (दिखलाई पडती है) वह अकस्मात् ही विशालता को प्राप्त हो जाती है । जो वस्तु बीच से कटी हुई या टूटी हुई सी (जान पडती है) वह जोड दी गई सी (हो जाती है) जो वस्तु स्वभावत ही टेढी (होती है) वह भी आँखो के लिये सीधी सी (हो जाती है) क्षणभर भी कोई वस्तु न मुझ से दूर ही और न पास ही (ठहरती है) ।

भावार्थ—रथ के वेग के कारण अतिशीघ्र होने वाली वस्तुगत परिवर्तनो की प्रतीति को बतलाता हुआ राजा, सूत से कहता है कि रथवेग के कारण दूर से देखने पर जो वस्तु पहले छोटी सी दिखलाई पडती है वह (शीघ्र ही रथ के पास आ जाने से) बडी प्रतीत होने लगती है । जो वस्तु पहले बीच से कटी हुई या टूटी हुई सी लगती है वही तुरन्त ऐसी हो जाती है कि मानो उसे किसी ने जोड दिया हो, इसी प्रकार दूर से जो वस्तु स्वभावत टेढी लगती है वही तुरन्त नेत्रो के सामने सीधी सी प्रतीत होने लगती है । इस प्रकार क्षणभर के लिये भी कोई वस्तु न तो मुझ से दूर ही रहती है और न पास ही । इस सब कारण रथ का वेग ही है ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे सर्वत्र स्वभावोक्ति अलकार है, प्रथम पाद में विरोधाभास अलकार है क्योकि सूक्ष्म वस्तु तुरन्त ही विशाल हो जाती है । दूसरे

चरण मे इव के प्रयोग से **वाच्योत्प्रेक्षा** और तीसरे चरण मे इव का प्रयोग न होने से **गम्योत्प्रेक्षालकार** है, चतुथ पाद मे यथासग्य अलकार है। रथजवात् मे हेतु **अलकार** है, छेक, वत्ति, अनुप्रास। शिखरिणी नामक छन्द है। "रसै रुद्रै श्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी" अर्थात् जिस छन्द के चारो चरणो मे क्रमश यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, एक लघु तथा दूसरा वण गुरु हो इस प्रकार जिसमे १७ वण हो और ६ तथा ११ पर यति हो वह शिखरिणी छन्द होता है —

यगण	मगण	नगण	सगण	भगण	ल	गु
। ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ	। । ।	। । ऽ	ऽ । ।	।	ऽ
य दा लो	के सू क्ष्म,	व्र ज ति,	स ह सा,	तद् वि पु,	ल	ताम्।

—१७ वण

सस्कृत व्याख्या—रथजवात्=रथवेगात्, यत्=यद् वस्तु, आलोके=दूराद् दर्शन इत्यथ, सूक्ष्मम्=तनुतर दृश्यते इत्यथ। तत्=तदेव वस्तु, सहसा=द्रागेव अकस्मादेव, विपुलताम=विस्तीणताम व्रजति प्राप्नोति। यत्=यद् वस्तु, अर्धेविच्छिन्नम् =अधभागे त्रुटितम (वृक्षपक्ति भूतलादिक वा) तत्=तद् वस्तु, कृतसन्धानमिव= अपृथग्भूतम् समिलित, अविभक्तम् इव, भवति=जायते। यत्=यद् वस्तु, प्रकृत्या= स्वभावेन, वक्रम्=कुटिलम (अस्ति) तदपि=तदपि वस्तु, नयनयो=नेत्रयो, समा रेखा यस्य तत्—समरेखम=सरलम अकुटिलम् इव प्रतीयते। क्षण मपि=क्षणमात्र मपि, किञ्चित्=किञ्चिदपि वस्तु, न मे दूरे=न मत्त दूरे तिष्ठति, न पार्श्वे=नापि मम समीपे तिष्ठति।

सस्कृत सरलाथ—राजा सूत कथयति-रथवेगवशात् यत्किमपि वस्तु दूरत दशने तनुतर दृश्यते तदेव वस्तु द्रागेव विशालतामधि गच्छति, यदर्धे त्रुटितमिव प्रथम प्रतीयते तत् सहसैव अपृथग्भूतमिव जायते, स्वभावेनैव यत् वक्र मस्ति तदेव नयनयो सरल प्रतीयते, एव रथवेगवशात क्षणमात्र मपि नकिमपि वस्तु मत्तो दूरे तिष्ठति नापि मम पार्श्वे एव तिष्ठति।

टिप्पणी

अतीत्य—अति+इण गतौ+क्त्वा—ल्यप "ह्रस्वस्य पिति कृति तुगिति तुगागम। **हरित हरींश्च**—हृ धातु से उणादि प्रत्यय निष्पन्न हरित शब्द का अथ सूय के अश्व, और हरि शब्द का अर्थ इन्द्र के अश्व है, अतएव सूय को हरिदश्व और इन्द्र को हरिहय कहा जाता है ऋग्वेद म प्रयुक्त इन शब्दो का यही अथ लिया गया है निरुक्त से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है हरित् और हरि अतिवेगशाली अश्व है, तथापि दुष्यन्त के ये अश्व इनका भी अतिक्रमण कर रहे थे। **वाजिन** — वाजो वेग बल वा सोऽस्या-स्तीति वाजी वाज शब्दादिनि **विच्छिन्नम**— वि+छिद् । क्त रदाभ्या मिति नत्वम। **कृतसन्धानम**— कृत सन्धान यस्य तत सम्‌ | धा | ल्युट। **प्रकृत्या**— अत्र प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम् इति ततीया **मे**—अत्र दूरान्तिकार्थे इति षष्ठी, **रथजवात**—अत्र हेत्वर्थे पञ्चमी। इस सम्पूर्ण श्लोक मे रथ की विशेष तीव्रता का और उससे होने वाली प्रतीति का

(नेपथ्ये)

भो भो राजन्, आश्रममृगोऽय न हन्तव्यो न हन्तव्य ।

सूत —(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन्, अस्य खलु ते वाणपथवर्तिन कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिता ।

राजा—(ससभ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यन्ता वाजिन ।

सूत —तथा । (इति रथ स्थापयति)

(तत प्रविशत्यात्मनातृतीयो वैखानस)

वैखानस —(हस्तमुद्यम्य) राजन्, आश्रममृगोऽय न हन्तव्यो न हन्तव्य ।

तत्साधुकृतसन्धान प्रतिसहर सायकम् ।
आर्तत्राणाय व शस्त्र न प्रहर्तुमनागसि ॥१०॥

वणन है, वायुयान या रेल से यात्रा करने वाले लोगो को इसका प्रत्यक्ष अनुभव होगा ।

सूत—इति—सारथि ! अब इसे मारे जाते हुये मृग को देखो । (वाण चढाने का अभिनय करता है ।)

(नेपथ्य में)

हे राजन् यह आश्रम का मृग है, इसे नही मारना चाहिए, नही मारना चाहिए ।

सूत—(सुनकर और देखकर) आयुष्मन, वाण के पहुँचने के माग के बीच वर्तमान इस मृग के और आपके बीच तपस्वी उपस्थित हो गये हैं ।

राजा—(घबराहट के साथ) तो घोडो की लगाम रोकिये ।

सूत—अच्छा, ऐसा ही (यह कहकर रथ को रोक लेता है) ।

(तदन्तर दो अन्य ऋषियो के साथ वैखानस का प्रवेश)

वैखानस—राजन्, यह आश्रम का मृग है, इसे न मारना चाहिए, न मारना चाहिए ।

तत्साधुकृतसन्धान-अन्वय—तत् साधुकृतसन्धानम् सायकम् प्रतिसहर, व शस्त्रम् आर्तत्रणाय, अनागसि प्रहर्तुम् न ।

शब्दार्थ—तत्=तो इस कारण, साधुकृतसन्धानम्= जिसको अच्छी प्रकार धनुष पर चढा लिया गया है सायकम्=(ऐसे इस) वाण को, प्रतिसहर=उतार लीजिये । व शस्त्रम्=आपका शस्त्र, आर्तत्राणाय=दु खितो की रक्षा के लिये, अनागसि=निरपराधी पर, प्रहर्तुम् न=प्रहार करने के लिए नही (है) ।

अनुवाद—तो इसलिये, जिसे भली-भाँति धनुष् पर चढा लिया गया है (ऐसे इस) वाण को उतार लीजिये। (क्योकि) आपका शस्त्र, दु खितजनो की रक्षा के लिए (है) निरपराधी जीव पर प्रहार करने के लिए नही है।

भावार्थ—वैखानस राजा से कहता है, कि जिस वाण को आपने अच्छी तरह अपने धनुष पर चढा लिया है, इसे अब उतार लीजिए, क्योकि आपका शस्त्र तो पीडित जनो की रक्षा करने के लिए है, न कि मृग जैसे निरपराधी जीव पर अकारण प्रहार करने के लिए है। यह तो आश्रम मृग होने से सर्वथा निरपराधी जीव है, इस पर वाण चलाना उचित नही।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के पूर्वार्ध वाक्य के प्रति उत्तराधगत दो वाक्य कारण हैं अत वाक्यार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग** अलकार है। कुछ आचार्यों ने यहाँ पूर्ववाक्य का उत्तरार्ध वाक्य द्वय से समर्थन बतलाकर **अर्थान्तरन्यास** अलकार भी माना है, छेक, श्रुति, अनुप्रास। अनुष्टुप् नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—तत्=तस्मात कारणात्, साधु=सम्यक्तया कृत विहितम् सन्धान धनुष्यारोपण यस्य तम्, साधुकृतसन्धानम्, सायकम=वाणम्, प्रतिसहर=प्रत्यावर्तय, धनुष उत्ताय तूणीर प्रापयेत्यर्थ। व=युष्मादृशाना पुरुवशोद्भवाना राज्ञाम्, शस्त्रम्=वाणादिकम्, आर्तानाँ त्राण तस्मै आर्तत्राणाय=दु खपरितप्तजनाना रक्षणाय (अस्ति) निरागसि=निरपराधिनि जीवे, प्रहर्तुम्=प्रहाराय, न, नास्ति।

संस्कृत सरलार्थ—वैखानस राजान कथयति, अयमाश्रममृगोऽस्ति, अतस्त्वया नाय हन्तव्य, अस्मात कारणात् सम्यक्तया धनुष्यारोपितोऽय वाणस्त्वया प्रत्यावर्तनीय, यतोहि युष्मादृशाना पुरुवशोदभवाना राज्ञा शस्त्र दु खपीडितजनरक्षक मस्ति, नानेन निरपराधिनि मृगसदृशे जीवे त्वया प्रहारकरणमुचितम्।

टिप्पणी

नेपथ्ये—नेपथ्य का अर्थ मुख्य पर्दा होता है, इस पर्दे के पीछे से जो बात कही जाती है, उसकी सूचना **नेपथ्ये** अर्थात् पर्दे मे दी जाती है, कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनकी सूचना नाटक मे पर्दे के पीछे से ही दी जाती है। यहाँ इस प्रासगिक बात की सूचना पर्दे की आड से दी जा रही है, अत यहाँ यह **अन्तरसन्धि** है, जैसी कि मातृगुप्ताचार्य की मान्यता है "**अप्रविष्ट एव यज्जवनिकान्तरे वदति तन्नेपथ्य इत्युच्यते**" नेपथ्य की उक्ति ही अन्तरसन्धि कही जाती है "**स्वप्नो दूतश्च लेखश्च नेपथ्योक्तिस्तथैव च। आकाशवचन चेति ज्ञेया ह्यन्तरसन्धय**"। **राजन्**— नाट्यशास्त्र के अनुसार ऋषिजन राजा को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करते हैं "**राजन्नित्यृषिभिर्वाच्य**"। **वाणपथवर्तिन**—अन्यत्र वाणपातवर्तिन भी पाठ है पर अर्थ मे विशेष अन्तर नही है, वाणस्य पन्था वाणपथ अत्र ऋक्पूरब्धू इति समासान्त अ प्रत्यय टिलोपश्च, तस्मिन् वर्तते इति वाणपथवर्ती तस्य। **आत्मनातृतीय**—अत्र 'पूरण इति वक्तव्यम् से तृतीया का अलुक है। इसका अर्थ है स्वय तीसरा, अर्थात् दो अन्य और तीसरा वह, अत

राजा—एष प्रतिसंहृतः । (इति यथोक्तं करोति ।)

वैखानसः—सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः ।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव ।

पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥१४॥

आत्मना तृतीय का अर्थ है दो अन्य तपस्वियो के साथ तीसरा तपस्वी, वैखानस—विखनस मुनिनिर्दिष्ट मार्ग का अनुयायी वैखानस कहा जाता है, विखनस अथ वैखानस, कुछ आचार्य ब्रह्म का ही दूसरा नाम विखनस् मानते हैं अत ब्रह्ममार्गानुयायी तापस ही वैखानस कहे जाते हैं, ये प्राय वनवासी वानप्रस्थाश्रमी होते हैं "वैखानसो वनेवासी वानप्रस्थश्च तापस" उद्यम्य—उठाकर—उत्+यम्+क्त्वा ल्यप् । साधु कृतसन्धानम्—यहाँ साधु शब्द को अलग भी क्रिया विशेषण माना जा सकता है, और समासगत एक पद भी । यहाँ सन्धान का अर्थ बाण का धनुष् पर चढ़ाना है । आर्तत्राणाय—अत्र तुमुन्नर्थे चतुर्थी । व—यहाँ पुरुवंशी राजा दुष्यन्त के प्रति आदरार्थं बहुवचन है । अनागसि—आग अपराध अनागस्—निरपराध ।

राजा—यह (बाण) उतार लिया (यह कहकर वैसा ही करता है) ।

वैखानस—पुरुवंश के प्रदीप आपके लिये यह अति उचित है ।

जन्मेति-अन्वय—यस्य पुरो वंशे जन्म, तव इदम् युक्तरूपम्, एवं गुणोपेतम् चक्रवर्तिनम् पुत्रम् आप्नुहि ।

शब्दार्थ—यस्य पुरो वंशे जन्म, जिस आपका पुरु के वंश में जन्म (हुआ है) ऐसे आपके लिये यह करना अर्थात् मेरे कहने के अनुसार बाण उतार लेना, तव युक्तरूपम्=आपके लिये अत्यन्त उचित (है) एवं गुणोपेतम्=ऐसे ही गुणो से विशिष्ट, चक्रवर्तिनम् पुत्रम्=चक्रवर्ती पुत्र को, आप्नुहि=प्राप्त करो ।

अनुवाद—जिस आपका पुरु के वंश मे जन्म हुआ है, ऐसे आपके लिये यह काम अत्यन्त उचित है, (फलत आप) ऐसे ही गुणों से विशिष्ट चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करें ।

भावार्थ—अपने कथनानुसार ही जब राजा ने बाण उतार लिया तब वैखानस राजा को आशीर्वाद देता हुआ कहता है कि आप पुरुवंश मे उत्पन्न हुये हैं अत आपके लिये ऋषियो के वचनो के अनुसार कार्य करना उचित ही है, फलत आप अब इसी प्रकार के सद्गुणो से युक्त चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करें ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे युक्त रूप पदार्थ के प्रति पुरु के वंश मे जन्म रूप कारण है अत काव्यलिङ्ग अलंकार है । अनुष्टुप् नामक छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—यस्य=यस्य तव, पुरो=पुरुनामकस्य राज्ञ, वंशे=कुले, जन्म=सम्भूति (अस्ति) तव=तस्य तव दुष्यन्तस्य, इदम्=मुनिवचनपालनरूपं कर्म, युक्तरूपम्=अतिशयेन योग्यम् (अस्ति) एवं गुणोपेतम्=एतादृशैर्गुणैर्युक्तम् चक्रवर्तिनम्=सार्वभौमम्, पुत्रम्=सुतम्, आप्नुहि=लभस्व ।

संस्कृत सरलार्थ—वैखानस कथयति—राजन् ! यद् भवता मुनिवचनपालनं

इतरौ—(बाहू उद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिन पुत्रमाप्नुहि ।

राजा—(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतम् ।

वैखानस—राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम् । एष खलु कण्वस्य

कृतम एतद् भवत कम पुरुवशोद्भवस्य तव राज्ञ अतिशयेन योग्य मस्ति, फलतो भवान् एतादृशैरेव सद्गुणैर्युक्त चक्रवर्तिनम पुत्रमाप्नोतु ।

टिप्पणी

एष— इस शब्द का अर्थ यहाँ 'तुरन्त' है, ऋषियो के प्रति आदर भाव दर्शनार्थ इसका यहाँ प्रयोग किया गया है, ऋषि के कहने पर राजा ने तुरन्त बाण उतार लिया था । **पुरुवशप्रदीपस्य**—पुरो वश तस्य प्रदीप तस्य—पुरु नामक राजा के वश को प्रकाशित करने वाले । प्राचीनकाल मे प्रसिद्ध दो ही राजवश थे, सूयवश और चन्द्रवश, विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र इक्ष्वाकु नामक राजा सूयवश के प्रवतक थे, इनके ही वश मे ककुत्स, दिलीप, रघु, राम आदि राजा हुये थे । किन्तु पुरु और दुष्यन्त आदि राजा चन्द्रवश मे उत्पन्न हुये थे । अत्रि मुनि के पुत्र सोम नामक राजा चन्द्रवश के प्रवर्तक थे, इसी वश मे बुध पुरुरवा, आयु और ययाति आदि राजा हुये थे—इन ययाति के पाँच पुत्र थे, इनमे से पुरु और यदु नामक पुत्रो ने दो नये वशो की स्थापना की थी—पुरु के वश मे तशु, अनिल, दुष्यन्त और भरत राजा हुये, भरत, पुरु से २०वी पीढी मे हुये थे इससे ज्ञात होता है कि पुरुवश परम्परा बहुत बडी थी । यदु से ही यदुवश चला है, इसमे वृष्णि देवरात, अन्धक, शूर, वसुदेव, बलराम, कृष्ण आदि उत्पन्न हुये थे । पुरुवश की प्रसिद्धि का कारण पुरु की पितृभक्ति थी अपने पिता ययाति की वृद्धता को पुरु ने अपने ऊपर ले लिया था और वे युवा होकर भी वृद्ध हो गये थे, राजा ययाति की दो रानियाँ थी शर्मिष्ठा और देवयानी । राजा शर्मिष्ठा को अधिक चाहता था, इस पर क्रुद्ध होकर देवयानी के पिता शुक्राचाय ने राजा को वद्ध हो जाने का शाप दिया था । इस वृद्धता को उनके पुत्र पुरु द्वारा ले लिये जाने पर ययाति पुन युवक हो गया था, इससे प्रसन्न होकर ययाति ने पुन अपने पुत्र को युवक बना दिया था । **युक्तरूपम्**—अतिशयेन युक्त मित्यर्थे प्रशसायां रूपप् इति रूपप् प्रत्यय, **एवगुणोपेतम्**—एव गुणा — एव गुणा कमधारय तै उपेत तम् (उप+इ+क्त), **चक्रवर्तिनम्**—चक्रे भू चक्रे वर्तितु शीलमस्येति चक्रवर्ती तम्, चक्र+वृत्+ताच्छील्ये णिनि, **पुत्रम्**—पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुत, तस्मात् पुत्र इति प्रोक्त स्वयमेव स्वयम्भुवा (पद्मपुराण) यहाँ भरत की उत्पत्ति की ओर कवि का सकेत है । **आप्नुहि**—आप्+लोट् । ●

अन्य दोनों तापस—(भुजाओ को उठाकर) सब प्रकार से चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करो ।

राजा—(प्रणामपूर्वक) स्वीकार किया ।

वैखानस—राजन्, हम लोग समिधा (हवन के लिए लकडियाँ) लेने के लिए जा रहे हैं । यह सामने मालिनी नदी के किनारे कुलपति कण्व का आश्रम दिखलाई

कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपात प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेय सत्कार ।
अपि च—

रम्यास्तपोधनाना प्रतिहतविघ्ना क्रिया समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥१२॥

पड रहा है, तो यदि आपको अन्य काय मे विलम्ब न हो तो वहाँ प्रवेश करके अतिथि-जनोचित सत्कार ग्रहण कीजिए। और भी—

रम्या इति अन्वय—तपोधनानाम् प्रतिहतविघ्ना रम्या क्रिया समवलोक्य, मौर्वीकिणाङ्क मे भुज कियत रक्षति, इति (त्वम्) ज्ञास्यसि।

शब्दार्थ—तपोधनानाम्=उत्कृष्ट तपस्वियो की, प्रतिहतविघ्ना=विघ्नो से रहित, अतएव, रम्या=मनोरम, क्रिया=यज्ञानुष्ठानादि क्रियाओ को, समवलोक्य=देखकर, मौर्वीकिणाङ्क=प्रत्यञ्चा के आघात के चिन्हो से अलकृत, मे भुज=मेरी भुजा, कियत् रक्षति=कितनी रक्षा करती है, इति ज्ञास्यसि=यह भी जान लोगे।

अनुवाद—उत्कृष्ट तपस्वियो की, जिनके सभी विघ्न दूर कर दिये गये हैं, अतएव मनोहर सुखद यज्ञानुष्ठानादि क्रियाओ को देखकर, प्रत्यञ्चा के आघात-चिन्हो से अलकृत मेरी भुजा कितनी रक्षा करती है, यह भी ज्ञात हो जायेगा।

भावार्थ—वैखानस राजा से कहता है कि कण्वाश्रम मे प्रवेश कर आपको अतिथि सत्कार तो प्राप्त होगा ही किन्तु वहाँ जाकर उत्कृष्ट तपस्वियो के निर्विघ्न एव सुखपूर्वक चलने वाले यज्ञानुष्ठानो को देखकर आप यह भी जान सकेंगे कि प्रत्यञ्चा के आघात के चिन्हो से सुशोभित मेरी भुजा इन यज्ञादि क्रियाओ की कहाँ तक रक्षा करती है।

विशेष— बाण चलाने मे दोनो भुजायें काम आती हैं फिर कवि ने यहाँ भुज इस एकवचन का प्रयोग कर यह द्योतित किया है कि राजा "स्ववीयगुप्ता हि मनो प्रसूति" इस कथन के अनुसार, अकेला ही सभी विघ्नो को दूर करने मे समथ था। क्रिया इस बहुवचन निर्देश से न केवल यज्ञानुष्ठान ही, अपितु अध्यापनाध्ययन, शास्त्र चिन्तन, देवपूजन अतिथि सत्कार, वन्यपशुसरक्षण आदि सभी का ग्रहण है, ये क्रियायें नवधा परिगणित की गई हैं "आरम्भो निष्कृति शिक्षापूजन सप्रधारणम्, उपाय कम चेष्टा च चिकित्सा च नव क्रिया" "समवलोक्य ज्ञास्यसि" से कवि का आशय है कि सुनकर ही नही अपितु" स्वय ही भली-भाँति अपनी आँखों से देखकर, अपने वनाश्रमो के सरक्षण के विषय मे वस्तुस्थिति को जान सकेंगे, जिसका सम्भवत अद्यावधि आपको पता नहीं है। "तपोधनानाम्" से कवि ने तत्रत्य तपस्वियो का अन्य विषयनिरपेक्षत्व द्योतित किया है, और मौर्वीकिणाङ्क पद से राजा का जनत्राणपरायण होना तथा उत्कृष्ट वीर होना द्योतित किया है, इस प्रकार इस पद्य के प्राय सभी विशेषण साभिप्राय हैं और इनके प्रकृतोप योगी होने से यहाँ परिकर अलकार है। 'किणाङ्क'

में पुनरुक्तवदाभास अलकार है क्योकि किण और अङ्क का अर्थ प्राय समान ही प्रतीत होता है। काव्यलिङ्ग, श्रुति, वत्ति, अनुप्रास और आर्या जाति छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—तपोधनानाम्=उत्कृष्टतापसानाम्, प्रतिहृता दूरीकृता विघ्ना राक्षसादिकृतधर्मानुष्ठानबाधा यासा ता—प्रतिहतनिघ्ना=सर्वविघ्नविरहिता (अतएव) रम्या=वेदविहिताचरणेन रमणीया, क्रिया=यज्ञादिकर्मारम्भा, समवलोक्य=यथावत् निरीक्ष्य, मौर्व्या ज्याया किण चिह्न तदेव अङ्क भूषण यस्य स—मौर्वीकिणाङ्क=प्रत्यञ्चाघातचिह्नालकृत, मे=मम दुष्यन्तस्य, भुज=बाहु, कियत्=कियत् परिमाणम्, रक्षति=वनाश्रमक्रियासरक्षण करोति, इति ज्ञास्यसि=एतज्ज्ञान लप्स्यसे।

सस्कृत सरलार्थ—वैखानस राजान कथयति=राजन्! कण्वाश्रम प्रविश्य न केवल मातिथ्य लप्स्यते भवान् अपि तु तापसाना तत्रत्या निर्विघ्ना, वेदविहितविध्यनुरूप क्रियमाणा, यज्ञानुष्ठानादिक्रिया स्वयमेव यथावन्निरीक्ष्य, ज्याघातचिह्नभूषितो मे भुज कियत्परिमाण मेषा माश्रमाणा सरक्षण करोतीत्यपि सम्यग् ज्ञास्यसि।

टिप्पणी

सप्रणामम्—प्रणामेन सहित यथास्यात्तथा। **प्रतिगृहीतम्**—यत्त्वयोक्त तदह तथैव स्वीकरोमि। **समिदाहरणाय**—समिधा माहरणाय—समिध्यते आभिरिति समिध—सम्+इन्ध+क्विप्, आ+हृ+ल्युट्—आहरणम् आहरणायेत्यत्र क्रियार्थोपपदस्येति चतुर्थी **अनुमालिनीतीरम्**—मालिनी नदी के किनारे-किनारे, मालिनीतीरस्य अनु—अत्र सप्तम्यर्थे अव्ययीभाव मालिनी नदी, जिसका दूसरा नाम मन्दाकिनी भी है, कोटद्वार के पास बहने वाली, यह गगा की ही एक सहायक नदी मानी जाती है। **कुलपते कण्वस्य**—"मुनीना दशसाहस्र योऽन्नपानादिपोषणात्। अध्यापयति विप्रर्षि रसौ कुलपति स्मृत"। पद्मपुराण मे कुलपति का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से बतलाया गया है "आचार्यो बहुशिष्याणा मुनीनामग्रणीस्तु य। व्रतयज्ञादिकर्माढ्य स वै कुलपति स्मृत। प्रथम मे तो कुलपति के अपने कतव्यो का निर्देश है पर द्वितीय मे कुलपति के अपने गुणो एव नियमो पर ही बल दिया गया है। महर्षि कण्व मे ये सभी बातें देखी जाती हैं, वे दशसहस्र छात्रो के अध्यापक, अन्नादि से पालन-पोषण करने वाले, मुनिश्रेष्ठ, व्रत यज्ञादिक कर्म करने वाले भी थे। **मौर्वीकिणाङ्क**—प्राचीन काल में मूर्वा नामक घास से धनुष् की डोरी बनाई जाती थी, क्षत्रिय मूर्वा की मेखला भी पहनते थे, यह मूर्वा दृढ़ और स्थायी होती थी, अतएव धनुष् की डोरी को मौर्वी कहा जाता था। राक्षसादिकृत विघ्नो को दूर करने के लिये तथा युद्धादि में बार-बार प्रत्यञ्चा खींचने से राजा के ज्याघात का चिह्न पड गया था जो कि वस्तुत उसकी वीरता का द्योतक रहने से उसका आभूषण ही था। मूर्वाया विकार मौर्वी मूर्वा+अण्+ङीप् प्रत्यञ्चा तस्या किण आघातह्नि स एव अङ्क भूषण यस्य स। इस पद के प्रयोग से राजा का महाप्रतापी होना द्योतित होता है अतएव यहाँ ज्ञप्ति नामक नाटकीय लक्षण है, लक्षण ग्रन्थों मे ३६ भूषणो का एव ३३ नाट्यालकारों का परिगणन

राजा—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः ?

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

राजा—भवतु । तामेव द्रक्ष्यामि । सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः कथयिष्यति ।

वैखानसः—साधयामस्तावत् । (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः ।)

राजा—सूत ! नोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति भूयो रथवेगं रूपयति ।)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत ! अकथितोऽपि ज्ञायत एवायमाभोगस्तपोवनस्येति ।

सूतः—कथमिव ?

किया गया है, प्रस्तुत नाटक मे इनमे से कुछ का प्रयोग मिलता है, जिनका निर्देश यथास्थान किया गया है । आचार्य विश्वनाथ ने ज्ञप्ति का लक्षण "ज्ञप्ति केनचिदंशेन किञ्चिद् यत्रानुमीयते" लिखा है । अन्य कार्यातिपात—अन्यस्मिन् कार्ये अतिपात अन्य कार्य मे विलम्ब । आतिथेय—न विद्यते (आगमनस्य) तिथि यस्य स अतिथि अथवा अतति गच्छति इति अतिथि—अत् धातु उणादि इथिन् प्रत्यय करके यह शब्द बनता है । अतिथिषु साधु इस अर्थ मे अतिथिशब्दात् 'पथ्यतिथिवसति० इत्यादि से ढञ् प्रत्यय वद्धि ढ को एय आदेश करके आतिथेय=अतिथिजनोचित, शब्द बनता है । सत्कार—सत्+कृ+घञ्, आदरार्थक सत् के साथ गतिसमास होकर सत्कार बनता है । वैखानस से लेकर सत्कार तक उल्लेख नामक नाट्यालकार है उल्लेख कार्य दर्शक 'जहाँ काय का निर्देश किया जाता है वहाँ यह अलकार होता है । रम्या—रम् धातो पोरदुपधात् यत् टाप् । विघ्ना—वि+हन्+क । प्रतिहत—प्रति+हन्+क्त । तपोधना—तप एव धन येषान्ते ।

राजा—क्या कुलपति महर्षि कण्व आश्रम मे वर्तमान हैं ?

वैखानस अभी ही अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि सत्कार के लिए नियुक्त कर उसके प्रतिकूल भाग्य को शान्त करने के लिए सोमतीर्थ को गये हैं ।

राजा—अच्छा तो मैं उसी के दर्शन करूंगा वह कण्व के प्रति मेरी भक्ति को जानकर महर्षि को बता देगी ।

वैखानस—अच्छा तो हम चलते हैं । (यह कहकर शिष्यो के साथ प्रस्थान)

राजा—सूत ! घोडो को हाँको । पवित्र आश्रम के दर्शन से अपने को पवित्र करें।

सूत—जो आपकी आज्ञा ! (यह कहकर पुन वेग से रथ के हाँकने का अभिनय करता है ।

राजा—(चारो ओर देखकर) सारथि, बिना बताये ही ज्ञात हो रहा है कि यह तपोवन के आश्रम की सीमा है ।

सूत—यह कैसे ?

राजा—किं न पश्यति भवान् । इह हि—

नीवारा शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरुणामध ,
प्रस्निग्धा क्वचिदिङ्गुदीफलभिद सूच्यन्त एवोपला ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतय शब्द सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किता ॥१३॥

राजा—क्या आप नही देखते हैं ? कि यहाँ पर—

नीवारा-इति अन्वय—तरुणाम् अध शुकगभकोटरमुखभ्रष्टा नीवारा (अवलोक्यन्ते) क्वचित् इङ गुदीफलभिद (अतएव) प्रस्निग्धा उपला सूच्यन्ते एव। विश्वासोपगमात् अभिन्नगतय मृगा शब्दम् सहन्ते । तोयाधारपथा च वल्कलशिखानिष्यन्द रेखाङ्किता (दृश्यन्ते) ।

शब्दार्थ—तरुणाम् अध =वक्षो के नीचे, शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टा =तोतो से युक्त कोटरो (घोसलो) के अग्रभाग से गिरे हुये, नीवारा =वन्य तृणधान्य, (दिखाई पड रहे हैं । क्वचित्=कही पर, इङ गुदीफलभिद =इङ्गुदी के फलो को तोडने वाले (अतएव) प्रस्निग्धा =विशेष रूप मे चिकने, उपला =पत्थर, सूच्यन्ते एव=दिखलाई पड ही रहे हैं । विश्वासोपगमात्=विश्वास प्राप्त होने के कारण, अभिन्नगतय = चाल को न बदलने वाले अर्थात् नि शक गति से चलने वाले, मृगा =हरिण, शब्द सहन्ते=(रथ की) ध्वनि को सह रहे हैं अर्थात् रथध्वनि से विचलित नही होते हैं । तोयाधारपथा च=और सरोवरो के माग, वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किता = वल्कलो के अग्रभाग से टपकते हुए जल रेखाओं से चिह्नित (दिखाई पडते हैं) ।

अनुवाद—वक्षों के नीचे, तोतो से युक्त कोटरो (घोसलो) के अग्रभाग से गिरे हुए वन्य तृणधान्य (दिखाई पड रहे हैं) कही, इङ्गुदी के फलो को तोडने वाले (अत एव) विशेष रूप से चिकने पत्थरे दिखाई पड ही रहे हैं । विश्वास प्राप्त होने के कारण अपनी चाल को न बदलने वाले मग (रथ की) ध्वनि को सह रहे हैं । सरोवरो के माग, वल्कलो के अग्रभाग से टपकने वाले जल की रेखाओ से चिह्नित दिखाई पडते हैं ।

भावाथ—सारथि द्वारा यह पूँछने पर कि आपको यह कैसे पता लगा कि यह आश्रम की सीमा है, राजा कहता है कि क्या आप आश्रम के इन चिन्हो को यहाँ पर नही देख रहे हैं, देखिये यहाँ—

वक्षो के नीचे, उन घोसलो के अग्रभाग से जिनके भीतर तोते रहते हैं, गिरे हुए नीवार अर्थात् जगली धान पडे हुए हैं—तोते अपने बच्चो को खिलाने के लिए जो नीवार घोसलो मे ले जाते है उनमे मे कुछ उन वृक्षो के नीचे गिर पडते हैं जिनके ऊपर तोतो के घोसले बने हुए है जगल के जलगर्तों मे बिना बोये हुए जो धान उत्पन्न होते हैं और अतिपवित्र समझकर मुनिजन खाते है, नीवार कहे जाते हैं, ये नीवार आश्रमो मे ही पाये

जाते हैं अन्यत्र नही। आश्रम होने का दूसरा लक्षण यह है कि यहाँ कुछ विशेष रूप से चिकने पत्थर पडे हुए हैं, इन पत्थरो से ही मुनिजन इङ्गुदी के फलो को तोडकर तेल निकालते हैं, इङ्गुदी वृक्ष भी आश्रमो मे ही पाये जाते हैं। मुनिजन इन वक्षो के फलो से निकलने वाले वाले तेल का ही प्रयोग करते हैं, इङ्गुदी वृक्ष कही कही गूदी वक्ष भी कहा जाता है। आश्रमो के हरिणो को यह विश्वास रहता है, कि हमे कोई मार नही सकता है अत वे वहा शान्त भाव से चरते रहते है, राजा कहता है कि इसी विश्वास के कारण ये आश्रम के मृग मेरे रथ की आवाज सुनकर भी अपनी उसी पूववत् नि शक गति से चल रहे है। आश्रमस्थ सरोवरो मे ऋषि जन स्नान करते हैं और गीले ही वल्कलो को पहने हुए अपनी-अपनी कुटियो को लौटते है, वल्कलो के गीले होने के कारण उनके छोरो से टपकने वाले जल की रेखाओ से ये सरोवरो के माग भी चिह्नित हो गये हैं, इन उक्त लक्षणो से स्पष्ट है कि यह आश्रम की सीमा है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे *काव्यलिङ्ग, स्वभावोक्ति, क्रियासमुच्चय, श्रुति, वृत्ति* अनुप्रास और शार्दूलबिक्रीडित नामक छन्द है, इसका लक्षण है "सूर्याश्वै मसजास्त ता सगुरव शादूल बिक्रीडितम्।" अर्थात् जिस छन्द के चारो चरणो मे क्रमश मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और गुरु वर्णों के क्रम से १९ वर्ण हो १२ एव ७ पर यति हो शार्दूल बिक्रीडित छन्द होता है—

मगण	सगण	जगण	सगण	तगण	तगण	गु०
S S S	। । S	। S ।	। । S	S S ।	S S ।	S
नी वा रा,	शु क ग,	भ को ट,	र मु ख,	भ्र ष्टा त,	रु, णा, म,	ध।

सस्कृत व्याख्या—(क्वचित्=कुत्राप्येकस्मिन् वनभागे) तरूणाम्=वृक्षाणाम, अध=तलेषु शुका कीरा गर्भे मध्ये येषा तादृशाना कोटराणाम् वक्षविवराणाम् नीडाना मित्यथ मुखेभ्य अग्रभागेभ्य भ्रष्टा प्रच्युता=शुकगभकोटरमुखभ्रष्टा, नीवारा=मुनिधान्यकणा (अवलोक्यन्ते) क्वचित=कुत्रचित इङ्गुदीना तापसतरुणा फलानि भिन्दन्तीति इङ्गुदीफलभिद=तापसतरुफलभेदका (अनएव) प्रस्निग्धा प्रकर्षेण स्निग्धा चिक्कणा तैलाक्ता इत्यथ, उपला=पाषाणा, सूच्यन्ते, एव,=दृश्यन्ते, एवेत्यनेन सूतशकापनोद सूच्यते। विश्वासस्य उपगम प्राप्ति तस्मान् विश्वसोपगमात्—मुनि वात्सल्यान्नात्रास्मान कोऽपि हिंस्यादिति जातविश्वासकारणात् न भिन्ना अभिन्ना यथा पूव मवस्थिता गति पादसचार येषा ते अभिन्नगतय=अपरिवर्तितपादसचारा, मृगा=हरिणा, शब्दम्=रथध्वनिम्, सहन्ते=सधैर्य रथध्वनिं शृण्वन्ति, न पलायन्ते इत्यथ तोयाना जलानाम् आधारा तोयाधारा जलाशया तेषा पन्थान मार्गा इति तोयाधारपथा=जलाशयगमनागमनमार्गा वल्कलाना तरुत्वङ्निर्मिनमुनिजन परिहितवाससा शिखाभ्य अग्रभागेभ्य ये निष्यन्दा जलविन्दुनिपाता तेषा रेखाभि आङ्किता चिह्निता—वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किता (दृश्यन्ते, एभिश्चिह्नै र्ज्ञायतेऽय माश्रमाभोग इति।

सस्कृत सरलार्थ—सूतेन पृष्ट राजा कथयति यदत्र वृक्षाणामध शुक

कोटराग्रभागप्रच्युता नीवारा अवलोक्यन्ते, क्वचित् इङ्गुदीफलभदका अतएव विशेषेण स्निग्धा तैलाक्ता पाषाणा दृश्यन्ते एव, मुनिवात्सल्याल्लब्धविश्वासा अतएव अपरिवर्तितपादसचारा मृगा रथध्वनि धैर्येण शृण्वन्ति न तु पलायन्ते। जलाशयगमनागमनमार्गा कृतस्नानमुनिजनवल्कलाग्रभागेभ्य जलविन्दुनिपातैर्जात रेखाभिश्चिह्निता सन्ति, एतै लक्षणै ज्ञायतेऽयमाश्रमाभोग इति।

टिप्पणी

सन्निहित—समीपवर्ती—सम्+नि+धा+क्त "दधाते हि इति धातो हि आदेश **दुहितरम्**—दुह+तृच्, इस शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि महर्षि कण्व शकुन्तला को केवल अपनी पुत्री ही नही अपितु अपना जीवन सर्वस्व ही मानते थे, अतएव अन्य शिष्यों के रहते हुए भी उन्होने अतिथि सत्कार का कार्य शकुन्तला को ही सौंपा था। **अतिथिसत्कारात्**—अतिथीनाम् सत्कार तस्मै जिसके आने की कोई निश्चित तिथि न हो अतिथि कहलाता है, अविद्यमाना तिथि यस्य स अतिथि। अथवा अतति निरन्तर गच्छति इति अतिथि—अत् धातु से उणादि इथिन् प्रत्यय। जो निरन्तर भ्रमण करता रहता है और अकस्मात् ही अथिति सत्कार के लिये कही भी पहुँच जाता है। "यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्र न च स्थिति। अकस्माद् गृहमायाति सोऽतिथि कथ्यते बुधै। मनु ने इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया है "एकरात्रन्तु निवसन्नतिथि र्ब्राह्मण स्मृत। अनित्य हि स्थितो यस्मात् तस्माद तिथि रुच्यते। अतिथि और अभ्यागत मे अन्तर स्पष्ट करते हुए यमपुराण मे कहा गया है—तिथि पर्वोत्सवा सर्वे येन त्यक्ता महात्मना, सोऽतिथि सर्वभूताना शेषानभ्यागतान् विदु। **अस्या प्रतिकूलं दैवं शमयितुम्**=(शम्+णिच्+तुमुन्) वस्तुत त्रिकालदर्शी महर्षि कण्व, दुर्वासा के शापवश शकुन्तला पर आने वाली विपत्ति को पहले से जानते थे साथ ही उन्हे यह भी ज्ञान था कि उनके तपोबल से वह विपत्ति शान्त भी हो जायेगी अर्थात् शकुन्तला शापवश दुष्यन्त से कुछ काल तक परित्यक्त रहकर भी पुन उसका अपने पति से मिलन होगा, उसके इसी दुर्दैव की शान्ति के लिये तपोऽनुष्ठान करने के लिए वे सोमतीर्थ गये थे। तीर्थ स्थानो मे किये गये तपोऽनुष्ठान का फल शीघ्र मिलता है अतएव महर्षि सोमतीर्थ गये थे। प्रसिद्ध प्रभासतीर्थ का ही दूसरा नाम सोमतीर्थ है जो कि काठियावाड मे सोमनाथ के मन्दिर के पास एक तीर्थ है। इसके विषय मे एक पौराणिक कथा है कि एक बार दक्ष प्रजापति ने सोम (चन्द्रमा) को क्षय रोगी होने का शाप दिया था, सोम ने इस स्थान पर तप करके क्षयरोग से मुक्ति पाई थी। यह स्थान कण्वाश्रम से पर्याप्त दूरी पर था अतएव महर्षि को वहाँ से लौटने मे पर्याप्त समय लग गया था, इसी बीच दुष्यन्त शकुन्तला मे गान्धर्व विवाह, गर्भ स्थिति और गर्भ का प्रौढ़ होना आदि सब कार्य सुचारू रूप से हो गये थे, कवि ने इन सब कार्यों को पूर्ण करने के लिए ही महर्षि को आश्रम से इतनी दूर भेज कर स्वाभाविक ढग से इन सब कार्यों को पूरा किया है। **विदितभक्तिम्**—विदिता

सूत —सर्वमुपपन्नम् ।

भक्ति यस्य तम्-विदिताभक्तिम्, होना चाहिए था क्योकि प्रियादिगण मे भक्ति शब्द का पाठ न होने से यहाँ 'स्त्रियाँ पुवद से पुवद्भाव न होगा किन्तु कालिदास ने अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग किये हैं। अथवा सामान्ये नपुसकम् नियम से विदित भक्ति यस्य यह विग्रह होगा।

"अस्या प्रतिकूल दैव शमयितुम्" वस्तुत यह कथानक का बीज वाक्य है, अर्थात् इसी वाक्य से मुख्य कथानक की फल प्राप्ति का बीजारोपण होता है। प्रतिकूल दैव से तात्पर्य है, दुर्वासा का शाप और फलत दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान, शमयितुम् से शाप शान्ति की ओर सकेत है, मुद्रिका प्राप्ति से शापावसान के फलस्वरूप दुष्यन्त द्वारा पुत्रवती शकुन्तला को राजधानी मे लाना सूचित किया किया है।

"जन्म यस्य पुरो वंशे" से लेकर 'तामेव द्रक्ष्यामि तक नाटकीय मुख सन्धि का प्रथम उपक्षेप नामक अग प्रयुक्त हुआ है जिसका लक्षण है "काव्यस्यार्थ समुत्पत्ति रुपक्षेप इति स्मृत ।" यह वाक्य शाकुन्तल के कथानक का बीज है अत यहाँ बीज नामक अर्थ प्रकृति है, जैसा कि इसका लक्षण है—"अल्प मात्र समुद्दिष्ट बहुधा यद् विसपति। फलस्य प्रथमो हेतु र्वीज तदभिधीयते। साधयाम —"प्रायेण ण्यन्तक साधि र्गमे स्थाने प्रयुज्यते।" आचार्य विश्वनाथ के इस कथन के अनुसार साध् धातु का का प्रयोग नाटको मे प्राय गम् धातु के अथ मे होता है, अत यहाँ साधयाम का अर्थ गच्छाम है। आभोग =सीमा, विस्तार।

नीवारा —निपूर्वकात् वृधातो 'नौ वृ धान्ये' इति घञि, उपसर्गस्य घञि० इति दीर्घे—नीवार । प्रस्निग्धा —प्र+स्निह+क्त । प्रकर्षेण स्निग्ध—चिकने। इङ्गुदीफलभिद —इङ्गुदीनाम फलानि भिन्दन्ति—फल+भिद्+ क्विप्। इङ्गुदी को तापस तरु भी कहा जाता है इसके फलो को तोडकर तेल निकाला जाता था। विश्वासोपगमात —विश्वासस्त्य उपगमस्तस्मात वि+श्वस्+घञ् =विश्वास, उप+ गम+अच्=उपगम उपगम =प्राप्ति । मुनिजनो के वात्सल्य के विश्वास के कारण। अभिन्नगतय —न भिन्ना गति येषान्ते । भिदिर+क्त रदाभ्यामिति धातो दकारस्य प्रत्ययतकारस्य च नत्वे—भिन्न, गम्+क्तिन्=गति । तोयाधारपथा —तोयानामाधाराणा पन्थान इति तोयाधारपथा —'ऋक्पूरब्धू, से समासान्त अप्रत्यय टिलोप होकर पथिन् का पथ हो जाता है। आध्रियन्ते० एषु इति आधारा =आ+धृ+घञ्। तोयाधारा जलाशया। वल्कलेति०—वल्कलाना शिखाभ्य निष्यन्दा जलविन्दुपाता (नि+ स्यन्द्+घञ् "अनुविपर्यभिम्य) से विकल्पत षत्वातेषा रेखाभि अङ्किता चिह्निता।

सूत—यह सब ठीक है।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत्। एतावत्येव रथं स्थापय, यावदवतरामि।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः। अवतरत्वायुष्मान्।

राजा—(अवतीर्य) सूत! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद् गृह्यताम्। (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति), सूत! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। (इति निष्क्रान्तः।)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम्। यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्)

राजा—(कुछ दूर जाकर) तपोवनवासियों को (हमारे इस प्रकार पहुँचने से) कोई उपरोध (बाधा, विघ्न, पीडा आदि) न हो, इसलिए यहाँ पर ही अर्थात् इतनी ही दूरी पर, रथ रोक दो, जब तक कि मैं उतरता हूँ।

सूत—(मैंने) लगाम रोक ली है। आयुष्मान् आप उतरें।

राजा—(उतरकर) सूत! तपोवनों मे विनम्र एवं सीधे सादे वेष से ही प्रवेश करना चाहिए। तो तब तक तुम यह ले लो (यह कहकर सारथी को आभूषण और धनुष लेकर दे देता है) सूत! जब तक मैं आश्रमवासियों का दर्शन कर लौटता हूँ। तब तक तुम घोडों को ठण्ढा कर लो।

सूत—ऐसा ही होगा (यह कहकर चला जाता है)।

टिप्पणी

उपपन्नम्—उप+पद्+क्त—यह सब आपका कथन ठीक है। **तपोवननिवासिनाम्**—तपसः वनं तस्मिन् निवस्तुं शीलमेषां ते तेषाम्, तपोवन+नि+वस् धातोः सुप्यजातौ० इति ताच्छील्यार्थे णिनि। उप+रुध्+घञ् उपरोध—रुकावट विघ्न बाधा या पीडा। **मा भूत्**—यहाँ माङि लुङ से मा के योग मे लुङ् लकार तथा "न माङ्योगे" से अडभाव है। विनीतः विनम्रः यः वेषस्तेन=**विनीतवेषेण**। तपः साधनानि वनानि, **तपोवनानि**—अत्र उत्तरपदलोपिसमासः। **सूतस्य अर्पयति**—नात्र चतुर्थी सा तु दानेऽर्थे एव, नात्र सम्प्रदानम् अत्र तु रजकस्य वस्त्रं ददातीतिवत् षष्ठ्येव। **प्रत्यवेक्ष्य**—प्रति+अव+ईक्ष्—क्त्वा—ल्यप्। **आर्द्रपृष्ठाः**—गीली पीठ वाले अर्थात् नहला कर पोंछकर ठण्डा एवं थकावट रहित कर लो। पृष्ठप्रक्षालनं हि वाजिनाम्, विशेषतः श्रमहरं हि भवति। **विनीत**—वेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम "नीति नामक नाटकीय अलंकार है। नीतिः शास्त्रेण वर्तनम्।

राजा—(घूमकर और देखकर) यह आश्रम का प्रवेश द्वार है तो प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके और शुभ शकुन सूचित करता हुआ)।

शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति च बाहु कुत फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्याना द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१४॥

शान्तमिति अन्वय—इदम् आश्रमपदम् शा तम्, बाहु च स्फुरति, इह अस्य फलम् कुत । अथवा भविनव्याना द्वाराणि सवत्र भवन्ति ।

शब्दार्थ—इदम् आश्रमपदम्=यह तपोवनाश्रम स्थान, शा तम्=शान्तिमय (है) वाहु=दक्षिण भुजा, च स्फुरति=और फडकती है, अर्थात् मेरी दाहिनी भुजा फडक रही है । अस्य इद फलम् कुत=इस फडकने का फल यहाँ कहाँ से (मिल सकता है अर्थात् कही से भी नही । अथवा भवितव्यानाम्—अथवा अवश्यम्भाविनी घटनाओ के लिए, सवत्र द्वाराणि भवन्ति=सब जगह द्वार अर्थात् माग या उपाय होते हैं ।

अनुवाद—यह आश्रम स्थान पूण शान्त है और (मेरी दाहिनी) भुजा फडक रही है । (कि तु) इसका फल यहाँ कहाँ से मिल सकता है अर्थात् नही मिल सकता । अथवा अवश्यम्भावी बातो के लिए सवत्र ही द्वार होते हैं ।

भावार्थ—राजा अपने मन मे सोचता है कि यह आश्रम स्थान शान्त है, यहाँ तो शमप्रधान शान्तरसनिमग्न मुनिजन ही निवास करते हैं, यहाँ शृङ्गारियो का क्या काम ? कि तु फिर भी मेरी दाहिनी भुजा फडक रही है, यह दक्षिण वाहुस्फुरण रूप शुभ शकुन तो सु दर स्त्री आदि की प्राप्ति का सूचक है "शकुन शास्त्र के अनुसार "वामेतर भुजस्पन्दो वरस्त्रीलाभदायक" अर्थात् दक्षिणवाहुका फडकना सुन्दर स्त्री की प्राप्ति का सूचक होता है । कि तु इस शुभ शकुन का फल इस शान्त आश्रम मे मुझे कहाँ मिल सकता है । अर्थात् यहाँ तो यह सवथा असम्भव है। (हो सकता है कि साकाक्ष तपोनिरत विश्वामित्रादि जैसे तपस्वियो को ऐसे तपोवनो मे भी नायिकालिङ्गन प्राप्त हो सके, पर मुझ जैसे व्यक्ति के लिए तो यह भी असम्भव है, क्योकि न तो मैं तपस्वी हूँ और न मैं वरस्त्री की आकाक्षा से ही यहा आया हूँ, पुरुवशी राजा तो धर्मात्मा एव सदाचारी ही होते रहे है, अत दक्षिण वाहुस्फुरण का फल मुझे यहाँ कदापि नही मिल सकता, फिर वह सोचता है कि तब क्या शकुनशास्त्र झूठा है, पर यह भी नही हो सकता । इस प्रकार देर तक तक-वितक करने के बाद वह इस निष्कष पर पहुचता है और कहता है कि अवश्य होने वाली बातो के लिए तो सदा सवत्र ही द्वार खुले रहते हैं अर्थात् यदि मुझे वरस्त्री लाभ होना ही है तो वह सवत्र हो सकता है चाहे वह आश्रम हो या नगर हो, भाविचे न तद यथा ।

विशेष—यहाँ सामान्याथ से पूर्वाधगत विशेष का समथन होने से अर्थान्तरन्यास अलकार तथा अथवा पद से पूर्वोक्त प्रतिषेध रूप आक्षेपालकार, छेक वृत्ति श्रुति अनुप्रास, आर्या जाति नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—इदम्=पुरतो दृश्यमानम्, आश्रमपदम्=आश्रमस्थानम्, शान्तम्=शान्तिमयम् शमप्रधान वास्ति । वाहु च=मम दक्षिणो भुजश्च, स्फुरति=

(नेपथ्ये)

इत इत. सख्यौ । [इदो इदो सहीओ ।]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये, दक्षिणेन वृक्षवाटिका मालाप इव श्रूयते । यावदत्र गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, एतास्तपस्विकन्यका

स्पन्दते । शकुनशास्त्रानुसारेण वरनायिकालिङ्गनलाभ सूचयतीत्यर्थ । (परन्तु) इह= शमप्रधानेऽस्मिन्नाश्रमे अस्य=दक्षिणभुजस्फुरणस्य, फलम्=वरस्त्रीलाभरूप फलम्, कुत =कथं सम्भवति, न कथमपीत्यथ अथवा=किम्वा अलमेतद्विषयिण्या चिन्तयेत्यर्थ, भवितव्यानाम्=अवश्यम्भाविनामर्थानाम्, सवत्र सवकाले सवदेशे च, द्वाराणि= साधनानि, भवन्ति=जायन्ते ।

संस्कृत सरलार्थ—आश्रमप्रवेशकाले वरस्त्रीलाभसूचक स्वदक्षिणभुजस्फुरण मालक्ष्य राजा स्वमनसि चिन्तयति यदिदमाश्रमस्थान शमप्रधान वतते, अथापि वरस्त्रीलाभसूचक दक्षिणभुजस्पन्दन मम शरीरे जायते, पर शान्तेऽस्मिन्नाश्रमे दक्षिणभुजस्फुरणस्य फल कथ सम्भवति न कथमपि एतल्लब्धु शक्यते इति क्षण विचिन्त्य, स पुन कथयति अथवालमेतया चिन्तया, अवश्यम्भाविना सर्वेषामेवार्थाना साधनानि सवत्र भवन्ति ।

टिप्पणी

आश्रमपद शान्तम—यहाँ आश्रम शब्द लक्षणया आश्रमनिवासियो के अर्थ मे प्रयुक्त है अर्थात् यहाँ के निवासी मुनिजन सवथा शमप्रधान हैं और शृगार रस से सर्वथा दूर हैं । **स्फुरति**—फडक रही है, दक्षिण भुजा का फडकना वरस्त्री लाभदायक होता है, जैसी कि शकुनशास्त्र की मान्यता है, स्त्रियो का वामाङ्गस्फुरण शुभफल देने वाला होता है और पुरुषो का दक्षिक्षाङ्गस्फुरण । महाकवि कालिदास ने तो कई स्थलो पर अपनी रचनाओ मे शकुन का उल्लेख किया ही है, भट्टि आदि अन्य कवियो की भी शकुन पर आस्था देखी जाती है । इसी प्रकार होनहार या दैव पर विश्वास भी इन कवियो मे पाया जाता है । भाग्य या भवितव्यता पर विश्वास के क्षेत्र मे महाकवि कालिदास सबसे आगे हैं, शाकुन्तल मे ही शकुन्तला अपने सुख और दु ख के लिए भाग्य को ही कारण मानती है, भाग्यवादिता और भवितव्यता पर प्राय सस्कृत के सभी कवियो को आस्था रही है ।

इस पद्य के द्वारा कवि ने यहाँ मुखसन्धि के द्वितीय अग परिकर का निर्देश किया है। इसका लक्षण है "तदुत्पन्नाथबाहुल्य ज्ञेय परिकरस्तु स" अर्थात् जब आरब्ध काय का विस्तार किया जाता है वहाँ परिकर होता है ।

(नेपथ्य मे)

सखियो, इधर आओ, इधर आओ ।

राजा—(कान लगाकर अर्थात् ध्यान से सुनकर) ओह, वृक्षवाटिका के दाहिनी ओर (कुछ) वार्तालाप सा सुनाई पड रहा है । तो यहाँ (ही) चलता हूँ । (चलकर और

स्वप्रमाणानुरूपै सेचनघटै बलिपादपेभ्य पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। (निपुण निरूप्य) अहो, मधुरमासा दर्शनम् ।

शुद्धान्तदुर्लभमिद वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभि ॥१५॥
यावदिमा छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि ।
(इति विलोकयन् स्थित ।)

देखकर) ओह, ये तपस्वि कन्यायें अपनी-अपनी सामथ्य के अनुरूप छोटे-बडे जलसिञ्चन के घडो से, छोटे वृक्षो (पौधो) को जल देने के लिए इधर ही आ रही हैं (ध्यान से देखकर) ओह, इनका देखना तो बडा ही मधुर है अर्थात् देखने मे ये बडी ही सुन्दर लगती हैं ।

शुद्धान्तेति-अन्वय—शुद्धान्त दुलभम् इदम वपु, यदि आश्रमवासिन जनस्य (अस्ति, तर्हि) खलु, उद्यानलता वनलताभि गुणै दूरीकृता ।

शब्दार्थ—शुद्धान्तदुलभम=(राजाओ के) अन्त पुर मे भी दुर्लभ, इदम्= यह, वपु=अति मनोहर शरीर, यदि आश्रमवासिन जनस्य (अस्ति) यदि आश्रम में निवास करने वाले व्यक्ति का (है, तो) खलु=निश्चयत, उद्यानलता=उपवनों की लतायें, वनलताभि = वन की लताओ द्वारा, गुणै=सौन्दर्य सौकुमार्य आदि गुणों के द्वारा, दूरीकृता=तिरस्कृत कर दी गई हैं।

अनुवाद—(राजाओ के) अत पुर मे दुष्प्राप्य, ऐसा अतिसुन्दर शरीर यदि आश्रमवासी व्यक्ति मे भी (है) तो अवश्य ही उपवन लतायें, वनलताओ के द्वारा अपने सौन्दय सौकुमाय आदि गुणो के द्वारा तिरस्कृत कर दी गई हैं।

भावार्थ—राजा इन तपस्वि कन्याओ के अति मनोहर अद्भुत शारीरिक सौन्दर्य को देखकर आश्चयचकित होकर अपने मन मे सोचता है कि ऐसा शारीरिक सौन्दर्य तो राजाओ के अत पुर मे भी नही मिल सकता, जहाँ कि सब प्रकार के सुन्दर से सुन्दर स्वास्थ्य एव सौन्दर्यवधक भोजनाच्छादन के अतिरिक्त शृङ्गार प्रसाधन के सभी साधन उपलब्ध रहते हैं अत राजप्रासादो मे रहने वाली स्त्रियाँ, वनवासिनी स्त्रियो की अपेक्षा अधिक सौन्दयशालिनी होनी चाहिए, क्योकि वन मे शृङ्गार प्रसाधन एव अन्य सुख साधन उपलब्ध नही होते । फिर भी यदि आश्रमवासिनी इन कन्याओ मे ऐसा मनोहर सौन्दर्य है तब तो यही कहना पडेगा कि राजोद्यानो मे परिवर्धित लताओ को, वनलताओ ने अपने सुगन्धि कोमलादि गुणो से तिरस्कृत कर दिया है । सामान्यत उपवनलतायें, वनलताओ की अपेक्षा अधिक सुन्दर होनी चाहिए, पर यहाँ इन वनवासिनी कन्याओ के सौन्दर्य को देखकर तो हठात् यही कहना पडता है कि वनलताओ ने अपने गुणो से उद्यानलताओको परास्त कर दिया है ।

प्रस्तुत पद्य मे 'आश्रमवासिनो जनस्य' से तात्पर्य, शकुन्तलादि रूप स्त्रीजन से है, इद वपु का अर्थ यहाँ शारीरिक लावण्य है "वपु शरीरे लावण्ये" अत इद वपु का अर्थ है, ऐसा यह शारीरिक लावण्य। शुद्धान्त का अर्थ राजाओ का अन्त पुर "स्त्र्यगार भूभुजामन्त पुर स्यादवरोधनम्। शुद्धान्तश्चावरोधश्च। परन्तु यहाँ शुद्धान्त का अर्थ लक्षणा द्वारा अन्त पुर मे रहने वाली स्त्रियाँ हैं। वनलतायें अप्रयत्न परिवर्धित होती हैं, जलसिञ्चन आदि के द्वारा इन्हे सुन्दर बनाने का प्रयास नही किया जाता है जबकि उद्यानलतायें वस्तुत कृत्रिम होती हैं उन्हे काट छाँट कर सुन्दर बनाया जाता है। अकृत्रिम वनलताओ के द्वारा उद्यान की कृत्रिम लताओ का तिरस्कृत होना यह सूचित करता है कि कवि इस कथन के द्वारा कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा स्वाभाविक एव प्राकृतिक सौन्दर्य की ही विशेषता दिखलाना चाहता है। अपनी रचनाओ मे सर्वत्र उसकी यही मान्यता रही है, इसीलिए शकुन्तला के सौन्दर्य वर्णन मे वह सर्वत्र अकृत्रिम सौन्दर्य की ही विशेषता बतलाता है "इद किलाव्याज मनोहर वपु इत्यादि।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे, पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मे कोई साक्षात् सम्बन्ध नही है, किन्तु दोनो की समाप्ति उपमा मे ही होती है अत यहाँ असम्बद्ध वस्तु सम्बन्ध रूप निदर्शनालकार है (अभवन् वस्तु सम्बन्ध उपमा परिकल्पक" पूर्वार्ध मे विशेष के प्रस्तुत होने पर भी जो सामान्य कथन किया गया है अत अप्रस्तुत प्रशसालकार है, यहाँ अन्य आचार्यो ने जो दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, तथा अर्थान्तरन्यास अलकारो को माना है वह उचित नही क्योकि प्रस्तुत श्लोक मे इन अलकारो के लक्षण घटित नही होते, यहाँ न तो परस्पर निरपेक्ष दो वाक्यो मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव ही है और न सामान्य वस्तु द्वय का पृथक्-पृथक निर्देश ही है और न यहाँ अर्थ समर्थन की ही सम्भावना है। इसमे आर्या जाति छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—शुद्धान्ते-राजप्रासादस्थस्त्रीजनेषु, दुर्लभ दुष्प्रापम्-शुद्धान्त दुर्लभम्, इद=पुरोदृश्यमानम्, वपु=शरीरलावण्यम्, यदि-चेत्, आश्रमे वस्तु शील यस्य तस्य आश्रमवासिन जनस्य=आश्रमनिवासिन शकुन्तलारूपस्य लोकस्य (अस्ति) (तर्हि) खलु=निश्चयेन, वनलताभि=अप्रयत्न परिवर्धिताभि अकृत्रिमाभि वनोद्भूतलताभि, गुणै=स्वकीयै सौगन्ध्य सौकुमार्यादिभि गुणै, उद्यानलता=अत्यन्तायाससम्बर्धिता कृत्रिमा उपवनलता, दूरीकृता=तिरस्कृता परास्ता वा।

सस्कृत सरलार्थ—मुनिकन्यानाम पूर्वं शरीरलावण्य मालक्ष्य राजा मनसि चिन्तयति-वनवासिनीष्वेतासु मुनिबालासु राजप्रासादस्यस्त्रीजनेष्वपि दुष्प्रापम पूर्वं शरीरलावण्य विद्यते चेत्तर्हि सम्बन्धेऽस्मिन्नेतत् कथयितु शक्यते यदकृत्रिमाभि वन-लताभि स्वकीयै सौगध्यादिगुणै उपवनलता तिरस्कृता।

टिप्पणी

दक्षिणेन वाटिकाम्—एनप् प्रत्ययान्तेन दक्षिणेन योगे 'एनपा द्वितीया' 'इत्यनेन वाटिकामित्यत्र द्वितीया, एनप् प्रत्ययान्तेन सह षष्ठ्यपि भवति। **आलाप**—आ+

(तत प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्या शकुन्तला ।)

शकुन्तला—इत इत सख्यौ । [इदो इदो सहीओ ।]

अनसूया—हला शकुन्तले ! त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षका प्रियतरा इति तर्कयामि । येन नवमालिकाकुसुमपेलवाऽपि त्वमेतेषामालवालपूरणे नियुक्ता । [हला सउन्दले, तुवत्तो वि तादकस्सवस्स अस्समरुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि । जेण णोमालिआकुसुमपेलवा वि तुम एदाण आलवालपूरणे णिउत्ता ।]

शकुन्तला—न केवल तातनियोग एव । अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु । [ण केवल तादणिओओ एव्व । अत्थि मे सोदरसिणोहो वि एदेसु ।]

(इति वृक्षसेचन रूपयति ।)

राजा—कथमिय सा कण्वदुहिता । असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यप, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते ।

लप्+घञ् । तपस्विकन्यका—तप एषामस्तीत्यर्थे विनि प्रत्यये—तपस्विन, तेषां कन्यका, कन्या एव कन्यका स्वार्थे क । स्वप्रमाणानुरूपै—स्वस्य प्रमाणस्य अनुरूपै = अपनी-अपनी सामर्थ्य अवस्था आदि के प्रमाण के योग्य छोटे बडे, सेचन घटै—सेचनस्य घटै अथवा सेचनार्थं घटास्तै उत्तरपदलोपिसमास । (सिच्+ल्युट्=सेचन=सींचना जल देना । बालपादपेभ्य =बालाश्च ते पादपास्तेभ्य । मधुरमासां दर्शनम्=आसा-कन्यकानाम् दशनम् (दृश्यते यत्तत्) रूपम् इत्यथ मधुर प्रिय मस्ति । दूरतोऽवलोकने तिस्रोऽपि कन्यका लावण्यवत्योऽवलोक्यन्तेस्म अतोऽत्र बहुवचनम् ।

यावदिति—तो (वृक्ष की) इस छाया मे स्थित होकर इनकी प्रतीक्षा करता हूँ, (कि देखें अब ये क्या करती और कहती हैं) यह कहकर देखता हुआ खडा हो जाता है ।

इसके बाद पूर्वोक्त काय करती हुई अर्थात् पौधो मे जल देती हुई शकुन्तला का दोनो सखियो के साथ (रगमच पर) प्रवेश ।

शकुन्तला—सखियो, इधर आओ, इधर आओ ।

अनसूया—सखी शकुन्तला ! मैं ऐसा समझती हूँ कि पिता काश्यप (कण्व) को (ये) आश्रम के पौधे, तुमसे भी अधिक प्रिय हैं, जिससे कि नवमालिका के पुष्प के समान सुकुमार भी तुमको, इन पौधो के आलवाल (थलवे या क्यारियाँ) भरने मे नियुक्त किया गया है ।

शकुन्तला—केवल पिता की आज्ञा ही नहीं, मेरा भी इन वृक्षकों पर सहोदर भाई जैसा स्नेह है ।

(यह कहकर पौधो मे जल देने का अभिनय करती है)

राजा—तो क्या यही वह कण्व पुत्री शकुन्तला है (जिसके विषय में ऋषियों

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः,
तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया,
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१६॥

भवतु, पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि ।
(इति तथा करोति ।)

ने पहले कहा था और तदनुसार ही मैं यहाँ आया हूँ। अवश्य ही पूजनीय कण्व विवेकहीन हैं उनका यह कार्य अनुचित है जो कि उन्होने इस शकुन्तला को आश्रम के कार्य में नियुक्त किया है ।

इदमिति-अन्वय—य ऋषि अव्याजमनोहरम् इदम् वपु किल तप क्षमम् साधयितुम् इच्छति, स ध्रुवम् नीलोत्पलपत्रधारया शमीलताम् छेत्तुम् व्यवस्यति ।

शब्दार्थ—य ऋषि =जो ऋषि, अव्याजमनोहरम्=स्वभाव सुन्दर (व्याज=कृत्रिम प्रसाधन, मनोहर सुन्दर, अव्याज=कृत्रिम प्रसाधनों से रहित अर्थात् स्वभावत जन्मत एव सुन्दर। इदम् वपु =इस (शकुन्तला के) शरीर को, तप क्षमम्=तपस्या के साधन योग्य, साधयितुम् इच्छति=बनाने के लिये इच्छा करता है। स =वह ऋषि, किल=खेद की बात है कि, ध्रुवम्=निश्चय ही, नीलोत्पलपत्र धारया=नीलकमल के पत्ते की धार से (पत्ते के किनारे से जो कि कुछ तीक्ष्ण होता है। शमीलताम्=शमी वृक्ष की लता अर्थात् शाखा को, छेत्तुम्=काटने के लिए, व्यवस्यति=यत्न करता है। (अन्यत्र शमीलता के स्थान पर समिल्लताम् भी पाठ है अर्थ में कोई अन्तर नहीं है) ।

अनुवाद—जो ऋषि स्वभाव सुन्दर इस (शकुन्तला के) शरीर को, खेद है कि, तपस्या के साधन के योग्य बनाना चाहता है, वह ऋषि, निश्चय ही नीलकमल के पत्ते के अग्रभाग से शमी वृक्ष की शाखा को काटने के लिये यत्न करता है।

भावार्थ—नवमालिका कुसुमपेलवा भी शकुन्तला को पौधो मे जल देती हुई देखकर और महर्षि कण्व की इस अदूरदर्शिता को लक्ष्य कर राजा मन में कहता है कि जो ऋषि, इस स्वभावत ही मनोहर शकुन्तला के शरीर को तपस्या जैसे कठोर काय करने योग्य बनाना चाहता है। निश्चय ही उस ऋषि का यह कार्य वैसा ही अनोखा और असम्भाव्य है जैसाकि नीलकमल के पत्ते के किनारे से शमी जैसे कठोर वृक्ष की शाखा को काटने का प्रयत्न करना। कमल पत्र के अग्रभाग से शमीलता का काटना। जिस प्रकार असम्भव है उसी प्रकार शकुन्तला जैसी कोमलाङ्गी नायिका से इतने पौधों की क्यारियो को घड़ों के जल से भरना असम्भव है ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे असम्बद्ध वस्तु सम्बन्ध रूप निदर्शनालकार है, ध्रुवम् द्वारा सूचित उत्प्रेक्षालकार है, पूर्वार्ध मे विरुप कार्यों के सघटन के कारण विषमालकार और अव्याज मनोहरम् मे विभावनालकार है। श्रुति वृत्ति अनुप्रास। प्रस्तुत पद्य द्वारा अभिप्राय नामक नाटकीय अलकार का निर्देश किया है "अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थप्रकल्पना" अर्थात् जहाँ सादृश्य के कारण असम्भव काय की कल्पना की जाती है वहाँ यह अलकार होता है। कमलपत्र की धार से शमीलता के छेदन रूप असम्भव कार्य का वणन किया गया है। इस पद्य मे वशस्थ नामक छ द है। "जतौ तु वशस्थ मुदीरित जरौ" अर्थात् जिस छ द के चारो चरणो मे क्रमश जगण तगण जगण और रगण, ये चार गण और फलत १२ अक्षर हो वह वशस्थ छन्द होता है—

जगण	तगण	जगण	रगण
। ऽ ।	ऽ ऽ ।	। ऽ ।	ऽ । ऽ
इ द कि,	ला व्या ज,	म नो ह्,	र व पु।

सस्कृत व्याख्या—य ऋषि =कण्व, अव्याजम् सुवस्त्राभरणधारणादिकृत्रिम शोभारहित च तत् मनोहर सु दरम्—अव्याजमनोहरम्, स्वभावसुन्दरमित्यथ, इदम् वपु =एतत् (शकु तलाया) शरीरम्, किल=अरुचिसूचकमव्ययम्, तपस क्षमम्—तप क्षमम्=तप साधनयोग्यम्, साधयितुम् =सम्पादयितुम्, इच्छति=वाञ्छति। स = ऋषि कण्व, ध्रुवम्=अवश्यमेव, नीलोत्पलस्य नीलकमलस्य पत्रस्य दलस्य धारया पार्श्वभागेन निशितमुखेनेत्यथ —नीलोत्पलपत्रधारया, शमीलताम्=शमीवृक्षस्य शाखा मित्यथ, छेत्तुम्=छिन्ना कर्तुम्, व्यवस्यति=प्रयतते।

सस्कृत सरलार्थ—नवमालिकाकुसुमपेलवामपि शकुन्तलामाश्रमवृक्षकाणा मालवाल-पूरणे नियोजिता मवलोक्य राजा महर्षिकण्वस्या साधुदर्शिता लक्ष्यीकृत्य मनसि चिन्तयति—यो महर्षि स्वभावसु दर मस्या शरीर तप साधनक्षम विधातु मिच्छति, सोऽवश्यमेव नीलकमलदलाग्रभागेन शमीवृक्षशाखा छेत्तु प्रयतते, यथा नीलोत्पलपत्रधारया शमीशाखाच्छेदन मसम्भवम् तथैव स्वभावसुन्दरेणास्या सुकोमलेन वपुषाश्रमवृक्षकाणा मालबालपूरण मसम्भव मेव, अथापि य एतदर्थं यतते स ध्रुवमेवासाधुदर्शी नास्त्यत्र सन्देह।

भवत्विति—अच्छा, देखा जायेगा, तब तक मैं वृक्ष की आड में ही रहकर विश्वासपूर्वक इसको देखता हूँ। यह कहकर वैसा ही करता है अर्थात् निश्चिन्तता पूर्वक उसे देखने लगता है)।

टिप्पणी

हला—"हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचा चेटीं सखी प्रति" इस कोशवचन के अनुसार हला आदि शब्दो का प्रयोग चेटी और सखियो को सम्बोधित करने में किया जाता है अत यहाँ हला का अथ अरी, ओ आदि है। "भरत मुनि का निर्देश है" समानाभिस्तथा सख्यो हला भाष्या परस्परम्। सखियाँ आपस मे हला कहकर सम्बोधित करती हैं। प्रधान नायिका और उसकी सखियो की भाषा शौरसेनी प्राकृत

शकुन्तला—सखि अनसूये, अतिपिनद्धे न वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि। शिथलय तावदेतत्। [सहि अणसूए, अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदए णिअन्तिद ह्मि। सिढिलेहि दाव ण।]

है, ये इसी भाषा मे वार्तालाप करती है जैसा कि भरत वचन है "नायिकाना सखीनाञ्च शौरसेनी प्रकीर्तिता।" यद्यपि नाटक मे अन्य प्रकार की भी प्राकृतो का प्रयोग है, जिनका निर्देश यथा स्थान किया गया है। **त्वत्तोऽपि**—युष्मद् शब्दात् पञ्चम्यर्थे तसिल्, तापकाश्यपस्य—तातश्चासौ काश्यपस्तस्य। **आश्रमवृक्षका**—आश्रमस्य ह्रस्वा वृक्षा वृक्षका ह्रस्वार्थे कन्। **नवमालिकाकुसुमपेलवा**—नवमालिकाया यत् कुसुम तद्वत् पेलवा कोमलाङ्गी। यद्यपि कुछ आचार्यों ने पेलव शब्द को अश्लीलता सूचक मान कर इसका कम प्रयोग किया है पर कालिदास ने अपनी रचनाओ मे इसका अधिक प्रयोग किया है अत ज्ञात होता है कि कालिदास के समय यह शब्द अश्लीलता द्योतक नही माना जाता था। **तातनियोग**—तातस्य नियोग आज्ञा—नि+युज्+घञ। **सोदरस्नेह**—समान मुदर यस्येति बहुव्रीहि, समान को स आदेश, शकुन्तला के इस कथन से उसकी पितृभक्ति के साथ साथ उसकी स्त्रीजनोचित सहृदयता का तथा उसके प्रकृति प्रेम का पता लगता है। **असाधुदर्शी**—साधु पश्यतीति साधुदर्शी न साधुदर्शी इति असाधुदर्शी—असाधु+दृश्+ताच्छील्यार्थे णिनि। **तत्रभवान्**—स भवान् इति तत्रभवान् सहसुपेति समास 'इतराभ्याऽपि दृश्यते' इति प्रथमार्थे त्रल। **काश्यप**—कश्यपगोत्रोत्पन्न। **आश्रमधर्मे**—आश्रम के योग्य काय मे। **किल**—अरुचि खेद आदि सूचक अव्यय। **अव्याजमनोहरम्**—न व्याज यस्मिन् तत् अव्याजम् (वि+अज्+घञ्) अव्याज च तत् मनोहरम्, मनस+हृ+अच। अर्थात् जो बिना किसी कृत्रिमता के ही सुन्दर हो, व्याज=कृत्रिम साधन। **तप क्षमम्**—तपस्या जैसे कठोर काय के योग्य। नीलोत्पलपत्रधारया=नील च तदुत्पल तस्य पत्रस्य धारा तया, धार से तात्पर्य है कुछ तीक्ष्ण अग्रभाग से है। **शमीलता**—शमी वृक्ष की लकडी बडी कठोर होती है जैसे अरणि वृक्ष की लकडी अति कठोर होती है और परस्पर रगडने से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार शमी वृक्ष के भीतर भी अग्नि होती है "शमी मिवाभ्यन्तरलीनपावकम्। रघु०। **छेत्तुम्**=छिदिर+तुमुन्। लता शब्द का अथ यहाँ शाखा है, शमी की लता नहीं होती। समिल्लताम् का भी यही अथ है। **व्यवस्यति**—वि+अव+सो+लट् दिवादिगण की सो धातु का रूप लट मे स्यति होता है। इसी धातु से ल्युट् अवसान, क्त प्रत्यये अवसित कमवाच्ये अवसीयते आदि रूप बनते है, यहाँ इसका अर्थ यत्न करना है। **पादपान्तर्हित**—पादपेन अन्तर्हित अन्तर् धा+क्त। **विश्रब्धम्**—वि+श्रम्भ्+क्त। नि सकोच भाव से, सामने होकर देखने से सकोच अवश्य होगा।

शकुन्तला—सखि अनसूये, प्रियंवदा के द्वारा कसकर बाँधे हुए वल्कलवस्त्र के द्वारा मैं बँध गई हूँ अर्थात् इससे मुझे कष्ट हो रहा है, तो इसे ढीला कर दो।

अनसूया—तथा [तह ।]

(इति शिथिलयति ।)

प्रियम्वदा—(सहासम्) अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व । मा किमुपालभसे । [एत्थ पओहरवित्थारइत्तअ अत्तणो जोव्वण उवालह । म किं उवालहसि ।]

राजा—काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कल न पुनरलङ्कार-श्रिय न पुष्यति । कुत —

सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्य
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव ही मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम् ।।१७।।

अनसूया—अच्छा, (ढीला कर देती है)

प्रियवदा—(हसी के साथ) इस विषय मे तो (तुम) अपने स्तनो को विशाल कर देने वाले यौवन को उलहना दो, मुझे क्यो उलहना देती हो, अर्थात् इसका दोष मुझे क्यो दे रही हो ।

राजा—अथवा भले ही (यह वल्कलवस्त्र इसके शरीर क अनुकूल(योग्य) न हो, किन्तु (यह इसके लिए) अलकार की शोभा नही कर रहा है, ऐसी बात नहीं, अपितु यह शोभा बढा ही रहा है । क्योकि —

सरसिजमिति—शैवलेन अपि अनुविद्धम सरसिजम् रम्यम (भवति) मलिनम् अपि लक्ष्म हिमाशो लक्ष्मीम् तनोति, वल्कलेन अपि इयम् त वी अधिकमनोज्ञा (अस्ति) हि मधुराणाम आकृतीनाम किमिव मण्डनम् न (भवति) ।

शब्दार्थ—शैवलेन अपि=सिवार या जल की काई से भी, अनुविद्धम्=घिरा हुआ या लिपटा हुआ, सरसिजम्=कमल, रम्यम्=मनोहर (लगता है) मलिनम् अपि=काला भी, लक्ष्म=कलक, हिमाशो =च द्रमा की, लक्ष्मी तनोति=शोभा को बढ़ाता है । वल्कलेन अपि=वल्कलवस्त्र से भी, इयम त वी=यह सु कुमार कृशाङ्गी शकुन्तला, अधिक मनोज्ञा=अति सुन्दर (अस्ति=प्रतीत होती है) हि मधुराणाम् आकृतिनाम्=क्योकि सु दर आकृतियो के लिए, किमिव मण्डन न भवति=क्या वस्तु अलकार नहीं होती है ।

अनुवाद—सिवार घास से घिरा हुआ भी कमल मनोहर लगता है, काला भी कलक चन्द्रमा की शोभा बढाता है, वल्कलवस्त्र से भी यह सु कुमार कृशाङ्गी शकुन्तला अति सुन्दर लग रही है, क्योकि सुन्दर आकतियो के लिए कौन सी वस्तु अलंकार नहीं होती अर्थात् स्वभाव सुन्दर व्यक्ति के लिए सब कुछ शोभावधक ही होता है ।

भावार्थ—वल्कलधारण किये भी अति सुन्दरी शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त मन मे सोचता है कि भले ही यह वल्कलवस्त्र इसके शरीर के योग्य न हो पर फिर भी यह इसके सौन्दर्य को उसी प्रकार बढ़ा ही रहा है, जैसे सिवार घास से घिरा हुआ भी

कमल रमणीक होता है और चन्द्रमा का काला भी कलक उसकी शोभा को बढाता ही है, यह कृशाङ्गी शकुन्तला भी इस वल्लक मे भी अति सुन्दरी लग रही है, क्योकि स्वभाव सुन्दर व्यक्ति के शरीर पर प्रत्येक वस्तु शोभा देती है, कोई भी वस्तु कैसी भी क्यो न हो परन्तु सहज सुन्दर व्यक्ति के शरीर पर वह सुन्दर ही लगती है अर्थात् वह वस्तु उसकी शोभा को बढाती ही है। सुन्दर शरीर पर सभी कुछ शोभा देने लगता है चाहे वह मलिन हो या उज्ज्वल, कठोर हो या कोमल।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे उपमानोपमेय के एक ही सौन्दर्य रूप धर्म का पृथक्-पृथक वाक्यो द्वारा निदश किया गया है अत प्रतिवस्तूपमालकार है। चतुर्थ चरण मे सामान्य से विशेष, समथन रूप अर्थान्तरन्यास अलकार है, छेक, वृत्ति अनुप्रास। मालिनी नामक छन्द है। जिस छन्द के चारो चरणो मे क्रमश नगण, नगण, मगण, यगण, यगण, इस क्रम से पाच गण अर्थात् पन्द्रह अक्षर हो वह मालिनी नामक छन्द होता है, "न न म य ययुतेय मालिनी भोगिलाके"—

नगण			नगण			मगण			यगण			यगण		
।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ
स	र	सि,	ज	म	नु,	वि	द्ध	शै,	व	ले	ना,	पि	र	म्य।

संस्कृत व्याख्या—शैवलेन=शैवालेन जलनील्या वा (जलनीली तु शैवाल शैवलम इत्यमर) अनुविद्धम्=आवृतम् सम्पृक्तम् वा अपि, सरसिजम्=सरोज कमल वा, रम्यम्=मनोहरम (एव भवति) मलिनम् लक्ष्म अपि=कृष्णवर्णम् चिह्नम् कलङ्क इत्यथ, हिमाशो=चन्द्रस्य, लक्ष्मीम=शोभाम् तनोति=विस्तारयति। (तथैव) वल्कलेन अपि=वल्कलसदृशतुच्छवस्त्रपरिधानेनापि, इयम्=पुरोदृश्यमाना, तन्वी=कृशाङ्गी शकुन्तला, अधिक मनोज्ञा=अति मनोहारिणी (दृश्यते) हि=यत, मधुराणाम्=सर्वजनचित्ताह्लादिनीनाम्, आकृतीनाम्=रम्याणा शरीरावयवानाम्, किमिव=किं वस्तु, मण्डनम्=अलङ्करणम्, न=नैव भवति, अपि तु यावद्वस्तुमात्र मण्डनमेव भवति। कण्ठगतेन विषेण शिवस्येव, कलङ्केन चन्द्रस्येव, शैवलेन कमलस्येव च वल्कलेनाप्यस्या शोभा विवर्धते एव न तु क्षीयते, इत्यर्थ।

संस्कृत सरलार्थ—वल्कलवस्त्रधारिणीं शकुन्तला निरीक्ष्य दुष्यन्तो मनसि चिन्तयति, यथा शैवलेनापि समाच्छादित कमल रम्य भवति, यथा च मलिनेनापि कलङ्केन चन्द्रस्य शोभा विवर्धते तथैव कृशाङ्गीय शकुन्तलापि वल्कलवस्त्र परिधानेनापि अति मनोहारिणी दृश्यते। सत्यमिद मधुराणा माकृतीना यावद् वस्तुमात्रमपि शोभावर्धकमेव जायते।

टिप्पणी

अपि पिनद्धेन—अपि+नह्+क्त, भागुरिमते अकार लोपे पिनद्धम्। पाणिनि मत मे लोप न होने से अपिनद्ध रूप भी होगा इसी प्रकार अपिधान पिधान आदि रूप होते हैं। नियन्त्रिता—नि+यन्त्+णिच्+क्त+टाप्, जकड दी गई हूँ। शिथिलय—

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः । यावदेनं सम्भावयामि । [एसो वादेरिदपल्लवाङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ । जाव णं सभावेमि ।]

(इति परिक्रामति ।)

प्रियंवदा—हला शकुन्तले, अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ । [हला सउन्दले, एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ ।]

शकुन्तला—किं निमित्तम् । [किं णिमित्त ।]

प्रियंवदा—यावत् त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति । [जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि ।]

शिथिल शब्दात् तत्करोति तदाचष्टे—णिच् लोट् । **पयोधरविस्तारयितृ**—धरतीति धर (धृ+अच्) पयस धरौ पयोधरौ तयो विस्तारयितृ, विस्तारयतीत्यर्थे वि+स्तृ+णिच्+तृच् । उपालभस्व=उप+आ+लभ+लोट् । **सरसिजम्**—सरसि जातमित्यर्थे सरस्+जन् धातो सप्तम्या जनेड ड प्रत्यये टि लोपे तत्पुरुषे कृति बहुलमिति सप्तम्या अलुक्, लोप पक्षे सरोजम् अनुविद्धम=अनु+व्यध+क्त । रम+यत=रम्यम । **अधिकमनोज्ञा**—मनस+ज्ञा+क+टाप् मनोजानातीति मनोज्ञा अधिक शब्देन सह सुप्सुपेति समास । "किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम्" कालिदास की इस प्रसिद्ध सूक्ति के समान भाव रखने वाली अन्य सूक्तियाँ भी हैं "अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्व माकृतिविशेषाणाम्—शाकुन्तल" न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कज सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते—कु० स० । "न रम्य माहार्य मपेक्षते गुणम्" "रम्याणा विकृति रपि श्रिय तनोति—किरात०" सवमलकारो भवति सुरुपाणाम्" "स्वभाव सुन्दरं वस्तु न सस्कार मपेक्षते" । **मण्डनम्**—अलकरणम् ।

प्रस्तुत श्लोक मे माधुर्य नामक अयत्नज अलकार का निर्देश किया गया है, नायिकाओ के सात्विक अलकारो मे से यह एक अलकार है "सर्वावस्थाविशेषेष माधुर्यं रमणीयता" सा-द० । "वल्कलेनापि तन्वी अधिक मनोज्ञा" इस कथन मे प्रसिद्धि नामक नाटकीय भूषण है "प्रसिद्धि र्लोकसिद्धार्थै रुत्कष्टै रथसाधनम" ।

शकुन्तला—(आगे की ओर देखकर) यह केसरवक्षक (वकुल या मौलश्री का वृक्ष) वायु के द्वारा हिलाई गई पल्लवरूपी अङ गुलियो से मुझ को (अपने पास आने के लिए) शीघ्रता सी करा रहा है । तो पहले इसका सत्कार करती हूँ अर्थात् इसमें जल देकर इसे सम्मानित करती हूँ । (यह कहकर घूमती है) ।

प्रियम्वदा—हल शकुन्तला' तुम थोडी देर तक यही ठहरी रहो ।

शकुन्तला—किसलिए ?

प्रियम्वदा—तुम्हारे समीप रहने से यह केसर वृक्ष लता से युक्त जैसा प्रतीत होता है अर्थात् तुम्हारे पास रहने से यह वृक्ष ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह लता रूप नायिका से युक्त हो गया हो ।

शकुन्तला—अत खलु प्रियवदाऽसि त्वम्। [अदो क्खु पिअवदा सि तुम।]

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियम्वदा। अस्या खलु—

अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीय यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥२१॥

शकुन्तला—इसीलिए तो तुम प्रियम्वदा हो, अर्थात् इसीलिये तुम्हारा नाम प्रियम्वदा=मधुरभाषिणी है।

राजा—प्रियम्वदा ने शकुन्तला से प्रियबात के साथ ही सत्य बात भी कही है अर्थात् उसके कथन मे प्रियता ही नही सत्यता भी है।

अवश्य ही इसका—

अधर इति-अन्वय—अधर किसलयराग (अस्ति) बाहू कोमलविटपानुकारिणौ (स्त) अङ्गेषु कुसुमम् इव लोभनीयम् यौवनम् सन्नद्धम्।

शब्दार्थ—अस्या खलु अधर किसलयराग=इस शकुन्तला का अधरोष्ठ अवश्य ही नव कोमल पत्ते के समान लाल है। बाहू=भुजाएँ, कोमलविटपानुकारिणौ =कोमल शाखाओ का अनुकरण करने वाली अर्थात् शाखाओ के सदृश हैं। अङ्गेषु=शरीरावयवो मे, कुसुमम् इव लोभनीयम्=पुष्प के समान मनोहर, यौवनम् सन्नद्धम्=यौवन व्याप्त है।

अनुवाद—अवश्य ही इसका अधरोष्ठ नव कोमल पल्लव के समान लालवर्ण का है, भुजाएँ कोमल टहनियो के समान हैं, तथा शरीर के अवयवो मे पुष्प के समान चित्ताकर्षक यौवन व्याप्त हो रहा है।

भावार्थ—राजा अपने मन मे कहता है कि यद्यपि प्रियम्वदा ने शकुन्तला से ये प्रिय वचन ही कहे है "त्वयोपगतया लतासनाथ इवाय केसरवृक्षक प्रतिभाति" तथापि इनमे पर्याप्त तथ्य है, उसके ये वचन केवल प्रिय ही नही सत्य भी हैं, क्योंकि इसके अधरोष्ठ मे नव कोमलपल्लव के समान रक्तिमा है। भुजायें कोमल टहनियो के सदृश हैं और इसके शरीर के प्रत्येक अवयव मे पुष्प के समान चित्ताकर्षक यौवन व्याप्त हो रहा है।

यौवनागम से मुख पर कान्ति, नेत्रो मे चाञ्चल्य एवं अनुराग, कण्ठ में कम्बुसाम्य, त्रिरेखावलयत्व, वक्षःस्थल पर स्तनो का उज्जृम्भण औन्नत्य काठिन्यादि, नाभि मे गाम्भीर्य निम्नत्व, उदर मे तनुता एव कृशता, नितम्बस्थल के मध्य भाग मे निम्नत्व पार्श्व भाग मे मांसलत्व, जघन, जङ्घा, जानु और उरु प्रदेशो मे मासलता विशालता शीतलता मृदुलता, पैरो मे मदालस्य, गमन मे विलासादि, उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में उपमालकार तथा आर्या जाति छन्द है। पदोच्चय नामक नाट्य भूषण है "सञ्चयार्थानुरूपो य पदौघ स पदोच्चय" अर्थात् जहाँ सम्बद्ध

अनसूया—हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि। [हला सउन्दले, इअं सअंवरवहू सहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिआ। णं विसुमरिदा सि।]

शकुन्तला—तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि। (लतामुपेत्यावलोक्य च) हला रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः। [तदा

अर्थ के अनुकूल ही पदों का प्रयोग किया गया हो, यहाँ पर अर्थ के अनुकूलन ही पदों में भी सुकुमारता है।

संस्कृत व्याख्या—अस्याः खलु अधरः—अधरोष्ठः, किसलयस्य पल्लवस्येव रागः लौहित्यं यस्य सः-किसलयरागः, बाहू=भुजौ, कोमलौ मृदुलौ विटपौ स्कन्धोर्ध्वशाखे अनुकुरुत इति कोमलविटपानुकारिणौ (स्तः) अङ्गेषु—अस्याः सर्वशरीरावयवेषु, कुसुममिव=पुष्पमिव, लोभनीयम्=चित्ताकर्षकम्, यौवनम्=तारुण्यम्, संनद्धम्=व्याप्तम् (अस्ति)।

संस्कृत सरलार्थ—राजा मनसि चिन्तयति, न केवलं प्रियम्वदा शकुन्तलां प्रति प्रियं वचनमेव अपितु तथ्यमप्याह, तथाह्यस्या अधरोष्ठः पल्लवरागसदृशः रक्तवर्णः अस्ति, भुजौ चास्याः कोमलविटपसदृशौ, स्तः, सर्वशरीरावयवेष्वप्यस्याः मनोऽभिरामं पुष्पमिव तारुण्यं सर्वत्र सम्यक् प्रकारेण व्याप्तमस्ति।

टिप्पणी

वातेरित पल्लवाङ्गुलीभिः—वातेन वायुना ईरिताः आन्दोलिताः पल्लवा एव अङ्गुल्यः ताभिः। **त्वरयति**=त्वर, धातोः णिच् लट्। **केसरवृक्षक**—इसे मौलश्री या बकुल वृक्ष भी कहा जाता है, इसके पुल्लिङ्ग होने से पुरुष (पति) को सूचित किया गया है, इसी प्रकार लता के द्वारा स्त्री नायिका को सूचित किया गया है अतः इस वाक्य में समासोक्ति है। **सनाथ**—का मुख्यार्थ पतियुक्त होना है, गौड अर्थ में इसका अर्थ युक्त या समन्वित होना भी होता है। **यौवनम्**—यून भाव युवन्+अण्। **सनद्धम्**—सम्+नह्+क्त। **प्रियमपि तथ्यम**—"प्रियं तथ्यञ्च सुनृतम्" प्रिय और सत्य वचन सूनृत कहा जाता है यद्यपि ऐसा वचन दुर्लभ होता है। हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

अनसूया—हला शकुन्तला, यह आम्र वृक्ष की स्वयम्वरवधू नव मालिका लता (है) जिसका कि तुम्हारे द्वारा वनज्योत्स्ना नाम रखा गया है। तुम इसको भूल गई हो।

शकुन्तला—तब तो अपने आपको भी भूल जाऊगी। (लता के पास जाकर और देखकर), सखी, निश्चय ही, सुन्दर समय में इस लता और वृक्ष के जोड़े का

अत्ताण वि विसुमरिस्सं । हला रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्य वइअरो सवुत्तो । णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, सिणिद्धपल्लवदाए उवभो-अक्खमो सहआरो ।]

(इति पश्यन्ती तिष्ठति ।)

प्रियम्वदा—अनसूये, जानासि किं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्र पश्यतीति । [अणसूए, जाणासि कि सउन्दला बनजोसिणि अदिमेत्त पेक्खदि त्ति ।]

अनसूया—न खलु विभावयामि । कथय । [ण क्खु विभावेमि । कहेहि ।]

प्रियम्वदा—यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन सगता, अपि नामैवम-हमप्यात्मनोऽनुरूप वर लभेयेति । [जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण सगदा, अवि णाम एव्व अह वि अत्तणो अणुरूव वर लहेअ त्ति ।]

शकुन्तला—एष नून तवात्मगतो मनोरथ । [एसो णूण तुह अत्तगदो मणोरहो ।]

(इति कलशमावर्जयति)

सम्बन्ध हुआ है । वनज्योत्स्ना तो नवीन पुष्प रूपी तारुण्य से युक्त है और आम्र वृक्ष अपने चिकने पत्तो के कारण (इसके) उपभोग के योग्य है ।

(इस प्रकार देखती हुई रुक जाती है)

प्रियम्वदा—अनुसूया, क्या तुम जानती हो कि शकुन्तला वनज्योत्स्ना को क्यो बहुत अधिक देख रही है ।

अनसूया—मैं नही जानती हूँ, बताओ ।

प्रियम्वदा—जिस प्रकार वनज्योत्स्ना अपने अनुरूप वृक्ष से लिपट गई है, क्या इसी प्रकार मैं भी अपने अनुरूप वर को पाऊँगी ?

शकुन्तला— यह अवश्य ही तुम्हारी अपनी इच्छा है

(यह कर घडे का जल डाल देती है)

टिप्पणी

स्वयम्वरवधू—स्वय वृणुते इति स्वयम्वर स्वयम्+वृधातो सज्ञाया भृतृ॰ इत्यादिना खच् प्रत्यय टाप्—स्वयम्वरा, सा चासौ वधू = इति स्वयम्वरवधू जिसने स्वय अपने पति का वरण किया है, वनज्योत्स्ना लता स्वय ही आम्र वृक्ष पर चढ गई थी, अतएव यहाँ उसे स्वयम्वरवधू कहा गया है । प्राचीन काल मे स्त्रियाँ विशेषतया अपने पति का वरण स्वय करती थी अतएव इस विवाह को स्वयम्वर कहा जाता था, मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रो मे इसका विधान है । **सहकार** —सह कारयतीत्यर्थे सह+कृ+णिच् लट्, जो प्रियजनो को मिलाता है, सहकार बसन्त ऋतु के आरम्भ मे

फूलता है, प्रवासी जन इसे पुष्पित देखकर अपने घर लौट आते हैं। लता पादप का स्वयम्वर संस्कृत कवियो को बडा रुचिकर रहा है और विशेष रूप से कालिदास को अतएव उनकी रचनाओ मे इसका विशेषत उल्लेख मिलता—चूतेन संश्रितवती नवमा लिकेयं मस्य महं त्वयि च सप्रति वीतचिन्त "। कृतनामधेया—कृत नामधेय नाम यस्या सा जिसका नाम रखा गया है। वनज्योत्स्ना—ज्योतिरस्त्यस्यामित्यर्थे ज्योतिष शब्दात् म त्वर्थीयो न प्रत्यय निपातनात्साधु। लतापादपमिथुनस्य—लता च पादपश्च लतापादपौ तयो मिथुन तस्य। व्यतिकार—वि+अति+कृ+घ=व्यतिकर—सम्बन्ध, मयो., सगम यहाँ इसका तात्पय दोनो के विवाह से है। नवकुसुमयौवना—नव च तद कुसुम तदेव यौवन यस्या। कुसुम=शब्द यहाँ श्लिष्ट है—कुसुम=पुष्प, और नवकुसुम= प्रथम रजोदशन, रजोदशन के बाद ही कन्या युवती और विवाह योग्य समझी जाती है। स्निग्धपल्लवतया—स्निग्धा पल्लवा यस्य, तस्य भाव तल तया=स्निग्ध पल्लव होने के कारण, उपभोगक्षम—उपभोगस्य क्षम=उपभोग के योग्य—उप+भुज+घञ्। सहकार वृक्ष मे नवीन चिकने कोमल पत्ते आ गये है जो कि उसके हाथ है अत वह नव कुसुम यौवना वनज्योत्स्ना का उपभोग करने योग्य हो गया है; लता पादप मे उपभोग क्षमता को दिखाकर कवि ने दोनो मे पति-पत्नी के व्यवहार का समारोपण किया है, इससे उसने अपनी यह भी मान्यता प्रकट की है कि वर और कन्या के उपभोगक्षम एव युवती और युवक होने पर ही उनका विवाह होना चाहिये, बाल विवाह नही, उनकी रचनाओ मे प्राय युवती नायिकाये स्वय वरवरण करती हैं।

अतिमात्रम्—अति क्रान्ता मात्रा यस्मिन् तत्—मात्रा का अतिक्रमण करके अत्यधिक। यद्यपि 'अति' से ही यह तात्पय हो सकता है पर कवि को अतिमात्र शब्द अधिक प्रिय है उसने बहुत्र इस शब्द का प्रयोग किया है।

विभावयामि—वि+भू+णिच लट्, इसका अथ अनुमानत जानना होता है, अनसूया कहना चाहती है कि इस सम्ब ध मे मैं कुछ भी अनुमान नही लगा पा रही हूँ कि यह क्यो वनज्योत्स्ना को बहुत अधिक देख रही है। यह तुम्ही बताओ कि इसके इस प्रकार देखने का क्या कारण है, वस्तुत अनसूया बडे ही गम्भीर स्वभाव की है, शकुन्तला पर उसका अत्यधिक स्नेह है वह प्रियम्वदा की तरह व्यवहार मे न तो उतनी चतुर ही है और न वह ऐसी मनोरञ्जक बातो मे विशेष रुचि ही लेती है। अनुरूपेण रूपस्य योग्यम्, अपने सौन्दय के अनुरूप। सगता—सम्मिलिता, पत्नी रूप मे अपने अनुरूप पति सहकार से मिल गई है उससे विवाह कर लिया है। अपि नाम—अपि तो प्रश्नसूचक अव्यय है और नाम सम्भावना द्योतक है, अपि इसका अथ है कि क्या यह सम्भव है कि, आत्मनोऽनुरूप वर लभेय, अपने अनुकूल पति प्राप्त कर पाऊँगी। वस्तुत कवि ने यहा प्रियवदा के द्वारा शकुन्तला की मनोदशा का वणन कराकर राजा को उससे विवाह करने की इच्छा का उपयुक्त अवसर प्रदान किया है, अब तक वह उसे तापसकन्या के रूप मे ही देख रहा था, प्रियम्वदा और शकुन्तला के इस वार्तालाप से वह अब उससे विवाह की भी इच्छा करने लगा है, इसी प्रकार लता और

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात् । अथवा कृतं सन्देहेन—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा,
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु,
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥१६॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये ।

शकुन्तला—(ससम्भ्रमम्) अम्मो, सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो नवमालिका-मुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते । [अम्मो, सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ ।]

(इति भ्रमरबाधां रूपयति ।)

पादप मे विवाह कराकर कवि ने इन दोनो मे भी विवाह योग्यता का भी निर्देश किया है । स्वयम्वर वधू से उसने गान्धर्व विवाह की ओर भी संकेत किया है ।

मनोरथ—मनस रथ अर्थात् इच्छा, इच्छा वस्तुत मन का रथ ही होती है, इच्छा मन के भावो को उसी प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा देती है जिस प्रकार रथ मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा देता है, अत इच्छा को मन का रथ कहा गया है । आत्मगत —आत्मान गत अपना । आवर्जयति—आ+वृज्+णिच् लट्=उछलती है । आवर्जन का अर्थ झुलाना पलटना नीचे की ओर करना आदि होता है । कवि ने इस वार्तालाप द्वारा दुष्यन्त में शकुन्तला के साथ विवाह की इच्छा को जागृत कर, उसके लिए उसे प्रयत्नशील बना कर इस प्रसग को यहाँ छोड दिया है ।

"कथमियं सा" यहाँ से लेकर यहाँ तक मुखसन्धि का चतुर्थ विलोभन नामक अंग निर्दिष्ट किया गया है "गुणानां वर्णनं तज्ज्ञैर्विलोभन मितीरितम्" यहाँ नायिकागत गुणों का वर्णन किया जाये वहाँ विलोभन नामक अंग होता है ।

राजा—क्या यह सम्भव है कि यह शकुन्तला, कुलपति महर्षि कण्व की असवर्णक्षेत्रा अर्थात् ब्राह्मणोतर पत्नी से उत्पन्न हुई हो । अथवा (इस विषय मे सन्देह करने की आवश्यकता नही—

असंशयमिति-अन्वय—(इयम्) असंशयम् क्षत्रपरिग्रहक्षमा (अस्ति) यत् मे आर्यम् मन अस्याम् अभिलाषि (अस्ति) हि सन्देहपदेषु वस्तुषु सताम अन्त करणप्रवृत्तय प्रमाणम् (भवन्ति) ।

शब्दार्थ—असंशयम=निस्सन्देह, क्षत्रपरिग्रहक्षमा=क्षत्रिय द्वारा पत्नी रूप में स्वीकार करने योग्य, यत=क्योंकि, मे आर्यम मन=मेरा श्रेष्ठ मन, अस्याम्=इस शकुन्तला पर, अभिलाषि=इच्छा करने वाला है । सन्देहपदेषु वस्तुषु=सन्देहास्पद विषयों मे सताम=सज्जनो की, अन्त करणप्रवृत्तय=अन्त करण की प्रवृत्तियाँ (ही) प्रमाणम् (भवन्ति) प्रमाण होती हैं ।

अनुवाद—निस्सन्देह यह शकुन्तला क्षत्रिय द्वारा पत्नी रूप में स्वीकार करने योग्य है, क्योंकि मेरा श्रेष्ठ मन इस पर अभिलाषा करने वाला है। सन्देहास्पद विषयो मे सज्जनो की अन्त करण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं।

भावार्थ—राजा सोचता है कि इनकी बातो से तो यह पता चलता है कि यह सुन्दरी शकुन्तला, महर्षि कण्व की, ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न कन्या है, परन्तु इसका निश्चय किस प्रकार हो, तदनु वह कुछ सोचकर स्वय कहता है कि इस विषय मे सन्देह करना व्यर्थ है, यह निश्चय रूप से क्षत्रिय द्वारा पत्नी रूप मे स्वीकार करने योग्य हैं, और इसका प्रमाण यह कि मेरा विनय विद्या-सदाचरणादि से सम्पन्न एव निषिद्धाचरण से रहित मन इस पर अभिलाषा करता है। क्योकि सन्देहास्पद विषयो मे सत्पुरुषो की मनोवृत्तियाँ हीं कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने वाली होती है "साधूना मात्मन तुष्टि रेव च" इस मनु वचन से ज्ञात होता है कि सज्जन जिस वस्तु को अपने मन द्वारा पवित्र एव ग्रहण करने योग्य निश्चय कर लेते हैं वह अवश्य पवित्र एव स्वीकरणीय होती है, अत इसमे कोई सन्देह नहीं कि यह क्षत्रिय द्वारा विवाह करने योग्य है।

वस्तुत प्रस्तुत श्लोक द्वारा कवि ने राजा दुष्यन्त के उच्च आदर्शमय चरित्र को प्रस्तुत किया है, जबकि इसके पूर्व तक का उसका कार्य दुष्यन्त जैसे धीरोदात्त नायक के गुणो के विरुद्ध ही रहा है, छिपकर मुनि कन्याओ को देखना, उनके आपसी वार्तालाप को सुनना तथा विवाह की इच्छा करना आदि, तथापि इस श्लोक द्वारा उसके श्रेष्ठ मन को सत्पुरुषो के मन की तरह कर्तव्याकर्तव्य विनिर्णायक बताकर उसके उदात्त चरित्र को प्रस्तुत किया गया है, कवि के चरित्र-चित्रण की यही विशेषता है, मानव चरित्र गुण दोषो से संयुक्त ही होना है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में मत्परिग्रहक्षमा न कहकर जो क्षत्रपरिग्रहक्षमा यह सामान्य कथन किया गया है इससे यहा अप्रस्तुतप्रशसालकार है। उत्तरार्धगत सामान्य से पूर्वार्धगत विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यासालकार है, आर्यमस्या-मभिलाषि मे मन कहकर पुन अन्त करणप्रवृत्तय कहने मे पुनरुक्तवदाभास अलकार है। द्वितीय चरण प्रथम चरण का कारण है अत काव्यलिङ्ग अलकार है, वंशस्थ नामक छन्द है "जतौ तु वशस्थ मुदीरित जरौ।"

संस्कृत व्याख्या—(इय—शकुन्तला) असशयम्=निस्सन्देहम् नूनम् वा, क्षत्रस्य क्षत्रियस्य परिग्रहाय पत्नीत्वेन स्वीकाराय क्षमा योग्या—क्षत्रपरिग्रहक्षमा= क्षत्रियेण विवाहयोग्या (अस्ति) (क्षत्र क्षत्रियराजयो) (परिग्रह परिजने पत्न्यां स्वीकार-मूलयो" इति कोश। यत्=यस्मात् कारणात्, आर्यम्=निषिद्धाचरणशून्यं विनयाचरणादियुक्त मे=दुष्यन्तस्य, मन=चित्तम, अस्याम=शकुन्तलायाम्, अभिलाषि= साभिलाषम् (अस्ति) हि=यत, सन्देहपदेषु=सन्देहास्पदेषु, वस्तुषु=विषयेषु, सताम्= सत्पुरुषाणाम् अन्त करणप्रवृत्तय=मनोवृत्तय, प्रमाणम्=कर्तव्याकर्तव्यविनिर्णयहेतु (भवन्ति)।

संस्कृत सरलार्थं—मुनिकन्याना विश्रम्भालाप माकर्ण्य, शकुन्तला मसवर्णं क्षेत्रसम्भवा विचिन्त्य च राजा निश्चिनोति यदिय शकुन्तला नूनमेव मया क्षत्रियेण विवाह पत्नीरूपेण स्वीकरणयोग्यास्ति, यतो हि मे निषिद्धाचरणशून्य मन शकुन्तलाया मभिलाषि अस्ति। यत सशयग्रस्तविषयेषु सत्पुरुषाणा मनोवृत्तय एव कर्तव्या कर्तव्यनिर्णायिका भवन्ति।

तथापि-इति—तथापि इस शकुन्तला को वास्तविक रूप से प्राप्त करूँगा। तात्पर्य यह कि यद्यपि मेरे मन मे यह विश्वास है कि यह क्षत्रिय द्वारा विवाह योग्य है तथापि लोक व्यवहार की रक्षा के लिए यथाथत इसे जानकर ही प्राप्त करूँगा केवल अपने मानसिक विश्वास से ही नही।

इस कथन द्वारा कवि ने यहाँ परिन्यास नामक मुख सन्धि के तृतीय अग का निर्देश किया है। "तन्निष्पत्तिस्तु कथन परिन्यास प्रचक्षते' अथवा 'तन्निष्पत्ति परिन्यास सा० द०" यहाँ दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति प्रेम रूपी काव्याथ का निश्चित रूप से उल्लेख हुआ है। इन सन्ध्यङगो का क्रमश उल्लेख करने का कोई नियम नही है, इसी अङ्क मे पहले चतुर्थ विलोभन नामक अग को दिखला कर अब तृतीय अग परिन्यास को बतलाया गया है "मुखादि सन्ध्यङ्गाना क्रमो नाय विवक्षित।"

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) ओह, जल के सेचन की घबराहट से उड़ा हुआ यह भ्रमर नवमालिका को छोड़कर मेरे मुँह की ओर आ रहा है।

(यह कहकर भ्रमर बाधा का अभिनय करती है)

टिप्पणी

असवर्णक्षेत्रसम्भवा—समानो वण यस्य तत् सवणम न सवणम्, असवणम्, असवर्णात् क्षेत्रात् सम्भव उत्पत्ति यस्या सा। अथवा असवणक्षेत्र सम्भव उत्पत्तिस्थानं यस्या सा। क्षेत्र शब्द का अर्थ यहाँ पत्नी है, महर्षिकण्व ब्राह्मण थे, कोई ब्राह्मणी ही उनकी सवण क्षेत्रा पत्नी हो सकती थी किन्तु असवर्ण क्षेत्रा से यहाँ तात्पय ब्राह्मणेतर जाति की पत्नी से है, राजा के मन मे सन्देह होता है कि सम्भवत शकुन्तला, महर्षि कण्व की ब्राह्मणतर पत्नी से उत्पन्न हुई पुत्री है, अतएव वह मेरे द्वारा विवाह के योग्य है, क्योकि ब्राह्मण पुत्री से क्षत्रिय राजा विवाह नही कर सकता था। जैसाकि मनु का वचन है "सवर्णाग्रे द्विजातीना प्रशस्ता दारकर्मणि, कामतस्तु प्रवृत्तानामिमा स्यु क्रमशो-वरा। सभी वर्णों को अपने ही वण की कन्या मे विवाह करना उचित माना गया है किन्तु कामवश अपने से निम्न वण की कन्या से भी विवाह किया जा सकता था पर अपने से उच्चवर्ण की कन्या से कदापि नही। इस प्रकार का आनुलोम्य विवाह प्राचीन काल मे प्रचलित था पर प्रतिलोम विवाह उस समय भी वर्जित था। **कृत सन्देहेन**—निषेधार्थक कृतम् और अलम् के योग मे "गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका" इस वार्तिक नियम से तृतीया। राजा को पूर्ण विश्वास है कि यह मुनिकन्या मेरे द्वारा विवाह योग्य है इसमे सन्देह करना व्यर्थ है। **असशयम्**—न विद्यते संशय यस्मिन तत्

राजा—(सस्पृह विलोक्य)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥२०॥

तद्यथास्यात्तथा असशयम—सम+शी+अच । अभिलाषि–अभि+लष–सुप्यजातार्दि ताच्छील्ये णिनि, न पु० प्रथमैक वचन, सताम–अस+शत षष्ठी बहुवचन । सन्देहपदेषु–सन्देहस्थलो मे 'सम्+दिह+घञ । अन्तःकरणप्रवृत्तय —क्रियते अनेनेति करणम इन्द्रियम्' अ त स्थ करणम अ त करणम उत्तरपदलोपिसमास । अ त करणस्य मनस प्रवृत्तय व्यापारा । प्रमाणम—प्रमीयतेऽनेन प्र+मा+ल्युट् । सज्जनो की आत्मसन्तुष्टि ही कर्तव्या कतव्य का निश्चय करती है "आचारश्चैव साधूना मात्मनस्तुष्टि रेव च ' तत्त्वत —मानसिक सन्तुष्टि के होते हुए भी वास्तविक स्थिति का ठीक ठीक पता लगा करके ही इसे प्राप्त करूँगा । मधुकर अभिवतते—शकुन्तला के मुख को कमल समझकर नवमालिका को छोडकर भ्रमर उसके मुख की ओर आ रहा था और उसे काटने का प्रयत्न कर रहा था इस कथन से ज्ञात होता है कि शकुन्तला पद्मिनी स्त्री थी अतएव भ्रमर कमल सुगन्धि से आकृष्ट हो उसका रसपान करना चाहता था, पद्मिनी का लक्षण 'रतिमञ्जरी' के अनुसार यह है "भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्ररन्ध्रा, अविरलकुचयुग्म दीर्घकेशी कृशाङ्गी मृदुवचनसुशीला नृत्यगीतानुरक्ता, सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा" । सलिलसेकसम्भ्रमोद्गत —सलिलस्य सेकेन य सम्भ्रम तेन उद्गत, सिच्+घञ् चजोरिति कुत्वे सेक । वदनमभिवर्तते—'अभिरभागे' से अभि के कर्म प्रवचनीय सज्ञक होने से वदनम् मे द्वितीया ।

राजा—(बडे चाव से देखकर)

चलेति-अन्वय—हे मधुकर, (त्वम्) चलापाङ्गाम् वेपथुमतीम् दृष्टिम् बहुश स्पृशसि । रहस्याख्यायी इव कर्णान्तिकचर (सन्) मृदु स्वनसि, करौ व्याधुन्वत्या रतिसर्वस्वम् अधरम् पिबसि । वयम् तत्वान्वेषात् हता , त्वम् खलु कृती ।

शब्दार्थ—मधुकर=भ्रमर मधुप, (तुम्) चलापाङ्गाम्=चञ्चल नेत्र प्रान्तो वाली (तथा) वेपथुमतीम् (तुम्हारे भय से) काँपती हुई, (इसकी) दृष्टिम्=दृष्टि का अर्थात् नेत्रों का, बहुश =बार-बार, स्पृशसि=स्पर्श करते हो। रहस्याख्यायी इव=गोपनीय बात कहने वाले के समान, कर्णान्तिकचर सन्=कान के पास घूमने वाले होकर, मृदु स्वनसि=मधुर गुञ्जन करते हो, करौ व्याधुन्वत्या =आत्मरक्षार्थ हाथों को इधर-उधर चलाती हुई इसके, रतिसर्वस्वम्=रतिकाल मे सबसे अधिक आस्वाद योग्य, अधरम् पिबसि=अधरोष्ठ का पान करते हो। वयम्=हम तो,

तत्त्वान्वेषात्=वास्तविक बातो का पता लगाने के कारण, हता=मारे गये अर्थात् वञ्चित ही रह गये, त्वं खलु कृती=किन्तु वस्तुत तुम सफल मनोरथ हो गये हो।

अनुवाद—हे मधुप! (तुम) चञ्चल नेत्र प्रान्तो वाली, (तथा) (भय वश) काँपती हुई दृष्टि का बार-बार स्पश करते हो अर्थात् चुम्बन करते हो। गोपनीय बात कहने वाले व्यक्ति की तरह, कान के समीप घूमने वाले तुम मधुर गुञ्जन करत हो अर्थात् धीरे-धीरे गुनगुनाते हो। (आत्मरक्षाथ) हाथों को इधर उधर चलाती हुई इसके रतिकाल मे सबसे अधिक आस्वाद योग्य अधर का पान करते हो, हम तो तात्त्विक बातों का पता लगाने के कारण वञ्चित ही रह गये किन्तु तुम वस्तुत सफल मनोरथ हुयें हो।

भावार्थ—राजा शकुन्तला को तृष्णापूर्वक देखकर कहता है कि भ्रमर को हटाने मे भी इसकी चेष्टायें कितनी स्पृहणीय हैं, वास्तव मे यह भ्रमर ही भाग्यवान् है, हम तो कुछ नहीं क्योंकि—

भ्रमर को भगाने के प्रयत्न मे यह अपने हाथों को इधर-उधर चला रही है, उसके काटने के भय से इसके नेत्र चञ्चल हो रहे हैं और दृष्टि काँप सी रही है, फिर भी वह ढीठ भ्रमर इसके नेत्रो का चुम्बन कर रहा है, कभी-कभी यह इसके कान के पास आकर धीरे-धीरे उसी प्रकार गुनगुनाने लगता है जैसे कि गोपनीय बात कहने वाला व्यक्ति किसी के कान के पास मुख रखकर धीरे धीरे कान मे कुछ कहता है, इतना ही नही, रोके जाने पर भी यह भ्रमर इसके रति सर्वस्व अधर का चुम्बन करता है। भ्रमर की इन सब चेष्टाओ को देखकर राजा कहता है कि हम तो वास्तविक बात का पता लगाने के कारण अर्थात् यह जानने के प्रयत्न मे कि यह मेरे द्वारा विवाह योग्य है या नही, इसके अग स्पर्श से वञ्चित ही रह गये किन्तु हे भ्रमर तुम ही भाग्यवान् हो जो इसका अग स्पश पाकर सफल मनोरथ हो सके हो।

प्रस्तुत श्लोक मे प्राय सवत्र दो अर्थ घटित होते हैं? भ्रमर पक्ष में=कामिजन पक्ष मे, शकुन्तला के प्रति भ्रमर की सब वैसी ही चेष्टायें हैं जैसीकि एक कामी की होती हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के 'रहस्याख्यायी' मे उत्प्रेक्षालकार, कमल की भ्रान्ति वश शकुन्तला के प्रति भ्रमर के इस व्यवहार मे भ्रान्तिमान् अलकार है। 'वय हतास्त्व खलु कृती' मे उपमान भूत राजा की अपेक्षा उपमेय भ्रमर मे आधिक्य बतलाया गया है अत व्यतिरेक अलकार, मधुकर मे नायक व्यवहार समारोपण के कारण समासोक्ति अलकार है 'त्व कृती' के लिये प्रथम तीन चरण कारण हैं अत काव्यलिङ्ग अलकार, भ्रमर के व्यवहार मे स्वभाव कथन है अत स्वभावोक्ति अलकार है। शिखरिणी नामक छन्द है। 'रसै रुद्रै श्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।"

संस्कृत व्याख्या—मधुकर=मधुप! (त्वम्) चलौ चञ्चलौ अपाङ्गौ नेत्र प्रान्त भागौ यस्या ताम्—चलापाङ्गाम्, वेपथुरस्त्यस्यास्ताम्=वेपथुमतीम्=(भयवशा त्) कम्पमानाम् दृष्टिम्, बहुश=पुन पुन, स्पृशसि=दष्टु स्पृशसि, आरोप-

पक्षे चुम्बसि । रहस्यम आख्यातु शील मस्य स रहस्याख्यायी गोप्यवार्ता कथनशील, इव = यथा, कणयोरन्तिक समीप चरतीति—कणोन्तिकचर = श्रवणसमीपवर्ती (सन्) मृदु = मधुर, स्वनसि = गुञ्जसि । आरोपपक्षे ब्रवीसि, अन्योऽपि कामी कामिन्या कर्णान्तिक चर सन रहस्याख्यानव्याजेन प्रिय मधुर मधुर म द म द च ब्रवीति । करौ = हस्तौ, व्याधुवत्या = विशेषेण चालयन्त्या भ्रमरबाधानिराकरणायेतस्ततश्चालयन्त्या (अस्या शकुतलाया) रते सवस्वम—रतिसवम्वम = सुरतेच्छाप्रधानकारणम् अधरम्—अधरोष्ठम्—पिबसि = दशसि, आरोपपक्षे—आस्वादयसि चुम्बसि । वयम् = अहमित्यथ, तत्त्वा वेषात् = कस्येय, का वेय, क्षत्रियपरिग्रहयोग्या नवेति निश्चय जिज्ञासाकारणात्, हता = वञ्चिता भग्न मनोरथा न तस्या कटाक्षगोचरीभूता अपि आसा परिचुम्बनादयस्तु दूरत एवेत्यथ (परन्तु) त्वम् भ्रमर ! खलु = वस्तुत, कृती = सफलमनोरथ असि ।

संस्कृत सरलाथ—भ्रमरस्य शकुतला प्रति कामिजनसदृश व्यवहार मवलोक्य दुष्यन्त स्त सम्बोधयन् कथयति—मधुप ! त्व मस्या शकुन्तलायाश्चञ्चल कटाक्षान्विता भयवशात् कम्पमाना दष्टि तथैव दृष्टु स्पृशसि यथा कश्चित् कामी चुम्बसि । अस्या कर्णाभ्याश भ्रमन् त्व मन्द म द यथास्यात्तथा तथैव गुञ्जसि यथा कश्चित् कामी कामिन्या कर्णा तिकचर सन रहस्याख्यानव्याजेन प्रिय मधुर मन्द मन्द मालपति । भ्रमरबाधानिराकरणाय स्वहस्तावितस्ततश्चालयन्त्या अस्या रतिप्रधानकारिणीभूत मधर दष्टु मिच्छसि यथा कश्चित कामी वजनाय हस्तौ चालयन्त्या कामिन्या रतिकाले परमास्वादजनक मधरोष्ठ मास्वादयति । अह दुष्यन्तस्तु कस्येयं, का वेति, परिग्रहयोग्या नवेति निश्चयजिज्ञासया भग्नमनोरथ जात परन्तु भ्रमर ! त्वमेव वस्तुत सफलमनोरथोऽसि ।

टिप्पणी

सस्पृहम्—स्पहया सहितम यथा स्यात्तथा । **वेपथुमतीम**—टुवेप् कम्पने धातो ट्वितोऽथुच इति अथुच् प्रत्यय = वेपथु, वेपथुरस्त्यस्या इत्यर्थे अस्त्यर्थे मतुप् ङीप् वेपथुमती ताम् । **रहस्याख्यायी**—रहसि भवभित्यर्थे यत् = रहस्यम् गोपनीय वस्तु । रहस्य + आ + चक्षिङ् धातो ताच्छील्ये णिनि, चक्षिङ् ख्याञ् । इति धातो ख्यादेश, रहस्य माख्यातु शीलमस्य रहस्याख्यायी । **कर्णा तिकचर**—कणयोरन्तिक चरतीत्यर्थे चरेष्ट इति चर धातो ट प्रत्यय । **दृष्टिम्**—दृश + क्तिन यहाँ दृष्टि का अर्थ वस्तुत नेत्र है । **व्याधुन्वत्या**—वि + आ + धु + शतृ ङीप षष्ठ्येक वचन । भ्रमर से आत्मरक्षा के लिये दोनो हाथो का चलाना स्वाभाविक ही है । तत्वान्वेषात् = तत्त्वस्य अन्वेष तस्मात् हेत्वर्थे पञ्चमी, अनु + इष् + घञ् = अ वेष । **वयम**—अत्र अहमर्थे बहुवचन प्रयोग । **कृती**—कृत मस्यास्तीति "अत इनिठनौ" इति इनि प्रत्यय । वस्तुत यहाँ राजा के लिये बहुवचन का प्रयोग उसकी शिष्टता कुलप्रतिष्ठा एव सदाचारिता का द्योतक है, भ्रमर के लिए एक वचन का प्रयोग उसकी तुच्छता और अशिष्ठता द्योतक है, ऐसे प्रसगों

शकुन्तला—नैष धृष्टो विरमति । अन्यतो गमिष्यामि । (पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कथमितोऽप्यागच्छति । हला, परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेणाभिभूयमानाम् । [ण एसो धिट्ठो विरमदि । अण्णदो गमिस्स । कह इदो वि आअच्छदि । हला, परित्ताअह म इमिणा दुब्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाण ।]

उभे—(सस्मितम) के आवा परित्रातुम् । दुष्यन्तमाक्रन्द । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम । [का वअ परित्तादुँ । दुस्सन्द अक्कन्द । राअरक्खिदब्वाइ तवोवणाइ णाम ।]

राजा—अवसरोऽयमात्मान प्रकाशयितुम् । न भेतव्यम्—(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । एव तावदभिधास्ये ।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा, सदृष्टिक्षेपम्) कथमितोऽपि मामनुसरति [कह इदो वि म अणुसरदि ।]

मे भ्रमर जैसे अशिष्ट जन ही शीघ्र सफल हो जाते है पर दुष्यन्त जैसे शिष्ट और सदाचारी जन नही हो पाते है । अशिष्ट जनो को अपनी अप्रतिष्ठा का भय नही होता पर दुष्यन्त जैसे व्यक्ति का तो अपनी अप्रतिष्ठा का भय होना ही चाहिए था ।

यद्यपि यहाँ वय हता कहा गया है तथापि यहाँ इससे अत्यन्त अभिलाषा जन्य सुख की प्राप्ति प्रकट होती है अत यहाँ प्राप्ति नामक मुख सन्धि का षष्ठ अग है "सुखार्थस्योपगमन प्राप्तिरित्यभिधीयते ।"

शकुन्तला—यह ढीठ भ्रमर नही रुक रहा है । म दूसरी जगह जाती हू । कुछ पग चलकर रुककर दृष्टिपात के साथ) क्यो इधर भी आ रहा है । सखी, इस दुष्ट भ्रमर से उत्पीडित की जा रही मुझको बचाओ ।

दोनों सखियाँ—(मुस्कराहट के साथ) हम दोनो बचाने वाली कौन है । दुष्यन्त को पुकारो । तपोवन तो राजा द्वारा ही रक्षित होते हैं ।

राजा—अपने आपको प्रकट करने का यह अच्छा अवसर है । मत डरो, (इतनी आधी ही बात कहकर, मन ही मन) (इससे तो) मेरा राजा होना ज्ञात हो जायेगा । अच्छा, तो इस प्रकार कहूँगा ।

शकुन्तला—(कुछ चलकर रुककर, दृष्टिपात करती हुई) क्यो यह इधर भी मेरा पीछा कर रहा है ।

टिप्पणी

धृष्ट —धृष्+क्त 'धृषिशसी वैयात्ये' इति इडभाव । अन्यत्र 'दुष्ट' भी पाठ है, पर धृष्ट पाठ अधिक उचित है । विरमति—व्याङ परिभ्योरम इति परस्मैपदत्वम् । अन्यत —सप्तम्यर्थे तसिल् । प्रकाशयितुम्—अवसर शब्द कालार्थक अत कालसमयेत्यादिनात्र तुमुन् प्रत्यय । अभिधास्ये—अभि+धा+लृट् । आक्रन्द—क्रन्दन शब्द का

राजा—(सत्वरमुपसृत्य)

क पौरवे वसुमती शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनय मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥२१॥

(सर्वा राजान दृष्ट्वा किंचिदिव सम्भ्रान्ता।

प्रयोग रोने और बुलाने अर्थ मे होता है क्रन्दने रोदनाह्वाने इत्यमर। कवि ने यहाँ दुष्यन्त के प्रकट होने का अच्छा अवसर उपस्थित किया है इस प्रकार उसके चरित्र की रक्षा एव कथानक का औचित्य बनाये रखा है, शकुन्तला का भ्रमर से पीडित होना सखियो द्वारा दुष्यन्त के पुकारने का परामश दिया जाना और तपोवनवासिनो की रक्षा करने के लिए राजा का सहसा प्रकट होना, ये सब कथानक की स्वाभाविकता को स्थिर रखती है, कवि का यही नाटयकौशल है कि उसने कही भी कथानक के स्वाभाविक प्रवाह मे शैथिल्य नही आने दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दुष्यन्त ने 'न भेतव्यम्, न भेतव्यम' यह वक्ष की ओट से ही कहा था अतएव यहा पर कवि ने उसका रगमञ्च पर प्रवेश नही दिखलाया है, और न अन्य प्रकार का कोई रगमञ्चीय निर्देश ही है। **स्वगतम्**=मन ही मन कुछ सोचना, जो बात अन्य किसी पात्र को नही सुनानी होती है उसे स्वगतम के द्वारा ही सूचित किया जाता है। "अश्राव्य खलु यद् वस्तु तदिह स्वगत मतम्" इसके विपरीत (प्रकाशम) होता है, जिसे सब कोई सुन सके।

राजा—(शीघ्र ही पास जाकर)

क इति-अन्वय—दुर्विनीतानाम् शासतरि पौरवे वसुमतीम् शासति (सति) क अयम मुग्धासु तपस्विकन्यासु अविनयम् आचरति।

शब्दार्थ—दुर्विनीतानाम् शासतरि=दुष्टजनो के शासक, पौरवे वसुमती शासति=पुरुवशोत्पन्न राजा दुष्यन्त के पृथिवी पर शासन करने वाले होने पर, क अयम्=यह कौन, मुग्धासु तपस्विकन्यासु=सरल स्वभाव वाली भोली भाली मुनि कन्याओ पर, अविनयम आचरति=अशिष्ट व्यवहार करता है।

अनुवाद—दुष्टजनो के शासक, पुरुवशोत्पन्न राजा दुष्यन्त के पृथ्वी पर शासन करने वाले होने पर यह कौन भोली भाली मुनि कन्याओ पर अशिष्ट व्यवहार करता है।

भावार्थ—राजा कहता है कि जबकि दुष्टजनो पर अनुशासन रखने वाला राजा दुष्यन्त जो कि प्रसिद्ध पुरुवशी राजा है, इस भूमि पर शासन कर रहा है, ऐसे समय मे भी यह कौन सा दुर्विनीत है जो कि सरल स्वभाव वाली मुनि कन्याओ पर अशिष्टजनो जैसा व्यवहार करने का साहस कर रहा है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे 'मयि, भ्रमर, शकुन्तलायाम्, इन विशेष प्रस्तुतो का प्रयोग न करके जो इनके स्थान पर शासितरि, क अयम् तपस्विकन्यासु, इन अप्रस्तुतो का प्रयोग किया गया है, अत अप्रस्तुतप्रशसालकार, छेक, वृत्ति, अनुप्रास, आर्याजाति।

सस्कृत व्याख्या—दुर्विनीतानाम्=दुष्टानाम्, शासितरि=दण्डादिना शिक्ष-

अनसूया—आर्य, न खलु किमप्यत्याहितम्। इयं नौ प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता। [अज्ज, ण क्खु किं वि अच्चाहिदं। इयं णो पिअसही महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा।]

(इति शकुन्तलां दर्शयति)

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) अपि तपो वर्धते।

(शकुन्तला साध्वसादवचना तिष्ठति)

शासितरि पौरवे=पुरुवंशोद्भवे राजनि दुष्यन्ते, वसुमतीम्=पृथिवीम् शासति=पालयति (सति) क अयम् कोऽसौ दुष्ट, मुग्धासु=सरलस्वभावासु, तपस्विकन्यासु=मुनिकुमारीषु, अविनयम्=अशिष्टव्यवहारम्, आचरति=समाचरति।

सस्कृत सरलार्थ—राजा सत्वर मुनिकन्यासमक्ष मागत्य कथयति—दुष्टशासके राज्ञि दुष्यन्ते पृथिवीं पालयति सति कोऽसौ दुष्ट मुनिकन्यासु अशिष्टव्यवहार करोति।

(राजा को सहसा उपस्थित हुआ देखकर सभी मुनि कन्यायें कुछ घबडा सी जाती हैं)

टिप्पणी

शासितरि—शासधातो तृच् सप्तम्येक वचने, अतएव दुर्विनीतानामित्यत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति षष्ठी।

शासति—'यस्य च भावेन, सप्तमी'। **पौरवे**—पुरो गोत्रापत्यं पुमानित्यर्थे पुरोरण् वक्तव्य इति अण। **मुग्धासु**—मुग्धा पर अशिष्ट व्यवहार करना सर्वथा अक्षम्य अपराध माना जाता है। "मुग्धा का लक्षण" "प्रथमावतीर्णयौवनमदविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिक लज्जावती मुग्धा"। सा० द०।

वस्तुत कामदेव का प्रभाव बडा ही विचित्र है जिसने दुष्यन्त जैसे धर्मनिष्ठ वीर राजा को भी एक प्रत्यक्ष भ्रमर को दण्ड देने के व्याज से मुनि कन्याओं के सामने उपस्थित कर दिया है और यह कवि का रचना कौशल भी अद्भुत है। राजा ने बडे कौशल से अपना प्रभाव भी स्पष्ट कर दिया है और साथ ही अपना परिचय भी गुप्त रखा है। मुनि-कन्यायें उसकी सामान्योक्ति से उसे पहचान न सकी हैं।

यहाँ पर 'दण्ड' नामक सन्ध्यन्तराङ्ग दिखलाया गया है "दण्डस्त्वविनयादीनां दृष्ट्या श्रुत्या च तर्जनम्"।

अनसूया—आर्य वस्तुत कोई सकट या बडी विपत्ति नहीं है। यह हमारी प्रिय सखी भ्रमर के द्वारा उत्पीडित की जाती हुई दु खित हो गई थी।

(यह कहकर वह शकुन्तला को दिखलाती है)

राजा—(शकुन्तला की ओर अभिमुख होकर) क्या (आपका) तप बढ रहा है अर्थात् आपके तपश्चरण मे कोई बाधा तो नहीं है?

(शकुन्तला भयवश चुपचाप खडी रहती है)

अनसूया—इदानीमतिथिविशेषलाभेन । हला शकुन्तले, गच्छोटजम । फलमिश्रमर्घमुपहर । इद पादोदक भविष्यति । [दाणि अदिहिविसेसलाहेन । हला सउन्दले, गच्छ उडअ । फलमिस्स अग्घ उवहर । इद पादोदअ भविस्सदि ।]

राजा—भवतीना सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।

प्रियवदा—तेन ह्यस्या प्रच्छायशीतलाया सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोद करोत्वार्य । [तेण हि इमस्सि पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअ उवविसिअ परिस्समविणोद करेदु अज्जो ।]

अनसूया—इस समय तो विशेष अतिथि (आपके) शुभागमन से (हमारा तप और भी बढ रहा है) सखी शकुन्तला कुटी मे जाओ । फलयुक्त अर्घ ले आओ । यह (घडे का जल) पैर धोने के लिए जल हो जाएगा ।

राजा—आप लोगो के सत्य और प्रियवचन ने ही आतिथ्य सत्कार कर दिया है (अत अब और आतिथ्य की आवश्यकता नही) ।

प्रियवदा—तब फिर सघन छाया से शीतल (इस) सप्तपर्ण वृक्ष की वेदी (चबूतरे) पर थोडी देर बैठकर श्रीमान् अपनी थकावट दूर कर ले ।

टिप्पणी

अत्याहितम—अति + आ + धा + क्त— 'दधाते हि० ।' अतीव आधीयते मनसि जो मन पर बहुत गहरा प्रभाव डाले—आपत्ति सकट आदि । **कातरीभूता** अकातरा कातरा भूता इत्यर्थे च्वि, अस्य च्वौ इति अकारस्य ईकार । अभिमुख अभिगत मुख यस्य—प्रादिभ्य धातुजस्य० उत्तरपद लोप । **साध्वसात** - भयमिश्रित लज्जा के कारण, साधु सम्यक अस्यति क्षिपति मन इति तत् साध्वसम, साधु + अस् पचाद्यच् हेत्वर्थे पञ्चमी । **विशेषलाभेन** = वि + शिष + घञ विशेष , लभ + घञ लाभ । **सूनृता**—सुष्ठु नृत्यन्ति जना हर्षादनयेति सूनृता वाक सु + नृत, हलश्चेति घञ सज्ञा पूर्वक विधेरनित्यत्वात् गुणाभाव 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घ । **आतिथ्यम**—अतिथये इदमित्यर्थे अतिथिशब्दात् ढञ् प्रत्यय । प्रकृष्टा छाया प्रच्छायम 'विभाषासेना सुरा० से ह्रस्व, तेन शीतला तस्याम् । **आर्य** —अय । अश्र्यत्वेनाभिगम्यते न्याय कर्तव्य माचरन् काय मकर्तव्यमनाचरन तिष्ठति प्रकृताचारे स आर्य इति स्मृत "सब प्रथम अनुसूया ने ही राजा को उत्तर दिया है । इसमे उसके धैर्य, साहस, प्रत्युत्पन्नमतित्व एव वाक् चातुर्य का पता चलता है । अपि तपो वर्धते —अपि प्रश्न सूचक अव्यय है । आश्रमस्थ जनो से प्रथम ऐसा ही प्रश्न किया जाता है, और यही उनके वातावरण के अनुकूल भी होता है । **अर्घम्**—अर्घ मे "आप क्षीर कुशाग्र च दधि सर्पि सतण्डलम् यव सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घ प्रकीर्तित । ये आठ पदार्थ होते है । **सप्तपर्ण** का दूसरा नाम सतौना वृक्ष भी है । इसकी प्रत्येक डाल मे सात पत्ते होते हैं । अनुसूया के

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ता ।

अनसूया—हला शकुन्तले, उचितं न: पर्युपासनमतिथीनाम्। अत्रो-पविशाम । [हला सउन्दले, उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं । एत्थ उव-विसह्म ।]

(इति सर्वा उपविशन्ति)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता । [किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता ।]

राजा—(सर्वा विलोक्य) अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम् ।

प्रियम्वदा—(जनान्तिकम्) अनसूये को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृति मधुरं प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते । [अणसूये, को णु क्खु एसो चउर-गम्भीराकिदी महुरं पिअं आलवन्तो पहाववन्तो विअ लक्खीअदि ।]

कथन से अनुवृत्ति नामक नाट्यालंकार का निर्देश किया गया है "प्रश्रयादनुवर्तन मनुवृत्तिः" मा० द० ।

राजा—अवश्य ही आप लोग भी इस काम से थक गई होंगी ।

अनसूया—सखी शकुन्तला हम लोगों के लिए अतिथियों की सेवा करना उचित है (यहाँ पर प्रसंगानुकूल पर्युपासनम् का अर्थ पास में बैठना है, अर्थात् हम लोग अतिथि के पास बैठें, यह उचित है ।)

(यह कहकर सब पास में बैठ जाती हैं)

शकुन्तला—(अपने मन में) क्या बात है कि इस व्यक्ति को देखकर मैं तपोवन के विरोधी मनोविकार का स्थान या पात्र बन गई हूँ ।

राजा—(सबको देखकर) ओह, आप लोगों का परस्पर अनुराग, समान अवस्था और रूप के कारण अतिमनोहर है ।

प्रियंवदा—(हाथ की ओट में) अनसूया, सुन्दर और गम्भीर आकृति वाला यह कौन व्यक्ति है, जो कि मधुर और प्रिय बातचीत करता हुआ प्रभावशाली लग रहा है ।

टिप्पणी

परिश्रान्ता—परि+श्रम+क्त+टाप । **पर्युपासनम्**—परि+उप+आस्+ल्युट्—समीपे निषदनम्, पास में बैठना, सामान्य पर्युपासन का अर्थ सेवा करना होता है, पर यहाँ प्रसंगानुकूल इसका अर्थ पास में बैठना ही समीचीन है, क्योंकि अनसूया उसे दुष्यन्त के पास में बैठने के लिए ही कह रही थी, अतिथि सेवा का उल्लेख तो गत पृष्ठों में हो चुका है । **आत्मगतम्**—इसका अर्थ स्वगतम् ही होता है, जो बात सब को नहीं सुनानी होती है उसे स्वगत या आत्मगत रूप में कहा जाता है । अतः आत्मगतम्

अनसूया—सखि, ममाप्यस्ति कौतूहलम्। पृच्छामि तावदेनम्। (प्रकाशम्) आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मा मन्त्रयते—कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽलंक्रियते। कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः। किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः। [सहि, मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं। अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि—कदमो अज्जेण राएसिवंसो अलंकरीअदि। कदमो व विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो। किंणिमित्तं वा सुउमारदरो वि तपोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो।]

और स्वगतम् का एक ही लक्षण है "अश्राव्यं खलु यद् वस्तु तदिह स्वगतं मतम्। **किं न खलु**—क्या कारण है अथवा क्या बात है। **तपोवनविरोधिनः**—तपसः साधनं वनं तपोवनम् उत्तरपदलोपिसमास। वि+रुध+घञ्=विरोधी, तपोवनस्य विरोधी तस्य। **विकारस्य**—विक्रियते अनेनेति विकारः जो चित्त में विकृति उत्पन्न करता है अर्थात् मनोविकार। मनोविकार वस्तुतः तपोवन का विरोधी होता है तपोवन का वातावरण प्रशान्त, सभी प्रकार के मनोविकारों से रहित होता है। **गमनीया**—गन्तुं योग्या अर्थात् आस्पद या पात्र। **सौहार्दम्**—मित्रता, सौहार्द और सौहृद ये दोनो ही शब्द मित्रता अर्थ में प्रचलित है "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" कोश के अनुसार मन मानस हृत् और हृदय शब्द समानार्थक हैं। शोभनं हृत् हृदयं यस्य सः सुहृद् तस्य भावः इत्यर्थे हायनान्त० इत्यण, "हृद्भगसिन्ध्वन्ते०" इत्युभयपद वृद्धौ सौहार्दम्। शोभनं हृदयं यस्य सः सुहृदयः अनाण, हृन्यस्य हृद्भाव 'तद्धितेस्वचामादे' रिति वृद्धौ सौहृदम्। **समवयोरूपरमणीयम्**—वयः च रूपं च वयोरूपम्, समं यत् वयोरूपं तेन रमणीयम्। "**जनान्तिकम्**—त्रिपताककरेणान्यानपवर्यान्तराकथाम्। अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात् तज्जनान्ते जनान्तिकम्। कथन के बीच में हाथ की ओट करके जो बात किसी व्यक्ति विशेष से कही जाती है जिसको कि कोई अन्य पात्र न सुन सके वह जनान्तिक कहा जाता है। **चतुरगम्भीराकृतिः**—चतुरा गम्भीरा च आकृतिः यस्य सः, यहाँ चतुर शब्द का लाक्षणिक अर्थ सुन्दर है।

अनसूया—सखी, मुझे भी तो (यही बात जानने की बड़ी) उत्सुकता हो रही है तो इनसे पूछती हूँ। आर्य, आपके प्रिय वार्तालाप से उत्पन्न विश्वास मुझे (आप से कुछ पूछने के लिए प्रेरित कर रहा है कि आप किस राजर्षिवंश को अलंकृत करते हैं, आपने किस देश को (अर्थात् किस देश के निवासियों को) अपने विरह से व्याकुल किया है, और किस लिए आपने अपने अतिसुकुमार भी शरीर को इस तपोवन में आने के परिश्रम का स्थान बनाया है, (अनसूया का तात्पर्य है कि आप किस राजर्षि वंश के हैं, कहाँ से आये हैं और यहाँ आने का क्या प्रयोजन है?)।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हृदय मोत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते। [हिअअ, मा उत्तम्म एम तुए चिन्तिदाइ अणसूआ मन्तेदि।]

राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीमात्मान निवेदयामि, कथं वात्मापहार करोमि। भवतु। एव तावदेना वक्ष्य। (प्रकाशम्) भवति, य पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्त, सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायात।

शकुन्तला—(मन मे) हृदय! उतावने न बनो अर्थात् अधीर न हो। यह अनसूया तुम्हारे द्वारा चिन्तित बातो को ही पूछ रही है अर्थात् उसी बात को पूछ रही है जो कि तुम जानना चाहते हो।

राजा—(मन मे) किस प्रकार अब मैं अपने को बतलाऊँ अर्थात् अपना परिचय दूँ, अथवा किस प्रकार अब अपने को छिपाऊ। अच्छा, तो इस प्रकार (अब) इनसे कहूँगा। (प्रकट) श्रीमती! जो पुरुवशी राजा के द्वारा धर्माधिकार मे नियुक्त किया गया है अर्थात् जो धर्माधिकारी है, वह मैं (आप लोगो की) निर्विघ्न धार्मिक क्रियाओ को जानने के लिए इस धर्मारण्य अर्थात् तपोवन म आया हूँ। अर्थात् धर्माधिकारी होने के कारण मैं यह जानने के लिए कि आप लोगो की धार्मिक क्रियायें तो यहाँ निर्विघ्नता पूवक चल रही हैं, मै इस आश्रम मे आया हूँ।

टिप्पणी

मधुरालापजनित—मधुर य आलाप स्तेन जनित, **विश्रम्भ**—विश्वास (विश्रम्भ और विस्रम्भ दोनो ही शब्द इसी अथ मे प्रचलित हैं) **मन्त्रयते**—मन्त्र धातु चुरादि णिच् (हेतुमति च) लट यहा यह प्रेरणाथ म प्रयुक्त है अतएव इसका **अथ है** वक्तु प्रेरयति मुखरी करोति। **अलङ्क्रियते**—अलङ् कृ कमणि भूषणार्थे लट्। **राजर्षिवश**—इससे ज्ञात होता है कि सम्भवत अनसूया ने उसे पहचान लिया था इसीलिए वह ऐसा कहती है। **विरहपर्युत्सुकजन**—विरहेण पर्युत्सुका जना यस्मिन् स जिस देश मे आपके विरह से लोग व्याकुल हैं। यह कथन जहाँ राजा की प्रजाजन प्रियता का द्योतक है वहाँ इससे अनसूया की वाग्विदग्धता का भी परिचय मिलता है। **आत्मा पदमुपनीत**—अत्र नी धातो द्विकमकत्वात् प्रधाने कर्माणि आत्मनि प्रथमा। आत्मा का अथ यहा शरीर लेना ही प्रसगानुकूल है। **मा उत्ताम्य**—उद् + तम् लोट् मध्यमपुरुषैक वचने (दिवादिभ्य श्यन्) **आत्मापहारम**—आत्मन अपहारम् अपने को छिपाना, वस्तुत दुष्यन्त, इस मनु वचन के अनुसार 'योऽन्यथा सन्त मात्मान मन्यथा सत्सु भाषते। पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारक' अपने को छिपाने अथवा असत्य बोलने म हिचकिचा रहा है वह झूठ भी बोलना नहीं चाहता और न अपने को प्रकट ही करना चाहता है, इसी द्विविधा म वह कुछ सोच कर कहता है कोई बात नही तो अब इससे इस प्रकार कहूँगा जिससे असत्य भाषण भी न हो और अपने को प्रकट भी न करना पडे। **भवति** यह सम्बोधन स्त्री मात्र के लिए मनुस्मृति के अनुसार उचित है "पर पत्नी

अनसूया—सनाथा इदानीं धर्मचारिण । [सणाहा दाणि धम्मआरिणो ।] (शकुन्तला शृङ्गारलज्जा रूपयति ।)

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा, जनान्तिकम्) हला शकुन्तले, यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत् । [हला सउन्दले, जइ एत्थ अज्ज तादो सणिहिदो भवे ।]

शकुन्तला—ततः किं भवेत् [तदो किं भवे ।]

सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति । [इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि ।]

तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च यानितः । ता ब्रूयात् भवतीति । य **पौरवेण राज्ञा**—जिसे पुरुवशी राजा अर्थात् मेरे पिता ने धर्माधिकार मे अर्थात् धर्मनिर्णय के स्थान—सिंहासन पर नियुक्त है। यह उसका सत्य कथन है, पर यदि इसका अर्थ यह किया जाय कि जिसे पुरुवशी राजा दुष्यन्त ने धर्माधिकार मे नियुक्त किया है तो यह असत्य भाषण होगा, इसीलिए राजा ने इस द्व्यर्थक वाक्य का प्रयोग किया है और अपने को असत्य से बचा लिया है। वस्तुत इस प्रसग मे राजा का असत्य भाषण भी अनुचित नही है "न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले । प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि" महाभारत। **अविघ्नक्रियोपलम्भाय**—अविघ्ना या क्रिया तासा मुपलम्भ तस्मै। विहन्यते एभि इति विघ्ना वि+हन् करणे क। **अविद्यमाना** विघ्ना यासु ता अविघ्ना विघ्नरहिता उप+लभ भावे घञ—उपलम्भ । **धर्मारण्यम्**—रणे साधु रण्य न रण्यम् अरण्यम् धर्मार्थं धर्मसाधन वा अरण्यम् धर्मारण्यम् उत्तरपदलोपि समास ।

राजा के इस कथन के द्व्यर्थक होने से और एक अर्थ के व्यङ्ग्य होने से यहाँ पताकास्थानक है। "द्व्यर्थोवचनविन्यास सुश्लिष्ट काव्ययोजित । प्रधानान्तरापेक्ष पताकास्थानक परम् ।" इसी प्रकार अनसूया के प्रश्न वाक्यो मे गम्यार्थ का भङ्गी से कथन किया गया है अत पर्यायोक्ति अलकार है। "पर्यायोक्त यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।

अनसूया—धर्माचरण करने वाले लोग अब सनाथ हो गये ।

(शकुन्तला श्रृङ्गार लज्जा का अभिनय करती है)

दोनो सखिया—दोनो के (शकुन्तला और दुष्यन्त के) आकार को (उनके आङ्गिक अनुभावो से अथवा सात्विक अनुभावो से उनके हृदयगत भावो को) जानकर मुँह फेरकर हाथ की ओट करके जिससे कि दुष्यन्त न सुन सके) सखी शकुन्तला, यदि तातकाश्यप आज यहाँ समीपवर्ती होते ?

शकुन्तला—तो क्या होता है।

दोनों सखियाँ—तो इस विशिष्ट अतिथि को अपने जीवन सर्वस्व से भी अर्थात् अपने जीवन का सर्वस्व भी इसे देकर, इसे सफल मनोरथ कर देते ।

शकुन्तला--युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा **मन्त्रयेथे। न युवयोर्वचन श्रोष्यामि।** [तुम्हे अवेध। कि वि हिअए करिअ मन्तेध। ण वो वअण सुणिस्स।]

राजा—वयमपि तावद् भवत्यो सखीगत किमपि पृच्छाम।

सख्यो—आय, अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना [अज्ज, अणुग्गहो विअ इअ अब्भत्थणा।]

शकुन्तला—तुम दोनो दूर हटो, तुम दोनो कुछ मन रखकर (ऐसा) कह रही हो। तुम दोनो की बात नही सुनूगी।

राजा—मैं भी आपकी सखी के विषय मे कुछ पूछना चाहता हूँ।

दोनो सखिया—आपकी यह याचना (पूछने की प्राथना) (वस्तुत हम पर आपके) अनुग्रह के समान है। (आपका मुझ से पूछना आप का हम पर अनुग्रह ही है।)

टिप्पणी

सनाथा—नाथ्यते याच्यते अर्थिभि नाथ (नाथ+घञ) अथवा नाथ्यते याच्यते प्रया इति नाथ, नाथेन सह वतमाना सनाथा। धमचारिण—धम चरतीत्यर्थे धम+चर कतरि ताच्छील्ये णिनि। अनसूया का तात्पय यह है कि आपके आगमन से तपोवन के धमचारी जन नाथ और सरक्षक से युक्त हो गये अर्थात् अब हम सब अपने को सुरक्षित अनुभव करती है। किन्तु शकुन्तला सनाथ का अथ पतियुक्त ग्रहण करती है अतएव वह श्रृङ्गार लज्जा का अभिनय करती है जो कि कन्याजनोचित काय है। श्रृङ्गार लज्जाम—श्रृङ्गारनिमित्ता लज्जा नाम शाकपार्थिवादिवत् समास। श्रृङ्गार का अथ यहाँ प्रथम प्रेमभाव है, जिसके कारण कन्याजनोचित लज्जा होना स्वाभाविक ही है। श्रृङ्गार लज्जा के अभिनय मे तात्पय है कि सिर झुकाकर लज्जित हुई दृष्टि से देखना और मुह फेर कर इधर उधर देखते हुए बात करना अथवा कृत्रिम कोप प्रकट करना। "पराङ्मुखीकृत शीष परावृत्तमुखेरितम। तत्काय कोपलज्जादि कृते वक्त्रापसारणे।"

आकार विदित्वा—आकार का सामान्य अथ शरीराकृति होता है, किन्तु इस अथ के साथ विदित्वा अथ घटित न हो सकेगा क्योकि आकृति देखी जाती है, न कि जानी जाती है। अत यहाँ आकार का तात्पय है, शरीर मे होने वाले आङ्गिक एव सात्विक अनुभाव जो इस समय दोनो मे हो रहे थे, इन आङ्गिक चेष्टाओ से उन दोनो के प्रेमभाव को जानकर। वस्तुत कवि ने यहाँ हेला नामक अङ्गज अलकार का निर्देश किया है। स्त्रियो के यौवन कालीन २० अलकारो का वणन लक्षण ग्रन्थो मे देखा जाता है इनमे भाव हाव, हेला ये तीन अङ्गज अलकार होते है। वस्तुत ये एक प्रकार के मनोविकार ही हैं शोभावधक होने के कारण ही इनको अलकार कहा जाता है। 'किं नु खलु इमं प्रेक्ष्य तपोवन विरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि सवृत्ता" शकुन्तला का

राजा—भगवान् काश्यप शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाश । इय च व सखी तदात्मजेति कथमेतत् ।

अनसूया—श्रृणोत्वार्यं । अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षि । [सुणादु अज्जो । अस्थि को वि कोसिओ त्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी ।]

यह कथन, उसमे सवप्रथम उत्पन्न हुए **भाव** नामक अङ्गज अलकार का सूचक है "निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथम विक्रिया" अर्थात् जब सवथा विकार रहित चित्त मे सवप्रथम मनोविकार उत्पन्न होता है तब इसे भाव नामक अगज अलकार कहा जाता है। इसी प्रकार "हृदय, मोत्ताम्य एषा त्वया चिन्तितायनसूया मन्त्रयते" शकुन्तला के इस कथम मे **हाव** नामक अङ्गज अलकार निर्दिष्ट हुआ है "भावादीषत्प्रकाशा य स हाव इति कथ्यते" अर्थात् जब पूर्वोक्त 'भाव' का और कुछ अधिक प्रकाश हो जाता है तब वह **हाव** कहलाता है, भाव आदि यद्यपि चित्त मे उत्पन्न होते हैं फिर भी इनके कारण कुछ कुछ भ्रू नेत्रादि विकार भी शरीर मे उत्पन्न हो जाते है अत इन्हे अङ्गज विकार कहा जाता है। प्रथम विकार अर्थात् भाव सवथा अस्फुट रहता है और अस्फुट आङ्गिक चेष्टाओ से इसके उदय का आभास मात्र होता है पहले तो शकुन्तला ने ही इस भावोद्रेक का अनुभव किया था पर जब वह हृदय मोत्ताम्य आदि कहने लगी तब यह भाव हाव के रूप मे बदल गया था "अल्पालाप सश्रृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकार कृत" अर्थात् जब नायिका बात तो कम कर पर श्रृङ्गारवश उसके भ्रू नेत्रादि मे चाञ्चल्य आदि प्रतीत होन लग तब हाव होता है "भ्रू नेत्रादि विकारैस्तु सम्भोगेच्छा प्रकाशक भाव एवाल्पसलक्ष्यविकारो हाव उच्यते" सा० द०। यही हाव जब श्रृङ्गाररस को प्रकट रूप मे अभिव्यक्त करने लगता है तब हेला कहलाने लगता है "शकुन्तला श्रृङ्गार लज्जा रूपयति" म यह हेला नामक अगज विकार स्पष्ट है। **सन्निहित**—समीपवर्ती, सम+नि+धा+क्त। **जीवित सवस्वेन**—जीवितस्य सवस्व तेन। महर्षि कण्व शकुन्तला को अपने जीवन का सवस्व मानते थे अत यह यहा शकुन्तला के लिए प्रयुक्त हुआ है "सा कुलपते रुच्छवसितमिव" कुछ टीकाकारो न यहा भी पताकास्थानक माना है। **अतिथिविशेषम**—विशिष्यत इति विशेष अतिथीना विशेषस्तम्—इस विशिष्ट अतिथि को, **कृतार्थम**—कृत सम्पादित अथ प्रयोजन यस्य अर्थात् पूणमनोरथ। **अपेतम**—अप+इ+लोट अथात् ऐसी बात मत करो चुप रहो। इस कथन मे उदाहरण नामक नाटयभूषण है। 'वाक्य यद् गूढतुल्याथ तदुदाहरण मतम्" **भवत्यो सखीगतम** अत्र सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समास'। **अभ्यथना**—अभि+अथ+युच्+टाप्।

राजा—भगवान काश्यप (महर्षि कण्व) नैष्ठिक ब्रह्मचारी है यह प्रसिद्ध है, और यह आपकी सखी उनकी पुत्री है, यह कैसे ?

अनसूया—आप सुनिये। 'कौशिक' इस गोत्र नाम वाले कोई महाप्रभावशाली राजर्षि है।

राजा—अस्ति, श्रूयते ।

अनसूया—तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ । उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकाश्यपोऽस्याः पिता । [तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ । उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिहिं तादकस्सवो से पिदा ।]

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम् । आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि ।

अनसूया—शृणोत्वार्यः । गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सरा प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी । [सुणादु अज्जो । गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किंवि जादसंकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकारिणी ।]

राजा—है, ऐसा सुना जाता है ।

अनसूया—उनको हम लोगों की प्रियसखी का जन्मदाता (पिता) समझें (माता पिता द्वारा) परित्यक्ता इसके शरीर संवर्धन पालन पोषण आदि के द्वारा तात काश्यप भी इसके पिता हैं ।

राजा—परित्यक्ता शब्द ने मुझ में कौतूहल उत्पन्न कर दिया है, मैं आरम्भ से ही (इस बात को) सुनना चाहता हूँ ।

अनसूया— आप सुनिये । प्राचीनकाल में गौतमी नदी के किनारे (जब कि) वह राजर्षि उग्र तप कर रहे थे (उस समय) कुछ सशङ्कित हुए देवताओं ने तपो नियम में विघ्न करने वाली मेनका नाम की अप्सरा को भेजा ।

टिप्पणी

शाश्वते ब्रह्मणि—शश्वद् भवम् शाश्वत—शश्वत्+ठक् निरन्तर रहने वाला, ब्रह्मणि ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्रह्मचर्य भी होता है अर्थात् मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी या नैष्ठिक ब्रह्मचारी । "ब्रह्मचार्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्म तत्परः । योऽधीत्य विधिवद्वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत् । उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तकः" । अर्थात् ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—उपकुर्वाण और नैष्ठिक जो विधिवत् वेदाध्ययन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं वे उपकुर्वाण और जो मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रहते हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं । **इति प्रकाश**—यह बात प्रसिद्ध है, **महाप्रभाव**—बहुत बड़े प्रभावशाली अतएव यह राजर्षि होकर भी ब्रह्मर्षि हो गये थे और इन्होंने ही त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग भेजा था । **राजर्षि**—राजा अयम् ऋषिरिव राजर्षि उपमित कर्मधारय । प्रभवम्-उत्पत्ति स्थान-जनक-पिता । **उज्झितायाः**—उज्झ्+क्त+टाप् । **पिता**—पालन पोषण-कर्ता, पालन-पोषण आदि के कारण महर्षि कण्व भी इसके पिता हैं अर्थात् धर्मपिता,

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

अनसूया—ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य [तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअं रूअं पेक्खिअ ।]

(इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति)

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव। सर्वथाऽप्सरःसम्भवैषा।

अनसूया—अथ किम्। [अह इं।]

राजा—उपपद्यते।

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलान्न चिरम्॥

(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति)

जन्मदाता नहीं, क्योंकि" अन्नदाता भयत्राता ... विद्यादाहिता। जनयितोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः। अथवा 'शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते, क्रमेणैते त्रय प्रोक्ता पितरो धर्मसाधना' ... कहा है" प्रजाना विनयाधानाद् रक्षणाद्भरणादपि। स पिता पितरस्तेषां केवलं जन्महेतवः। अन्यत्र भी कन्यादाताऽन्नदाता च ज्ञानदाता भयत्राता ... च पितरः स्मृताः।

आमूलात्—पञ्चम्यपाङ् परिभिर्योगे पञ्चमी। **अप्सरा**—अप्सु अद्भ्यो वा सरन्ति, यद्यपि "स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः" ... "वर्षा अप्सरा सिकता समा" इस कोश वचन के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग नित्य ही बहुवचन में होता है, तथापि 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादेकत्वेऽप्सरा अपि' इस शब्दार्णव के अनुसार अप्सरा यह एक वचन का प्रयोग भी होता है।

राजा—दूसरों की समाधि से भयभीत होना देवताओं में देखा जाता है।

अनसूया—तदनन्तर वसन्त के रमणीय समय में उसके उन्मादक रूप को देखकर—

(इतनी आधी बात कहकर लज्जावश रुक जाती है।)

राजा—इसके (आगे का वृत्तान्त तो) विदित ही है। वस्तुतः यह अप्सरा से उत्पन्न है।

अनसूया—और क्या।

राजा—ठीक है।

मानुषीष्विति अन्वय—मानुषीषु अस्य रूपस्य सम्भवः कथं वा स्यात्। प्रभातरलं ज्योतिः वसुधातलात् न उदेति।

शब्दार्थ—मानुषीषु=मानव लोक की स्त्रियों में, अस्य रूपस्य=इस ऐसे सौन्दर्य की, सम्भवः कथं वा स्यात्=उत्पत्ति कैसे हो सकती है। प्रभातरलं ज्योतिः=

कान्ति से देदीप्यमान तेज—विद्युत् आदि का प्रकाश वसुधातलात्=पृथ्वी तल से, न उदेति=उत्पन्न नही होता है।

अनुवाद—मानव लोक की स्त्रियो मे इस ऐसे सौन्दर्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, कान्ति से देदीप्यमान प्रकाश भूतल से उत्पन्न नही हो सकता है।

भावार्थ—शकुन्तला की उत्पत्ति कथा सुनकर दुष्यन्त कहता है कि यह ठीक ही है। मानव लोक की स्त्रियो से ऐसे सुन्दर सौन्दर्य की उत्पत्ति कथमपि सम्भव नही हो सकती अर्थात् शकुन्तला जैसी अद्भुत सुन्दरी किसी मानवी स्त्री की सन्तान नही हो सकती, विद्युत् आदि का प्रभा से देदीप्यमान प्रकाश आकाश से ही उत्पन्न हो सकता है भूतल से कभी नही, आकाश चारिणी अप्सरा से ही शकुन्तला जैसी अपूर्व सुन्दरी की उत्पत्ति हो सकती है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे विशेष शकुन्तला के प्रस्तुत रहने पर भी जो 'मानुषीषु अस्य रूपस्य कथ सम्भव' यह सामान्य कथन किया गया है, इससे यहाँ **अप्रस्तुत प्रशसा** लकार है। यहा उत्पत्ति क्रिया का सम्भव और उदेति इन दो पदो से निर्देश किया गया है, अत **प्रति वस्तूपमालकार** है। कुछ आचार्यो ने यहाँ दृष्टान्त अलकार माना है। श्रुति वत्ति अनुप्रास, पथ्यावक्त्र नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—मानुषीषु=मानवलोकस्त्रीषु, अस्य=शकुन्तलासदृशस्य दिव्यस्य, रूपस्य=सौन्दयस्य, सम्भव कथ वा स्यात्=उत्पत्ति कथ नु सम्भवति, न कथ मपीत्यथ। प्रभाभि कान्तिभि तरल देदीप्यमानम, ज्योति=तेज विद्युदादि। वसुधातलात्=भूतलात्, न उदेति=नोद्गच्छति।

सस्कृत सरलाथ—शकुन्तलोत्पत्तिकथा माकण्य दुष्यत कथयति नात्र स देह सवथैवेयमप्सर सम्भवा, यतो हि मानवीषु स्त्रीषु शकुन्तलामस्य दिव्यस्य सौन्दयस्य समुत्पत्तिस्तथवा सम्भवा यथा कान्तिदेदीप्यमान विद्युदादि तेज आकाशादेवोत्पद्यते न भूतलात् कदापि।

टिप्पणी

अन्य समाधिभीरुत्वम—अन्येषा समाधे भीरु तस्य भाव। सम्+आ+धा+कि=समाधि तपस्या। **उन्मादयित**=उन्मादकम्, उत्+मद्+णिच ताच्छील्यार्थे तन्, **रूपम** "अगप्रत्यङ्गकाना य सन्निवेशो यथोचितम। सुश्लिष्ट सन्धिबन्धो य तत्सौन्दय मितीष्यते। अङ्गान्यभूषितान्येव प्रक्षेप्याद्यैर्विभषणै। येन भूषितवद् भान्ति तद्रूपमिह कथ्यते। **परस्तात** आगे की बात। **मानुषीषु** मनो अप य स्त्री मानुषी 'मनु शब्दात मनो र्जाता वत्र इति अत्र वद्धौ ङीप, मध्ये षुगागमश्च। **अस्य रूपस्य**—शकुन्तलासदशस्य दिव्यस्य लावण्यस्य 'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्व मिवा नरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्य तदिहोच्यते।" **सम्भव** सम+भू+अप—उत्पत्ति। यहा **निदशन** नामक नाटयभूषण का निर्देश किया गया है। 'पदार्थाना प्रसिद्धाना क्रियते परिकीतनम।" और यहा मुखसन्धि का विलोभन नामक अग भी है गुणाख्यानम विलोभनम्।

राजा—(आत्मगतम्) लब्धावकाशो मे मनोरथ । किं तु सख्या परिहासोदाहृता वरप्रार्थना श्रुत्वा धृतद्वैधभावकातर मे मन ।

प्रियवदा—(सस्मित शकुन्तला विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा) पुनरपि वक्तुकाम इवार्य । [पुणो वि वत्तु-कामो विअ अज्जो ।]

(शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।)

राजा—सम्यगुपलक्षित भवत्या । अस्ति न सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

प्रियवदा—अल विचार्य । अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम । [अल विआरिअ । अणिअन्तणाणुओओ तवस्सिअणो णाम ।]

राजा—इति सखी ते ज्ञातुमिच्छामि ।

वैखानस किमनया व्रतमा प्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति सम हरिणाङ्गनाभि ॥२३॥

(शकुन्तला नीचे की ओर मुख किये रहती है) शकुन्तला का अधोमुखी रहना उसकी कुमारीजनोचित लज्जा का द्योतक है, साथ ही अपने जन्मवृतान्त से भी उसे सकोच है और अपने सौन्दय की प्रशसा सुनकर उसका सिर झुका लेना भी स्वाभाविक है । यहाँ 'क्व मानुष्य क्व चेद रुपम्'' इस तात्पय से विषमालकार भी व्यङ्ग्य है ।

राजा—(मन मे) (अब) मेरे मनोरथ को अवकाश प्राप्त हो गया है । शकुन्तला क्षत्रिय कन्या है अत अब इसके साथ विवाह करने की मेरी इच्छा पूण हो सकती है) किन्तु सखी से हँसी मे कथित वर-प्राथना को सुनकर मेरा मन द्विविधा मे पडा हुआ होने के कारण अधीर हो रहा है ।

प्रियवदा—(मुस्कराहट के साथ शकुन्तला को देखकर फिर नायक (दुष्यन्त) की ओर मुह करके) आप फिर भी कुछ कहना चाहते हैं ।

(शकुन्तला सखी को अङ्गुलि के सकेत से धमकाती है)

राजा—आपने ठीक समझा । इस सच्चरित के सुनने के लोभ से मैं कुछ और भी पूछना चाहता हूँ ।

प्रियवदा— कुछ विचार करने की आवश्यकता नही । तपस्वि जनों से तो निसकोच कोई भी प्रश्न पूछा जा सकता है ।

राजा—मैं तुम्हारी सखी के विषय मे यह जानना चाहता हू ।

वैखानसमिति अन्वय—किम् अनया मदनस्य व्यापाररोधि वैखानसम् व्रतम् आप्रदानात निषेवितव्यम् । आहो मदिरेक्षणवल्लभाभि हरिणाङ्गनाभि समम अत्यन्तमेव निवत्स्यति ।

शब्दार्थ—किम अ [illegible] नला के द्वारा, मदनस्य [illegible] काम के व्यापार [illegible] वानसम=तपस्विजन [illegible], व्रतम्—ब्रह्मचर्य व्रत को, आप्रदाना (—[illegible] विवाह हो तक (ही) [illegible] पालन किया जायगा, [illegible] मदिरेक्षणवल्लभाभि = [illegible] नेत्रों से प्रिय लगने वाली, हरिणाङ्गनाभि = [illegible], समम्=साथ, अत्यन्तमेव=सदा आजीवन, निवत्स्यति=निवास [illegible]।

अनुवाद—राजा प्रियवदा से पूछता है कि क्या यह तुम्हारी सखी शकुन्तला काम के व्यापार को रोकने वाले [illegible] ब्रह्मचर्यव्रत को, किसी के साथ विवाह के पूर्व तक ही पालन करेगी अथवा मदमस्त नेत्रों से प्रिय लगने वाली मृगियों के साथ आजीवन निवास करेगी।

भावार्थ—राजा पूछता है कि यह शकुन्तला क्या विवाह के पूर्व तक ही इस प्रकार के काम व्यापार-शून्य ब्रह्मचर्य का पालन करेगी अथवा यह मदिरेक्षणा मृगियों के साथ सदा ही इसी प्रकार वन मे रहेगी। राजा का आशय यह है कि क्या यह उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य धारण करेगी अथवा यह नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी बनकर सदा ही वन मे रहेगी। हारीत स्मृति के अनुसार प्राचीनकाल मे दो प्रकार की स्त्रियाँ होती थी "द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्य सद्योवध्वश्च" अर्थात् एक प्रकार की स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी और दूसरी उपकुर्वाण ब्रह्मचारिणी होती थी जोकि कुछ समय के बाद विवाह करके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करती थी।

कुछ टीकाकारो के मत मे राजा के पूछने का आशय यह है कि यदि यह किसी योग्य वर को दी जाने वाली है तब तो विवाह काल तक ही तापस व्रत रखकर यह वन मे रहेगी और तदनन्तर गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होकर कामोपभोग करेगी अथवा यदि यह किसी तपस्वी को दी जाने वाली है तब तो यह आजीवन मृगियो की तरह ही वन मे रहेगी। इन दोनो मे से इसके लिए क्या निश्चय किया गया है, राजा यह जानना चाहता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे साभिप्राय कथन होने से परिकरालकार तथा सहोक्ति एव **वृत्त्यनुप्रास** अलकार है वसन्ततिलका नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—किम्=किमिति, अनया=शकुन्तलया, मदनस्य=कामस्य, व्यापार रुणद्धि यत्तद् व्यापाररोधि=कामप्रसारनिरोधकम् वैखानसम=तापसोचितम, व्रतम=ब्रह्मचर्यव्रतम आप्रदानात्=परिणयकालपर्यन्तम, निषेवितव्यम्=आचरणीयम्, आहो—अथवा मदिरेक्षणवल्लभाभि=समदनेत्रप्रियाभि, हरिणाङ्गनाभि=मृगीभि समम=सह, अत्यन्तमेव=सदैव—यावज्जीवमित्यर्थ निवत्स्यति=निवास करिष्यति।

सस्कृत सरलार्थ—राजा प्रियवदा पृच्छति किमनया शकुन्तलया कामव्यापारावरोधक तापसव्रत ब्रह्मचर्य विवाहकालपर्यन्त मेवाचरणीयम, अथवा समदनेत्रप्रियाभि मृगीभि सह नैष्ठिकब्रह्मचारिणी भूत्वेय माजीवन वने एव निवत्स्यति।

प्रियंवदा—आर्य, धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सकल्पः। [अज्ज, धम्म-चरणे वि परवसो अयं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववर-प्पदाणे सकप्पो।]

राजा—(आत्मगतम्) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना।

भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥२४॥

टिप्पणी

वैखानसम्—वैखानसस्येदमित्यर्थेऽण् वैखानसम् "वैखानसा वनेवासी वानप्रस्थश्च तापस"। **व्यापाररोधि**—व्यापारं रोद्धुं शीलमस्य इत्यर्थे—व्यापार+रुध ताच्छील्ये कर्तरि णिनि, वि+आ+पृ+भावे घञ्=व्यापार। **आप्रदानात्**—प्रकृष्टाय वराय विवाहविधिना प्रदानं यावत्—पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति पञ्चमी। **मदिरेक्षणवल्लभाभि**—मदिरे मदयुक्ते ईक्षणे नेत्रे ताभ्यां वल्लभा प्रिया ताभि।

प्रियंवदा—आर्य, यह व्यक्ति अर्थात् शकुन्तला धर्माचरण में भी पराधीन है तथापि तातकाश्यप का सकल्प इसको योग्य वर को देने का है।

राजा—(मन मे) (अब) मेरी यह प्रार्थना दुर्लभ नही है।

भवेति अन्वय—हृदय! साभिलाषं भव सम्प्रति सन्देहनिर्णय जातः। यत् (त्वम्) अग्निम् आशङ्कसे, तत् इदम् स्पर्शक्षमम् रत्नम्।

शब्दार्थ—हृदय=हे हृदय साभिलाषं भव=शकुन्तला के विषय मे अभिलाषायुक्त बनो, सम्प्रति=अब, सन्देहनिर्णय=सन्देह का निर्णय, जातः=हो गया है, यत्=जिस शकुन्तलारूप वस्तु को (तुम) अग्निम् आशङ्कसे=अग्नि समझ रहे थे, तत् इदम्=वह यह शकुन्तला रूप वस्तु तो, स्पर्शक्षमम् रत्नम्=स्पर्श करने योग्य रत्न है।

अनुवाद—अपने हृदय को सम्बोधित करता हुआ राजा कहता है, कि (अब तुम शकुन्तला की प्राप्ति के लिये) अभिलाषा कर सकते हो क्योकि अब सन्देह का निर्णय हो गया है, (तुम अब तक) जिसे अग्नि समझ रहे थे वह वस्तुत स्पर्श करने योग्य रत्न है।

भावार्थ—यह जानकर कि महर्षि कण्व किसी योग्य वर से इसका विवाह करना चाहते हैं, राजा मन मे सोचता है कि अब मेरी यह शकुन्तलाविषयक प्रार्थना व्यर्थ न जायेगी, अत वह अपने हृदय को आश्वस्त करता हुआ कहता है कि अब तुम निश्चिन्त होकर शकुन्तला के लिये अभिलाषा कर सकते हो, क्योकि अब यह पूर्णतया निश्चय हो चुका है कि महर्षि कण्व इसका विवाह योग्य वर से करना चाहते हैं और यह नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी बनकर वन मे भी न रहेगी, यह अप्सरा से उत्पन्न क्षत्रिय कन्या होने से मेरे द्वारा विवाह योग्य भी है। अत अब सन्देह की कोई बात

शकुन्तला—(सरोषमिव) अनसूये, गमिष्याम्यहम् । [अणसूए, गमिस्स अहं ।]

अनसूया—किंनिमित्तम् । [किणिमित्तं ।]

शकुन्तला—इमामसंबद्धप्रलापिनी प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि । [इमं असंबद्धप्पलाविणि पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं ।]

शेष नहीं रह गई है। अब तक तुम जिसे ब्राह्मण कन्या होने के कारण अग्निवत् स्पर्श न करने योग्य समझ रहे थे, वह वस्तुत स्पर्श करने योग्य स्पृहणीय रत्न है।

विशेष—यहाँ साभिलाष होने का कारण सन्देहनिर्णय है अत काव्यलिङ्ग अलंकार है। वृत्यनुप्रास आर्या जाति छंद है।

संस्कृत व्याख्या—हृदय—हे हृदय ! साभिलाषम् भव=शकुन्तलाया प्राप्त्याशान्वित भव (यत) सम्प्रति—इदानीम, सन्देहनिर्णय जात =सन्देहनिवारणामभूत्। यत्=शकुन्तला रूप वस्तु (त्वम) अग्निम— वह्निम, आशङ्कसे=मन्यसे, तदिदम=तदेतत् शकुन्तलारूप वस्तु स्पर्शक्षमम—स्पर्शयोग्य रत्नम=कन्यारत्नम् अस्तीति शेष ।

संस्कृत सरलार्थ—प्रियंवदा वचनेनाश्वस्तो राजा स्वकीय हृदय सम्बोधयन् कथयति, त्वमिदानी शकुन्तलाविषयकप्राप्त्याशान्वित भव, यतोहि सम्प्रति सन्देहनिवारण संजातम, यच्छकुन्तला रूप वस्तु त्वमग्निं मन्यसे तदेतत् योग्य कन्यारत्न मस्ति।

टिप्पणी

धर्मचरणेऽपि—आश्रमवासिनी होने के कारण शकुन्तला को धार्मिक कृत्यो के विषय मे भी पिता की इच्छा पर निर्भर रहना पडता है, अत विवाह भी पिता की इच्छा पर ही निर्भर है। **अनुरूपवरप्रदाने**—अनुरूपाय वराय प्रदान तस्मिन्। "राजा वयमपि से लेकर यहाँ तक युक्ति नामक मुख सन्धि का अग है "सम्प्रधारण मर्थाना युक्तिरित्यभिधीयते"। जहाँ प्रयोजन सिद्धि का कुछ निश्चय हो। **दुरवापा**—दुर्+अव+आप+खल्+टाप। **साभिलाषम**—आभिलाषेण सह। यहाँ पर समाधान नामक मुख सन्धि का अग है "बीजस्यागमन यत्तु तत्समाधान मुच्यते"। बीज की सम्यक स्थापना समाधान कही जाती है।

शकुन्तला—(कुछ क्रुद्ध सी होकर) अनसूये, मैं चली जाऊँगी।

अनुसूया—क्यो,

शकुन्तला—इस ऊटपटाग (अनुचित) प्रलाप करने वाली प्रियंवदा की आर्या गौतमी से शिकायत करूँगी।

अनसूया—सखि, न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेष विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम्। [सहि, ण जुत्त अकिदसक्कार अदिहिविसेस विसज्जिअ सच्छन्ददो गमण।]

(शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव।)

राजा—(ग्रहीतुमिच्छन् निगृह्यात्मानम्। आत्मगतम्) अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्ति। अह हि—

अनुयास्यन् मुनितनया सहसा विनयेन वारितप्रसर।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुन प्रतिनिवृत्त ॥२५॥

अनसूया—सखि! विशिष्ट अतिथि को बिना सत्कार किये हुए, छोड़कर स्वच्छन्दतापूवक चला जाना अनुचित है।

(शकुन्तला बिना कुछ कहे ही चल देती है)

राजा—(उसको पकडने की इच्छा करता हुआ और फिर अपने को रोककर। मन में) यह आश्चय की बात है कि कामीजनो की मनोवृत्ति भी उनकी बाहरी घटनाओं के अनुरूप ही होती है, अर्थात् कामियो की चित्तवृति उनकी बाह्य शारीरिक क्रियाओं के अनुसार ही होती है, शारीरिक व्यापार जिस जिस दशा मे जिस-जिस रूप से चेष्टा करता है मानसिक व्यापार भी वैसा ही करता जाता है। क्योकि मैं—

अनुयास्यन्निति अन्वय—अह हि मुनितनयाम् अनुयास्यन्, सहसा विनयेन वारितप्रसर। हि स्थानात् अनुच्चलन अपि गत्वा पुन प्रतिनिवृत्त इव।

शब्दार्थ—मुनितनयाम् अनुयास्यन्=मुनिपुत्री शकुन्तला के पीछे जाने की इच्छा करता हुआ (मैं) सहसा विनयेन वारितप्रसर=अकस्मात् विनयशीलता के द्वारा रोक दिया गया हूँ। स्थानात अनुच्चलन् अपि= अपने स्थान से उठकर न चलता हुआ भी, गत्वा पुन प्रतिनिवृत्त इव=जाकर फिर लौट-सा आया हूँ।

अनुवाद—मुनिपुत्री शकुन्तला के पीछे जाने की इच्छा करता हुआ मैं अकस्मात् विनयशीलता के द्वारा रोक दिया गया हूँ। अपने स्थान से (उठकर) न चलता हुआ भी, आकर पुन लौट-सा आया हूँ।

भावार्थ—राजा मन मे सोचता है कि बिना सोचे समझे अथवा अपने अविनय के प्रकट हो जाने की भी चिन्ता न करके शकुन्तला के पीछे जाता हुआ मैं विनय द्वारा, स्वभावत एव धैयशाली और वशी होने के कारण, रोक दिया गया हूँ। अत यद्यपि मैं एक पद भी अपने आसन से नही चला हूँ तथापि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं उसके पीछे जाकर फिर लौट आया हूँ। तात्पय यह है कि यद्यपि राजा ने अपने मन में एक बार उसे पकड़ने की इच्छा की थी परन्तु विनय ने उसे ऐसा करने से रोक दिया था, अत अब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह उसके पीछे जाकर पुन लौट आया है। वस्तुत यह केवल उसके मन की भावना मात्र है, वह विनयवश अपने आसन से उठा

प्रियम्वदा—(शकुन्तलां निरुध्य) हला, न ते युक्तं गन्तुम्। [हला, ण दे जुत्त गन्तु।]

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) किंनिमित्तम्। [किंणिमित्त।]

प्रियम्वदा—वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे। एहि तावत्। आत्मान

भी नहीं था जाना तो दूर की बात थी। अत्यन्त उत्सुकतावश उसके मन मे ऐसी भावना होना तो स्वाभाविक ही था क्योंकि कामियो की इच्छा वाह्य शरीर व्यापारो के अनुसार चलती है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के "गत्वा प्रतिनिवृत्त इव" में क्रियोत्प्रेक्षालकार, 'अनुच्चलन्नपि गत्वा' मे विरोधाभासालकार, काव्यलिङ्ग, अनुप्रास, आर्या जाति छन्द है।

सस्कृत-व्याख्या—अह हि मुनितनयाम्=मुनिपुत्रीम् शकुन्तलाम्, अनुयास्यन्=अनुगमिष्यन्, सहसा=झटित्येव, विनयेन=जितेन्द्रियतया, वारित निषिद्ध प्रसर गति यस्य स—वारितप्रसर निषिद्धगति (जात) स्थानात्=स्वासनात्, अनुच्चलन्=अनुत्तिष्ठन् अपि, गत्वा=शकुन्तलामनुसृत्य, पुन प्रतिनिवृत्त इव=पुन प्रत्यागत इव।

सस्कृत-सरलार्थ—दुष्यन्तश्चिन्तयति शकुन्तला मनुगमिष्य न्नह झटित्येव प्रतिषिद्धगति जात। स्वासनादनुत्तिष्ठन्नपि अह मुनितनयामनुसृत्य पुन प्रत्यागत इव जात।

टिप्पणी

असम्बद्धप्रलापिनीम्—न सम्बद्धम असम्बद्धम् (सम्+बन्ध्+क्त) असम्बद्धं प्रलपतीत्यर्थे ताच्छील्यार्थे णिनि—ऊटपटाग बकवाद करने वाली। **चेष्टाप्रतिरूपिका**—प्रतिगत रूप यस्या सा प्रतिरूपा तत स्वार्थे कन् प्रतिरूपिका, चेष्टाया प्रतिरूपिका, काम अस्त्येषामिति कामिन ते च ते जनास्तेषाम् कामिजनानां मनस वृत्ति=कामिजन मनोवृत्ति कामियों की चित्तवृत्ति। **अनुयास्यन्**—अनु या लृट् शतृ। **विनयेन**—विनय का अर्थ यहाँ जितेन्द्रियता है "इन्द्रियाणां जय प्राह विनय भरतो मुनि" मुनितनया के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि उसके साथ सविनय व्यवहार अनिवार्य है। **वारितप्रसर**—ण्यन्तात वृधातो क्त, प्र+सृ+अप्=प्रसर। यहाँ पर परिभावना नामक मुख सन्धि का अग है "कुतूहलोत्तरा वाच प्रोक्ता तु परिभावना"। जहाँ कुतूहलतापूर्ण वाक्य प्रयुक्त हो।

प्रियवदा—(शकुन्तला को रोककर) सखी, तुम्हारा जाना उचित नहीं।

शकुन्तला—(भौहें चढ़ाकर) क्यो?

प्रियवदा—दो वृक्ष सींचने का मेरा ऋण तुम पर है, इसलिए आओ, अपने को (ऋण से) छुड़ाकर तब जाना।

मोचयित्वा ततो गमिष्यसि। [रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे। एहि दाव। अत्ताण मोचिअ तदो गमिस्ससि।]

(इति बलादेनां निवर्तयति।)

राजा—भद्रे, वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये। तथा ह्यस्या—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणाद्,
अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने धर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः॥२६॥

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति।)

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः)

(यह कहकर बलपूर्वक उसको लौटाती है)

राजा—भद्रे, वृक्ष सींचने से ही मैं इनको थकी हुई देख रहा हूँ, क्योंकि—

स्रस्तेति-अन्वय—घटोत्क्षेपणात् अस्या बाहू स्रस्तांसौ अतिमात्रलोहिततलौ (स्त) प्रमाणाधिक श्वास अद्यापि स्तनवेपथुम् जनयति। वदने कर्णशिरीषरोधि धर्माम्भसाम् जालकम् स्रस्तम् बन्धे स्रंसिनि च पर्याकुला मूर्धजा एकहस्तयमिता (सन्ति)।

शब्दार्थ—घटोत्क्षेपणात्=घड़े उठाने से, अस्या बाहू=इसकी भुजायें, स्रस्तांसौ=झुके हुये कन्धे प्रदेश वाली (तथा) अतिमात्रलोहिततलौ=अत्यधिक लाल हथेलियों वाली (स्त=हैं) प्रमाणाधिक श्वास=निश्चित मात्रा से अधिक, श्वास=निःश्वासवायु, स्तनवेपथुम्=स्तनों में कम्प, जनयति=उत्पन्न कर रहा है। वदने=मुख पर, कर्णशिरीषरोधि=कानों में शिरीष पुष्प को (हिलने से) रोकने वाला, धर्माम्भसां जालकम्=स्वेद बूँदों का समूह, स्रस्तम्=पडा हुआ है। बन्धे स्रंसिनि च=और केशपाश के ढीले पड़ जाने पर, पर्याकुला=इधर-उधर बिखरे हुये, मूर्धजा=केश, एकहस्तयमिता=एक हाथ से पकडे गये (सन्ति=हैं)।

अनुवाद—घड़े उठाने से, इस शकुन्तला की भुजायें, झुके हुये कन्धों वाली (तथा) अत्यधिक लाल हथेलियों वाली (हैं) निश्चित मात्रा से अधिक निःश्वास वायु (इसके) स्तनों में कम्प अब भी उत्पन्न कर रहा है। मुख पर, कानों के शिरीष पुष्पों को (हिलने से) रोकने वाला स्वेद बिन्दुओं का समूह पडा हुआ है, और केशपाश के ढीले पड जाने पर इधर-उधर बिखरे हुये केश एक हाथ से पकडे गये हैं।

भावार्थ—शकुन्तला को थकी हुई देखकर राजा कहता है कि जल सेचन के लिए बराबर घड़े उठाने के कारण इसकी भुजायें झुके हुए कन्धों वाली हो गई हैं तथा इसके हाथों की हथेलियाँ अत्यधिक लाल पड़ गई हैं। (परिश्रम के कारण) इसका निःश्वासवायु एक निश्चित मात्रा से अधिक निकल रहा है अतएव अब भी इसके स्तनों

मे कम्प हो रहा है। इसके मुख पर स्वेद बिन्दुओं का समूह फैला हुआ है इस कारण उसने जो शिरीष पुष्प अपने कानो मे पहिन रखे हैं उनकी पखडियों के पसीने मे चिपक जाने से शिरीष पुष्पो का हिलना रुक गया है। इधर उधर चलने-फिरने और परिश्रम करने के कारण उसका केशपाश (जूडा) ढीला पड गया है अत उसके केश इधर-उधर बिखर गये हैं अत उसने उन्हे एक हाथ से समेट कर पकड रखा है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य का घटोत्क्षेपण यह हेतु सर्वत्र प्रयोज्य है। अत "सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्' के अनुसार कारकदीपक अलकार है। स्तनकम्प जनन हेतु से श्वास का प्रमाणाधिक होना सिद्ध होता है अत अनुमानालकार है। बन्धन के शिथिल होने से मूर्धज पर्याकुल है, अत काव्यलिङ्ग अलकार है, शकुन्तलागत परिश्रान्तत्व समर्थन के प्रति बहुविध कारणो का उल्लेख होने से समुच्चयालकार है। परिश्रम से नायिकाओ मे ये सब बातें स्वभावत घटित होती हैं अत स्वभावोक्ति अलकार है। शार्दूलवि क्रीडित नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—घटाना मुत्क्षेपण तस्मात् घटोत्क्षेपणात् वृक्षसेचनाय जलपूर्णकुम्भोत्थापनात्, अस्या —शकुन्तलाया, बाहू=भुजौ, स्रस्तौ असौ ययो तौ—स्रस्तासौ=अवनतस्कन्धौ, अतिमात्र लोहित तल ययोस्तौ—अतिमात्र लोहिततलौ=अत्यधिकरक्तकरतलौ (स्त) प्रमाणादधिक —प्रमाणाधिक =स्वाभाविकस्वमात्राधिक, श्वास =उच्छ्वास, अद्यापि=इदानी मपि, स्तनयो वेपथुस्तम्= स्तनवेपथुम्=उरोजकम्पम्, जनयति=उत्पादयति, वदने=मुखमण्डले, कर्णयो अवतसीकृत शिरीष कर्णशिरीषम् तद् रोद्धु शील यस्य तत्—कर्णशिरीषरोधि=कर्णाभरणीकृतशिरीषपुष्पसचलननिरोधकम् घर्माम्भसाम्=स्वेदजलानाम्, जालकम्= बिन्दुसमूह, स्रस्तम्=गलितम, बन्धे=केशपाशबन्धे, सश्लिनि=प्रशिथिले सति, पर्याकुला =इतस्ततो विक्षिप्ता, मूर्धजा =केशा एकेन हस्तेन यमिता धृता — एकहस्तयमिता (सन्ति)।

संस्कृत सरलार्थ—घटोत्क्षेपणाद्धेतो रस्या भुजौ अवनतस्कन्धौ अत्यधिकरक्तकरतलौ च स्त। स्वाभाविकमात्राधिक उच्छ्वासोऽद्यापि कुचकम्प मुत्पादयति, मुखमण्डले कर्णाभरणीकृतशिरीषसचाररोधक स्वेदविन्दुकदम्बक गलितम्, केशपाशे प्रशिथिलिते च विक्षिप्ता केशा एकहस्तधृता सन्ति।

तदहमिति—तो मैं इसको ऋण मुक्त किये देता हूँ। (यह कहकर अपनी अगूठी देना चाहता है) (दोनो नामाङ्कित अगूठी के अक्षरों को पढ़कर एक दूसरी की ओर देखने लगती हैं)।

टिप्पणी

निरुध्य—नि+रुध्+क्त्वा ल्यप्। सभ्रूभङ्गम—भ्रुवो भङ्गेन सहितम्। मे धारयसि=धारयसि का अर्थ है ऋणी होना—दो वृक्षो के सींचने का मेरा ऋण तुम पर है, यहाँ 'धारे रुत्तमर्ण' सूत्र से मे (मह्यम्) मे चतुर्थी है। स्रस्तांसौ—सुन्दरी स्त्रियो के कन्धे वाहुमूल स्वभावत कुछ झुके हुये होते हैं, पर यहाँ घटोत्क्षेपणवश

राजा—अलमस्मानन्यथा सभाव्य। राज्ञ परिग्रहोऽयम्। इति राजपुरुष मामवगच्छथ।

प्रियम्वदा—तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा। (किंचिद् विहस्य) हला शकुन्तले, मोचितास्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन। गच्छेदानीम्। [तेण हि णारिहदि एद अगुलीअअ अगुलीविओअ। अज्जस्स वअणेन अणिरिणा दाणि एसा। हला सउन्दले, मोइदा सि अणुअम्पिणा अज्जेण, अहवा महा राएण। गच्छ दाणिं।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) यद्यात्मन प्रभविष्यामि। (प्रकाशम्) का त्व विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा। [जइ अत्तणो पहविस्स। का तुम विसज्जिदव्वस्स रुन्धि-दव्वस्स वा।]

वे और अधिक झुक गये थे। **अतिमात्रलोहिततलौ**=सुदरी स्त्रियो के करतल स्वभावत लाल होते हैं पर यहाँ वे घटोत्क्षेपण से और अधिक लाल हो गये थे। तल शब्द यहाँ करतल के अर्थ मे है "नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्"। इन दोनो विशेषणो से शकुन्तला का उत्तम नायिकात्व ध्वनित होता है। अतिगता मात्रा यस्मिन् तत् अतिमात्रम्। **घटोत्क्षेपणात्**—हेत्वर्थे पञ्चमी। **प्रमाणाधिक** स्वाभाविक मात्रा से अधिक, साधारण स्थिति में जितना श्वास निकलता है, परिश्रम करने मे उससे अधिक श्वास निकलता है अतएव व्यक्ति परिश्रान्त हो जाता है। **अद्यापि**—इसका अथ है अब भी अधिक श्वास निकल रहा है अत स्तनो मे कम्प हो रहा है। **वदने**—यद्यपि परिश्रमवश सर्वाङ्ग स्वेदयुक्त था पर अन्य अगो के ढके होने के कारण केवल मुख पर ही स्वेद दिखाई पडता था, दूसरी बात यह भी है कि अनुरागियो की दृष्टि सवप्रथम मुख पर ही पडती है अतएव कवि ने यहाँ 'वदने' का प्रयोग किया है, जिसका अथ है मुखमण्डल। **कण०** कणशिरीष+रुध ताच्छील्ये णिनि। **नाममुद्राक्षराणि**—नाम्न मुद्रा तस्या अक्षराणि नामाङ्कित मुद्रिका के अक्षरो को, अनुवाच्य=अनु+वच+णिच क्त्वा ल्यप।

राजा—हमे और समझना व्यथ है। यह तो राजा का उपहार है। इस लिए मुझे राजपुरुष समझिये।

प्रियवदा—तो यह अँगूठी आपकी अँगुली के वियोग योग्य नही है अर्थात् इसे आप अपनी ही अँगुली मे पहनें। आपके कहने से ही अब यह ऋणमुक्त हो गई है। (कुछ मुस्करा कर) हला शकुन्तला, तुम इन दयालु सत्पुरुष के द्वारा अथवा महाराज के द्वारा मुक्त कर दी गई हो, अब आओ।

शकुन्तला—(मन मे) यदि मैं अपने वश मे होऊँगी, अर्थात् जा तो तब सकूँगी जब अपना मन अपने वश मे होगा (प्रकट) मुझे भेजने के लिये अथवा रोकने के लिए तुम कौन होती हो, अर्थात् यह तो मेरी इच्छा पर निभर है जाऊँ या न जाऊँ।

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य । आत्मगतम्) किन्नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान् प्रति स्यात् । अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना ।

कुत—

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभि
कर्णं ददात्यभिमुख मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्या ॥२७॥

राजा—(शकुन्तला को देखकर, मन ही मन) क्या जिस प्रकार हम इस पर (अनुरक्त हैं) क्या यह भी उसी प्रकार हमारे प्रति (अनुरक्त होगी) अथवा अब मेरी इच्छा को अवसर प्राप्त हो गया है । क्योकि—

वाचमिति-अन्वय—यद्यपि मद्वचोभि वाचम् न मिश्रयति, मयि भाषमाणे अभिमुख कर्णं ददाति, कामम् मदाननसम्मुखीना न तिष्ठति अस्या दृष्टि तु भूयिष्ठम् अन्यविषया न ।

शब्दार्थ—यद्यपि मद्वचोभि =यद्यपि मेरे वचनो के साथ, वाच न मिश्रयति= अपने वचन नहीं मिलाती है । अर्थात् साक्षात् मुझ से बातचीत नही करती है । (किन्तु) मयि भाषमाणे सति=(किन्तु) मेरे बोलते समय, अभिमुख कर्णं ददाति=मेरी ओर कान लगाये रहती है अर्थात् मेरे वचनो को ध्यानपूवक एव उत्सुकतापूवक सुनती है । कामम्=भले ही यह, मदाननसम्मुखीना न तिष्ठति = मेरे मुख के सामने मुख करके नहीं ठहरती है, अस्या दृष्टि तु=किन्तु इसकी दृष्टि, भूयिष्ठम् अन्यविषया न=बहुत अधिक अन्यविषयगता नहीं होती अर्थात् मेरे अतिरिक्त दूसरी ओर नहो जाती ।

अनुवाद—यद्यपि (यह शकुतला) मेरे वचनों के साथ अपने वचन नही मिलाती अर्थात् साक्षात् मुझ से बातचीत नही करती (किन्तु) मेरे बोलते समय मेरी ओर कान लगाये रहती है अर्थात् मेरी बात को ध्यान से सुनती है, भले ही यह मेरे मुख के सामने मुख करके नहीं ठहरती, तथापि इसकी दृष्टि बहुत अधिक अन्यविषयगता नहीं होती, अर्थात् मेरे अतिरिक्त किसी दूसरी ओर नही जाती है ।

भावार्थ—शकुन्तला की आङ्गिक चेष्टाओ को देखकर, दुष्यन्त सोचता है कि यद्यपि यह शकुन्तला मुझ से साक्षात् सामने होकर बातचीत नही करती अर्थात् (जब मैं कुछ कहता हूँ तो यह अपना मत प्रकट नही करती, तथापि मेरे बोलने पर यह सावधानी से मेरी बात सुनने लगती है । यद्यपि यह अधिक मेरे सामने नही ठहरती फिर भी अधिकतर इसकी दृष्टि मेरे अतिरिक्त दूसरी ओर नही जाती अर्थात् यह मेरी ओर ही देखती रहती है । अत इन चेष्टाओ से स्पष्ट है कि यह भी मुझ पर उसी प्रकार अनुरक्त है जिस प्रकार कि मैं इस पर अनुरक्त हूँ ।

विशेष—अनुरागोत्पत्तिनिणय रूप काय के प्रति कर्णदान और अन यदृष्टि रूप दो हेतुओ के निर्देश से यहाँ समुच्चयालकार है। छेक, वृत्ति अनुप्रास। वसन्ततिलका छन्द है। इसमे विलास नामक अगज अलकार है "यो वल्लभासन्नगतो विकारो, गत्यासन स्थानविलोकनादौ। नानाविधाकूतचमत्कृतिश्च पराङ्मुख चास्यमय विलास।"

सस्कृत व्याख्या—यद्यपि मद्वचोभि=यद्यपि मम वचनै सह, वाचम्=स्वकीय वचनम्, न मिश्रयति=मेलयति, साक्षान्मया सह नालपतीति भाव (तथापि) मयि भाषमाणे सति=मयि दुष्यन्ते वदति सति, अभिमुख कण ददाति=ममाभिमुख कर्णं योजयति—सावधान सादरञ्च मद्वचन शृणोतीत्यथ। कामम्=मतमेतद् यत्, मदाननसम्मुखीना मन्मुखाभिमुखी सती न तिष्ठति, तथापि अस्या दृष्टि शकुतलाया दृष्टि, भूयिष्ठम्=अत्यधिकम्, अन्यविषया न=अन्यविषयगता न भवति, मन्मुखातिरिक्तविषयगता न जायत इत्यथ, एतेन निश्चीयते यदियं तथैवानुरक्ता यथाहमस्या मित्याशय।

सस्कृत सरलाथ—शकुन्तलाचेष्टा अवलोक्य राजा चिन्तयति—यद्यपि नेव मया सह साक्षाद वार्तालाप करोति, तथापि मयि वदति सति, इय सावधान सादरञ्च मद्वचनं शृणोति। यद्यपि नय मन्मुखाभिमुखी सती तिष्ठति तथाप्यस्या दृष्टि मन्मुखातिरिक्तविषयगता न जायते। एताभिरस्याश्चेष्टाभिरनुमीयते यदिय तथैवास्मासु अनुरक्ता यथा वयमस्याम् इति।

टिप्पणी

"राज्ञ परिग्रहोऽयमिति राजपुरुष मा मवगच्छथ" कुछ प्रतियों मे ऐसा भी पाठ मिलता है, यद्यपि यह अनावश्यक है। वस्तुत इसके दो अथ हैं राजा ने इस द्वयथक वाक्य का प्रयोग अपने को छिपाने के लिए किया है, वह कहना है कि नामाङ्कित अगूठी के अक्षरो से आप मुझे राजा न समझो यह तो मुझे राजा दुष्यन्त के द्वारा दिया गया उपहार है अत मुझे राजकमचारी समझो। इसका दूसरा अथ यह भी है कि यह राजा का तुम्हारे लिए उपहार है मुझे तुम राजा समझो (राजा चासौ पुरुष = राजपुरुष) प्रथम अथ मे राज्ञ पुरुष राजपुरुष होगा। **किञ्चिद विहस्य**—वस्तुत प्रियवदा यह जान गई थी कि अगूठी दने वाले यह राजा दुष्य त ही हैं अतएव उसने मुस्कराकर यह कहा था। **मिश्रयति**—मिश्रम् करोति, मिश्र+णिच् लट। **मदाननसम्मुखीना**—मदाननस्य सम्मुखीना—सम्मुख+ख+ईन टाप्। **भूयिष्ठम्**—बहु+इष्ठन्, बहु को भू आदेश। **अन्यविषया**—अन्य विषय यस्या सा।

प्रस्तुत पद्य मे नायिका का अनुरागेङ्गित भी द्रष्टव्य है "विकारो नेत्रवक्त्रस्य तद्वाक्यश्रवणादर अन्यव्याजेन तद्वीक्षा अनुरागेङ्गित भवेत्।"

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विन , सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत । प्रत्यासन्न
किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्त ।

तुरगखुरहतस्तथाहि रेणु-
विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु ।
पतति परिणतारुणप्रकाश
शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ।।२८।।

(नेपथ्य मे)

हे तपस्वियो, तपोवन के जीवो की रक्षा के लिए आप लोग समीपवर्ती हो जाइये । क्योकि शिकार के लिये विचरण करने वाला राजा दुष्यन्त पास ही है । क्योकि—

तुरगेति अन्वय—तथाहि तुरगखुरहत परिणतारुणप्रकाश रेणु शलभसमूह इव विटपविषक्तजलार्द्र वल्कलेषु आश्रमद्रुमेषु पतति ।

शब्दार्थ—तथाहि=क्योकि, तुरगखुरहत =अश्वो के खुरो से उठाई गई, परिणतारुणप्रकाश =सध्याकालीन सूय की कान्ति के समान लाल कान्ति वाली, रेणु =धूलि, शलभसमूह इव=टिड्डियो के समूह की तरह, विटपविषक्तजलार्द्र वल्क-लेषु=जिनकी डालियो पर (सुखाने के लिए मुनियो के) जल से भीगे वल्कल वस्त्र डाले गये हैं, आश्रमद्रुमेषु=ऐसे आश्रम के वृक्षो पर, पतति=पड रही है ।

अनुवाद—क्योकि अश्वो के खुरो से उठाई गई (तथा) अस्त होते हुए सूय की कान्ति के समान लाल कान्ति वाली धूलि, शलभ समूह के समान, उन आश्रम के वृक्षो पर पड रही है जिनकी डालियो पर (सुखाने के लिए मुनियो के) जल से भीगे वल्कल वस्त्र डाले गये हैं ।

भावार्थ—नेपथ्य से कहा जा रहा है कि अश्वो के खुरो से उठाई गई धूलि, जिसकी कि लाल चमक सध्याकालीन सूय की कान्ति के समान है, आश्रम के वृक्षो पर उसी प्रकार पड रही है जैसे कि टिडडी दल वृक्षो पर पडता है, इन आश्रम के वृक्षो पर मुनिजनो ने अपने जल से भीगे वल्कल वस्त्रो को सुखाने के लिए लटका रखा है ।

विशेष - परिणतारुणप्रकाश मे लुप्तोपमालकार है । शलभसमूह इव मे उपमालकार है । वत्यनुप्रास, पुष्पिताग्रा नामक छन्द है "अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" इस विषम छन्द के प्र० और त० चरणो मे नगण नगण रगण यगण तथा द्वि० और चतुथ मे भगण जगण जगण रगण तथा एक गुरु वण होता है ।

सस्कृत व्याख्या—तथाहि—यतोहि तुरगाणाम् अश्वाना खुरै हत तुरग-खुरहत =अश्वशफोत्थापित , परिणतस्य सान्ध्यस्य अरुणस्य सूर्यस्य प्रकाश इव प्रकाश

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्त

पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसजातपाश ।

मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो

धर्मारण्य प्रविशति गज स्यन्दनालोकभीत ॥२९॥

(सर्वा कर्णं दत्त्वा किंचिदिव सभ्रान्ता)

कान्ति यस्य स —परिणतारुणप्रकाश =अस्ताचलोन्मुखसूर्यकान्ति, सध्यासमये रक्ताभ-सूर्यकिरणसम्पर्कात् धूलिपटलस्य रक्तवर्णता जायत एव। रेणु =धूलि, शलभाना-समूह शलभसमूह इव=पतङ्गराशिरिव, विटपेषु वृक्षशाखासु विषक्तानि लम्बितानि जलेन आर्द्राणि वारिणा सिक्तानि वल्कलानि येषा तेषु—विटपविषक्तजलार्द्र वल्कलेषु, आश्रमाणा द्रुमा तेषु=आश्रमद्रुमेषु=तपोवनवृक्षेषु, पतति=वायुसयोगेनोड्डीय ससृजति।

संस्कृत सरलार्थ—यतोहि तुरगखुरसमुत्थापित सान्ध्यसूर्यप्रकाश धूलि पतङ्गराशिरिव तेषु तपोवनतरुषु वायुसयोगेनोड्डीय ससृजति येषा वृक्षाणा शाखासु मुनिजनाना जलेन आर्द्राणि वल्कलानि लम्बितानि सन्ति।

टिप्पणी

सन्निहिता—समीपवर्तिन—सम्+नि+धा+क्त। **तपोवन०**—तपोवनस्य सत्त्वानां वन्य जीवानां रक्षा तस्यै। **प्रत्यासन्न**—समीपस्थ—प्रति+आ+सद्+क्त। **मृगयाविहारी**—मृगयया विहर्तुं शीलमस्येत्यर्थे मृगया+वि+हृ णिनि। **विषक्त**—वि+सञ्ज्+क्त। **परिणत**—परि+नम्+क्त।

अपिच—और भी—

तीव्रेति अन्वय—स्यन्दनालोकभीत तीव्राघातप्रतिहततरु स्कन्धलग्नैकदन्त, पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसजातपाश, भिन्नसारङ्गयूथ गज, न तपस मूर्त विघ्न इव धर्मारण्यम् प्रविशति।

शब्दार्थ—स्यन्दनालोकभीत =रथ को देखने से भयभीत हुआ, तीव्राघात प्रतिहततरू =(दौडने मे स्वाभाविक सवेग के कारण) जिसने तीव्र प्रहार से वृक्षो को तोड दिया है, स्कन्धलग्नैकदन्त =(पार्श्व मे देखने के कारण जिसका एक दाँत (दाहिना दाँत) स्कन्ध भाग मे लगा हुआ है। (यह प्रसिद्ध है कि हाथी दक्षिण स्कन्ध की ओर ही सरलता से अपना मुख घुमा सकता है अत दाहिने कन्धे पर ही उसके दाँत का लगना स्वाभाविक है। किन्ही प्रतियो मे "तीव्राघातप्रतिहततरूस्कन्धलग्नैकदन्त" "यह एक ही समासान्त पद है वहाँ इसका अर्थ "तीव्रप्रहार से तोडे गये वृक्षो की शाखा पर जिसका एक दाँत लगा हुआ है, होगा, पर यह अर्थ उचित प्रतीत नही होता क्योंकि वृक्ष की शाखा पर हाथी के दाँत का लगना स्वाभाविक प्रतीत नही होता, अत इसका

इसका अर्थ उक्त प्रकार से करना ही ठीक है, एक नहीं अपितु दो भिन्न-भिन्न पद हैं और दोनो गज के विशेषण हैं। पादाकृष्ट० =पैरो द्वारा खीची गई लताओं के समूह के लिपट जाने से जिसके पैरो के लिये पाश बन गया है। अर्थात् जिसके पैर बँध गये हैं। भिन्नसारङ्गयूथ =जिसने मृगो के झुण्ड को तितर-बितर कर दिया है, न तपस मूर्त विघ्न इव=जो कि हमारी तपस्या के लिए शरीरधारी विघ्न के समान है, (ऐसा यह गज) तपोवन मे प्रवेश कर रहा है।

अनुवाद—रथ के देखने से भयभीत हुआ गज, जिसने कि अपने तीव्र प्रहारो से वृक्षो को तोड दिया है, और जिसका एक दाँत दाहिने कन्धे पर लगा हुआ है, पैरो द्वारा खीची गई लताओ के समूह के लपट जाने से (जिसके पैरो के लिए पाश बन गया है अर्थात् जिसके पैर बँध गये हैं जिसने कि मृगो के झुण्ड को तितर-बितर कर दिया है तथा जो हमारी तपस्या के लिए शरीरधारी विघ्न के समान है, तपोवन मे प्रवेश कर रहा है।

भावार्थ—नेपथ्य मे कोई कहता है कि हे तपस्वियो, देखो, राजा के रथ को देखने से भयभीत होकर यह हाथी तपोवन मे घुस रहा है जिससे सभी जीव व्याकुल हो रहे हैं, हाथी ने दौडते हुए तीव्र प्रहारो से वृक्षो को तोड डाला है और इसका एक दाहिना दाँत (क्रोध मे देखने के कारण, इसके दाहिने स्कन्ध से लगा हुआ है। इसके पैरों द्वारा, भागते हुए इसके द्वारा स्वय खीची गइ लताएँ ही इसके पैरो मे बँध गई हैं तथा इसने मृगो को भयभीत कर इधर-उधर भगा दिया है, वस्तुत यह गज हमारी तपस्या के लिए एक शरीरधारी विघ्न के ही समान है।

विशेष—यहाँ आघात आदि निमित्तभूत विशेषणों से गज मे मूर्तिमत् विघ्नत्व की उत्प्रेक्षा की गई है अत उत्प्रेक्षालकार है और मूर्तो विघ्न इव मे भी उत्प्रेक्षा॰ लकार है, कार्य के वणन से कारणरूपी राजा के आगमन का सकेत होने से अप्रस्तुत प्रशसालकार, परिकरालकार, श्रुति, वत्ति अनुप्रास। मन्दाक्रान्ता छन्द है "मन्दा-क्रान्ताम्बुधिरस नगै र्मो भनौ तौ गयुग्मम्" अर्थात् जिस छन्द मे क्रमश मगण भगण नगण तगण तगण तथा अन्त मे दो गुण वण हो, चार छ और सात पर यति हो वह मन्दाक्रान्ता छन्द होता है।

सस्कृत-व्याख्या—स्यन्दनस्य रथस्य आलोकात् दर्शनात भीत त्रस्त·—स्यन्द नालोकभीत, तीव्रेण अत्युग्रेण आघातेन प्रहारेण प्रतिहता त्रोटिता तरव येन स·—तीव्राघातप्रतिहततरु, स्कन्धे कन्धप्रदेशे लग्न ससृष्ट एक दक्षिण दन्त यस्य स—स्कन्धलग्नैकदन्त =दक्षिणपार्श्वभागससक्तैकदन्त। पादाभ्या माकृष्ट यद् व्रततीनां लतानाम् वलय जालम् तस्य आसङ्गेन समन्तात् परिवेष्टनेन सजात पाश बन्धन यस्य स—पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसजातपाश, भिन्नानि भयोत्पादनेन पृथक् कृतानि सारङ्गाणाम् वन्यमृगाणाम् यूथानि कुलानि येन स—भिन्न सारङ्गयूथ, न =अस्मा-कम्, तपस =तपानियमस्य, मूर्त =शरीरी, विघ्न =अन्तराय इव, गज धर्मारण्यं प्रविशति=तपोवन प्रविशति।

राजा—(आत्मगतम्) अहो धिक्, पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति । भवतु । प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सख्यौ—आर्य, अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्म । अनुजानीहि न उटजगमनाय । [अज्ज, इमिणा आरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउल म्ह । अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स ।]

राजा—(ससम्भ्रमम्) गच्छन्तु भवत्य । वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे ।

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति ।)

सख्यौ—आर्य, सम्भावितातिथिसत्कार भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्त लज्जामहे आर्यं विज्ञापयितुम् । [अज्ज, असभाविदादिहिसक्कार भूओ वि पेक्खणणिमित्त लज्जेमो अज्ज विण्णविदु ।]

संस्कृत सरलार्थ—राजरथदर्शनात्त्रस्त , अत्युग्रप्रहारत्रोटितवृक्ष , दक्षिणपार्श्वभागलग्नैकदन्त , पादाकृष्टलताजालवेष्टनेन सजातपदबन्धन , भिन्नवनमृगसमूह , अस्माक तपोनियमस्य शरीरी विघ्न इव गजस्तपोवन प्रविशति ।

टिप्पणी

आघात—आ + हन + घञ्, वस्तुत यह एक वन्यगज था जोकि राजा के रथ को देखकर भयभीत होकर भाग रहा था, भागने मे सवेग के कारण इसने अपने दाँतो के प्रहारो से वृक्षो को तोड दिया था, कोई टीकाकार कहते हैं कि टूटे हुए वृक्ष की शाखा में इसका एक दात उलझ गया था और यह गज उस शाखा के साथ ही भाग रहा था, वस्तुत भय और क्रोध के समय गज अपने दाहिने पार्श्व भाग की ओर मुँह करके देखता है अत दाहिने पार्श्व भाग मे इसके दात का लगना स्वाभाविक ही है । **आसङ्ग**—आ + सञ्ज + घञ् । मूत = मूच्छ् + क्त । इसमे भयानक रस है, गजगत भय स्थायी भाव है ।

(सभी कान लगाकर अर्थात् सुनकर कुछ घबडा-सी जाती हैं ।)

राजा—(मन मे) ओह धिक्कार है, मुझे खोजने वाले पुर वासी जन तपोवन को घेर रहे हैं अर्थात् घेर कर पीडित कर रहे हैं । अच्छा, मैं लौट जाता हूँ ।

दोनों सखियाँ—आय, इस वन्यगज के वृत्तान्त से हम लोग बहुत घबडाई हुई हैं । (अत) हम लोगो को अपनी कुटी पर जाने की स्वीकृति दीजिए ।

राजा—(घबडाहट के साथ) आप लोग जाइये, मैं भी ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे आश्रम को पीडा न हो ।

दोनों सखियाँ—श्रीमन्, अकृतातिथि सत्कार आपको पुन दर्शन देने के लिए प्रार्थना करती हुई हमे लज्जा होती है । तात्पय यह कि हम लोगो द्वारा जिस आप का

राजा—मा मैवम् । दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि ।

(शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याज विलम्ब्य सहसखीभ्यां निष्क्रान्ता ।)

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमन प्रति । यावदानुयात्रिकान् समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मान निवर्तयितुम् ।

मम हि—

गच्छति पुर शरीर धावति पश्चादसस्तुत चेत ।
चीनाशुकमिव केतो प्रतिवात नीयमानस्य ॥३०॥

(इति निष्क्रान्ता सर्वे ।)

॥ इति प्रथमोऽङ्क ॥

कोई अतिथि सत्कार नही बन पडा है ऐसे आपसे यह प्रार्थना करने मे हमे सकोच हो रहा है कि आप हमे फिर दशन दें ।

राजा—नही ऐसा न कहिये । आप लोगो के दशन से ही मैं सत्कृत हो गया हूँ ।

(शकु तला, राजा को देखती हुई, बहाना बनाकर कुछ रुककर दोनो सखियो के साथ चली जाती है)

टिप्पणी

अहो धिक्—गज वृत्तान्त को सुनकर राजा अपने को ही धिक्कारता है, क्योकि यह सब अपने ही कारण हुआ था । **पौरा**—पुरे भवा पौरा—नगर वासीजन क्योकि सैनिको के साथ विदूषक यवनी आदि नागरिक भी थे। **आरण्यकवृत्तातेन**—अरण्ये भव आरण्यक अरण्य+वुञ वु को अक, आरण्यकस्य व यगजस्य वृत्तान्त तेन । **असम्भावितातिथिसत्कारम्** न सम्भावित न कृत अतिथे सत्कार यस्य तम् । पुरस्कृत = सत्कृत । **सव्याजम्**—व्याजेन सह बहुव्रीहि । वि+अज्+घञ ।

राजा—नगर को लौट जाने के प्रति मेरी उत्सुकता मन्द पड गई है अर्थात् नगर को लौटने के लिए अब मैं बिल्कुल उत्सुक नही हूँ । तो मैं अपने अनुयायिओ से मिलकर तपोवन से कुछ ही दूरी पर उ हे ठहराता हूँ अर्थात् सबको एकत्र कर आश्रम के समीप ही पडाव डाले देता हूँ । (क्योकि) अब मै वस्तुत शकुन्तला के प्रेम-व्यापार से अपने को छुडाने मे असमथ हूँ, मैं शकु तला की ओर अपनी प्रवृत्ति को नही रोक सकता हूँ ।

क्योकि मेरा—

गच्छतीति-अन्वय—हि मम शरीरम पुर गच्छति, (परन्तु) प्रतिवात नीयमानस्य केतो चीनाशुकम् इव असस्तुत चेत पश्चाद् धावति ।

शब्दार्थ—हि क्योकि, मम शरीरम्=यह मेरा शरीर तो, पुर गच्छति=आगे की ओर चलता है, (किन्तु) प्रतिवात नीयमानस्य केतो=हवा के विरुद्ध ले जाये जाते हुए ध्वजा के, चीनाशुकम् इव=चीनी सूक्ष्म रेशमी वस्त्र के समान, असंस्तुत चेत= अपरिचित-सा मन, पश्चाद् धावति=पीछे शकुन्तला की ओर दौडता है।

अनुवाद—क्योकि यह मेरा शरीर तो आगे की ओर चलता है किन्तु विरुद्ध हवा की ओर ले जाये जाते हुए ध्वजा के चीननिर्मित सूक्ष्म रेशमी वस्त्र की भाँति अपरिचित सा (मेरा) मन पीछे शकुन्तला की ओर दौडता है।

भावार्थ—राजा आरण्यक वृत्तान्त को सुनकर यद्यपि वहाँ से अपने सैनिको से मिलने के लिए चल देता है लेकिन उसका मन शकुन्तला मे ही आसक्त रहता है, इसीलिए वह कहता है कि यद्यपि मैं चलता हुआ आश्रम की ओर जा रहा हूँ, अत शरीर तो आगे चलता है परन्तु मेरा मन, उस ध्वजा के पतले सूक्ष्म रेशमी वस्त्र के समान अपरिचित—सा होकर पीछे शकुन्तला की ओर ही भागता है, जिसके कि दण्ड को हवा के विरुद्ध लेजाया जा रहा है, झण्डे का डडा तो उस ओर चलता है, जिस ओर उसे कोई ले जाता है किन्तु उसका वस्त्र उस ओर ही उडता है जिस ओर की हवा चलती है, यदि हवा के विरुद्ध ध्वजा को ले जाया जायेगा तो उसका वस्त्र पीछे की ओर ही उडेगा। राजा का शरीर ध्वजदण्ड है, और मन ध्वज का वस्त्र इससे स्पष्ट है कि वह अपने मन को शकुन्तला से नही हटा पा रहा है।

विशेष—यहाँ शरीर को केतु और पताका को मन माना गया है, यह दोनों ही कल्पनायें बडी ही सुन्दर हैं, निर्जीव काष्ठ के डडे को कोई भी कही भी ले जा सकता है। दुष्यन्त का शरीर हृदय से शून्य होने के कारण सेना की ओर चलता है लेकिन जिस प्रकार केतु की पताका वायु वेग से पीछे की ओर ही उडती है उसी प्रकार उसका मन भी जोकि चीन के वस्त्र की भाँति सूक्ष्म एव अति कोमल है पीछे शकुन्तला की ओर भाग रहा है। शरीर आगे की ओर धीरे-धीरे चलता है, परन्तु मन तेजी से पीछे की ओर भागता है सम्बद्ध भी शरीर और मन मे असम्बन्ध बताने से अतिशयोक्ति अलकार है। असस्तुतम् का अर्थ है शरीर से अपरिचित-सा अत गम्योत्प्रेक्षालकार है। चीनांशुकमिव मे उपमालकार है। वृत्यनुप्रास—आर्या जाति छन्द है।

सस्कृत-व्याख्या—हि=यत , मम=दुष्यन्तस्य, शरीरम्=देह , पुर =अग्रे, गच्छति=याति। चेत =मनस्तु, प्रतिवातम्=वायो प्रतिकूलम्, नीयमानस्य=उह्यमानस्य, केतो =ध्वजस्य, चीनाशुकम् इव=चीननिर्मितसूक्ष्मक्षौमवस्त्रमिव, असस्तुतम्=अपरिचितमिव, पश्चात्=पष्ठत शकुन्तलाभिमुख, धावति=वेगेन याति।

सस्कृत सरलार्थ—सेनाभिमुख गच्छन् दुष्यन्तश्चिन्तयति ममेद शून्यमिव शरीर पुरो याति किन्तु मे मन वायो प्रतिकूल मुह्यमानस्य ध्वजस्य चीनप्रदेशनिर्मितसूक्ष्मकौशेयवस्त्रमिव, अपरिचितमिव, शकुन्तलाभिमुख वेगेन याति।

टिप्पणी

मन्दौत्सुक्य —मन्दम औत्सुक्यम् यस्य स , उत्सुकस्य भाव औत्सुक्यम् । आनुयात्रिकान्=अनु पश्चात् यात्रा अस्त्येषामित्यर्थे अनु +यात्रा+ठन् (इक्) व्यापारात्—प्रवृत्ति से, प्रतिवातम=वातस्य प्रतिकूलम । नीयमानस्य—नी+युक् शानच ।

(इसके बाद सभी पात्रो का प्रस्थान)

यहाँ सभी समूह के भेदन से भेद नामक मुख सन्धि का अग है । इस अक मे दुष्यन्त और शकु तला मे प्रेम की उत्पत्ति और उसके क्रमिक विकास को बडी कुशलता से दिखलाया गया है। यथास्थान प्रकृति का स्वच्छ द मनोरम वातावरण प्रस्तुत किया गया है । अक के अन्त मे सभी पात्रो का विनिगमन दिखलाया गया है जैसाकि दशरूपककार ने कहा है "एकाहचरितकार्थ मित्थमासन्न नायकम्, पात्रैस्त्रिचतुरैरड्क तेषामन्ते च निर्गम । इस कारिका मे अड क के विभाजन, उसकी कथावस्तु की समयमीमा, तथा पात्र सख्या का भी उल्लेख किया गया है । एक अक की वस्तुयोजना मे एक ही दिन की घटना होनी चाहिए, उसे एक ही प्रयोजन से आद्योपान्त सम्बद्ध होना चाहिए, नायक समीपवर्ती हो और अन्त मे पात्रो का निगम दिखलाया जाय" ये सब बातें इस अक में देखी जाती हैं। अत यह अक के लक्षण से परिपूण है, यहाँ मुख्यपात्र थोडे ही हैं और अन्त मे उनका निगम भी दिखलाया गया है । सा० द० मे अक का लक्षण "प्रत्यक्ष नेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वल । नानाविधानसयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान्, अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽड्क इति प्रकीर्तित" यत्रार्थस्य समाप्ति यत्र च बीजस्य भवति संहार किञ्चिदव लग्नविन्दु सोऽङ्क इति सदावगन्तव्य ।

(प्रथम अक समाप्त) 

द्वितीयोऽङ्कः

(तत प्रविशति विषण्णो विदूषक)

विदूषक —(नि श्वस्य) भो दिष्टम्। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अयम् मृगोऽयम् वराहोऽयम् शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजिष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी। पत्रसकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेल शूल्यमासभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसधे रात्रावपि निकाम शयितव्य नास्ति। ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्या पुत्रै शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहण-कोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि। इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति। ततो गण्डस्योपरि पिटक सवृत्त। ह्य किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपद प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता। साम्प्रतम् नगरगमनाय मन कथमपि न करोति। अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णो प्रभातमासीत्। का गति यावत्त कृताचारपरिक्रम पश्यामि।

(इसके बाद खिन्नमन विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—(लम्बी साँस लेकर) हे दुर्भाग्य ! इस शिकार के व्यसनी राजा की मित्रता से मैं दु खी हो गया हूँ, यह मृग, यह शूकर, अथवा यह चीता (जा रहा है) (यह कहकर दौडते हुये) दुपहरी के समय भी, ग्रीष्म के कारण विरल (असघन) वृक्षों की छाया वाले वन प्रदेशो मे एक जगल से दूसरे जगल मे हमे घूमना पडता है। पत्तों के सम्मिश्रण से कषैले हुए और कडवे पर्वतीय नदियो के जल पिये जाते हैं। बिना किसी निर्दिष्ट समय पर अर्थात् जब ही मिल सके तभी, शूल्य मास ही जिसमें अधिक रहता है, ऐसा खाना खाया जाता है। (लोहे की शलाओं मे बाँधकर जो माँस पकाया जाता है उसे शूल्य मास कहा जाता है) घोडे के पीछे दौडते-दौडते (जिसके शरीर की हड्डियो के) सन्धि स्थल (जोडे) पीडित हो उठते हैं, ऐसे मेरे लिये रात्रि मे भी पर्याप्त सोने को नही मिलता (अर्थात् घोडे के पीछे दौडते रहने के कारण हड्डियों के जोड़ों में पीडा होने लगती है इस कारण रात मे भी नीद नहीं आती, दिन में सोना या आराम करना तो सम्भव ही नही) फिर बहुत सबेरे ही नीच बहेलियो के द्वारा जगल को घेरने के कोलाहल से जगा दिया जाता हूँ। (इस प्रकार न रात को सो पाता हूँ और न सुबह

(इति परिक्रम्यावलोक्य च) एष बाणासनहस्ताभि र्यवनीभि र्वनपुष्पमाला धारिणीभि परिवृत्त इत एवागच्छति प्रियवयस्य । भवतु । अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि । यद्येवमपि नाम विश्राम लभेय । (इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थित ।)

[भो दिट्ठ । एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि । अअ मओ अअ वराहो अअ सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डी-अदि अडवीदो अडवी । पत्तसकरकसाआइ कडुआइ गिरिणईजलाइ पीअन्ति । अणिअदवेल सुल्लमसभूइट्ठो आहारो अण्हीअदि । तुरगाणुधावणकण्डिदसन्धिणो रत्तिम्मि वि णिकाम सइदव्व णत्थि । तदो महन्ते एव्व पच्चूसे दासीएपुत्तेहि सउणिलुद्धएहि वणग्गहणकोआहलेण पडिबो-धिदो म्हि । एत्तएण दाणि वि पीडा ण णिक्कमदि । तदो गण्डस्स उवरि पिडओ सवुत्तो । हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समपद पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दसिदा । सपद णअरगमणस्स मण कह वि ण करेदि । अज्ज वि से त एव्व चिन्तअन्तस्स अच्छीसु पभाद आसि । का गदी । जाव ण किदाचारपरिक्कम पेक्खामि । एसो बाणासणहत्थाहि जवणीहि वणपुप्फमालाधारिणीहि पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो । होदु । अङ्गभङ्गविअलो विअ भविअ चिट्ठिस्स । जइ एव्व वि णाम विस्सम लहेअ ।]

को ही) इतने समय मे भी अब भी यह पीडा नही निकलती है अर्थात् इतना होने पर भी अभी मेरा कष्ट समाप्त नही हो पाया है कि तब तक फोडे पर एक फुन्सी और निकल आई अथवा कोढ मे खाज हो गई (यह एक मुहाविरा है जिसका तात्पर्य यह है कि अभी शरीर की पीडा भी शान्त न हो पाई थी कि तब तक यह दूसरा दुख भी आ पडा । कल, जैसाकि कहा जाता है, जब कि हम लोग उनके साथ नही थे, पूज्य महाराज दुष्यन्त को, मृग का पीछा करते करते आश्रम मे प्रविष्ट होने पर, मेरे दुर्भाग्य से ही, तापसकन्या शकुन्तला दिखलाई पड गई । (इसका फल यह हुआ कि) अब वह नगर मे लौट चलने के लिए किसी भी प्रकार मन ही नही करते—लौटने का नाम भी नही लेते । आज भी उसी शकुन्तला को सोचते-सोचते उनकी आँखो के सामने सुबह हो गया अर्थात् शकुन्तला के विषय मे चिन्ता करते-करते ही सारी रात बीत गई और जागते रहते ही प्रभात हो गया । क्या उपाय है (चलो) तब तक स्नानादि कार्यक्रम को पूर्ण कर लेने वाले उस राजा से मिलें ।

(घूमकर और देखकर)

टिप्पणी

विषण्ण—वि+सद्+क्त रदाभ्यामिति धातो दकारस्य प्रत्ययतकारस्य च नत्वे षत्वे णत्वे च। **विदूषक**—प्रथमाङ्क मे कवि ने नायक नायिका के हर्ष विषादादि व्यभिचारी भावो के द्वारा तथा गुण कथनादि अनुभावो के द्वारा शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति की पुष्टि की थी, इस अक मे वह पुन उसी की परिपुष्टि के लिए विप्रलम्भ के वणन के उद्देश्य से विदूषक का प्रवेश कराता है क्योकि विदूषक राजा का शृङ्गाररस मे सहायक होता है जैसा कि दपणकार ने कहा है "शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्या। भक्ता नर्मसु निपुणा कुपितवधूमानभञ्जिन शुद्धा।" आदि पद से यहाँ मालाकार रजक ताम्बूलिक गान्धिक आदि का ग्रहण है। विदूषक का लक्षण है "कुसुमवसन्ताद्यभिध कर्मवपु र्वेषभाषाद्यै। हास्यकर कलहरति विदूषक स्यात् स्वकर्मज्ञ।" विदूषक का नाम प्राय पुष्प वाचक एव वसन्तादि ऋतु वाचक शब्दों पर रखा जाता है अतएव प्रस्तुत नाटक के विदूषक का नाम माधव्य है। ये विदूषक अपने काम से, शारीरिक चेष्टाओं व वस्त्राभूषणो के विचित्र विन्यास से वाक्य रचना एव विचित्र इगितो से हास्य उत्पन्न करने वाले, कलहप्रिय तथा भोजनप्रिय होते हैं "विकृताङ्गवचोवेषै हास्यकारी विदूषक।" ये विदूषक प्राकृत ही बोलते हैं "विदूषक विटादीनां पाठय—तु प्राकृत भवेत्।"

मुख्य कथावस्तु के साथ जो एक प्रासगिक कथा भी चलती है वह द्विधा विभक्त होती है "सानुबन्ध पताकाख्य प्रकरी च प्रदेशभाक्" इस कथन के अनुसार दूर तक चलने वाली कथा पताका कथा और एक ही प्रदेश तक सीमित रहने वाली कथा प्रकरी कहलाती है। इस नाटक की विदूषक की कथा पताका कथा है।

कुछ टीकाकारो के मतानुसार 'तत प्रविशति से लेकर उभे—स्निग्धजन सविभक्त हि दु ख सह्यवेदन भवति। इस तृतीय अक के गद्याश तक प्रतिमुखसन्धि चलती है, जिसका लक्षण "फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशित। लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुख च तत्" काम प्रिया न सुलभा" इस कथन से दुष्यन्त मे तो अनुराग लक्ष्य है पर शकुन्तला की चेष्टाओ से वह अनुमेय मात्र है अत अलक्ष्य है। शकुन्तला प्राप्तिरूप फलावाप्ति के लिए दुष्यन्त का जो शकुन्तलान्वेषणरूप अतित्वरान्वित व्यापार चलता है इससे यहाँ प्रयत्न नामक द्वितीय कार्यावस्था भी है "प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित" विष्टम्=भाग्य, दैव दिष्ट भागधेयम् किन्तु यहाँ इसका अर्थ दुर्भाग्य है। अन्यत्र दृष्टम् भी पाठ है। भो विषादात्मक सम्बोधन है। वयस्यभावेन—वयसा तुल्य वयस्य 'नौवयोधर्म० से यत्—मैत्रीभाव से, निर्विण्ण—उदास, निर्+विद्+क्त तकारदकारयोनत्वे णत्वे च। मध्याह्नेऽपि—अह्न मध्य मध्याह्नम्। ग्रीष्म०—पादपानां छाया पादपच्छाय ग्रीष्मेण विरल पादपच्छाय यासु तासु। पत्र०—पत्राणां सकरेण कषायाणि, अनियतवेलम्—न नियता निश्चिता वेला यस्मिन् तत्। आहिण्ड्यते—आ+हिंडि गतौ कर्मणि लट्। राजिषु—श्रेणी, पक्ति, 'वीथ्यालिरावलि पक्ति श्रेणी लेखास्तु राजय।' शूल्य शूले सस्कृत शूल्यम्, शूल्य मांस भूयिष्ठ यस्मिन् स। कांटे

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्ट परिवारो राजा)

(क) राजा—(आत्मगतम्)

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥१॥

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते ।)

पर चूना हुआ माँस शूल्य मास । तुरग० तुरगेण यद् अनुधावन तेन कण्डितास्सन्धय यस्य तस्य, प्रत्यूषे—प्रत्यूषति पीडयति कामुकान् इति प्रत्यूष —प्रति+ऊष+क । दास्या पुत्रः यह एक प्रकार की गाली है, अर्थात् नीच । पुत्रेऽयतरस्यामिति षष्ठ्या अलुक । अवहीनेषु=अव+हा (त्यागार्थक) क्त ओदितश्चेति नत्वे, घुमास्थेति आकारस्य ईत्वे । पीछे छूट जाने पर, अधन्यतया—धन लब्धा (धनगण लब्धा) धन+यत् धन्य तस्य भाव तया । कृताचारपरिग्रहम्—कृत विहित आचारस्य स्नानादे परित ग्रह येन तम् । ●

एष इति—यह मेरे प्रिय मित्र धनुष को धारण करने वाली (तथा) वन्य पुष्पो की माला पहनने वाली यवनियो (पारसी स्त्रियो) से घिर हुये इधर ही आ रहे है । अच्छा तो (अब) अग-भग से विकल सा हो कर यहाँ रुक जाता हूँ, सम्भव है कि इस प्रकार से ही कुछ विश्राम मिल जाय ।

(यह कहकर काष्ठ दण्ड का सहारा लेकर खडा हो जाता है)

(इसके बाद पूर्व निर्दिष्ट परिवार के साथ राजा प्रवेश करता है)

राजा—(मन ही मन)

काममिति-अन्वय—कामम् प्रिया न सुलभा, तु मन तद् भावदशनाश्वासि । मनसिजे अकृतार्थे अपि उभयप्रार्थना रतिम् कुरुते ।

शब्दार्थ—कामम्=भले ही, प्रिया न सुलभा=प्रिया शकुन्तला सुलभ न हो, तु=किन्तु, मन=मेरा मन, तद्भावदर्शनाश्वासि=उसके (प्रेममय हाव) भावो के देखने से आश्वस्त (सन्तुष्ट) है । मनसिजे अकृतार्थेऽपि=कामदेव के सफल न होने पर भी, उभयप्राथना=दोनो की परस्पर मिलने की अभिलाषा, रतिं कुरुते=परस्पर अनुराग को उत्पन्न करती ही है ।

अनुवाद—भले ही प्रिया शकुन्तला सुलभ न हो, किन्तु (मेरा) मन उसके (प्रेम मय हाव) भावो को देखने से आश्वस्त है । कामदेव के सफल न होने पर भी, दोनों की मिलनोत्कण्ठा परस्पर अनुराग उत्पन्न करती ही है ।

भावार्थ—दुष्यन्त मन ही मन सोचता है कि भले ही प्रिया शकुन्तला सुख से न मिल सके, भले ही वह मेरे लिये दुष्प्राय हो किन्तु मेरा मन तो उसके हाव भावो को देखकर सन्तुष्ट हो गया है अत वह पुन पुन उसके भावो को देखने के लिये प्रयास करता है, इस प्रकार यद्यपि कामदेव अब तक सन्तुष्ट नही हो सका है तथापि हम दोनो में जो परस्पर मिलते रहने की उत्कण्ठा है वह हम दोनों मे परस्पर प्रेम को बढा रही है । अत. उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना स्वाभाविक

है । तात्पर्य यह है कि बहु प्रयत्न साध्य वस्तु की अप्राप्ति से निराश हुये भी और सयोग सुख से वञ्चित हुये भी नायक नायिका का पारस्परिक अनुराग दोनो के मन मे आनन्द उत्पन्न करता है, शारीरिक सन्तुष्टि के अभाव में भी मनस्तुष्टि तो हो ही जाती है ।

विशेष—पूर्वार्धगत विशेषार्थ के उत्तरार्धगत सामान्यार्थ से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलकार, अकृतार्थ मनसिज रति (सुरतम्) कुरुते, इस अर्थकल्पना मे विरोध होता है । अत रति का अर्थ अनुराग लिया जायेगा "रति कामस्त्रियां रागे सुरतेऽपि रति स्मृता" इस प्रकार यहाँ विरोधाभास अलकार भी हो सकता है । आर्याजाति छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—कामम्=मत मेतत्, प्रिया=शकुन्तला, न सुलभा सुखेन लभ्या नास्ति, तु=किन्तु, मन =मे मन, तस्या भावना दर्शनेन आश्वासि—तद्भाव-दर्शनाश्वासि=शकुन्तलागतानुरागव्यञ्जकस्निग्धकटाक्षादिचेष्टाविशेषदर्शनेन तत्प्राप्ति-सम्भावनया प्राप्तानन्दम स्तीत्याशय । मनसि जातस्तस्मिन् मनसिजे कामे, अकृतार्थे=असफले, तत्सम्भोगानुपपत्त्या अचरितार्थे अपि, उभय प्रार्थना=प्रियाया मम च परस्परानुराग, रति कुरुते=परस्परप्रीतिं समुत्पादयति ।

सस्कृत सरलार्थ—मनसि चिन्तयन् राजा कथयति—मत मेतत् यत् प्रिया शकुन्तला न लभ्या सुखेन अपितु बहुप्रयत्नसाध्या एव, किन्तु मे मन तदनुरागव्यञ्जक भावदर्शनजन्यप्राप्तिसम्भावनया समाश्वस्तमस्ति, अचरितार्थेऽपि कामे आवयो पारस्परिकानुराग प्रीति जनयत्येव ।

स्मितमिति—(मन ही मन मुस्कराकर) इसी प्रकार अपने अभिप्राय (प्रयोजन) के अनुकूल ही अपने प्रियजन के भी मनोभावो की सम्भावना कर लेने वाला प्रेमी जन उपहास को प्राप्त करता है, अर्थात् लोग उसकी हँसी उडाते हैं ।

टिप्पणी

वाणासनहस्ताभि—वाणासन धनु हस्ते यासा ताभि । वाणा अस्यन्ते प्रक्षिप्यन्ते अनेनेति वाणासनम्, वाण+अस्+ल्युट करणे । **यवनीभि** सञ्चारिकायें । प्राचीन काल मे यवनी नाम की राजाओ की वे सेविकायें होती थी जो कि गृहकक्षो मे घूमने फिरने वाली तथा वनों एव उपवनों में राजाओ के साथ रहने वाली होती थी । शिकार के समय में शिकारी वेष मे रहतीं, वन पुष्प माला धारण करती और राजा के धनुष को लेकर साथ-साथ चलती थी, इन्हे सञ्चारिका एव यवनी कहा जाता था "गृहकक्षाविचारिण्य तथोपवनसंचरा । सञ्चारिकास्तु ता ज्ञेया यवन्योऽपि मता क्वचित्" । इनको यवनी इसलिये कहा जाता था क्योकि यह फारस से सेविका के रूप में लाई जाती थी कालिदास ने यवन शब्द का प्रयोग यूनानी फारसी अरबी आदि लोगों के लिये किया है, दण्डी ने भी अरब निवासियो के लिये यवन शब्द का प्रयोग किया है, यवन शब्द से हमे आज कल के मुसलमानों का ही ग्रहण न करना चाहिये, सस्कृत ग्रन्थो मे इसका प्रयोग बडे व्यापक

(ख) राजा—स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत् किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ॥२॥

अर्थ मे हुआ है "पारसीकांस्ततो जेतुम्" रघु० चतुर्थ सर्ग। यवनीमुखपद्मानाम् सेहे" रघु० चतुर्थसर्ग। अगभङ्ग विकल —अगाना भङ्गेन विगता कला यस्य स ।

कामम—भवत्वेतत् मतमेतत् अव्ययपदम्। सुलभा—सु+लभ+खल (अ) टाप्, क्योकि उसका विवाह असन्निहित महर्षि कण्व की इच्छा पर निर्भर है, वह इस विषय मे स्वतन्त्र नही। आश्वासि—आश्वसिति—आ+श्वस ताच्छील्ये णिनि। अकृतार्थ —न कृत सम्पादित अर्थ प्रयोजन येन स ।

आत्माभिप्राय० आत्मन अभिप्रायेण सम्भाविता इष्टजनस्य चित्तवृत्ति येन स —आत्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्ति । प्रार्थयिता=प्रार्थना करने वाला प्रेमीजन। अभि+प्री+धञ्=अभिप्राय अथवा अभि+प्र+अय्+घञ्। यहाँ विलास नामक प्रतिमुख सन्धि का अंग है "समीहारतिभोगार्थो विलास इति कथ्यते" सा० द०।

स्निग्धमिति अन्वय—अन्यत अपि नयने प्रेरयन्त्या तया यत् स्निग्धम् वीक्षितम् नितम्बयो गुरुतया विलासात् इव यच्च मन्द यातम्, मा गा इति उपरुद्धया सा सखी यदपि सासूयम् उक्ता, तत्सर्वम् मत्परायण किल, ओह कामी स्वताम् पश्यति।

शब्दार्थ—अन्यत अपि=दूसरी ओर भी अर्थात् लता वृक्षादि पर भी, नयने प्रेरयन्त्या तया=अपने नेत्रो को डालते हुए उसके द्वारा, (प्रेरयन्त्या के स्थान मे प्रेषयन्त्या भी पाठ है। पर अर्थ मे कोई अन्तर नही। अर्थात् अपनी दृष्टि को इधर-उधर लता वृक्षादि पर डालते हुए भी उसके द्वारा यत स्निग्ध वीक्षितम्=जो कि प्रेम या अभिलाषापूर्वक (मेरी ओर) सव्याज नेत्रतारिकाओ को घुमाते हुए देखा गया था। नितम्बयो गुरुतया=कटिपश्चाद् भाग के भारी होने के कारण, विलासात् इव=मानो लीलापूर्वक अर्थात् कटाक्षभ्रूविक्षेपादि आङ्गिक चेष्टायें दिखाती हुई-सी, यच्च मन्द यातम्=जो कि वह धीरे धीरे चली थी। मा गा इति उपरुद्धया='मत जाओ' यह कर रोकी गई उसके द्वारा, यद्यपि सा सखी सासूयम् उक्ता=जो अपनी सखी प्रियवदा से कुछ ईर्ष्यापूर्वक कहा गया था, तत्सर्वं मत्परायण किल=निश्चय ही वह यह सब कुछ मेरे लिए ही था अर्थात् यह सब कुछ मुझे लक्ष्य करके ही और दिखलाकर ही किया गया था। अहो कामी स्वतां पश्यति=ओह कामी जन सर्वत्र अपनी ही बात देखता है अर्थात् भले ही कोई कार्य उसके उद्देश्य से न किया गया हो पर कामीजन उस सब को अपने लिए ही किया गया मानने लगता है। दूसरे के स्वाभाविक भावों एवं चेष्टाओ को वह अपने जैसा ही और अपने लिए ही समझने लगता है। यही आश्चर्य है।

अनुवाद—दूसरी ओर अर्थात् लता वृक्षादि पर भी अपनी दृष्टि को डालते हुए जो उसके द्वारा (मुझे) प्रेमपूर्वक देखा गया था, नितम्ब भागो की स्थूलता के कारण मानो विलासपूर्वक जो कि उसके द्वारा मन्द मन्द चला गया था, और "मत जाओ" यह कहकर रोकी गई उसके द्वारा जो अपनी सखी प्रियवदा से ईर्ष्यापूर्वक कहा गया था, यह सब कुछ मुझे लक्ष्य करके ही कहा या दिखलाया गया था, आश्चय है कि कमीजन सवत्र अपना भाव ही देखता है, दूसरो के द्वारा अन्य किसी उद्देश्य से किया गया काय या कही हुई बात को कामीजन अपने लिए ही समझने लगता है।

भावाथ—दुष्यन्त शकुन्तला द्वारा प्रदर्शित भावो का स्मरण कर अपने मन मे सोचता है कि उसके द्वारा प्रदर्शित ये सब भाव वस्तुत मेरे लिए ही थे। स्वाभाविक लज्जावश अपनी दृष्टि को इधर उधर डालते हुए भी जो उसने नेत्रतारिकाओ को सव्याज घुमाकर साभिलाष मुझे देखा था, नितम्बो की स्थूलता के कारण जो वह मानो लीलापूवक धीरे धीरे चली थी तथा प्रियवदा के यह कहने पर कि मत जाओ, जो उसने उससे ईर्ष्यापूर्वक कहा था कि तुम मुझे भेजने वाली अथवा रोकने वाली कौन हो, मैं चाहे जाऊँ या न जाऊँ। उसके ये सब प्रदशन और कथन वस्तुत मुझे लक्ष्य करके ही थे, अत स्पष्ट है कि वह भी मुझ पर अनुरक्त है। इतना समझने पर भी वह पुन सोचता है कि यह कितनी विचित्र बात है कि कामीजन सवत्र अपना भाव ही देखता हैं, अन्य के द्वारा अन्य के उद्देश्य से भी किये गये काय को वह अपना ही समझने लगता है।

विशेष—सामान्य द्वारा विशेष समथन रूप **अर्थान्तरन्यास**, सम्पूर्ण श्लोक मे **स्वभावोक्ति**, विलासादिव मे **उत्प्रेक्षा** अलकार है, छेक वृत्ति अनुप्रास—शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—अन्यत अपि—अन्यस्या दिशि, अन्यवस्तुषु वा, नयने=नेत्र युगलम्, प्रेरयन्त्या=स्फुट पातयन्त्या अपि, तया शकुन्तलया यद् स्निग्धम्=साभिलाषम्, वीक्षितम्=सव्याज मवलोकितम्। नितम्बयो=कटिपश्चाद्भागयो, गुरुतया= स्थूलतया, विलासान् इव=मा मवलोक्य कटाक्षभ्रूविक्षेपादिक्रियासु वैशिष्ट्य मुत्पाद्य इव, यत् मन्द यातम्=यत् शनै शनै सव्याज गतम्, यदपि=अपि च, मा गा= मा गच्छ इत्युक्त्वा, उपरुद्धया=निवारितगमनया तया, सा सखी=उपरोधकारिणी सखी प्रियवदा, सासूयम्=ईर्ष्यया सहितम्, यदुक्ता=अभिहिता, तत्सर्वं=तस्या गमनावलोकनकथनादिक सवमेव, मत्परायणम्=मदथमेवानुरागप्रकटनपरम्, (आसीत्) अहो=आश्चयविषयोऽय यत् कामी=विषयाभिलाषी जन सवत्र, स्वता पश्यति= आत्मीयभावानुरूप मेव सम्भावयति।

सस्कृतसरलाथ—शकुन्तलाकृतचेष्टा सस्मृत्य दुष्यन्तश्चिन्तयति=इतस्ततोऽन्यवस्तुषु स्वदष्टि प्रक्षिपन्त्यापि तया यदह साभिलाष वीक्षित, नितम्बस्थौल्यात्तया यल्लीलापूवक मन्द मन्द यातम्, एव गमनोपरोधकारिणी सखी प्रियवदा यत्तया सासूयमभिहिता, एतत्सव तस्या विलोकनगमनकथनादिक मदथ मेवानुराग

विदूषक—(तथास्थित एव) भो वयस्य, न मे हस्तपाद प्रसरति। वाङ्मात्रेण जापयिष्यामि। जयतु जयतु भवान्। [भो वअस्स, ण मे हत्थपाआ पसरन्ति। वाआमेत्तएण जीआवइस्सं। जेदु जेदु भव।]

राजा—(सस्मितम्) कुतोऽय गात्रोपघात ?

विदूषक—कुत किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारण पृच्छसि। [कुदो किल सअ अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारण पुच्छेसि।]

राजा—न खल्ववगच्छामि ?

प्रकटनपर मासीत्, वैचित्र्यमिद यद् विषयाभिलाषी जन सर्वमात्मीयभावमेव सम्भावयति नान्यत्।

टिप्पणी

स्निग्धम्—स्निह्+क्त। विलासात्=इष्टजन को देख कर स्त्रियो मे जो शृङ्गारिक भाव विशेष उत्पन्न होता है उसे विलास कहते हैं "यानस्थानासनादीना मुखनेत्रादि कर्मणाम्, विशेषस्तु विलास स्यादिष्टसन्दर्शनादिना"। विलासो हाव भेदे स्यात्। अथवा "यो वल्लभासन्नगतो विकारो गत्यासनस्थानविलोकनादौ नानाविधाकूति चमत्कृतिश्च पराङ्मुख चास्यमय विलास" गमनासनपाणिपादचेष्टा सविशेष नयनभ्रुवा च कर्म दयितोपगमे यदप्रयत्नात् क्रियते नूनमय विलास उक्त"। **वीक्षितम्**—वि+ईक्ष्+क्त। यातम्=या+भावे क्त। सासूयम्=आसूयया सह सासूयम् सहस्य सादेश। स्वताम्=स्वस्य भाव स्वता ताम्। मा गा—इण्गतौ लुङि मध्यम पुरुषैक वचने इण गादेश माङ्योगे अडभाव। **मत्परायणम्**—अहमेव परम् अयनम् आश्रयो वा यस्य तत्। परायण का यहाँ अर्थ लक्ष्य या उद्देश्य है। **कामी**—कामोऽस्यास्तीति कामी—काम+इनि। विषयाभिलाषी जन प्रत्येक वस्तु, कार्य, और कथन को अपनी ही दृष्टि से देखता, समझता और मानता है, भले ही वे अन्य किसी उद्देश्य से किये गये हों, वह इष्ट व्यक्ति की प्रत्येक चेष्टा को अपने लिये ही की जाती हुई मानता है।

विदूषक—(पूर्वोक्त प्रकार से ही काष्ठ के डण्डे का आश्रय लिए खडा हुआ ही।) हे मित्र! मेरे हाथ-पैर नहीं फैल रहे हैं अर्थात् (अङ्ग भङ्ग हो जाने के कारण शिथिल हो गये हैं, निर्जीव से ज्ञात हो रहे हैं। अत वाणी से ही (बिना हाथ उठाये) आपका जयघोष करूँगा। जय हो आपकी जय हो।

राजा—(हँसकर) इस प्रकार से (तुम्हारा) अङ्ग-भङ्ग कैसे हुआ ?

विदूषक—हे मित्र! स्वय मेरे नेत्रो को चोट पहुँचाकर (स्वय) क्यो (मुझ से) आसुओ का कारण पूँछ रहे हो ?

राजा—सचमुच! मैं तुम्हारे (कथन का) तात्पय समझ नही पा रहा हूँ।

विदूषक—भो वयस्य ! यद्वेतस कुब्जलीलां विडम्बयति, तत्किमात्मन प्रभावेण, ननु नदीवेगस्य ? [भो वअस्स ! ज वेदसो खुज्जलील विडम्बेदि, त कि अत्तणो पहावेण ण णईवेअस्स ?]

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ?

विदूषक—ममापि भवान् । मम वि भव ।]

राजा—कथमिव ।

विदूषक—एव राजकार्याण्युज्झित्वा तादृश आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम् । यत्सत्य प्रत्यह श्वापदसमुत्सारणै सक्षोभितसन्धिबन्धाना मम गात्राणामनीशोऽस्मि सवृत्त । तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितु मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम् । [एव्व राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवित्तिणा तुए होदव्व । ज सच्च पच्चह सावद-समुच्छारणेहि सखोहिअ सधिबन्धाण मम गत्ताण अणीसो म्हि सवुत्तो । ता पसादइस्स विसज्जिदु एकाह वि दाव म विस्समिदु ।]

विदूषक—मित्र ! (किनारे पर स्थित) बेंत जो कि झुक जाते हैं, तो क्या वे स्वय अपने कारण झुकते हैं अथवा नदी का वेग (प्रवाह) उसमे कारण है ?

राजा—(बेंत की वक्रता) इसका कारण नदी का (तेज प्रवाह) वेग ही है।

विदूषक—मेरे भी (अङ्ग-भङ्ग हो जाने के) कारण आप ही हैं।

राजा—वह किस प्रकार ? अर्थात् तुम्हारे अङ्ग-भङ्ग का कारण मैं किस प्रकार हूँ ?

विदूषक—इस प्रकार से राज्य कार्यों को छोडकर उस प्रकार के (विभिन्न हिंसक वन्य पशुओ से युक्त) वन प्रदेश में वनवासियो अथवा भीलो की वृत्ति का आचरण करना क्या आपको उचित है ? आपके सवथा अनुकूल है ? सच तो यह है कि जगली जीवो के (हाँकने हेतु) घोडे पर अनुगमन करते-करते मेरे शरीरावयवो के सन्धि स्थलो के ढीले हो जाने के कारण मैं अपने ही अवयवो का स्वामी नही रह गया हूँ अर्थात् मेरे शरीर के अङ्ग भङ्ग होने के कारण मैं स्वय ही असमथ हूँ। अत मुझे आप एक दिन के लिए ही विश्राम के लिए छोड देने के लिए प्रसन्न हो।

टिप्पणी

वयस्य=मित्र—विदूषक राजा का मित्र होता है अत वह राजा को वयस्य कहकर सबोधित करता है। 'विदूषकेण वक्तव्यो—वयस्येति च भूपति' । वनचर=जगली जन, वने चरतीति वनेचर किरात । "चरेष्ट" इति ट् प्रत्यय । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक । वनचर—एक जाति विशेष है सभवत जिन्हे किरात कहा जाता है अथवा भील । 'भेदा किरातशबरपुलिन्दा-म्लेच्छ जातय इत्यमर' ।

राजा—(स्वगतम्) अथ चैवमाह। ममापि काश्यपसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः। कुतः—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥३॥

जापयिष्यामि=जि+णिच्+लट्। जि के इ को आ 'अति ह्री' से पुक् (प)। हस्तपादम्=हस्तौ च पादौ चेति द्व द्वे प्राणितूर्य स एकवचन क्लीवत्व च।

गात्रोपघात=गात्राणा उपघात (षष्ठी तत्पुरुष) गात्र का प्रयोग एकवचन में शरीर अर्थ का बोधक होता है तथा बहुवचन शरीरावयव द्योतक होता है। सवृत्त=सम्+वृ+क्त।

विडम्बयति—अनुकरण करता है, **श्वापद**—शुन पदानि श्वापदानि 'शुनो दन्त इत्यादिना आकार श्वापदानिइव पदानि येषा ते श्वापदा।

राजा—(अपने मन मे) और यह (विदूषक) इस प्रकार से कह रहा है। मेरा भी मन कण्वपुत्री (शकुन्तला) का स्मरण कर शिकार करने से उदासीन हो गया है अर्थात् अब मैं भी शिकार के लिए उत्सुक नही हू, क्योकि—

न नमयितुमिति अन्वय—अधिज्य आहितसायकम् इद धनु मृगेषु नमयितु न शक्त अस्मि। यै प्रियाया सहवसितम् उपेत्य मुग्धविलोकितोपदेश कृत इव।

शब्दार्थ—अधिज्य=डोरी अथवा प्रत्यञ्चा जिस पर चढी हुई हैं, आहितसायकम्=जिस पर बाण चढा हुआ है, इद=इस, धनु=धनुष को मृगेषु=हिरणो पर (अथवा वन्य पशुओ पर), नमयितु=चलाने के लिए, न शक्त=समर्थ नही। अस्मि=हूँ। यै=जिन्होने अर्थात् मृगो ने (मानो) प्रियाया=प्रिया शकुन्तला के 'सहवसति'=सहवास अथवा सान्निध्य को, उपेत्य=प्राप्त करके, मुग्धविलोकितोपदश=मधुरता से देखने की शिक्षा, कृत इव=मानो प्रदान की है।

अनुवाद—मैं (राजा दुष्यन्त) प्रत्यञ्चा चढे हुए एव बाण से युक्त इस धनुष को उन हिरणो पर चलाने मे सक्षम नही हूँ, जिन्होने मेरी प्रिया (शकुन्तला) के सहवास को प्राप्त कर मानो (उसे) मधुर एव मोहक दृष्टिपात का उपदेश दिया है।

भावार्थ—जब विदूषक ने राजा को शिकार के प्रति अपनी अरुचि का कारण बताया तो राजा दुष्यन्त ने विचार किया कि वस्तुत मैं भी इस समय शिकार करने के उत्साह से रहित हो गया हूँ, कारण कि ये भोले मृग स्निग्ध दृष्टि से युक्त है। प्रिया शकुन्तला ने मानो इन्हीं मृगो से मनोहर दृष्टिपात अथवा मधुर कटाक्ष करने की शिक्षा

विदूषक—(राज्ञो मुखं विलोक्य) अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये मया रुदितमासीत्। [अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मन्तेदि। अरण्णे मए रुदिअं आसि।]

प्राप्त की है। अत फिर यह कैसे सभव है कि मैं इन पर बाण चला सकू क्योकि प्रिया शकुन्तला को ये प्रिय भी है तथा इन्होने उसे मुग्धविलोकन भी सिखाया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे उत्तरार्ध पूर्वार्ध का कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार। कृत इव मे उत्प्रेक्षालकार, वृत्ति, श्रुति अनुप्रास, पुष्पिताग्रा नामक छन्द है।

संस्कृत-व्याख्या—अधिगता अध्यारूढा ज्या प्रत्यञ्चा यस्मिन् तत्—अधिज्यम्—अधिगतमौर्वीकम्, आहित सयोजित सायक बाण यस्मिन् तत्—आहितसायकम्=समारोपितशरम् इदम्=पुरो वर्तमानम्, धनु=शरासनम्, मृगेषु=हरिणेषु, नमयितुम्=व्यापारयितुम्, न शक्त=न समर्थोऽस्मि। यै=मृगै, प्रियाया=शकुन्तलाया, सहवसितम्=सहवासम् एकत्रवासजन्यमित्रत्वमित्यर्थ, उपेत्य=प्राप्य, मुग्धानि स्वभाव सुन्दराणि यानि विलोकितानि विलोकनानि तेषाम् उपदश—शिक्षणम्—मुग्धविलोकितोपदेश, कृत इव=दत्त इव।

संस्कृत सरलार्थ—विदूषकस्य मृगयारुचिमभिज्ञाय दुष्यन्तश्चिन्तयति—अहमपीदानी मिदमधिगतमौर्वीक समारोपितशर शरासन तेषु मृगेषु व्यापारयितु मक्षमोऽस्मि, यै मृगै, सहवास प्राप्य मम प्रियाया शकुन्तलाया स्वभावसुन्दरावलोकनस्योपदेश दत्त इवेति।

टिप्पणी

नमयितुम्=नम+णिच्+तुमुन्। **अनुस्मृत्य**=अनु+स्मृ+ल्यप् (क्त्वा) **प्रिय**=प्री+क, इगुपधज्ञाप्रीकिर क से क प्रत्यय टाप। **आहित**=आ+धा+क्त (धा को हि)।

अधिज्यम्—अधिगता ज्या यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)।

मुग्धविलोकितोपदेश—मुग्धस्य विलोकितस्य उपदेश (तत्पुरुष)।

यहा दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति अनुराग व्यञ्जित हो रहा है। क्योकि प्रत्येक प्रिय को अपने प्रिय व्यक्ति की प्रत्येक वस्तु प्रिय होती है। शकुन्तला के नेत्र एव उनकी चितवन ठीक मृग नेत्र तुल्य है अत मृग भी राजा को प्रिय है प्राय नायिकाओ की आँखो का मृग के समान होना ही सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता है। 'मेघदूतम्' का यक्ष प्रिया की दृष्टि मृगियो की दृष्टि मे ही देखता है—"श्यामास्वङ्ग चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्"।

विदूषक—(राजा के मुख की ओर देखकर) महाशय! आप कुछ मन मे रखकर विचार कर रहे हैं। (तब क्या) मैने अरण्य रोदन ही किया अर्थात् **व्यर्थ मे ही अपनी व्यथा आपको सुनाई?**

राजा—(सस्मितम्) किमन्यत् ? अनतिक्रमणीय मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि ।

विदूषक—चिरजीव । [चिर जीअ ।]

(इति गन्तुमिच्छति ।)

राजा—वयस्य, तिष्ठ । सावशेष मे वच ।

विदूषक—आज्ञापयतु भवान् । [आणवेदु भव ।]

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्येकस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम् ।

विदूषक—किं मोदकखादिकायाम् । तेन ह्यय सुगृहीत क्षण । [किं मोदअखज्जिआए । तेण हि अअ सुगहीदो खणो ।]

राजा—यत्र वक्ष्यामि । क कोऽत्र भो ।

(प्रविश्य)

दौवारिक—(प्रणम्य) अज्ञापयतु भर्ता [आणवेदु भट्टा ।]

राजा—(मुस्करा कर) और क्या ? (आप जैसे) मित्र के वचन उल्लघनीय नही हैं (यही सोचकर) चुप खडा हू ।

विदूषक—आप आयुष्मान् हो । (ऐसा कहकर जाने लगता है)

राजा—सखे ! ठहरो अभी (मैंने) पूरी बात नही कही है ।

विदूषक—आप आज्ञा करें ।

राजा—विश्राम करने के पश्चात् आपको मेरे एक अत्यन्त सरल से काय मे सहायक होना है ।

विदूषक—लड्डू खाने मे ? तब तो यह निमन्त्रण (मुझे) सर्वथा स्वीकार है ।

राजा—जिस (काय) के लिए मैं कहूँगा । यहाँ कौन है ?

(प्रवेश करके)

दौवारिक—(प्रणाम करके) आज्ञा दीजिए स्वामी !

टिप्पणी

सावशेषम्—अवशेषेण सह (बहु०) अर्थात बात अभी अधूरी है ।

विश्रान्तेन—विश्राम करके । विश्रान्त—वि+श्रम्+क्त । **मन्त्रयते**—मन ही मन सोच रहे है । **अणये रुदितम**=अरण्य रोदन—व्यथ प्रयास—अर्थात् जिस प्रकार वन मे रुदन अथवा करुण क्रन्दन को कोई नही सुनता, कारण, कि वहाँ कोई भी व्यक्ति नहीं रहता (अरण्य से अभिप्राय निजन वन से है) इसी प्रकार से विदूषक की बात का उत्तर न देकर राजा मौन हो गया था । अत विदूषक ने इसे 'अरण्यरोदन' अर्थात् मेरा कहना व्यथ ही हुआ इस मुहावरे का यहाँ प्रयोग किया है । **अनायासे**—

राजा—रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम् ।

दौवारिक—तथा । (इति निष्क्रम्य सेनापतिना
एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति । उपसर्पतु आर्य ।
[एसो अण्णावअणुक्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि । उवसप्पदु
अज्जो ।]

सेनापति—(राजानमवलोक्य) दृष्टदोषापि स्वामिनि मृगया केवल
गुण एव सवृत्ता । तथा हि देव—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्र व्यायतत्वादलक्ष्य
गिरिचर इव नाग प्राणसार बिभर्ति ।।४।।

अविद्यमान आयास यस्मिन् । अर्थात सरल काय जो कि विदूषक के लिए मोदक-भक्षण
ही है । **मोदक मोदयते**—मुद्+णिच्+ण्वुल् (अक) ।

राजा—रैवतक ! सेनापति को बुलाओ ।

द्वारपाल—जैसी आज्ञा (यह कहकर निकल कर पुन सेनापति के साथ प्रवेश
करके) यह महाराज (दुष्यन्त) आज्ञा देने के लिए उत्सुक होकर इधर की ओर ही
दृष्टि लगाये स्थित हैं । आय ! समीप जाँय ।

सेनापति—(राजा की ओर देखकर), यद्यपि शिकार मे (अनेक) दोष देखे गये
हैं तथापि (वही शिकार) महाराज (दुष्यन्त) के विषय मे केवल गुण ही बन गई हैं,
क्योकि—

अनवरत इति अन्वय—गिरिचर नाग इव (देव) अनवरतधनुर्ज्यास्फालन-
क्रूरपूर्वम् रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् अपचितम् अपि व्यायतत्त्वात् अलक्ष्य
प्राणसार मात्र बिभर्ति ।

शब्दार्थ—गिरिचर =पवतचारी, नाग =हाथी, इव=के समान, (देव =
आप) अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम्=निरन्तर धनुष की प्रत्यञ्चा खीचने से
जिसका पूवभाग कठोर हो गया है, रविकिरणसहिष्णु=सूय की किरणो को सहन
करने वाला, स्वेदलेशैं अभिन्नम्=थोडे से भी पसीने से रहित, अपचितम=परिश्रम से
दुबल, अपि=भी, व्यातयतत्वात=विशाल एव दृढ होने के कारण, अलक्ष्यम्=दुबल
जैसा न लक्षित होने वाला, **प्राणसारम**=प्राण शक्ति सम्पन्न, गात्रम्=शरीर का,
बिभर्ति=धारण करते है ।

अनुवाद—पर्वतचारी हाथी के समान (आप) लगातार धनुष की डोरी खीचने से जिसका अगला भाग कठोर हो गया है, जो कि सूय किरणो को सहन करने वाला, थोडे से भी पसीने से रहित, परिश्रमवश दुबल भी विशाल एव दढ होने के कारण दुबल जैसा न दिखाई पडन वाला, प्राण शक्ति सम्पन्न शरीर को धारण करते है।

भावाथ—राजा के उपर्युक्त सभी विशेषण पवतचारी गज के पक्ष मे भी लगाये जा सकते है, गजपक्ष मे "**अनवरतेत्यादि** पद का अथ होगा—धनुर्ज्या अर्थात् प्रियालुद्रुम की भूमि मे—निर तर प्रियालु द्रुम की भूमि मे आस्फालन (सघषण) से जिसके शरीर का पूव भाग कठोर हो गया है तथा जो रविकिरण सहिष्णु और स्वेद से रहित है, जगली होन के कारण जिसका दुबल भी शरीर दुबला जैसा लक्षित् नही होता ऐसा गज प्राणशक्ति सम्पन्न शरीर का धारण करता है। उक्त विशेषणो से राजा का दिव्यास्त्रसहन याग्यत्व, दुख सहिष्णुत्व, श्रमशीलत्व आदि द्योतित किया गया है। पवतचारी होना' उसके स्वात त्र्य का द्योतक है।

विशेष—साभिप्राय विशेषणो के कारण **परिकरालकार**, श्लेष, छेक, वृत्ति, श्रुति अनुप्रास, उपमालकार, तथा मालिनी नामक छन्द है "न न म य य युतेय मालिनी भोगिलोके।"

सस्कृत व्याख्या—गिरिषु चरतीति गिरिचर =पवतचारी नाग = गज इव, (देव) अनवरत धनुष ज्याया आस्फालनेन क्रूर कठोर पूर्व शरीरस्य पूर्वभाग वक्ष स्थल मित्यथ यस्य तत्—अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूवम=निरन्तर शरासन-प्रत्यञ्चाकषणकठोरवक्ष स्थलम्, गजपक्षे—अनवरत धनुष प्रयालतरो ज्याया भूमे आस्फालनेन धषणेन कर कठिनी कृत पूव भाग यस्य तत्—अनवरतधनुर्ज्या-स्फालनक्रूरपूवम्, रवे सूयस्य किरणान रश्मीन् सोढु शील यस्य तत्—रविकिरण सहिष्णु, स्वेदस्य लेशै,—धर्मजन्यप्रस्वेदकणै अभिन्नम्=विरहितम्—अपचितम्= मृगयाजन्यपरिश्रमेण क्षीणम् अपि, व्यायतत्वात्=विशालत्वात दृढत्वाच्च शरीरस्य, अलक्ष्यम=कृशत्वेन न लक्ष्यम, प्राणो वल मेव सार स्थिरांशो यत्र तत् प्राणसारम् शक्तिसम्पन्नम, गात्रम्=शरीरम्, विभर्ति=पुष्णाति।

सस्कृत सरलाथ—सेनापति दुष्यन्त मालक्ष्य कथयति—देव इदानी प्राणशक्ति सम्पन्न सुदढशरीर धारयति, इद भवत शरीरम—निरन्तर शरासनगुणाकषणकठोर वक्ष स्थलम सूयरश्मिसहिष्णु प्रस्वेदकणरहित, मृगयाश्रमेण दुबलमपि विशालत्वात् दृढत्वाच्च दुवलमिव न प्रतीयमान वतते। अपि तु मृगयाजन्यश्रमेण पवतचारिणो भ्रमणशीलस्य गजस्य शरीर मिव विशेषप्राणवलसम्पन्न लक्ष्यते।

टिप्पणी

गिरिचर—गिरौ चरतीत्यर्थे चरेष्ट इति चर धातोष्ट प्रत्यये गिरिचर। **अनवरतेति०** धनुस्सज्ञा प्रियालद्रौ राशिभेदे शरासने इति विश्व, ज्या मौर्वी च वसु धरे इति धारणि। **सहिष्णु**—सह+इष्णुच। भिन्नम=भिदिर+क्त धातो दकारस्य प्रत्ययतकारस्य च रदाभ्यामिति नत्वम्। **अपचितम्**—अप+चि+क्त। **लक्ष्यम्**—

(उपेत्य) जयतु जयतु स्वामी । गृहीतश्वापदमरण्यम् ? किमन्यत्राऽवस्थीयते ?

राजा—मन्दोत्साह कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन ।

सेनापति —(जनान्तिकम्) सखे, स्थिरप्रतिबन्धो भव । अह तावत् स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये । (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष वैधेय । ननु प्रभुरेव निदर्शनम् ।

मेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्य वपु
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्त भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष स च धन्विना यदिषव ,सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग् विनोद कुत ॥५॥

लक्ष्+यत् । विभर्ति—वि+भृ+लट् । व्यायतत्वात—वि+आ+यम्+क्त=व्यायत—तस्य भाव तस्मात् । सेनापति —मत्स्य पुराण के अनुसार सेनापति मे ये गुण होने चाहिए "कुलीन शीलसम्पन्नो धनुर्वेदविशारद । हस्तिशिक्षाश्वशिक्षासु कुशल श्लक्ष्णभाषण । निमित्ते शकुनज्ञाने वेत्ता चैव चिकित्सिते । कृतज्ञ कर्मणा शूरस्तथा क्लेशसह ऋजु । व्यूहतत्त्वविधानज्ञ फल्गुसारविशेषवित् । राजा सेनापति कार्यो ब्राह्मण क्षत्रियोऽथवा" । दृष्टदोषा—दृष्टा दोषा यस्या सा । शिकार खेलना राजा के लिए दुर्व्यसन माना गया है" पान स्त्री मृगया द्यूत व्यसनानि महीपते " कामन्दक नीति सार" । गुण एव=नीतिकारो के अनुसार दुर्व्यसन होता हुआ भी यह आपके विषय मे गुण ही हो गया है ।

(पास जाकर) जय हो महाराज की जय हो । जगल मे वन्य पशु घेर लिए गये हैं । तो अब आप अन्यत्र क्यो बैठे हुए हैं, अर्थात् अब आपको शिकार के लिए चल देना चाहिए ।

राजा—आखेट की निन्दा करने वाले माधव्य (विदूषक) ने मेरा (आखेट के प्रति) उत्साह मन्द अर्थात् कम कर दिया है ।

सेनापति—(हाथ की आड मे विदूषक के प्रति) मित्र ! तुम अपने ही आग्रह पर स्थिर रहो । मैं तब तक स्वामी (महाराजा) की चित्तवृत्ति (आकाङ्क्षा) का अनुसरण करूगा । (प्रकट) इस मूख को बकने दीजिये । निश्चय ही महाराज (आप ही) ही इस विषय मे प्रमाण हैं ।

मेदश्छेदेति अन्वय—वपु मेदश्छेदकृशोदर लघु उत्थान-योग्य भवति । सत्त्वानां भयक्रोधयो विकृतिमत् चित्तम् अपि लक्ष्यते । स च धन्विनाम् उत्कष यत् चले लक्ष्ये इषव सिध्यन्ति । मृगया मिथ्या एव व्यसनं वदन्ति, ईदृग्, विनोद कुत ।

शब्दार्थ—वपु =शरीर, मेदश्छेदकृशोदरम=चर्बी के छँट जाने से पतले उदर वाला, लघु=हल्का, उत्त्थान योग्यम=सरलता से उठने योग्य अर्थात् चुस्त एव

उत्साह पूर्ण, भवति=हो जाता है, सत्त्वानाम्=वन्य पशुओ का, भयक्रोधयो=भय और क्रोध के (अवसर पर) विकृतिमत्—विकार को प्राप्त अर्थात् बिगडा हुआ, चित्तम=मन, अपि=भी, लक्ष्यते=जान लिया जाता है। स च धन्विनाम् उत्कर्ष = और धनुर्धारियो के लिए यह गौरव की बात है यत् चले लक्ष्ये इषव सिध्यन्ति=कि उनके बाण चञ्चल लक्ष्य पर भी सिद्ध हो जाते हैं। मृगयाम्—शिकार को, मिथ्यैव= व्यर्थ ही, व्यसन वदन्ति, (मनु आदि धर्मशास्त्र प्रणेता एव कामन्दक आदि नीतिशास्त्र प्रणेता जन) दुर्व्यसन कहते हैं। ईदृग् विनोद कुत=मृगया के अतिरिक्त इस प्रकार का मनोविनोद और कहाँ से हो सकता है।

अनुवाद—शरीर अर्थात् शिकारी का शरीर, चर्बी छँट जाने से पतले उदर वाला, हलका (और) सरलता से उठने योग्य, स्फूर्तिमय चुस्त एव उत्साह सम्पन्न (हो जाता है) वन्य पशुओ का, भय और क्रोध की अवस्था मे विकार ग्रस्त चित्त भी जान लिया जाता है, धनुधरियो की यह (सब मे बडे) गौरव की बात है, कि (शिकार करने मे) उनके बाण चञ्चल लक्ष्य पर भी सिद्ध हो जाते है। (मनु आदि नीति शास्त्रज्ञ जन) व्यथ ही मृगया को दुर्व्यसन कहते हैं, मृगया के अतिरिक्त ऐसा मनोविनोद और कहाँ से मिल सकता है अर्थात् कही से भी नही।

भावार्थ—सेनापति मृगया के गुणो की प्रशसा करता हुआ राजा से कहता है कि मृगया मे शिकारी का शरीर स्थूल नही रह जाता अपितु चर्बी छँट जाने से वह पतले उदर वाला एव हलका तथा सरलता से उठने बैठने दौडने योग्य, चुस्त एव उत्साहपूर्ण हो जाता है। वन्य पशुओ का क्रोध की अवस्था मे तथा भयभीत होने पर कैसा विकारग्रस्त चित्त हो जाता है, यह भी शिकारी को ज्ञात हो जाता है और सबसे अधिक लाभप्रद बात यह है कि शिकारी के बाण, भागते एव उछलते कूदते हुए भी लक्ष्य पर सफल हो जाते हैं। चञ्चल लक्ष्य पर बाण का ठीक निशाना लगना ही धनुर्धारियो की सबसे बडी विशेषता है। इतने गुणों के होते हुए भी जो मनु आदि ऋषि जन शिकार की निन्दा करते हैं, वह व्यथ है, सच तो यह है कि मृगया जैसा मनोविनोद अन्य किसी भी वस्तु से नही मिलता।

विशेष—प्रस्तुत मे 'च' समुच्चयार्थ है अत क्रिया समुच्चयालकार है। श्लोक की प्रथम तीन पक्तियाँ मृगया के दोषाभाव कथन मे कारण है अत काव्यलिङ्ग अलकार है। शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है।

'जयतु स्वामी' से लेकर यहाँ तक 'दाक्षिण्य' नामक नाटकीय भूषण है "चित्तानुवर्तन यत्र दाक्षिण्य मितीरितम अथवा दाक्षिण्य चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम्। "दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्यु मृदव हि तत्" आचार्य विश्वनाथ के इस कथन के अनुसार यहाँ 'मृदव' नामका वीथि का अग भी है।

सस्कृत व्याख्या—वपु=मृगयापरायणस्य जनस्य शरीरम् मेदस वसाया शरीरस्थौल्यवर्धक धातुविशेषस्येत्यर्थ, छेदेन ह्रासेन कृशम क्षीणम् उदर यस्मिन् तत्—मेदश्छेदकृशोदरम् (अतएव) लघु=भारहीनम, उत्थानयोग्यम्=झटिति समुत्थाय

विदूषक—(सरोषम्) अपेहि रे उत्साहहेतुक। अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि [अवेहि रे उच्छाहहेनुअ। अत्तभव पकिदि आपण्णो। तुम दाव अणवीदो अडवी आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्ण रिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि।]

समुद्योगसम्पादनक्षम सवविधकायसम्पादनाय क्रियाशीलम भवति=जायते। सत्त्वानाम्=सिंहव्याघ्रमृगादिव यपशूनाम्, भयक्रोधयो=भीतिकाले क्रोधकाले च विकृतिमत्=विकारयुक्त विक्षुब्ध वा, चित्तम्=मन अपि, लक्ष्यते विज्ञायते। स च=एष च, धन्विनाम=धनुर्धारिणाम्, उत्कष=गौरवविषय, नैपुण्यम वा, यत् चल=गतिशीले, लक्ष्ये=शरव्ये, इषव=शरा, सिध्यन्ति=सफलीभवन्ति। (मन्वादय धम शास्त्र प्रणेतार) मिथ्यैव=व्यथ मेव, मृगयाम=आखेटम्, व्यसनम् दुर्गुणदोषोत्पादक वा, वदन्ति=कथयन्ति, ईदक=एतादृश, विनोद=मृगयासदृश मनोरञ्जनम्, कुत=कस्माल्लभ्यते न कुतोऽपीत्यथ।

सस्कृत सरलार्थ—मृगयागुणान निर्दिशन् सेनापति राजान कथयति—मृगयागुण विषये तु भवानेव निदशनम्, यतो हि मृगयाशीलस्य जनस्य वपु, वसाह्रासेन क्षीणोदर, भारहीनम् सवकायक्षम जायते, मगयाशीलो जन एव केवल सिंहव्याघ्रादिवन्य पशूना भयकाले क्रोधकाले च विक्षुब्ध चित्त ज्ञातु शक्यते, अयमस्ति धनुष्मता सर्वोत्कृष्टो गौरवविषय यत्तेषा बाणा गतिशीलेऽपि लक्ष्ये सफली भवन्ति। सत्स्वप्येतेषु गुणेषु यद्धमशास्त्रप्रणेतारो मृगया दुर्व्यसन कथयन्ति तन्मुधैव। मृगयाया सन्ति वहव स्वास्थ्य-वधका मनोरञ्जनसाधका गुणा अतो न मृगया दोषाय।

टिप्पणी

मृगयापवादिना—मृगया मपवदितु शीलमस्य तेन। **माढव्येन** के स्थान पर माधव्येन भी पाठ है। माधवे वसन्ते माधु माधव्यस्तेन। **स्थिरप्रतिबन्ध**—स्थिर प्रतिबन्ध यस्य स, मृगया से रोकने के आग्रह मे दढ रहना, **वैधेय**—वि+धा+कमणि यत विधेयम् विधान तस्यायमधिकारी विधेय शब्दात् तस्येदमित्यण वैधेय, पर यहाँ इसका अथ मूख है **निदर्शनम**—नि—दश+ल्युट् उदाहरण अथवा प्रमाण, मृगया मे कितने अधिक गुण हैं इस बात के लिए आप ही प्रमाण हैं। **छेद**—छिदिर+घञ्। **कृश**—कृश तनू करणे क प्रत्यय। **उत्थानम्**—उद+स्था+ल्युट्। **विकृतिमत्**—विकृति विद्यते यस्मिन् तत्। **धन्विनाम**—धनुमस्यास्तीत्यर्थे इनि प्रत्यये धन्वी तेषाम् "धन्वा तु मरुदेशे ना क्लीव चापे स्थलेऽपि च इत्यमर" व्यसनम् व्यस्यते परि-ह्रीयते कतव्यादनेनेति व्यसनम—वि+अस्+ल्युट्। मनु ने मगया को कामजव्यसन कहा है। कालिदास ने रघुवश सग ९ मे मृगया के गुणो का वणन किया है। वि+नुद्+घञ विनोद।

विदूषक—(क्रोधपूवक) अरे उत्साह के (एकमात्र कारण भूत) उत्पन्न करते

राजा—भद्र सेनापते, आश्रमसन्निकृष्टे स्थिता स्म । अतस्ते वचो नाभिनन्दामि । अद्य तावत्—

गाहन्ता महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्राम लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥६॥

वाले दूर हट । महाराज अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्राप्त हो गये हैं । तुम एक वन से दूसरे वन प्रदेश मे घूमते हुए मनुष्य की नासिका के लोभी (आकाङ्क्षी) किसी भालू के मुख मे पड़ोगे ?

राजा—सेनापति ! हम आश्रम के निकट ही ठहरे हुए है । अत तुम्हारे कथन (विचार) से मैं सहमत नही हूँ । अत आज तो—

गाहन्तामिति-अन्वय—महिषा शृङ्गैः मुहु ताडित निपानसलिल गाहन्ताम् । छायाबद्धकदम्बक मृगकुल रोमन्थम अभ्यस्यतु । वराहपतिभि विश्रब्ध पल्वले मुस्ताक्षति क्रियताम् । शिथिलज्याबन्ध इदम—अस्मद्धनु च विश्राम लभताम् ।

शब्दार्थ—महिषा =भैंसे, शृङ्गैः =सीगो के द्वारा, मुहु =बार-बार, ताडित= विलोडित किये गये, निपानसलिलम्=सरोवर के जल को, गाहन्ताम्=अवगाहन करें । छायाबद्धकदम्बकम्=छाया मे झुण्ड बनाने वाला, मृगकुलम्=हिरणो का समूह, रोमन्थम्—जुगाली का अभ्यस्यतु=अभ्यास करे, वराहपतिभि =बड़े-बड़े शूकरो द्वारा, विश्रब्ध=विश्वासपूवक (बिना किसी भय के) पल्वले=पोखरों मे, मुस्ताक्षति = नागरमोथा (पथ्वी को खोदकर मिट्टी निकालने की क्रिया), क्रियताम्=करें, इद च= और यह, शिथिलज्याबन्धम=शिथिल प्रत्यञ्चा बधन वाला, अस्मत् धनु = हमारा धनुष, विश्राम=विराम, लभताम्=प्राप्त करे ।

अनुवाद—(जङ्गली) भैंसे अपने सीगो से बार बार विलोडित किये गये सरोवर के जल में स्वेच्छापूवक अवगाहन करें, स्नान करें । (वृक्षो) की छाया मे गोल बनाकर एकत्र हुए हिरन निर्भय होकर जुगाली करें । बड़े-बड़े जङ्गली शूकर निश्चिन्त होकर तालाबो मे अथवा पोखरो मे नागरमोथा खोद कर निकालें और हमारा यह धनुष जिसकी प्रत्यञ्चा का बन्धन शिथिल कर दिया गया है, अब विश्राम करे ।

भावार्थ—विवेक, दया, त्याग, क्षमा आदि उदात्त मानवीय गुणो से युक्त होने के कारण ही मनुष्य पशुओ से श्रेष्ठतम माना गया है । जहाँ किसी व्यक्ति के अन्त करण में कठोरता विद्यमान होती है, वहाँ उसके हृदय मे दया, त्याग आदि सद्गुणों की सत्ता भी व्याप्त रहती है, अवसर के प्राप्त होने पर, वे ही दया आदि भाव जाग्रत हो

जाते है। शकुन्तला के प्रेम मे विभोर हुए राजा को आश्रम (कण्व के आश्रम) की सभी वस्तुओं से प्रेम हो गया है। अत राजा अब शिकार करने मे असमर्थ है अब उसके वाण मानो वन्य जीवो पर चलने की शक्ति मे रहित हो गये हैं। शिकार से इस प्रकार विरक्त हृदय वाला राजा दुष्यन्त आदेश देता है कि अब वन्य जीव स्वछन्द होकर (शिकार के भय से रहित) अपने अपने क्रियाकलापो मे भाग ले। यथा—हिरणो का स्वभाव है, वृक्ष की छाया मे गोल बाधकर बैठना, वराहो द्वारा नागरमोथा—उखाड कर खाना, भैसो द्वारा जलावगाहन किया जाना, अत आज सभी जगली पशु अपने अपने कार्य मे निर्भय होकर सलग्न हो जाएँ और शिथिल प्रत्यञ्चा वाला मेरा यह धनुष भी विश्राम ले।

विशेष—काव्यप्रकाशकार आचार्यमम्मट ने प्रस्तुत पद्य के तृतीय चरण मे 'प्रक्रम भङ्ग' दोष माना है क्योकि पूर्व के दो चरणो मे कर्तृवाच्य तथा तृतीय चरण मे कर्मवाच्य का प्रयोग है। कार्य कारण की एक साथ उक्ति (कथन) होने के कारण यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

पद्य के तीनो चरणो मे गाहन्ताम् क्रियताम् तथा अभ्यस्यतु आदि के समुच्चय के कारण क्रियासमुच्चय अलङ्कार है तथा प्राणियो की स्वाभाविक चेष्टाओ के वर्णन करने के कारण यहाँ स्वाभावोक्ति अलकार भी है।

सस्कृत व्याख्या—महिषा =वन्यलुलाया, शृङ्गै =विषाणै, मुहु =पुन पुन (भृश) नितरामत्यर्थ, ताडित =विलोडितम निपानसलिलम—निपानस्य जलाशयस्य—सलिल तोयम्, गाहन्ताम् =आलोडयन्तु। छायासु वद्ध कदम्बक येन तत छायावद्धकदम्बक अनातपप्रदेशवद्धयूथम् मृगकुलम्=हरिणसमूह, रोमन्थम्=चर्वितचर्वणम् अभ्यस्यतु=पौन पुण्येन कुर्वन्तु। वराहाणा पतय तै =वराहपतिभि =श्रेष्ठवराहै, विश्रब्ध=निर्भय नि शक वा, पल्वले=स्वल्पतोययुक्ते सरोवरे जलाशये वा, मुस्ताक्षत्ति =तृणविशेषाणा उत्खनम (कार्यम्) क्रियताम्=विधीयताम्, शिथिल ज्याया वन्ध यस्मिन् तत्—शिथिलज्यावन्धम्=अवरोपितमौर्वीकम्,इदम्=एतत्, अस्मद्धनु =मम दुष्यन्तस्य कार्मुकम्, च, विश्राम लभताम्=शान्ति मवाप्नोतु।

सस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलाकृष्टमानसो नृपति मृगयोत्साहवधक सेनापतिवचन मुपेक्ष्य कथयति—अद्य तावत, वन्यलुलाया स्वविषाणै सरोवरजलानि पुन पुन कलुषीकृत्य तत्र स्वेच्छयावगाहन कुर्वन्तु, छायायामेकत्रीभूय मृगसमूह चर्वितचर्वण विदधातु, निर्भया वराहपतय क्षुद्रजलाशयेषु मुस्तामूलोत्पाटन कुर्वन्तु, शिथिलीकृत गुणवन्धमिद मम धनुश्चेदानी शान्ति मवाप्नोतु।

टिप्पणी

"(सरोषम्) अपेहि रे उत्साहहेतुक" यह पाठ सभी पुस्तको मे नही है, अत इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिये। **प्रकृतिमापन्न**—अपनी स्वाभाविक स्थिति मे आ गये हैं, नाभिनन्दामि=समर्थन नही करता हूँ। **मुहु ताडितम्**—भैसो का यह स्वभाव

सेनापति—यत् प्रभविष्णवे रोचते ।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान् वनग्राहिण । यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्या । पश्य—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढ हि दाहात्मकमस्ति तेज ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता-
स्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ॥७॥

होता है कि वे अपने सीगो से सरोवरो के आस-पास की मिट्टी काट कर जल को गन्दा करके तब उसमे लोटते है। **रोमन्थम**—खाये हुए को चबाना, जुगाली करना। **मुस्ताक्षति**—वन्य वराह स्वभावत जलगर्तो मे उगने वाली मुस्ता (मोथा) घास की जडो को निकाल कर खाते हैं। बहुप्रचलित शब्द विश्राम यद्यपि पाणिनि व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नही है क्योकि वि+श्रम+घञ यहा पर "नोदात्तोपदेश" से वृद्धि निषेध होकर विश्रम ही बनेगा, तथापि स्वार्थे मे प्रज्ञादिभ्यश्च से अण करके विश्राम भी बन सकता है। अत इसे सहसा अशुद्ध नही कहा जा सकता।

सेनापति—जो महाराज को रुचिकर लगे अर्थात् जैसी इच्छा।

राजा—तो (वन घेरने के लिए) आगे गये हुए वन घेरने वालो को लौटा लो मेरे सैनिको को इस प्रकार से निवारण कर दो ताकि वे तपोवन (आश्रम) मे विघ्न उत्पन्न न करें।

पश्य=देखो—

शम-इति अन्वय—शमप्रधानेषु तपोधनेषु दाहात्मक गूढ तेज अस्ति। हि स्पर्शानुकूला सूयकान्ता इव अन्य तेजोऽभिभवाद् तत् वमन्ति।

श०दाथ—शमप्रधानेषु=शान्तिप्रधान, तपोधनेषु=तपस्वियो मे (तप ही है धन जिनका), दाहात्मक=जलाने वाला, तेज=तेज, गूढम्=गुप्त, छिपा हुआ अस्ति=विद्यमान रहता है। हि=निश्चय ही, स्पर्शानुकूला=स्पश के योग्य (जिसे स्पर्श किया जा सके) सूयकान्ता=मणि विशेष, इव=समान अथवा तरह, अन्य=किसी दूसरे के, तेजोऽभिभवाद्=तेज से तिरस्कृत होने से, तत्=उस (गुप्त तेज) को, वमन्ति=प्रकट करते हैं।

अनुवाद—शम ही है प्रधान जिनमे अर्थात् शान्त तपस्वियो मे जला देने वाला गुप्त (छिपा हुआ) तेज रहता है स्पश के योग्य सूयकान्त मणियो के तुल्य (ये तपस्वी) किसी अन्य के तेज से अभिभूत होने से उस (तेज को प्रकट कर देते हैं)।

भावाथ—सासारिक प्रपञ्चो से निरतिशय अनासक्त ऋषि वस्तुत शान्ति प्रधान अर्थात् शान्त चित्त वृत्ति वाले होते हैं, तथापि वे गुप्त तेज (क्रोध) से रहित हो ऐसी बात नही क्योकि किसी भी व्यक्ति द्वारा व्यथ ही मे अपमानित किये जाने पर ये ऋषिगण गुप्त

सेनापति—यदाज्ञापयति स्वामी ।

विदूषक—ध्वसता त उत्साहवृत्तान्त । [धसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो ।]

(निष्क्रान्त सेनापति ।)

अपने तेज को प्रकट कर देते हैं । जैसे सूयका त मणियो का स्पश सुखद होता है तथापि सूय की किरण पडते ही वे जलाने लगती हैं। तपस्वी भी अपने तिरस्कार का बदला लेने हेतु तेज को धारण करते हैं। अत चक्रवर्ती सम्राट् होते हुए भी दुष्यन्त ने अपने सैनिको से आश्रम मे बाधा डालने से मना किया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे ऋषियो की आध्यात्मिक शक्ति एव उनके तपोबल पर प्रकाश डाला गया है । ब्रह्म वचस्व से देदीप्त होने के कारण ही राजा सवदा तपस्वियो को सम्मान प्रदान करते थे ।

"स्पर्शानुकूला इव सूयका ता" मे उपमालङ्कार है । यहाँ उपजाति नामक छन्द है इन्द्रवज्रा एव उपे द्रवज्रा से मिल कर यह छ द बनता है ।

सस्कृत व्याख्या—शम प्रधान येषु तेषु—शमप्रधानेषु=परमशा तिसम्पन्नेषु, तप एव धन येषु तेषु—तपोधनेषु उत्कृष्टतपस्विषु, दाह आत्मा स्वभाव यस्य तत्—दाहात्मकम्=भस्मीकरणस्वभावकम्, गूढम्=प्रच्छन्नम्, तेज =ब्रह्मवच , अस्ति=भवति, हि=यतो हि, स्पशस्य अनुकूला—स्पर्शानुकूला=प्रच्छन्नतेजस्कत्वेन सुख-स्पर्शा, सूयका ता=सूयकिरणसम्पर्केणानलोद्गारिण , मणिविशेषा , इव, अन्यस्य राजादे तेजसा अभिभव पराभवस्तस्मात्—अन्यतेजोऽभिभवात्, तद्=गूढात्मक तेज , वमन्ति=प्रकटयन्ति ।

सस्कृत सरलार्थ—यथा भस्मीकरणस्वरूप गूढ तेज सूर्यकान्तमणिषु भवति तथैव शान्तिप्रियेष्वपि तपस्विषु अपि भवति । प्रच्छन्नतेजस्कत्वेन यथा सूर्यकान्तमणय सुखस्पर्शा भूत्वापि सूयकिरणसम्पर्केणानलोद्गारिणो जायन्ते तथैव तपस्विनोऽपि राजादेस्तेजसा-भिभूता स्वकीय दाहात्मक गूढ तेज प्रकटयन्ति ।

टिप्पणी

प्रभविष्णवे—प्रभवितु शीलमस्येत्यर्थे – प्र—भू+इष्णुच, 'रोचते' इति योगे 'रुच्यर्थाना प्रीयमाण ' इति चतुर्थी । स्पृश+ घञ=**स्पर्श** । **शम**—श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयेभ्यो मनसो निग्रह शम , इन्द्रिय विषयो से मन का निग्रह ही शम है, तपस्वियो में सयम या इन्द्रियनिग्रह होता है । **गूढम**—गुह +क्त । **तेज वमन्ति** तेज को प्रकट कर देते हैं, शापादि के द्वारा भस्म कर देते हैं, अत किसी भी प्रकार ऋषिजनो का अपमान न किया जाना चाहिए, और न उनके यज्ञानुष्ठानादि कर्मों मे विघ्न किया जाना चाहिए।

सेनापति—जो महाराज की आज्ञा ।

विदूषक—तेरे उत्साह देने वाली बातो का विनाश हो ।

(सेनापति का प्रस्थान)

राजा—(परिजन विलोक्य) अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेशम् । रैवतक, त्वमपि स्वनियोगमशून्य कुरु ।

परिजन — यद् देव आज्ञापयति । [ज देवो आणवेदि ।]

(इति निष्क्रान्त ।)

विदूषक — कृत भवता निर्मक्षिकम् । साम्प्रतमेतस्मिन् पादपच्छाया-विरचितवितानसनाथे शिलातले निषीदतु भवान्, यावद्अहमपि सुखासीनो भवामि । [किद भवदा णिम्मच्छिअ अ । सपद एदस्सि पादवच्छाआविरइद-विदाणसणाथे सिलाअले णिसीददु भव, जाव अह वि सुहासीणो होमि ।]

राजा—गच्छाग्रत ।

विदूषक —एतु भवान् । [एदु भव ।]

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ ।)

राजा—माधव्य, अनवाप्तचक्षु फलोऽसि । येन त्वया दर्शनीय न दृष्टम् ।

विदूषक —ननु भवानग्रतो मे वर्तते । [ण भव अग्गदो मे वट्टदि ।]

राजा—सर्व खलु कान्तमात्मीय पश्यति । तामाश्रमललामभूता शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

विदूषक —(स्वगतम्) भवतु, अस्यावसर न दास्ये । (प्रकाशम्) भो

राजा—(परिचारको को लक्ष्य कर) तुम सब अपने शिकार के (परिधान विशेष) वस्त्रो को उतार दो । रैवतक ? तुम भी अपना काय पूरा करो ।

परिचारकगण—जैसी महाराज की आज्ञा । (निकल जाते हैं ।)

विदूषक—आपने सब मक्खिया उडा दी । अब इस वृक्ष की छाया मे बने लता-मण्डप से युक्त शिलापटट पर आप विराजें जब तक मैं भी सुखपूवक (आराम से) बैठता हूँ ।

राजा—अच्छा, आगे आगे चलो ।

विदूषक—आप (भी) आयें ।

राजा—माधव्य ! तुमने नेत्रो का फल प्राप्त नही किया है, क्योकि तुमने देखने योग्य वस्तु को (तो) देखा ही नही ।

विदूषक—आप मेरे समक्ष विद्यमान हैं ही ।

राजा—सभी (व्यक्ति) आत्मीयजन को सुन्दर मानते हैं । मैं तो (कण्व के) आश्रम की शोभा की (एकमात्र) आधारभूत उस शकुन्तला को लक्ष्य करके कह रहा हूँ ।

विदूषक—(मन मे) अच्छा मैं इन्हे (शकुन्तला विषयक वार्तालाप के लिए अवसर ही नही दूगा । मित्र ! तुम उस तापसबाला के इच्छुक दिखाई दे रहे हो ।

वयस्य, ते तापसकन्यकाभ्यर्थनीया दृश्यते। [होदु, म अवसर ण दाइस्स। भो वअस्स, ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि।]

राजा—सखे न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणा मन प्रवतते।

सुरयुवतिसभव किल मुनेरपत्य तदुज्झिताधिगतम।
अर्कस्योपरि शिथिल च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ८ ॥

राजा—मित्र ! त्याज्य वस्तु की ओर पुरवशियो का चित्त प्रवत नहीं होता अर्थात् आकर्षित नही होता।

सुरयुवतीति-अन्वय—शिथिलम् अकस्य उपरिच्युत नवमालिका कुसुमम् इव तत् मुने अपत्य किल सुरयुवतिसभवम् उज्झिताधिगतम्।

शब्दार्थ—शिथिलम्=डण्ठल से टूटा हुआ, अकस्य-आक-(धतूरा) के, उपरि=ऊपर, च्युत=गिरा हुआ, नवमालिकाकुसुमम्=चमेली के पुष्प की, इव=तरह, तत्=वह शकुन्तला, मुने=मुनि की (ऋषि कण्व की) अपत्य=सन्तान (कन्या), किल=वस्तुत तो, सुरयुवती=अप्सरा (मेनका से), सभवम्=उत्पन्न हुई है, उज्झित=छोडी जाने पर (माता के द्वारा त्यक्त) अधिगतम्=प्राप्त हुई है। (ऋषि कण्व को)।

अनुवाद—डण्ठल से टूटे हुये (अतएव) आक के पौधे पर गिरे हुए चमेली के पुष्प के समान वह (ऋषि कण्व की पुत्री) शकुन्तला (मेनका) अप्सरा की पुत्री है (माता द्वारा) त्याग दिये जाने पर वह (ऋषि को) प्राप्त हुई है।

भावार्थ—तुम तापस कन्या के इच्छुक हो यह कहे जाने पर राजा विदूषक को शकुन्तला विषयक वस्तुस्थिति का बोध कराता है कि वस्तुत शकुन्तला ऋषि की पुत्री अर्थात् उनसे उत्पन्न नही है, प्रत्युत् वह तो मेनका अप्सरा की पुत्री है जो माता के द्वारा त्याग दिये जाने पर ऋषि को उसी प्रकार से प्राप्त हुई है जैसे अत्यन्त कोमल चमेली का पुष्प डठल से च्युत होकर आक पर गिर पडे। दुष्य त का अभिप्राय विदूषक को यह बोध करना है कि शकुन्तला वास्तव म—ऋषि कन्या अर्थात् ब्राह्मण बालिका नही है प्रत्युत् क्षत्रिय वाला है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे उपमालङ्कार है। छन्द आर्या है। यहाँ आख्यान नामक नाट्यालङ्कार है, क्योकि यहाँ पूववत्त का वणन है "आख्यान पूववृत्तोक्ति"।

सस्कृत व्याख्या—शिथिलम=स्ववृन्तात् विश्लथम (अतएव) अकस्य=मन्दार-वृक्षस्य, उपरि, च्युतम=गलित पतित वा, नवमालिकाया सप्तलताया कुसुम=पुष्पम्, नवमालिकाकुसुमम्, इव, तत=सा शकुन्तला, मुन कण्वस्य, अपत्यम सन्तति सुरयुवति, मेनका, तस्या अप्सरस सम्भवतीति-सुरयुवति सम्भवम्—उज्झितम्—तथा मेनकया परित्यक्त सत् अधिगतम प्राप्तम—उज्झिताधिगतम अस्ति।

सस्कृत सरलार्थ—राजा विदूषक कथयति यत्सा शकुन्तला न ब्राह्मणस्य महर्षे कण्वस्य पुत्री अपितु सा मेनकाख्यसुरयुवतिसम्भवा अस्ति, तया मेनकया परित्यक्ता

सा मुनिना पालिता, पालकत्वादेव कण्वस्य तस्या पितृत्वम् न तु सा तदात्मजेय मिति तस्या परिग्रहे न कोऽपि दोष । सा तु कालतालीय यायेनैव मुनिना तथैव समुपलब्धा यथा कदाचित् स्ववृन्तात् विश्लथ सत् नवमालिकापुष्प म दारवृक्षोपरि निपतित स्यात् ।

टिप्पणी

ध्वसताम त् उत्साह वृत्तान्त—मृगया के लिये उत्साहवधक "गहीतश्वापद मरण्यम" आदि तुम्हारी बात नष्ट हो ध्वस कमणि लोट । **स्वनियोग मशून्य-कुरु** यह वास्तव मे नाटको मे प्रयुक्त एक मुहाविरा है जिसका तात्पय होता है, आप जाइये और अपना काम कीजिये । **कृत भवता निमक्षिकम**—मक्षिकाणाम भाव अव्ययी भाव यह भी एक प्रकार का मुहाविरा ही है, आपने सभी मक्खियाँ उडा दी अर्थात् सभी अवाञ्छित लोगो को हटा कर इस स्थान को एका त वार्ता योग्य बना लिया है' **पादप०** वृक्ष की छाया से बने वितान (चँदोवा) से युक्त—पादपस्य छायया विरचितेन वितानेन सनाथे—युक्ते । अ य प्रतियो मे "एतस्या पादपच्छायाया विरचितलता-वितान दशनीयायामासने" यह भी पाठ है, पर अथ मे कोई विशेष अ तर नही है । पादपस्य छाया इस विग्रह मे वस्तुत पादपच्छायम् प्रयोग बनता है । पादै पिवतीति पादप—पाद+पा+क । वितन्यते विस्तीयते वितानम्=वि+तन् कमणि घञ । **सुखासीन** सुखेन आसीन—सुख+आस्+शानच् । **अनवाप्तचक्षु फल**—न अवाप्त प्राप्त चक्षुषौ नेत्रयो फलम्—दशनीयवस्तुदशनरूप फलम येन स । **सर्व कान्त मात्मीय पश्यति**—विदूषक के कहने का तात्पय यह कि आप तो मेरे सामने हैं ही भला आपसे सुन्दर और कौन हो सकता है, राजा कहता है कि अपन को अथवा अपने प्रियजन को तो सभी सु दर समझत हैं । **आश्रमललामभूताम्**— आश्रमस्य ललामभूता सुप्सुपेति समास । **अधिकृत्य**—लक्ष्य करके ।

कुछ विद्वानो के अनुसार "राजा माढव्य ! यहाँ से लेकर तृतीयाङ्क की समाप्ति तक प्रतिमुख सधि है "बीजप्रकाशन यत्र दृश्यादृश्यतया भवेत तत्स्यात् प्रतिमुखम्" जहाँ पर बीज का दश्य और अदृश्य रूप से प्रकाशन होता है वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है । बि दु नामक अथ प्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था से मिलकर इस सन्धि के १३ अग होते है । 'वि दु प्रयत्नानुगमादङ गा यस्य त्रयोदश" । पर अधिकांश विद्वानो ने द्वितीयाङ्क के आरम्भ से ही प्रतिमुख स धि मानी है और यही उचित भी जान पडता है । **विन्दु**—"प्रयोजनाना विच्छेदे पदवच्छेद कारणम् । यावत्समाप्तिव धस्य स वि दु रिति स्मृत " राजा—माधव्य ! यहाँ से पुन कथासूत्र जोडा गया है । **प्रयत्न**—"अपश्यत फलप्राप्ति यो व्यापार फल प्रति । पर चौसुक्य गमन प्रयत्न स प्रकीर्तित "यथा राजा-तपस्विभि कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि"। **सुरयुवति सम्भवम**—सुरयुवति सम्भव उत्पत्तिस्यान यस्य तत । अपत्यम्—न पतन्ति पितरो येन जातेन तत्, नञ्—पत् करणे यत्=अपत्यम् ।

विदूषक—(विहस्य) यथा कस्यापि पिण्डखर्जू रैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना। [जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअ अब्भत्थणा।]

राजा—न तावदेना पश्यसि येनैवमवादी।

विदूषक—तत्खलु रमणीय यद् भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति। [त क्खु रमणिज्ज ज भवदो वि विम्हअ उप्पादेदि।]

राजा—वयस्य, किं बहुना—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या ॥९॥

विदूषक—जिस प्रकार (निरन्तर) पिण्ड खजूरो से अरुचि प्राप्त (व्यक्ति) की इमली मे इच्छा होती है, उसी प्रकार (अ त पुर की) श्रेष्ठतम स्त्रियो के (उपभोग से) (अरुचि प्राप्त) आपकी यह प्राथना है।

राजा—तुमने जब तक उसे (प्रिया शकुन्तला) देखा नही है इसलिए इस प्रकार कह रहे हो।

विदूषक—निश्चय ही वह रमणीय होगी जो कि आपको भी आश्चय उत्पन्न कर रही है।

राजा—मित्र ! अधिक क्या कहूँ।

चित्र इति अन्वय—धातु विभुत्वम्, तस्या वपु च अनुचि त्य मे सा विधिना चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा, मनसा नु रुपोच्चयेन कृता, अपरा स्त्रीरत्न सृष्टि प्रतिभाति।

श०दाथ—धातु =प्रजास्रष्टा ब्रह्मा के, विभुत्वम्=सामथ्य अथवा रचना नैपुण्य पर, तस्या वपु च=और उस शकुन्तला के शरीर पर, अनुचिन्त्य=पुन पुन विचार करके, मे सा=वह शकु तला मुझे, विधिना=ब्रह्मा के द्वारा, चित्रे निवेश्य=चित्रफलक पर रख कर, परिकल्पितसत्वयोगा=जिसमे प्राणो का सचार कर दिया गया है, नु=अथवा (ब्रह्मा के द्वारा) मन से ही, रूपोच्चयेन=सौन्दय समूह से, कृता=बनाई गई, अपरा=विलक्षणा ही, स्त्रीरत्न सृष्टि =स्त्री रत्न की रचना, प्रतिभाति=प्रतीत होती है।

अनुवाद—प्रजा स्रष्टा ब्रह्मा के सामथ्य अथवा सष्टि रचना नैपुण्य पर और उस शकुन्तला के शरीर पर पुन पुन विचार करके, वह शकुन्तला मुझे, ब्रह्मा के द्वारा

चित्रफलक पर रखकर जिसमे प्राणो का सचार कर दिया गया है अथवा जिसे (ब्रह्मा) ने मन से ही सौ दय समूह से बनाया है ऐसी विलक्षण ही स्त्रीरत्न रचना प्रतीत होती है।

भावार्थ—राजा विदूषक से कहता है कि उस शकुतला के सौ दय के विषय मे मैं और अधिक तो क्या कहूँ, इतना ही पर्याप्त है कि उसे या तो ब्रह्मा ने चित्र-फलक पर रखकर उसमे प्राणो का सचार कर दिया है अथवा उसे अपने मन से ही सौ दय समूह से बनाया है वस्तुत ब्रह्मा के रचना चातुय और उसके शरीर पर बार-बार विचार करने पर मुझे तो वह एक विचित्र ही स्त्री रत्न की सृष्टि प्रतीत होती है, वह कोई साधारण सुदरी नही है या तो वह ब्रह्मा की मानसी सृष्टि है अथवा ब्रह्मा ने पहले उसका चित्र बनाकर फिर उसमे जीवन सचार कर दिया है, अत वह अपूर्व सुन्दरी है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में 'मनसा नु' मे **सन्देहालकार** है, कोई आचाय नु का अथ वितक लेते हैं अत **उत्प्रेक्षालकार**, स्त्रीरत्न सृष्टि होकर भी वह अपरा है अत भेदारोप से अभेद मे भेद लक्षणा **अतिशयोक्ति** है, चतुथ चरण, प्रथम तीन चरणो का कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, श्रुति, वृत्ति, अनुप्रास, वसततिलका छन्द है "ज्ञेया वसन्त तिलका त भजा जगौ ग"।

सस्कृत व्याख्या—धातु = ब्रह्मण, विभुत्वम् = सामथ्यम् सृष्टिरचनानैपुण्यं वा, तस्या शकुतलाया, वपु = शरीरम च, अनुचिन्त्य = विचाय, सा = शकुन्तला, मे = मम = दुष्यन्तस्य, विधिना ब्रह्मणा चित्रे = आलेख्ये प्रतिरूपके वा, निवेश्य = आलिख्य, परिकल्पित कृत सत्त्वस्य योग जावनस्य सचार यस्या सा—परिकल्पित सत्वयोगा, मनसा नु = किं चित्तेनैव, रुपोच्चयेन = सौ दयसमूहेन, कृता = निर्मिता, अपरा = अपूर्वा एव, स्त्रीरत्नसृष्टि = रमणीरत्ननिर्मित्ति प्रतिभाति = प्रतीयते।

सस्कृत सरलाथ—राजा शकुन्तलासौन्दयविषये विदूषक कथयति—यत्सा शकुतला वस्तुत ब्रह्मण विलक्षणा एव रमणीरत्नानिर्मित्ति अस्ति, ब्रह्मण सृष्टिरचना कौशल तस्या शरीरञ्च पुन पुन विभाव्य एव प्रतीयते यत्सा विधिना प्रतिरूपके समालिख्य कृतजीवनसचारा अस्ति अथवा सा तेन स्वचित्तेनैव सौ दयसमूहेन निर्मितास्ति।

टिप्पणी

उद्वेजित०—उत् + विज + णिच + क्त जो ऊब चुका है, जिसे अरुचि उत्पन्न हो गयी है। **परिभाविन**—के स्थान पर परिभागिन भी पाठ है—पर प्रथम पाठ ही प्रसगानुकूल है। **निवेश्य**—नि + ण्यन्त विश्+क्त्वा ल्यप, **मनसा**—हाथ से बनाने मे सम्भवत उतनी सुदरता न आती अत मन से ही कल्पित कर उसे सर्वाङ्ग सुदर बनाया है। **अपरा**—न विद्यते परा यस्य सा अपरा = अनन्यसौ दयशालिनी अपूव लावण्यवती, जैसी कि ब्रह्मा न तो पहले कभी बना सके थे और न भविष्य मे ही बना सकेंगे। **उच्चय**—उत् + चि = अच्। **धातु**—दधातीति धाता तस्य—धा + तृच्।

विदूषक—यद्येव, प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम । जइ एव्व, पच्चादेसो दाणि रूववदीण ।]

राजा—इद च मे मनसि वर्तते ।

अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै-
रनाविद्ध रत्न मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्ड पुण्याना फलमिव च तद्रूपमनघ
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ १० ॥

अनुचिन्त्य—अनु+चिती सज्ञाने क्त्वा ल्यप् । कालिदास सौन्दर्योपासक है उनकी प्राय सभी नायिकाये इसी प्रकार की अपूव सुन्दरी है । **यक्षिणी**—"या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातु" विक्रमोवशीय की **उवशी**—अस्या सगविधौ निर्मातु प्रभवेन् मनोहर मिद रूप पुराणो मुनि" । **पावती**—सर्वोपमा द्रव्य समुच्चयेन एकस्थ सौन्दय दिहक्षयेव" । तस्मिन् विधानातिशये विधातु कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये" रघुवश । इसी आधार पर श्रीहष ने भी दमयन्ती को चन्द्रसारनिर्मित बना दिया है हृतसारमिवे दुमण्डल दमयन्तीवदनाय वेधसा ।

विदूषक—यदि (तुम्हारा कथन) सत्य है तब तो अब (सभी) सुन्दरी स्त्रियाँ तिरस्कृत हो गइ ।

राजा—मित्र ! मेरे मन मे तो यह बात है ।

अनाघ्रातमिति अन्वय—अनघ तद्रूपम अनाघ्रात पुष्पम, कररुहै अलूनम् किसलयम, अनाविद्ध रत्नम, अनाम्वादितरसम् नव मधु=पुण्याना च अखण्ड फलम् इव, विधि इह क भोक्तार समुपस्थास्यति इति न जाने ।

शब्दार्थ—अनघ=दोषरहित अर्थात् परम पवित्र, तद्रूपम्=उसका रूप-सौन्दय (शकुन्तला का लावण्य), अनाघ्रात—न सूघे गये पुष्पम्=कुसुम के (सदृश है), कररुहै=नाखूनो से, अलूनम=न काटे गय, किसलयम्=नवीन कोमल पल्लव (के सदृश), अनाविद्ध=न वेधा गया, रत्नम=मणि (है), अनास्वादित=जिसका रसास्वादन नही किया गया है, ऐसा वह नव=नवीन, मधु=(शहद) पुण्याना च=और सत्कर्मो का, अखण्ड=अक्षत, फलम् इव=फल के समान है, विधि=विधाता, क=किसको (किस सौभाग्यशाली को), भोक्तार=उपभोग करने वाला, समुपस्थास्यति=प्रस्तुत करेगा, इति=यह, न जाने=नही जानता हूँ ।

विशेष—दोषरहित (परमपवित्र) उस (शकुन्तला) का सौन्दय (किसी के द्वारा) न सूघा गया पुष्प (है), नाखूनो से न छेदा गया कोमल पल्लव (है), न काटा गया अथवा वेधा गया रत्न (है) तथा जिसके रस का (अभी तक) आस्वादन नही किया गया (ऐसा) नवीन मधु (है) (जन्मान्तरो के सचित) सत्कर्मों का अक्षय फल के समान (इस सौन्दय स्वरूप वाली शकुन्तला) का विधाता किसको उपभोक्ता बनायेगा

अर्थात् इसके उपभोग करने का सौभाग्य न जाने किस सौभाग्यशाली को प्राप्त होगा, यह मैं नही जानता।

भावार्थ—महाकवि कालिदास रमणीयता की उपासना करने वाले साधक कवि है। उनकी दृष्टि मे वही स्वरूप रमणीय है, जो निष्कलङ्क हो, परम पवित्र एव सद्गुणो से समन्वित हो। दूषित लावण्य तो उनकी दृष्टि मे हेय है। कालिदास के अनुसार अभिनन्दनीय एव सद्गुणो से युक्त लावण्य जन्मान्तरो के पुण्यो से ही प्राप्त होता है। सचमुच शकुन्तला के भी निर्दोष रूप का उपभोग करने वाला कोई पुण्यशाली ही होगा क्योकि इस प्रकार का अर्थात् मधुर, पवित्र नवीन मधु जैसा अर्थात् नवीन युवावस्था मे वर्तमान तथा पल्लव की भाँति कोमल एव शुचि रमणीयता सौभाग्य से ही प्राप्त होती है।

विशेष—यहाँ गुण सङ्कीर्तन नामक नाट्य लक्षण है। सभी उपमानो के साथ '**इव**' को वाचक शब्द के रूप मे सयुक्त करने पर यहा मालोपमा अलङ्कार है। अनाघ्रात, अनाविद्धादि शब्द साभिप्राय प्रयुक्त हुए है, अत परिकर अलङ्कार है। "शोभा" नामक नायिकालकार है, "रूप यौवनलालित्यभोगाद्यै रङ्गभूषणम"

यहाँ शिखरिणी नामक छन्द है—

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागा शिखरिणी।"

दशरूपककार ने प्रस्तुत पद्य को शोभा नामक नायिकालङ्कार के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया है।

संस्कृत व्याख्या—अनघम=निर्दोषम परमपवित्र मित्यर्थ, तद्रूपम्=तस्या रूपम शकुन्तलाया लावण्यम, अनाघ्रात पुष्पम=न केनापि गृहीतगन्धम कुसुमम् (इव अस्ति), कररुहै=नखै, अलूनम=अच्छिन्नम्, किसलयम्=नव पल्लवम् इव अस्ति, अनाविद्धम्=अक्षतम, रत्नमिव=मणिरिवास्ति, अनास्वादितरसम्=अगृहीतास्वादम्—नव मधु इव=नवीन नूतन वा क्षौद्रमिवास्ति, पुण्याना च=तथा सुकृतानाम् शुभ कर्मणाम्, वा, अखण्डम्=अविकल सम्पूर्णम्, फलमिव=परिणाम इवास्ति। विधि=ब्रह्मा इह=ससारे, क=क सौभाग्यशलिन नर, भोक्तार=(अस्या) उपभोगकर्तारम्, समुपस्थास्यति—उपनेष्यति, इति न जाने=न हि मया ज्ञायने।

संस्कृत सरलार्थ=शकुन्तलाया अपूर्वलावण्य विषये राजा विदूषक कथयति—वयस्य! तद्विषये मे मनसीदमेव वर्तते यत्तस्या निष्कलङ्क लावण्य नानुघ्रातपुष्पमिव नखैरलून पल्लवमिव, अक्षत मणिरिव, अनुपभुक्तरस नवीन क्षौद्रमिवास्ति। पुण्याना सम्पूर्ण फलमिव चास्ति। एतादशस्यास्या सौन्दर्यस्योपभोक्तार क पुण्यशील जन विधि समुपस्थास्यतीत्यह न वेद्मि।

टिप्पणी

प्रत्यादेश—प्रति+आ+दिश+घञ्, निराकरण, तिरस्कार, **अनाघ्रातम**—नञ्—आ+घ्रा+क्त जो सूघा न गया हो, **अलूनम**—लूञ धातो क्त ल्वादिभ्यश्चेति तकारस्य नत्वे, तत नञ् समास, अनास्वादितरसम—न आस्वादित उपभुक्त रस

विदूषक —तेन हि लघु परित्रायतामेना भवान् । मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति । [तेण हि लहु परित्तअदु ण भव । मा कस्स वि नवस्सिणो इगुदीतेल्लचिक्कणसीमस्स हत्थे पडिस्सदि ।]

माधुयम् यस्य तत्, आ+ण्यन्त स्वद् क्त । **भोक्तारम्**—भुज+तच । **अनघम**—अविद्यमानम् अघ दोष यस्मिन् । **रूपम**—अङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद् भूषणादिना, येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते'। **कररुहै** - करे राहन्ति तै —कर+रुह =क । "पुनभव कररुह नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम" **अनाविद्धम**— न, आ+व्यध् कमणि क्त । मधु=शहद—मदिरा नही, क्योकि मदिरा तो पुरानी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। पर शहद नवीन ही ।

श्लोकगत अनाघ्रातादि विशेषणो से शकुन्तलागत कन्यात्व अतएव दुष्यन्त द्वारा उसका परिग्रह योग्यत्व सूचित किया गया है। पुष्पादि उपमानो से क्रमश उसमे परिभोग योग्यता कान्तिमत्ता मुग्धता हृद्यता उत्तमजनाभिलषणीयता भी सूचित की गई है। इन उक्त पाचो उपमानो से क्रमश घ्राण मुख चक्ष रसना श्रवण आदि इन्द्रियो का सन्तपणत्व भी बतलाया गया है, **समुपस्थास्यति**—यहाँ अन्तर्भावितण्यथ है। अत अथ है उपस्थित करेगा ।

सवथा दोष वर्जित सौन्दय ही उपासनीय एव श्लाध्य है। महाकवि कालिदास वस्तुत इसी प्रकार के सौन्दय के समाराधक हैं। इस प्रकार का निष्कलङ्क, सवथा पवित्र सौन्दय पुण्यो से ही प्राप्त होता है फिर चाहे वह सौन्दय वस्तुगत हो अथवा नायिकागत । मेघदूतम' मे महाकवि ने विशाला नगरी को स्वग निवासी जनो के पुण्यो के कम हो जाने पर बचे हुए पुण्य क द्वारा लाया गया कान्तिमान् स्वग का एक खण्ड बताया है—

स्वल्पी भूते सुचरितफले स्वर्गिणा गा गताना
शेषै पुण्यैर्हृतमिव दिव कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥

सौन्दय की परिभाषा विभिन्न कवियो ने विभिन्न प्रकार से दी है किन्तु कालिदास के सदृश सौन्दय की उपासना मे कोई प्रवत नही हो सका है। महाकवि माघ के शब्दो मे रमणीयता—

तदेवरूप रमणीयताया क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति ।

वस्तुत कालिदास की, प्रस्तुत पद्य मे सौन्दय विषयक भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। यह वस्तु ध्वनि का उत्कृष्ट उदाहरण है क्यो कि शकुन्तला के सौन्दय के वणन मे प्रयुक्त प्रत्येक शब्द साभिप्राय है जिनसे दुष्यन्त की उपभोगेच्छा अभिव्यक्त होती है।

विदूषक—तो आप इसे शीघ्र अपना लीजिये (कहीं ऐसा न हो कि वह) इङ्गुदी के तेल से चिकनी खोपडी वाले किसी तपस्वी के हाथ लग जाए अर्थात् प्राप्त हो जावे ।

राजा—परवती खलु तत्रभवती । न च सनिहितोऽत्र गुरुजन ।

विदूषक —अत्र भवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिराग । [अत्त भवन्त अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ ।]

राजा—निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजन । तथापि तु—

अभिमुखे मयि सहृतमीक्षण
हसितमन्यनिमित्तकथोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च सवृत ।। ११ ।।

राजा—वह देवी परतन्त्र है। (और फिर इस समय) उसके (सरक्षक) ऋषि कण्व भी यहाँ उपस्थित नही है।

विदूषक—आपके प्रति (उसकी) प्रेमयुक्त दृष्टि कैसी थी ?

राजा—तपस्वी-बालिकाएँ स्वभावत (सीधी सीधी) भोली भाली होती है। तो भी—

अभिमुखे इति-अन्वय—मयि अभिमुखें ईक्षणम सहृतम अन्यनिमित्तकथोदयं हसितम् । अत तया विनयवारितवृत्ति मदन न विवृत न च सवत ।

शब्दार्थ—मयि—मेरे, अभिमुखे (सति)=अभिमुख अर्थात् उसके सामने दृष्टि डालने पर, ईक्षणम्=दृष्टि को, सहृतम=हटा लिया (अन्यत्र देखने लगी), अन्यनिमित्त कथोदयम्=अन्य बातो का बहाना लेकर, हसितम=हसी अर्थात् अन्य बहाने से हँस जाती थी। अत=इस प्रकार से, तया=उसने (शकुन्तला ने), विनयवारितवृत्ति= विनयशीलता के कारण रोकी गई प्रवत्ति वाले, मदन=कामभाव को, न विवृत्त= न तो प्रदर्शित ही किया, न च सवृत्त=और न छिपाया ही।

अनुवाद—मेरे द्वारा उसके सामने देखने पर (वह शकुन्तला) दृष्टि हटा लेती थी (नजर से नजर नही मिलाती थी)। तथा अन्य बातो के बहानो को लेकर हँस पडती थी, इस प्रकार शालीनता से नियन्त्रित प्रवृत्ति वाले काम भाव को न उसने प्रदर्शित ही किया और न छिपाया ही।

भावार्थ—यद्यपि शकुन्तला ने दुष्यन्त से दृष्टि नही मिलाई, न कोई सामने वार्तालाप ही किया, न उसकी ओर देखकर मुस्कराई ही, तथापि दुष्यन्त को उसके हाव भावो से यह ज्ञात हो गया कि शकुन्तला भी उस पर अनुरक्त है क्योकि वह राजा के दृष्टपात को देखते ही अपनी दृष्टि को अन्यत्र ही घुमा लेती थी अन्य कारणो को लेकर हस पडती थी अत शालीनतापूर्वक मानो उसके हावभावो ने यह प्रकट कर ही दिया था कि वह राजा पर अनुरक्त है। दुष्यन्त भी यह समझ गया कि शकुन्तला उसके प्रति आसक्त है क्योकि (शकुन्तला द्वारा प्रकट किये गये) इस प्रकार के भावो से किसका चित्त अनुरञ्जित नही होगा।

विदूषक—न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्क समारोहति। [ण क्खु दिट्ठ मेत्तस्य तुह अक ममारोहदि।]

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे "न विवन न च सवृन" मे विरोधाभास अलङ्कार है। मुग्धात्व से विरोध का परिहार किया जा सकता है।

यहाँ द्रुत विलम्बित छन्द है।

"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ"

संस्कृत व्याख्या— मयि अभिमुखे (सति) मयि दृश्यति तस्या सम्मुख मवलोकयति सति, ईक्षण सहृतम=तया अवलोकन सङ्कोचितम, स्वेक्षण मत्मुखादाकृष्यान्यत्र समर्पितम। अन्येन अपरेण निमित्तेन हेतुना व्याजेनत्यथ कथाया वाग्व्यापारस्य उदयो यत्र तत् अन्यनिमित्तकथोदयम्, हसितम=तया हास कृत। एतेन तस्या अनुराग सूचित। अत—अस्मात् कारणात् (तया) विनयेन शालीनतया वारिता नियन्त्रिता वृत्ति प्रसर यस्य स—विनयवारितवृत्ति, मदन काम भाव न विवृत्त—ईक्षण संहरणान्न व्यक्तीकृत, न च सम्वृत्त—तथा विहसितात्र वा गोपित।

संस्कृत सरलार्थ—राजा विदूषक कथयति-वयस्य! निसर्गादेव प्रगल्भस्त परस्विकन्यकाजन, तथापि तया, मयि तन्मुख मवलोकयति सति, स्वकीय मीक्षण सङ्कोचितम् मन्मुखाद दृष्टि माकृष्यान्यत्र समवलोकितम। अनेन कर्मणा तद्गता शृङ्गारलज्जा ध्वन्यते, सव्याज यथा स्यात्तथा हसितम अत शालीनतया नियन्त्रितप्रसर कामभावस्तया न प्रकटीकृत नापि गोपित। मुग्धभावेनेक्षणसहरणान्नियन्त्रितोऽपि कामविकारस्तया हसितेन स्फुटीकृत एवेति।

टिप्पणी

मा कस्यापि—इस कथन के द्वारा विदूषक ने प्रथमाङ्क मे राजा द्वारा 'आहो निवत्स्यति सम हरिणाङ्गनाभि =' मे प्रदर्शित सन्देह की ही पुष्टि की है। **परवती**—पर स्वामी अस्या अस्तीत्यर्थे पर+मतुप+ङीप। **दृष्टिराग**—प्रेमदृष्टि। **न विवृत न च सम्वृत**—वस्तुत शालीनतावश न तो अपने प्रेम को वह छिपा ही पा रही थी और न प्रकट ही कर पा रही थी। अपितु अपने काम विकार को दबाये रखने का असफल प्रयास कर रही थी, इससे उसका मुग्धात्व स्पष्ट होता है। जिसमे ज्ञात यौवनत्व एव अज्ञात यौवनत्व दोनो ही रहते है। इससे कवि ने उसमे हेला मोटायित भाव को दिखलाया है। 'मुग्धा नववय कामा' के अनुसार शकुन्तला मे नवकामाविभूतिविशिष्ट मुग्धात्व है अर्थात् उसमे प्रथम यौवन का समावेश हो चुका है जिसमे नेत्रो मे चाञ्चल्य और कामवश हास्ययुक्त मुख कमल होता है। हेला चित्तज विकार कहा जाता है 'स्वाभिलाषप्रकटन मोट्टायित मितीरितम्' अग विकारो द्वारा स्वाभिलाषा प्रकट करना मोट्टायित भाव होता है।

विदूषक—और क्या, तुम्हे देखते ही तुम्हारी गोद मे तो नही बैठ जाती।

राजा—मिथ प्रस्थाने पुन शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्र भवत्या । तथा हि—

दर्भाङ्कुरेण चरण क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ।। १२ ।।

राजा—(सखियो के साथ) लौटकर जाते समय उसने पुन लज्जाशीलता पूवक ही भली-भाति मेरे प्रति प्रेमभाव (अनुराग) को अभिव्यक्त किया था । क्योकि—

दर्भेति-अन्वय—तन्वी कतिचिदेव पदानि गत्वा अकाण्डे दर्भाङ्कुरेण चरण क्षत इति स्थिता । द्रुमाणा शाखासु च असक्तम अपि वल्कल विमोचयन्ती विवृत्तवदना आसीत् ।

शब्दार्थ—तन्वी=इकहरे बदन वाली (दुबली कोमलाङ्गी) कतिचिदेव=कुछ ही, पदानि=पग अथवा कदम, गत्वा=चलकर, अकाण्डे=एकाएक अचानक, अनवसर पर ही, दर्भाङ्कुरेण=दभ अर्थात् कुशो के अग्रभाग से, चरण=पैर, क्षत=घायल हो गया अर्थात् पैर मे काटा चुभ गया है । इति=यह (कहकर), स्थिता=रुक गई, द्रुमाणाम=वक्षो की, शाखासु=शाखाओ मे, असक्तम=न उलझे हुए, अपि, वल्कल=वल्कल वस्त्र को, विमोचयन्ती=छुडाती हुई, विवत्तवदना=(मेरी ओर) मुख करके पराङमुखी आसीत्=थी, स्थित हो गई ।

अनुवाद—वह सुकुमाराङ्गी (शकुन्तला) (सखियो के साथ) कुछ कदम चलकर (थोडी दूर जाकर ही) अचानक 'कुश का अग्र भाग मेरे पैर मे चुभ गया है' यह कहकर खडी हो गई । और वक्षो की डालियो मे न उलझे हुए भी (अपने) वल्कल वस्त्र को छुडाती हुई मेरी ओर मुख को करके रुक गई थी ।

भावार्थ—तपोवन से आश्रम को लौटती हुई शकुन्तला का मन दुष्यन्त को छोडने अर्थात उससे विलग होना नही चाहता था तथापि आसक्तहृदया वह न तो मुख से कुछ कह ही सकती थी और न प्रत्यक्ष अपने प्रेम को व्यक्त ही कर सकती है अत वह अचानक यह कहकर रुक गई—कि पैर मे काँटा चुभ गया है ताकि लौटते समय वह एक बार मेरा स्वरूपपान कर सके, पुन वक्षो मे न उलझे हुए भी वल्कल को छुडाने के बहाने से कुछ देर तक ठहर कर मुझे देखती रही थी । अहो प्रेम की गति विचित्र है अत किसी नायिका के प्रति यह उक्ति सवथा सत्य ही है—

अदष्टे दशनोत्कण्ठा दष्टे विच्छेदभीरुता ।
नादृष्टेन न दृष्टेन न भवता लभ्यते सुखम ।।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे "असक्तमपि विमोचयन्ती" मे विरोधाभास अलङ्कार

विदूषक—तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृत त्वयोपवन तपोवनमिति पश्यामि। [तेण हि गहीदपाहेओ होहि। किद तुए उववण तवोवण त्ति पेक्खामि।]

राजा—सखे! तपस्विभि कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत् केनापदेशेन पुनराश्रमपद गच्छाम।

विदूषक—कोऽपरोऽपदेशो युष्माक राज्ञाम्। नीवारषष्ठभागमस्माक मुपहरन्त्विति। [को अवरो अवदेसो तुम्हाण राआण। णीवारच्छट्ठभाअ अम्हाण उवहरन्तु त्ति।]

था विवृत्तवदना के प्रेमभाव के प्रकटीकरण का हेतु होने के कारण यहाँ हेतु अलङ्कार है।

संस्कृत व्याख्या—तन्वी=कृशाङ्गी सा शकुन्तला, कतिचिदेव=कतिपयानि एव पदानि=चरणानि, गत्वा=चलित्वा स्वल्पदूर मेव गत्वा इत्यर्थ, अकाण्डे=सहसैव अनवसरे वा, दर्भाङ्कुरेण=दर्भस्य अङ्कुरेण कुशाग्रभागेन, चरण=पाद, क्षत=विदीर्ण, इति=इत्थ (उक्त्वा), स्थिता=तत्र क्षण रुद्धा अर्थात मामवलोकितु विलम्बितगमनाभवत् द्रुमाणाम=पादपाना, शाखासु=स्कन्धेषु, च असक्तमपि=अलग्नमपि, वल्कलम= स्वकीय वस्त्र, विमोचयन्ती=विमोचनस्य व्यापार नाटयन्ती सती विवृत वदन यस्या सा एव भूता सा स्थिता बभूव ममाभिमुखी भूत्वा स्थितेत्यर्थ।

संस्कृत सरलार्थ—सा तन्वङ्गी शकुन्तला स्वकीय प्रेमभाव सव्याज दर्शयन्ती कतिपयान्येव पदानि गत्वा अनवसर एव चरणक्षतव्याजेन विलम्बितगमनाभवत् अथ वृक्षाशाखासु असक्तमपि वल्कल विमोचयन्ती मामवलोकितु पराङ्मुखी भूत्वा क्षणं स्थिता, अनेन कमद्वयेन सा मयि स्वानुराग प्रकटितवतिति।

टिप्पणी

आविष्कृत=आ+विस+कृ+धातु से+क्त। शालीन=शाला+खञ् (ईन) तन्वी=तनु+ङीष (ई)। विमोचयन्ती=वि+मुच्+णिच+शतृ+ङीप्, विवृत्तवदना=विवृत वदन यस्या सा (बहुव्रीहि) अकाण्डे=अनवसर मे ही—राजा दुष्यन्त विदूषक से कहता है कि वह शकुन्तला बहाने से ही रुकी थी तथा इस प्रकार शालीनता पूर्वक उसने मेरे प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया था क्योकि प्राय (स्त्रियो के) हाव-भाव ही प्रियजन के प्रति आसक्ति को द्योतित करते है।

"स्त्रीणामाद्य प्रणयवचन विभ्रमो हि प्रियेषु।" (मेघ०)

विदूषक—तब तो आप पाथेय (मार्ग का भोजन) ग्रहण करें। तुमने तो तपोवन को उद्यान (क्रीडोद्यान) ही बना दिया है, मै यह देखता हूँ।

राजा—मित्र! मुझे कुछ तपस्वियो ने पहचान लिया है। तो सोचो कि किस बहाने से पुन (हम लोग) आश्रम मे जायें।

विदूषक—आप जैसे राजाओ के लिए किसी अन्य बहाने की क्या आवश्यकता

राजा—मूर्ख, अन्यदेव भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति यद् रत्न-राशीनपि विहायाभिनन्द्यम् । पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥१३॥

है । नीवार (धान की फसल) का छठा हिस्सा हमे दो (तपस्वियो से तपोवन मे जाकर यह कहियेगा) ।

राजा—मूर्ख ! इन (तपस्वियो) के रक्षण कार्य मे तो दूसरे ही प्रकार का भाग कर रूप मे प्राप्त होता है जो रत्नो के ढेर से भी कही अधिक अभिनन्दनीय (स्वीकार करने योग्य) है । देखो—

यदिति-अन्वय—वर्णेभ्यः यत् उत्तिष्ठति, नृपाणाम् तत्फलम् क्षयि (अस्ति) हि आरण्यकाः नः अक्षय्यम् तपः षड्भागम् ददति ।

शब्दार्थ—वर्णेभ्यः=ब्राह्मणादि वर्णों से, यत्=कर रूप मे प्राप्त होने वाला धन आदि, उत्तिष्ठति=उपलब्ध होता है, नृपाणाम्=राजाओ के लिये, तत्फलम्=उस धन आदि का फल अर्थात् ऐश्वर्योपभोगादि क्षयि=विनाशशाली है । हि—किन्तु, आरण्यकाः=वनवासी मुनिजन नः=हमको, अक्षय्यम्=कभी नष्ट न होने वाला, तपः षड्भागम्=अपनी तपस्या का छठा भाग, ददति=देते हैं ।

अनुवाद—ब्राह्मणादि वर्णों से जो धन आदि कर रूप मे उपलब्ध होता है, राजाओ के लिये उस धन का फल—ऐश्वर्योपभोगादि, विनाशशाली है, किन्तु ये वनवासी तापस जन तो हमे, कभी नष्ट न होने वाला अपनी तपस्या का छठा भाग देते हैं ।

भावार्थ—तप का फल ही अक्षय होता है शेष लौकिक धन क्षणस्थायी ही होता है, इसी बात को स्पष्ट करता हुआ राजा विदूषक से कहता हैं कि ब्राह्मणादि वर्णों से कर रूप मे प्राप्त होने वाला धन तो राजाओ के लिये क्षण स्थायी ही है किन्तु ये ऋषिजन जो हमे कर रूप मे अपने तप का षष्ठ भाग देते है वह अक्षय फल को देने वाला है ।

विशेष—यहा रत्नादि से भी तपस्या का षष्ठांश अधिक श्रेष्ठ घोषित किया गया है अतः व्यतिरेक अलङ्कार है ।

छन्द अनुष्टुप् है । जिसका लक्षण इस प्रकार से है—

षष्ठं गुरु विजानीयात् सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुः पादयो ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

प्रस्तुत पद्य मे कवि ने भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता पर विशेष बल दिया है ।

(नेपथ्ये)

हन्त, सिद्धार्थौ स्व ।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये ! धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभि र्भवितव्यम् ।

(प्रविश्य)

दौवारिक —जयतु जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ । [जेदु जेदु भट्टा । एते दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा ।]

राजा—तेन ह्यविलम्बित प्रवेशय तौ ।

सस्कृत व्याख्या—वर्णेभ्य =ब्राह्मणक्षत्रियादिवर्णेभ्य , यत्=धनादिक कर रुपेण, उत्तिष्ठति=प्राप्यते, नृपाणाम्=मादशाना षष्ठांशवृत्तीना राज्ञाम, तत्फलम्=प्राप्तधनस्यैश्वर्योपभोगादिफलम्, क्षयि=अचिरस्थायि, (अस्ति) हि—किन्तु, आरण्यका =वनवासिन तपस्विन , न =अस्माक राज्ञाम, अक्षय्यम=अविनश्वरम्, तप षड्भागम्=स्वसञ्चिततपोनियमस्य षष्ठांशम्, ददति=अप्रत्यक्षकररूपेणार्पयन्ति ।

सस्कृत सरलार्थ—अ यवर्णेभ्य प्राप्तधनादिकस्य फलमचिरस्थायि भवति किन्तु तापसै कररूपेणार्पित तप षष्ठांश मविनश्वर भवति ।

टिप्पणी

गृहीतपाथेय —गृहीत लब्ध पाथेय मार्गभोजन येन स । प्रेम मार्ग के पथिक दुष्यन्त के लिए शकुन्तलाप्रेमभाव ही पाथेय होगा जिससे कि वह अपने मार्ग पर निर्बाध बढता जायेगा । पथि साधु इस अर्थ में पथ्यतिथि० से ढञ् (एय) प्रत्यय । भागधेयम्—कर, विदूषक का परामर्श था कि तुम नीवार का षष्ठांश लेने के बहाने आश्रम मे नि सकोच जा सकते हो क्योकि राजा षष्ठांशवृत्ति होता है । तपःषड्भागम्—षट् भाग षडभाग, कर्मधारय तपस षड्भागस्तम् यहाँ षट् का अर्थ वस्तुत षष्ठ है अतएव कर्मधारय का निषेध नही हुआ ।

'चिन्तय' से लेकर यहाँ तक विलास नामक प्रतिमुख सन्धि का अग है "समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते ।

(नेपथ्य में)

अहो, हम सफल मनोरथ हो गये ।

राजा—(सुनकर) अरे, गभीर एव शान्त स्वरो वाले तपस्वी जनो को ही होना चाहिए ।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—महाराज की जय हो । दो मुनिकुमार द्वार पर आये हैं ।

11 राजा—तो उन दोनो को शीघ्र प्रवेश कराओ ।

दौवारिक —एष प्रवेशयामि । (इति निष्क्रम्य, पुन ऋषिकुमाराभ्या सह प्रविश्य) इत इतो भवन्तौ । [एसो पवेसेमि । इदो इदो भवन्ता ।]

(उभौ राजान विलोकयत)

प्रथम —अहो, दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुष । अथवोपपन्नमेतदस्मिन् ऋषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि । कुत —

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तप प्रत्यह सचिनोति ।
अस्यापि द्या स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीत
पुण्य शब्दो मुनिरिति मुहु केवल राजपूर्व ॥१४॥

द्वारपाल—अभी प्रवेश कराता हूँ । (यह कहकर निकल कर पुन मुनि बालको के साथ प्रवेश करके) आप इधर आयें इधर ।

(दोनो मुनिकुमार राजा को देखते हैं)

प्रथम—आश्चय है कि तेजस्वी भी इस (राजा) का शरीर विश्वास उत्पन्न कर रहा है । अथवा ऋषियो के तुल्य इस राजा के विषय मे यह (सवथा) इसके उचित ही है । क्योकि—

अध्याक्रान्तेति अन्वय—अमुना अपि सवभोग्ये आश्रमे वसति अध्याक्रान्ता । रक्षायोगात् अयमपि प्रत्यह तप सचिनोति, वशिन अस्य अपि केवल राजपूर्व पुण्य मुनि इति शब्द चारणद्वन्द्वगीत मुहु द्या स्पशति ।

शब्दार्थ—अमुना अपि=इस दुष्यन्त ने भी, सवभोग्ये=सभी अर्थात् चारों आश्रमो के द्वारा उपभोग अथवा आश्रय के योग्य, आश्रमे=गृहस्थाश्रम मे, वसति = निवास स्थान, अध्याक्रान्ता=बनाया है । रक्षायोगात्=प्रजा के रक्षणरूपी योग से, अयमपि=यह दुष्यन्त राजा भी, प्रत्यह=प्रतिदिन, तप =तपस्या (का), सचिनोति= सग्रह करता है । वशिन =सयमित इन्द्रियो वाले, अस्य अपि,=इस राजा का भी, केवल राजपूव =केवल 'राज' शब्द पूव वाला, पुण्य =पवित्र, मुनि =ऋषि इति शब्द = यह शब्द, चारणद्वन्द्वगीन=चारणयुगलो के द्वारा गाया जाता हुआ, मुहु =बार-बार, द्या=स्वग को, स्पृशति=छूता है स्पश करता है ।

अनुवाद—इस राजा दुष्यन्त ने भी (ऋषियो की भाँति) सभी आश्रमों द्वारा उपभोग के योग्य, (गृहस्थाश्रम) मे निवास स्थान बनाया है प्रजा के सरक्षण रूपी योग स यह भी प्रतिदिन तप का सञ्चय करता है । जितेन्द्रिय इस राजा का भी केवल राजपूव वाला पवित्र मुनि यह शब्द चारणजोडो द्वारा गाया जाता हुआ बारम्बार स्वर्ग का स्पश करता है ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक के प्राय सभी पद द्वयर्थक हैं, उनका एक अर्थ राजा के पक्ष मे तथा द्विनीय अर्थ मुनि के पक्ष मे होता है ।

अमुनापि=इस राजा दुष्यन्त ने भी (न केवल मुनि ने ही) सवभोग्य=अर्थात् सभी ब्रह्मचारी आदि जनो द्वारा आश्रय प्राप्त करने योग्य, आश्रमे=अर्थात् गृहस्थाश्रम मे, वसति =निवास स्थान, अध्याक्रान्ता=प्राप्त किया है, जिस प्रकार एक मुनि, सभी बटुजन आदि धार्मिक जनो द्वारा आश्रयणीय वनाश्रम मे अपना निवास स्थान बनाता है। अत राजा और मुनि मे कोई अन्तर नही है। रक्षायोगात्=प्रजाजनो की तथा आश्रमो की रक्षा के उपाय से, अयमपि=यह राजा दुष्यन्त भी, प्रत्यहम्=प्रतिदिन तप सञ्चिनोति=पुण्य का अजन करता है, जिस प्रकार एक मुनि शरीर रक्षणाथ किये जाने वाले योग अर्थात् अष्टाङ्गिक योगाभ्यास से प्रतिदिन तप का सञ्चय करता है, इस प्रकार भी मुनि और राजा मे कोई अन्तर नही है। प्रजानुरञ्जनयज्ञानुष्ठानादि धमकर्मों से वशी सयमी इस दुष्यन्त का भी (न केवल मुनि का ही) केवल राजपूव = केवल जिसके पूव राजा शब्द लगा हुआ है, ऐसा पुण्य—मन्त्रवत् पवित्र, मुनि यह शब्द अर्थात् राजर्षि शब्द, चारण द्वन्द्वगीत—चारणो के जोडो से कीर्तित गीयमान होकर (चारण भाट राजाओ की स्तुति करने वाले होते हैं) द्या स्पृशति=स्वर्ग तक पहुँचता है, जिस प्रकार एक जितेन्द्रिय मुनि का मन्त्रवत् पवित्र मुनि यह शब्द, बटु युगल द्वारा गीयमान होकर आकाश तक पहुँचता है, इस प्रकार ऋषि और राजा मे कोई अन्तर नही है, राजा के सभी काय ऋषि जैसे ही हैं, केवल नाममात्र का अन्तर यह है कि राजा को राजर्षि कहा जाता है और ऋषि को केवल ऋषि, राजशब्द के पूव प्रयुक्त होने के कारण ही वह राजर्षि है अन्यथा वह भी ऋषि ही है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे, सवभोग्ये, आश्रमे, रक्षायोगात् आदि विशिष्ट पदों द्वारा अनेकार्थ का प्रविधान किया गया है अत **श्लेषालकार** है, केवल राजपूर्व द्वारा मुनि की अपेक्षा आधिक्य कथन से व्यतिरेकालकार है। मन्दाक्रान्ता छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—अमुना अपि=राज्ञा दुष्यन्तेनापि, न केवल मुनिनेत्यर्थ', सर्वै चतुर्भि रप्याश्रमवासिभि ब्रह्मचार्यादिभि भोग्ये आश्रयणीये—सवभोग्ये, आश्रमे=गृहस्थाश्रमे, वसति निवासस्थानम, अध्याक्रान्ता=अधिकृता (यथैको मुनि सर्वै वटुजनै अध्ययनाथम् आश्रयणीये वनाश्रमे स्वनिवासस्थान कल्पयति। रक्षाया प्रजाश्रमादिसरक्षणस्य योग उद्योग उपायो वा तस्मात्=रक्षायोगात्, अयमपि= राजा दुष्यन्तोऽपि न केवल मुनि रेव, प्रत्यह=प्रतिदिनम्, तप =पुण्यम, सञ्चिनोति =अजयति, यथैको मुनि शरीररक्षणार्थं कृताष्टाङ्गिकयोगाभ्यासात् प्रत्यह तप सञ्चिनोति। प्रजानुरञ्ज यज्ञानुष्ठानादि-धर्मक्रियाभि वशिन सयमिन अस्यापि दुष्यन्तस्यापि (न केवल मुनिन) केवल राजपूव =केवल राजोपपदविशिष्ट, पुण्य = मन्त्रवत् पवित्र, मुनि इति शब्द, चारणद्वन्द्वगीत =चारणयुगलगीयमान' सन्, द्यां स्वगम्, स्पृशति, प्रयाति, (यथैकस्य जितेन्द्रियस्य मुनिन पुण्य =पवित्र मुनिरिति शब्द' ब्रह्मचारिभि स्वाध्ययनकाले समुच्चारितो ब्रह्मनादोऽन्तरिक्षचरो भवति। अत' ऋषिभ्यो नातिभिन्नो राजा।

द्वितीय —गौतम ! अय स बलभित्सखो दुष्यन्त ।
प्रथम —अथ किम् ।
द्वितीय —तेन हि—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमा धरित्री-
मेक कृत्स्ना नगरपरिघप्राशुबाहु र्भुनक्ति ।
आशसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजय पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

सस्कृत सरलार्थ— यथैको मुनि सवजनाश्रये तपोवनाश्रमे निवसति तथैवाय नृपोऽपि सर्वाश्रमभोगयोग्ये गहस्थाश्रमे निवसति, प्रजारक्षणोपाया दयमपि राजा तथैव पुण्य मर्जयति, यथा मुनि शरीरसरक्षणार्थं कृताष्टाङ्गकयोगाभ्यासात प्रत्यह तपोऽर्जयति, सयमिनोऽस्यापि दुष्यन्तस्य चारणयुगलगीयमान केवल राजपूव मुनिरिति पुण्य शब्द द्या स्पृशति यथा जितेन्द्रियस्य मुने वटुजनगीयमान मुनिरिति पुण्य शब्द अन्तरिक्षचरो भवति । अत राजा नातिभिन्न ऋषिभ्य ।

टिप्पणी

प्रतीहारभूमिम्—प्रतिह्रियते राज्ञ समीप नीयन्ते जना यस्मात् स प्रतिहार प्रतीहार वा (बाहुलकात् दीर्घ) यहाँ इसका अथ द्वार है। **अविलम्बितम्**—वि+लम्ब भावे क्त—विलम्बित विलम्ब अविद्यमान विलम्बित यस्मिन् कमणि तद् यथास्यात्तथा। **दीप्तिमत अपि विश्वसनीयता** यद्यपि राजा दीप्तिमान् तेजस्वी था तथापि उसका तेज मुनितेज के समान था अतएव उसके शरीर पर विश्वास किया जा सकता था। **उपपन्नम्**—उप+पद्+क्त। सवभोग्ये आश्रमे राजपक्ष मे सभी अन्य आश्रमो द्वारा आश्रयणीय गृहस्थाश्रम मे। सभी आश्रम, गृहस्थाश्रम के सहारे जीवित रहते हैं "यथा वायु समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव । तथा गृहस्थमाश्रित्य वतन्ते चतुराश्रमा । (मनु) अन्यत्र भी "यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव । वतते गृहिणस्तद्वदाश्रित्येतर आश्रमा । 'गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ स त्रीनेतान् बिभर्ति हि" मनु । मुनि पक्ष मे—सभी विद्यार्थी तथा अतिथि तपोवनाश्रम मे आश्रय प्राप्त करते हैं। **अध्याक्रान्ता**—अधि+आ+क्रम+क्त टाप्। **प्रत्यहम**—अह अह प्रति—अव्ययीभाव । **चारणद्वन्द्वगीत**= चारणाना द्वन्द्वानि तै गीत । चारयन्ति कीर्तिम इति चारणा गै शब्दे क्त= गीतः। उक्त श्लोक से लेकर "नैतच्चित्रम" इस श्लोक तक दुष्यन्त की प्रशसा होने से यहाँ पुष्प नामक प्रतिमुख सन्धि का अग है और विशेष नामक नाट्यलक्षण भी है "पुष्पं विशेष वचनम् मतम"

द्वितीय—गौतम ! क्या यह इन्द्र के मित्र दुष्यन्त हैं ?
प्रथम—और क्या ।
द्वितीय—तब तो—
नैतदिति-अन्वय—(तेन हि) नगरपरिघप्राशुबाहु अयम् एक यत् उदधि-

श्यामसीमा कृत्स्ना धरित्रीम् भुनक्ति एतत चित्रम् न। हि दैत्यै बद्धवैरा सुरयुवतय अस्य अधिज्ये धनुषि पौरूहते च वज्रे विजयम आशसन्ते।

शब्दार्थ—नगरपरिघप्राशुवाहु =नगर हेद्वार की अगलाओ के (समान) विशाल भुजाओ वाला, अयम्=यह दुष्यन्त, एक =एकाकी ही, उदधिश्याम सीमा कृत्स्ना—समुद्र से नीली सीमा वाली सम्पूण, धरित्रीम=पृथ्वी का, भुनक्ति= उपभोग करता है। अथवा पालन करता है। एतत=यह, चित्रम् न=कोई आश्चय की बात नही है। हि=क्योकि, दैत्यै =दैत्यो के साथ, बद्धवैरा =जिनका वैर बँधा हुआ है ऐसी, सुरयुवतय =देवाङ्गनाये, अस्य =इस राजा दुष्यन्त के, अधिज्ये= प्रत्यञ्चा चढे हुये, धनुषि=धनुष पर, पौरुहूते=इन्द्र के, वज्रे च=वज्र पर, विजयम्=विजय की, आशंस ते=आशा करती है।

अनुवाद—(यदि) नगर द्वार की अगलाओ के समान विशाल वाहु वाला यह राजा दुष्यन्त अकेले ही समुद्र के (नीले जल के) कारण नीली (दिखाई देने वाली) सीमा से युक्त, समस्त पृथ्वी का उपभोग करता है, तो इसमे आश्चय की कोई बात नही है, क्योकि दैत्यो के साथ शत्रुता रखने वाली देवताओ की सुन्दरियाँ इस राजा के प्रत्यञ्चा चढे हुए धनुष पर, और इन्द्र के वज्र पर विजय की आशा करती हैं।

भावार्थ—राजा दुष्यन्त चक्रवर्ती सम्राट है क्योकि वह (चारो) समुद्रो से व्याप्त नीली सीमा से युक्त विशालतम भूखण्ड (पृथ्वी) पर एकछत्र राज्य करता है। यह अकेला ही इतने बडे राज्य का उपभोग कैसे कर लेता है इस मे सशय की कोई गुजायश नही है क्योकि जब देवताओ और दैत्या मे सग्राम होता है तो देवाङ्गनाओ को इसी राजा के प्रत्यञ्चा युक्त धनुष पर और इन्द्र के वज्र पर ही विजय की आशा रहती है। अत इसी से ज्ञात हो जाता है कि वह दुष्यन्त इतना पराक्रमी है कि देवासुर सग्राम मे वह देवाधिपति इन्द्र का सहायक होना है तब फिर सम्पूण भूखण्ड का यह अकेले ही भार धारण करता है इसमे विस्मय की काई बात नही है। वस्तुत दुष्यन्त पुरुषार्थी एव पराक्रमी है।

विशेष—यहाँ प्रस्तुत दुष्यन्त के धनुष और अप्रस्तुत इन्द्र के वज्र का एक ही आशसन्ते क्रिया के साथ सम्बन्ध हाने से **दीपकालकार** है "प्रस्तुता प्रस्तुतयो दीपकन्तु निगद्यते।" नगरपरिघप्राशुवाहु मे **लुप्तोपमालकार** है। **नैतच्चित्रम्** का कारण श्लोक का उत्तराध है, अत **काव्यलिङ्ग** अलकार है। यहाँ विशाल भुजाओ से शत्रुओ को जीतना रूप कारण के स्थान पर समस्त पृथिवी पालन रूप काय का वणन होने से **पर्यायोक्त** अलकार है **समुच्चयालकार**, वत्यनुप्रास, मन्दाक्रान्ता छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—नगरस्य (लक्षणया) नगरद्वारस्य, परिधौ=अर्गल दण्डौ तद्वत्, प्राशू बाहू उन्नतौ भुजौ यस्य स नगरपरिघप्राशुवाहु, अय=नप दुष्यन्त, एक = एकाकी एव, यत्=यत, उदधि अणव एव श्यामसीमा=नीलवर्णा प्रान्तस्थली यस्या सा ताम् उदधिश्यामसीमाम—कृत्स्ना=सम्पूर्णाम् धरित्रीम्=अवनिम् भुनक्ति=सर-

उभौ—(उपगम्य) विजयस्व राजन् ।

राजा—(आसनादुत्थाय) अभिवादये भवन्तौ ।

उभौ—स्वस्ति भवते । (इति फलान्युपहरत ।)

राजा—(सप्रणाम परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि ।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थ । तेन भवन्त प्रार्थयन्ते ।

क्षति, एतत् चित्र न=नास्त्यत्र किमप्याश्चर्यजनकम, हि=यत, दैत्यै =असुरै (सह), बद्धवैरा रुढवैरभावा, सुरयुवतय =सुराणा युवतय देवाङ्गना अस्य=दुष्यन्तस्य, अधिज्ये=समारोपितगुणे, धनुषि=शरासने, पौरहूते=ऐन्द्रे, वज्रे च=कुलिशे च विजयम्=विजयश्रीसफलता, आशसन्ते=अभिलषन्ति अपेक्षन्ते वा ।

संस्कृत सरलार्थ—नगरद्वारार्गलदण्डोन्नतबाहुरप्यमसहाय एव दुष्यन्त आसमुद्र विस्तीर्णा समस्ता पृथिवी यत् पालयति, तर्हि नास्त्यत्र कोऽप्याश्चर्यविषय, यतो हि दत्यै सह प्ररुढवैरभावा देवाङ्गना अस्य समारोपितगुणे कार्मुके इन्द्रस्य वज्रे च विजय माशसन्ते ।

टिप्पणी

बलभित्सखा—वल भिनत्तीति वलभित् वल+भिदिर्+क्विप, बलभिद सखा बलभित्सख राजाहा० इति समासान्तष्टच । वल के ही अन्य नाम वृत्र, नमुचि, शम्बर, अहि आदि है । **उदधिश्यामसीमाम**—उदधि श्यामा सीमा यस्या अथवा श्यामश्चासा वुदधिरित्युदधिश्याम स सीमा यस्या ताम् राज दन्तादित्वात् श्याम शब्दस्य परनिपात । उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्निति उदधि—उदक+धा+कमण्यधिकरणे चेति क, उदकस्योद० इति उदकस्य उदादेश । **परिघ**—परि+हन्+अप् । किवाड़े के पीछे लगाया जाने वाला लौहे या काष्ठ का डण्डा । भुनक्ति=पालन करता है, पालनार्थ मे ही भुज् धातु परस्मैपदी है । **आशसन्ते**—आ+शस+लट् इच्छार्थे आत्मनेपदत्वम् । सुरयुवतय के स्थान पर समितिषु सुरा भी पाठ है समितिषु= युद्धो मे, समिति का अर्थ सभा भी है समेत्य यत्र जना सम्+इ+क्तिन् बद्धवैरा = बद्ध वैर यासान्ता । **पौरुहूते**—पुरुभि बहुभि हूयते आहूयते यज्ञेषु य पौरूहूत तस्येदम् तस्मिन् ।

दोनों—(समीप पहुँच कर) राजन ! विजय हो ।

राजा—(आसन से उठकर) (मै) आप दोनो का अभिनन्दन करता हूँ ।

दोनों—आपका कल्याण हो (यह कहकर फलोपहार देते है) ।

राजा—(प्रणाम सहित स्वीकार करके) (मै) आपसे आज्ञा की अपेक्षा करता हूँ । अर्थात् आप हमे आज्ञा दे ।

दोनों—पूज्यनीय महर्षि कण्व के (आश्रम मे) विद्यमान न होने के कारण राक्षस हमारे यज्ञो मे बाधा उपस्थित करते है । अत आप सारथि सहित कतिपय रात्रियो तक (आश्रम मे रहकर) आश्रम को सनाथ कीजिए ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ?

उभौ—तत्रभवत कण्वस्य महर्षेरसान्निध्याद् रक्षांसि न इष्टिविघ्न मुत्पादयन्ति । तत् कतिपयरात्र सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषक—(अपवार्य) एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना । [एसा दाणि अणुऊला ते अब्भत्थणा ।]

राजा—(स्मित कृत्वा) रैवतक ! मद्वचनादुच्यता सारथि , सबाणासन रथमुपस्थापयेति ।

दौवारिक—यद् देव आज्ञापयति । [ज देवो आणवेदि ।]

(इति निष्क्रान्त ।)

उभौ—(सहर्षम्)

अनुकारिणि पूर्वेषा युक्तरूपमिद त्वयि ।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिता खलु पौरवा ॥१६॥

राजा—मै अनुगृहीत हूँ ।

विदूषक—(दूसरी ओर मुख करके) इस समय यह प्रार्थना तो आपके (मन के) अनुकूल है ।

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक, मेरी ओर से सारथि से कहो कि (हमारे) धनुष वाण सहित रथ को उपस्थित करे ।

द्वारपाल—जैसी महाराज की आज्ञा ।

(निकल जाता है)

उभौ—(प्रसन्नतापूवक)

अनुकारिणीति-अन्वय—पूर्वेषाम अनुकारिणि त्वयि इदम् युक्तरूपम् खलु पौरवा आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिता ।

शब्दार्थ—पूर्वेषाम्=अपने पूर्वोत्पन्न वशजो का, अनुकारिणि=अनुकरण करने वाले, त्वयि=तुम्हारे विषय मे, इद=यह । युक्तरूपम=पूणरूपेण (सवथा) उचित (है), खलु—वस्तुत , पौरवा =पुरुवशीय राजा, आपन्नाभयसत्रेषु=आपद्ग्रस्त-जनों को अभय दान रूप यज्ञो (के अनुष्ठानो मे), दीक्षिता =दीक्षित अथवा व्रतधारी रहे हैं ।

अनुवाद—अपने पूव वशजो का अनुगमन करने वाले आपके विषय मे यह अर्थात् मुनि वचन पालन करना और उनको अभय देना सवथा उपयुक्त ही है । पुरुवशीय राजा (वस्तुत) आपत्ति से पीडितो को अभय दान (देने मे) रूपी यज्ञ मे सदा व्रतनिष्ठ रहे हैं ।

राजा—(सप्रणामम्) गच्छता पुरो भवन्तौ। अहमप्यनुपदमागत एव।

उभौ—विजयस्व। (इति निष्क्रान्तौ।)

राजा—माधव्य, अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम्।

भावार्थ—पुरुवंश में उत्पन्न राजा शरणागत वत्सल रहे हैं अतः अपने पूर्वजों के तुल्य महाराज दुष्यन्त भी शरणागत को शरण देने वाले और आपत्ति से पीडितों की सहायता करने में सर्वथा तत्पर रहने वाले हैं। वंश परम्परागत सद्गुणों को धारण करना ही अपने पूर्वजों की मर्यादा को स्थिर रखना है। हमें अभय दान देकर आपने यह प्रमाणित कर दिया है कि आप अपने पूर्वजों के पद चिह्नों पर चलने वाले हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में पुरुवंश की गौरवमय परम्परा पर प्रकाश डाला गया है उत्तरार्ध पूर्वार्ध का कारण है अतः **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार है। उत्तरार्धगत विशेष से पूर्वार्धगत सामान्य का समर्थन होने से यहाँ **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है, अनुष्टुप् छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वेषाम्=पूर्वजानां राज्ञाम्, अनुकारिणि=अनुयायिनि त्वयि=राज्ञि (दुष्यन्ते) इदं=एतत् अभयदानरूपं कार्यम्, युक्तरूपम्=सर्वथा समीचीनमेव, खलु=वस्तुतः, पुरुवंशीयाः नृपाः आपन्नाभयसत्रेषु=विपत्तिग्रस्तानां पीडितानां वा साहाय्यप्रदानरूपयज्ञेषु, दीक्षिताः=गृहीतदृढसङ्कल्पाः अभवन्।

संस्कृत सरलार्थ—चारित्र्यशौर्यदयाभयदानादिकमसु स्वपूर्वजानां मनुगामिनि त्वयि राजनि एतदभयदानरूपं कार्यम् सर्वथैवोपयुक्तम् यतो हि पुरुवंशोत्पन्ना राजानस्सदैव दुःखितजनाभयदानरूपाध्वरेषु दृढव्रतधारिणोऽभवन्।

टिप्पणी

विजयस्व—विपराभ्यां जेः इत्यात्मने पदम्। **उपगम्य**—उप+गम्+क्त्वा—ल्यप्। **उत्थाय**—उत्+स्था क्त्वा—ल्यप्, **अभिवादये**—णिचश्चेत्यात्मनेपदम्। **आज्ञापयितुमिच्छामि**—मैं चाहता हूँ कि आप मुझे कुछ आज्ञा दें। **आश्रमसदाम्**—आश्रमे सीदन्ति ये ते आश्रमसदः तेषाम्—आश्रमवासिनाम्, क्तस्य च वर्तमाने—इति षष्ठी, **कतिपयरात्रम्**—कतिपयाः रात्रयः यस्मिन्। **असान्निध्यात्**=सम्+नि+धा+कि—सन्निधि, सन्निधिरेव सान्निध्यम् न सान्निध्य तस्मात्—समीपवर्ती न होने के कारण। इष्टि—यज+क्तिन्। **अपवाय**—रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते तद् भवेदपवारितम्।" आपन्नाभयसत्रेषु=आपन्नानाम् अभय मेव सत्राणि तेषु। आ+पद्+क्त=आपन्न, आपन्न आपत्प्राप्त। **सत्रम्**—सीदन्ति अत्र सद्+ष्ट्रन्। **युक्तरूपम्**—प्रशंसार्थे रूपप्।

राजा—(प्रणाम सहित) आप दोनों आगे चलें। मैं भी आपका ही अनुगमन (अभी) करता हूँ।

दोनों—आप विजयी हो। (निकल जाते हैं)।

राजा—माधव्य! शकुन्तला को देखने के लिए क्या तुम उत्सुक हो?

विदूषक —प्रथम सपरिवाहमासीत् । इदानी राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषित । [पढम सपरिवाह आसि दाणि रक्खसवुत्तन्तेण बिन्दू वि णावसेसिदो ।]

राजा—मा भैषी । ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

विदूषक —एष राक्षसाद् रक्षितोऽस्मि । [एस रक्खसादो रक्खिदो म्हि ।]

(प्रविश्य)

दौवारिक —सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते । एष पुनर्नगराद् देवीनामाज्ञप्तिहर करभक आगत । [सज्जो रधो भटटिणो विजअप्पत्थाण अवेक्खदि । एस उण णअरादो देवीण आणत्तिहरओ करभओ आ अदो ।]

राजा—(सादरम्) किमम्बाभि प्रेषित ?

दौवारिक —अथ किम् । [अह इ]

राजा—ननु प्रवेश्यताम् ।

दौवारिक —तथा । (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) एष भर्ता । उपसर्प । [तह । एसो भट्टा । उवसप्प ।]

करभक —जयतु जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति । आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषाऽवश्य सभावनीयेति । [जेदु जेदु भट्टा । देवी आणवेदि । आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणो मे उववासो भविस्सदि। तहि दीहाउणा अवस्स सभाविदव्वात्ति ।]

विदूषक—पहिले उत्साह अधिक था । इस समय तो राक्षसो की वार्ता से एक बूंद भी शेष नही रह गया है ।

राजा—मत डरो । (तुम तो) मेरे साथ रहोगे ।

विदूषक—अब मेरी राक्षसो से रक्षा हो गई ।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—रथ तैयार है तथा महाराज की विजय यात्रा की प्रतीक्षा कर रहा है । इधर (एक ओर) नगर से (हस्तिनापुर से) देवी का सन्देशवाहक करभक आया है ।

राजा—(आदर सहित) क्या (आदरणीय) माता जी ने भेजा है ।

द्वारपाल—और क्या ।

राजा—(शीघ्र ही) प्रवेश कराइये ।

द्वारपाल—जैसी आज्ञा । (निकल कर पुन करभक के साथ प्रवेश करके) ये महाराज (विराजमान) हैं । पास जाओ ।

करभक—महाराज की जय हो । देवी की आज्ञा है कि आगामी चौथे दिन मेरे व्रत की पारणा होगी अत उस समय चिरजीव (राजा दुष्यन्त) अवश्यमेव (उपस्थित होकर) सम्मानित करे ।

राजा—इतस्तपस्विकार्यम्। इतो गुरुजनाज्ञा। द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्। किमत्र प्रतिविधेयम्।

विदूषक—त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ। [तिसङ्कु विअ अन्तरा चिट्ठ।]

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मन।
पुर प्रतिहत शैले स्रोत स्रोतोवहो यथा॥ १७॥

राजा—इधर तपस्वियो का काय है। इधर माता जी की आज्ञा। दोनो ही अनुल्लघनीय है। अब क्या उपाय करना चाहिये।

विदूषक—त्रिशङ्कु की तरह मध्य मे ही लटके रहो।

राजा—सचमुच मैं परेशान हू।

कृत्ययो इति-अन्वय—कृत्ययो भिन्नदेशत्वात् मे मन पुर शैले प्रतिहत स्त्रोतोवह स्त्रोत यथा द्वैधीभवति।

शब्दार्थ—कृत्ययो=(दोनो) कार्यों के, भिन्नदेशत्वात् अलग अलग स्थान मे होने के कारण, मे=मेरा (मुझ दुष्यन्त का) मन=चित्त, पुर=सम्मुख, शैले प्रतिहत=पवत के कारण अवरुद्ध, स्रोतोवह=नदी के, स्रोतो=प्रवाह, यथा=की भाँति, द्वैधी भवति=दुविधा मे पड गया है।

अनुवाद—(तपस्वियो की रक्षा, माता की आज्ञा का पालन) दोनो कार्यों के पृथक पृथक स्थल (क्रमश तपोवन, हस्तिनापुर) मे सम्पन्न होने के कारण मेरा मन सम्मुख (स्थित) पवत से रुके हुये नदी के प्रवाह (दो धाराओ मे विभक्त) के तुल्य द्विविधा मे दोलायमान हो रहा है।

भावाथ—पवत के सम्मुख स्थित होने के कारण अवरुद्ध नदी का जल जैसे दो धाराओ मे विभक्त हो जाता है ठीक वैसे ही राजा दुष्यन्त का मन भी द्विविधा मे फँस गया है। एक ओर तो तपस्वियो की रक्षा करना, दूसरी ओर माता की आज्ञानुसार राजधानी मे पहुँचना वस्तुत दोनो ही काय आवश्यक हैं अत उसका मन पवत से रुकी हुई परिणामत दो धाराओ मे विभक्त धारा के समान दोलायमान है। अन्तर्द्वन्द्व हृदय मे व्याप्त है।

विशेष—निरवयव चित्त मे द्वैधीभाव कथन से यहाँ असम्बन्धे सम्बन्धलक्षणा अतिशयोक्ति है। 'यथा के प्रयोग से उपमालकार है। लाटानुप्रास, वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, अनुष्टुप् छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—कृत्ययो=आश्रमरक्षणमातृसम्भावनरुपयो द्वयो कार्ययो, भिन्नदेशत्वात्=परस्परव्यवहितप्रदेशत्वात्, मे=मम, मन=चित्तम्, यथा, पुर=अग्रे, शैले—पवते, प्रतिहतम्=प्रतिरुद्धम्, स्रोतोवह=नद्या, स्रोत=प्रवाह, द्वैधीभवति=सशयाकुल जायते।

राजा—(विचिन्त्य) सखे, त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीत । अतो भवानित प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानस मामावेद्य तत्रभवतीना पुत्रकृत्य-मनुष्ठातुमर्हति ।

विदूषक—न खलु मा रक्षोभीरुक गणयसि । [ण क्खु म रक्खोभीरुअ गणेसि ।]

संस्कृत सरलार्थ—मातृकार्यस्य नगरे तपस्विकार्यस्य च तपोवने सत्त्वात्, एकदैव तयो द्वयो रप्यनुष्ठानासम्भवा मे मन स्तथैव सशयाकुल भवति यथा अग्रे शैलसघाते प्रतिरुद्ध सन् नद्या प्रवाह द्विधाविभक्तो जायते ।

टिप्पणी

अनुपदम पदस्य पश्चात् अव्ययीभाव, पीछे पीछे, आगत एव=आ ही रहा हूँ, वतमाने क्त । कुतूहलम्=उत्सुकता ' रम्यवस्तु समालोके लोलता स्यात् कुतूहलम् ।" **सपरिवाहम्**—परित वहनम् तेन सह यथा स्यात्तथा सपरिवाहम्—परि+वह्+घञ परिवाह और परीवाह दोनो रूप होते हैं । परिवाह=ऊपर तक पूरा भरा होना, पहले उत्सुकता पूणरूप से भरी हुई थी, **राक्षसात**—रक्ष एव राक्षस स्वार्थे अण् । **अवशेषित**—अव+शिष् कमणि+क्त । **वर्तिष्यसे**=वृत्+लृट पक्षे वत्स्यसि, वृद्भ्य स्यसनो विकल्पत परस्मैपदम् । **मा भैषी**—मा योगे अडभाव, भी+लुङ् । **सज्ज**—सज्ज+अच् । **आज्ञप्तिहर**—आज्ञप्ति हरति आ+ज्ञप्+क्ति, हृ+अप् । **अम्बाभि**—आदरार्थे बहुवचनम् । **आज्ञापयति**—आ+ज्ञा+णिच् लट पुक । **त्रिशकु**—यह सूयवशी राजा हरिश्चन्द्र का पिता था इसने सशरीर स्व ा जाने के लिये महर्षि वशिष्ठ से प्राथना की पर उनके अस्वीकार कर देने पर इसने वशिष्ठ के शत्रु विश्वामित्र से प्राथना की उन्होंने उसे सशरीर स्वग भेज दिया पर देवताओ ने उसे स्वग मे प्रविष्ट न होने दिया और उसे नीचे उल्टे सिर डाल दिया विश्वामित्र ने उसे अपने तपोवल से बीच मे रोक दिया, वह अब भी बीच मे एक तारे के रूप मे लटका है ।

भिन्नदेशत्वात=भिन्न देश ययो, तयो भाव तस्मात् । **द्वधीभवति**—द्वि+धमुञ् =द्वैधम्, द्वया स्थानयो अवस्थानम्, द्वैधमस्यास्तीति द्वैधम्, मत्वर्थेऽच् । द्विविधायुक्त—सशयाकुल । **स्रोतोवह**—स्रोतस्+वह+क्विप् । प्रस्तुत पद्य मे कवि ने दुष्यन्त के हृदय की द्विविधा को मनोवैज्ञानिक तथा भूत रूप मे प्रस्तुत किया है, इसमे अमूर्त मन की मूत प्रवाह से उपमा भी अतिसुन्दर है ।

राजा—(विचार करके) मित्र ! तुम्हे माता ने पुत्र रूप मे स्वीकार किया है । अत आप यहाँ से (राजधानी) लौटकर मुझे तपस्वियो के कार्यों मे व्यस्त मन बता करके, पूज्यनीय माता जी के पुत्र के द्वारा (करणीय) काय को सम्पन्न कीजिए ।

विदूषक—तो आप मुझे राक्षसो से भयभीत न समझें अर्थात मैं राक्षसो से डरने के कारण यहाँ से राजधानी जा रहा हूँ आप ऐसा न समझें ।

राजा—(सस्मितम्) कथमेतद् भवति सभाव्यते ?

विदूषक—यथा राजानुजेन गन्तव्य तथा गच्छामि। [जह राआणुएण गन्तव्व तह गच्छामि।]

राजा—ननु तपोवनोपरोध परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकास्त्वयैव सह प्रस्थापयामि।

विदूषक—(सगवम्) तेन हि युवराजोऽस्मीदानी सवृत्त। [तेण हि जुवराओ म्हि दाणि सवुत्तो।]

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽय वटु। कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्त पुरेभ्य कथयेत्। भवतु। एनमेव वक्ष्ये। (विदूषक हस्ते गृहीत्वा। प्रकाशम्) वयस्य, ऋषिगौरवादाश्रम गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकाया ममाभिलाष। पश्य—

क्व वय क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावै सममेधितो जन।
परिहासविजल्पित सखे
परमार्थेन न गृह्यता वच॥ १८॥

राजा—(मुस्कराकर) आपके सम्ब ध मे ऐसी सभावना कैसे की जा सकती है ?

विदूषक—तब तो जैसे राजा का अनुज जाता है वैसे ही जाऊँगा।

राजा—तपोवन का घेरा दूर करना चाहिए अत सभी अनुयाइयो को तुम्हारे साथ ही भेज रहा हूँ।

विदूषक—तब तो इस समय मैं युवराज हो गया हूँ।

राजा—(अपने मन मे ही) यह ब्राह्मण बालक बडा ही चञ्चल है। कही शकुन्तला विषयक हमारी इच्छा को अन्त पुर की रानियो से न कह दे। ठीक है, तो मैं इससे इस प्रकार से कहूँगा। (विदूषक का हाथ पकड कर प्रकट मे) मित्र! ऋषियो के प्रति आदर भाव होने के कारण (ही) मैं आश्रम मे जा रहा हूँ। सचमुच उस तपस्वी बाला शकुन्तला के प्रति मेरी कोई आकाङ्क्षा नही है। देखो—

क्व इति अन्वय—सखे! वय क्व, मृगशावै समम एधित परोक्षमन्मथ जन क्व, परिहासविजल्पित वच परमार्थेन न गह्यताम।

शब्दार्थ—सखे=मित्र! वय=हम (सभी कलाओ मे प्रवीण राजा दुष्यन्त), क्व=कहाँ, मृगशावै=हरिणो के बच्चो के, समम=साथ (सानिध्य मे,) एधित=वृद्धि को प्राप्त, परोक्षमन्मथ=काम भावना से दूर (रहित), जन=सामान्य व्यक्ति, क्व=कहाँ, परिहास-विजल्पितम्=हँसी मे कही गई, वच=बात को, परमार्थेन न गृह्यत्ताम्=सत्य मत जानिये।

अनुवाद—कहाँ हम (नगरवासी) और मृगशावको के साथ (पोषित) बडी हुई सर्वथा काम भावना से अनभिज्ञ (सामान्य) व्यक्ति (बाला शकुन्तला) कहाँ! मित्र! हास मे कही गई (मेरी) वार्ता को सत्य मत समझ लेना।

विदूषक —अथ किम्। [अह इ]

(इति निष्क्रान्ता सर्वे।)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

भावार्थ—राजधानी को लौटते हुए विदूषक के प्रति राजा दुष्यन्त कहता है कि मित्र ! शकुन्तला विषयक वार्ता को सत्य मत मानना। कारण कि मित्रता, विवाह तथा प्रीति यह तो समान स्तर के व्यक्तियो मे ही होनी है। फिर शकु तला और मुझमे तो आकाश पाताल का अ तर है। कहा तो अ न पुर की सु दरियो से विलास एव क्रीडा करने वाला मै दुष्य त और कहा काम भावना से सवथा अपरिचित वह भोली तपस्वी क या जो मृगो के साथ रही है फिर हम दोनो मे किस प्रकार एक दूसरे के प्रति आसक्ति हो सकती है। अत वह पूव कथित वार्तालाप तो परिहास मात्र था, सत्य नही।

विशेष—यहाँ पूर्वाध, उत्तराध का कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, राजा और शकुन्तला के एकत्र वर्णन से **विषम** अलकार है। वियोगिनी नामक छन्द है। **"विषमे ससजा गुरु** समे सभरालोऽथ गुरु वियोगिनी" "राजा—स्वगतम् से लेकर **अन्त तक सवृत्ति** नामक सध्यग है" सवृत्ति स्वयमुक्तस्य स्वय प्रच्छादन भवेत्।

सस्कृत व्याख्या—सखे=मित्र ! वयम्—नागरिका, क्व—कुत्र, मृगशावै = मृगशावकै, सम्=सह, एधित =सम्वर्धित (अतएव) परोक्षमन्मथ =कामभावानभिज्ञ, जन = शकुन्तलासदृश जन, क्व कुत्र, परिहासेन उपहासेन विजल्पितम् कथितम्=परिहास विजल्पितम् वच =वचनम्, परमार्थेन=तत्त्वत, न गृह्यताम्=न स्वीक्रियताम्।

सस्कृत सरलार्थ—राजा विदूषक कथयति—न तत्त्वतो मम शकु तलाया मासक्ति, अहमस्मि कामकलाभिज्ञ नागरिक सा चास्ति मृगशावकै सम वृद्धिगता अतएव कामभावानभिज्ञा वनवासिनी तापस बाला, अत तस्या ममानुरागो न सम्भवति अत मत्कृत शकुन्तलानुरागवणनादिक सर्व काल्पनिक परिहासविजल्पितमात्रम, न त्वया तत् परमाथतो ग्राह्यम।

टिप्पणी

बटु—वस्तुत ब्रह्मचारी के लिये प्रयुक्त होता है पर यहाँ इसका तात्पय ब्राह्मण बालक से है। **अस्मत प्राथनाम**—शकुन्तला विषयक मेरी अभिलाषा को, **अन्त पुरेभ्य**—यहाँ लक्षणा के द्वारा अन्त पुर का अथ अन्त पुर की रानियाँ है। **परोक्ष मन्मथ**—परोक्ष म मथ यस्य स, मन मथ्नातीति मन्मथ काम अक्ष्णो पर परोक्षम **तदस्त्यस्येति** परोक्ष परोक्ष+अच मत्वर्थे। **परिहास विजल्पितम**—परिहसनम् परिहास, तेन विजल्पितम्। परम अथस्तेन परमार्थेन।

विदूषक—ठीक है।

(सभी निकल जाते हैं)

द्वितीयाङ्क समाप्त

तृतीयोऽङ्कः

(तत प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्य)

शिष्य —अहो ! महानुभाव पार्थिवो दुष्यन्त । प्रविष्टमात्र एवाश्रम तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि न कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति।

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरत ।
हु कारेणेव धनुष स हि विघ्नानपोहति ।।१।।

यावदिमान्वेदिसस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि। (परिक्रम्यावलोक्य च, आकाशे) प्रियवदे ! कस्येदमुशीरानुलेपन मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते ? (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि ? आतपलङ्घनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला , तस्या शरीरनिर्वापणायेति ? तर्हि त्वरित गम्यताम् । सखि ! सा खलु भगवत कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् । अहमपि तावद्वैतानिक शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि । (इति निष्क्रान्त)

इति विष्कम्भक ।

तृतीय अक प्रारम्भ

(तदनन्तर कुशो को लेकर कण्व के शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—ओह, राजा दुष्यन्त महाप्रभावशाली (है) उन महानुभाव राजा के आश्रम मे प्रवेश करते ही हमारे धार्मिक काय निर्विघ्न चलने लगे हैं।

अन्वय—बाण स धाने का कथा ? हि स ज्याशब्देन एव, धनुष हुँकारेण इव, विघ्नान दूरत अपोहति।

शब्दार्थ—बाण स धाने=धनुष पर बाण चढाने मे, का कथा—बात ही क्या, ज्याशब्देनैव=प्रत्यचा के शब्द से ही, धनुष हुकारेण इव=मानो धनुष की हुकार से विघ्नान्=यज्ञ कम की बाधाओ को, अपोहति=दूर कर देते हैं या निराकरण कर देते हैं।

अनुवाद—धनुष पर बाण चढाने की तो बात ही क्या, क्योकि वह प्रत्यचा के शब्द से ही, मानो धनुष् की हुकार से, ही विघ्नो को दूर कर देते हैं।

भावार्थ—इस श्लोक मे राजा के महान् प्रताप का वणन किया गया है। उसका चारो ओर इतना प्रभाव व्याप्त है, कि राक्षस आदि भी यज्ञ कर्म मे उपद्रव करने का साहस नही कर सकते। आश्रम मे सभी धार्मिक क्रिया-कलाप निर्विघ्न

सम्पन्न हो रहे हैं। इस कारण राजा को धनुष पर बाण चढाने की आवश्यकता ही नहीं पडती। उसकी प्रत्यञ्चा की ध्वनि ही मानो धनुष की टकार है जिसे सुन कर सभी विघ्न दूर भाग जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'का कथा' अर्थात् उसका तो कोई प्रसग ही नही, इस प्रकार यहाँ अर्थापत्ति अलकार है। 'हुकारेण इव मे उत्प्रेक्षालकार है। धनुष् पर चेतनत्वारोप होने से यहाँ उत्प्रेक्षा समासोक्तिगर्भा है। अष्टाक्षरात्मक अनुष्टुप् छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—बाणस्य शरस्य सन्धान समारोपणम् तस्मिन्—बाण सन्धाने= शरयोजने, का कथा=किमुच्यते—बाणसन्धानस्य प्रसग एव नायातीत्यथ हि= यत, स—राजा, दूरत एव=दूरादेव, ज्याया मौर्व्या शब्द ध्वनि तेन—ज्याशब्देन एव=धनुगु णध्वनिनैव, धनुष—कामु कस्य, हुकारेण इव=हु शब्द सदृशेन इव, विघ्नान्—धार्मिक क्रियान्तरायान् अपोहति=निराकरोति।

संस्कृत सरलार्थ—दुष्यन्तस्य प्रताप निर्दिशन् शिष्य कथयति यज्ञविघ्नकारिणां राक्षसाना वधाय तस्य शरस धानस्य प्रसग एव नास्ति, स तु धनुर्ज्याशब्देनैव सवविघ्नान् दूरी करोति।

यावदिति—तब तक इन कुशो को वेदी पर बिछाने के लिये ऋषियो को देता हूँ। (घूमकर और देख कर। आकाश की ओर देखकर अकेले ही कहता है) प्रियवदा! यह खस का लेप और कमालनाल युक्त कमल के पत्ते किसलिये ले जाये जा रहे हैं। (सुनने का अभिनय करके पुन स्वय कहता है, क्या तुम यह कहती हो कि लू लगने से शकुन्तला बहुत अधिक अस्वस्थ (हो गई है) उसके शरीर को शान्ति देने के लिये (यह ले जा रही हूँ) तो सावधानी से उसका उपचार करना। वस्तुत वह कुलपति भगवान् कण्व की प्राणस्वरूप है। तब तक मै भी शकुन्तला के लिये यज्ञीय शान्ति जल गौतमी के हाथ से भिजवा दूगा।

(यह कहकर चला जाता है)
(विष्कम्भक समाप्त हुआ)

टिप्पणी

यजमानशिष्य—यज्ञानुष्ठानकर्ता भगवान् कण्व का शिष्य। यजते इति यजमान—यज् धातो लट्—शानच्। **शिष्य**—शास धातो एतिस्तु० इत्यादिना क्यप "शास इदङ् हलो इति आकारस्य ईकारे षत्वे। **महानुभाव**—अनुगतो भाव, अथवा अनुभावयतीत्यनुभाव—अनु+भू+घञ् अथवा अनु+भू+णिच्+अच् कतरि महान् अनुभाव यस्य। महान् प्रतापी। **प्रविष्ट मात्रे एव**—प्रविष्ट एव प्रविष्ट मात्र तस्मिन् प्रवेश करते ही। मयूर व्यसकादिवत् समास। वस्तुत इस प्रकार के शब्द प्राय नपुसक लिङ्ग मे ही प्रयुक्त होते हैं, पर कवि ने इनका सभी लिगो मे प्रयोग किया है अर्थात् इनको विशेषण बनाकर सभी लिङ्गो मे प्रयुक्त किया है। **सन्धाने**—सम्+धा+ ल्युट। **निरुपद्रवाणि**—निगता उपद्रवा येषा तानि। **दूरत**—दूरे स्थित्वेत्यथ अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी। **हुङ्कार**—हुङ् करण हुकार हुम्+कृ+घञ्। **अपोहति**—अप्+

(तत प्रविशति कामयमानावस्थो राजा ।)

राजा—(नि श्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।
अलमस्मि ततो हृदय तथापि नेद निवतयितुम् ॥२॥

उह+लट उपसर्गादस्यति० वार्तिक से परस्मैपद, अन्यथा धातु आत्मनेपदी है। **ऋत्विग्भ्य**—ऋतौ यजति येते ऋत्विज ऋतु+यज्+क्विन्। **आकाशे**—यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है, इसे आकाशभाषित भी कहा जाता है। इसमे प्रश्न करने वाला और उत्तर देने वाला एक ही व्यक्ति होता है, वह आकाश की ओर देखता हुआ किसी को सम्बोधित कर कुछ पूछता है और फिर सुनने का अभिनय कर कहता है कि क्या तुम यह कह रहे हो और तब स्वय ही उसका उत्तर भी देता है "किं ब्रवीषीति यन्नाटये विनापात्र प्रयुज्यते, श्रुत्वेवा नुक्तमप्यथ तत् स्यादाकाशभाषितम्" **वैतानिकम**—वितानस्य यज्ञस्य इदम् अथवा विताने भवम—वितान+ठक इक वृद्धि । **विष्कम्भक**—यह भी एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है—विष्कम्भ्नाति नियोजयति पूर्वापरकथा भाग य स विष्कम्भक अर्थात् पूर्वापर कथा भाग को जो जोडने वाला कथाविशेष का अश। नाटको मे विष्कम्भक अत्यावश्यक होता है, क्योकि भारतीय नाटकों मे युद्ध बध आदि का रगमञ्च पर दिखाना वर्जित होता है, अतएव द्वितीय अक मे यज्ञ विघ्नकारियो के वध के लिए जब राजा प्रस्थान करता है तभी अक समाप्त हो जाता है, अत अब आगे के कथा भाग को जोडने के लिए पूव घटना का बताना आवश्यक था, इसीलिये कवि ने पूर्वापर कथा भागो की कडियो को जोडने के लिए ततीय अक के प्रारम्भ मे इस विष्कम्भक की योजना की है। यद्यपि विष्कम्भक की कथा नीरस और सक्षिप्त होती है तथा पूर्वापर कथा भागो को जोडने के लिए इसकी आवश्यकता पडती है। इसमे प्राय मध्यम पात्रो का प्रयोग होता है और यह अक के आदि मे रखा जाता है। वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदशक । सक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित । मध्यमेन मध्यमाभ्या वा पात्रभ्या सम्प्रयोजित । शुद्ध स्यात् स तु सकीर्णो नीच मध्यमकल्पित ।" अथवा "तत्र विष्कम्भको भूतभाविवस्त्वशसूचक । अमुख्य-पात्र रचित सक्षेपैक प्रयोजन । अर्थात् यह कि विष्कम्भक दो प्रकार का होता है, जहाँ एक या मध्यम श्रणी के पात्र होते हैं वहाँ शुद्ध विष्कम्भक और जहाँ नीच और मध्यम पात्र होते हैं वहाँ मिश्र या सकीर्ण विष्कम्भक होता है। यहाँ एक ही कण्वशिष्य मध्यम पात्र है अत यह शुद्ध विष्कम्भक है। कुछ आचार्यों की मान्यता है कि जहाँ मध्यम पात्र केवल सस्कृत भाषी हो वहा शुद्ध और जहाँ सस्कृत-प्राकृत भाषी हो वहाँ मिश्र विष्कम्भक होता है इस दृष्टि से भी यह शुद्ध विष्कम्भक है।

(तदनन्तर कामियो जैसी अवस्था वाले राजा का प्रवेश)

राजा—(दीघ नि श्वास लेकर)

(मदनबाधा निरूप्य) भगवन् कुसमायुध, त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसन्धीयते कामिजनसार्थ । कुत —

तव कुसुमशरत्व शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिद मयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैं रग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥३॥

अन्वय—तपस वीर्यं जाने, सा बाला परवती इति मे विदितम् । तथापि इद हृदय तत निवतयितु अल न अस्मि ।

शब्दार्थ—तपस वीयम=तपस्या की शक्ति को, जाने=जानता हू । सा बाला=वह कन्या शकुन्तला, परवती=पराधीन, विदितम्=ज्ञात है, तत =उससे, निवतयितुम्=हटाने मे, अल नास्मि=समथ नही हूँ ।

अनुवाद—मै तपस्या की शक्ति को जानता हूँ । वह भोली-भाली कन्या (शकुन्तला) पराधीन है, यह भी मुझे विदित है । फिर भी इस मन को उससे हटाने मे समथ नही हूँ ।

भावार्थ— राजा दुष्यन्त शकुतला मे अत्यन्त आसक्त है पर उसे प्राप्त करने मे वह उपाय शून्य है । न तो वह शकुन्तला को बलात् आश्रम से ले जा सकता है क्योकि ऐसी अनधिकार चेष्टा पर उसे ऋषि कण्व शाप दे सकते हैं । उनके तपोबल से वह भली-भाँति परिचित है । तथा उसे शकुन्तला की परवशता का भी ज्ञान है । शकुन्तला ऋषिकण्व के सरक्षण मे है । वह कण्व की आज्ञा के बिना स्वेच्छा से उसके साथ नही जा सकती । अत राजा का शकुन्तला के विषय मे सोचना व्यथ है । तो भी न जाने क्यो उसका मन अभी शकुन्तला मे अनुरक्त है । वह अपने मन को शकुन्तला की ओर जाने से नही रोक सकता है ।

विशेष—यहाँ पर 'तपस वीय जाने' मैं तप के प्रभाव को जानता हूँ । अत मैं शकुन्तला को बलात् अपने आधीन नही कर सकता । इस प्रकार यहाँ पर बलात् वशणीयत्व रूपी काय के प्रस्तुत होने पर जो यह अप्रस्तुत 'तपसो वीर्यं जाने'—काय कहा है इससे यहाँ पर अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार है ।

विशेषोक्ति—यहाँ पर राजा के शकुन्तला से अपने मन को हटाने के कारण है—महर्षि कण्व का तपोबल तथा शकुन्तला का पराधीन होना पर फिर भी वह अपने मन को शकुन्तला से नही हटा पा रहा है । यहाँ कारण के रहते हुए भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलकार है ।

12

छन्द—आर्याजाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—तपसो वीर्य जाने=अह मुनिजनतप प्रभाव सम्यग जानामि। सा=पूर्वोक्ता, बाला=मुग्धा नायिका शकुन्तला, परवती=गुरुजनाधीना, इति मे विदितम्=इत्यपि मया ज्ञातम तथापि (अहम) तत=शकुतलासकाशात्, इदम=तस्या अनुरक्तम् हृदयम=मन, निवर्तयितुम=अपनेतुम्, न अलम अस्मि=समर्थो नास्मि।

संस्कृत सरलार्थ—राजा मनसि विचिन्तयति—अह मुनितप प्रभाव सम्यग वेद्मि, मुनयो हि निग्रहानुग्रहसमर्था भवन्ति, अतो बलादस्या अपहरणे शापादि भयम। सा मुग्धा शकुतलापि गुरुजनाधीना अतो न तस्या स्वेच्छया मया सह गमनमपि सम्भवति एव तस्या प्राप्ति यद्यप्यसम्भवा तथापि तदनुरक्त मम चित्त मह शकुन्तलासकाशादपनेतु मसमर्थोऽस्मि।

(कामपीडा का अभिनय करके)

भगवान् कामदेव! विश्वास योग्य भी आप और चन्द्रमा के द्वारा कामिजनो का समूह अत्यधिक प्रतारित किया जा रहा है—क्योकि

तवेति-अन्वय—तव कुसुमशरत्वम् इन्दो शीतरश्मित्व (च) इद द्वय अपि मद्विधेषु अयथार्थ दृश्यते, (हि) इन्दु हिमगर्भै मयूखै अग्नि विसृजति, त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।

शब्दार्थ—तव=तुम्हारा, कुसुमशरत्वम्=पुष्पसायक होना, इन्दो=चन्द्रमा का, शीतरश्मित्वम्=शीतल किरणो वाला होना इद द्वयम्=ये दोनो, मद्विधेषु=मुझ जैसे काम पीडित विरहियो के लिये, अयथार्थम्=असत्य या विपरीतार्थक, हिमगर्भै=तुषार पूर्ण, मयूखै=किरणो से, विसृजति=वर्षा करता है, वज्रसारीकरोषि=वज्र के समान कठोर बना लेते हो।

अनुवाद—तुम्हारा पुष्पसायक होना तथा चन्द्रमा का शीतल किरणो वाला होना ये दोनो बातें मुझे जैसे काम पीडित विरहियो के विषय मे असत्य दिखाई देती हैं। क्योकि चन्द्रमा तो तुषारपूर्ण किरणो से अग्नि की वर्षा करता है और तुम भी पुष्प शरों को वज्र के तुल्य कठोर बना रहे हो।

भावार्थ—इस श्लोक मे विरहियो की दशा का यथार्थ चित्रण किया गया है। सयोग की अवस्था मे जो कामदेव के फूलो के कोमल बाण सुख पहुँचाते हैं और चन्द्रमा की शीतल किरणें तापहारक होती हैं, वही विरहावस्था मे मदन पीडितो के लिए विपरीत प्रकार के बन जाते हैं। यही कारण है कि राजा के लिए चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से उसकी विरहाग्नि को और अधिक उद्दीप्त कर देता है। वे विरह से सन्तप्त होने के कारण चन्द्रमा की शीतल किरणो मे अग्नि का अनुभव करने लगते हैं। काम के कुसुम बाण भी वज्र के तुल्य कठोर बन कर उनके विरह व्यथित अन्त-करण को और अधिक विदीर्ण कर देते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे द्वितीय चरण मे 'मयि' इस विशेष का कथन करने के स्थान पर जो "मद्विधेषु" इस सामान्य का कथन किया गया है उससे यहाँ अप्रस्तुत-प्रशसा अलङ्कार है।

'कुसुमबाणान' मे कुसुमो पर बाणो का आरोप किया गया है जोकि प्रकृत विरह के प्रसग मे उपयोगी है, अत यहाँ **परिणामालकार** है। "आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम ।

कुसुमशरत्वम 'और' 'शीतरश्मित्वम्' इन दोनो की अयथार्थता को सिद्ध करने के लिए उत्तरार्द्धगत दो वाक्यार्थों को हेतु के रूप मे रखा गया है, अत **"वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग"** अलकार है।

शीतल किरणो से अग्नि की वर्षा करना तथा पुष्पो के बाणो से वज्रवत् कठोर प्रहार करना—इन दोनो स्थलो पर **विषम** अलकार है, क्योकि यहाँ पर कारण और काय के गुणो का परस्पर विरुद्ध रूप मे वणन किया गया है। कुछ यहाँ पर 'अपह्नुति अलकार भी मानते हैं। क्योकि यहाँ चन्द्रमा के शीतल रश्मित्व को, जो प्रकृत है, छिपा कर उसका अग्निवषण कहा गया है। सम्पूर्ण पद्य मे **यथासख्य अलकार** है। मालिनी नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—तव=कामदेवस्य, कुसुमानि पुष्पाणि शरा बाणा यस्य तस्य भावस्तत्त्वम् कुसुमशरत्वम=पुष्पशरसज्ञत्वम्, इन्दो=चन्द्रस्य, शीता शीतला रश्मय किरणा यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्—शीतरश्मित्वम्=हिमाशुसज्ञत्वम, इदम् द्वयम्=एतद् उभयमपि, मद्विधेषु=मादृशेषु विरहिषु, अयथाथम्=विपरीतार्थम् निरर्थक वा, दृश्यते=प्रकटी भवति, (हि) इन्दु=चन्द्रमा, हिम गर्भे येषान्ते तै—हिमगर्भै=तुषाराभ्यन्तरै, मयूखै=किरणै, अग्निम्=वह्निम्, विसृजति=विशेषेण किरति, वहिश्शीतलैरप्यङ्गारैरिवा त किरणै र्देहतीत्याशय । त्वमपि=कुसुमायुधोऽपि, कुसुमान्येव बाणास्तान् कुसुमबाणान्=पुष्पमयान् शरान्, वज्रस्य सार इव सारो बल येषान्ते वज्रसारा अवज्रसारान् वज्रसारान् करोषीति वज्रसारीकरोषि=कुलिशवत् कठोरान् करोषि।

सस्कृत सरलार्थ—कामबाधा मभिनयन् कुसुमायुध सम्बोधयश्च राजा कथयति—इदानीमेव प्रतीयते यत्तव पुष्पबाणासज्ञत्वम् चन्द्रस्य च शीतरश्मिसज्ञत्वम् एतद् उभयमपि कामपीडिते मयि असत्य मेव—न त्व कुसुमशर नापि चन्द्र शीतरश्मि, यतो हि चन्द्रस्तु स्वकीयै वहिश्शीलतै रप्यङ्गारमयैरिवान्त किरणै र्मां दहति, त्वमपि च स्वकीयान् पुष्पबाणान् वज्रवत् कठोरान् करोषि।

टिप्पणी

कामयमानावस्थ—कामयमानस्या वस्था इवावस्था यस्य स, कम् धातो णिङ् शानच्। जाने=ज्ञा+लट। मैं तपोवल को जानता हूँ अत वलात् उसका अपहरण नहीं कर सकता। क्योकि इसमे मुनि के शापादि का भय है। **सा बाला**—जिसके कि कटाक्ष मन्दस्मित आदि का मैं अनुभव कर चुका हूँ ऐसी वह मुग्धा—भोली-भाली बालिका शकुन्तला, **परवती**—परतन्त्रा गुरुजनाधीना है, **इति मे विदितम्**—यह भी मुझे ज्ञात है, अत वह सखियो की अनुमति पाकर भी गुरुजनो की आज्ञा के बिना स्वेच्छा से मेरे साथ चल भी नही सकती, विवाह भी नहीं कर सकती। **मे विदितम्**—

(सखेद परिक्रम्य) क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यै रनुज्ञात खिन्नमात्मान विनोदयामि । (नि श्वस्य) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरण-मन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेला प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद् गच्छामि ।

यहाँ मे मया के अथ मे निपात है 'ते मे शब्दौ निपातौ त्वया मयेत्यर्थे" अथवा विदितम् मे भावे क्त प्रत्यय होने से शेष विवक्षा मे 'मे' मे षष्ठी है । निवर्तयितुम—नि+वृत णिच तुमुन् । लत—शकुन्तला के पास से मैं प्रयत्न करने पर भी अपने भी मन को उसके पास से हटाने मे असमर्थ हूँ । यहाँ पर तापन नामक मुखसन्धि का अग है "उपायादर्शन यत्तु तापन नाम तद् भवेत्" ।

कुसुमायुध—आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधम्, कुसुमम् आयुध यस्य तत्सम्बोधने । कुसुम+युध् धत्रर्थे क करणे । चन्द्रमसा—चन्द्र कर्पूर सादृश्येन माति तुलयति इति चन्द्रमा तेन । विश्वसनीयाभ्याम=तुम्हारे पुष्पवाण और चन्द्रमा के शीतरश्मि होने से अतिविश्वासपात्र और तापहारक होने से । अतिसन्धीयते—अति+सम्+धा+कमणि लट् । प्रतायते वञ्च्यते वा । कुसुमशरत्वम्—पाच ही कामदेव के पुष्प वाण माने जाते है "अरविन्द मशोक च चूत च नवमल्लिका नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चवाण-स्य सायका । कार्यदष्टि से इन वाणो का नाम है "उन्मादनस्तापनश्च शोषण स्तम्भन स्तथा सम्मोहनश्च कामस्य पञ्चवाणा प्रकीर्तिता" अयथाथ—असत्य नामानुसार गुण वाला न होना । अथस्य अभिधेयस्य योग्य यथाथम् अव्ययीभाव न यथाथम अयथाथम् । विसृजसि—यद्यपि मध्याह्न मे चन्द्रमा के न होने से विसृजति यह वतमान कालिक प्रयोग उचित प्रतीत नही होता तथापि यह मानकर कि कवि ने यहाँ राजा द्वारा कामपीडाजन्य दु खातिरेकवश भावी चन्द्रोदयजन्य सन्तापकारिता का अनुभव कराया है, इसे उचित कहा जा सकता है । इसी प्रकार यहाँ जो श्लोक मे क्रम भग दोष है उसका भी परिहार यह मान कर किया जा सकता है कि कवि का उद्देश्य यहाँ राजा की उन्मादावस्था दिखाना है अत यह काव्य कौशल ही है, दोष नही । यही मान कर कथित पदत्व दोष का भी वारण किया जा सकता है यहाँ गुणातिपात नामक नाट्य लक्षण है "गुणातिपात कार्यं यद् विपरीत गुणान् प्रति"।

(खेद के साथ चारो ओर घूमकर) यज्ञकम के समाप्त हो जाने पर सदस्य ऋषियों द्वारा (जाने की) अनुमति प्राप्त मैं अपने खिन्न मन को कहाँ विनोदित करूँ । (दीघ श्वास लेकर) प्रिया शकुन्तला के दशन के अतिरिक्त मेरे लिये और क्या सहारा है । तो पहले इसे खोजता हूँ । (सूय को देखकर) इस तीव्र धूप के समय को प्राय सखियो के साथ शकुन्तला लता कुञ्जो वाले मालिनी नदी के किनारो पर बिताती है, तो वहीं चलता हूँ । (चारो ओर घूमकर और (वायु के) स्पर्श का अभिनय करके) ओह, यह प्रदेश तो सुखद वायु के कारण रमणीय है ।

(परिक्रम्य सस्पर्शं रूपयित्वा) अहो, प्रवातसुभगोऽयमुद्देश ।
शक्यमरविन्दसुरभि कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितु पवन ॥४॥

शक्यमिति-अन्वय—अरविन्दसुरभि मालिनीतरङ गाणाम कणवाही पवन अनङ गतप्तैं अङ गै अविरलम् आलिङि्गतुम शक्यम् ।

शब्दार्थ—अरविन्दसुरभि =कमलो से सुग्धित, मालिनीतरङ्गाणाम् कणवाही=मालिनी नदी की तरगो के जलकणो को धारण करने वाला, पवन=वायु, अनङ्गतप्तैं अङ गै =काम से स तप्त (मेरे) अगो द्वारा, अविरलम्=निर तर तृप्ति पयन्त, आलिङ्गितुम शक्यम—आलिङ गन—स्पश या सेवन करने योग्य है ।

अनुवाद—कमलो से सुगन्धित, मालिनी नदी की तरगो के जलकणो को धारण करने वाला (यह) वायु, काम से स तप्त (मेरे) अगो द्वारा लगातार तृप्ति पयन्त सेवनीय है ।

भावार्थ—विरह पीडित दुष्य त शकुन्तला को खोजता हुआ मालिनी नदी के किनारे आता है और वहाँ के वायु का स्पश पाकर मन मे कहता है । इस प्रदेश का वायु मालिनी नदी के तरगो के जलकणो से शीतल एव कमलो से सुगन्धित है अतएव यह मेरे कामाग्नि से स तप्त अगो को शान्ति देने वाला है, अत यहाँ यह वायु तृप्ति पयन्त मेरे द्वारा सेवनीय है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वायु को राजा के सहायक के रूप मे निर्दिष्ट किया गया है अत यहा **समाहित** अलकार है "कार्यारम्भे सहायाप्ति" वाय पर मित्र तुल्य आलिङ्गनादि कार्यो का आरोप होने से **समासोक्ति** अलकार है। वायु मे आलिङ्गन शक्यत्व बतलाने से असम्बन्ध मे सम्ब धलक्षणा **अतिशयोक्ति** है । आर्याजाति छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—अरवि दैं कमलैं सुरभि वासित —अरवि दसुरभि = कमलामोदवासित , मालिनीतरङ्गाणाम् मालिनीत्याख्यातसरित्कन्लोलानाम्, कणवाही =जलविन्दुवाहक , पवन = वायु , अनङ्गेन कामेन तप्तैं —अनङ्गतप्तैं कामजनितदाह सन्तप्तै , अङ्गै शरीरावयवैं , अविरलम्=गाढ, तृप्ति यावत् यथास्यात्तथा, आलिङ्गि-तुम्=आसेवितुम, शक्यम=योग्यम् ।

सस्कृत सरलार्थ—मालिनीतटमासाद्य तत्रत्यसुखदपवनसस्पशमधिगम्य राजा मनसि चिन्तयति—कमलामोदसुरभित मालिनीसरिद्वीचिजलकणवाहकोऽय वायु मया कामाग्निसन्तप्तैरङ्गर्गाढ मासेवितु शक्यम् ।

टिप्पणी

सखेदम्—खेदेन सहित यथास्यात्तथा । **संस्थिते**=समाप्ते **सदस्य** —"सदस्या विधिदर्शिन इत्यमर" विधि को जानने वाले ऋषिजनो के द्वारा—सदसि साधु इत्यर्थे सदस्+यत् । **खिन्नम्**—खिद्—क्त । **प्रवातसुभग** —प्रैकृष्ट सुखद बात वायु तेन सुभग रमणीय । **उग्रातपवेलाम्**—उग्र आतप यस्या ताम् वेलाम् । **ससखीजना**—

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन् वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे सन्निहितया शकुन्तलया भवितव्यम् । तथा हि—(अधो विलोक्य)

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥५॥

यावद् विटपान्तरेणावलोकयामि । (परिक्रम्य, तथा कृत्वा, सहर्षम्) अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम् । एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु, श्रोष्याम्यासां विश्रम्भकथितानि ।

(इति विलोकयन् स्थितः)

सखीजनाभ्या सह ससखीजना । गमयति=गम्+णिच् लट—व्यतीत करती है । पवन आलिङ्गितुम् शक्यम यहाँ कम की अविवक्षा मे नपुसकलिङ्ग है, ऐसे प्रयोग भाष्यादि मे भी हैं शक्य च श्वमासादिभिरपि क्षुत्प्रतिह तुम्'' शक् धातो शकिसहोश्चेति यत् । यहाँ यह आशका न होनी चाहिये कि शीतल मन्द तथा सुगन्धित वायु विरही राजा के लिये सुखद कैसे हो सकता है, क्योकि राजा इस समय मालिनी नदी के किनारे है, और वह जानता है कि शकुन्तला भी यही है अत यहाँ का वायु शकुन्तला का स्पश करके ही आया है अत वह मेरे लिये सुखद ही है, मेघदूत मे भी कवि ने ऐसे वायु को सुखद बतलाया है "आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाता पूर्व स्पृष्ट यदि किल भवेदङ्ग मेभिस्तवेति" । तत प्रविशति से लेकर यहाँ तक उद्वेग नामक अवस्था है "मनस कम्प उद्वेग कथितस्तत्र विक्रिया" और यहाँ परिसप नामक प्रति मुखसधि का अग है "दृष्टनष्टानुसरण परिसप इतीरित" । शक्यम् के प्रयोग के लिये "शक्यमञ्जलिभि पातु वाता केतकिगन्धिन" रामायण का यह श्लोक भी द्रष्टव्य है ।

(चारो ओर घूमकर और देखकर) बेंतो से घिरे हुये इस लतामण्डप मे ही शकुन्तला को उपस्थित होना चाहिये, क्योकि—(नीचे देखकर)

अभ्युन्नतेति अन्वय—पाण्डुसिकते अस्य द्वारे, पुरस्तात् अभ्युन्नता (तथा) पश्चात् जघनगौरवात् अवगाढा अभिनवा पदपङ्क्ति दृश्यते ।

शब्दार्थ—**पाण्डुसिकते**—कुछ पीले वण की वालु का राशि वाले, अस्य द्वारे= इस लतामण्डल के द्वार पर, पुरस्तात्=आगे की ओर, अभ्युन्नता=ऊँची उठी हुई पश्चात्=पीछे की ओर, जघनगौरवात्=श्रोणीभाग के भारीपन के कारण, अवगाढा=गहरी धँसी हुई, अभिनवा=नवीन पदपङ्क्ति (पैरो के चिह्न) दृश्यते= दिखाई पड रही है ।

अनुवाद—कुछ पीले वण की बालुकाराशि वाले इस लतामण्डप के द्वार पर, आगे की ओर ऊँची उठी हुई, (तथा) पीछे की ओर नितम्बस्थल के भारीपन के कारण नीचे धँसी हुई, नवीन पदपङ्क्ति दिखलाई पड रही है ।

भावार्थ—लतामण्डप के द्वार पर नीचे की ओर देखकर राजा कहता है कि शकुन्तला को अवश्य इस मण्डप मे होना चाहिये क्योकि इस लतामण्डप के द्वार पर जहाँ कि पीतवण की रेत पडी हुई है, नवीन पदचिह्न दिखलाई पड रहे हैं, निश्चय ही ये पदचिह्न शकुन्तला के ही होगे क्योकि ये आगे की ओर तो कुछ ऊपर उठे हुये हैं। पर पीछे की ओर उसके जघन स्थल के भारी होने से गहरे धँसे हुये हैं, इससे स्पष्ट है कि अभी ही शकुन्तला ने लतामण्डप मे प्रवेश किया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे यह कारण न बताकर कि शकुन्तला ने इस माग से प्रवेश किया है, जो पद पङ्क्ति रूप काय का कथन किया है इससे यहाँ **पर्यायोक्त** अलकार है। सदृश वस्तु से सदृश वस्तु के ज्ञान के कारण **उपमान** अलकार "सदृशात् सदृशज्ञान मुपमानम्" अभ्युन्नत आदि पद पक्ति से शकुन्तला के होने का अनुमान किया गया है अत **अनुमानालकार**। पदचिह्न स्वभाव वणन से **स्वभावोक्ति** अलकार है। आर्याजाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—पाण्डुसिक्ते=पीतवर्णाभ वालुकाराशियुक्ते अस्य=लता मण्डपस्य, द्वारे=प्रतीहारे, पुरस्तात्=अग्रभागे अङ्गुल्यादिनिक्षेपस्थले, अभ्युन्नता= समुत्थिता, पश्चात्=पृष्ठत, जघनगौरवात्=नितम्वस्थलभारात्, अवगाढा=गम्भीरा निम्नगा, अभिनवा=नूतना, पद पङ्क्ति=चरणचिह्नावलि, दृश्यते=अवलोक्यते।

संस्कृत सरलार्थ—यतो ह्यत्र वालुकाराशि युक्ते लतामण्डपप्रवेशद्वारमार्गे, अग्रभागे समुन्नता पश्चाद् नितम्बस्थलभारात् निम्नगा पद पङ्क्ति=दृश्यते अतोऽनुमीयते यदत्र शकुन्तलया भवितव्यम्।

यावदिति—तो मैं अब वृक्षो की ओट से देखता हूँ। (चारो ओर घूमकर, वैसा ही करके, हर्षपूर्वक) ओह, मेरे नेत्रो का आनन्द मिल गया। यह मेरी अभिलाषा मात्र से हृदय वल्लभा (शकुन्तला) पुष्पो के विस्तर वाली पत्थर की पटिया पर लेटी हुई, सखियो द्वारा सेवित हो रही है अर्थात् सखिया उसकी सेवा कर रही हैं अच्छा तो, अब इनके पारस्परिक विश्वस्त वार्तालाप को सुनूगा।

(इस प्रकार देखता हुआ खडा रहता है)

टिप्पणी

वेतसपरिक्षिप्ते—वेतसै परिक्षिप्ते—परि+क्षिप्+क्त। **अभ्युन्नता**—अभि+उत्+नम्+क्त टाप=उठा हुआ, अगुलियो की ओर भार के कम होने से चरण चिह्न हल्के, अधिक गहरे नही थे। **अवगाढा**—अव+गाह्+क्त टाप=गहरा, पैर की एडियो की ओर, जघन स्थल के भार से चरण चिह्न गहरे धँसे हुये थे। पाण्डुसिकते=पाण्डव सिकता यत्र तस्मिन्, **दृश्यते**—दृश्=कमणि लट्। **जघनगौरवात**—जघनस्य गौरवम् तस्मात् जघनगौरव रमणी सौन्दय का प्रतीक है अतएव "श्रोणीभारादलसगमना", पश्चान्नता गुरुनितम्वतया" आदि उक्तियाँ मिलती है। **लब्धम नेत्रनिर्वाणम्**—निर+वा+ल्युट=निर्वाण शब्द का प्रयोग दाशनिको ने प्राय मोक्ष के लिये किया है जो कि जीवन मे सर्वोत्कृष्ट प्राप्य है, और जीवन की साथकता इसी मे है दुष्यन्त शकुन्तला

(तत प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्या शकुन्तला ।)

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) हला शकुन्तले, अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवात । [हला सउन्दले ! अवि सुहअदि दे णलिणीपत्तवादो ।]

शकुन्तला—किं वीजयतो मा सख्यौ । [कि वीअअन्ति म सहीओ।]

(सख्यौ विषाद नाटयित्वा परस्परमवलोकयत ।)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते । (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोष स्यात्, उत यथा मे मनसि वर्तते । (साभिलाष निर्वर्ण्य) अथवा कृत सन्देहेन ।

८ स्तनन्यस्तोशीर शिथिलितमृणालकवलय
प्रियाया साबाध किमपि कमनीय वपुरिदम् ।
समस्ताप काम मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैव सुभगमपराद्ध युवतिषु ॥८॥

को देखकर कहता है, मेरे नेत्रो को सर्वोत्कृष्ट द्रष्टव्य वस्तु मिल गई, जिससे ये साथक हो गये, अब इन्हे और कोई आकाक्षा नही रह गई है । **मनोरथप्रियतमा**—इच्छा मात्र से मानी गई प्रियतमा, क्योकि वह वास्तविक रूप से तो अभी तक उसकी प्रियतमा नही बन सकी थी । **शिलापट्ट मधिशयाना**—अधि+शी+शानच् टाप, अधिशयाना यहाँ इसके योग मे 'अधिशीङ्स्थासा कर्म' से शिलापट्टम् मे द्वितीया है । **अन्वास्यते**—अनु+आस् कमणि लट, सेवित हो रही है ।

(तत्पश्चात् पूर्वोक्त अवस्था मे विद्यमान शकुन्तला का दोनो सखियो के साथ प्रवेश)

दोनो सखिया—(पखा झलकर, स्नेह पूवक) सखि शकुन्तला, क्या कमलिनी के पत्तो की हवा तुम्हे सुखद प्रतीत हो रही है ।

शकुन्तला—सखियो, क्या तुम मुझ पर हवा कर रही हो ।

(दोनो सखिया चिन्ता का नाटय करती हुई एक-दूसरे का देखती है)

राजा—शकुन्तला अत्यन्त अस्वस्थ शरीर वाली दिखाई दे रही है । (तक के साथ) तो क्या यह लू का दोष है अथवा जैसा मेरे मन मे है । (अभिलाषा पूवक देखकर) अथवा सन्देह करना व्यथ है ।

अन्वय—प्रियाया स्तनन्यस्तोशीर शिथिलितमृणालैकवलय साबाधम् इद वपु किमपि कमनीयम् (अस्ति) । काम मनासिजनिदाघप्रसरयो ताप सम (भवति), तु युवतिषु ग्रीष्मस्य अपराद्धम् एव सुभग न (भवति) ।

शब्दाथ—प्रियाया—शकुन्तला का, स्तनन्यस्तोशीरम्=जिसके स्तनो पर खस लेप किया गया है, शिथिलितमृणालैकवलयम्=जोकि ढीले कमलनाल के एक कंकण से युक्त है । साबाधम्=अस्वस्थ, कमनीयम=मनोहर या मनोज्ञ, कामम्=भले ही,

मनसिजनिदाघप्रसरयो = काम और ग्रीष्म के प्रचार का, युवतिषु = तरुणियो पर, अपराद्धम = सन्ताप, सुभगम् = सौन्दयवधक ।

अनुवाद—प्रिया का, स्तनो पर खस-लेप से युक्त और ढीले हुए कमलनाल के एक ककण से युक्त, अस्वस्थ भी यह शरीर क्या ही मनोज्ञ है । भले ही काम और ग्रीष्म के सचार का ताप समान हो कि तु तरुणियो पर ग्रीष्म का सन्ताप ऐसा सौन्दय-वधक नही होता ।

भावार्थ—कामताप पीडिता शकु तला अत्यधिक अस्वस्था दृष्टिगोचर हो रही है । उसके वक्ष स्थल पर शीतलतादायक खस का लेप किया गया है और कोमलता के कारण वह हाथ मे केवल एक मणाल का ढीला कगन धारण किये है । पर तु इस अस्वस्थता मे भी वह अति सुन्दर प्रतीत हो रही है । यद्यपि काम और लू का प्रभाव समान रूप से शरीर को अस्वस्थ बना देता है, पर लू लगने से शरीर का सौन्दय नष्ट हो जाता है । अतएव राजा का विचार है कि शकु तला पर यह ग्रीष्म का प्रभाव इतना कमनीयता सम्पादक नही हो सकता । यह तो अवश्य ही काम का प्रभाव है जिसमे निबलता होने पर भी सुन्दरता बनी रहती है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे लू के प्रभाव से काम प्रभाव को विशेष बतलाया गया है अत **व्यतिरेक** अलकार है । शरीर सन्ताप के लिये प्रथम चरण मे द्विविध विशेषण रूप कारणो का उल्लेख होने से **समुच्चयालकार**, शरीर के सुस्थतादि सम्पादक हेतु के न होने पर भी कमनीयता रूप कार्योत्पत्ति कथन से **विभावनालकार**, साबाध रूप कारण के होने पर भी वैरुप्यादि रूप कार्याभाव कथन से **विशेषोक्ति** अलकार, स्तनन्यस्तेत्यादि विशेषण से स तापातिशय की प्रतीति होती है और उससे काम सन्ताप का अनुमान होने से **अनुमानालकार**, युवतिषु इस सामान्य कथन से **अप्रस्तुत प्रशसालकार** है और शिखरिणी नामक छ द है ।

सस्कृत व्याख्या—प्रियाया = शकुन्तलाया , स्तनयो न्यस्तम् उशीरम् यत्र तत्—स्तन यस्तोशीरम = कुचनिहितोशीरम्, शिथिलितम् मृणालाना मेक वलय यत्र तत्—शिथिलितमणालैकवलयम् = श्लथकमलनालैकक ड्कणम, आबाधया सहितम् साबाधम् = पीडासहितम् अस्वस्थ मित्यथ , इद वपु = एतत् (शकुन्तलाया शरीरम्, किमपि—अनिवचनीयतया, कमनीयम् = मनोज्ञम् (अस्ति) कामम् = मतमेतत्, यत्, मनसिज काम निदाघ = ग्रीष्म तयो प्रसर वेग तयो—मनसिजनिदाघप्रसरयो , ताप = सन्ताप सम = तुल्य (भवति) तु—किन्तु, ग्रीष्मस्य = तीव्रातपस्य, युवतिषु तरुणीषु अपराद्धम् = तापरुपापराध , एवम् = ईदृशम्, सुभगम् = सौन्दयवधकम्, न = न भवतीत्यथ ।

सस्कृत सरलाथ—शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यमाना शकुन्तला निरीक्ष्य राजा मनसि विचि तयति यद्यप्यस्या स्तनयो रुपरि दाहशा त्यर्थ मुशीरानु लेप कृतोऽस्ति, सौकुमार्यात्स तापाच्च यद्यपीय मेक मेव प्रशिथिल कमलनाल वलय धारयति, अतो निश्चीयते यदिय वलवद स्वस्थ शरीरास्ति तथा प्यस्या शरीरमिद किमपि कमनीय मवलोक्यते

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अनसूये, तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं नु खल्वस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत् [अणसूए, तस्स राएसिणो पढमदसणादो आरहिय पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला। किं णु खु से तण्णिमित्तो अअ आतको भवे।]

अनसूया—सखि!—ममाप्यीदृश्याशङ्का हृदयस्य। भवतु, प्रक्ष्यामि तावदेनाम्। (प्रकाशम्) सखि, प्रष्टव्यासि किमपि। बलवान् खलु ते सन्ताप। [सहि, मम वि ईदिसी आसका हिअअस्स। होदु, पुच्छिस्स दाव ण। सहि,पुच्छितव्वासि किम्पि। वलव खु दे सदावो।]

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) हला, किं वक्तुकामासि। [हला, कि वत्तुकामासि।]

अनसूया—हला शकुन्तले, अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य किन्तु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं तव पश्यामि

मतमेतत्, यत् कामस्य ग्रीष्मस्य च सन्ताप समानरूप एव भवति तथापि ग्रीष्मस्य सन्ताप युवतिषु एव सौन्दयवधको न कदापि जायते ग्रीष्मतापेन शरीरकान्ति क्षीयते पर कामतापेन शरीरस्य दौबल्येऽपि कान्ति वधते एव, अत स्पष्ट मिद यदय काम-जनितसन्ताप सौन्दर्याधायकत्वात् न तु ग्रीष्मताप इत्याशय।

टिप्पणी

अपि—प्रश्न सूचक अव्यय। **उपवीज्य**—उप+बीज् स्वार्थे णिच् क्त्वा ल्यप् **सुखयति**—सुख करोतीत्यथ तत्करोतीत्यादिना णिच्। नलिनी पत्रवात—नलिन्या पत्राणा वात। **आतपदोष**—गरम हवा या लू का दोष, उत=अथवा, **कृतम् सन्देहेन**—कृतम अलम् व्यथम के अथ मे है। **किमपि**—क्या ही अनिवचनीय रूप से, **साबाधम्**—आसमन्तात् बाधनम् आबाधा—आ+बाध भावे अ=आबाधा तया सहितम्। **मनसि-जनिदाघप्रसरयो**—मनसि जात इत्यर्थे जन् धातो डप्रत्यये टिलोप पक्षे सप्तम्या अलुक्=मनसिज काम, नितरा दह्यते अस्मिन्नित्यर्थे नि+दह् अधिकरणे घञ्—निदाघ, प्रसर—प्र+स+अप।

प्रियंवदा—(हाथ की ओट मे) अनसूया, उस राजर्षि के प्रथम दर्शन से लेकर शकुन्तला खिन्न सी है। तो क्या इसकी यह अस्वस्थता उसके कारण ही है?

अनसूया—सखी, मेरे हृदय को भी ऐसी आशका है। अच्छा, तो इससे पूछूंगी। (प्रकट मे) सखी, तुमसे कुछ पूछना है तुम्हारा सन्ताप वस्तुत अति तीव्र है।

शकुन्तला—(शरीर के आधे भाग से बिस्तर से उठकर) सखी, क्या कहना चाहती हो।

अनसूया—सखी शकुन्तला, हम दोनो वस्तुत काम सम्बन्धी बातो से अनभिज्ञ है। किन्तु इतिहास की कथाओ मे जैसी कामपीडितो की दशा सुनी जाती है वैसी ही

कथय किं निमित्तं ते सन्तापः । विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य । [हला सउन्दले, अणब्भन्तरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तन्तस्स । किं दु जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामअमाणाण अवत्था सुणीअदि तादिसी दे पेक्खामि । कहेहि किंणिमित्तं दे सदावो । विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआरस्स ।]

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः । नहि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम् ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) बलवान् खलु मेऽभिनिवेशः इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम् । [बलव क्खु मे अहिणिवेसो । दाणि वि सहसा एदाण ण सक्कणोमि णिवेदिदु ।]

प्रियंवदा—सखि शकुन्तले, सुष्ठु एषा भणति । किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे । अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः । केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति । [सहि सउन्दले, सुट्ठु एषा भणादि । किं अत्तणो आतकं उवेक्खसि । अणुदिअहं क्खु परिहीअसि अगेहि । केवलं लावण्णमई छाया तुमं ण मुंचदि]

तुम्हारी देख रही हूँ । बताओ तुम्हारे सन्ताप का क्या कारण है ? वस्तुतः रोग को ठीक ठीक जाने बिना चिकित्सा आरम्भ नही की जा सकती ।

राजा—अनसूया मे भी मेरा तर्क उत्पन्न हुआ है । मेरा विचार अपने ही प्रयोजन से नही है ।

शकुन्तला—(मन मे) मेरी आसक्ति वस्तुतः बलवती है । अब भी सहसा इन दोनो को बताने मे समर्थ नही हूँ ।

टिप्पणी

पर्युत्सुका—खिन्नमन या उदासीन । **आतङ्क**—आ+तकि भावे घञ् । रोग या सन्ताप । **तन्निमित्त**—स निमित्त यस्य । अथवा तत् प्रथमदर्शनम् निमित्त यस्य । **अनभ्यन्तरे**—अभिगता अन्तरम् अभ्यन्तरा, अभिज्ञा या परिचिता—न अभ्यन्तरा अनभ्यन्तरा । **मदनगतस्य**—काम सम्बन्धी प्रेम व्यापार की । **इतिहासनिबन्धेषु**—इतिहास की कहानियो मे "धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् । पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहास प्रचक्षते ।" इति ह आस्ते अस्मिन् इति इतिहास—इति+ह+आस्+घञ् । **विकारम**—वि+कृ+घञ्=रोग या व्याधि, **परमार्थत**—वास्तविक रूप से, **प्रतीकारस्य**—प्रति+कृ+घञ=उपाय चिकित्सा, **दर्शनम्**—विचार या धारणा, **अभिनिवेश**—आग्रह ।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला ! यह ठीक कहती है । तू अपने रोग की उपेक्षा क्यो कर रही है । तू दिन प्रतिदिन अपने शरीरावयवो से क्षीण होती जा रही है ।

राजा—अवितथमाह प्रियवदा । तथा हि—

क्षामक्षामकपोलमाननमुर काठिन्यमुक्तस्तन
मध्य क्लान्ततर प्रकामविनतावसौ छवि पाण्डुरा ।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥७॥

अर्थात् तेरे अग प्रतिदिन सूखते जा रहे है । केवल लावण्यमयी छाया अर्थात् सौन्दय की झलक ही तुझे नही छोड रही है ।

राजा—प्रियवदा ने सत्य कहा है । क्योकि—

अन्वय - (अस्या) आननम् क्षामक्षामकपोलम, उर काठि यमुक्तस्तनम् मध्य क्लान्ततर, असौ प्रकामविनतौ, छवि पाण्डुरा (सजाता) । पत्राणा शोषणेन मरुता स्पृष्टा माधवी लता इव मदनक्लिष्टा इय शोच्या च प्रियदशना च आलक्ष्यते ।

शब्दार्थ—आननम्=मुखमण्डल, क्षामक्षामकपालम्=अति दुबल कपोलो वाला, उर =वक्ष स्थल, काठिन्यमुक्तस्तनम्=कठोरता से रहित स्तनो वाला, मध्य =कटिप्रदेश क्लान्ततर =अतिशय क्षीण, असौ=क धे, प्रकामविनतौ=अत्यन्त अवनत, छवि =देह की कान्ति, पाण्डुरा=पीली, मदनक्लिष्टा=कामसन्तप्ता, शोच्या=शोचनीय, प्रियदर्शना=देखने मे प्रिय ।

अनुवाद—(इस शकु तला का) मुखमण्डल अतिकृश कपोलो वाला (हो गया है) वक्ष स्थल कठोरता रहित स्तनो वाला (हो गया है), कटिप्रदेश अतिशय क्षीण (हो गया है), कन्धे अत्यन्त झुक गये है और देह की कान्ति पीली (पड गयी है) । पत्तो को सुखाने वाली वायु के द्वारा स्पश की गई वासन्ती लता के समान, कामस तप्ता यह, शोचनीय तथापि प्रियदशना दिखाइ दे रही है ।

भावाथ—प्रियवदा का कथन सुनकर और शकुन्तला की दशा को देखकर राजा कहता है कि इसके कपोल अतिदुबल धँसे हुए हो गये हैं । वक्ष स्थल पर इसके स्तनो ने अपनी स्वाभाविक कठोरता छोड दी है और व ढीले पडकर झुक गये हैं, इसका स्वभावत क्षीण भी कटिभाग और अधिक पतला हो गया है, स्वभावत झुके हुए भी कन्धे और अधिक झुक गये हैं, शरीर की का ति रक्ताभ होने के स्थान पर अब पीली पड गइ है । कामजन्यवेदनावश अब यह शकु तला वैसी ही मुर्झा गइ है जैसी कि बास ती लता गरम हवा के लगने से मुर्झा जाती है, अत यद्यपि अब यह शोचनीय बन गइ है तथापि अब भी वह देखने मे सुन्दर लगती है, क्योकि वह लतावत् कान्तिमती सुकुमारी पुष्पवती एव पल्लविता है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य के 'शोच्या च प्रियदशना च' मे **विरोधाभास** अलकार है, विरोध का परिहार, शोच्या का अनुकम्पनीया अथ करने से किया जा सकता है, शोच्या मे मदनक्लिष्टा हेतु है अत पदाथ हेतुक काव्यलिङ्ग अलकार है । 'इव' द्वारा **उपमालकार** है । विरहज य व्यथा एव कृशता का स्वाभाविक वणन होने से **स्वभावोक्ति**

शकुन्तला—सखि, कस्य वान्यस्य कथयिष्यामि । किन्त्वायासयित्रीदानीं वा भविष्यामि । [सहि, कस्स वा अण्णस्स कहइस्स । किन्दु आआसइत्तिआ दाणि वो भविस्स ।]

अलकार है । प्रियवदा के कथन के समथन रूप काय के प्रति क्षामेत्यादि बहुविधकारणो का उल्लेख होने से **समुच्चयालकार**, अनुप्रास, शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—आननम्=मुखमण्डनम्, क्षामक्षामौ अतिशयेन क्षीणौ कपोलौ गण्डस्थलौ यस्मिन् तत् क्षामक्षामकपोलम्, उर=वक्ष स्थलम्, काठिन्येन स्वाभाविक कठोरतया मुक्तौ त्यक्तौ (रहितौ) स्तनौ कुचौ यस्मिन् तत्—काठिन्यमुक्तस्तनम्, मध्य= कटिप्रदेश, अतिशयेन क्लान्त इति क्लान्ततर=क्षीणतर, असौ=स्कन्धौ, प्रकामम् अत्यधिक विनतौ विशेषेण अवनतौ प्रकामविनतौ, छवि=शरीरकान्ति, पाण्डुरा= पीतवर्णा, (अतएव) पत्राणाम् दलानाम्, शोषणेन-शोषकेण मरुता=वायुना, स्पृष्टा— आक्रान्ता लघिता, माधवी=वासन्ती, लता इव, मदनेन कामेन क्लिष्टा पीडिता— मदनक्लिष्टा, इयम्=शकुन्तला, शोच्या च=शोचनीया च, प्रियदशना=मनोज्ञदर्शना च, आलक्ष्यते=परिदृश्यते ।

सस्कृत सरलाथ—प्रियवदा कथन मनुमोदयन् राजा कथयति, कामवेदनावशादस्या कपोला वतिशयेन क्षीणौ जातौ, स्तनौ काठिन्यरहितौ सजातौ, क्षीणोऽपि कटिप्रदेश क्षीणतर समभवत्, नतावप्यस्या स्कन्धौ प्रकामविनतौ जातौ, देहद्युतिरप्यस्या पीतवर्णा सजाता, अतएव वक्षादिपत्रशोषकोष्णपश्चिमवातेन लघिता वासन्ती लतेव कामपीडितेय शोचनीया अथापि मनोमुग्धकरदशना परिदृश्यते ।

टिप्पणी

परिहीयसे—परि+ओहाक् त्यागे कर्मणि लट् यक् । **लावण्यमयी छाया**— लावण्य प्रचुर मस्या मित्यर्थे लावण्य+मयट्—ङीप् । "मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्य मिहोच्यते" "छाया सूयप्रिया कान्ति" । **अवितथम्**—विगत तथा सत्य यस्मा त्तत् वितथम् असत्यम्, न वितथम् अवितथम्= सत्यम्—वि+तथा+अच् । **क्षामक्षामम्**—क्षाम क्षाम, प्रकारे गुण वचनस्येति द्वित्वम् 'कमधारयवदुत्तरेषु' इति विभक्ति लोप द्वित्वबलादत्र आधिक्यार्थ, न तु ईषत्क्षामम् इत्यर्थ । क्षै+क्त क्षायो म इति प्रत्यय तकारस्य मादेश । **शोषणेन**—शोषयतीति शोषण शुष्+ल्यु—अन णत्व । **मरुता**—म्रियन्ते जना अनेन बिना इति मरुत्=मृ+ औणादिक उत् प्रत्यय । **मदनक्लिष्टा**—मदनेन क्लिष्टा पीडिता अतएव **प्रियदशना**— प्रीणाति इति प्रियम्—प्रीङ् तपणे इगुपधेति क इयङ्, प्रिय दर्शन यस्या क्योकि मदन अपनी मादकता उस पर छोड जाता है । क्लिष्टा होने से तो शोच्या पर मदनक्लिष्टा होने से प्रियदर्शना ।

शकुन्तला—सखी ! और अन्य किससे कहूँगी । किन्तु अब मैं तुम दोनो के लिये कष्टदायिनी ही बनूँगी ।

उभे—अत एव खलु निर्बन्ध । स्निग्धजनसंविभक्त हि दुःख सह्यवेदन भवति । [अदो एव्व क्खु णिब्बन्धो । सिणिद्धजणसंविभत्त हि दुक्ख सज्झवेदण होदि ।]

राजा—पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।
दृष्टो निवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ।। ८ ।।

दोनों—इसीलिये तो हमारा आग्रह है । स्नेहीजनो मे बँटा हुआ दुःख सहन करने योग्य वेदना वाला हो जाता है ।

राजा—

अन्वय—समदुःखसुखेन जनेन पृष्टा इयं बाला मनोगतम आधिहेतु न वक्ष्यति, इति न । अनया बहुश निवृत्य सतृष्ण दृष्ट अपि (अहम्) अत्रान्तरे श्रवणकातरतां गत अस्मि ।

शब्दार्थ—समदुःखसुखेन=दुःख और सुख मे समान भाव से रहने वाले, पृष्टा-पूछी गयी, मनोगतम्—हृदयस्थ, आधिहेतुम्=मनोव्यथा के कारण को, वक्ष्यति=बतायेगी, बहुश =अनेक बार, निवत्य=पीछे मुडकर, सतृष्णम्=तृष्णा के साथ, अत्रान्तरे=इस अवसर पर, श्रवणकातरताम्=सुनने की अधीरता को, गत =प्राप्त ।

अनुवाद—दुःख और सुख मे समान भाव रखने वाले व्यक्ति द्वारा पूछी गई यह बाला शकुन्तला अपने मानसिक पीडा के कारण को न बतायेगी, ऐसा नहीं । अपितु अवश्य ही बतायेगी । इसके द्वारा अनेक बार तृष्णा के साथ पीछे मुडकर देखा गया भी मैं इस अवसर पर (इसका उत्तर) सुनने की अधीरता को प्राप्त हो गया हूँ ।

भावार्थ—प्रियजनो मे बाँट देने से दुःख का वेग हल्का हो जाता है, क्योंकि प्रियजन उसका निराकरण करते हैं, उसको सान्त्वना आदि देते हैं जिससे उसको शान्ति मिलती है । अत राजा का विचार है कि शकुन्तला अपनी सुख दुःख की समभागिनी सखियो से अपनी मनोव्यथा को अवश्य निवेदन कर देगी । यद्यपि शकुन्तला ने राजा को साभिलाष नेत्रों से अनेक बार पीछे मुडकर देखा था और इस प्रकार अपने प्रेम को प्रकट कर दिया था फिर भी वह इस समय उसके उत्तर को सुनकर अपनी शका का समाधान करने के लिए अत्यन्त अधीर हो रहा था ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे सखियो द्वारा पूँछने पर शकुन्तला क्यों सत्य कहेगी इसका हेतु "समदुःखसुखेन और बाला" दिया गया है । अत यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

यद्यपि शकुन्तला के द्वारा बार-बार मुडकर दुष्यन्त को देखा जाना रूप कारण विद्यमान है, फिर भी दुष्यन्त के हृदय मे प्रेमविषयक विश्वास रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो रही है अत विशेषोक्ति अलङ्कार है ।

शकुन्तला—सखि, यत प्रभृति मम दर्शनपथमागत स तपोवनरक्षिता राजर्षि नत आरम्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थाऽस्मि सवृत्ता। [सहि, जदो पहुदि मम दसणपह आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी। तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि सवुत्ता।]

"श्रवणकातरता गतोऽस्मि" रूप कार्य के होने पर भी किसी कारण का कथन नही किया गया है अत विभावना अलङ्कार है। श्रुति, छेक, वृत्ति अनुप्रास। वसन्ततिलका नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—सम दु ख सुख च यस्य तेन—समदु खसुखेन=दु खे सुखे च न्यूनातिरेकशून्येन, जनेन=सखीजनेन, पृष्टा=अनुयुक्ता सती, इय बाला=एषा मुग्धा शकुन्तला, मनोगतम=अन्त करणनिहितम्, आधे मनोव्यथाया हेतुस्तम्—आधिहेतुम्=मनोव्यथाकारणम्, न वक्ष्यति=न कथयिष्यति, इति तु न अपितु कथयिष्यत्येव। अनया=शकुन्तलया, बहुश=अनेकवारम्, निवृत्य=मुख परावृत्य, सतृष्णम्=सस्पृहम्, दृष्ट=समवलोकित अपि (अहम्) अत्रान्तरे=अस्मिन्नवसरे, श्रवणे कातरता ताम्—श्रवणकातरताम्=प्रतिवचन श्रवणातुरताम्, गत=प्राप्त अस्मि।

सस्कृत सरलार्थ—सखीजनवचनानि मनसि निधाय राजा चिन्तयति यदिदानी सुखे दु खे च न्यूयातिरेकशून्येन सखीजनेनानुयुक्तेय मुग्धा शकुन्तला स्वमनसि निहित मनोव्यथाहेतु मवश्य कथयिष्यति नात्र सशीति। यद्यप्यनया शकुतलया प्रथमदर्शन-काल एवाह बहुश साभिलाष समवलोकित अथाप्यहमस्मिन्नवसरे अस्या प्रतिबचन श्रोतुमातुरो जात।

टिप्पणी

आयासयित्री—आ+यस्+णिच्+कतरि तृच् ङीप्। कष्टदायिका। **स्निग्धजनसविभक्तम**—स्निह कतरि वतमाने क्त—स्निग्ध, स्निग्धाश्च ते जना स्निग्धजना तेषु सविभक्तम्। प्रियजनो मे बँटा हुआ, **सह्यवेदनम्**—सोढु योग्या सह्या—सह+यत् सह्या वेदना यस्य तत्। इस सूक्ति के द्वारा कवि ने मानव जीवन का एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत किया है। यद्यपि दु खीजन को पीडा स्वय सहनी पडती है तथापि जब वह अपने दु ख को अपने प्रेमीजनो पर प्रकट कर देता है तो उनके द्वारा दी गयी सान्त्वना से उसका दु ख हल्का हो जाता है और वह उसे सहन कर लेता है, सकटकाल मे अपनों का अपनत्व सम्बल देता है "तुल्याद् विभागादिव तन्मनोभि दु खातिभारोऽपि लघु स मेने (किरात) **आधिहेतुम**—पुस्याधि र्मानसी व्यथा। मानसिक व्यथा के कारण को।

यहाँ पर प्रतिमुख सन्धि समाप्त होती है। ●

शकुन्तला—सखी तपोवन की रक्षा करने वाले वे राजर्षि जब से मेरे दृष्टिपथ मे आ गये हैं, उसी समय से लेकर उनकी प्राप्ति की अभिलाषा के कारण मेरी यह दशा हो गई है।

राजा—(सहर्षम्) श्रुत श्रोतव्यम् ।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जात ।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ ९ ॥

राजा—(हर्ष पूर्वक) सुन लिया जो कुछ सुनने योग्य था अर्थात मैं जो कुछ सुनना चाहता हूँ वही सुन लिया ।

स्मर-इति अन्वय—तपात्यये जीवलोकस्य अभ्रश्याम दिवस इव स्मर एव मे तापहेतु (बभूव), स एव निर्वापयिता जात ।

शब्दार्थ—तपात्यये=ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर, जीवलोकस्य=प्राणि समूह के लिये, अभ्रश्याम=मेघो से काले, स्मर एव=कामदेव ही, तापहेतु=सन्ताप का कारण, निर्वापयिता=शान्ति देने वाला ।

अनुवाद—ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर अर्थात् वर्षारम्भ काल मे प्राणी समूह के लिये, मेघो से आच्छादित मलिन दिन के समान, कामदेव ही मेरे सन्ताप का कारण था, वही शान्तिदायक हो गया है ।

भावार्थ—ग्रीष्म काल मे अत्यधिक धूप के कारण जो दिन ताप का कारण होता है वही दिन वर्षाकाल के प्रारम्भ होने पर मेघाच्छन्न होने से शीतल एव सुखद हो जाता है । उसी प्रकार शकुन्तला के उत्तर सुनने से पूर्व जो काम राजा के सन्ताप का कारण था वही काम शकुन्तला का उत्तर सुनने पर शान्तिप्रद बन गया है । शकुन्तला भी उसी की भाँति काम पीडित है यह जानकर राजा के हृदय को अति शान्ति प्राप्त हुई है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'स्मर एव ताप हेतु स एव निर्वापयिता' इस कथन मे **विरोधाभास** अलकार है, भिन्नाश्रयगत होने से विरोध का परिहार हो सकता है । कोई आचार्य यहाँ विषमालकार मानते हैं, 'इव' द्वारा उपमालकार है, आर्या जाति छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—तपात्यये=ग्रीष्मावसाने प्रावृडारम्भ इत्यर्थ । जीव लोकस्य-प्राणि समूहस्य, अभ्रै मेघै श्याम श्यामवर्ण अभ्रश्याम=जलदमलिन । दिवस=दिनम इव, स्मर=काम एव, मे=मम दुष्यन्तस्य, तापस्य सन्तापस्य हेतु कारणम् तापहेतु, (आसीत्) स=कामदेव एव, निर्वापयिता=शान्तिदायक, जात=सम्पन्न ।

सस्कृत सरलार्थ—यथा वर्षतौ वृष्टे प्राक जलदमलिनो दिवस सन्तापकरो भवति पर वृष्ट्यनन्तर स एव शान्तिप्रद सुखदश्च जायते तथैव शकुन्तलावचन-श्रवणात् पूर्व य स्मर सन्तापदायक आसीत् स एवेदानी स्वाभिप्रायानुकूल तस्या वचन श्रुत्वा मे शान्तिप्रदो जात ।

शकुन्तला—तद्यदि वामनुमतं, तदा तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्। [त जइ वो अणुमदं, ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि। अण्णहा अवस्सं सिंचह मे तिलोदअं।]

राजा—संशयच्छेदि वचनम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अनसूये, दूरगतमन्मथाऽक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावैषा, स ललामभूतः पौरवाणाम्। तद् युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्। [अणसूए, दूरगअमम्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स। जस्सिं बद्धभावा एसा, स ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिलासो अहिणन्दिदुं।]

अनसूया—तथा यथा भणसि। [तह जह भणासि।]

प्रियम्वदा—(प्रकाशम्) सखि, दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां

टिप्पणी

दर्शनपथम्—दर्शनस्य पन्था तम् 'ऋक्पूरब्धूः' इति समासान्त अ प्रत्यय। निर्वापयिता—निर्+वा+णिच् तृच्। तपात्यये—तपस्य ग्रीष्मकालस्य अत्ययः समाप्तिः तस्मिन्—अति+इ+अच्=अत्यय।

शकुन्तला—तो यदि (यह बात) दोनों को उचित लगे अर्थात् इसमें तुम्हारी अनुमति हो, तो वैसा प्रयत्न करो जिससे कि मैं उस राजर्षि की कृपापात्र हो जाऊँ अर्थात् वे कृपा कर मुझे स्वीकार करलें। नही तो अवश्य ही मेरे लिये तिलाञ्जलि दो (अर्थात् मैं मर जाऊँगी और फिर तुम लोग मेरे लिये तिलोदक देना।

राजा—बस, इसका यह कथन सब सन्देहों को दूर कर देने वाला है।

प्रियंवदा—(अलग, शकुन्तला की ओर से हाथ की आड करके) अनसूये, इसका काम विकार बहुत आगे बढ चुका है, अत अब यह (इस काम मे) विलम्ब सहन करने मे असमर्थ है। जिस पुरुष पर इसका मनोऽनुराग दृढ़ है वह पुरुवंशियों मे सर्वश्रेष्ठ है, अत इसकी अभिलाषा का अभिनन्दन (अनुमोदन) करना उचित है।

अनसूया—जैसा तुम कहती हो, ठीक है।

प्रियंवदा—(प्रकट) सखी, सौभाग्य की बात है, कि तुम्हारा यह प्रेमाग्रह तुम्हारे योग्य है। बडी नदी समुद्र को छोड़कर और कहाँ उतरती है। जिस प्रकार गंगा आदि महानदियाँ समुद्र मे ही गिरतीं हैं अन्यत्र नहीं उसी प्रकार अपूर्व सुन्दरी सर्व लक्षण सम्पन्ना तू भी दुष्यन्त जैसे राजर्षि को छोड़कर और किससे प्रेम कर सकती थी। आम्र को छोड़कर और कौन वृक्ष पल्लवित अतिमुक्त (माधवी) लता को सहारा दे

पल्लवितां सहते । [सहि, दिट्ठआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो । साअर उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ । को दाणिं सहआर अन्तरेण अदिमुत्तलद पल्लविद सहेदि ।]

राजा—किमत्र चित्र यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते ।

अनसूया—क पुनरुपायो भवेद् येनाविलम्बित निभृत च सख्या मनोरथ सपादयाव । [को उण उवाओ भवे जेण अविलम्बिअ णिहुअ अ सहीए मणोरह सपादेम्ह ।]

प्रियम्वदा—निभृतमिति चिन्तनीय भवेत् । शीघ्रमिति सुकरम् । [णिहुअ त्ति चिन्तणिज्ज भवे । सिग्घ त्ति सुअर ।]

अनसूया—कथमिव [कह विअ ।]

सकता है, अर्थात् पूर्णतया पल्लवित विकसित माधवी लता को जैसे आम्रवृक्ष ही सहारा देता है अन्य नहीं अतएव वह उसी पर चढ़ती है ठीक उसी प्रकार विकसित यौवना तुम्हें दुष्यन्त के अतिरिक्त और कौन अपना सकता है ? अर्थात् यह तुम दोनो का पारस्परिक सयोग बडा ही सुन्दर है ।

राजा—इसमे विचित्रता ही क्या यदि विशाखा नक्षत्र के दोनो तारे चन्द्रमा का अनुवर्तन करते हैं (अर्थात् जिस प्रकार दोनो विशाखा नक्षत्र चन्द्रमा का अनुगमन करते हैं उसी प्रकार ये दोनो सखियाँ शकुन्तला का अनुगमन करतीं है, उसकी बात अनुमोदन करती हैं, वस्तुत इनको ऐसा करना ही चाहिये ।

अनसूया—क्या उपाय हो सकता है कि शीघ्र और गुप्त रूप से सखी का मनोरथ पूर्ण किया जाय ।

प्रियम्वदा—'गुप्त रूप से' यह तो सोचने की बात है, पर "शीघ्र" यह तो सरल है ।

अनसूया—किस प्रकार

टिप्पणी

तिलोदकम्—तिलमिश्रम् उदकम् तिलोदकम् (शाक पार्थिवादित्वात् साधु । तिलमिश्रित जलाञ्जलि जो मृतको को दी जाती है । सशयच्छेदि—सशय छिनत्ति—सशय+छिद्+णिनि=सशय दूर करने वाला । दूरगतमन्मथा—दूर गत मन्मथ यस्या सा । अक्षमा—न क्षमते—क्षम्+कर्तरि अच् टाप् । बद्धभावा—वृद्ध भाव यस्या सा । अभिनन्दितुम्—अभि+नन्दि्+तुमुन् । अनुरूप—अनुगत रूपम् प्रादितत्पुरुष । अभिनिवेश—अभि+नि+विश्+घञ=आग्रह, चुनाव, 'सागर तरति' यह बडी ही सुन्दर सामयिक सूक्ति है, इसके द्वारा प्रियवदा शकुन्तला की प्रशसा करती है । "जलनिधि अनुरूप जह्नु कन्यावतीर्णा" रघु० । अतिमुक्तलता—माधवी लता, इसके द्वारा प्रियंवदा दुष्यन्त की भी प्रशसा करती है । विशाखे—विशाखा में दो नक्षत्र होते हैं,

प्रियम्वदा—ननु स राजर्षिरेतस्या स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान् दिवसान्प्रजागरकृशो लक्ष्यते। [ण सो राएसी इमस्सि सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइ दिअहाइ पजाअरकिसो लक्खीअदि।]

राजा—सत्यमित्थभूत एवास्मि। तथाहि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृत
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभि ।
अनभिलुलितज्याघाताङ्क मुहुर्मणिबन्धना-
त्कनकवलय स्रस्त स्रस्त मया प्रतिसार्यते ॥१०॥

दोनो विशाखा और चन्द्र लेखा स्त्रीलिङ्ग हैं और ये तीनो भी स्त्रीलिङ्ग हैं लिङ्ग एवं वचनानुसार यह उपमा ज्योतिष शास्त्र पर आधारित है। अविलम्बितम्—न—वि+लम्ब् भावे क्त अविलम्बित यथा स्यात्तथा। सुकरम्—सुखेन क्रियते—सु+कृ+खल्।

प्रियम्वदा—क्योंकि वह राजर्षि, जो प्रेमपूण दृष्टि से इसके प्रति अपनी अभिलाषा सूचित कर चुके हैं, इन दिनों रात्रि जागरण के कारण कृश दिखाई देते हैं।

राजा—वस्तुत मैं इसी प्रकार का हो गया हूँ। क्योंकि—

इदमिति-अन्वय—निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभि अन्तस्तापात् अशिशिरै अश्रुभि विवणमणीकृतम् अनभिलुलितज्याघाताङ्कम् मणिबन्धनात् स्रस्तं-स्रस्त इदम् कनकवलयम् मया मुहु प्रतिसार्यते।

शब्दार्थ—निशि निशि—प्रत्येक रात्रि को, भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभि = (उपधानीकृत) भुजा पर रखे गये नेत्र प्रान्तो से बहने वाले, अन्तस्तापात्=हृदय (मे उठे हुए मदन) ताप के कारण, अशिशिरै =उष्ण, अश्रुभि =आँसुओ से, विवर्ण-मणीकृतम्=जिसकी मणियाँ विकृत वण वाली अर्थात् मलिन कर दी गई हैं, अनभिलुलितज्याघाताङ्कम्=जिसने धनुष की डोरी खींचने के कारण (प्रकोष्ठ पर पडे हुए) चिन्ह (रगड के कारण हुए गडढे) को स्पश नही किया है, अथवा वलय से अन्तरित होने के कारण जिसमे ज्याघाताङ्क दिखाई नही पडता है, मणिबन्धनात् =प्रकोष्ठ या कलाई से, स्रस्त स्रस्तम्=बार-बार खिसक कर हथेली की ओर आते हुये, इदम्कनकवलयम=इस स्वण ककण को, मया=मेरे द्वारा मुहु =बार-बार, प्रतिसायते=खीचा जाता है।

अनुवाद—प्रत्येक रात्रि मे (उपधानी कृत) भुजा पर रखे गये नेत्र प्रान्तों से बहने वाले, (तथा) हार्दिक सन्ताप के कारण उष्ण आसुओ से जिसकी मणियाँ मलिन कर दी गई हैं और जिसने धनुष् की प्रत्यञ्चा के रगड के चिन्ह को स्पर्श नहीं किया

है। (ऐसा) यह स्वण ककण कलाई से बार-बार खिसकता हुआ मेरे द्वारा पुन पुन (ऊपर की ओर) खीचा जाता है।

भावार्थ—प्रियवदा के कथन का अनुमोदन करता हुआ राजा कहता है कि सचमुच मैं अत्यधिक जागरण वश अति कृश हो गया हूँ, अतएव प्राय प्रत्येक रात्रि में जब मैं अपनी भुजा पर अपना मुख रख कर लेटता हूँ और विरह वश जब मेरे नेत्रो से आसू बहते हैं जो कि हृदय के सन्ताप के कारण उष्ण होते हैं, इन आँसुओ से मेरे प्रकोष्ठ पर पहने गये ककण की मणियाँ मलिन हो जाती हैं, विरह कृशतावश नीचे की ओर खिसकता हुआ स्वर्ण ककण, धनुर्ज्याघात के चिह्न को भी स्पश नही कर पाता, विरह कशता के कारण जब-जब यह स्वण वलय कलाई से नीचे की ओर आने लगता है तब मै बार बार इसे ऊपर की ओर खीचता रहता हूँ। वह कृशतावश ज्याघाताङ्क पर भी नही ठहर पाता है।

विशेष—ढीले होने के कारण नीचे की ओर खिसने मे तथा विरहियो के वाम भुजा पर मुख कर रोने मे स्वभाव कथन है अत स्वभावोक्ति अलकार है, मणि विवणता का कारण उष्ण अश्रुप्रवाह है अत काव्यलिग अलकार है। काय रूप वलय स्रसन से कारण रूप कृशता के द्योतित होने से पर्यायोक्ति अलकार है। विप्रलम्भ शृङ्गार कीसुन्दर अभिव्यक्ति हैं। राजा आलम्बन, निशा उद्दीपन, अश्रु कृशता आदि अनुभाव, चिन्ता विषादादि सचारी भाव हैं। हरिणी नामक छन्द है।

न स म रस लागा षड् वेदै हयै हरिणी मता।

सस्कृत व्याख्या—निशि निशि=प्रतिनिशम्, भुजे न्यस्त य अपाङ्ग तस्मात् प्रसर्तुं शील येषान्तै—भुजन्यास्तापाङ्गप्रसारिभि उपधानीकृतवामबाहुप्रदेशस्थ नयनप्रान्तविनिर्गमनशीलै, अन्तस्तापात्=कामजनितहृदयदाहात्,अशिशिरै=उष्णै, अश्रुभि=नेत्रजलै, विवर्णा निष्प्रभा मणयो रत्नानि यत्र तत् विवर्णमणि अविवणमणि विवर्णमणि कृतम् इति विवणमणीकृतम्=कान्तिविरहितमणीकृतम् ज्याया मौर्व्या आघातेन अङ्क चिह्न यस्मिन् स ज्याघाताङ्क, अनभिलुलित अस्पृष्ट ज्याघाताङ्क यस्मिन् तत्—अनभिलुलितज्याघाताङ्कम्, अस्पृष्टमौर्वीकिणभूषितम्, मणि बध्यते यत्र तत् मणिबन्धनम् तस्मात् मणिबन्धनात् प्रकोष्ठात्, स्रस्त स्रस्तम्=पुन पुन गलितम्, इदम् कनकवलयम्=एतत् स्वर्णकङ्कणम्, मया दुष्यन्तेन, मुहु—पुन पुन, प्रतिसार्यते=स्वस्थान प्राप्यते।

सस्कृत सरलार्थ—प्रियंवदाकथनानुसार दुष्यन्त कथयति सत्य महमतिकृशो जात अतएव प्रतिनिश वामभुजन्यस्तनयनप्रान्तनिर्गमनशीलै अन्तगतमदनसन्तापा दुष्णैर श्रुभि,, कान्तिविरहितमणीकृत, अस्पृष्टज्याघाताङ्क मणिबन्धनात् पुन पुन गलितम्, इद स्वर्णवलय मया पुन पुन स्वस्थान प्राप्यते।

टिप्पणी

प्रजागरात् अत्यधिकरात्रि जागरणात् कृश=प्रजागरकृश। अन्तस्तापात्—अन्तर्गत ताप तस्मात्। प्रस्तुत पद्य की अन्तिम दो पंक्तियों के अर्थ में विद्वानों में

प्रियम्वदा—(विचिन्त्य) हला, मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्ते प्रापयिष्यामि। [हला, मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं।

अनसूया—रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति। [रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि।]

शकुन्तला—को नियोगो वा विकल्प्यते। [किं णिओओ वो विकप्पीअदि।]

प्रियम्वदा—तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावत् किमपि ललितपदबन्धनम्। [तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिन्तेहि दाव किम्पि ललिअपदबन्धणं।]

शकुन्तला—हला, चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम्। [हला, चिन्तेमि अहं। अवहीरणाभीरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं।]

मतभेद है, अपनी अपनी कल्पनानुसार टीकाकारो नें अपना-अपना अर्थ किया है, किसी की कल्पना है कि दुष्यन्त रातभर बैंठा-बैठा रोया करता था और वाम हाथ की हथेली पर अपना सिर रखकर रोता था उसके आसुओ से उसके प्रकोष्ठ के स्वर्ण वलय की मणियाँ मलिन हो गईं थी। स्वर्ण कंकण बार-बार कुहनी की ओर खसकता था जिसे वह पुनः पुनः कलाई की ओर खीचता था इत्यादि पर इस अर्थ मे कई ढग से खीचतान करनी पडती है, सीधा अर्थ वही है, दिन भर घूमते रहते वाला व्यक्ति सोता भले ही न हो पर लेटता तो अवश्य होगा उसके बैठे बैठे रोने की कल्पना कुछ ठीक नही ज्ञात होती।●

प्रियंवदा—(सोचकर) सखि, उनके लिए एक प्रणय-पत्र लिखवाया जाय। इसको फूलो मे छिपाकर देवताप्रसाद के बहाने से, उनके हाथ पहुँचा दूगी।

अनसूया—यह सुन्दर उपाय मुझे पसन्द है। किन्तु शकुन्तला क्या कहती है।

शकुन्तला—आप लोगो के किस आदेश पर मेरे द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का विचार किया जाता है ?

प्रियंवदा—तो फिर अपने प्रथम प्रणयवार्ता के अनुरूप कोई सुन्दर पद रचना सोचो।

शकुन्तला—सखि, मैं सोचती हूँ। किन्तु तिरस्कार के भय से मेरा हृदय काँप रहा है।

राजा—(सहर्षम्)

अय स ते तिष्ठति सगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु ! यतोऽवधीरणाम् ।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रिय
श्रिया दुराप कथमीप्सितो भवेत् ? ॥११॥

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक)

अन्वय—हे भीरु, यत अवधीरणा विशङ्कसे, स अय ते सङ्गमोत्सुक तिष्ठति । प्राथयिता श्रिय लभेत वा, न वा (लभेत), श्रिया ईप्सित कथ (पुन) दुराप भवेत् ।

शब्दार्थ—अवधीरणाम्=तिरस्कार, विशङ्कसे=आशङ्का करती हो सगमोत्सुक =मिलने के लिए उत्कठित, श्रिय=लक्ष्मी को, ईप्सित =अभिलषित, दुराप =दुलभ ।

अनुवाद—हे भीरू, जिससे तू तिरस्कार की आशङ्का करती है, वह यह तुम्हारे मिलने के लिए उत्कठित खडा है । लक्ष्मी के प्रार्थी को लक्ष्मी प्राप्त हो या न हो, किन्तु लक्ष्मी द्वारा वाञ्छित व्यक्ति कैसे (लक्ष्मी के लिए) दुलभ हो सकता है ।

भावार्थ—शकुन्तला के मन मे राजा द्वारा अपने तिरस्कार का भय है, जिसे जानकर राजा कहता है कि वह तो स्वय शकुन्तला से मिलने के लिए अधीर है । अत वह उसका तिरस्कार कभी नही कर सकता । लक्ष्मी के प्राथयिता जन को लक्ष्मी की प्राप्ति हो या न हो पर लक्ष्मी द्वारा ईप्सित जन उसके लिए दुलभ नही हो सकता । इसी प्रकार शकुन्तला भी लक्ष्मी है । राजा उसको प्राप्त करना चाहता है, वह उसे प्राप्त हो या न हो पर शकुन्तला द्वारा वाछित दुष्यन्त उसके लिए कभी भी दुष्प्राप्य नही हो सकता । अतएव शकुन्तला की प्राप्ति के विषय मे दुष्यन्त का शङ्का करना उचित है लेकिन दुष्यन्त की प्राप्ति के विषय मे शकु तला को शङ का करने की आवश्यकता नही ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अतिम दो चरणो मे सामान्य से विशेष का समथन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है । क्योकि यहाँ राजा यह कहना चाहता है कि तुम्हारे से प्राथना किया जाता हुआ मैं तुम्हारे लिए कैसे दुलभ होऊँगा ? अर्थात् कैसे भी नही । वशस्थ नामक छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—अयि भीरु=वृथा भीतिकातरे, यत =यस्मात् पुरुषात्, अवधीरणाम्=अवहेलनाम, विशङ्कसे=आशङ्कसे, स अयम=दुष्यन्त , ते=तव, सङ मे उत्सुक —सङ गमोत्सुक =अगसगोपलब्धिलालस , तिष्ठति=स्थितोऽस्ति । प्राथयिता=लक्ष्मीप्राप्तिसमुत्सुक श्रीकामो वा जन , श्रियम्=लक्ष्मीम् लभेत= प्राप्नुयात्, न वा=न प्राप्नुयाद वा, (किन्तु) श्रिया=लक्ष्म्या, इप्सित =प्राप्तुमिष्ट जन , कथम्=केन प्रकारेण,दुराप =दुलभ , भवेत्=स्यात् ।

सख्यौ—अयि आत्मगुणावमानिनि, क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्ना पटान्तेन वारयति । [अयि अत्तगुणावमाणिणि, को दाणिं सरीर-णिव्वावइत्तिअ सारदिअं जोसिणिं पडन्तेण वारेदि ।]

शकुन्तला—(सस्मितम्) नियोजितेदानीमस्मि । [णिओइआ दाणिं म्हि ।]

(इत्युपविष्टा चिन्तयति ।)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि । यत —

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्या पदानि रचयन्त्या ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुराग कपोलेन ॥१२॥

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलावचनान्याकर्ण्य दुष्यन्तो मनसि कथयति—अयि भीतिकातरे प्रिये, यस्मात् जनात्त्वमवधीरणा माशङ्कसे स एवाय दुष्यन्त तव समागमोत्कण्ठाकुल त्वदाज्ञा प्रतीक्षमाणोऽत्र स्थितोऽस्ति । सम्भवत्येतत् यच्छ्रीकाम श्रिय माप्नुयान्नवा प्राप्नुयात्, पर श्रिया प्राप्तुमिष्ट जन कथ दुलभ स्यात् न कमपीत्यर्थ ।

टिप्पणी

मदनलेख —कामपत्र या प्रेमपत्र, जिसमे अपनी कामभावना का उल्लेख हो । स्त्रियो को कामाभिव्यक्ति के चार प्रकार भरतमुनि द्वारा बतलाये गये हैं—

"लेख्यप्रस्थापनैं स्निग्धैं र्वीक्षितैं मृदुभाषितैं ।
दूतीसप्रेषणैं र्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते" ।

सुमनोगोपितम्—सुमनोभि गोपितम् । **सुकुमार प्रयोग** —सुन्दर कोमल उपाय । **उपन्यास**——प्रस्तुत करना, समीप रखना पर यहाँ इसका अथ है विषयानुकूल प्रसग । पद बन्धनम्=रचना-पद्यरचना । **सङ्गमोत्सुक** —सङ्गमे उत्सुक प्रसितोत्सुकाभ्या तृतीया चे ति सप्तमी । **यत** –पञ्चम्यास्तसिल, **दुराप** —दुर्+आप्+खल् । इप्सित =आप्+सम्+क्त । यहाँ अभूताहरण नामक गभ सन्धि का अग है "तत्र व्याजाश्रय वाक्यम-भूताहरण मतम् । प्रस्तुत श्लोक द्वारा कवि ने मानव स्वभाव की सुन्दर एव सूक्ष्म समीक्षा की है ।

दोनों सखियाँ—ओ अपने गुणो का तिरस्कार करने वाली, कौन भला, शरीर को शान्ति प्रदान करने वाली शरत्कालीन चाँदिनी को (अपने) वस्त्र के छोर से रोकता है, अर्थात् चाँदिनी को अपने ऊपर पडने से रोकने के लिए अपने सिर पर वस्त्र डाल लेता है अर्थात् कोई नही । तात्पय यह कि शरज्ज्योत्स्ना के समान हृदयानन्ददायिनी तेरा वे कभी तिरस्कार न करेंगे ।

शकुन्तला—(मुस्कराहट के साथ) तो अब मैं तुम्हारे आदेशानुसार काय मे सलग्न होती हूँ ।

(यह कहकर बैठ कर सोचती है)

राजा—इस उचित अवसर पर अपलक दृष्टि से प्रिया को देखूँ । क्योकि—

अन्वय—पदानि रचयन्त्या अस्या उन्नमितैकभ्रूलतम् आनन कण्टकितेन कपोलेन मयि अनुराग प्रथयति ।

शब्दार्थ—रचयन्त्या = रचना करती हुई, उन्नमितैकभ्रूलतम् = उठाई गई एक भ्रकुटि वाला, कण्टकितेन = रोमाञ्चित, कपोलेन = गण्डस्थल द्वारा, प्रथयति = प्रकट कर रहा है ।

अनुवाद—पदो की रचना करती हुई इस शकुन्तला का मुख, जिसमे कि लता के समान एक भौं को ऊपर चढा लिया गया है । रोमाञ्चित कपोल के द्वारा मेरे प्रति अनुराग प्रकट कर रहा है ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक मे प्रणय-पत्र लिखती हुई शकुन्तला का सुन्दर चित्र खीचा गया है । पत्र लिखते समय चिन्तन करती हुई शकुन्तला की एक भौ ऊपर चढ गयी है। उसके हृदय मे राजा के प्रति जो प्रेम भाव उमड रहा है उससे उसके कपोलो मे रोमाञ्च हो गया है । रोमाञ्चित कपोलो से उसका अनुराग प्रकट हो रहा है । अर्थात् इसके रोमाञ्चित कपोल से स्पष्ट है कि यह मुझ पर प्रेम करती है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे "कण्टकितेन कपोलेन मे 'अर्थापत्ति' अलकार की प्रतीति होती है क्योकि कपोल उसी अवस्था मे रोमाञ्चित होंगे जबकि हृदय मे अनुराग होगा । अत रोमाञ्चित कपोलो से अनुराग का प्रकाशन होने से "अर्थापत्ति" अलकार है। अथवा रोमाञ्चित कपोलो से शकुन्तला के अनुराग की अनुमिति होने से 'अनुमाना-लकार' है ।

'उन्नमितैक भ्रूलतम' मे 'भ्रूलता इव'—ऐसी व्याख्या करने पर यहाँ उपमा अलङ्कार है । सम्पूर्ण श्लोक मे स्वभावोक्ति है । आर्याजाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—पदानि = मदनलेखनिवेशार्थं सुप्तिडन्त मयानि कवितापदानि, रचयन्त्या = विरचयन्त्या, अस्या = शकुन्तलाया, उन्नमिता उत्थापिता एका भ्रूलता यस्मिन् तत् = उन्नमितैकभ्रूलतम् = उत्थापितैकभ्रूकुटिम्, आननम = मुखम्, कण्ट-कितेन = रोमाञ्चितेन, कपोलेन = गण्डस्थलेन मयि = दुष्यन्ते, अनुरागम् = स्नेहम्, प्रथयति = सूचयति ।

संस्कृत सरलार्थ—पदरचनाव्यस्ताया शकुन्तलाया मुखाकृति मालक्ष्य, ता सस्पृह निरीक्षमाण राजा कथयति, कवितापदानि निबध्नन्त्या अस्या मुखम, यस्मिन्नेक भ्रूलता उन्नमिता वर्तते, रोमाञ्चितेन कपोलेन (करणेन) मयि दुष्यन्ते स्वानुराग सूचयति ।

टिप्पणी

आत्मगुणावमानिनि—आत्मनो गुणाम् अवमानयतीति तत्सम्बुद्धौ, आत्म गुण + अव + मान + स्वार्थे णिच, कर्तरि णिनि । **निर्वापयित्री**—शान्तिदायिका—निर + वप् + णिच । **नियोजिता**—अर्थात आप लोगो द्वारा बताये गये काम को करती हूँ, अर्थात् मैं स्वय नही, केवल आप लोगो के आदेश का पालन कर रही हूँ । **स्थाने**—यह उचित है, शकुन्तला की बात सुनकर राजा सोचता है कि अब इसे प्रेमपूर्वक देखने

शकुन्तला—हला ! चिन्तित मया गीतवस्तु । न खलु सनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि । [हला, चिन्तिद मए गीदवत्थु । असण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि ।]

प्रियम्वदा—एतस्मिञ्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु । [इमस्सि सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहि णिक्खित्तवण्ण करेहि ।]

शकुन्तला—(यथोक्त रूपयित्वा) हला, शृणुतमिदानीं सगतार्थं न वेति । [हला, सुणुद दाणि सगदत्थ ण वेति ।]

उभे—अवहिते स्व । [अवहिदे म्ह]

शकुन्तला—(वाचयति)

तव न जाने हृदय मम पुन कामो दिवाऽपि रात्रावपि ।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥१३॥

का मुझे अधिकार है । **उन्नमित**—उत् + नम + णिच् + कमणि क्त । उन्नमिता एका भ्रू लता इव यस्मिन् तत् । **कण्टकितेन**—कण्टका सजाता अस्येत्यर्थे कण्टक + इतच् । **अनुरागम्**—अनुराग रति की छठी अवस्था माना गया है" "अङ्कुरपल्लव कलिकाप्रसूनफलभोगभागिय क्रमश । प्रेमा मान प्रणय स्नेहो रागोऽनुराग इत्युक्त राग एव स्वसवेद्यदशा प्राप्त्या प्रकाशित । यावदाश्रयवृत्तिश्चे दनुराग इतीरित" यहाँ क्रम नामक गभ सधि का अग है "भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रम स्यात्—अनुराग भाव का यहाँ तात्विक ज्ञान है ।

शकुन्तला—सखी ! मैंने गीत का विषय सोच लिया है । किन्तु लेखन के साधन यहाँ विद्यमान नही ।

प्रियवदा—तोते के उदरभाग के समान कोमल इस कमलिनी-पत्र पर नखों से वर्णों को अङ्कित कर दो ।

शकुन्तला—(पूर्वोक्त रूप से लिखने का अभिनय करके) सखियो, सुनो अब इस गीत का भाव सगत है या नही ?

दोनों—हम दोनो सावधान हैं ।

शकुन्तला—(बाँचती है)

अन्वय—निघृण ! तव हृदय (अह) न जाने, काम पुन , त्वयि वृत्तमनोरथानि मे अङ्गानि दिवा अपि रात्रौ अपि वलीय तपति ।

शब्दार्थ—निघृण = निदय, दिवा अपि रात्रौ अपि = दिन रात, वलीय = अत्यधिक, तपति = तपाता है या पीडित करता है ।

त्वयि वृत्तमनोरथानि मे अङ्गानि = मेरे उन शरीरावयवो को जिनकी अभिलाषा तुम पर समर्पित है ।

राजा—(सहसोपसृत्य)

अनुवाद—हे निदय ! मै तुम्हारे हृदय को तो नही जानती, कि‍तु कामदेव तेरी ओर अभिलाषा युक्त मेरे अङ्गो को दिन रात अत्य‍त पीडित कर रहा है।

भावार्थ—प्रस्तुत पद्य मे शकुन्तला अपनी कामपीडित अवस्था का उल्लेख करती है। वह अहर्निश कामज‍य स ताप से तप रही है। पर उसकी इस दशा को देखकर भी दुष्यन्त को इसका कोई ध्यान नही है। अत वह उसे निदय बताती है। शकुन्तला दुष्यन्त के हृदय के विषय मे नही जानती कि उसकी क्या अवस्था है अथवा उसके हृदय का झुकाव उसकी ओर है भी या नही पर‍तु शकुन्तला की सब अभिलाषायें दुष्यन्त की ओर लगी हुई है।

विशेष—निघृ ण मे अर्थापत्ति अलङ्कार है क्योकि इससे दुष्य‍त अपने कर्तव्य से पराङ्मुख है—इस अथ की प्रतीति होती है।

'तव न जाने हृदयम्' से शकु‍तला की इस अभिलाषा की प्रतीति होती है कि वह आलिङ्गन करना चाहती है। अत अनुमानालकार है। यह गीति नामक छन्द है। "आर्या पूर्वाधसम यस्या अपराध मपि हसगते। छन्दो विदस्तदानी गीतिं तामभृतवाणि भाषन्ते।"

सस्कृत व्याख्या— अयि निघृ ण=निष्कृप ! तव हृदयम अह न जाने=तव हृदयस्य कीदृशी दशेत्यह न वेद्मि, पुन =किन्तु, त्वयि=त्वद्विषये। वृत्ता, सजाता मनोरथा अभिलाषा येषान्तानि वृत्तमनोरथानि=भवदङ्गालिङ्गनादिक मुपलब्धुकामानि, मम=शकुन्तलाया, अङ्गानि=शरीरावयवान्, काम =स्मर, दिवा अपि=दिनेऽपि, रात्रावपि च, बलीय =अत्यधिकम्, तपति=सन्तापयति।

सस्कृत सरलाथ—कामतापमसहमाना शकु‍तला उपालम्भपूवक स्वदशा निवेदयन्ती राजान मुदिदश्य कथयति—हे निष्कृप ! तव हृदयदशान्तु नाह जाने, तदस्त्यनुरक्त मयि न वेति, कि‍तु कामो मम सर्वाण्येव तान्यङ्गानि, येषामभिलाषा त्वयि एव केवल समर्पितास्ति, दिनेऽपि रात्रावपि चात्यधिक स‍तापयति।

टिप्पणी

लेखन साधनानि—लिखने की सामग्री-कागज स्याही, कलम आदि। इससे ज्ञात होता है और पाणिनि तथा कात्यायन के क्रमश 'इन्द्र वरुण' सूत्र तथा 'यवनाल्लिप्याम' वार्तिक से प्रमाणित होता है कि भारत मे लेखन कला अति प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। **सगताथम**—प्रसग और भाव के अनुकूल। **निर्घृण**—निदय, क्योकि मेरी दशा की ओर तुम्हारा ध्यान नही है। निरस्ता घृणा दया अस्य। शकुन्तला का यह सम्बोधन उसके प्रबल अनुराग एव उसकी ऐन्द्रिय वासना का द्योतक है। विप्रलम्भ शृङ्गार है। लक्षणा द्वारा तपति का अथ वर्धते करने पर यह शकु‍तला की अनुनयोक्ति भी मानी जा सकती है।

राजा—(सहसा पास जाकर)

तपति तनुगात्रि ! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥१४॥

सख्यौ—(सहर्षम्) स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य । [साअद अवलविणो मनोरथस्स ।]

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति ।)

अन्वय—(हे) तनुगात्रि, मदनः त्वाम् अनिशम् तपति, मां पुनः दहति एव, दिवसः यथा शशाङ्कं ग्लपयति, तथा कुमुद्वतीं न हि ग्लपयति ।

शब्दार्थ—तनुगात्रि=कृशाङ्गि, मदनः=कामदेव, अनिशम्=सर्वदा। शशाङ्कम् =चन्द्रमा को, ग्लपयति=म्लान बना देता है, कुमुद्वतीम्=कुमुदिनी को ।

अनुवाद—हे स्वभावतः एवं कामतापवश कृश अंगों वाली, कामदेव तुमको तो निरन्तर तपाता ही है परन्तु मुझको तो वह जलाता ही है । दिन जितना चन्द्रमा को म्लान (कान्तिहीन) बना देता है उतना कुमुदिनी को नहीं ।

भावार्थ—राजा शकुन्तला के कथन को सुनकर सहसा वहाँ पहुँचकर कहता है कि हे कृशाङ्गी । यह सत्य है कि तुम्हें निरन्तर कामदेव सन्तप्त कर रहा है किन्तु वह मुझे तो जला ही रहा है । अर्थात् मेरी काम पीडा तुमसे कहीं अधिक है । दिन चन्द्रमा को जितना मलिन करता है उतना कुमुदिनी को नहीं । दिन में कुमुदिनी कुम्हला भले ही जाये पर वह अस्तित्व-विहीन नहीं होती, पर चन्द्रमा तो दिन में दिखाई भी नहीं पड़ता, इसी प्रकार काम कामदेव तुम्हें केवल सन्तप्त ही तो करता है पर वह मुझे तो जला कर भस्म ही कर देना चाहता है । सन्ताप से शरीर की तनुता ही सम्भव है विनाश नहीं परन्तु जलने से तो शीघ्र विनाश हो जाता है ।

शकुन्तला के देह ताप को अपने मानसिक ताप से कम बताने के ही लिये राजा ने उसे तनुगात्रि कहा है । इसी प्रकार तपति पद भी साभिप्राय है, केवल तपाता है सन्तप्त नहीं करता, सन्ताप से तो शरीरापाय भी सम्भव था पर ताप से नहीं ।

विशेष—पूर्वार्ध परार्धगत वस्तु का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से **दृष्टान्त**, पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग साम्य से शशाङ्क और कुमुद्वती पर नायक नायिका व्यवहार समारोपण से परार्ध में **समासोक्ति**, मदयतीति मदनः अर्थात् हर्षद जो कि ताप देने वाला नहीं हो सकता अतः **विरोधाभास**, तनुगात्रि में तनु और गात्र शब्दों के समानार्थक होने से **पुनरुक्तवदाभास** पर यहाँ तनु का अर्थ कृश है । 'तपति' के प्रति तनुगात्रि पदार्थ हेतु है अतः पदार्थ हेतुक **काव्यलिंग**, तपति और दहति इन दोनों का एक ही कर्ता है । अतः **दीपक** ग्लपयति इस एक क्रिया के शशाङ्क और कुमुद्वती ये दो कर्म हैं अतः **तुल्ययोगिता** । किन्हीं के मत में यहां प्रतिवस्तूपमा भी है । अनुप्रास, आर्या जाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—तनुगात्रि=हे कृशाङ्गि, मदनः=कामः, अनिशम्=सततम्, त्वाम्=शकुन्तलाम् तपति=पीडयति, पुनः=किन्तु, माम्=दुष्यन्तम्, दहति एव=

राजा—अलमलमायासेन ।

सन्दष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥१५॥

भस्मसात् करोत्येव । दिवस=दिनम्, यथा=येन प्रकारेण, शशाङ्कम्=चन्द्रम्, ग्लपयति=निःशोभम् करोति, तथा=तेन प्रकारेण, कुमुद्वतीम=कुमुदिनीम्, न हि ग्लपयति=ग्लानिं नयति ।

संस्कृत सरलार्थ—अवसरान्वेषी दुष्यन्त सहसोपेत्य शकुन्तला कथनस्योत्तरव्याजेनात्मदशा निवेदयन् कथयति, हे कृशाङ्गि, त्वान्तु काम केवल तपत्येव, माँ तु स भस्मीकरोत्येव । अत न स त्वा तथा पीडयति यथा स मा दहति । स्वाभाविकमेतत् दिवसो यथा चन्द्र ग्लपयति न तथा स कुमुदिनी ग्लानिं प्रापयति ।

टिप्पणी

तपति—ताप देता है, दहति=जलाता है, तपाने से कोई चीज अस्तित्वहीन नहीं होती पर जलाने से वह अस्तित्वहीन हो जाती है, इससे राजा ने अपने मानसिक सन्ताप को शकुन्तला के दैहिक ताप की अपेक्षा अधिक बतलाया है । **ग्लपयति**—दिन में कुमुदनी मुरझा जाती है पर अस्तित्वहीन नही होती, पर चन्द्रमा दिन मे बिल्कुल दिखाई नहीं पडता, स्त्रीलिङ्ग कुमुदिनी शकुन्तला के रूप मे, पुल्लिङ्ग चन्द्र को दुष्यन्त के रूप मे तथा पुल्लिङ्ग दिवस को मदन के रूप मे प्रस्तुत किया गया है और इस दृष्टान्त के द्वारा राजा ने अपने सन्तापाधिक्य को सूचित किया है । **मनोरथस्य**—यहाँ लक्षणा से मनोरथ का अर्थ अभीष्ट व्यक्ति है अर्थात् दुष्यन्त ।

(शकुन्तला राजा के स्वागत के लिए उठना चाहती है)

राजा—नही, नहीं कष्ट करने की आवश्यकता नही ।

अन्वय—सदष्टकुसुमशयनानि आशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि, गुरुपरितापानि ते गात्राणि उपचारम् न अर्हन्ति ।

शब्दार्थ—सदष्टकुसुमशयनानि=फूलो की शैया को मर्दित करने वाले, आशुक्लान्त बिसभङ्गसुरभीणि=शीघ्र ही मुरझाये हुए कमल नाल के टूटने से सुगन्धित, गुरुपरितापानि=अत्यधिक सन्तप्त, गात्राणि=शरीरावयव या अङ्ग, उपचार=शिष्टाचार पालन, अर्हन्ति=योग्य हैं ।

अनुवाद—फूलो की शैया को मसलने वाले, शीघ्र मुरझाये हुए कमलनाल के टूटने से सुगन्धित, अत्यधिक सन्तप्त, तुम्हारे अङ्ग शिष्टाचार प्रदर्शन के योग्य नही हैं ।

भावार्थ—शकुन्तला अस्वस्थ होने के कारण शिलातल पर बिछी पुष्प शैय्या पर लेटी हुई है पुष्प शैय्या, तापवश अग सचालन से अस्त-व्यस्त एव नतोन्नत हो गई है । साथ ही उसके शरीर के ताप के कारण पहने हुए कमल नाल मुरझा गये थे । इनके टुकडो से उसके अङ्ग सुगन्धि युक्त हो गये थे । राजा के आने पर शकुन्तला शिष्टाचार प्रदर्शन हेतु उठना चाहती है पर राजा कहता है कि उसे शिष्टाचार प्रदर्शन

अनसूया—इत शिलातलैकदेशमलकरोतु वयस्य । [इदो सिलात-लेक्कदेस अलकरेदु वअस्सो ।]

(राजोपविशति । शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति ।)

की आवश्यकता नही क्योकि उसके अङ्ग अत्यधिक सन्तप्त है उसकी अवस्था ठीक नही है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे जो शकुन्तला के अङ्ग दुष्यन्त के आने पर उपचार या शिष्टाचार का व्यवहार करने के योग्य नहीं हैं, इसमे कारण 'गुरुतापानि' पद है अतएव यहाँ पर पदार्थ हेतुक-काव्यलिङ्गालङ्कार है । गात्राणि पद के तीनो विशेषण यहाँ सार्थक हैं अत साभिप्राय विशेषणो के होने से यहाँ परिकरालङ्कार है । आर्या-जाति छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—स दष्टम् काम सन्तापा दितस्ततोऽङ्गसञ्चालनपरिमर्दितम् कुसुमानाम पुष्पाणाम् शयन शैय्या यै तानि—सन्दष्टकुसुमशयनानि, आशु=सत्वरम् क्लान्त म्लान विसस्य कमलनालस्य भड् ग विच्छेद तेन सुरभीनि सुग धीनि—आशु क्लान्तविसभड् गसुरभीणि, गुरु अधिक परित ताप येषान्तानि गुरपरितापानि, ते=तव शकुन्तलाया , गात्राणि=शरीरावयवा , उपचारम=शिष्टाचार प्रदशनम्, न अह्ति=कर्तु योग्यानि न सन्ति ।

सस्कृत सरलार्थ—शकुन्तला स्वागताथ मुत्थातु मिच्छन्ती मवलोक्य राजा कथयति, अत्यधिकतापयुक्तानि तव गात्राणि, यानि परिमर्दितपुष्पशयनानि, आशु-म्लानकमलनालविच्छेदसुग धीनि सन्ति, मम स्वागताथ मायासकरणाय योग्यानि न सन्ति ।

टिप्पणी

सन्दष्ट कुसुमशयनानि—सन्दष्ट कुसुमाना शयन यै तानि । इसके अर्थ में विद्वानो के विचार भिन्न हैं । वस्तुत सन्दष्ट का अर्थ है सलग्न, पुष्पशय्या सन्तप्त अगो मे लगी हुई थी अतएव तापवश उसके पुष्प मुरझा गये थे, इसी बात को कवि ने २३ मे शरीरलुलिता शब्द से स्पष्ट किया है, कामसन्ताप के कारण वह शय्या पर इधर-उधर हाथ-पैर पटक रही थी इस कारण पुष्प दबकर मुरझाकर अस्त-व्यस्त हो गये थे, यहाँ लक्षणा के द्वारा सन्दष्ट का अर्थ पीडित या परिमर्दित करने से प्रसगानुकूल अथ हो जायेगा । सम्—दश+क्त, शय्यते अस्मिन्निति शयनम्, शी+अधिकरणे ल्युट् । सन्दष्टसपत्वचा शाकु० । **उपचारम**—सामान्य शिष्टाचार प्रदशन ।

अनसूया—प्रिय मित्र ! आप इधर शिलातल के एक भाग को सुशोभित करें अर्थात् बैठें ।

(राजा बैठता है । शकुन्तला लज्जित हो जाती है)

प्रियम्वदा—द्वयोरपि युवयोरन्योन्यानुराग प्रत्यक्ष । सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति। [दुवेण पि वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो। सहीसिणोहो म पुणरुत्तवादिणिं करेदि।]

राजा—भद्रे,नैतत् परिहार्यम् । विवक्षित ह्यनुक्तमनुताप जनयति।

प्रियम्वदा—आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यातिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष वो धर्म । [आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्व त्ति एसो वो धम्मो।]

राजा—नास्मात् परम् ।

प्रियम्वदा—तेन हीयमावयो प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तर भगवता मदनेनारोपिता। तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितमस्या अवलम्बितुम्। [तेण हि इअ णो पिअसही तुम उद्दिसिअ इम अवत्थन्तर भअवता मअणेण आरोविदा। ता अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविद से अवलम्बिदु।]

राजा—भद्रे, साधारणोऽय प्रणय । सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला—(प्रियवदा मवलोक्य) हला, किमन्त पुरविरहपर्युत्सुकस्य

प्रियवदा—आप दोनो का ही परस्पर अनुराग प्रत्यक्ष है (अत आप दोनों के विषय में यद्यपि कुछ कहने की आवश्यकता नही है) तथापि सखी के प्रति स्नेह मुझे फिर भी उसी बात को कहने के लिये विवश कर रहा है।

राजा—भद्रे इसे न रोकना चाहिये। (अर्थात् आपको अपने मन की बात कह डालना चाहिये) क्योकि जो बात (कोई) कहना चाहता है यदि वह न कही जाय तो वह पश्चात्ताप उत्पन्न करती है।

प्रियवदा—राजा को, अपने राज्य के अन्दर रहने वाले, विपत्तिग्रस्त व्यक्ति की आपत्ति को दूर करने वाला होना चाहिये, यही आप राजाओ का धम है।

राजा—इससे बढकर और कोई (कर्तव्य) नही है।

प्रियवदा—तो हम दोनो की यह प्रिय सखी शकुतला तुम्हारे ही कारण, भगवान् कामदेव के द्वारा इस दशा को पहुँचा दी गई है। अत उचित है कि आप अनुग्रह करके इसके जीवन की रक्षा करें।

राजा—भद्रे! यह प्रार्थना तो (दोनो ही ओर से) समान है, अर्थात् यदि इसका जीवनालम्बन मैं हूँ तो यह भी मेरा जीवनालम्बन है अत जीवनालम्वनार्थ यह प्रार्थना तो दोनो ही की समान है फिर भी यदि आप मुझसे जीवनालम्बन की याचना करती हैं तो इसके लिये सवथा मैं आपका अनुगृहीत हूँ।

शकुन्तला—(प्रियवदा की ओर देखकर) सखी, अपने अन्त पुर की रानियों के

राजर्षे रुपरोधेन । [हला, किं अन्तेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण ।]

राजा—

इदमनन्यपरायणमन्यथा
हृदयसन्निहिते हृदय मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे
मदनबाणहतोऽस्मि हृत पुन ॥१६॥

विरह से खिन्न राजर्षि को रोकने से क्या लाभ ! अर्थात् मेरे लिये इनको रोकना व्यर्थ है।

राजा—

इदमिति-अन्वय—मदिरेक्षणे हृदयसन्निहिते, इदम् अनन्यपरायण मम हृदय यदि अन्यथा समर्थयसे, मदनबाणहत पुन हृत अस्मि ।

शब्दार्थ—मदिरेक्षणे=मादक लोचनो वाली, हृदय सन्निहिते=हृदय में निवास करने वाली, अनन्यपरायणम्=अनन्यासक्त, समथयसे=समझती हो, मदनबाणहत = काम बाणो से आहत ।

अनुवाद—हे मादक लोचनो वाली, मेरे हृदय मे निवास करने वाली ! मेरे इस अनन्यासक्त हृदय को यदि अन्यथा समझती हो, तो कामदेव के शरों से आहत हुआ भी मैं पुन मारा जाऊँगा ।

भावार्थ—राजा कहता है चचल एव उन्मादक नेत्रो वाली और मेरे हृदय में निरन्तर विराजमान रहने वाली शकुतले मेरा हृदय तुम्हारा अनन्य भक्त है । पर फिर भी यदि तुम उसको अन्यासक्त होने का सन्देह करती हो तब तो पहले से ही काम से अति सतप्त मैं फिर से मारा जाऊँगा अर्थात् जीवित नही रह सकूगा । अतएव तुमको मेरे विषय मे अयासक्त होने की शका करना सर्वथा अनुचित है ।

विशेष—'अनन्यपरायणम्' के प्रति 'हृदय सन्निहिते' पद हेतु के रूप मे रखा गया है, अत पदाथ हेतुक काव्यलिङ्गालङ्कार है ।

'हृदय का अनन्यपरायणम्' तथा शकुन्तला के 'हृदय सनिहिते' और 'मदिरेक्षणे' इत्यादि अनेक विशेषण साभिप्राय हैं अत यहाँ परिकर अलकार है ।

'हृदय हृदयेति' 'हतोहत इति 'यहाँ पर लाटानुप्रास अलकार है । द्रुतविलम्बित नामक छन्द है (द्रुतविलम्बित माह नभौ भरौ")

सस्कृत व्याख्या—मदिरे ईक्षणे यस्या तत्सम्बोधने—मदिरेक्षणे=मादकनयने, हृदये चेतसि सन्निहिता सम्यक् प्रतिष्ठिता तत्सम्बोधने—हृदयसन्निहिते=मानससमवस्थिते, इदम्=एतत्, न अयत् कलत्र परायणम् आश्रय यस्य तत्—अनन्यपरायणम् =अन्यासक्तिरहित त्वन्मात्रनिष्ठमित्यथ , मम=दुष्यन्तस्य हृदयम्=मानसम्, यदि=चेत्त्वम्, अन्यथा=विपरीतभावेन अन्यपरायणतयेत्यथ , समर्थयसे=निरूपयसि,

(तर्हि) मदनस्य कामस्य बाणै शरै हत विद्ध —मदनबाणहत =कामशरक्षत (अपि अहम्) पुन =भूयोऽपि, हत =मारित ।

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलाकथन माकर्ण्य राजा कथयति—हे चित्तस्थित मादकनयने शकुन्तले यद्यपि मम हृदय त्वदेकप्रणयासक्त वर्तते तथापि त्व यदि मच्चित्त विपरीतभावेन चिन्तयसि तर्हि कामशरक्षत अपि अह पुन इतोऽप्यधिक विपन्नो भविष्यामि ।

टिप्पणी

शिलातलैकदेशम्—इस शिला के एक भाग पर, **वयस्य**—मित्र, राजा को शकुन्तला पर पूर्णतया आकृष्ट देखकर अनुसूया उसे वयस्य कहकर सम्बोधित करती है। **अन्योऽन्यानुराग**—अन्यस्मिन् अ यस्मिन् इति अन्योऽन्यम् अन्योऽ यस्मिन् अनुराग अन्योऽन्यानुराग (अनु+रञ्ज+घञ्=अनुराग) पारस्परिक प्रेम "क्रिया व्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्" से द्वित्व असमासवद्भाव और स हुआ है। यहाँ द्वयोरपि युवयो कहने से कवि का तात्पय है कि तुम दोनो मे जो परस्पर अनुराग है उसको तुम दोनो ही जानते हो। **पुनरुक्तवादिनीम्**—पुन उक्त वदतीत्यर्थे- पुनरुक्त+वद+साधुकारिणि कतरि णिनि ताम्। उसी बात को पुन दुहराने वाली। **परिहार्यम्**—परि+हृ+ण्यत्। **विवक्षितम**—वक्तुमिच्छा विवक्षा सा सञ्जाता अस्य तत्—ब्रू+सन्+इतच्=विवक्षितम्—जो कहने की इच्छा हो, अनुक्तम्=न कहा गया, **अनुतापम**—पश्चात्ताप, **जनयति**—उत्पन्न करता है। **आपन्नस्य**—आ+पद्+क्त= विपत्तिग्रस्त। **विषयनिवासिन**—देश या राज्य मे रहने वाले का। **धर्म**—कर्तव्य। **आर्तिहरेण**—आ+ऋ+क्तिन्=आर्ति, आर्ति हरतीत्यर्थे आर्ति+हृ+अच तेन= दुःख को हरण करने वाले। **अवस्थान्तरम्**—अन्या अवस्था अवस्थान्तरम्=अव+स्था भावे अङ्=अवस्था। परिवर्तित या दयनीय दशा को। **भगवता**—ऐश्वर्य एव शक्तिसम्पन्न "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस श्रिय, ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरित"। **अभ्युपपत्त्या**—अभ्युपपत्तिरनुग्रह। **अन्त पुरविरहपर्युत्सुकस्य**—अन्त पुर का अर्थ यहाँ अन्त पुर मे रहने वाली रानियाँ है—पर्युत्सुक=खिन्न या व्याकुल। **अनन्यपरायणम्**—न अन्यत् परायण यस्य तत्। पराअयते अस्मिन्निति परायणम्= परा+अय् अधिकरणे ल्युट। जिसका अन्य कोई उत्तम आश्रय नही है। **हृदयसन्निहिते**—हृदये सन्निहिता तत्सम्बोधने—सम्+नि+धा+क्त। **मदिरेक्षणे**—माद्यति आभ्यामिति मदिरे, मदिरे ईक्षणे नयने यस्या तत्सम्बोधने, मद् करणे किरच्। ईक्षते आभ्यामिति ईक्षणे। "दृष्टि विकसितापाङ्गा, मदिरा तरुणे मदे। आघूर्णमानमध्या या क्षामाचञ्चित तारका। अथवा—सौष्ठवेनापरित्यक्ता स्मेरापाङ्ग मनोहरा। वेपमानान्तरा दृष्टि मदिरा परिकीर्तिता। मदिरा का अर्थ सुरा भी है अत उन्मादक, लक्षणया अर्थ है। मदिरा मत्त खञ्जन का भी नाम है अत मत्त खञ्जन वत् चञ्चल नेत्रो वाली। यहाँ साम नामक प्रतिमुख सन्धि का अग है। तत्र साम प्रिय वाक्य सानुवृति प्रकाशकम्"।

अनसूया—वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वतय। [वअस्स, बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति, जह णो पियसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिवत्तेहि।]

राजा—भद्रे, किं बहुना।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥१७॥

उभे—निर्वृते स्व।

अनसूया—मित्र ! सुना है राजाओ की बहुत सी प्रियायें होती हैं। अत जिससे हमारी प्रियसखी बन्धुजनो के लिए शोचनीय न हो वैसा ही व्यवहार कीजिये। अर्थात् ऐसा प्रबन्ध कीजिये जिससे कि स्वजनो को पछताना न पडे।

राजा—भद्रे, अधिक क्या कहूँ इतना ही पर्याप्त होगा—

परिग्रहेति-अन्वय—परिग्रहबहुत्वेऽपि मे कुलस्य द्वे प्रतिष्ठे (भविष्यत) समुद्र रसना उर्वी च, इय युवयो सखी च।

शब्दार्थ—परिग्रहबहुत्वेऽपि=बहुत-सी पत्नियों के रहते हुये भी, कुलस्य=वश की प्रतिष्ठा=गौरव हेतु, समुद्ररसना=समुद्र जिसकी मेखला के सदृश है ऐसी पृथ्वी या (शकुन्तला के पक्ष मे) मुद्रा अर्थात् रत्नो से युक्त जिसकी मेखला है ऐसी शकुन्तला, उर्वी=पथ्वी।

अनुवाद—बहुत-सी स्त्रियो के होते हुए भी मेरे वश की प्रतिष्ठा दो हैं—एक तो समुद्र रूपी मेखला वाली पृथ्वी और दूसरी आप दोनो की यह सखी।

भावार्थ—राजा की दृष्टि में शकुन्तला का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि राजा के अन्त करण मे बहुत-सी रानियाँ हैं और समुद्र पर्यन्त पृथ्वी पर उसका राज्य है। परन्तु जिस प्रकार पथ्वी उसके कुल की प्रतिष्ठा है उसी प्रकार वह शकुन्तला को भी अपने वश के गौरव का कारण मानता है।

विशेष—शकुन्तला और पृथ्वी दोनों प्रस्तुतो का एक धर्म 'प्रतिष्ठा' के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलकार है। कोई यहाँ उर्वी को अप्रस्तुत मानकर दीपक अलकार मानते हैं। उर्वी शब्द में लिङ्ग के समय से स्त्री के व्यवहार का आरोप किया गया है अत समासोक्ति अलकार है।

'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य' मे दोनो ही प्रतिष्ठा का कारण है—इस प्रकार प्रतिष्ठा पद का अध्यवसाय होने के कारण भेद मे अभेद लक्षणा अतिशयोक्ति है।

'समुद्र रसना' से पृथ्वी और सखी दो अर्थों की प्रतीति हो रही है अत श्लेषा-
14 लकार है। पथ्यावक्त्र नामक छन्द है।

प्रियम्वदा—(सदृष्टिक्षेपम्) अनसूये, यथैष इतोदत्तदृष्टि रुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति । एहि, सयोजयाव एनम् । [अणसूए, जह एसो इदो दिण्णदिट्ठी उत्सुओ मिअपोदओ मादर अण्णेसदि । एहि, सजोएम ण ।]

(इत्युभे प्रस्थिते)

शकुन्तला—हला, अशरणाऽस्मि । अन्यतरा युवयोरागच्छतु । [हला, असरणा म्हि । अण्णदरा वो आअच्छदु ।]

संस्कृत व्याख्या—परिग्रहाणा बहुत्व तस्मिन परिग्रहवहुत्वे=राज्ञिवाहुल्ये अपि, मे=मम दुष्यन्तस्य, कुलस्य=वशस्य, द्वे प्रतिष्ठे=द्वे एव गौरवस्थितिहेतुभूते (स्त) समुद्र सागर रसना मेखला यस्या सा—समुद्ररसना, उर्वी=पृथिवी च, युवयो=भवत्यो, इयम्=एषा सखी=शकुन्तला च ।

संस्कृत सरलार्थ—राजा कथयति, सत्यपि राज्ञिवाहुल्ये, मम कुलस्य गौरव हेतू आधारहेतू वा केवल द्वे एव स्त, समुद्रवेष्टिता इय पृथ्वी च युवयो इय सखी शकुन्तला चेति ।

दोनों—हम लोग अब प्रसन्न हो गइ हैं ।

टिप्पणी

परिग्रहबहुत्वे—परि परित साकल्येन गृह्यते इति परिग्रह पत्नी परि+ग्रह कर्मणि अप् । **प्रतिष्ठा**—प्रतिष्ठत्यस्याम—इति प्रतिष्ठा—आधार स्वरूप या गौरव का कारण । प्रति+स्था+अङ्+टाप् । कुल परम्परा का आधार । दुष्यन्त शकुन्तला को अपने कुल की प्रतिष्ठा मानता है, षष्ठ अङ्क मे भी वह कहता है "त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा" । **समुद्ररसना**—मुद्राभि रत्नै सह समुद्र, स एव रसना मेखला यस्या सा, चारो ओर समुद्र से परिवेष्टिता पृथ्वी । "रत्नानुविद्धार्णव मेखलाया दिश सपत्नी भव दक्षिणस्या" रघु० । रसना और रशना ये दोनो ही प्रकार के शब्द मिलते हैं 'रसना काञ्चि जिह्वयो । अन्यत्र 'समुद्र वसना' भी पाठ है अर्थात् समुद्र ही जिसका वस्त्र है, अवधि रूप आच्छादित करने वाला वस्त्र "टीकाकारो ने इसे शकुन्तला का विशेषण भी माना है । वस्तुत समुद्र रसना का ही अन्यत्र भी वर्णन मिलता है अत समुद्र वसना पाठ अधिक उपयुक्त नही है । यहाँ शकुन्तलोत्कर्ष कथन के कारण गभ सन्धि का उदाहरण नामक अग है । "उदाहरण मुत्कर्ष वचनम्" तथा दाक्षिण्य नामक नाट्य लक्षण है "दाक्षिण्य चेष्टया वाचा परचिन्तानुवतनम् ।"

प्रियवदा—(एक ओर दृष्टि डालकर) अनसूये, इधर की ओर दृष्टि लगाये हुए उत्कण्ठित यह मृग का बच्चा मानो अपनी माता को खोज रहा है । आओ इसको उससे मिला दें । (यह कहकर दोनों चल देती हैं ।)

शकुन्तला—सखी मैं असहाय रह गई हूँ, तुम दोनों मे से एक तो यहाँ आओ ।

उभे—पृथिव्या य शरण स तव समीपे वर्तते। [पुहवीए जो सरण सो तुह समीवे वट्टइ।]

(इति निष्क्रान्ते।)

शकुन्तला—कथ गते एव ? [कह गदाओ एव्व]

राजा—अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते।

किं शीतलै क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-
न्सचारयामि नलिनीदलतालवृन्तै ?
अङ्के निधाय करभोरु यथासुख ते
सवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ॥१८॥

दोनों—जो पृथ्वी का आश्रय है वह तुम्हारे समीप में विद्यमान है।

(दोनो का प्रस्थान)

शकुन्तला—क्या चली ही गईं ?

राजा—घबडाने की कोई बात नही। यह सेवक व्यक्ति तुम्हारे समीप ही है।

किमिति-अन्वय—किं शीतलै क्लमविनोदिभि नलिनीदलतालवन्तै आर्द्रवातान् सञ्चारयामि। उत करभोरू, ते पद्मताम्रौ चरणौ अङ्के निधाय यथासुख सवाहयामि ?

शब्दार्थ—क्लमविनोदिभि =श्रम (थकावट) को दूर करने वाले, नलिनीदल तालवृन्तै =कमलिनीपत्र के पखो से, आर्द्रवातान्=शीतल हवायें, करभोरु=करभ (हाथी के बच्चे की सूँड) के तुल्य जाँघो वाली अथवा कलाई से लेकर कनिष्ठिका उँगली तक हाथ का बाहरी भाग करभ कहलाता है, उसके तुल्य जघाओ वाली, पद्मताम्रौ= कमल के समान रक्ताभ वर्ण के, अङ्के=गोद मे या क्रोड भाग मे, निधाय=रखकर, यथासुख—जिस प्रकार तुम्हें सुख मिले, उस प्रकार, सवाहयामि=दबाऊँ।

अनुवाद—क्या मैं श्रम को दूर करने वाले, कमलिनी के पत्तो के पखो से ठण्डी हवा करूँ ? अथवा हे करभोरू ! तुम्हारे कमल के समान रक्तवर्ण वाले चरणों को गोद मे रखकर जिस प्रकार तुम्हें सुख प्राप्त हो उस प्रकार दबाऊँ।

भावार्थ—राजा के पास अकेली छोडकर दोनो सखियो के चले जाने पर शकुन्तला अपने को असहाय मानकर चिन्तित होती है। राजा उससे पूछता है कि क्या वह कमल पत्र के सुकुमार व्यजनो से ठण्ढी ठण्ढी हवा करके उसकी थकान को मिटाये या उसके चरणों को, जोकि कमल के समान लाल रग के हैं और कोमल हैं, गोद मे रखकर दबाये। इस प्रकार राजा उसे अनेक चाटूक्तियो से प्रसन्न करने की चेष्टा करता है।

विशेष—यहाँ पर नलिनी दलो पर तालवृन्त का आरोप किया गया है जो प्रकृत मे पखा करने के लिए उपयोगी है, अत परिणामालकार है।

शकुन्तला—न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये। (इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति।) [ण माणणीएसु अत्ताण अवराहइस्स।]

'करभोरु' और 'पद्मताम्रौ' मे उपमावाचक इव शब्द का प्रयोग न होने से यहाँ 'वाचकलुप्तोपमा' है।

'करभोरु' और 'पद्मताम्रौ' इन विशेषणो के साभिप्राय होने से परिकरालङ्कार है, विकल्पालकार "तुल्यबलविरोधे विकल्प 'करभोरु और पद्मताम्रौ सवाहन मे हेतु हैं अत काव्यलिङ्ग अलकार। वसन्ततिलका नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—किम (अहम) शीतलै=शीतलस्पर्श क्लम ग्लानि क्लान्ति वा विशेषेण नुदन्ति दूरी कुर्वन्ति, इति क्लमविनोदिन तै—क्लमविनोदिभि= क्लान्त्यपहारक नलिन्या दलानि तान्येव तालवृन्तानि व्यजनानि तै—नलिनीदलतालवृन्तै=कमलिनीपत्रव्यजनै, आर्द्रा शीतला वाता वायवस्तान् आर्द्रवातान्, सचारयामि=बीजयामि। उत=अथवा, हे करभौ इव ऊरू यस्या सा तत्सबोधने—करभोरु! ते=तव, पद्मे कमले इव ताम्रौ अरुणौ—पद्मताम्रौ=कमलोदररक्तवर्णौ, चरणौ= पादौ, अङ्के=क्रोडे, निधाय, सस्थाप्य, यथासुखम्=यथा ते सुख भवेत् तथा, सवाहयामि=मर्दयामि।

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तला परित्यज्य सख्यो गमनानन्तर ता राजा कथयति—अलमावेगेन नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते, कथय, किं शीतस्पर्शै कमलपत्र व्यजनै रार्द्र वातान बीजयामि अथवा कमलताम्रौ तव चरणौ स्वाङ्कमारोप्य यथासुख मर्दयामि।

शकुन्तला—नही, मैं माननीय जनो के प्रति अपने को अपराधिनी नही बनाऊँगी।

(यह कहकर उठकर जाना चाहती है)

टिप्पणी

निवर्त्ते—निश्चित। **आराधयिता**—उपासक—सेवक, आ+राध+णिच्+तृच्, **क्लमविनोदिभि**—क्लम विनोदयितु शीलमेषा मित्यर्थे—क्लम+वि+नुद्+णिच् कर्तरि णिनि। सचारयामि=सम्—चर+णिच। **करभोरु**—करभ का अर्थ—कलाई से लेकर कनिष्ठिका अगुली तक का नीचे का भाग (मणिबन्धनादकनिष्ठ करस्य करभो बहि" अथवा हाथी के बच्चे की सूँड, इसके समान ऊरु अर्थात् जघाओ वाली। इससे जघाओ का अनुवर्त्ताकारत्व एव कोमलत्व ध्वनित होता है। **सवाहयामि**—इससे राजा की चाटुकारिता सूचित होती है—सम्+वह+णिच। यहाँ माला नामक नाट्य लक्षण है "माला स्यादभीष्टार्थप्रकाशनम। पर्युपासन नामक सध्यङ्ग भी है "पर्युपास्तिरनुनय"।

राजा—सुन्दरि, अनिर्वाणो दिवस । इय च ते शरीरावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशयन नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गै ॥१९॥

(इति बलादेना निवर्तयति ।)

राजा—सुन्दरी, अभी दिन भी नही ढला है और तुम्हारे शरीर की यह अवस्था है ।

उत्सृज्येति-अन्वय—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा (त्वम) कुसुमशयनम उत्सृज्य परिबाधापेलवै अङ्गै कथम आतपे गमिष्यसि ?

शब्दार्थ—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा=कमलिनी के पत्तो से जिसने अपने स्तनो का आवरण आच्छदन बनाया है । कुसुमशयनम्=पुष्प शय्या को, उत्सृज्य=छोडकर, परिबाधापेलवै=काम पीडा के कारण कोमल, अर्थात् दुबल, आतपे=धूप मे ।

अनुवाद—जिसने (कामतापशान्त्यर्थ) कमलिनी के पत्तो से अपने स्तनो का आवरण निर्मित किया है, ऐसी तुम पुष्प शय्या को त्याग कर, काम पीडा के कारण कोमल अङ्गो से धूप मे कैसे जाओगी ।

भावार्थ—दानो सखियो के चले जाने पर राजा शकुन्तला से पूछता है कि वह उसकी क्या सेवा करे ? उसके चरणो का सवाहन करे अथवा ठण्डी हवा से उसका श्रम दूर करे ? शकुन्तला यह सब सुनकर उठकर जाना चाहती है तो राजा उसे धूप मे जाने से रोकता है । क्योकि एक तो वह वैसे ही कोमलाङ्गी है और इस दशा मे काम पीडा के कारण उसके अग और भी दुबल हो गये है । वे धूप को सहन कर सकने मे असमर्थ है अत उसका पुष्पशय्या को त्याग कर जाना उचित नही ।

विशेष—यहा पर परिबाधापेलवै पद, "कथमातपे गमिष्यसि" के लिए हेतुत्वेन उपन्यस्त किया गया है अत पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

परिबाधापेलवै आदि विशेषण साभिप्राय हैं अत परिकर अलङ्कार है। आर्या जाति छद है ।

सस्कृत व्याख्या—नलिनीनाम कमलिनीनाम दलै पत्रै कल्पितम् रचितम् स्तनयोरावरण तापशान्त्यर्थ—माच्छादन यया सा—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा, कुसुमशयनम्—पुष्पमयी शय्याम उत्सृज्य=विहाय, परित बाधा परिबाधा तया पेलवै कोमलै दुबलै रित्यर्थ अङ्गै=शरीरावयवै, (उपलक्षिता त्वम) कथम=केन प्रकारेण, आतपे=निदाघे गमिष्यसि=यास्यसि ।

सस्कृत सरलार्थ—गमनाय प्रस्तुता शकुन्तला निवारयन् राजा कथयति—सुन्दरि, अनिर्वाणो दिवस, इयञ्च ते शरीरावस्था, अत कामतापशान्त्यर्थम् कमलिनी पत्ररचितस्तनाच्छादना त्वम इद पुष्पशयन विहाय, कामपीडाजजरितैरङ्गै उपलक्षिता सती, कथमातपे यास्यसि ।

शकुन्तला - पौरव, रक्ष विनयम्। मदनसतप्ताऽपि न खल्वात्मन प्रभवामि। [पोरव, रक्ख विणअ। मअणसतत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि।]

राजा—भीरु, अल गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोष ग्रहीष्यति कुलपति ।

अपि च—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यका ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ता पितृभिश्चानुमोदिता ॥२०॥

(यह कहकर बलात् इसे लौटाता है)

टिप्पणी

अनिर्वाण—निर्वाण=बुझा हुआ शान्त प्रचण्डतारहित। यहाँ पर इसका अर्थ है कि सूय अभी ढला नही है। अभी धूप क फी तेज है। क्वचित् 'स्तनावरणम्' भी पाठ है और इसे कुसुमशयनम् का विशेषण माना गया है पर ऐसा मानने से अर्थ अस्पष्ट और प्रसग विरुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार परिबाधा और पेलवै दोनो व्यस्त पद माने गये हैं, परित बाधा पीडा यस्या सा परिबाधा अर्थात् कामतापपीडिता—परिबाध् अ भावे टाप—परिबाधा। **आतपे**—आ समन्तात् तपति तस्मिन् आतपे, आ+तप+कतरि अच। यहाँ हेतु नामक नाटय लक्षण है 'हेतु र्वाक्य समासोक्त मिष्टकृद् हेतुदर्शनात्"। अन्य आचार्यों के मत मे यहाँ उपन्यास नामक प्रतिमुख सन्धि का अग है। "उपपत्ति कृतोऽथ उपन्यासस्तु स मत"।

शकुन्तला—पुरुवशोत्पन्न राजन, शील की रक्षा कीजिये। काम पीडिता भी मैं अपने पर अधिकार नही रखती अर्थात अपने शरीर पर मुझे पूरा अधिकार नहीं है, अपनी इच्छा मात्र से कुछ नही कर सकती।

राजा—भयकातरे, अपने गुरुजनो का भय करना व्यर्थ है। तुम्हारे विषय मे सब जानकर, धम तत्त्वज्ञाता पूजनीय कुलपति कण्व इस विषय मे कुछ अपराध या दोष न मानेंगे। और भी।

गान्धर्वेणेति अन्वय—वह व्य राजर्षिकन्यका गान्धर्वेण विवाहेन परिणीता, ता पितृभि अनुमोदिता च श्रूयन्ते।

शब्दार्थ—वह व्य =बहुत-सी, राजर्षिक यका =राजर्षियो की पुत्रिया, परि णीता =विवाहिता, अनुमोदिता =अनुमोदन की गइ।

अनुवाद—बहुत सी राजर्षियो की पुत्रियाँ गान्धव विवाह विधि से विवाहिता हुई हैं और उनका उनके पितरो द्वारा समथन किया गया है। ऐसी सुनी जाती हैं।

भावार्थ—दुष्यन्त शकुन्तला को समझाता है कि उसे अपने विवाह के विषय मे महर्षि कण्व का भय करने की कोई आवश्यकता नही। क्योकि ऐसे अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं जिनमे बहुत-सी राजर्षि कन्याओ ने गान्धव विवाह किया और उनके पिताओ

शकुन्तला—मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये। [मुञ्च दाव म। भूओ वि सहीजण अणुमाणइस्स।]

राजा—भवतु। मोक्ष्यामि।

शकुन्तला—कदा।

ने उनका अनुमोदन किया है। गान्धर्व विवाह क्षत्रियों के लिये ही स्वीकृत था। कन्या एव पुरुष के पारस्परिक प्रेम के आधार पर दोनो की इच्छा से होने वाले विवाह को गान्धव विवाह कहा जाता था। इसमे माता-पिता की अनुमति आवश्यक नहीं होती है। यह काम के वशीभूत होकर किया जाता है। इसमे यह आवश्यक होता है कि वर-कन्या दोनो अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को ठीक समझते हो। अतएव बाद में ऐसे विवाहो को माता-पिता आदि का समर्थन प्राप्त हो जाता था।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की अभिव्यञ्जना होने के कारण अप्रस्तुत प्रशंसाऽलङ्कार है। अनुष्टुप् नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—बह्व्य =अनेका, राजर्षिकन्यका =राजर्षिकुमार्यं, गान्धर्वेण विवाहेन=गान्धवविवाहविधिना, परिणीता =पारस्परिकप्रेममूलकेन विवाहविधिना कृतविवाहा, (सन्ति) ता कन्यका, पितृभि =गुरुजनै, अनुमोदिता च= अभिनन्दिता च, श्रूयन्ते=आकर्ण्यन्ते।

संस्कृत सरलार्थ—राजा कथयति, सुन्दरि, यथाकाम विहर, न त्वया गुरुजन्मा शका कार्या। पुराणादिषु अनेका राजर्षिकन्यका गान्धर्वविवाहविधिना परिणीता श्रूयन्ते "क्षत्रियस्य तु गान्धर्वो विवाह श्रेष्ठ उच्यते" इति बचनात त्वमपि राजर्षिवीर्य समुत्पन्ना अहमपि क्षत्रिय अत आवयोर्विवाहे न कमपि दोष महर्षि ग्रहीष्यति, अपितु स त्वा मभिनन्दयिष्यत्येव।

टिप्पणी

रक्ष विनयम—विनय=शालीनता या शील सदाचार की रक्षा कीजिये, मुझे वलात् न खीचिये। **आत्मन न प्रभवामि** मैं अपनी स्वामिनी नही, अपितु पराधीना हूँ मैं स्वेच्छा से आत्मदान नही कर सकती। **विदितधर्मा**—विदित धम यस्य स यहाँ धर्मादनिच्० से समासान्त अनिच् अन प्रत्यय है—विदितधर्मा-धम मर्यादा कुल परम्परा, **गान्धर्वेण**— 'सकामाया सकामेन निमन्त्र रहसि स्मृत करस्पर्शस्तु गान्धर्व" इच्छयाऽन्योन्य सयोग कन्यायाश्च वरस्य च गान्धव स तु विज्ञेयो मैथुन्य कामसम्भव "मनु" ब्राह्मो देवस्तथैवाष प्राजापत्य स्ताऽसुर गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्ट-मोऽधम। यहाँ उपदिष्ट नामक नाटकीय लक्षण है "उपदिष्ट मनोहारि वाक्य शास्त्रा-नुसारत"।

शकुन्तला—तो मुझे छोड दीजिये। मैं पुन अपनी सखियो से अनुमति लूंगी।

राजा—अच्छा, छोड दूंगा।

शकुन्तला—कब ?

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य याव-
त्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते
सदय सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥२१॥

(इति मुखमस्या समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाटयेन।)

राजा-अपरिक्षतेति अन्वय—(हे) सुन्दरि! यावत षटपदेन अपरिक्षतकोमलस्य नवस्य कुसुमस्य इव, पिपासिता मया ते अस्य (अपरिक्षतकोमलस्य) अधरस्य रस सदय गृह्यते।

शब्दार्थ—षटपदेन=भ्रमर के द्वारा, अपरिक्षतकोमलस्य=जिसका पहले कभी न स्वाद लिया हो और सुकुमार हो उसके, पिपासिता=प्यासे, सदयम=दया के साथ, गृह्यते=पिया जाता है।

अनुवाद—हे सुन्दरी! जब तक भ्रमर के द्वारा अनास्वादित और सुकुमार नवीन पुष्प के समान, प्यासे, मेरे द्वारा तेरे इस अक्षत कोमल अधर का रस दयाभाव से पिया जा रहा है।

भावार्थ—प्रस्तुत पद्य मे शकुन्तला के अधरो को पुष्प के समान तथा उसका आस्वादन करने के इच्छुक राजा को भ्रमर के समान बताया है। जिस प्रकार भ्रमर पहले कभी न चखे गये नवीन कोमल पुष्प के मकरन्द रस का पान करने के लिये लालायित रहता है उसी प्रकार इस समय राजा शकुन्तला के उन सुकुमार अधरो का पान करने का इच्छुक है, जिनका इससे पूव कभी भी किसी के द्वारा आस्वादन नही किया गया है। शकुन्तला के अधरो को 'अपरिक्षत' कहा गया है जोकि उसके पवित्र चरित्र का द्योतक है। 'सुन्दरि' राजा के द्वारा शकुन्तला के लिये किया गया यह सम्बोधन बताता है कि इस अस्वस्थ दशा मे भी शकुन्तला का सौन्दय अक्षुण्ण बना है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'कुसुमस्येव' में शकुन्तला के अधरो की कुसुम से उपमा दी गई हैं तथा उपमावाचक 'इव' शब्द का प्रयोग हुआ है, अत यहाँ उपमालङ्कार है। काव्यलिङ्ग, परिकर, अनुप्रास आदि भी अलकार है। मालभारिणी नामक छन्द है। "विषमे ससजा गुरू समे चेत सभरा येन तु मालभारिणीयम्।

सस्कृत व्याख्या—हे सुन्दरि=कान्ते, यावत=यावत काल पयन्तम, षटपदेन=भ्रमरेण, न विद्यते परित क्षतम् यस्य स, स चासौ कोमलश्च तस्य अपरिक्षतकोमलस्य=भ्रमरादिना अपरिचुम्बितकोमलस्य, नवस्य=नव विकसितस्य, कुसुमस्य, पुष्पस्य इव, पिपासिता मया=पातुमिच्छता मया दुष्यन्तेन, अपरिक्षत नाद्यावधि केनाप्यास्वादित कोमल सुकुमारश्च तस्य-अपरिक्षतकोमलस्य, अस्य ते अधरस्य, रस=स्वाद, सदयम्=दया पूवकम्, गृह्यते=नोपलभ्यते।

सस्कृत सरलाथ—राजा कथयति, सुन्दरि, यावत् मया तवाधरपान क्रियते,

(नेपथ्ये)

चक्रवाकवधुके ! आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी । [चक्क-वाकबहुए ! आमन्तेहि सहअर । उवट्ठिआ रअणी ।]

शकुन्तला—(ससम्भ्रमम्) पौरव ! असशय मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भा-यार्या गौतमीत एवागच्छति । तद् विटपान्तरितो भव । [पोरव, अससअ मम सरीरवुत्तन्तोवलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि । ता विडवन्त-रितो होहि ।]

राजा—तथा । (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति ।)

(तत प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च)

सख्यौ—इत इत आर्या गौतमी । [इदो इदो अज्जा गोदमी ।]

तत्पश्चात् मोक्ष्यामि । भ्रमरादिना अपरिचुम्बितकोमलस्य नवविकसितस्य पुष्पस्येव तवाधरस्य पिपासिता षट्पदेनेव मया रस नोपलभ्यते तावन्न मोक्ष्यामि ।

टिप्पणी

सदयम्—दयया सहितम्—धीरे धीरे, कौशल से इससे राजा का मुग्धानु-वृत्तिचातुर्य ध्वनित होता है । अनुमानयिष्ये—अनु+मन्+णिच+लृट । अनुमति लूंगी । अपरिक्षत—जिसका किसी ने अब तक स्वाद नही लिया है । पिपासिता—पा धातु+सन्=पिपास तत् शतृ ततीयैक वचन, पीने की इच्छा रखने वाले । यहाँ स्पृहा नामक नाटकीय अलकार है 'आकांक्षा रमणीयत्वाद् वस्तुनो या स्पृहा तु सा" । षट्पदेन—षट पदानि अस्येति षटपद तेन ।

इतीति—(यह कहकर शकुतला का मुख ऊपर की ओर उठाना चाहता है । पर शकुन्तला राजा को अधर पान करने से रोकने का अभिनय करती है) ।

वस्तुत नाटकीय नियमो के अनुसार रगमञ्च पर अधर पान दिखाना वर्जित है अतएव कालिदास का दुष्यन्त भी इससे वञ्चित ही रह जाता है, जैसाकि वह स्वय आगे कहता है ।

(नेपथ्य मे)

हे चक्रवाकवधू, अपने साथी से विदा लो । रात आ गयी है ।

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) हे पुरुवशी, निस्सन्देह मेरे स्वास्थ्य का समाचार जानने के लिए आर्या गौतमी इधर की ओर ही आ रही है । इसलिए आप वृक्ष की आड मे छिप जाइये ।

राजा—अच्छा (अपने आप को छिपाकर खडा हो जाता है)

(तत्पश्चात् पात्र हाथ मे लिए गौतमी और दोनो सखियो का प्रवेश)

दोनों सखियाँ—इधर से आर्या गौतमी इधर से ।

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य) जाते, अपि लघुसन्तापानि तेऽङ्गानि ? [जादे, अवि लहुसदावाइ दे अङ्गाइ ।]

शकुन्तला—आर्ये, अस्ति मे विशेष । [अज्जे, अत्थि मे विसेसो ।]

गौतमी—अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीर भविष्यति । (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वत्से, परिणतो दिवस । एहि, उटजमेव गच्छाम । [इमिणा दब्भोदएण णिरावाध एव्व दे सरीर भविस्सदि । वच्छे, परिणदो दिअहो । एहि, उडज एव्व गच्छम्ह ।]

(इति प्रस्थिता)

गौतमी—(शकुन्तला के पास जाकर) पुत्री ! तेरे शरीर का सन्ताप कुछ कम हुआ ।

शकुन्तला—हाँ, मुझे कुछ लाभ है ।

गौतमी—कुशयुक्त जल से तेरा शरीर पीडारहित ही हो जायेगा । (यह कह कर शकुन्तला के सिर पर जल छिडक कर) पुत्री, अब दिन ढल गया है, आओ कुटी मे ही चलें ।

(यह कहकर सबका प्रस्थान)

टिप्पणी

चक्रवाकवधुके—चक्रवाक नामक पक्षी की वधू अर्थात् चकवी । ये दोनो पक्षी प्रकृति नियमानुसार रात्रि मे वियुक्त हो जाते है और दिन मे सदा साथ रहते हैं । एक पौराणिकी कथा के अनुसार जब राम सीता से वियुक्त होकर पपा सरोवर पर रो रहे थे तब चक्रवाक उन पर हँसा था अत राम ने उसे रात मे अपनी प्रिया से वियुक्त रहने का शाप दिया था । कुछ भी हो साहित्य मे इनका बहुत वणन मिलता है । इनके इसी प्रकार के अन्य नाम हैं भूरिप्रेमा द्वन्द्वचारी रात्रि विश्लेषगामी आदि ।

यहाँ कवि का नाटकीय कौशल भी द्रष्टव्य है । नेपथ्य से गौतमी के आने की सूचना दी जा रही है और शकुन्तला से कहा जा रहा है कि अब अपने प्रेमी से अलग हो जाओ क्योकि अब रात्रिरूपी गौतमी उपस्थित हो रही है । यहाँ चकवी शकुन्तला और चक्रवाक दुष्यन्त है "दूरी भूते मयि सहचरे चक्रवाकी मिवैकाम्" मेघदूत । **आमन्त्रयस्व**—आ+मन्त्र धातु का अथ विदा लेना होता है सखियो का सकेत है कि अब तुम दोनो प्रेमी अलग हो जाओ । यहाँ पर टीकाकारो ने पताका स्थानक माना है, भावि घटना एव अर्थ की सूचना पताकास्थानक से दी जाती है "आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत् । चक्र इत्युच्यते इति चक्रवाक तस्य अनुकम्पिता वधू इतिचक्रवाक वधुके । यहाँ चक्रवाक वधू से कन् प्रत्यय और केऽण से ह्रस्व है । **अन्तरित** —अन्तर जात मस्य—अन्तर इतच । **निराबाधम**—निर+आ+बाध् भावे अ" । **परिणत** —ढल गया है । सायकाल हो रहा है । **उपलम्भाय**—उप+लभ+घज । ●

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हृदय ! प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभाव न मुञ्चसि। सानुशयविघटितस्य कथ ते साप्रत सन्ताप । (पदान्तरे स्थित्वा। प्रकाशम्) लतावलय सन्तापहारक ! आमन्त्रये त्वा भूयोऽपि परिभोगाय। [हिअअ ! पढम एव्व सुहोवणदे कादरभाव ण मुञ्चसि। साणुसअविहडिअस्स कह दे सपद सदावो। लदावलय सदावहारअ, आमन्तेमि तुम भूओ वि परिभोअस्स।]

(इति दु खेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभि ।)

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य, सनि श्वासम्) अहो, विघ्नवत्य प्रार्थितार्थसिद्धय । मया हि—

मुहुरङ्गुलिसवृताधरोष्ठ
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्या
कथमप्युन्नमित न चुम्बित तु ॥२२॥

शकुन्तला—(मन मे) हे हृदय, पहले ही सुखपूवक मिले हुये मनोरथ (दुष्यन्त) के निकट आने पर, तू ने अपने सकोच को नही छोडा। अब पश्चात्ताप सहित वियुक्त होने पर तुझे दु ख क्यो है ? (थोडा चलकर रुककर, प्रकट मे) हे सन्तापहारक लता कुञ्ज फिर सेवन करने के लिए तुम्हे आमन्त्रित करती हूँ।

(शकुन्तला का औरो के साथ दु खसहित प्रस्थान।)

राजा—(पूव स्थान पर आकर दीघनिश्वास के साथ) अहो, अभीष्ट वस्तुओं की उपलब्धि विघ्नो से युक्त होती है। क्योकि मैंने—

मुहुरिति-अन्वय —(मया) पक्ष्मलाक्ष्या मुहु अङ्गुलिसवृताधरोष्ठ प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् असविवर्ति मुख कथमपि उन्नमित, न तु चुम्बितम्।

शब्दाथ—पक्ष्मलाक्ष्या =सघन पलकरोमो से युक्त नेत्रो वाली, अङ्गुलिसवृताधरोष्ठम्=अङ्गुलि से ढक लिए गये अधरोष्ठ वाले, प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्=निषेधाक्षरो के अस्फुट उच्चारण के कारण मनोज्ञतर, मुखम असविवर्ति= कन्धे की ओर मुडे हुए मुख को, उन्नमितम्=ऊपर को उठाया।

अनुवाद—सुन्दर रोमो से युक्त नेत्रो वाली (शकुन्तला) का बार-बार अगुलियो से ढके गये अधरोष्ठ वाले, निषेधाक्षरो के अस्फुट उच्चारण के कारण मनोज्ञतर, कन्धे की ओर मुडे हुए, मुख को किसी प्रकार उठाया तो, पर चुम्बन न कर सका।

भावाथ—राजा की अभिलाषा थी कि वह शकुन्तला के पक्ष्मल नेत्रो वाले सुन्दर मुख का चुम्बन कर ले पर उसके इस अभीष्ट मनोरथ मे अनेक विघ्न आते हैं। शकुन्तला अत्यन्त लज्जाशील थी। वह राजा द्वारा किये जाने वाले चुम्बन को रोकने के लिए अपनी अगुलियो से अधरो को ढक लेती थी। अस्फुट शब्दो मे वह बार-बार निषेध कर रही थी और अपने मुख को कन्धे की ओर मोडे हुए थी। इस कारण

उसका मुख और भी सुन्दर प्रतीत हो रहा था। ऐसे उसके मुख को राजा ने उसकी इच्छा के विरुद्ध बडी ही कठिनाई से ऊपर की ओर उठाया तो पर वह उसका चुम्बन न कर सका।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में अधरोष्ठम्' में अधर और ओष्ठ दोनों का एक ही अर्थ प्रतीत होता है, अत यहा 'पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है।

'कथमप्युन्नमितम्' इस अर्थ के प्रतिपादन के लिए ऊपर दिये गये मुख के तीन विशेषण अगुल्सिवृताधरोष्ठम् प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् तथा असविवर्ति—हेतुत्वेन कहे गये है अत काव्यलिङ्ग है।

सम्पूर्ण पद्य में स्वाभावोक्ति अलङ्कार है। मालभारिणी नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—पक्ष्मले प्रशस्तलोमशालिनी अक्षिणी नयने यस्यास्तस्या—पक्ष्मलाक्ष्या, मुहु=वारवारम्, अङ्गुलिभि सर्वत आच्छादित अधरोष्ठ निम्नोष्ठ यस्मिन् तत्—अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम्=मत्कृतचुम्बनवारणायाङ्गुलिममाच्छादिताधरोष्ठम्, प्रतिषेधाक्षराणाम् मा मा अल मल मिति चुम्बननिषेधकाक्षराणाम् विक्लवेन अस्फुट मुच्चारणेन अभिरामम् मनोहरम्=प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्, असयो स्कन्धयो विवर्ति परिवर्तनशीम् म—असविवर्ति, मुखम्=आननम्, कथमपि=येन केनापि प्रकारेण, उन्नमितम्=परिचुम्बनायोर्ध्वीकृतम्, तु=किन्तु, न चुम्बितम्=गौतमीसमागमश्रवणभयादित्यर्थ।

संस्कृत सरलार्थ—पूर्वस्थान मुपेत्य राजा चिन्तयति—अहो अभीष्टार्थसिद्धयो विघ्नवत्यो भवन्ति, मया पक्ष्मलनयनायास्तस्या मुख परिचुम्बितु कथमपि काठिन्येनोन्नमित पर चुम्बनाय न समर्थो जात यतो हि तदानी तस्या मुख स्वाभाविकलज्जया तदङ्गुलिभि संवृताधरोष्ठमासीत्, प्रतिषेधकाक्षराणामस्फुटोच्चारणेन तदति मनोरम मासीत् एवञ्च तच्चुम्बनवारणाय असविवर्त्यप्यासीत्।

टिप्पणी

सुखोपनते मनोरथे—अनायास प्राप्त मनोरथ अर्थात् दुष्यन्त—दुष्यन्त की अनायास प्राप्ति हो जाने पर भी। **कातरभावम्**—सकोच भय अथवा लज्जाभाव। **सानुशय-विघटितस्य**—अनुशयेन पश्चात्तापेन सह सानुशय, सानुशय यथा स्यात्तथा विघटितम् तस्य। अनु+शी+अच—अनुशय, वि+घट् णिच क्त=विघटित। **लतावलय सन्तापहारक आमन्त्रये त्वाम भूयोऽपि परिभोगाय**—इस वाक्य के सभी शब्द द्व्यर्थक है, एक लताकुञ्ज के पक्ष मे और दूसरा राजा के पक्ष मे, गौतमी जिससे कि यह जान सके कि लताकुञ्ज से कहा जा रहा है, पर शकुन्तला का अभिप्राय लता की ओट मे छिपे राजा से कहने का है लताकुञ्ज, तुम मेरे सन्ताप का दूर करने वाले हो अत मैं फिर भी विश्राम के लिए यहाँ आऊँगी अब तुम से विदा ले रही हू। राजा के पक्ष मे इसका अर्थ है—लताकुञ्ज मे छिपे हुए मेरे प्रिय, तुम मेरे कामसन्ताप को दूर कर देने वाले हो, मैं इसी प्रकार के सम्भोग के लिए तुम्हे यहा पुन निमन्त्रित करती हूँ। आ+मन्त्र् धातु का अर्थ—विदा लेना और निमन्त्रण देना दोनो ही होते हैं। यहाँ इस

राजा—क्व नु खलु सम्प्रति गच्छामि ? अथवा, इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि । (सर्वतोऽवलोक्य)—

तस्या पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥२३॥

कथन मे मनोरथ नामक नाटकीय लक्षण है "मनोरथस्त्वभिप्रायोक्ति अङ्ग्यन्तरेण यत्" **सन्तापहारक**—सतापस्य हारक —सम्+तप+घञ, हृ+ण्वुल । **परिभोगाय**—परि+भुज+घञ तुमथाच्चेति चतुर्थी । **प्रार्थितार्थसिद्धय**—प्रार्थिनाना मिष्टाना मर्थानाम प्रयोजनानाम सिद्धय । प्र+अथ+कमणि क्त । षिध+क्तिन सिद्धय । **विघ्नवत्य**—विहन्यन्ते एभिरिति विघ्ना ते सन्त्यासु विघ्नवत्य । वि+हन् करणे घञर्थे क—विघ्न । **पक्ष्मलाक्ष्या**—पक्ष्माणि सन्ति प्रशस्तानि अनयोरिति पक्ष्मले पक्ष्मन्+लच । पक्ष्मल अक्षिणी यस्यास्तस्या समासात षच प्रत्यय ङीष । **प्रतिषेध०**—प्रति+षिध+घञ प्रतिषेध **असविवर्ति**—अस+वि+वत्+कतरि णिनि । यहाँ पश्चात्ताप नाटयलकार है । 'मोहादवधीरतार्थस्य पश्चात्ताप स एव तु'

राजा—अब कहा जाऊँ ? अथवा—यहाँ ही प्रिया द्वारा उपभोग किये गये और मुक्त किये गये लताकुञ्ज मे थोडी दर ठहरूँगा (चारो ओर देखकर) ।

तस्या इति अन्वय—इय शिलाया तस्या शरीरलुलिता पुष्पमयी शय्या । एष नलिनीपत्रे नखै अर्पित क्लान्त (तस्या) मन्मथलेख, इद (तस्या) हस्ताद्भ्रष्ट बिसाभरणमिति आसज्यमानक्षण (अह) शून्यादपि वेतसगहात् सहसा निगन्तु न शक्नोमि ।

शब्दार्थ—शरीरलुलिता=देह से मर्दित, पुष्पमयी=कुसुमो से निर्मित, नलिनीपत्रे=कमलिनी के पत्ते पर, अर्पित=लिखा हुआ, क्लान्त=म्लान हुआ, मन्मथलेख=प्रेमपत्र, भ्रष्टम्=गिरा हुआ, बिसाभरणम्=मृणाल का आभूषण, आसज्यमानेक्षण=आसक्त हुई दृष्टि वाला, वेतसगृहात्=बेत की कुञ्ज से, निगन्तुम्=बाहर जाने मे ।

अनुवाद—यह शिला पर उसके (शकुन्तला के) शरीर से मसली हुई फूलो से निर्मित शय्या है, यह कमलपत्र पर नखो से लिखा गया मुरझाया हुआ (उसका) प्रेमपत्र है, यह उसके हाथ से गिरा हुआ मृणाल का हस्ताभरण है—इस प्रकार (इन सब वस्तुओ मे) लगी हुई दृष्टि वाला मैं शून्य भी इस बेंत के कुञ्ज से एकाएक बाहर जाने मे समर्थ नही हूँ ।

भावार्थ—शकुन्तला के लताकुञ्ज से चले जाने पर राजा शकुन्तला द्वारा उपभुक्त वस्तुओ से ही अपने मन को बहलाता है । वह पुष्प शय्या जिस पर शकुन्तला

नें विश्राम किया था, मुरझाया हुआ कमलपत्र जिस पर नखो से प्रेमपत्र लिखा था विरह से कृश हो जाने वाले हाथ से गिरा हुआ वह कमलनाल का कंकण—इन सभी वस्तुओं मे राजा के नेत्र उलझ कर रह जाते हैं। उसको शकुन्तला द्वारा उपभुक्त वस्तुओ से भी इतना लगाव हो जाता है कि वह शकुन्तला से विरहित भी लताकुञ्ज को छोडना नही चाहता।

विशेष—यहाँ पर 'निर्गन्तु न सहसा वेतसगृहाच्छक्नोमि' का कारण आसज्यमानेक्षण है अत पदाथ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

लतागह से निकलने की कारणभूत शकुन्तला के अभाव होने पर भी राजा की जो वहाँ से जाने की इच्छा नही हो रही है, अत कारण के होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है।

उस लतागृह मे शकुन्तला के होने रूप कारण के न होने पर भी राजा दुष्यन्त वहाँ रह रहा है, अत कारण के न होने पर भी काय हो रहा है, अत 'विभावनालङ्कार है। शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—इयम्=पुरोदश्यमाना, शिलायाम्=शिलाखण्डोपरि, तस्या=शकुन्तलाया, शरीरेण—कामनप्तदेहेन, लुलिता—मर्दिता=शरीरलुलिता, पुष्पमयी शय्या=कुसुमरचित शयनम्, (अस्ति) नलिनीपत्रे=कमलिनीदले, नखै=करजै, अर्पित=उल्लिखित, एष कला त=समीपवर्ती तापपरिगत म्लान, मन्मथलेख=मदनलेख (अस्ति) इदम=पुरोदृश्यमानम (तस्या) हस्तात्=करात्, भ्रष्टम्=गलितम्, विरहकार्श्याद्धेतोरित्यथ, मृणालवलयम् (अस्ति) इति—एषु पदार्थेषु, आसज्यमाने प्रियोपभुक्तवस्तुत्वात् स्वयमेव सवध्यमाने ईक्षणे नयने यस्य स—आसज्यमानेक्षण (अहम) शून्यात्=प्रियारहितादपि, वेतसगृहात=लतागृहात्, सहसा=अकस्मात्, निर्गन्तुम=वहि र्यातुम, न शक्नोमि—न समर्थ भवामि।

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलाविरहित लतागह समुपेत्य, प्रियोपभुक्तानि तत्रत्यानि वस्तु जातान्यवलोक्य राजा चिन्तयति—अत्र शिलाखण्डोपरि सत्तप्तशरीर मर्दित पुष्पमय मिद शयनम् वतते। तया कमलिनीदले स्वकीयै कररुहै रुल्लिखित एष मदनलेखोऽधुना म्लानो दृश्यते। विरहकाश्यवशाद्धस्तात् गलित मिद तस्या मृणालवलयमप्यत्रावलोक्यते। प्रियोपभुक्तमुक्तेष्वेषु पदार्थेषु स्वयमेव सवध्यमानेक्षणोऽहमिदानीं शून्यादप्यस्माद् वेतसगहाद् वहिर्यातु न प्रभवामि।

टिप्पणी

प्रियापरिभुक्तमुक्ते—आदौ परिभुक्त पश्चान्मुक्त इति परिभुक्तमुक्त प्रियया परिभुक्तमुक्त स्तस्मिन्।

(आकाशे)

राजन्—

सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते
वेदीं हुताशनवतीं परित प्रयस्ता ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधाना
सन्ध्यापयोदकपिशा पिशिताशनानाम् ॥२४॥

राजा—अयमहमागच्छामि । (इति निष्क्रान्त ।)

इति तृतीयोऽङ्कः ।

(आकाश मे)

हे राजन्—

अन्वय—साय तने सवनकमणि सम्प्रवृत्ते हुताशनवती वेदी परित प्रयस्ता सन्ध्यापयोदकपिशा भयम् आदधाना पिशिताशनाना छाया बहुधा चरन्ति ।

शब्दार्थ—सायन्तने=स ध्याकालीन, सवनकमणि=यज्ञ कार्य के, सम्प्रवृत्ते=अच्छी प्रकार से प्रारम्भ हो जाने पर, हुताशनवती=यज्ञीय अग्नि से युक्त, परित=चारो ओर, प्रयस्ता =व्याप्त, या फैली हुई, सन्ध्यापयोदकपिशा =सन्ध्याकालीन मेघो के समान पिंगल वण की, भयमादधाना =भय उत्पन्न करने वाली, पिशिताशनानाम्=मांसाहारी राक्षसो की, बहुधा=अनेक प्रकार से, चरन्ति=विचरण कर रही हैं ।

अनुवाद—सन्ध्याकालीन यज्ञ कम के प्रारम्भ होने पर अग्नि से युक्त वेदी के चारो ओर व्याप्त, सायकालीन मेघो के समान पिंगल वण की, भय उत्पन्न करने वाली राक्षसो की परछाइया अनेक प्रकार से विचरण कर रही हैं ।

भावाथ—राजा का कतव्य है कि वह यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं मे आने वाले विघ्नो का निवारण करे । यहाँ उसे अपने इसी कतव्य की ओर ध्यान दिलाया गया है । सन्ध्या समय मे होने वाला यज्ञ प्रारम्भ हो गया है मांसाहारी राक्षस आकाश में घूम रहे हैं उनकी काली-पीली भयानक परछाइयाँ पृथ्वी पर पड रही हैं अत राजा को इन राक्षसो का विनाश करने के लिये प्रवृत्त होना चाहिये ।

विशेष—सन्ध्यापयोदकपिशा यहाँ पर उपमेय 'छाया' उपमान 'मेघ' और साधारण धम 'कपिशवणत्व' तो स्पष्ट प्रतिपादित है परन्तु 'पयोदवत् कपिशवर्णा'=पयोदकपिशा मे उपमावाचक 'वत्' पद लुप्त है और इस पद के अ दर समास तो है ही अत यहाँ पर 'समासगा वाचकलुप्तोपमा' है ।

'भयमादधाना' का कारण राक्षसो की छाया का चारों ओर व्याप्त होना है अत यहाँ काव्यलिङ्गालङ्कार है । वसन्ततिलका नामक छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—सायम्भव सायंतन तस्मिन्—सायन्तने=सध्याकालीने, सवनस्य यजनस्य कर्म तस्मिन्—सवनकर्मणि, सम्प्रवृत्ते=प्रारब्धे सति। हुताशनवतीम=अग्निमयीम, वेदीम=यज्ञवेदीम्, परित प्रयस्ता=इतस्ततो विक्षिप्ता, भयम्=भीतिम्, आदधाना=उत्पादयन्त्य, सध्यापयोदा—सध्याकालीनमेघा तेषामिव कपिशा पिङ्गलवर्णा—सध्यापयोदकपिशा—सध्याभ्रवत्कृष्णरक्तवर्णा, पिशित मांसम् अशन भोजन येषा ते पिशिताशना तेषाम्—पिशिताशनानाम=मांसभक्षकाणा राक्षसानाम छाया=प्रतिबिम्बानि, बहुधा==अनेकबारम्, चरन्ति=गतागत कुर्वन्ति।

संस्कृत सरलार्थ—सध्याकालीने यज्ञकर्मणि प्रारब्धे सति, अग्निमयीं यज्ञवेदी परित विक्षिप्ता भयजनका सध्याभ्रवत्कृष्णरक्तवर्णा राक्षसाना छाया गतागत कुर्वन्ति।

टिप्पणी

सायन्तने—सायम+साय चिरमित्यादिना टयु प्रत्यय टुडागमश्च। **सवनम्**—सु+ल्युट। सप्रवृत्ते=सम+प्र+वत्+क्त। **हुताशनवतीम्**—अश्नातीति अशन अश् धातु नन्दादित्वात् ल्यु हुतस्य हवनीयद्रव्यस्य अशन भक्षक—हुताशन अग्नि। हुतमश्नातीति विग्रह कर्मण्यण् इति अणि कृते हुताश न तु हुताशन। **आदधाना**= आ+धा+शानच्। भयानक रस।

राजा—यह मैं अभी आ रहा हूँ।

(यह कहकर राजा का प्रस्थान)

तृतीय अंक समाप्त

चतुर्थोऽङ्कः

(तत प्रविशत कुसुमावचय नाटयन्त्यौ सख्यौ ।)

अनसूया—हला प्रियवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी सवृत्तेति निर्वृत मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्। [हला पिअवदे, जइ वि गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी सवुत्तेति णिव्वुद मे हिअअ। तह वि एत्तिअ चिन्तणिज्ज ।]

प्रियवदा—कथमिव। [कह विअ ।]

अनसूया—अद्य स राजर्षिरिष्ट परिसमाप्यर्षिभिर्विसर्जित आत्मनो नगर प्रविश्यान्त पुरसमागत इतोगत वृत्तान्त स्मरति वा न वेति।

[अज्ज सो राएसी इट्ठि परिसमाविअ इसीहि विसज्जिओ अत्तणो णअर पविसिअ अन्ते उरममागदो इदोगद वुत्तन्त सुमरदि वा ण वेति ।]

(तत्पश्चात् पुष्प चुनने का अभिनय करती हुई) (शकुन्तला की) दोनो सखियाँ (अनसूया और प्रियम्वदा) प्रवेश करती है ।)

अनसूया—हे सखी प्रियम्वदा, यद्यपि गान्धर्व विधि से विवाहिता होकर सफल मनोरथ हुई शकुन्तला (अपने) अनुकूल पति को प्राप्त हो गई है, अत मेरा मन सुखी हो गया है, तथापि इतना तो विचारणीय (ही) है।

प्रियम्वदा—वह क्या ?

अनसूया—आज वह राजर्षि (दुष्यन्त) यज्ञ को पूणतया समाप्त करके ऋषियो के द्वारा (अपनी राजधानी को जाने के लिये) विदा किया गया, अपने नगर मे प्रवेश कर (अपने) अन्त पुर मे प्राप्त होकर, यहा की घटित घटना को स्मरण करता है अथवा नही ?

टिप्पणी

तृतीय अक तक यह बतलाया गया है कि दुष्यन्त और शकुन्तला गान्धर्व विवाह विधि से विवाहित हो चुके हैं, और दुष्यन्त की सहायता से ऋषियो का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो चुका है, ऋषियो द्वारा विदा करने पर दुष्यन्त अपनी राजधानी को लौट गया है, इसीलिये शकुन्तला प्रिय दुष्यन्त की प्रिय स्मृति मे अन्यमनस्क होकर अपनी कुटी मे बैठी है और सखियाँ उसके सौभाग्य देवता की पूजा के लिये पुष्पचयन करने के लिये कुटी से कुछ दूर बाहर निकली हैं, इसी समय अनसूया अपनी सखी प्रियम्वदा से कहती है—

कुसुमावचयम्—कुसुमानाम् अवचय नम् अव+चिञ चयने धातो "एरच" इति अच प्रत्यय गुण अवचय । अवचयनम् इति अवचय । फूलो का चुनना । वस्तुत यहाँ अवचय प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, क्योकि 'हस्तादाने चेरस्तेये" सूत्र से चोरी को छोडकर अन्यत्र हाथ से चुनने अर्थ मे धञ प्रत्यय होता है अत यहा धञ प्रत्यय और वृद्धि होकर अवचाय प्रयोग बनेगा, क्योकि यहा चोरी करना अर्थ नही है। इसीलिये आचार्य वामन ने अवतार, अवचय जैसे प्रयोग मे दीर्घव्यत्यास की अज्ञता सूचक माना है "अवतारावचायशब्दयो दीर्घव्यत्यासो बालानाम्" यद्यपि राघव भट्ट ने "अवचय" शब्द को ही शुद्ध मानने के लिये वृत्तिकार एव पदमञ्जरी कार का एतद विषयक सन्दर्भ उठाते हुये "आस्ह्य हस्तादानेऽप्यादयस्य प्रत्यासत्त्य-भवाद धञभाव "इत्यादि लिखकर इस प्रयोग को व्याकरण सम्मत बताने का प्रयास किया है तथापि यह अनावश्यक खीचातानी ही है, सखियो का पेड पर चढकर फूल तोडना, प्रस्तुत प्रसग मे सघटित नही होता, इससे तो यही मानना अधिक उचित है, कि भास, कालिदास आदि ने इन दोनो ही शब्दो का यथारुचि प्रयोग किया है "यावदहमपि कुसुमावचय करोमि" भास । "अन्यत्र यूय कुसुमावचाय कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्य" वयस्य, एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता" कालिदास। "तत प्रविशति पुष्पावचयव्यग्रा० भवभूति" । अथवा यह माना जा सकता है कि कालिदास ने जैसा कि अन्यत्र भी कुछ वैदिक शब्दो का प्रयोग किया है वैसा ही यह वैदिक प्रयोग है, परन्तु यह 'पाणिनि व्याकरणसम्मत कदापि नही माना जा सकता। **इष्टिस**—यज+क्तिन्—षत्व, ष्टुत्व, सप्रसारण। **निवृत्तकल्याणा**-निवृत्त निष्पन्न कल्याण विवाह-मगलरूपमनोरथसिद्धि यस्या सा (कल्याण मङ्गलेऽपि च) इति विश्व । निर्+वृत्+क्त=निवृत्तम् । **गान्धर्वविधिना**=गान्धर्व विवाह की रीति से । विधीयते इति विधिस्तेन—विधिना—वि+धा+कि। **अनुरूपभर्तृगामिनी**—अनुगत रूपमिति अनुरूप स चासौ भर्ता अनुरूपभर्ता त साधु गच्छति इति अनुरूपभर्तृ-गामिनी—अनुरूपभर्तृ+गम्+कर्तरि णिनि ङीप। **सवृत्ता** – सम्+वृत्+क्त+टाप् **निर्वृतम**—निर्+वृ+क्त। सन्तुष्ट अथवा सुखी। **एतावत**—एतत्परिमाणमस्येत्यर्थे—एतद्+वतुप। **चिन्तनीयम**—चित्+अनीयर। **परिसमाप्य**—परि+सम्+आप+क्त्वा—ल्यप । **विसर्जित**—वि+सृज+णिच+क्त । **अन्तःपुरसमागत**—अन्त अभ्यन्तरे पुरम् निवासस्थानम् अन्तःपुरम्, भीतर रहने का स्थान अर्थात् रनिवास—शुद्धान्त। अन्तपुर समागत अन्तःपुरसमागत । **इतोगतम**—इत अत्र सप्तम्यर्थे तसि इतोगतमित्यत्र सुप्सुपेति समास। **स्मरति** अत्र भविष्यदर्थे लट। वतमान सामीप्ये वतमानवद्वेति।

इस नाटक का यह चतुर्थ अङ्क ही इसके सभी अन्य अको मे श्रेष्ठ है, जैसा कि कहा जाता है —

> कालिदासस्य सर्वस्व मभिज्ञानशकुन्तला
> तत्रापि च चतुर्थोऽङ्क स्तत्र श्लोक चतुष्टयम्

प्रियंवदा—विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति । [वीसद्धा होहि । ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति । तादो दाणिं इमं वुत्तन्तं सुणिअ ण आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति ।]

अनसूया—यथाऽहं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवेत् । [जह अहं देक्खामि, तह तस्स अणुमदं भवे ।]

अथवा— काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला
तत्र रम्यश्चतुर्थोऽङ्कः स्तत्र श्लोकः चतुष्टयम् ।

प्रस्तुत अङ्क में नायिका शकुन्तला के पतिग्रहगमन की ही कथा प्रमुख है । शेष कुसुमावचयन, दुर्वासा का शाप, मोक्षण आदि घटनायें गौण हैं, अतएव इसमें प्रायः करुण रस है तथापि वह नायिकागत रति के उद्बोधक होने के कारण, शृङ्गार का अंग बन गया है ।

प्रस्तुत अङ्क के आरम्भ से लेकर पञ्चम अङ्क के १८वें श्लोक के बाद "इति यथोक्तं करोति" तक गर्भ संधि है । इस सन्धि का लक्षण है—"उद्भेदस्तस्य वीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च । पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ परिकीर्तितः" अर्थात् जहाँ बीज रूप में आरब्ध मुख्य कथावस्तु का स्पष्टतया प्रकटीकरण हो जाय, पर उसकी प्राप्ति अर्थात् फल प्राप्ति तथा अप्राप्ति दोनों ही साथ साथ चलती रहें, अप्राप्ति होने पर बार-बार उसकी प्राप्ति के लिये उल्टा अन्वेषण किया जाय वहाँ गर्भ संधि होती है जैसा कि यहाँ देखा जाता है । दुर्वासा के शाप से फल की अप्राप्ति और पंचम में मुद्रिका के मिल जाने पर पुनः प्राप्त्याशा दिखलाई गई है । आचार्य धनञ्जय ने इस बात को कुछ भिन्न प्रकार से कहा है —

"गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताकास्यान्नवाप्राप्तिसम्भवा ।"

अर्थात् बीज दृष्ट होकर पुनः नष्ट हो जाने पर जहाँ उसका बार बार अन्वेषण किया जाता हैं वहाँ गर्भ-सन्धि होती है, इसके १२ अंग होते हैं, इसमें पताका का होना अनिवार्य नहीं है, यहाँ पताका तो नहीं है, पर प्राप्त्याशा रूप कार्यावस्था है । किशोर केलि व्याख्या के अनुसार यहाँ से षष्ठाङ्क समाप्ति तक विमर्श सन्धि है अतएव यहाँ नियताप्ति रूप कार्यावस्था है । आचार्य विश्वनाथ ने सप्तम अङ्क तक विमर्श सन्धि मानी है ।

प्रियम्वदा—विश्वास रखो या निश्चिन्त रहो । उस प्रकार के विशिष्ट सुन्दर शरीरावयवों वाले (जन) गुणहीन नहीं होते । (किन्तु विचारणीय तो यह बात है कि) पिता (कण्व) इस समाचार को सुनकर, न जाने क्या सोचेंगे ?

अनसूया—जैसा कि मैं समझती हूँ उसके अनुसार तो यह उन्हें स्वीकृत ही होगा ।

प्रियंवदा—कथमिव [कह विअ ।]

अनसूया—गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः सङ्कल्पः । तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः । [गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जे त्ति अअं दाव पढमो सकप्पो । तं जइ देव्व एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो ।]

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) सखि, अवचितानि बलिकर्म-पर्याप्तानि कुसुमानि । [सहि अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं ।]

अनसूया—ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया । [णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ ।]

प्रियंवदा—युज्यते । [जुज्जदि ।]

(इति तदेव कर्मारभेते ।)

प्रियम्वदा—वह कैसे ?

अनसूया—गुणवान् व्यक्ति को कन्या देनी चाहिए (माता-पिता) की यह प्रमुख धारणा होती है, तो यदि इसे भाग्य ही पूरा कर देता है, तब तो गुरुजन बिना प्रयास के ही सफल मनोरथ हो जाते हैं ।

प्रियम्वदा—(फूलों की टोकरी को देखकर) हे सखी, पूजा के काम के लिए पर्याप्त पुष्प (हम लोगों ने) चुन लिये हैं ।

अनसूया—किन्तु सखी, शकुन्तला के सौभाग्य देवता—पतिदेव अथवा भगवती पार्वती की भी तो पूजा करनी है ।

प्रियम्वदा—ठीक है ।

(यह कह कर उसी कार्य का अभिनय करती है)

टिप्पणी

विप्रलब्धा—वि+लम्भ्+क्त टाप । आकृतिविशेषाः आकृतीनाम् विशेषाः आकृतिविशेषाः—विशेष सुन्दर आकार वाले लोग, गुणविरोधिन—गुणान् विरुन्ध-न्तीत्यर्थे ताच्छील्ये गुण+वि+रुध+णिनि, गुणों से विरोध करने वाले । अथवा—वि+रुध्+घञ्—विरोध, सोऽस्त्येषामित्यर्थे मत्वर्थीये इनि—विरोधिन, गुणैः विरोधिनः गुणविरोधिन, अर्थात् सुन्दर आकृति वाले लोग कभी गुणरहित नहीं होते, राजा को सुन्दर होने के कारण गुणी ही होना चाहिये । इसी भाव को प्रकट करने वाली सूक्तियाँ अन्यत्र भी देखी जाती हैं—प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषा यत्राकृति-स्तत्र गुणा वसन्ति" वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता । "नह्याकृति सुसदृशं विजहाति वृत्तम्" मृच्छकटिक । "सेयमाकृति न व्यभिचरति शीलम्" दशकुमारचरितम् । "त्वदुदाहरणा कृतौ गुणा इति सामुद्रिक सार मुद्रणा" नैषधीय चरितम् । "आकारसदृशप्रज्ञ" रघुवंश । "मिथैत वा सद्वृत्त मीदृशस्य निर्माणस्य" उत्तर रामचरितम् । सुन्दर आकृति और सद्गुण सदा साथ-साथ रहते हैं, अतः दुष्यन्त जैसे सुन्दर व्यक्ति से प्रवञ्चना,

(नेपथ्ये)

अयमहं भो ।

अनसूया—(कर्णं दत्त्वा) सखि, अतिथीनामिव निवेदितम् । [सहि, अदिधीण विअ णिवेदिद ।]

प्रियंवदा—ननूटजसंनिहिता शकुन्तला । [ण उडजसण्णिहिदा सउन्दला ।]

अनसूया—अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता । अलमेतावद्भिः कुसुमैः । [अज्ज उण हिअएण असण्णिहिदा । अल एत्तिएहि कुसुमेहि ।]

(इति प्रस्थिते)

(नेपथ्ये)

आः अतिथिपरिभाविनि !

विचिन्तयन्ती य मनन्यमानसा,
तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम्
स्मरिष्यति त्वा न स बोधितोऽपि सन्
कथा प्रमत्त प्रथम कृतामिव ॥१॥

विस्मरण आदि की चिन्ता न करनी चाहिए। दुष्यन्त के प्रति अनसूया को सन्देह, है, पर प्रियम्वदा उनके विषय मे आश्वस्त है, किन्तु उसे महर्षि कण्व के विषय मे आशका है, पर अनसूया उनके विषय म निश्चिन्त है, क्योकि वह समझती है कि महर्षि कण्व विवेकी पुरुष है अत वह इसका अनुमोदन ही करेंगे, पर वह राजा को विलासी और कामुक समझती है, प्रियम्वदा उसे विश्वासी, प्रेमी एव सद्गुण सम्पन्न मानती है, यह इन दोना म स्वभावगत भिन्नता है यद्यपि वे दोनो ही दुष्यन्त को अथवा प्रियवयस्य ही मानती हैं। **पश्यामि**—अर्थात् मैं ऐसा समझती हूँ। **प्रथम सकल्प**—मुख्य धारणा या विचार। **गुणवते**—गुणा सन्त्यस्येत्यर्थे गुण शब्दान्मतुप्। **कृतार्थ**—कृत सफलीभूत अथ प्रयोजन यस्य। **अप्रयासेन**—अनायास ही बिना परिश्रम के ही। **वलिकमपर्याप्तानि**— वले कम तस्मै पर्याप्तानि। परि+आप+क्त। पूजाकम लिये पर्याप्त। **सौभाग्यदेवता**—उसके सौभाग्य को सुरक्षित रखने वाला विशेष व्यक्ति अर्थात् पति अथवा सौभाग्याधिष्ठात्री देवी—गौरी।

(नेपथ्य मे)

यह मैं हूँ—अर्थात् मैं यहाँ एक अतिथि आया हूँ, यहाँ पर कौन है ?

अनसूया—(कान लगाकर अर्थात् ध्यान से सुनकर) हे सखी, किसी पूज्य अतिथि जैसी यह ध्वनि है, अर्थात् 'अयमहं भो' यह किसी पूजनीय अतिथि का वचन है।

प्रियम्वदा—शकुन्तला तो कुटी मे है ही।

अनसूया—(किन्तु) आज तो हृदय मे कही अन्यत्र है, अर्थात् उसका हृदय आज उसके पास न होकर कही और है। बस, इतने ही पुष्प पर्याप्त है।

(दोनो चल देती हैं)

(नेपथ्य मे)

ओह, ओ अतिथि का अपमान करने वाली !

विचिन्तयन्तीति-अन्वय—अनन्यमानसा यम् विचिन्तयन्ती (त्वम्) उपस्थितम् तपोधनम् माम् न वेत्सि, स प्रमत्त प्रथमम् कृताम् कथाम् इव, बोधित अपि सन् त्वाम् न स्मरिष्यति।

शब्दार्थ—अनन्यमानसा=एकाग्रचित्त वाली, यम्=जिस व्यक्ति को, विचिन्तयन्ती=ध्यान करती हुई (तुम) उपस्थितम्=(स्वय आकर) उपस्थित हुये, तपोधनम्=तपस्वी, माम्=मुझको अर्थात् दुर्वासा ऋषि को, न वेत्सि=नही समझ रही हो। स=वह व्यक्ति, प्रमत्त=पागल विक्षिप्त, प्रथमम्=पहले, कृताम्=कही गई, कथाम्=बात को, इव=की तरह, बोधित अपि सन्=(तुम्हारे द्वारा) याद दिलाये जाने पर भी, त्वाम् न स्मरिष्यति=तुझे याद नही करेगा।

अनुवाद—एकाग्रचित्ता होकर जिस व्यक्ति का ध्यान करती हुई (तू) मुझ (स्वय) उपस्थित हुये उग्रतपस्वी (दुर्वासा) को नही जान रही है, वह व्यक्ति (तेरे द्वारा) याद दिलाने पर भी तुझे उसी प्रकार याद नही करेगा, जैसे विक्षिप्त व्यक्ति पहले कही हुई बात का (याद दिलाने पर भी स्मरण नही करता है)।

भावार्थ—प्रमादी अपने ही द्वारा कुछ क्षण पहले कही हुई बात को भूल जाता है र उसे चाहे जितनी याद दिलाई जाय, पर वह उस बात का स्मरण नही कर दुर्वासा ऋषि क्रुद्ध होकर शाप देते हुये कहते है कि तू जिस व्यक्ति (दुष्यन्त) के ध्यान मे अनन्य मन होकर लगी हुई है और मेरी पुकार को नही सुन रही है, वह तुझे भूल जायेगा और फिर याद दिलाने पर भी वह तेरा स्मरण उसी प्रकार नही करेगा जैसे प्रमादी व्यक्ति अपनी ही बात का स्मरण नही कर पाता।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे यह बतलाया गया है कि वह चिन्तन कर रही थी अतएव अनन्यमानसा थी, अतएव यहाँ **काव्यलिङ्ग** अलकार है। तपोधनम् और उपस्थितम्, यह दोनो साभिप्राय विशेषण है, अत **परिकर अलकार** है, उत्तरार्ध मे 'इव' से द्योतित **पूर्णोपमालकार** तथा **श्लेष छेक** एव **वृत्यनुप्रास** भी हैं। इसमे **वशस्थ** नामक छन्द है जिसका लक्षण "जतौ तु वशस्थ मुदीरित जरौ" अर्थात् इसके चारो ही पदो मे क्रमश जगण तगण जगण एव रगण के क्रम से १२ वर्ण हैं।

सस्कृत व्याख्या—न विद्यते दुष्यन्तातिरिक्तेऽन्यस्मिन् जने मानस मन यस्या सा—अनन्यमानसा=एकाग्रचित्ता (सती) यम्—जनम् (दुष्यन्तमित्यर्थ) विचिन्तयन्ती =ध्यायन्ती (त्व शकुन्तला) उपस्थितम्=समागतम्—अतिथिसत्कारग्रहणाय स्वयमेव आगत्योटजद्वारि त्वत्समक्षमुपस्थित न तु दूरस्थितमित्याशय। वचनेनानेन तस्या अपराधातिशयत्व द्योत्यते। तपसाम्—आश्रमविहितधर्माणा धनम्

आधार-भूतम् आश्रय वा तम् तपोधनम्=अत्युत्कृष्टतपस्विनम् (अनेन स्वस्यावश्य-पूज्यत्व निग्रहानुग्रहसामर्थ्य तथा चानादरे दोषाधिक्यत्वञ्च ध्वन्यते) माम्=दुर्वाससम् (य कमपि न अपितु मादृश सुलभकोप दुर्वाससमित्याशय । न वेत्सि=न जानासि (मया सम्यगाहूतापि वो यमानापि न ज्ञायस इत्यर्थ) स—पुरुष, बोधित अपि=त्वया तत्सम्बन्धिचिह्नादिक प्रदर्श्य स्मारित अपि, त्वाम्=शकुन्तलाम्, (तथैव) न स्मरिष्यति इव—यथा, प्रमत्त=प्रकर्षेण मदमत्त अवधानरहितो जन प्रथमम्=पूर्वम् कृताम्=(आत्मनैव) कथिताम्, कथाम्=वार्ताम् (बोधित सन्नपि न स्मरति, न स स्वयमेव स्मरति, नापि स्मारितोऽपि स्मरतीति भाव ।

संस्कृत सरलार्थ—पतिगतचिन्तयानन्यमानसया शकुन्तलया स्वकीयाह्वानाश्रवणेनात्मान तिरस्कृत मत्वा सुलभकोपो महर्षि दुर्वासा निग्रहानुग्रहसमर्थस्तामेव शापवचन माह, य पुरुष त्वमनन्यमानसा सती विचिन्तयसि माञ्च तपोमूर्ति तव समक्ष मुपस्थितमपि न ज्ञायसे, अस्मादपराधात् स पुरुष तत्सम्बन्धिघटनादिक प्रदर्श्य त्वयावबोधितोऽपि त्वा तथैव न स्मरिष्यति यथा मदोन्मत्त कश्चित्पुरुष आत्मकथिता मपि वार्ता स्मारितो भूत्वापि न स्मरति ।

टिप्पणी

अयमह भो – प्रस्तुत यह "अयमहमागत भो, कोऽत्र वर्तते" इस वाक्य का संक्षिप्त रूप है अतिथि ग्रहण करने के लिये आया हुआ अतिथि, इसी वाक्य को कहकर बुलाता था। **अतिथीनामिव निवेदितम्**—यह किसी पूज्य अतिथि के निवेदन जैसा आह्वान है। नि+विद+णिच्+क्त=निवेदितम्। **उटजसन्निहिता**—उटजे पर्णकुटीरे सन्निहिता समुपस्थिता। सम्+नि+धा+क्त टाप 'दधाते हिं, । **हृदयेनासन्निहिता**—उटजगतशरीरापि हृदयेन भर्तृ गता—यद्यपि वह उटज में है तथापि उसका हृदय अपने पति के पास है अर्थात् इस समय वह शून्यहृदया है। **आ**—यह कोप सूचक अव्यय है। "आस्तु स्यात् कोपपीडयो' इत्यमर । **अतिथिपरिभाविनि**— अतिथि मागन्तुक परिभावयति तिरस्करोतीति अतिथिपरिभाविनी तत्सम्बुद्धौ, परि+भू+णिच्+णिनि+ङीप् । **अनन्यमानसा**—न अन्यस्मिन् मानस यस्या सा, अथवा न अन्यत् अवलम्बन यस्य तत् अनन्यम् अनन्य मानस यस्या सा। वस्तुत दुर्वासा के शाप का कारण यह नही था कि वह दुष्यन्त का चिन्तन कर रही थी अपितु इसका कारण यह था कि उसने अतिथि सेवा रूपी अपने कर्तव्य की उपेक्षा की थी और इस प्रकार एक अतिथि का अपमान किया था। कालिदास की यह मौलिक कल्पना है मूल कथा मे दुर्वासा के शाप की चर्चा नही है, और कल्पना का उद्देश्य है नायक के चरित्र को उदात्त बनाना, जिससे कि यह कहा जा सके कि वह स्वत नही अपितु शाप के कारण उसे भूल गया था। दुर्वासा सती अनसूया एव अत्रि मुनि के पुत्र थे और पुराणो म यह अतिक्रोधी प्रसिद्ध है। इस नाटक का कथानक महाभारत से लिया गया है पद्मपुराण से नहीं, सम्भवतः

प्रियंवदा—हा धिक्, हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। (पुरोऽवलोक्य) न खलु यस्मिन् कस्मिन्नपि। एष दुर्वासा सुलभकोपो महर्षि। तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्त [हृद्धी हृद्धी। अप्पिअ एव्व संवुत्त। कस्सि पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला। ण हु जस्सि कस्सि पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी। तह सविअ वेअबलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो।]

अनसूया—**कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति। गच्छ, पादयो प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।** [को अण्णो हुतवहादो दहिदु पहवदि। गच्छ, पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि ण जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि।]

प्रियंवदा— **तथा।** [तह।]

(इति निष्क्रान्ता।)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलित निरूप्य) अहो, **आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात् पुष्पभाजनम्।** [अम्मो, आवेअक्खलिदाए गईए पब्भट्ठं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं।]

(इति पुष्पोच्चयं रूपयति।)

शकुन्तला का ही कथानक पद्मपुराण मे सगृहीत किया गया है, अतएव वहा यह श्लोक देखा जाता है—

"य त्व चिन्तयसे वाले मनसाप्यनन्यवर्तिना।
विस्मरिष्यति स त्वा वै, अतिथौ मौनशालिनीम्"

उपस्थितम् और **तपोधनम्**"—इन दो विशेषणो से यह सूचित किया गया है कि स्वय आकर सामने उपस्थित हुये भी अतिथि को न देखना उसकी बात न सुनना बहुत बडा अपराध है, साथ ही कोई साधारण अतिथि नही अपितु तपोमूर्ति अत्युत्कृष्ट तपस्वी दुर्वासा, जो कि निग्रह और अनुग्रह दोनो की सामर्थ्य रखते है, जबकि "अतिथि किल पूजार्थं प्राकृतोऽपि विजानता" इस वचन के अनुसार साधारण अतिथि भी पूज्य होता है, तब दुर्वासा जैसे तपस्वी की तो बात ही क्या। **माम्**—इससे दुर्वासा का अहम्भाव एव क्रोध प्रकट होता है। यद्यपि "विवाहो भोजन शापोत्सर्गौ मृत्यूरत तथा" इत्यादि वचन के अनुसार शाप का वर्णन निषिद्ध है तथापि वह विष्कम्भक मे निषिद्ध नही है, केवल अको मे ही है। "शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श। इति स्मृत" आचार्य विश्वनाथ के इस कथन के अनुसार यहाँ विमर्श सन्धि भी मानी जा सकती है। इस शाप कथा से रस दोष का भी वारण किया गया है। **विचिन्तयन्ती**—वि + चिती सज्ञाने शतृ + ङीप्। **बोधित** ण्यन्त बुध् + क्त।

प्रियम्वदा—हाय-हाय, अनय (अनचाहा) हो ही गया, किसी पूजनीय जन के

प्रति (पनिचिन्तागना) अतएव शून्यहृदया शकुन्तला ने अपराध कर दिया है। (सामने देखकर) वस्तुत किसी साधारण जन के प्रति नही, (अपितु) यह (तो) सहज क्रोधी महर्षि दुर्वासा (है) उक्त प्रकार से (शकुन्तला को) शाप देकर प्रबल वेग से अतितीव्र एवं अनिवार्य गति से लौटे जा रहे है।

अनसूया—अग्नि के अतिरिक्त और कौन दूसरा जला सकता है। (अर्थात् दुर्वासा जैसा सुलभ क्रोधी ऋषि ही शापाग्नि से जला सकता है।) जाओ, (उनके) चरणो मे प्रणाम करके लौटा लाओ तब तक मै (उनकी पूजा के लिए) अर्घ और जल तैयार करती हूँ।

प्रियम्वदा—अच्छा, (ऐसा ही करती हूँ)।

(यह कह कर चली गई)

अनसूया—(कुछ आगे चल कर लड़खड़ाने का अभिनय करके) आह, घबड़ाहट मे लड़खड़ाई हुई चाल के कारण मेरे हाथ के अग्रभाग से फूलो की टोकरी गिर गई है।

(यह कह कर फूलो के उठाने का अभिनय करती है)

टिप्पणी

अप्रियम्=अवाञ्छनीय अथवा अनर्थ, **सवृत्तम्**—सम्+वृत्+क्त। **पूजार्हे**—पूजा महतीत्यर्थे पूजा+अर्ह धातो अच् तस्मिन्। **शून्यहृदया**—कुटीरगतशरीरापि दुष्यन्तगतमानसा अतएव हृदयेन शून्या। **अपराद्धा**—अपराध कृतवती—अप+राध धातो कर्तरि क्त टाप। **यस्मिन् कस्मिन्नपि न**—जिस किसी साधारण अतिथि पर नही, अपितु **सुलभकोप**—सुलभ कोप यस्य स। सुखेन लब्धु शक्य कोपो येन स। **दुर्वासा** दुष्ट दु साध्य वास यस्य स, यह ऋषि का नाम है, पुराणो मे यह सर्वाधिक क्रोधी ऋषि माने गये है। **वेगवलोत्फुल्लया**—वेगस्य वलेन उत्फुल्ला अतितीव्रा तया। **प्रतिनिवृत्त**—प्रति+नि+वृत्+क्त। **हुतवहात्**—हुत घृतादिक वह्निप्रक्षिप्त हवनीय द्रव्यं वहति तत्तद्देवताभ्य प्रापयति तस्मात्, अत्र अन्ययोगे अन्यारा० इति पञ्चमी। **दग्धुम्**—दह्+तुमुन्। अग्नि की यह नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है कि इसमे जो कुछ भी कोमल या कठोर पदार्थ डाल दिया जाय उसे वह बिना कुछ सोचे विचारे जला कर भस्म कर देती है, कवि ने यहाँ दुर्वासा ऋषि को अग्नि तुल्य माना है जो कि प्रथमप्रणयपरिगता कुसुमकोमला शकुन्तला को भी शापाग्नि से जलाने मे समर्थ है। अग्नि कभी-कभी होता की अङ्गुलियो को भी जला देती है यदि वह सावधान न रहे, दुर्वासा भी क्रोधाद्दीप्ति-काल मे अपराधानपराध, औचित्यानौचित्य एवं अवसरानवसर का ध्यान नही रखते, अतएव उन्होने शकुन्तला को शाप दे डाला। **अर्घोदकम्**—अर्घश्च उदकम् चैतयो समाहार—अर्घ और जल। अर्घ मे निम्नलिखित आठ चीजें मिलाई जाती है।

"आप क्षीर कुशाग्रश्च, दधि सर्पि सतण्डुलम्।
यव सिद्धार्थकश्चैवाष्टाङ्गोऽर्घ परिकीर्तित ॥

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—सखि ! प्रकृतिवक्र स कस्यानुनय प्रतिगृह्णाति । किमपि पुन सानुक्रोश कृत । [सहि, पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअ पडिगेण्हदि । कि वि उण सानुक्कोसो किदो ।]

अनसूया—(सस्मितम्) तस्मिन् बह्वेतदपि । कथय । [तम्मि बहु एद पि । कहेहि ।]

प्रियंवदा—यदा निवर्तितु नेच्छति तदा विज्ञापितो मया । भगवन्, प्रथम इति प्रेक्ष्याविज्ञाततप प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतकोऽपराधो मर्षयितव्य इति । [जदा णिवत्तिदु ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए । भअव, पढम त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो त्ति ।]

अनसूया— ततस्तत (तदो तदो)

प्रियंवदा—ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति, किन्त्वभिज्ञानाभरण-दर्शनेन शापो निर्वर्तिष्यत इति मन्त्रयमाण एवान्तर्हित । [तदो ण मे वअण अण्णहाभविदु अरिहदि । किदु अहिण्णाणाभरणदसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो एव्व अन्तरिहिदो ।]

अनसूया —शक्यमिदानीमाश्वसितुम् । अस्ति तेन राजर्षिणा सप्रस्थि-तेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयक स्मरणीयमिति स्वय पिनद्धम् । तस्मिन् स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति । [सक्क दाणि अस्ससिदु । अत्थि तेण राएसिणा सपत्थिदेण सणामहेअकिअ अगुलीअअ सुमरणीय त्ति सअ पिणद्ध । तस्सि साहीणोवाआ सउन्दला भविस्सदि ।]

अग्रहस्तात—अग्रश्चासोहस्तश्चेति कर्मधारय "हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनो भेदाभेदाभ्याम्" इति वामनोक्तदिशा—अवयव अग्र, अवयवी हस्त दोनो मे अभेद विवक्षा कर ली गई है, हस्तस्याग्र विग्रह करने पर हस्ताग्र रूप होगा । **प्रभ्रष्टम**—प्र+भ्रश+क्त । अतिशीघ्र चलने से प्रस्खलित गति के कारण पुष्पभाजन का गिरना वस्तुत अपशकुन सूचक है जिससे दुर्वासा के न लौटने की सूचना दी गई है ।

(प्रवेश करके)

प्रियम्वदा—सखी, स्वभाव से ही टेढा वह किसकी प्रार्थना स्वीकार करता है । फिर भी मैने उसे कुछ दयालु बना लिया था ।

अनसूया—(मुस्कराहट पूर्वक) इसमे इतना भी बहुत है कहो ।
(फिर क्या हुआ)

प्रियम्वदा—जब वह लौटने के लिए इच्छुक नही हुआ, तब मैने (उससे) निवेदन किया । भगवन्, (आपके) तप के प्रभाव को न जानने वाली पुत्रीजन का यह प्रथम (अपराध है) यह समझकर आपके द्वारा यह एक अपराध क्षमा करने योग्य है ।

प्रियंवदा—सखि, एहि। देवकार्यं तावद् निर्वर्तयाव। [सहि, एहि। देवकज्ज दाव णिव्वत्तेम्ह।]

(इति परिक्रामतः।)

प्रियंवदा—(विलोक्य) अनसूये, पश्य तावत्। वामहस्तोपहितवदना-ऽऽलिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति, किं पुनरागन्तुकम्। [अणसूये, पेक्ख दाव। वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही। भत्तुगदाए चिन्ताए अत्ताणं पि ण एसा विभावेदि किं उण आअन्तुअं।]

अनसूया—तब क्या हुआ ?

प्रियम्वदा—तब, मेरा वचन विपरीत (मिथ्या) नहीं हो सकता है। किन्तु परिचायक आभूषण को देखने से शाप निवृत्त(समाप्त) हो जायेगा यह कहते-कहते ही वह अन्तर्धान हो गया।

अनसूया—अब धैर्य धारण किया जा सकता है। प्रस्थान करते हुए उस राजर्षि (दुष्यन्त) के द्वारा अपने नाम से अंकित (एक) अँगूठी, स्मरणचिह्न रूप में (शकुन्तला के अँगुली में) स्वयं पहनाई गई थी, (वह) विद्यमान है। उसमें शकुन्तला (शापमोक्ष के) उपाय में स्वतन्त्र रहेगी।

टिप्पणी

प्रकृतिवक्र—प्रकृत्या स्वभावेन वक्रः कुटिलः—स्वभाव से ही कुटिल। **प्रतिगृह्णाति**—स्वीकरोति—प्रति+ग्रह+लट्। **अनुनयम्**—अनु+नी+अच=विनय प्रार्थना। **किमपि**—कुछ कुछ। **सानुक्रोश** अनुक्रोशेन अनुग्रहेण सह इति सानुक्रोशः—अनु+क्रुश्+घञ्। **इच्छति**—भूनाथ में वर्तमान का यह प्रयोग प्रचलित मुहाविरे के अनुसार है, **दुहितृजनस्य**—दुर्वासा से अनुग्रह प्राप्त करने के लिए प्रियम्वदा की यह सामयिक भावात्मक विज्ञप्ति है पुत्री पर कठोर हृदय जन भी दया करते ही हैं। **प्रेक्ष्य**—प्र+ईक्ष्+क्त्वा-ल्यप्। **अविज्ञाततपःप्रभावस्य**—न विज्ञातः अविज्ञातः तपसः प्रभावो येन तस्य। **मर्षयितव्य** मृष—तव्यत्। **अभिज्ञानाभरणदर्शनेन**—अभिज्ञायतेऽनेनेति अभिज्ञानं तत् आभरणं तस्य दर्शनं तेन। **मन्त्रयमाण**—मन्त्र+शानच्। **अन्तर्हित**—अन्तर्+धा+क्त, दधातेर्हि इति धा इत्यस्य हि। योगसिद्धि के बल से वे अन्तर्धान हो गये। **आश्वसितुम्**—आ+श्वस्—तुमुन्। **सम्प्रस्थितेन**—सम्+प्र+स्था+क्त। **स्मरणीयम**—स्मृ बाहुलकात् करणे अनीयर स्मरत्यनेन अर्थात् इसके द्वारा तुम मुझे याद करते रहना। **स्वाधीनोपाया**—स्वस्मिन् अधि इति—स्व+अधि स्वार्थे ख, इन स्वाधीन, उपायते अनेनेति उपाय—उप+अय्+घञ्। स्वाधीन उपाय यस्या सा। **पिनद्धम्**—अपि+नह+क्त भागुरिमते अकारलोप।

प्रियम्वदा—सखी, आओ, तब तक (हम दोनों) देवपूजा का कार्य समाप्त करें।

(दोनों चारों ओर घूमती हैं)

अनसूया—प्रियंवदे, द्वयोरेव नौ मुख एष वृतान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी। [पिअवदे, दुवेण एव्व णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पियसही।]

प्रियंवदा—को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति। [को णाम उण्णोदएण णोमालिअं सिचेदि।]

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

विष्कम्भकः।

प्रियम्वदा—(देख कर) अनसूया देखा तो, (यह हमारी) प्रिय सखी बाये हाथ पर मुख रखे हुए चित्रित सी (स्थित है) पतिगत चिन्ता के कारण यह अपने को भी नही समझ रही है, फिर अतिथि को तो (कहा समझेगी ?)।

अनसूया—प्रियम्वदा, यह (शाप का) वृत्तान्त हम दोनो के मुख तक ही सीमित रहे अर्थात् हम दोनो के अतिरिक्त और कोई इसे जान न पाये। स्वभाव से ही कोमल प्रिय सखी शकुन्तला की रक्षा करनी चाहिए। (यदि वह इस बात को सुनेगी तो उसे बडा दुःख होगा)।

प्रियम्वदा—भला कौन नवमालिका को गरम जल से सींचेगा अर्थात् कोई नही।

(यह कह कर दोनो का प्रस्थान)

(विष्कम्भक समाप्त)

टिप्पणी

निर्वर्तयाव—पूर्ण करें या समाप्त करें। **वामहस्तोपहितवदना**—वामश्चासौ-हस्तः तस्मिन् उपहितं वदनं यस्याः सा, अपने बाये हाथ पर जिसने अपने मुख को रख लिया है अर्थात् पतिगतचिन्ता मे निमग्न बैठी है, प्रायः विरहिणियो को चिन्तित अवस्था मे इसी प्रकार दिखलाया जाता है, कालिदास ने मेघदूत मे भी विरहिणी यक्षिणी को इसी प्रकार दिखलाया है। **आलिखिता**—चित्रिता, उपहित=उप+धा+क्त। **आगन्तुकम्**—आगच्छतीति आगन्तु—आ+गम् कर्तरि तुन् प्रत्यय, आगन्तुरेव आगन्तुक स्वार्थे कन् प्रत्यय तम्। **भर्तृगतया**—भर्तारं गता तया। **विभावयति**—वि+भू+णिच् लट्। जो अपनी ही सुध-बुध भूल गया है वह अतिथि को कैसे पहचान सकता है। **को नाम**—कौन ऐसा होगा जो कि नवमालिका के समान अति कोमल शकुन्तला को यह उष्णोदक रूप शाप का समाचार सुनायेगा, जैसे गरम जल से नव मालिका कुम्हला जायगी उसी प्रकार यह शाप की बात सुनकर शकुन्तला का भी प्राण संकट मे पड जायेगा। कवि ने इस कथन द्वारा जहा एक ओर सखियो का शकुन्तला पर वात्सल्य भाव द्योतित किया है, वहा उसने दूसरी ओर शकुन्तला को इस घटना से अनभिज्ञ रखकर दर्शको की उसके प्रति सहानुभूति एवं उत्सुकता की अभिव्यक्ति की है, यह उनका नाट्य कौशल ही है।

(तत प्रविशति सुप्तोत्थित शिष्य ।)

(१) शिष्य —वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन । प्रकाश निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्ट रजन्या इति । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त, प्रभातम् । तथाहि—

यात्येकतोऽस्तशिखर पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुर सर एकतोऽर्क ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्या
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥२॥

प्रकृतिपेलवा—इसमे पेलव शब्द यद्यपि कुछ विद्वानो के अनुसार अश्लीलता द्योतक है तथापि कालिदास ने इसका सभी नाटको मे कई स्थलो पर प्रयोग किया है। अत ज्ञात होता है कि कालिदास के समय मे यह शब्द सभ्य समाज मे प्रचलित था और इसमे अश्लीलता की गन्ध न थी।

विष्कम्भक—यह सस्कृत नाटको का पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग भूत और भावी घटनाओ को जोडने के लिये अङ्क के आदि मे किया जाता है। यदि इसके पात्र सस्कृत भाषी होते है तब यह शुद्ध और यदि प्राकृतभाषी होगे तो मिश्र विष्कम्भक कहा जाता है। जैसा कि इसका लक्षण है 'वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शक । सक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित । मध्यमेन मध्यमाभ्या वा पात्राभ्या सप्रयोजित । शुद्ध स्यात् स तु सकीर्णो नीचमध्यमकल्पित (सा०द०) प्रस्तुत प्रसग मे दुर्वासा सस्कृत तथा सखिया प्राकृत बोलती है, और सभी पात्र मध्यम श्रेणी के है अत यह शुद्ध विष्कम्भक है। सक्षिप्त भी है और इसमे शाप कथा का वर्णन है। शाप कथा के लिये ही इसका सयोजन यहाँ किया गया है, क्योकि अङ्क मे इसकी योजना नाट्यशास्त्रीय नियमानुसार नही की जा सकती थी। इसमे "गान्धर्वेण विधिना" इत्यादि कथन से भूत कथानक को और 'अभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते' इत्यादि कथन से भावी कथानक को जोडा गया है। यहाँ पर "प्रियम्वदे द्वयोरेव" से लेकर यहा तक अभूताहरण नामक गर्भ सन्धि का प्रथम अग बतलाया गया है। इसका लक्षण "कपटाश्रय च यद् वाक्य अभूताहरण विदु" अर्थात् कपटाश्रित वाक्य का जहाँ प्रयोग होता है वहा गर्भ सन्धि का यह अग होता है।

(तदनन्तर सो कर उठे हुए शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—प्रवास से लौटे हुए पूज्य काश्यप अर्थात् महर्षि कण्व ने समय का परिज्ञान करने के लिए मुझे आज्ञा दी है, (तो) प्रकाश मे बाहर आकर देखता हूँ कि रात कितनी शेष रह गई है (चारो ओर घूम कर और देखकर) ओह, प्रात काल हो गया क्योकि—

यातीति अन्वय—एकत औषधीनाम् पति अस्तशिखरम् याति, एकत अरुणपुर

सर अर्क आविष्कृत । तेजोद्वयस्य युगपद व्यसनोदयाभ्याम् लोक आत्मदशान्तरेषु नियम्यते इव।

शब्दार्थ—एकत =एक ओर अर्थात् पश्चिम दिशा मे, ओषधीनाम् पति = सस्यादिको के स्वामी सरक्षक अथात् चन्द्रमा, अस्तशिखरम्=अस्ताचल की चोटी पर, याति=जा रहा है । एकत =एक ओर अर्थात् पूव दिशा मे, अरुणपुर सर = सूय का सारथी अरुण जिसके आगे चल रहा है, (एसा) अक =सूय, आविष्कृत = प्रादुभूत हो गया हे अर्थात् उदित हो रहा है । तेजोद्वयस्य=दो तेजो के अर्थात् सूय चन्द्ररूप दो तेजो के, युगपद्=एक साथ ही, व्यसनोदयाभ्याम्=अस्त और उदय के द्वारा, लोक =ससार, इव=मानो, आत्मदशान्तरेषु=अपनी भिन्न भिन्न सुखात्मक एव दु खात्मक दशाओ के विषय मे, नियम्यते=नियन्त्रित किया जा रहा है ।

अनुवाद—एक ओर अथात् पश्चिम दिशा मे वनस्पतियो का स्वामी अर्थात् चन्द्रमा अस्ताचल की चोटी पर जा रहा है अथात् अस्त हो रहा है, (और) एक ओर अर्थात् पूव दिशा मे, सूय जिसके आगे उसका अरुण नामक सारथी चल रहा है, प्रादुभूत हो रहा है । दो तेजो के अर्थात् सूय और चन्द्र रूप दो तेजो के, एक साथ ही, अस्त और उदय के द्वारा मानो (यह) ससार अपनी विभिन्न सुख, दु खात्मक दशाओ के विषय म नियन्त्रित किया जा रहा है ।

भावार्थ—प्रकाश मे बाहर आकर कण्व शिष्य देखता है कि पूव दिशा मे तो सूय उदित हो रहा है और साथ ही पश्चिम दिशा मे चन्द्र अस्त हो रहा है, सूय चन्द्र रूप दोनो तेजो का एक साथ उदय और अस्त देखकर वह उत्प्रेक्षा करता है कि मानो ये दोनो तेज एक साथ उदय और अस्त के द्वारा ससार को यह शिक्षा दे रहे है कि इस परिवतनशील ससार म सुख और दु ख, उन्नति और अवनति, सयोग और वियोग कालक्रमानुसार आते जाते रहते हे, किसी की नियत स्थिति नही है । अतएव दुष्यन्त और शकुन्तला का अनुराग भी जोकि किसी समय चरम सीमा तक पहुँच चुका था, आज दयनीय स्थिति को प्राप्त हो रहा है, पर यह भी सदा नहीं रहेगा, वे भी पुन अपनी पूव स्थिति को प्राप्त होगे ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे सूय और चन्द्र पर दो सज्जनो के व्यवहार का आरोप किया गया हे अत **समासोक्ति** अलकार हे । प्रभात वणन म दोनो ही सूय और चन्द्र प्राकरणिक अथवा प्रस्तुत है अत **तुल्ययोगिता** अलकार है । चन्द्र और सूय मे क्रमश व्यसनोदय बतलाया गया है अत **यथासख्य** अलकार हे । नियम्यते इव, मे **क्रियोत्प्रेक्षा** अलकार हे । छेकानुप्रास एव वृत्यनुप्रास शब्दालकार भी है । प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति है । **वसन्ततिलका** नामक छन्द है "ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौगा" अर्थात् इसके प्रत्येक चरण मे क्रमश तगण, भगण, जगण, जगण अन्त मे दो गुरु वर्णों के क्रम से १४ वण होते है ।

सस्कृत व्याख्या—एकत —एकस्या दिशि पश्चिमाया दिशीत्यथ, ओषधीना पति =ओषधीशश्चन्द्र, अस्तशिखरम्—अस्ताचल चूडाम्, याति—गच्छति । एकत —

एतस्या दिशि पूर्वदिग्विभाग इत्यर्थ, अरुण सूर्यसूत पुर सर अग्रगामी यस्य स — अरुणपुर सर, अर्क —सूर्य, आविष्कृत —उदितो भवति। तेजोद्वयस्य चन्द्रसूर्ययो, युगपद—एककाल मेव, व्यसनोदयाभ्याम्—अस्तोदयगमनाभ्याम्, लोक —नित्यानित्य-वस्तुविवेकरहित सर्वोऽपि जन, आत्मदशान्तरेषु—स्वस्वदु खसुखात्मकावस्था विशेषेषु, नियम्यते—शिक्ष्यते, इव। लोके सव एव स्वसमयानुसार मुदयमस्तञ्च लभते अत स्वस्वसम्पत्तिविपत्तिदशायां नास्माभि हर्षशोको विधेयौ।

संस्कृत सरलार्थ—सुप्तोत्थित अथ च प्रकाश निर्गत कण्वशिष्य पश्चिम दिग्विभागे चन्द्रस्यास्त पूर्वस्याञ्च दिशि सूर्यस्योदयञ्च समकालमेव निरीक्ष्य चिन्तयति यच्चन्द्रसूर्ययो समकाल मेव अस्तगमनेन उदयेन च सर्वोऽपि लोक स्वस्वदु खसुखात्मकावस्थाविशेषेषु शिक्ष्यत इवेति। सव एव जन स्वस्वसमयानु-सार सुख दु खञ्च लभते, समुन्नति सवनति ञ्चावाप्नोति। अत सुखकाले हर्षो दु खकाले शोकश्च न विधेया।

टिप्पणी

वेलोपलक्षणार्थम्—वेला = समय, उपलक्षणार्थम् = जानने के लिये। **प्रवासात**— प्रवसन्ति अस्मिन्निति प्रवासस्तस्मात्। प्रवास का अर्थ सामान्यत विदेशवास होता है पर यहा उसका अर्थ सोमतीर्थवास ही है, क्योंकि महर्षि कण्व सोमतीर्थ से ही लौटे थे। **उपावर्तेन** प्रत्यागतेन— उप+आ+वृत्+क्त। **हन्त**—यह साश्चर्य खेदसूचक अव्यय है।

एकत —एक शब्द से सप्तम्यर्थ मे तसिल प्रत्यय है। **औषधीना पति** औषधि शब्द से सस्यादि वनस्पतिमात्र का ग्रहण होता है, तृणलता गुल्म यव व्रीहि आदि धान्य इन सबका रक्षक चन्द्रमा होता है अतएव उसे ओषधीश भी कहा जाता है 'ओषधीशो निशापति इत्यमर' चन्द्रमा सभी ओषधियों का पोषक होता है जैसा कि पुराणामि चौषधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक "इस कथन से ज्ञात होता है। ओष पाक दोग्नि ता धीयते अस्यामिति ओषधि —ओष+धा+कि। ओषधि अर्थात् वनस्पतिमात्र चन्द्र किरणो का प्राप्त कर बढती है। **अस्तिशिखर याति**— अस्ताचल के शिखर पर जा रहा है। **आविष्कृत** —आविस+कृ धातु से" 'आदि कर्मणि क्त कर्तरि च सूत्र से आदि कर्म मे क्त प्रत्यय है, कार्य के प्रारम्भ अर्थ मे 'आदि कर्मणि निष्ठा वक्तव्या' वार्तिक के अनुसार क्त प्रत्यय होता है। अतएव यहा इसका अर्थ-उदय हो रहा है, इस प्रकार किया जायेगा। **अरुणपुर सर** पुर अग्रे सरति गच्छतीति पुर सर —सृ धातु से अप प्रत्यय। अरुण पुर सर यस्य स। अरुण सूर्य के सारथी का नाम है "सूर्य सूतोऽरुणोऽनूरु काश्यपि गरुडाग्रज' इत्यमर। सारथी होने के कारण अरुण आगे आगे चलता है। अस्तशिखर याति और आविष्कृत को एक साथ रखने से विद्वानो ने प्रक्रम भंग दोष की कल्पना की है पर आदिकर्मणिनिष्ठा वक्तव्या वार्तिक के अनुसार यहाँ क्त प्रत्यय को आदि कर्म मे कर्तृ वाच्य मे मानने पर यह दोष नही होगा। **अर्क** —सूर्य "अर्कोऽर्कपर्णे स्फटिके

(२) अपि च—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे,
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥

रवौ" । युगपद्व्यसनोदयाभ्याम् व्यसनञ्च उदयश्चेति व्यसनोदयौ युगपद् यौ व्यसनोदयौ ताभ्याम् (कर्मधारय) वि+अस धातु से ल्युट—व्यसनम्=आपत्ति अवनति या दुःख "व्यसनं विपदि भ्रंशे" इत्यमर । लोक—"लोकस्तु भुवने जने" इत्यमर अतः लोक का अर्थ साधारण जन है जो कि संसार की परिवर्तनशीलता और नित्यानित्य वस्तु का विवेक नहीं रखता। आत्मदशान्तरेषु—आत्मनः दशानां मन्तराणि तेषु। अपनी विभिन्न उन्नतावनतस्थितियों के विषय में। नियम्यते—नियन्त्रित या अनुशासित किया जा रहा है। सूर्य चन्द्र रूप दो तेजों के एक साथ ही उदयास्त रूप सुख दुःखात्मक दशा विशेषों के विषय में लोक को मानो यह शिक्षा दी जा रही है कि सभी की स्थिति सदा एक समान नहीं बनी रहती। परिवर्तनशील संसार में परिवर्तन होता रहता है। उदय, उन्नति अथवा सुख प्राप्त कर लेने वाला भी कभी अस्त, अवनति अथवा दुःख को प्राप्त होता है, इसी प्रकार अस्तगत, अवनत अथवा दुःखी जन भी कभी उन्नति कर सुखी होता है। सुख और दुःख का चक्र सदा इसी प्रकार चला करता है अतः मनुष्य को न तो सुख में अधिक हर्षित ही होना चाहिये और न दुःख में अधिक दुःखी ही, क्योंकि सुख दुःख कभी स्थायी नहीं होते। इसी भाव को लेकर अन्यत्र कवियों की सूक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं "कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"। मेघदूत।

प्रस्तुत पद्य में अपने पक्ष के अर्थ की सिद्धि के लिये उदाहरण प्रस्तुत किया गया है अतः यहाँ दृष्टान्त नामक नाट्य लक्षण है "दृष्टान्तो यस्तु पक्षार्थसाधनाय निदर्शनम्" सा० द०। प्रस्तुत पद्य में कवि ने कण्व शिष्य द्वारा संसार की परिवर्तनशीलता का और मानव भाग्य की नियतिनियमबद्धता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और यह बतलाया है कि विवेकी पुरुष को इस परिवर्तन से प्रभावित न होना चाहिये अपितु यह समझना चाहिये कि—सुखं च दुःखं यदि वापि जन्तुः दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्त्या। तस्माद् दैवं बलवन्मन्यमानो, न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कदापि। इसके साथ ही कवि ने प्रभात का नैसर्गिक वर्णन भी प्रस्तुत किया है।

२—शिष्य—और भी, अर्थात् प्रभातकालीन कमनीयता से आकृष्टदृष्टि होकर जल में कुमुदिनी को देखता हुआ कण्व शिष्य प्रासंगिक चन्द्रवृत्तान्त से प्रस्तुत अर्थ को और भी स्पष्ट करता है।

अन्तर्हित इति—अन्वय—शशिनि अन्तर्हिते सा एव कुमुद्वती संस्मरणीयशोभा (सती) मे दृष्टिं न नन्दयति। नूनम् अबलाजनस्य इष्टप्रवासजनितानि दुःखानि अतिमात्रसुदुःसहानि (भवन्ति)।

शब्दार्थ—शशिनि अन्तर्हिते =चन्द्रा के अस्त हो जाने पर, सा एव=वही मनोमुग्धकारिणी, कुमुद्वती =कुमुदिनी, सस्मरणीयशोभा (सती)=स्मरणीय शोभा वाली होकर, मे दृष्टि न नन्दयति=मेरी दृष्टि को आनन्दित नही करती है। नूनम्= वस्तुत, अवलाजनस्य =स्त्रीजनो को इष्टप्रवासजनितानि=अपने प्रियजन के प्रवास से उत्पन्न दु खानि = दु ख, अतिमात्रसुदु सहानि =अत्यन्त असह्य, (भवन्ति= होते है)

अनुवाद—चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वही कुमुदिनी (अब) स्मरणीय शोभा वाली होकर मेरी दृष्टि को आनन्दित नही करती है, वस्तुत स्त्रीजनो को (अपने) प्रियजन के प्रवास से उत्पन्न दु ख अत्यन्त असहनीय होते हैं।

भावार्थ—प्रात मुर्झायी हुई कुमुदिनी को देखकर कण्वशिष्य कहता है कि अब चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वही यह कुमुदिनी जो कि चन्द्रोदय काल मे पूण विकसित होकर सबके नेत्रो को आकृष्ट करने वाली और मनोमुग्धकारिणी थी, अब मेरी दृष्टि को आनन्द नही दे रही हैं, अब इसकी वह मनोहारिणी शोभा केवल स्मरण की वस्तु बन गई है। सच है कि स्त्रिया अपने प्रियजन के प्रवास से होने वाले दु ख को बडी ही कठिनाई से सहन कर पाती हैं, कुमुदिनी का प्रिय चन्द्रमा अब अस्त हो चुका है, उससे दूर चला गया है अत यह जीवन रस से रहित हाकर मुर्झा गई है। स्त्रियाँ, भी इसी प्रकार अपने प्रिय के दूर चले जाने पर जीवन रस से शून्य होकर असहनीय दु ख का अनुभव करने लगती है। प्रस्तुत प्रसग म दुष्यन्त के चले जाने पर शकुन्तला भी इसी प्रकार वामहस्तोपहितवदना होकर असह्य दु ख का अनुभव करती हुई म्लान हो गई है।

विशेष— प्रस्तुत पद्य मे चन्द्र और कुमुदिनी पर क्रमश दुष्यन्त और शकुन्तला का आरोप किया गया है, अत **समासोक्ति** अलकार है, दृष्टि न नन्दयति का कारण सस्मरणीय शोभा है, अत **काव्यलिङ्ग**—अलकार है। उत्तराध मे सामान्याथ के द्वारा विशेषाथ का समथन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलकार है। छेक, वृत्ति, श्रुति अनुप्रास, प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति है। साथ ही इस पद्य से यह भी गूढाथ प्रकट होता है कि शकुन्तला को शीघ्र ही उसके प्रिय के पास भेजना चाहिये। इससे यहाँ तृतीय **पताकास्थानक** भी है। साहित्यदपणकार ने इसका लक्षण इस प्रकार बताया है "अर्थोपक्षेपक यत्तु लीन सविनय भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेत तृतीय मिद मुच्यते॥"

सस्कृत व्याख्या—शशिनि—चन्द्रे, अन्तर्हिते—अस्तगते सति, सा एव—सैव मनोहारिणी, कुमुद्वती—कुमुदिनी, सस्मरणीयशोभा—स्मरणयोग्यशोभाशालिनी (सती) मे—मम कण्वशिष्यस्य, दृष्टिम्—नेत्रम्, न नन्दयति =न हषयति। नूनम्— अवश्यमेव, अवलाजनस्य—स्त्रीजनस्य, इष्टप्रवासजनितानि—प्रियजनदूरगमनसमुद्भूतानि, दु खानि—कष्टानि, अतिमात्रसुदु सहानि=अत्यन्तासह्यानि, भवन्तीति शेष।

सस्कृत सरलाथ—प्रात काले चन्द्रमसि व्यवहिते सरोवरे म्लानतामापन्नां कुमुदिनी मवलोक्य कण्वशिष्य कथयति—कुमुदिनीनायके चन्द्रेऽस्तगते सति सैवेय

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनुसूया—यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्य जनस्यैतन्न विदित तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् । [जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स जणस्स एद ण विदिअ तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्ज आअरिद ।]

शिष्य —यावदुपस्थिता होमवेला गुरवे निवेदयामि ।

(इति निष्क्रान्त)

कुमुदिनी, या चन्द्रोदयकाले विकसितकुसुमा सै दयशालिनी लोचनाभिरामा चासीत्, इदानी स्वप्रियस्य चन्द्रस्याभावे स्मरणीयशोभासौभाग्या नष्टकान्ति सती ममापि विषयादिविवेकशून्यस्यापि दृष्टि न हर्षयति, वस्तुत प्रमदालोकस्य प्रियजनप्रवास समुद्भूतानि दु खानि अत्यधिकदु खेन सोढव्यानि भवन्ति । स्वाभाविकमेतत् यत्प्रियविरहे नार्योऽति दु ख सहन्ते ।

टिप्पणी

अन्तर्हिते—अन्तर्+धा+क्त । सस्मरणीयशोभा सस्मरणीया शोभा यस्या सा, सम्+स्मृ+अनीयर अबलाजनस्य—स्त्रीजन, यहाँ पर अवला शब्द का प्रयोग साभिप्राय है, स्त्रियो का बल उनका पति ही होता है, उसके दूर होने पर वे वस्तुत अवला ही रह जाती हैं और अवला होने के कारण ही प्रियविरहजन्य दु ख उन्हे असह्यनीय बन जाते हैं। अतिमात्रसुदु सहानि=अतिमात्र सुदु सहानि । सु+दु + सह्+खल् प्रत्यय । कवि ने सह के पूव अतिमात्र सु दुस इन तीन-तीन शब्दो का प्रयोग कर दु ख की अधिकता कठोरता भीषणता आदि की ओर सकेत किया है, वस्तुत इन तीनो मे से एक ही शब्द पर्याप्त था, उससे भी दु ख का आधिक्य कम नही होता—पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को अतिमात्र शब्द से अधिक मोह है, उन्होने शाकुन्तल मे ही कई स्थानो पर और अपनी अन्य रचनाओ मे भी इसका अधिक प्रयोग किया है ।

प्रस्तुत प्रसगानुसार इसका यह अथ भी किया गया है "सा एव कुमुद्वती (कौ पृथिव्या मुदवती हर्षयुक्त अर्थात् पृथिवी पर हर्षित रहने वाली शकुन्तला, शशिनि=अर्थात् लक्षणया चन्द्र सदृश राजा दुष्यन्त अथवा चन्द्रवशोत्पन्न राजा दुष्यन्त के अन्तर्हित अर्थात् असन्निहित अथवा दूरगत होने पर । पृथिवी पर सदा प्रसन्नचित्ता शकुन्तला दुष्यन्त के अपनी राजधानी को लौट जाने पर अब विरह दु ख से क्षीणकान्ति हो जाने पर मेरी दृष्टि को आनन्दित नही करती इत्यादि । जिस प्रकार सकलक भी चन्द्र, कुमुदिनी का प्रियतम है अत एव वह उसके व्यवहित होने पर मुर्झा गई है, उसी प्रकार यद्यपि दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ प्रणय नैतिक दृष्टि से उचित नही है तथापि वह उसका प्रियतम है और शकुन्तला उसके विरह के कारण खिन्न हो गई है ।

(पर्दा हटाकर प्रवेश करके)

अनसूया—यद्यपि (सासारिक) विषयो से विमुख जन (हम लोगो) को यह

अनसूया—प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्ये। न मे उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपाद प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु। येनासत्यसन्धे जने शून्यहृदया (शुद्धहृदया) सखी पद कारिता। अथवा दुर्वासस शाप (कोप) एष विकारयति। अन्यथा कथ स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयक तस्य विसृजाव । दु खशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसिताऽपि न पारयामि प्रवास-प्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वा शकुन्तला निवेद-यितुम्। इत्थगतेऽस्माभि किं करणीयम्। [पडिबुद्धा वि किं करिस्स। ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरन्ति। कामो दाणिं सकामो होदु, जेणा असच्चसंधे जणे सुद्धहिअआ सही पदं कारिदा। अहवा

सब ज्ञात नही है, तथापि (मेरी दृष्टि से) उस राजा ने शकुन्तला के प्रति अशिष्ट आचरण किया है।

शिष्य—तो अब मैं गुरुदेव को उपस्थित हुऐ हवन के समय की सूचना दूँ।

(यह कहकर चला गया)

टिप्पणी

अपटीक्षेपेण—पट्या क्षेप पटीक्षेप न पटीक्षेप अपटीक्षेप तेन—पर्दे को हाथ से एक ओर हटाकर, प्रवेश करके, सामान्यत जब पर्दा उठा दिया जाता है तभी कोई पात्र मञ्च पर प्रवेश करता है, परन्तु जब कभी सहसा कोई बात सूचित करनी होती है तब अपटीक्षेप का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत प्रसग मे शिष्य के कथन को सुनकर शकुन्तला के दु ख से दु खी अनसूया स्वय अपने हाथ से परदे को एक ओर हटा कर सहसा प्रवेश करती है, अन्यथा "ना सूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो निगमोऽपि च" इस कथन के अनुसार असूचित पात्र का प्रवेश कराना अनुचित होता है असूचित पात्र के प्रवेश के सम्बन्ध मे यह वचन भी प्रमाण है "पटीक्षेपेण कतव्यमातराजप्रवेश-नम्, अनसूया इस समय आत थी अतएव उसका अपटीक्षेपपूवक प्रवेश उचित था। राघव भट्ट ने अपटी का अर्थ पर्दा ही किया है। **विषय पराङ्मुखस्य** सासारिक भोग विलासो से सवथा विमुख वनवासी हम लोग यद्यपि यह नही जानते कि विलासीजनो के व्यवहार प्रेम और आचार कैसे होते हैं, पर इतना तो मैं अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजा ने शकुन्तला पर असाधुवत् आचरण किया है, क्योंकि उसने अब तक उसका समाचार भी नही पूँछा। परादूरे अञ्चति-पराक् पराङ् मुख-यस्य तस्य। पर+अञ्च् क्विन्—पराक्। जनस्येत्यत्र 'क्तस्य च वतमाने, इति कर्तृ द्वि षष्ठी। **अनायम्**—अय्यते गम्यते अनुष्ठीयते वेति आयम्—ऋधातो ण्यत्—न आर्यम् अनायम्।

अनसूया—जागी हुई भी मैं क्या करुँगी। नित्य अभ्यस्त दैनिक कार्यों मे भी मेरे हाथ पैर नही चलते। कामदेव की इच्छा अब सफल हो, जिसने असत्य प्रतिज्ञा वाले जन के प्रति शुद्धहृदया सखी शकुन्तला का प्रेम कराया है। अथवा

दुव्वाससो सावो ऐसो विआरेदि। अण्णहा कह सो राएसी तारिसाणि भन्तिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्त पि ण विसज्जेदि। ता इदो अहिण्णाण अङगुलीअअ तस्स विसज्जेम। दु खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु। ण सहीगामी दोसो त्ति ब्ववसिदा वि ण पारेमि पवासपडिणिउत्तस्स तादकस्सवस्स दुस्सन्तपरिणीद आवण्णसत्त सउन्दल णिवेदिदु। इत्थगदे अम्हेहिं कि करणिज्ज।]

(प्रविश्य)

प्रियवदा—(सहर्षम) **सखि, त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलाया प्रस्थान-कौतुक निर्वर्तयितुम्।** [सहि, तुवर तुवर सउन्दलाए पत्थान कोदुअ णिव्वत्तिदु।]

अनसूया—**सखि, कथमेतत्।** [सहि, कह एद।]

दुर्वासा का शाप ही यह विकार करा रहा है। नही तो कैसे वह राजर्षि इस प्रकार की (प्रिय) बातें करके इतने समय तक पत्र भी न भेजता। अत इधर मे (हम लोग) परिचायक मुद्रका को उसके पास भेज दें। कष्ट सहन करने वाले तपस्वियो मे से किससे प्रार्थना की जाय। (इससे) सखी पर दोष आयेगा। इसलिये उद्यत होते हुये भी मैं, प्रवास से लौटे हुये पिता कण्व को यह बात बताने के लिये असमर्थ हूँ कि शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ (गान्धव) विवाह हो चुका है और वह गभवती है। ऐसी स्थिति मे हम क्या करे ?

टिप्पणी

काम सकाम—कामदेव सफल मनोरथ हो अर्थात् वाम स्वभाव कामदेव अब शकुन्तला का दुःख देखकर अपनी अभिलाषा पूरी करें, **असत्यसन्धे**— सन्धा = प्रतिज्ञा—झूँठी प्रतिज्ञा करने वाले। **सखी पद कारिता**—सखी शकुन्तला का प्रेम कराया है। **लेखमात्रम अपि**—पत्र मात्र भी। **एतावत कालस्य**—इतने लम्बे समय तक। **अत्र कर्मणि षष्ठी**। अर्थात् यदि दुर्वासा का शाप न होता तो वह राजर्षि अब तक क्या कुछ पत्र आदि भी न भेजता। अत यह दुर्वासा का ही प्रभाव है राजा का दोष नहीं। **तदित**—तो इस शाप से मुक्ति पाने के लिये इस आश्रम से ही **अभिज्ञानम्**—अभिज्ञायते अनेन् अर्थात् परिचायक, **दुःखशीले तपस्विजने**—सवदा तप के क्लेशो को सहने वाले, विषय भोगो से पराङमुख इन आश्रमवासी तपस्वियो मे सें किससे प्रार्थना की जाय कि वह इस अगूँठी को वहाँ पहुँचा दे। **व्यवसितापि**—उद्यत होकर भी। **आपन्नसत्त्वाम्** सत्त्वम् आपन्ना ताम् अथवा आपन्न प्राप्त सत्त्व यया ताम्। अर्थात् गर्भिणी।

(प्रवेश करके)

प्रियम्वदा—(हृष के साथ) सखी, शकुन्तला के प्रस्थानकालिक मगलकार्य को पूरा करने के लिये शीघ्रता करो।

प्रियंवदा—शृणु। इदानीं सुखशयितप्रच्छिका शकुन्तलासकाशं गतास्मि। [सुणाहि। दाणि सुहसइदपुच्छिआ सउन्दलासआसं गदम्हि।]

अनसूया—ततस्तत। [तदो तदो।]

प्रियंवदा—तावदेना लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम्। दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता। वत्से, सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता। अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति। [दाव एण लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकस्सवेण एव्व अहिणन्दिदं। दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पावए एव्व आहुदी पडिदा। वच्छे, सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जासि संवुत्ता। अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमित्ति।]

अनसूया—सखी, यह कैसे!

प्रियम्वदा—सुनो, मै अभी "तुम सुख पूर्वक सोई या नहीं" यह पूँछने के लिये शकुन्तला के पास गई थी।

अनसूया—तब क्या हुआ?

प्रियम्वदा—तब लज्जा से अधोमुखी उसके पिता काश्यप ने सस्नेह आलिङ्गित कर इस प्रकार उसका अभिनन्दन किया—सौभाग्यतः धुयें से विकृत दृष्टि वाले भी यजमान की अहुति अग्नि मे ही गिरी पुत्री, योग्य शिष्य को दी गई विद्या के समान तुम अशोचनीय हो गई हो। आज ही ऋषियो से सुरक्षित तुमको (तुम्हारे) पति के पास भेज रहा हूँ।

टिप्पणी

प्रस्थान कौतुकम्—विवाहोत्तर पतिगृहगमन काल मे किया जाने वाला परम्परागत माङगलिक कार्य। कौतुक शब्द का अर्थ, मगलाचार, मगलमय कार्य, उत्सव, कौतूहल आदि होता है "कौतुकं चाभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः परम्परा-समापानमङगले च कुतूहले" प्रस्तुत प्रसग मे इसे प्रथम विदाई समारोह या उत्सव भी कह सकते हैं, इस कार्य मे लोकाचार प्रधान होता है। इस कौतुक मे सुधागैरिक आदि का लेप भी किया जाता है, कहीं इसे कगन उत्सव भी कहते है, विवाह के समय हाथ मे बाँधा जाने वाला धागा भी कौतुक कहा जाता है। **सुखशयित-प्रच्छिका**—सुखेन शयितः सुखशयितः तत् पृच्छति इति सुखशयितप्रच्छिका—प्रच्छ धातु से ण्वुल् होकर स्त्रीलिङ्ग, मे प्रच्छिका रूप होगा। पृच्छिका बनाने के लिये पृच्छा शब्द से स्वार्थ मे कन प्रत्यय और टाप करके पृच्छिका होगा और तब सुखशयितस्य पृच्छिका यह विग्रह होगा। **लज्जावनतमुखीम्**—लज्जया अवनतमुखी ताम्, पिता की आज्ञा के बिना जो उसने पतिवरण किया था इसलिये उसे लज्जा थी। **अभिनन्दितम्**—किन्तु पिता ने उसके इस कार्य का सानन्द अनुमोदन किया—अभि + नन्द् भावे क्त **धूमाकुलितदृष्टेः**—धूमेन आकुलिता दृष्टिः यस्य तस्य। प्रतिदिन अग्निहोत्रादि करने वाले महर्षि कण्व की यह उपमा उनके वातावरण के अनुकूल है, यहाँ कण्व यजमान

अनसूया—अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्त ।
[अह् केण सूइदो तादकस्सवस्स वुत्तन्तो ।]

प्रियंवदा—अग्निशरण प्रविष्टस्य शरीर विना छन्दोमय्या वाण्या ।
[अग्गिसरण पविट्ठस्स सरीर विणा छन्दोमईए वाणिआए ।]

अनसूया—(सविस्मयम्) कथमिव ।[कह विअ ।]

प्रियंवदा—(सस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहित तेजो दधाना भूतये भुव ।
अवेहि तनया ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥४॥

शकुन्तला आहुति और दुष्यन्त अग्नि के प्रतीक है अथवा शकुन्तला की कामवासना धूम का उसका हृदयदान आहुति का तथा दुष्यन्त अग्नि का प्रतीक है। **सुशिष्य-परिदत्ता**—योग्य शिष्य को दी गई विद्या जिस प्रकार अशोचनीय होती है उसी प्रकार विद्यारूपिणी शकुन्तला दुष्यन्तरूप शिष्य को प्राप्त होकर अशोचनीय हो गई है। "अशोच्या हि पितु कन्या सद्भर्तृ प्रतिपादिता" कुमारसम्भव का यह वाक्य भी इसी बात की पुष्टि करता है कवि ने रघुवश मे भी कहा है 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति" ।

अनसूया—तो (यह) समाचार किसने पिता काश्यप को बताया ?

प्रियम्वदा—यज्ञ शाला मे प्रविष्ट हुये उनको अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी ने (बतलाया)

अनसूया—(आश्चय के साथ) किस रूप मे ?

प्रियम्वदा—(सस्कृत भाषा मे)

दुष्यन्तेनेति—अन्वय-ब्रह्मन् । दुष्यन्तेन आहितम् तेज भुव भूतये दधानाम् तनयाम् अग्निगर्भाम् शमीम् इव अवेहि ।

शब्दाथ—ब्रह्मन्—हे ब्रह्मवेत्ता महर्षि कण्व, दुष्यन्तेन=दुष्यन्त के द्वारा, आहितम्—निषिक्त या स्थापित किये गये, नेज =वीय को, भुव =पृथिवी के, भूतये=कल्याण के लिये, दधानाम्=धारण करती हुई, तनयाम्—(अपनी) पुत्री को, अग्निगर्भाम्=अपने भीतर अग्नि रखने वाले, शमीम् इव=शमीवृक्ष की तरह, अवेहि—जानो ।

अनुवाद—हे ब्रह्मन्, दुष्यन्त के द्वारा निषिक्त वीय को पृथिवी के कल्याण के लिये धारण करती हुई, अपनी पुत्री को, अपने अन्दर अग्नि रखने वाले शमीवृक्ष की तरह जानो ।

भावाथ—प्रियम्वदा कहती है कि उस वाणी ने पिता काश्यप से यह कहा था कि हे ब्रहन्, यह आपकी पुत्री शकुतला दुष्यन्त द्वारा स्थापित वीय को उसी प्रकार अपने अन्दर धारण किये हुये हैं जैसे कि शमीवृक्ष के अन्दर, अग्नि छिपी रहती है, अर्थात् यह गभवती है, फिर भी इसका यह गर्भ पृथिवी के लिये कल्याणकारी है अर्थात् इससे उत्पन्न पुत्र पृथिवी का कल्याण करने वाला ही होगा ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'इव, द्वारा उपमालकार है और मार्ग नामक गभ-

सन्धि का अग है क्योकि जहाँ पर वास्तविक बात का प्रकाशन किया जाता है वहाँ यह अग होता है। "तत्त्वाथकथन माग, सा०द०। इसमे अनुष्टप् नामक छन्द है।

सस्कृत-व्याख्या—ब्रह्मन्—द्विजोत्तम महर्षे! दुष्यन्तेन=राज्ञा दुष्यन्तेन, आहितम्=गभधारणरूपेण स्थापितम्, नेज—वीयम् भुव—पृथिव्या, भूतये—कल्याणाय, दधानाम्—धारयन्तीम्, तनयाम्—स्वपुत्रीं शकुन्तलाम्, अग्नि—अनल गर्भे—अन्त यस्यास्ताम् अग्निगर्भाम्, शमीम्—शमीवृक्षम्, इव, अवेहि—जानीहि।

सस्कृत सरलार्थ—सस्कृतभाषा माश्रित्य प्रियम्वदा कथयति—छन्दोमय्या वाण्या तातकाश्यप एव सूचित—ब्रह्मन्! त्वदीया तनया शकुन्तला दुष्यन्तेन गान्धर्व विधिना परिणीता सती तन्निषिक्त वीर्यं धारयति, तस्या एष गभ पृथिव्या कल्याणाय भविष्यति, यथा शमीवृक्षाभ्यन्तरेऽग्नि भवति तथैव तस्या उदरे गर्भो वर्तते, इति भवानवगच्छतु।

टिप्पणी

अग्निशरणम—शरण शब्द का अथ गृह है "शरण गृहरक्षित्रो इत्यमर' अत अग्निशरणम् का अथ है अग्निशाला या यज्ञशाला, प्रत्येक अग्निहोत्री के घर एक अग्निशाला होती थी जिसमे गाहपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियो के तीन कुण्ड होते थे जिनमे अग्निहोत्री प्रतिदिन हवन करता था। इन्हीं तीनो अग्नियो को 'त्रेता, कहा जाता था। ये सदा सुरक्षित रखी जाती थी। **छन्दोमयी**—छ दोबद्ध। **सस्कृतमाश्रित्य**—नाट्यशास्त्र के नियमानुसार स्त्रीपात्र प्राकृत भाषा मे बोलते है, पर यहाँ प्रियम्वदा उस अशरीरिणी वाणी—को यथावत् उदधृत करती हुई सस्कृत भाषा का प्रयोग करती है, ऐसा करना नाट्यशास्त्र के नियम के विरुद्ध नही है, जैसा कि आचाय विश्वनाथ ने कहा है "कायतश्चोत्तमादीना कार्यो भाषा विपयय"। **भुव भूतये** इससे ज्ञात हाता है कि शकुन्तला पुत्र चक्रवर्ती राजा होकर भूतल का कल्याण करेगा। **अवेहि**— अव+आ+इण् गतौ लोट् मध्यम पुरुषैक वचन। **अग्नि गर्भां शमीम इव**—शमी वक्ष के अन्दर जिस प्रकार अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकार शकुन्तला के उदर मे तेजोम" जीव गभ मे छिपा हुआ है। महाभारत के आख्यान के अनुसार, देवप्राथना पर पहले अग्नि ने शिववीय को धारण किया था, पर तेज के असह्य होने से उसने पहले पीपल वृक्ष मे तदनु, शमीवृक्ष मे प्रवेश किया, देवताओ ने शमीवृक्ष मे ही उसे स्थायी बना दिया था अतएव शमीवृक्ष की लकड़ी रगडने पर उससे आग उत्पन्न होती है। अन्यत्र यह भी उल्लेख है कि भृगु के शाप से भयभीत अग्नि शमीवृक्ष मे छिप गई थीं। इसी प्रकार की गमस्थिति का वणन कालिदास ने 'रघुवश' मे इस प्रकार किया है।—

निधान गर्भामिव सागराम्वरा शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकम्
नदी मिवान्त सलिला सरस्वती नृप ससत्त्वा महिषीममन्यत।

अनसूया—(प्रियवदामाश्लिष्य) सखि, प्रिय मे । किन्त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारण परितोषमनुभवामि । [सहि, पिअ मे । किदु अज्ज एव्व सउन्दला णीअदि त्ति उक्कण्ठासाहारण परितोस अणुहोमि ।]

प्रियवदा—सखि, आवा तावदुत्कण्ठा विनोदयिष्याव । सा तपस्विनी निर्वृता भवतु । [सहि, वअ दाव उक्कण्ठ विणोदइस्सामो । सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु ।]

अनसूया—तेन ह्येतस्मिश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गक एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका । तदिमा हस्तसनिहिता कुरु । यावदहमपि तस्यै गोरोचना तीर्थमृत्तिका दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि । [तेण हि एदस्सि चूदसाहावलम्बिदे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्त एव्व कालान्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसर मालिआ । ता इम हत्थसण्णिहिद करेहि । जाव अहपि से गोरोअण तित्थमित्तिअ दुव्वाकिसलआणित्ति मगलसमालभणाणि विरएमि ।

प्रियवदा—तथा क्रियताम् । [तह करीअदु] (**अनसूया निष्क्रान्ता । प्रियवदा नाट्येन सुमनसो गृण्हाति ।**)

अनसूया—(प्रियम्वदा को गले लगाकर) सखी, मैं हर्षित हूँ । किन्तु शकुतला आज ही (पतिगृह को) ले जाई जा रही है । अत (मैं) विषादमिश्रित सन्तोष का अनुभव कर रही हूँ ।

प्रियम्वदा—सखी, हम दोनो तो अपने विषाद को दूर कर लेगी, वह बेचारी (किसी प्रकार) सुखिनी हो ।

अनसूया—तब तो, इस आम की शाखा से लटकते हुये, नारियल के सम्पुटक मे (डिब्बे) इसी अवसर के लिए, समय के अन्तर को सह लेने वाली अर्थात् देर तक न कुम्हलाने वाली मौलसिरी (मौलश्री) की माला को मैने रखा है, तो इसको तुम हाथ मे ले लो । तब तक मैं भी उसके लिये गौरोचना, तीर्थों की मिट्टी, दूब के अकुर आदि माङ्गलिक वस्तुओ को सजाती हूँ ।

प्रियम्वदा—ऐसा ही करो ।

(अनसूया का प्रस्थान, प्रियम्वदा फूलो को लेने का अभिनय करती है)

टिप्पणी

आश्लिष्य—आ + श्लिष—क्त्वा—ल्यप । **प्रिय मे**—अथात् इस बात से मुझे बडी प्रसन्नता हुई । **उत्कण्ठासाधारणम्**—उत्कण्ठया विषादेन साधारण समानम् अर्थात् विषाद से मिश्रित दुख के समान । **परितोषम्**—सन्तोष को, यद्यपि शकुन्तला के जाने से तो विषाद है, पर उसके भावी सुख की कल्पना से सन्तोष भी है । **विनोदयिष्याव**—अपने विषाद (उत्कण्ठा) को दूर कर लेगी, अपना मन किसी प्रकार बहला लेगी । **तपस्विनी**—तपस् शब्दात् मत्वर्थे विन् । 'तपस्वी चानुकम्पाह' इस वचन के अनुसार यहाँ तपस्विनी का अथ अनुकम्पार्हा ही से है, तप साधिका से नही जैसा कि

(नेपथ्ये)

गौतमि, आदिश्यन्ता शार्ङ्गरवमिश्रा शकुन्तलानयनाय।

प्रियवदा—(कर्णं दत्त्वा) अनसूये! त्वरस्व त्वरस्व, एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषय शब्दाय्यन्ते। अणसूए, तुवर, तुवर, एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअन्ति।]

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनसूया—सखि, एहि। गच्छाव [सहि, एहि। गच्छम्ह।] (इति परिक्रामन।)

प्रियवदा—(विलोक्य) एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतीष्टनीवारहस्ताभि स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। उपसर्पाव एनाम्। [एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहि सोत्थिवअणिकाहि तावसीहि अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ। उवसप्पम्ह ण।]

(इत्युपसर्पत।)

कुछ टीकाकारो ने माना है, वस्तुत यहा तपस्विनी का अथ बेचारी, अनुकम्पनीया, दयापात्र है, अब तक वह पतिविरह मे पीडित थी अत अनुकम्पनीया थी, पति से मिलकर वह सुखिनी होगी, उसका भला होगा यही प्रियम्वदा की कामना है। **चूतशाखावलम्बिते**—आम्र वृक्ष की शाखा से लटकने हुये। **समुद्गके**—सम्यक् उद्गच्छनीत्यर्थे सम्+उद्+गम्+ड प्रत्यय टि लाप, नत स्वार्ये कन्, सप्तम्येक वचने। नारियल के ऊपर से छीलने पर जो भीतर एक कडा सा गोला निकलता है जिसमे गिरी रहती है उसको बीच से काटने पर दो प्याले से बन जाते है यही नारिकेल समुदगक कहलाता है यहा इसका अथ डिब्बा या दोना नही है। **कालान्तरक्षमा**—देर तक रुकने वाली जिसकी सुगन्धि एव सरसता देर तक ठहरती है। **केसर**—वकुल या मौलसिरी, मौलश्री। **गोरोचना**—यह गाय के मूत्र से तैयार होती है और इसका रग पीला होता है मागलिक अवसरो पर इसका प्रयोग किया जाता है। **समालम्भनानि**—समालभ्यते एभि समालम्भनानि मङगलार्थ समालम्भनानि मङ्गलसमालम्भनानि—सम्+आ+लभ+ल्युट्। **दूर्वाकिसलयानि**—दूब के अकुर, यह भी माङ्गलिक वस्तु होती है माङ्गलिक अवसरो पर प्राय माला मे दूब के अकुर लगा दिये जाते है 'पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका"।

(नेपथ्य म)

गौतमी, शार्ङ्गरव आदि का शकुतला को, (पतिगृह) ले जाने के लिये आज्ञा दो।

प्रियम्वदा—(कान लगाकर) अनसूया, जल्दी करो, ये हस्तिनापुर को जाने वाले ऋषि लोग बुलाये जा रहे है।

(तत प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारासनस्था शकुन्तला)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तला प्रति) जाते, भर्तुर्बहुमानसूचक **महादेवीशब्द लभस्व** । [जादे, भत्तुणो बहुमाणसूअअ महादेईसद्द लहेहि ।]

द्वितीया—वत्से, वीरप्रसविनी भव । [वच्छे, वीरप्पसविणी होहि ।]

तृतीया—वत्से, भर्तुर्बहुमता भव । [वच्छे, भत्तुणो वहुमदा होहि ।]

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतीमवर्जं निष्क्रान्ता ।)

(माङ्गलिक वस्तुये हाथ मे लिये हुए प्रविष्ट होकर)

अनसूया—सखी, आओ, चले ।

(यह कह कर दोनो घमती है)

प्रियम्वदा—(देखकर) यह शकुन्तला, सूर्योदय के समय ही शिखा सहित स्नान किए हुये अर्थात् पूण स्नान करके, नीवार धान्य हाथो मे लिये हुए, स्वस्ति वाचन करने वाली तापसियों से अभिनन्दित की जाती हुई, बैठी है । हम इसके पास चलती हैं ।

(यह कह कर दोनो जाती है)

(इसके बाद यथाकथित अर्थात् पूर्वोक्त रूप मे आसन पर बैठी हुई शकुन्तला का प्रवेश)

एक तापसी— (शकुन्तला से) पुत्री, पति के अति सम्मानसूचक महारानी शब्द को प्राप्त करो ।

दूसरी—पुत्री, वीरपुत्र का जन्म दने वाली बनो ।

तीसरी—पुत्री, पति के बहुत अधिक सम्मान को प्राप्त करो ।

(इस प्रकार आशीर्वाद दकर गोतमी को छोडकर अय सभी का प्रस्थान ।)

टिप्पणी

आदिश्यन्ताम्—आ + दिश कमवान्य लोट प्र० पु० बहुवचन ।

शार्ङ्गरवमिश्रा — शार्ङ्गरव आदि, शार्ङ्गरवेण मिश्रा शार्ङ्गरवमिश्रा शार्ङ्गरव नामक ऋषि से मिश्रित अथात् साथ, अथवा शार्ङ्गरव प्रधान पूज्यो वा येषान्ते शार्ङ्गरवमिश्रा नित्यसमास । इस प्रकार मिश्र शब्द के दो अथ है, इत्यादि और प्रमुख पूज्य प्रधान आदि । **हस्तिनापुरगामिन** —हस्तिनापुर को जाने वाले । महाभारत के अनुसार भरत के प्रपौत्र हस्ती ने इस नगर को बसाया था अतएव इसका नाम हस्तिनापुर पडा है, यह वतमान दिल्ली से ५६ मील उत्तर पूव की ओर गगा की एक सहायक नदी के तट पर था, पर वायु विष्णु और हरिवश पुराणो के अनुसार हस्ती नामक राजा भरत से सातवा राजा था, कुछ भी हो, पर ऐसी स्थिति मे दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर कैसे हो सकती है जबकि भरत दुष्यन्त का पुत्र था ? ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने अपने समय मे प्रचलित नाम ही दुष्यन्त की राजधानी के रूप मे प्रयोग किया है, दुष्यन्त के समय यह अन्य किसी नाम से प्रसिद्ध रहा होगा । गम् धातु से णिनि प्रत्यय करने पर गामिन रूप होगा, पर

सख्यौ—(उपसृत्य) सखि ! सुखमज्जन ते भवतु । [सहि, सुहमज्जण दे होदु ।]

शकुन्तला—स्वागत मे सख्यो । इतो निषीदतम् । [साअद मे सहीण । इदो णिसीदह ।]

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय । उपविश्य) हला, सज्जा भव । यावत्ते मङ्गलसमालम्भन विरचयाव । [हला, सज्जा होहि । जाव दे मङ्गलसमालम्भण विरएम ।]

शकुन्तला—इदमपि बहु मन्तव्यम् । दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डन भविष्यति । [इद पि बहु मन्तव्व । दुल्लह दाणि मे सहीमण्डण भविस्सदि ।] (इति वाष्प विसृजति ।)

समस्त पद मे 'कुमति च' से नकार को णत्व होकर गामिण बनना चाहिये था, किन्तु साहित्य मे कालिदास तथा अन्य कवियो की रचनाओ मे भी गामिन ही प्रयोग मिलता है अत इसे सहसा अशुद्ध नही कहा जा सकता । "ते नरा स्वर्गगामिन" "स्रोतोवहा-सागरगामिनीव" "पूर्व सागरगामिनीम्" कालिदास । व्याकरण ग्रन्थो मे भी कर्तृ गामिनि क्रियाफले ।" **शब्दाय्यन्ते**—शब्द करोतीत्यर्थे शब्द वैरेत्यादिना क्यङ प्रत्यये शब्दायते तत णिजन्तात् कर्मवाच्ये शब्दाय+णिच लट् शब्दाय्यन्ते । **शिखामज्जिता**—शिखाया मज्जिता स्नान कारिता, शिर धोकर नहलाई गई । प्राय स्त्रिया प्रतिदिन शिर धोकर नही नहाती, माङ्गलिक उत्सवो पर या विशेष स्थिति मे ही शिर धोकर नहाती है । **प्रतीष्टनीवारहस्ताभि**—प्रतीष्टा गृहीता नीवारा तृणधान्यविशेषा हस्तेषु करेषु यासा ता ताभि—नीवारो को हाथ मे लिये हुए, नीवार पवित्र धान्य माना जाता था । **स्वस्तिवाचनिकाभि**—स्वस्तिवाचनम् स्वस्तिवाचनात्मकवेदमन्त्रपाठ-करण प्रयोजन यासा ता ताभि अत्र प्रयोजनार्थे "अनुप्रवचनादिभ्यश्छ सूत्रेण छ प्रत्यये, पुण्याहवचनादिभ्य इनि वार्तिकेन तस्य लोपे, तदनु स्वार्थे कन् प्रत्यये स्वस्तिवाचनिका, यह कथन इस ओर भी सकेत करता है कि कालिदास के समय मे स्त्रियो को वेद पढने का अधिकार प्राप्त था । णिजन्तात् वच धातो भावे ल्युटि वाचनम् स्वस्ति इति वाचन स्वस्तिवाचनम् । **वीरप्रसविनी**—वीर प्रसूते असौ वीरप्रसविनी वीर+प्र+सू धातु से ताच्छील्य णिनि । **अन्यतमा**—अयात् तापसियो मे से एक । **बहुमान-सूचकम्**—बहुमान सूचयतीति बहुमानसूचकम् । **महादेवीशब्दम्**—महती देवी महादेवी, देवी कृताभिषेका रानी को कहा जाता था 'देवीकृताभिषेकायामितरासु च भट्टिनी" महादेवी प्रधान महिषी । **भर्तुबहुमता**—भर्तु इत्यत्र भृ+तृच् षष्ठी एकवचन, बहु+मन्+क्त टाप् बहुमता, यहा "क्तस्य च वर्तमाने" अतएव भर्तुरित्यत्र अनुक्ते कर्तरि-षष्ठी । **गौतमीवर्जम**—वर्जि+णमुल् ।

दोनो सखिया—(पास जाकर) सखी, तुम्हारा स्नान सुखकर हो, अर्थात् तू इस स्नान से सदा सुखी रहे ।

शकुन्तला—मेरी सखियो का स्वागत है । इधर बैठिये ।

उभे—सखि, उचित न ते मङ्गलकाले रोदितुम। [सहि, उइण दे ण मङ्गलकाले रोइदु।]

(इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयत)

प्रियवदा—आभरणोचित रूपमाश्रमसुलभै प्रसाधनै विप्रकार्यते। [आहरणोइद रूव अस्समसुलहेहि प्रसाहणेहि विप्पआरोअदि।]

(प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ)

उभौ—इदमलकरणम्। अलिङ्क्रियतामत्रभवती।

(सर्वा विलोक्य विस्मिता।)

गौतमी—वत्स नारद, कुत एतत्। [वच्छ णारअ, कुदो एद।]

प्रथम—तातकाश्यपप्रभावात्।

गौतमी—कि मानसी सिद्धि। [कि माणमी सिद्धी।]

दोनो—(माङ गलिक पात्रो को लेकर और बैठकर) सखी शकुन्तला, तैय्यार हो जाओ। (हम लोग) अब तुम्हारा माङ्लिक अलकरण (प्रस्थानकालिक प्रसाधन—सजावट) करती है।

शकुन्तला—यह भी बहुत माननीय है। अब मेरे लिये सखियो द्वारा अलकरण दुलभ हो जायेगा।

(यह कहकर आसू गिराने लगती हे अर्थात् रोती है)

दोनो सखियाँ—सखी, (इस) मङ्गल के अवसर पर तुम्हारा रोना उचित नही है।

(यह कहकर आसुओ को पोछकर अलकृत करने का अभिनय करती है)

प्रियम्वदा—आभूषणो के योग्य (यह सुदर) रूप आश्रम म प्राप्य अलकारो से विकृत किया जा रहा है।

(भेट मे रूप प्राप्त आभूषणो का हाथो मे लिये हुये दो ऋषिकुमारो का प्रवेश)

दोनो ऋषि कुमार—ये आभूषण हे (इनसे) इस देवी को अलकृत करें।

(सभी देखकर आश्चयान्वित हो जाती है)

गौतमी—पुत्र नारद! ये कहाँ से (प्राप्त हुये)

प्रथम ऋषि कुमार—पिता काश्यप के प्रभाव से।

गौतमी—क्या यह मानसी सिद्धि है अर्थात् क्या ये आभूषण उनके मानसिक सकल्प के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुये है?

टिप्पणी

सुखमज्जनम—तुम्हारा स्नान सुखमय हो, सखियाँ मन मे इच्छा करती है कि इस पर शाप का प्रभाव न हो। **सख्यो**—अत्र शेषे षष्ठी। **निषीदितम्**—नि+सद् लोट म० द्वि०। **हला**—सखी के लिये सम्बोधन। **मङ्गलसमालम्भनम्**, माङगलिक वस्तुओ द्वारा अलकृत करना। **इदमपि**—यह आप लोगो द्वारा किया जाने वाला अलकरण। **बहुमन्तव्यम्**—बडे गौरव की बात समझी जानी चाहिये **बाष्पम्**—आसू,

द्वितीय—न खलु । श्रूयताम् । तत्रभवता वयमाज्ञप्ता शकुन्तलाहेतो-र्वनस्पतिभ्य कुसुमान्याहरतेति । तत इदानीम्—

क्षौम केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृत
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभ लाक्षारस केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभारणानि तत् किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभि ॥५॥

इससे उसके भावी वियोग को सूचित किया गया है। **प्रसाधन** प्रसाध्यते एभिरिति प्रसाधनानि तै—प्र+साध+णिच करणे ल्युट । **विप्रकार्यते**—विगाडा जा रहा है—वि+प्र+कृ+णिच कमणि लट् । **उपायन**—भेट या उपहार । **मानसी सिद्धि**—मानसिक सकल्प के फलस्वरूप, मानसी सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाले योगी जन जो कुछ सकल्प करते है वह प्राप्त हो जाता है, याज्ञ्यवल्क्य ने इस सम्बन्ध मे लिखा है—

अन्तर्धान स्मृति कान्ति दृष्टि श्रोत्रज्ञता तथा निज शरीरमुत्सृज्य परकाय प्रवेशनम् । अर्थाना छन्दत सृष्टि योगसिद्धेर्हि लक्षणम् ।

दूसरा ऋषिकुमार—बिल्कुल नही, सुनिये, पूजनीय महर्षि कण्व ने हमे आज्ञा दी थी कि शकुन्तला के लिए वृक्षो से पुष्प ले आओ। तब तो—

क्षौम मिति अन्वय—केनचित् तरुणा इन्दुपाण्डु माङ्गल्यम् क्षौमम् आविष्कृतम् केनचित् (तरुणा) चरणोपभोगसुलभ लक्षारस निष्ठ्यूत । अन्येभ्य (वृक्षेभ्य) आपर्वभागोत्थितै तत्किसलयोदभेदप्रतिद्वन्द्विभि वनदेवताकरतलै आभरणानि दत्तानि ।

शब्दार्थ—केनचित् तरुणा=किसी वृक्ष के द्वारा, इन्दुपाण्डु=चन्द्रवत् श्वेत वर्ण वाला, माङगल्यम्—माङ्गलिक—मगलकर्म मे उपयुक्त, क्षौमम्=रेशमी वस्त्रो का जोडा, आविष्कृतम्=प्रकट किया गया—निकाल कर दिया गया। केनचित्—किसी वृक्ष के द्वारा, चरणोपभागसुलभ—पैरो मे लगाने योग्य, लाक्षारस=चरणो को रगने वाले आलक्तक द्रव अर्थात् महावर को, निष्ठ्यूत=निचोडा गया अर्थात् निकाल कर दिया गया। अन्येभ्य=अन्य वृक्षो से, तत्किसलयोदभेदप्रतिद्विन्द्विभि=उन वृक्षो के नवीन निकलते हुए पल्लवो से स्पर्धा (ईर्ष्या) करने वाले अर्थात् तत्सदृश, आपर्वभागोत्थितै=पर्वभाग अर्थात् मणिमबन्धनस्थान तक बाहर निकले हुए, वनदेवताकरतलै=वन देवताओ के कर पल्लवो द्वारा, आभरणानि=आभूषणो को, दत्तानि=दिया गया।

अनुवाद—किसी वृक्ष द्वारा चन्द्रवत् श्वेत वर्ण का, मगल कार्य मे धारण करने योग्य, रेशमी वस्त्रो का जोडा, निकाल कर दिया गया, किसी वृक्ष के द्वारा, चरणो मे लगाने योग्य, महावर दिया गया, अन्य वृक्षो से, उन वृक्षो के नवीन निकले हुए पल्लवो से स्पर्धा करने वाले अर्थात् तत्सदृश, पर्वभागो तक अर्थात् कलाई अथवा मणिबन्धन स्थान तक बाहर निकले हुए, वनदेवताओ के करपल्लवो द्वारा आभूषण दिये गए।

भावार्थ—ऋषिकुमार गौतमी से कहता है कि जब महर्षि कण्व ने हमे वृक्षो से शकुन्तला के लिए पुष्प लाने को भेजा, तब किसी वृक्ष ने तो शकुन्तला के लिए कौशेय वस्त्रो का जोडा दिया जो कि चन्द्रमा के समान श्वेत एव मगल काय मे पहनने योग्य है और किसी वृक्ष ने पैरो मे लगाने योग्य महावर दिया और वक्षाधिष्ठित देवताओ ने अपने करपल्लवो से आभूषण दिये। देते समय उन वनदेव-ताओ के हाथ, केवल कलाई तक ही बाहर निकले हुए थे और वे वृक्षो के नवीन पल्लवो सदश कोमल एव आरक्त थे।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे इन्दुपाण्डु पद मे उपमालकार तथा अनुप्रासालकार भी है। शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द है।

संस्कृतव्याख्या—केनचित् तरुणा—वृक्षेण, इन्दुरिव पाण्डु तत्—इन्दुपाण्डु—चन्द्रशुभ्रम्, मङ्गल्यम्—मङ्गलकमपरिधानीयम्, क्षौमम्—कौशेयवस्त्रयुगलम्, आविष्कृतम्—प्रकटीकृतम् प्रदत्तमित्यथ । केनचित्—तरुणा, चरणयोरूपभोगाय रञ्जनाय सुलभ समुचित—चरणोपभोगसुलभ, लाक्षारस—आलक्तकद्रव, निष्ठ्यूत—बहिष्कृत्य प्रदत्त । अन्येभ्य वनदेवताधिष्ठितेभ्य वक्षान्तरेभ्य सकाशात्, पवभाग मर्यादीकृत्येत्यापवभागम् उत्थितै वहिर्निगतै—आपवभागोत्थितै—मणिवन्धन स्थान यावदवहिर्निगतै, किसलयानामुदभेद किसलयोद्भेद, तेषा किसलयोदभेद इति तत्किसलयोदभेद तेषा प्रतिद्वन्द्विन तै—तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभि—वृक्षनवपल्लवविकासप्रतिस्पर्द्धिभि, वनदेवताना करतलै—वनदेवताकरतलै—वनदेवताना पल्लवानुकारिभि हस्तै, आभरणनि—आभूषणानि, दत्तानि—वितीर्णानि।

संस्कृत सरलाथ—महर्षिणा काश्यपेनानुज्ञप्ता ऋषिकुमारा यदा शकुन्तला हेतो कुसुमान्याहर्तुं तत्रत्यवृक्षानुपागच्छन्। तदा केनचित्तरुणा शकुन्तलाहेतोश्चन्द्र श्वेत माङ्गलिक क्षौमयुगल प्रदत्तम्, अन्येन तरुणा पादानुरञ्जनोचित आलक्तकद्रव समर्पित, वक्षाधिष्ठातृदेवैश्चापि स्वकीयै पल्लवानुकारिभि करै राभरणानि प्रदत्तानि।

टिप्पणी

वनस्पतिभ्य—वनस्य पति वन+पति, यहाँ "पारस्कर प्रभृतीनि से स् हो जाता है। यद्यपि वनस्पति शब्द का प्रयोग उन वृक्षो के लिये किया जाता था जो कि बिना पुष्प के ही फलित होते थे "अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतय स्मृता" आज इसका प्रयोग सामान्यत वृक्षमात्र के लिये प्रचलित है। **क्षौमम**—क्षुमाया विकार क्षौमम्, यद्यपि यह एकवचनान्त प्रयोग है तथापि क्षौमयुगल ही विवाह काल मे परिधानीय होते है और वही कन्या के पिता द्वारा दिये जाते हैं, अत क्षौमम् का अथ क्षौमयुगलम् करना ही उचित है। **इन्दुपाण्डु**—चन्द्रवत् शुभ्र अथवा सितपीत वस्त्र। **माङ्गल्यम्**—मगल काय के योग्य अर्थात् जो माङ्गलिक गोरोचनादि वस्तुओ से चित्रित किया गया हो। मङ्गलमेव माङ्गलम् स्वार्थेऽण माङ्गले साधु, इत्यर्थे यत् माङ्गल्यम्। **आविष्कृतम्**—आविस्+कृ+क्त, निकाला। **निष्ठ्यूत**—नि+ष्ठिव् कमणि क्त, यद्यपि निष्ठ्यूत उद्गीण वान्त आदि

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) हला, अनया अभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति। [हला, इमाए अब्भुववत्तीए सूइआ दे भत्तुणो गेहे अणुहीदव्वा राअलच्छित्ति।]

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति।)

प्रथमः—गौतम! एह्येहि। अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः।

द्वितीयः—तथा।

(इति निष्क्रान्तौ।)

सख्यौ—अये, अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः। [अए, अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो। चित्तकम्मपरिअएण अंगेसु दे आहरणविणिओअं करेम्ह।]

शकुन्तला—जाने वां नैपुण्यम्। [जाणे वो णेउणं।]

(उभे नाट्येनालंकुरुतः।)

को कहते हैं, तथापि यहाँ लाक्षणिक अर्थ निकालना करने से अश्लीलता दोष का परिहार हो जायेगा। **चरणोपभोगसुलभ**—चरणयोः उपभोगाय अनुरञ्जनाय सुलभं उचितं। **अन्येभ्यः**—अत्रापादाने पञ्चमी, यहाँ 'अन्यैस्तैः' पाठ मानकर कर्तृ-प्रक्रमभंग दोष का परिहार किया जा सकता है, अन्यथा केनचित् के साथ अन्येभ्यः कहने में उक्त दोष होगा। **आपर्वभागोत्थित** पर्वभागं यावत् आपर्वभागम् अव्ययीभाव समास, आपर्वभागमुत्थितैः अत्र सुप्सुपेति समास। **किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः**—उत्+भिद्+घञ्—उद्भेद विकास किसलयोद्भेदानां प्रतिद्वन्द्विनः तैः, द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम्=प्रतिगतं द्वन्द्वम् प्रतिद्वन्द्वम् तदस्त्येषामिति प्रतिद्वन्द्विनः मत्वर्थे इनि। देवताओं के हाथों से आभूषणादि का मिलना शकुन्तला के आजन्म अवैधव्य एवं सौभाग्य का सूचक है। आलक्तक द्रव से चरणों का रञ्जन सौभाग्यवती स्त्रियों का लक्षण है। महर्षि कण्व के तपः प्रभाव से वृक्षों में चेतनत्व एवं अवलामण्डन क्षौम लाक्षारसादि देने का सामर्थ्य था। यहाँ पूर्वसिद्धार्थ का कथन होने से निरुक्ति नामक नाट्य लक्षण है।

प्रियम्वदा—(शकुन्तला की ओर देखकर) सखी, (वृक्षों के) इस अनुग्रह से यह सूचित किया गया है कि पति के घर में तुम राजलक्ष्मी का अनुभव करोगी।

(शकुन्तला लज्जा का अभिनय करती है)

प्रथम ऋषिकुमार—गौतम! आओ आओ, स्नान करके निकले हुये काश्यप को वनस्पतियों की (यह) सेवा बतलायें।

द्वितीय ऋषिकुमार—ठीक है।

(यह कह कर दोनों का प्रस्थान)

दोनों सखियाँ—ओह, हम दोनों ने कभी आभूषणों का उपयोग नहीं किया है,

(तत प्रविशति स्नानोत्तीर्ण काश्यप ।)

काश्यप —

यास्यत्यद्य शकुन्तलेलि हृदय सस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठ स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजड दर्शनम् ।
वैक्लव्य मम तावदीदृशमिद स्नेहादरण्यौकस
पीड्यन्ते गृहिण कथ नु तनयाविश्लेषदु खै नंवै ॥६॥

चित्रकारी के काय से परिचिन होने से (हम लोग) तुम्हारे अगो पर आभूषणो को (अब) पहनाती हैं ।

शकुन्तला—मैं तुम्हारी निपुणता जानती हूँ ।

(यह कह कर दोनो आभूषण पहनाने का अभिनय करती हैं)

टिप्पणी

अभ्युपपत्त्या—अभ्युपत्ति=अनुग्रह, वनस्पतियो द्वारा शकुतला को आभूषण आदि देना उस पर अनुग्रह करना था । अभि+उप+पद+क्तिन् तया । "अभ्युपपत्तिरनुग्रह" इत्यमर । सखियो की दष्टि मे तो यह अनुग्रह था पर कण्व शिष्य इसे काश्यप की सेवा मानते है । वनस्पतियो का यह अनुग्रह इस बात का प्रतीक है कि शकुन्तला को पतिग्रह मे राजलक्ष्मी का उपभोग प्राप्त होगा । **अभिषेकोत्तीर्णाय**—अभिषेक्—स्नान करके निकले हुए—अभि+सिच् घञ कुत्व अभिषेक । उद+त+क्त=उत्तीण, अभिषेक समाप्य उत्तीण अत्र ल्यब्लापे पञ्चमी । **अनुपयुक्तभुषण**—अनुपयुक्तानि भूषणानि येन स, न उपयुक्तानि अनुपयुक्तानि—उप+युज+क्त । **चित्रकर्मपरिचयेन**—चित्रस्य कम तस्य परिचयस्तेन, परि+चि+अच् । चित्रकारी का परिचय होने से, अथवा चित्रो मे जैसा अलकरण हमने देखा है उससे परिचित होने के कारण । **नैपुण्यम्**—निपुणस्य भाव कम वा नैपुण्यम् निपुण+ष्यञ, कही नैपुणम् भी पाठ है, वहाँ निपुण+अण् होगा ।

(तदनन्तर स्नान करके निकले हुये काश्यप प्रवेश करते है)

काश्यप—

यास्यतीति-अन्वय—अद्य शकुन्तला यास्यति इति हृदयम् उत्कण्ठया सस्पृष्टम् । कण्ठ स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुष, दशनम् चि ताजडम् । अरण्यौकस मम तावत् स्नेहात् ईदृशम् इदम् वैक्लव्यम्, गृहिण नवै तनयाविश्लेषदु खै कथम् नु पीड्यन्ते ।

शब्दार्थ—अद्य=आज, शकुन्तला यास्यति=शकुन्तला जायेगी, इति=इस कारण से, हृदयम्=(मेरा) हृदय, उत्कण्ठया=विषाद या दु ख से, सस्पृष्टम्,=आक्रान्त या व्याप्त हो गया है अर्थात् भर गया है । कण्ठ=गला, स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुष=आँसुओ को बहने से रोकने के कारण भर आया है, गद्गद् हो गया है । दशनम्=देखना या दृष्टि, चिन्ताजडम्=शकुन्तलागत चिन्ता से जड अर्थात् निश्चेष्ट हो गई है । अरण्यौकस —जगल मे रहने वाले अर्थात् वनवासी, मम—मुझ को, तावत्=तो,

स्नेहात्=शकुन्तला के प्रति प्रेम होने से, ईदृशम् इदम् वैक्लव्यम=यह इतनी ऐसी विकलता (बैचेनी) है, अर्थात् इस प्रकार का दु ख हो रहा है, (तो) गृहिण =गृहस्थ जन, नवै =नवीन अर्थात् पहली बार के, तनयाविश्लेषदु खै =पुत्री के वियोग के दु खो से, कथ नु=कितने अधिक नही, पीड्यन्ते=दुखित होते होगे ।

अनुवाद—आज शकुन्तला जायेगी अत हृदय दु ख से भर गया है, कण्ठ अश्रुप्रवाह भीतर रोकने के कारण गदगद हो गया है, दृष्टि निश्चेष्ट हो गई है। वनवासी (भी) मुझको, (शकुन्तला के प्रति) स्नेह के कारण यदि ऐसी इतनी यह विकलता है तो गृहस्थ लोग प्रथम बार के पुत्री के वियोग के दु खो से कितने न दुखित होते होगे अर्थात् वे तो अत्यन्त दु खित होते होगे ।

भावार्थ – काश्यप कहते है कि शकुन्तला आज जायेगी, यद्यपि वह अभी गई नही है जाने वाली है फिर भी उसकी चिन्ता से मेरा हृदय दु ख से भर गया है, आँसुओ के बहने को भीतर ही रोक लेने के कारण मेरा गला भर गया है अत कण्ठ गद्गद् हो गया है, मेरी दृष्टि भी निश्चेष्ट हो गई है आँखो से स्पष्ट दिखलाई भी नही पडता । वन मे रहने वाले भी मुझे स्नेह के कारण यदि इतनी विकलता है तो गृहस्थ लोगो को अपनी पुत्री के प्रथम बार के वियोग के दु खो से कितनी अधिक पीडा न होती होगी अर्थात् वे तो अधिक दु खी होते होगे ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वैक्लव्य का कारण उत्कण्ठा को बतलाया गया है अत **काव्यलिंग** –कण्ठकलुषत्व आदि अन्य कारणो का समुच्चय होने से **समुच्चयालकार**, उत्तरार्ध मे **अर्थापत्ति** अलकार, तथा 'गृहिण ' इत्यादि के द्वारा मुनि की अपेक्षा गृहस्थ को अधिक दु खी बतलाने से **व्यतिरेक** अलकार, इति शब्दोपादान से **हेतु** अलकार, **वृत्ति** तथा **छेक** अनुप्रास है, शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है। **प्रसाद** गुण एव **वैदर्भी** रीति है । प्रस्तुत पद्य मे विरागी भी मुनि की करुणा का उसी प्रकार वर्णन है जैसाकि "मा निषाद ! प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा इत्यादि आदि कवि के प्रथम श्लोक मे है, अत यहाँ शकुन्तलाप्रस्थान आलम्बनविभाव, शकुन्तला गुण स्मरण उद्दीपन विभाव, वाष्प स्वरभङ्ग आदि अनुभाव, चिन्ताविषादादि व्यभिचारीभाव, तथा मुनिगत शोक स्थायीभाव है । इस प्रकार विभावानुभाव सचारिभावो से परिपुष्ट यहाँ प्रधानतया करुणरस अभिव्यक्त होता है, कुछ विद्वानो ने 'ममापि एव वैक्लव्य जातम् । मुझे भी इतनी विकलता हो गई । यह बात बडी ही अदभुत है, ऐसी कल्पना कर यहाँ करुण से उपस्कृत अद्भुत रस प्रधान माना है, पर उक्त विवेचन के अनुसार यहाँ करुणरस ही अङ्गी है, अद्भुत उसका अङ्ग ही हो सकता है । वैक्लव्यम् आदि शब्दो से शोकादि के उक्त हो जाने पर भी यहाँ रस दोष नही है, क्योकि "व्यभिचारिरस स्थायिभावाना शब्द वाच्यता" अर्थात् इनकी शब्द वाच्यता मे ही दोष होता है सर्वत्र नही । इस नाटक का यह सर्वोत्तम श्लोक है, जैसा कि कहा गया है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान शकुन्तला । तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् । यास्यत्येति तत्रापि श्लोक सर्वमनोहर ।" यहाँ "दृष्टि जडा चिन्तया" यह पाठ मानने पर प्रकृत

अनुवाद— शर्मिष्ठा जैसे ययाति राजा की अतिप्रिया (रानी) थी वैसे ही तुम अपने पति की बहुमाननीया बनो, उसने जैसे पुरु नामक सम्राट पुत्र को प्राप्त किया था वैसे ही तुम भी सम्राट पुत्र को प्राप्न करो।

भावार्थ—प्रणाम करने पर काश्यप मुनि शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुये कहते है कि जैसे शर्मिष्ठा, ययाति राजा को अतिप्रया थी वैसे ही तुम भी अपने पति की बहुमाननीया राज्ञी बनो और उसने जैसे पुरु नामक सम्राट पुत्र को प्राप्त किया था वैसे ही तुम भी सम्राट पुत्र को प्राप्त करो।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'इव' से सूचित **उपमालकार** है और **श्लोक** नामक छन्द है। इष्टोपलब्धि के कारण यहाँ **क्रम** नामक गर्भसन्धि का अग है। "तत्त्वोपलब्धि रिष्टस्य क्रम इत्यभिधीयते।" सम्राट् पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद मिलने से आशी नामक नाटकीय अलकार है "आशीरिष्टजनाशमा"।

सस्कृत व्याख्या—शर्मिष्ठा = दानवराजस्य वषपर्वण पुत्री, ययाते इव— ययातीति नाम्ना प्रसिद्धस्य सोमवशीयस्य नहुषपुत्रस्य राज्ञ यथा प्रियतमा आसीत् तथैव त्वमपि, भर्तु दुष्यन्तस्य, बहुमता—प्रियतमा भव। सा = शर्मिष्ठा पूरुम् इव = चन्द्रवशोदभव सम्राज पुत्र पूरुम् यथा, तथैव, त्वम् = शकुन्तला अपि, सम्राजम्-सार्वभौम सुत—पुत्रम्, आवाप्नुहि-लभस्व।

सस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलाकृतप्रणामानन्तर काश्यपो मुनि कथयति—वत्से, यथा शर्मिष्ठा, ययातिनपस्यातिप्रिया पत्नी आसीत् तथैव त्वमपि स्वभर्तु दुष्यन्तस्य प्रियतमा पत्नी भव, सा शर्मिष्ठा, यथा सार्वभौम सुत प्राप्तवती तथैव त्वमपि चक्रवर्तिन पुत्र लभस्वेति।

टिप्पणी

अवसितमण्डना—अवसित समाप्त मण्डनम् अलकरण यास्या सा, अव + सो कर्तरि क्त। तुम्हारा शृगार प्रसाधन पूरा हो चुका है। **परिधत्स्व**—परि + धा—लोट म० पु० एक वचन। परिपूर्वक धा धातु का अर्थ पहनना होता है। **क्षौमयुगलम्**— युगमस्त्यस्मिन्नित्यर्थे मत्वर्थीयो लच प्रत्यय अथवा युग लातीत्यर्थे युग + ला + कर्तरि क प्रत्यय। **आनन्दपरिवाहिणा**— आ + नन्दि धातो धञ्—आनन्द त साधु परिवाहयतीति आनन्दपरिवाही तेन—आनन्द + परि + वह + णिच + साधुकारिणि कर्तरि णिनि। चक्षुषेत्यत्र जातावेकवचनम्। **परिष्वजमान**—परि + स्वञ्ज + शानच्। **आचारम**— आ + चर् + धञ्। **प्रतिपद्यस्व**—प्रति + पद् लोट। **सव्रीडम**—व्रीडया सहित यथा स्यात्तथा। व्रीडा शब्द आकारान्त स्त्रीलिङ्ग तथा अकारान्त भी है—व्रीड् धातु से भावे धञ् करने पर व्रीड बनेगा अप्रत्यय करने पर स्त्रीलिङ्ग मे व्रीडा।

ययाते इव—चन्द्रवश के सस्थापक राजाओ मे नहुष राजा का पुत्र ययाति नाम का राजा हुआ था, दानवगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी इसकी पत्नी थी, दानव राज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा उस समय देवयानी की सेविका के रूप मे आई थी, पर कालान्तर मे शर्मिष्ठा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ययाति ने उसके साथ गान्धर्व

स्नेहात्=शकुन्तला के प्रति प्रेम होने से, ईदृशम् इदम् वैक्लव्यम्=यह इतनी ऐसी विकलता (बैचेनी) है, अर्थात् इस प्रकार का दुःख हो रहा है (तो) गृहिण=गृहस्थ जन नवैः=नवीन अर्थात् पहली बार के, तनयाविश्लेषदुःखैः=पुत्री के वियोग के दुःखो से, कथ नु=कितने अधिक नही, पीडयन्ते=दुखित होते होगे।

अनुवाद—आज शकुन्तला जायगी, अतः हृदय दुःख से भर गया है, कण्ठ अश्रुप्रवाह भीतर रोकने के कारण गदगद् हो गया है, दृष्टि निश्चेष्ट हो गई है। वनवासी (भी) मुझको, (शकुन्तला के प्रति) स्नेह के कारण यदि ऐसी इतनी यह विकलता है तो गृहस्थ लोग प्रथम बार के पुत्री के वियोग के दुःखो से कितने न दुखित होते होगे अर्थात् वे तो अत्यन्त दुःखित होते होगे।

भावार्थ—काश्यप कहते है कि शकुन्तला आज जायेगी, यद्यपि वह अभी गई नही है जाने वाली है फिर भी उसकी चिन्ता से मेरा हृदय दुःख से भर गया है, आसुओ के बहने को भीतर ही रोक लेने के कारण मेरा गला भर गया है अतः कण्ठ गद्गद हो गया है, मेरी दृष्टि भी निश्चेष्ट हो गई है आखो से स्पष्ट दिखलाई भी नही पडता। वन मे रहने वाले भी मुझे स्नेह के कारण यदि इतनी विकलता है तो गृहस्थ लोगो को अपनी पुत्री के प्रथम बार के वियोग के दुःखो से कितनी अधिक पीडा न होती होगी अर्थात् वे तो अधिक दुःखी होते होगे।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वैक्लव्य का कारण उत्कण्ठा को बतलाया गया है अतः **काव्यलिंग**—कण्ठकलुषत्व आदि अन्य कारणो का समुच्चय होने से **समुच्चयालंकार**, उत्तरार्ध मे **अर्थापत्ति** अलकार, तथा 'गृहिण' इत्यादि के द्वारा मुनि की अपेक्षा गृहस्थ को अधिक दुःखी बतलाने से **व्यतिरेक** अलकार, इति शब्दोपादान से **हेतु** अलकार, **वृत्ति** तथा **छेक** अनुप्रास है, शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है। **प्रसाद** गुण एव **वदर्भी** रीति है। प्रस्तुत पद्य मे विरागी भी मुनि की करुणा का उसी प्रकार वर्णन है जैसाकि "मा निषाद! प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः इत्यादि आदि कवि के प्रथम श्लोक मे है, अतः यहा शकुन्तलाप्रस्थान आलम्बनविभाव, शकुन्तला गुण स्मरण उद्दीपन विभाव, वाष्प स्वरभङ्ग आदि अनुभाव, चिन्ताविषादादि व्यभिचारीभाव, तथा मुनिगत शोक स्थायीभाव है। इस प्रकार विभावानुभाव सचारिभावो से परिपुष्ट यहाँ प्रधानतया करुणरस अभिव्यक्त होता है, कुछ विद्वानो ने 'ममापि एव वैक्लव्य जातम्। मुझे भी इतनी विकलता हो गई। यह बात बडी ही अदभुत है, ऐसी कल्पना कर यहाँ करुण से उपस्कृत अदभुत रस प्रधान माना है, पर उक्त विवेचन के अनुसार यहाँ करुणरस ही अङ्गी है, अद्भुत उसका अङ्ग ही हो सकता है। वैक्लव्यम् आदि शब्दो से शोकादि के उक्त हो जाने पर भी यहा रस दोष नही है, क्योकि "व्यभिचारिरस स्थायिभावाना शब्द वाच्यता" अर्थात् इनकी शब्द वाच्यता मे ही दोष होता है सर्वत्र नही। इस नाटक का यह सर्वोत्तम श्लोक है, जैसा कि कहा गया है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान शकुन्तला। तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्। यास्यत्येति तत्रापि श्लोक सर्वमनोहर।" यहाँ "दृष्टि जडा चिन्तया" यह पाठ मानने पर **प्रक्रम**

अनुवाद—शर्मिष्ठा जैसे ययाति राजा की अतिप्रिया (रानी) थी वैसे ही तुम अपने पति की बहुमाननीया बनो, उसने जैसे पुरु नामक सम्राट् पुत्र को प्राप्त किया था वैसे ही तुम भी सम्राट् पुत्र को प्राप्त करो।

भावार्थ—प्रणाम करने पर काश्यप मुनि शकुतला को आशीर्वाद देते हुये कहते हैं कि जैसे शर्मिष्ठा, ययाति राजा को अतिप्रया थी वैसे ही तुम भी अपने पति की बहुमाननीया राज्ञी बनो और उसने जैसे पुरु नामक सम्राट पुत्र को प्राप्त किया था वैसे ही तुम भी सम्राट पुत्र को प्राप्त करो।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'इव' से सूचित उपमालकार है और श्लोक नामक छन्द है। इष्टोपलब्धि के कारण यहाँ क्रम नामक गर्भसन्धि का अग है। "तत्त्वोपलब्धि रिष्टस्य क्रम इत्यभिधीयते।" सम्राट पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद मिलने से आशी नामक नाटकीय अलकार है "आशीरिष्टजनाशंसा"।

संस्कृत व्याख्या—शर्मिष्ठा=दानवराजस्य वृषपर्वण पुत्री, ययाते इव—यायातीति नाम्ना प्रसिद्धस्य सोमवंशीयस्य नहुषपुत्रस्य राज्ञ यथा प्रियतमा आसीत् तथैव त्वमपि, भर्तु दुष्यन्तस्य, बहुमता—प्रियतमा भव। सा=शर्मिष्ठा पूरुम् इव=चन्द्रवंशोद्भव सम्राज पुत्र पूरुम् यथा, तथैव, त्वम्=शकुन्तला अपि, सम्राजम्-सार्वभौम सुत—पुत्रम्, आवाप्नुहि लभस्व।

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलाकृतप्रणामानन्तर काश्यपो मुनि कथयति—वत्से, यथा शर्मिष्ठा, ययातिनपस्यातिप्रिया पत्नी आसीत् तथैव त्वमपि स्वभर्तु दुष्यन्तस्य प्रियतमा पत्नी भव, सा शर्मिष्ठा, यथा सार्वभौम सुत प्राप्तवती तथैव त्वमपि चक्रवर्तिन पुत्र लभस्वेति।

टिप्पणी

अवसितमण्डना—अवसित समाप्त मण्डनम् अलकरण यास्या सा, अव+सो कर्तरि क्त। तुम्हारा शृंगार प्रसाधन पूरा हो चुका है। **परिधत्स्व**—परि+धा—लोट् म० पु० एक वचन। परिपूर्वक धा धातु का अर्थ पहनना होता है। **क्षौमयुगलम्**—युगमस्त्यस्मिन्नित्यर्थे मत्वर्थीयो लच् प्रत्यय अथवा युग लातीत्यर्थे युग+ला+कर्तरि क प्रत्यय। **आनन्दपरिवाहिणा**—आ+नन्दि धातो धञ—आनन्द त साधु परिवाहयतीति आनन्दपरिवाही तेन—आनन्द+परि+वह+णिच्+साधुकारिणि कर्तरि णिनि। **चक्षुषेत्यत्र** जातावेकवचनम्। **परिष्वजमान**—परि+स्वञ्ज+शानच्। **आचारम्**—आ+चर्+धञ्। **प्रतिपद्यस्व**—प्रति+पद् लोट। **सव्रीडम्**—व्रीडया सहित यथा स्यात्तथा। व्रीडा शब्द आकारान्त स्त्रीलिङ्ग तथा अकारान्त भी है—व्रीड् धातु से भावे धञ् करने पर व्रीड बनेगा अप्रत्यय करने पर स्त्रीलिङ्ग मे व्रीडा।

ययाते इव—चन्द्रवंश के सस्थापक राजाओ मे नहुष राजा का पुत्र ययाति नाम का राजा हुआ था, दानवगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी इसकी पत्नी थी, दानव राज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा उस समय देवयानी की सेविका के रूप मे आई थी, पर कालान्तर मे शर्मिष्ठा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ययाति ने उसके साथ गान्धर्व

गौतमी—भगवन्, वर खल्वेष । नाशी । [भअव, वरोक्खु एसो । ण आसिसा ।]

काश्यप—वत्से, इत सद्योहुतानग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

काश्यप—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते ।) वत्से,

अमी वेदिं परित क्लृप्तधिष्ण्या
समिद्वन्त प्रान्तसस्तीर्णदर्भा ।
अपघ्नन्तो दुरित हव्यगन्धै-
र्वैतानास्त्वा वह्नय पावयन्तु ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम् । (सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्रा ।

(प्रविश्य)

शिष्य—भगवन्, इमे स्म ।

काश्यप—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरव—इत इतो भवती ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

विवाह करके उसे भी अपनी पत्नी बना लिया था और देवयानी से अधिक शर्मिष्ठा पर प्रेम रखने लगा था, इससे क्रुद्ध होकर शुक्राचाय ने उसे वृद्ध हो जाने का शाप दे दिया था, शर्मिष्ठा के पुन पुरु ने इस शाप को अपने ऊपर ले लिया था, यही पुरु आगे चल कर पुरु वश का सस्थापक सम्राट हुआ था । प्रस्तुत प्रसग मे अय रानियो के होते हुये भी पुरुवशीय दुष्यन्त ने शकु तला के साथ गान्धव विवाह किया है और उस पर सभी रानियो से अधिक प्रेम भी करता है और आगे चलकर मुनि के आशीर्वाद के फलस्वरूप शकुन्तला पुत्र भरत भी सम्राट हुआ है। सम्राट का लक्षण है "येनेष्ट राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च य" । सर्वेभ्य क्षितिपालेभ्यो नित्य ग्रह्णाति वै करम्, स सम्राडिति विज्ञेयश्चक्रवर्ती स एव हि" । भतु बहुमता—बहु+मन् धातो क्त टाप् वहुमता, इसके योग मे 'क्तस्य च वतमाने सूत्र से भर्तु मे षष्ठी विभक्ति है ।

गौतमी—भगवन्, यह तो वस्तुत वरदान है, केवल आर्शीवाद नही ।

काश्यप—पुत्री, इधर, अभी ही जिनमे हवन किया गया है ऐसी इन अग्नियो की परिक्रमा करो ।

(सब परिक्रमा करते है)

काश्यप—(ऋग्वेद के छन्द मे बने श्लोक द्वारा आशीर्वाद देते हैं) पुत्री,

अमीति—अन्वय—समिद्वन्त, वेदिम् सरित क्लृप्तधिष्ण्या, प्रान्तसस्तीर्णदभा अमी वैताना वह्नय, हव्यगन्धैं दुरितम् अपघ्नन्त, त्वाम् पावय तु ।

श दाथ—समिद्वन्त = समिधाओ (हवन की लकडियो) से युक्त, वेदिं परित क्लृप्तधिष्ण्या = यज्ञवेदि के चारो ओर प्रतिष्ठापित, प्रान्तसस्तीणदर्भा = किनारो

भावार्थ—तपोवन के समीपस्थ वृक्षो को सम्बोधित करते हुए काश्यप मुनि कहते है कि हे वक्षो ! जो शकुन्तला तुम लोगो मे जलसिञ्चन करने के बाद ही स्वय जल पीती थी, यद्यपि उसे पत्रो पुष्पो से अपने का सजाना बहुत अच्छा लगता था तथापि आप लोगो पर उसका इतना अधिक स्नेह था कि वह कभी आपके पत्ते भी नही तोडती थी। जब आप लोगो मे प्रथम बार पुष्प निकलते थे तब उसे बडी प्रसन्नता होती थी। वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जा रही है। आप लोग भी इसे जाने की अनुमति दें।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वक्षो पर सजीव भ्रातृ व्यवहार का आरोप किया गया है अत समासोक्ति अलकार है। पत्तो को न तोडने का कारण स्नेह बतलाया गया है, अत काव्यलिङ्ग अलकार है। शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द है 'सूर्याश्वैर्मसजस्तता सगुरव ।"

संस्कृत व्याख्या—युष्मासु अपीतेषु=युष्मासु वक्षेषु अकृतजलसेकेषु, या= शकुन्तला, प्रथमम्=जल सेकात् पूर्वम्, जल पातुम्—स्वय जल ग्रहीतुम्, न व्यवस्यति न यतते स्म। प्रियमण्डना=अलकरणप्रिया, अपि, भवताम् वृक्षाणाम्, स्नेहेन— प्रेम्णा, या—शकुन्तला, पल्लवम्=किसलयम्, न आदत्ते, न ग्रह णाति। व—युष्माकम्, आद्ये—प्रथमे, कुसुमप्रसूतिसमये—पुष्पोदगमकाले, यस्या—शकुन्तलाया, उत्सव= आनन्दातिरेक, भवति—जायते स्म। सा इयम्=सा एव इयम् शकुन्तला, पतिग्रहम्= स्वभर्तृ सदनम्, याति—गच्छति। सर्वै—युष्माभि वक्षै, अनुज्ञायताम्—अनुमन्यताम्।

संस्कृत सरलार्थ—समीपस्थतपोवनवक्षान् सम्बोधयन् काश्यपो मुनि कथयति, सैषा शकुन्तला अद्य स्वपतिगृह प्रयाति या युष्मासु जलसेचनात् पूर्व स्वय जल पातु नेच्छति स्म। अलकरणप्रिया भूत्वापि या स्नेहवशात् भवता पल्लव-मपि न गह णाति स्म। भवता प्रथमे पुष्पविकासकाले यस्या आनन्दातिरेको भवति स्म। अत सकलैरपि युष्माभि स्तस्या गमन मनुमन्यताम्।

टिप्पणी

प्रस्तुत पद्य कालिदास के स्वाभाविक प्रकृति प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है, इसमे प्रकृति के प्रति शकुन्तला के सोदरस्नेह की सुन्दर झाकी प्रस्तुत की गई है और यह प्रमाणित किया गया है कि प्रकृति सजीव है, और मानव तथा प्रकृति के बीच पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है।

प्रथमम—अर्थात् शकुन्तला प्रतिदिन पहले वक्षो मे जल देती थी और तब स्वय जल पीती थी, स्वय जल पीने की अपेक्षा वह पहले वृक्षो मे जल देना अपना प्रथम कर्तव्य मानती थी, क्योकि वृक्षो के प्रति उसका सहोदर जैसा ही स्नेह था। **अपीतेषु**—पा धातु सकर्मक होने से यहा कर्तृवाच्य मे क्त प्रत्यय सम्भव नही है अत पहले पा धातु से नपुसके भावे क्त प्रत्यय करके पीतम् यह सज्ञा शब्द बनेगा तदनु पीतमस्ति एषाम् इस विग्रह मे 'अर्शआदिभ्योऽच्' से स्वार्थ मे अच् प्रत्यय करके पीता होगा, न पीता अपीता तेषु अपीतेषु। अथवा 'पीतेजला तरव' पीतोदका गाव' की भाँति यहाँ उत्तर

गौतमी—भगवन्, वर खल्वेष । नाशी । [भअव, वरोक्खु एसो । ण आसिसा ।]

काश्यप—वत्से, इत सद्योहुतानग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

काश्यप—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते ।) वत्से,

अमी वेदिं परित क्लृप्तधिष्ण्या
समिद्वन्त प्रान्तसस्तीर्णदर्भा ।
अपघ्नन्तो दुरित हव्यगन्धै-
वैतानास्त्वा वह्नय पावयन्तु ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम् । (सदृष्टिक्षेपम) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्रा ।

(प्रविश्य)

शिष्य—भगवन्, इमे स्म ।

काश्यप—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरव—इत इतो भवती ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

विवाह करके उसे भी अपनी पत्नी बना लिया था और देवयानी से अधिक शर्मिष्ठा पर प्रेम रखने लगा था, इससे क्रुद्ध होकर शुक्राचाय ने उसे वृद्ध हो जाने का शाप दे दिया था, शर्मिष्ठा के पुत्र पुरु ने इस शाप को अपने ऊपर ले लिया था, यही पुरु आगे चल कर पुरु वश का सस्थापक सम्राट हुआ था । प्रस्तुत प्रसग मे अन्य रानियो के होते हुये भी पुरुवशीय दुष्यन्त ने शकुतला के साथ गा ्धव विवाह किया है और उस पर सभी रानियो से अधिक प्रेम भी करता है और आगे चलकर मुनि के आशीर्वाद के फलस्वरूप शकुन्तला पुत्र भरत भी सम्राट हुआ है । सम्राट का लक्षण है "येनेष्ट राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च य" । सर्वेभ्य क्षितिपालेभ्यो नित्य ग्रह्णाति वै करम्, स सम्राडिति विज्ञेयश्चक्रवर्ती स एव हि" । **भर्तु वहुमता**—वहु+मन् धातो क्त टाप् वहुमता, इसके योग मे 'क्तस्य च वतमाने सूत्र से भतु मे षष्ठी विभक्ति है । ●

गौतमी—भगवन्, यह तो वस्तुत वरदान है, केवल आर्शीर्वाद नही ।

काश्यप—पुत्री, इधर, अभी ही जिनमे हवन किया गया है ऐसी इन अग्नियो की परिक्रमा करो ।

(सब परिक्रमा करते है)

काश्यप—(ऋग्वेद के छ द मे बने श्लोक द्वारा आशीर्वाद देते है) पुत्री,

अमीति—**अन्वय**—समिद्व त, वेदिम् सरित क्लृप्तधिष्ण्या, **प्रान्तसस्तीण-** दभा अमी वैताना वह्नय, हव्यगन्धै दुरितम् अपघ्नन्त, त्वाम् पावय तु ।

श दाथ—समिदव त =समिधाओ (हवन की लकडियो) से युक्त, **वेदिं परित क्लृप्तधिष्ण्या** =यज्ञवेदि के चारो ओर प्रतिष्ठापित, **प्रान्तसस्तीणदर्भा =किनारो**

भावार्थ—तपोवन के समीपस्थ वृक्षो को सम्बोधित करते हुए काश्यप मुनि कहते है कि हे वृक्षो ! जो शकुन्तला तुम लोगो मे जलसिञ्चन करने के बाद ही स्वय जल पीती थी, यद्यपि उसे पत्रो पुष्पो से अपने को सजाना बहुत अच्छा लगता था तथापि आप लोगो पर उसका इतना अधिक स्नेह था कि वह कभी आपके पत्ते भी नही तोडती थी। जब आप लोगो मे प्रथम बार पुष्प निकलते थे तब उसे बडी प्रसन्नता होती थी। वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जा रही है। आप लोग भी इसे जाने की अनुमति दे।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वृक्षो पर सजीव भ्रातृ व्यवहार का आरोप किया गया है अत समासोक्ति अलकार है। पत्तो को न तोडने का कारण स्नेह बतलाया गया है, अत काव्यलिङ्ग अलकार है। शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द है "सूर्याश्वैमसजस्तता सगुरव ।"

संस्कृत व्याख्या—युष्मासु अपीतेषु=युष्मासु वृक्षेषु अकृतजलसेकेषु, या=शकुन्तला, प्रथमम्=जल सेकात् पूर्वम्, जल पातुम्—स्वय जल ग्रहीतुम्, न व्यवस्यति न यतते स्म। प्रियमण्डना=अलकरणप्रिया, अपि, भवताम् वृक्षाणाम्, स्नेहेन—प्रेम्णा, या—शकुन्तला, पल्लवम्=किसलयम्, न आदत्ते, न ग्रह्णाति। व —युष्माकम्, आद्ये—प्रथमे, कुसुमप्रसूतिसमये—पुष्पोद्गमकाले, यस्या —शकुन्तलाया, उत्सव =आनन्दातिरेक, भवति—जायते स्म। सा इयम्=सा एव इयम् शकुन्तला, पतिग्रहम्=स्वभर्तृ सदनम्, याति—गच्छति। सर्वै—युष्माभि वृक्षै, अनुज्ञायताम्—अनुमन्यताम्।

संस्कृत सरलार्थ—समीपस्थतपोवनवृक्षान् सम्बोधयन् काश्यपो मुनि कथयति, सैषा शकुन्तला अद्य स्वपतिगृह प्रयाति या युष्मासु जलसेचनात् पूर्व स्वय जल पातु नेच्छति स्म। अलकरणप्रिया भूत्वापि या स्नेहवशात् भवता पल्लवमपि न गृह्णाति स्म। भवता प्रथमे पुष्पविकासकाले यस्या आनन्दातिरेको भवति स्म। अत सकलैरपि युष्माभि स्तस्या गमन मनुमन्यताम्।

टिप्पणी

प्रस्तुत पद्य कालिदास के स्वाभाविक प्रकृति प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है, इसमे प्रकृति के प्रति शकुन्तला के सोदरस्नेह की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है और यह प्रमाणित किया गया है कि प्रकृति सजीव है, और मानव तथा प्रकृति के बीच पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है।

प्रथमम्—अर्थात् शकुन्तला प्रतिदिन पहले वृक्षो मे जल देती थी और तब स्वय जल पीती थी, स्वय जल पीने की अपेक्षा वह पहले वृक्षो मे जल देना अपना प्रथम कर्तव्य मानती थी, क्योकि वृक्षो के प्रति उसका सहोदर जैसा ही स्नेह था। **अपीतेषु**—पा धातु सकर्मक होने से यहा कर्तृवाच्य मे क्त प्रत्यय सम्भव नही है अत पहले पा धातु से नपुसके भावे क्त प्रत्यय करके पीतम् यह सज्ञा शब्द बनेगा तदनु पीतमस्ति एषाम् इस विग्रह मे 'अर्शआदिभ्योऽच्' से स्वार्थ मे अच् प्रत्यय करके पीता होगा, न पीता अपीता तेषु अपीतेषु। अथवा 'पीतेजला तरव' पीतोदका गाव' की भाँति यहाँ उत्तर

(कोकिलरवं सूचयित्वा ।)
अनुमतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥ १० ॥

पद लोप मानकर पीता बना कर पुन नञ समास होगा। **व्यवस्यति**—इस वतमान कालिक प्रयोग से कवि का अभिप्राय यह है कि अब भी वह ऐसा ही करती है। **प्रियमण्डना**—प्रिय मण्डन यस्या सा, मुग्धा होने के कारण यद्यपि उसे पत्रो पुष्पो से अपने को सजाना अच्छा लगता है। **स्नेहेन**—मेरे आदेशवश नही अपितु वृक्षो पर अपने स्वाभाविक प्रेमवश। **भवताम्**—अत्र सम्बन्धे षष्ठी। **कुसुमप्रसूतिसमये**—कुसुमाना प्रसूते समये। प्रस्तुत श्लोक, चतुथ अक के चार सर्वोत्तम श्लोको मे से एक है। इसमे शकुन्तला का वक्षो के प्रति और वृक्षो का शकुन्तला के प्रति उदात्त स्नेह वर्णित किया गया हे। महर्षिकण्व भी इनके पारस्परिक स्नेह को जानते थे अतएव वे इस समय वक्षो से भी उसके जाने की स्वीकृति मागते है, बडा ही सजीव एव हृदयस्पर्शी वणन है।

(कोयल के शब्द श्रवण का अभिनय करके)

अनुमतेति—**अन्वय**—इयम् शकुन्तला वनवासबन्धुभि तरुभि अनुमतगमना (अस्ति), यथा कलम् परभृतविरुतम् एभि ईदृशम् प्रतिवचनीकृतम्।

शब्दार्थ—इयम् शकुन्तला—इस शकुन्तला को, वनवासबन्धुभि तरुभि = तपोवन के बन्धुभूत सहवासी वृक्षो के द्वारा, अनुमतगमना = प्रस्थान की अनुमति दे दी गई है, यथा—क्योकि, कलम् = अस्पष्ट एव मधुर, परभृतविरुतम् = कोयल की ध्वनि को, एभि —इन वृक्षो ने, ईदृशम् = इस प्रकार से, प्रतिवचनीकृतम्—अपना प्रत्युत्तर बनाया है।

अनुवाद—इस शकुन्तला को, तपोवन के बन्धुभूत सहवासी वृक्षो के द्वारा प्रस्थान की अनुमति दे दी गई है, क्योकि, अस्पष्ट एव मधुर कोयल की ध्वनि को इन्होने इस प्रकार अपना प्रत्युत्तर बनाया है।

भावार्थ—जब काश्यप मुनि तपोवन के वृक्षो से शकुन्तला के प्रस्थान की अनुमति माग रहे थे उसी समय शाङ्गरव वृक्षस्थ कोयलध्वनिश्रवण का अभिनय करके कहता है कि तपोवन के सहवासी बन्धुतुल्य इन वृक्षो ने शकुन्तला को पतिगृह जाने की अनुमति दे दी है, क्योकि इन्होने मधुर कोयल ध्वनि को अपने प्रत्युत्तर के के रूप मे प्रस्तुत किया है, अर्थात् शाङ्गरव काश्यप मुनि से कहता है कि आप जैसा चाहते थे, वैसा ही हुआ, वृक्ष स्वय तो नही बोल सकते थे किन्तु इन्होने अपनी डालियो पर बैठे हुये कोयल की ध्वनि से ही आपको उत्तर देते हुये शकुन्तला को जाने की अनुमति दे दी है।

कुशेशयेत्यादि अश मे **उपमालकार**, माग एव पवन के शिवत्व के प्रति अनेक कारणो का उल्लेख होने से, **समुच्चयालकार**, तथा सवत्र **काव्यलिग** अलकार, श्रुति वृत्ति **अनुप्रास** अलकार योग्य वायु होने से योग्य पथ का सम्बन्ध घोषित होने से **समालकार** व्यड्ग्य हे। **वसन्ततिलका** छद है "ज्ञेया वसततिलकातभजा जगा गा।"

सस्कृत व्याख्या—कमलिनीभि हरितानि तै कमलिनीहरितै—पद्मिनीपक्ति-हरितायमानै, सरोभि=सरोवर, रम्य मनोहर अतर मध्यभागो यस्य स रम्यातर। छायाप्रधाना सघना द्रुमा वृक्षास्तै छायाद्रुमै, सघनछायायुक्तनरुभि नियमित समवरुद्ध अकस्य सूयस्य मयूखाना किरणाना ताप आतपजन्य सताप यस्मिन् स नियमितार्कमयूखताप, अस्या—शकुतलाया, पथा=पतिगहगमन माग कुशे जले शेरते—इति कुशेशयानि कमलानि तेषा रजोभि परागै अथवा रजाभिरिव मृदव कोमला रेणव धूलय यस्मिन् स—कुशेशयरजोमृदुरेणु, शात मन्द अनुकूल सुखद पवन वायु यत्र स—शातानुकूलपवन च, शिव च,—मङ्गलकर च, भूयात्—भवतु। अत्र चकारद्वयप्रयोगबलेन पथ सर्वाण्यत्र विशेषणानि वायुपक्षेऽपि सयोज्यानि, तेन प्रथम विशेषणेन वायो सौरभत्वम्, छायाद्रुम सम्बन्धात् तस्य शैत्यम् कमलरेणु सम्पर्कात् तस्य मान्द्यत्वञ्च प्रकाश्यते, शिवेत्यनेन चोभयपक्षे कल्याणकरत्वञ्च द्योत्यते।

सस्कृत सरलाथ—काचित् वनदेवता कथयति यदस्या शकुन्तलाया पतिगह गमनमाग यश्चास्ति पद्मिनीपक्तिहरितायमानै सरोवरैमनोहरावकाश, एवञ्च यस्मिन् छायाप्रधानवटादिवृक्षै सूर्यमरीचितापो निवारितोऽस्ति, कमलपरागतुल्यकोमल धूलिसम्पन्न, मन्दसुखदवायु सम्पन्नश्च कल्याणकरश्च भवतु।

टिप्पणी

आकाशे—तृतीयाङ्क के विष्कम्भक म प्रयुक्त 'आकाशे' स यह भिन्न प्रकार का है, यह वस्तुत एक प्रकार की आकाशवाणी थी जिसके द्वारा कोई वनदेवी शकुतला के लिये मङ्गलकामना कर रही थी, अभी तक तो पार्थिव चेतनाचेतनात्मक जीवो ने ही उसके लिये सहानुभूति दिखलाई थी पर अब देवजन भी आकाशवाणी के द्वारा उसके लिये शुभकामना कर रहे थे, यात्रा के समय ऐसी आकाशवाणी का होना शुभ सूचक माना जाता है। नाट्यशास्त्र म इस प्रकार के 'आकाशे" का लक्षण है—"दूरस्थाऽऽभाषण यत्स्या दशरीरनिवेदनम्। परोक्षान्तरित वाक्य तदाकाशे निगद्यते"। **छायाद्रुम** छाया प्रधाना द्रुमा तै अत्र शाकपार्थिवादित्वात् समास उत्तरपदलोपश्च, **कुशेशयरजोमृदुरेणु**—कुशे जले शेते इस विग्रह म कुश+शीङ धातु से 'अधिकरणे शेते' से अच प्रत्यय और सप्तमी का अलुक हे। कुशेशय का अथ कमल है 'सहस्रपत्र कमल शतपत्र कुशेशयम् इत्यमर" कुशेशयरजासीव मृदव रेणव यत्र। अथवा कुशेशयरजोभि मृदव रेणव यत्र। प्रस्तुत प्रसग मे यह द्वितीय अथ ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि अभिप्राय यहा यह है कि सम्पूर्ण माग म कमलो से युक्त सरोवर मिले और वायु के द्वारा उडाया गया कमलो का पराग माग की

(कोकिलरवं सूचयित्वा ।)

अनुमतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥ १० ॥

पद लोप मानकर पीता बना कर पुनः नञ समास होगा। **व्यवस्यति**—इस वर्तमान कालिक प्रयोग मे कवि का अभिप्राय यह है कि जब भी वह ऐसा ही करती है। **प्रियमण्डना**—प्रिय मण्डनं यस्या सा मुग्धा होने के कारण यद्यपि उसे पत्रो पुष्पो मे अपने को सजाना अच्छा लगता है। **स्नेहेन**—मेरे आदेशवश नही अपितु वृक्षो पर अपने स्वाभाविक प्रेमवश। **भवताम्**—अत्र सम्बन्धे षष्ठी। **कुसुमप्रसूतिसमये**—कुसुमाना प्रसूतेः समये। प्रस्तुत श्लोक चतुर्थ अक के चार सर्वोत्तम श्लोको मे से एक है। इसमे शकुन्तला का वृक्षो के प्रति और वृक्षो का शकुन्तला के प्रति उदात्त स्नेह वर्णित किया गया है। महर्षिकण्व भी इनके पारस्परिक स्नेह को जानते थे अतएव वे इस समय वृक्षो से भी उसके जाने की स्वीकृति मागते है, बडा ही सजीव एव हृदयस्पर्शी वर्णन है।

(कोयल के शब्द श्रवण का अभिनय करके)

अनुमतेति—अन्वय—इयम् शकुन्तला वनवासबन्धुभिः तरुभिः अनुमतगमना (अस्ति), यथा कलम् परभृतविरुतम् एभिः ईदृशम् प्रतिवचनीकृतम्।

शब्दार्थ—इयम् शकुन्तला—इस शकुन्तला का वनवासबन्धुभिः तरुभिः = तपोवन के बन्धुभूत सहवासी वृक्षो के द्वारा, अनुमतगमना=प्रस्थान की अनुमति दे दी गई है, यथा—क्योकि, कलम्=अस्पष्ट एवं मधुर, परभृतविरुतम्=कोयल की ध्वनि को, एभिः—इन वृक्षो ने, ईदृशम्=इस प्रकार से, प्रतिवचनीकृतम्—अपना प्रत्युत्तर बनाया है।

अनुवाद—इस शकुन्तला को, तपोवन के बन्धुभूत सहवासी वृक्षो के द्वारा प्रस्थान की अनुमति दे दी गई है, क्योकि अस्पष्ट एव मधुर कोयल की ध्वनि को इन्होने इस प्रकार अपना प्रत्युत्तर बनाया है।

भावार्थ—जब काश्यप मुनि तपोवन के वृक्षो से शकुन्तला के प्रस्थान की अनुमति माग रहे थे उसी समय शार्ङ्गरव वृक्षस्थ कोयलध्वनिश्रवण का अभिनय करके कहता है कि तपोवन के सहवासी बन्धुतुल्य इन वृक्षो ने शकुन्तला को पतिगृह जाने की अनुमति दे दी है क्योकि इन्होने मधुर कोयल ध्वनि को अपने प्रत्युत्तर के के रूप मे प्रस्तुत किया है, अर्थात् शार्ङ्गरव काश्यप मुनि से कहता है कि आप जैसा चाहते थे वैसा ही हुआ, वृक्ष स्वय तो नही बोल सकते थे किन्तु इन्होने अपनी डालियो पर बैठे हुये कोयल की ध्वनि से ही आपको उत्तर देते हुये शकुन्तला को जाने की अनुमति दे दी है।

कुशेशयेत्यादि अश मे **उपमालकार**, माग एव पवन के शिवत्व के प्रति अनेक कारणो का उल्लेख होने से, **समुच्चयालकार**, तथा सवत्र **काव्यलिंग** अलकार, श्रुति वृत्ति **अनुप्रास** अलकार योग्य वायु होने से योग्य पथ का सम्बन्ध घोपित होने मे **समालकार** व्यङ्ग्य है। **वसन्ततिलका** छन्द है "ज्ञेया वसन्ततिलकातभजा जगो गा।"

सस्कृत व्याख्या—कमलिनीभि हरितानि त कमलिनीहरितै —पद्मिनीपक्तिहरितायमानै, सरोभि =सरोवरै, रम्य मनोहर अन्तर मध्यभागो यस्य स रम्यान्तर। छायाप्रधाना सघना द्रुमा वृक्षास्तै छायाद्रुमै, सघनछायायुक्ततरुभि नियमित समवरुद्ध अकस्य सूयस्य मयूखाना किरणाना ताप आतपजन्य सन्ताप यस्मिन् स नियमिताकमयूखताप, अस्या —शकुन्तलाया, पन्था =पतिगृहगमन माग कुशे जले शेरते—इति कुशेशयानि कमलानि तेषा रजोभि परागै अथवा रजोभिरिव मृदव कोमला रेणव धूलय यस्मिन् स —कुशेशयरजोमृदुरेणु, शान्त मन्द अनुकूल सुखद पवन वायु यत्र स —शान्तानुकूलपवन च, शिव च,—मङ्गलकर च, भूयात्—भवतु। अत्र चकारद्वयप्रयोगबलेन पथ सवाण्यत्र विशेषणानि वायुपक्षेऽपि सयोज्यानि, तेन प्रथम विशेपणेन वायो सौरभत्वम्, छायाद्रुम सम्बन्धात् तस्य शैत्यम् कमलरेणु सम्पकात् तस्य मान्द्यत्वञ्च प्रकाश्यते, शिवेत्यनेन चोभयपक्षे कल्याणकरत्वञ्च द्योत्यते।

सस्कृत सरलार्थ—काचिद् वनदेवता कथयति यदस्या शकुन्तलाया पतिगृह गमनमाग यश्चास्ति पद्मिनीपक्तिहरितायमानै सरोवरमनोहरान्तकाश, एवञ्च यस्मिन् छायाप्रधानवटादिवृक्षै सूयमरीचितापो निवारितोऽस्ति, कमलपरागतुल्यकोमल धूलिसम्पन्न, मन्दसुखदवायु सम्पन्नश्च कल्याणकरश्च भवतु।

टिप्पणी

आकाशे—तृतीयाङ्क के विष्कम्भक म प्रयुक्त "आकाशे" से यह भिन्न प्रकार का है, यह वस्तुत एक प्रकार की आकाशवाणी थी जिसके द्वारा कोई वनदेवी शकुन्तला के लिये मङ्गलकामना कर रही थी, अभी तक तो पार्थिव चेतनाचेतनात्मक जीवो ने ही उसके लिये सहानुभूति दिखलाई थी पर अब देवजन भी आकाशवाणी के द्वारा उसके लिये शुभकामना कर रह थे, यात्रा के समय ऐसी आकाशवाणी का होना शुभ सूचक माना जाता है। नाटयशास्त्र मे इस प्रकार के 'आकाशे" का लक्षण है—"दूरस्थाऽऽभाषण यत्स्या दशरीरनिवेदनम्। परोक्षान्तरित वाक्य तदाकाशे निगद्यते"। **छायाद्रुम** छाया प्रधाना द्रुमा तै अत्र शाकपार्थिवादित्वात् समास उत्तरपदलोपश्च, **कुशेशयरजोमृदुरेणु**—कुशे जले शेते इस विग्रह मे कुश+शीङ् धातु से 'अधिकरणे शेते' से अच् प्रत्यय और सप्तमी का अलुक् है। कुशेशय का अथ कमल है "सहस्रपत्र कमल शतपत्र कुशेशयम् इत्यमर" कुशेशयरजासीव मृदव रेणव यत्र। अथवा कुशेशयरजोभि मृदव रेणव यत्र। प्रस्तुत प्रसग मे यह द्वितीय अर्थ ही अधिक उपयुक्त है, क्योकि अभिप्राय यहाँ यह है कि सम्पूण माग मे कमलो से युक्त सरोवर मिले और वायु के द्वारा उडाया गया कमलो का पराग माग की

गौतमी—जाते, ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभि । प्रणम भगवती । [जादे, ण्णादिजणमिणिद्धाहि अणुण्णादगमणासि तपोवणदेव्रदाहि । पणम भअवदीण ।]

शकुन्तला—(सप्रणाम परिक्रम्य । जनान्तिकम्) हला प्रियंवदे, आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपद परित्यजन्त्या दु खेन मे चरणौ पुरत प्रवर्तेते । [हला पिअवदे, अज्जउत्तदसणुस्सुआए वि अस्समपद परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति ।]

प्रियवदा—न केवल तपोवनविरहकातरा सख्येव । त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत् समवस्था दृश्यते ।

उद्गलितदर्भकवला मृग्य परित्यक्तनर्तना मयूरा ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता ॥१२॥

[ण केवल तवोवणविरहकादरा सही एव्व । तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ ।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥

धूलि के ऊपर बिछा हुआ हो जिससे धूलि कोमल हो जाय । प्रथम प्रकार के समास से इतना ही अर्थ निकलता कि उसके माग की धूलि कमल परागवत् कोमल हो । **शान्तानुकूलपवन**—शात अनुकूल पवन यस्मिन् स अर्थात् वायुशान्त और अनुकूल बने, छायाद्रुमो से शीतल, शान्तानुकूल से मन्द और कमल पराग से सुगन्धित होकर वायु बहे । इन विशेषणो द्वारा शकुन्तला के लिये मार्गश्रम परिहार, तृषाद्यभाव विश्रान्ति स्थल, कोमल चरणानुपघात आदि की कामना की गई है ।

प्रस्तुत पद्य मे चकारद्वय का प्रयोग अधिक पदता दोष का सूचक है । अत इसके परिहारार्थ शान्तानुकूलश्च य पवन स शिव सुखकर भूयात् तथा पन्थाश्च शिव भूयात् इस प्रकार अर्थ करना पडेगा अर्थात्—पवन भी सुखकर हो और मार्ग भी सुखकर हो, प था के सभी विशेषण वायु के साथ भी लगाये जा सकते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक चतुर्थाङ्क के सर्वश्रेष्ठ चार श्लोको मे से एक है इसमे न केवल पार्थिव चेतना चेतन ने ही मगल कामना की है अपितु इस सम्बन्ध में आकाशचारी देवता भी मगल कामना करते हैं । यद्यपि शकुन्तला का भावी जीवन पथ दुर्गम एव कण्टकाकीर्ण है जिसकी भी ध्वनि वायु के धूसर होने से मिल जाती है तथापि अखिल ब्रह्माण्ड की यह मगलकामना उसके लिये अन्त में कल्याण कारी होगी ।

गौतमी—पुत्री, कुटुम्बीजनो के समान प्रेम करने वाली तपोवन की देवताओं ने तुझे जाने की अनुमति दे दी है । इन देवताओ को प्रणाम करो ।

शकुन्तला—(प्रणाम पूर्वक, चारो ओर घूमकर) (हाथ की ओट में) सखी

काश्यप—(मैं) तुम्हारा उस पर सगी बहिन जैसा स्नेह, जानता हूँ। यह दाहिनी ओर है।

शकुन्तला—(पास जाकर, लता से लिपट कर) बनज्योत्स्ना, आम्र से मिली हुई भी तुम इधर की ओर आई हुइ (अपनी) शाखारूपी भुजाओ से गले मिलो, (क्योकि) आज से में तुम से दूर हो जाऊगी।

काश्यप—

सकल्पितमिति—अन्वय—मया तवार्थे प्रथमम् एव सकल्पितम्, आत्मसदशम् भर्तारम् त्वम् सुकृतै गता, इयम् नवमालिका चूतेन सश्रितवती, सप्रति अहम् अस्याम् त्वयि च वीतचिन्त (अस्मि)

शब्दार्थ—मया = मुझ काश्यप के द्वारा, तवार्थे = तुम्हारे लिये, प्रथमम् एव = पहले ही, सकल्पितम्—जिसका सकल्प किया गया था, आत्मसदशम् = अपने अनुरूप, भर्तारम्—उस पति को, त्वम्—तुम, सुकृतै (अपने) पुण्यो से, गता = प्राप्त हो गई हो, इयम् नवमालिका = यह बनज्योत्स्ना, चूतेन सश्रितवती—आम्र से मिल गई है सप्रति = अब इस समय, अहम्—मै, अस्याम् त्वयि च = इसके विषय मे और और तुम्हारे विषय मे, वीतचिन्त = चिन्ता रहित (अस्मि—हो गया हूँ)

अनुवाद—मैने तुम्हारे लिए पहले ही जिसका सकल्प किया था, अपने अनुरूप पति को तुम (अपने) पुण्यो से प्राप्न हो गई हो, यह बनज्योत्स्ना आम्र से मिल गई है। (अत) अब इस समय मे इसके विषय मे तथा तुम्हारे विषय मे निश्चिन्त (हो गया हूँ)

भावार्थ—शकुन्तला को वनज्योत्स्ना से स्नेहालिङ्गन करते देख कर काश्यप कहते है कि मैने तो तुम्हारे विवाह के लिए पहले जिस पुरुष का सकल्प किया था, उस अपने अनुरूप पति को तुम अपने पुण्यो से ही प्राप्त हो गई हो "गुरो पुनरस्या अनुरूप वरप्रदाने सकल्प" प्रथमाङ्क गत इस कथन के अनुसार स्वय काश्यप मुनि दुष्यन्त से इसका विवाह करना चाहते थे" यह वनज्योत्स्ना लता भी अब अपने अनुरूप पति आम्र वृक्ष से मिल गई है, अर्थात् इसने भी अपने अनुरूप पति को प्राप्त कर लिया है, अत अब मै तुम दोनो के विवाह काय से निश्चिन्त हो गया हूँ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आम्र और नवमालिका पर नायक-नायिका का आरोप होने से **समासोक्ति** अलकार, शकुन्तला और वनज्योत्स्ना दोनो प्रस्तुतो का वीतचिन्त" से सम्बन्ध होने के कारण **तुल्ययोगिता** अलकार, दोनो को अनुरूप पतियो के मिलने के कारण **सम** अलकार, दोनो का पतियो से मिलन 'वीतचिन्त' होने का कारण है, अत **काव्यलिङ्ग** अलकार है। भावध्वनि, प्रसाद गुण और वैदभी रीति का सुन्दर उदाहरण है। मानव और प्रकृति के तादात्म्य को दिखलाया गया है। वसन्त तिलका छन्द है।

गौतमी—जाते, ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभि । प्रणम भगवती । [जादे, णादिजणसिणिद्धाहि अणुण्णादगमणासि तपोवणदेवदाहि । पणम भअवदीण ।]

शकुन्तला—(सप्रणाम परिक्रम्य । जनान्तिकम्) हला प्रियवदे, आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपद परित्यजन्त्या दु खेन मे चरणौ पुरत प्रवर्तेते । [हला पिअवदे, अज्जउत्तदसणुस्सुआए वि अस्समपद परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति ।]

प्रियवदा—न केवल तपोवनविरहकातरा सख्येव । त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत् समवस्था दृश्यते ।

उद्गलितदर्भकवला मृग्य परित्यक्तनर्तना मयूरा ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता ॥१२॥

[ण केवल तवोवणविरहकादरा सही एव्व । तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ ।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥

धूलि के ऊपर बिछा हुआ हो जिससे धूलि कोमल हो जाय । प्रथम प्रकार के समास से इतना ही अथ निकलता कि उसके माग की धूलि कमल परागवत् कोमल हो । **शान्तानुकूलपवन**—शान्त अनुकूल पवन यस्मिन् स अर्थात् वायुशान्त और अनुकूल बने, छायाद्रुमो से शीतल, शान्तानुकूल से मन्द और कमल पराग से सुगन्धित होकर वायु बहे । इन विशेषणो द्वारा शकुन्तला के लिये मागश्रम परिहार, तृषाद्यभाव विश्रान्ति स्थल, कोमल चरणानुपघात आदि की कामना की गई है ।

प्रस्तुत पद्य मे चकारद्वय का प्रयोग अधिक पदता दोष का सूचक है । अत इसके परिहाराथ शान्तानुकूलश्च य पवन स शिव सुखकर भूयात् तथा पन्थाश्च शिव भूयात् इस प्रकार अथ करना पडेगा अर्थात्—पवन भी सुखकर हो और माग भी सुखकर हो, पन्था के सभी विशेषण वायु के साथ भी लगाये जा सकते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक चतुर्थाङ्क के सवश्रेष्ठ चार श्लोको मे से एक है इसमे न केवल पार्थिव चेतना चेतन ने ही मगल कामना की है अपितु इस सम्बन्ध में आकाशचारी देवता भी मगल कामना करते है । यद्यपि शकुन्तला का भावी जीवन पथ दुगम एव कण्टकाकीण है जिसकी भी ध्वनि वायु के धूसर होने से मिल जाती है तथापि अखिल ब्रह्माण्ड की यह मगलकामना उसके लिये अन्त मे कल्याण कारी होगा ।

गौतमी—पुत्री, कुटुम्बीजनो के समान प्रेम करने वाली तपोवन की देवताओ ने तुझे जाने की अनुमति दे दी है । इन देवताओ का प्रणाम करो ।

शकुन्तला—(प्रणाम पूवक, चारो ओर घूमकर) (हाथ की ओट मे) सखी

काश्यप—(मैं) तुम्हारा उस पर सगी बहिन जैसा स्नेह, जानता हूँ। यह दाहिनी ओर है।

शकुन्तला—(पास जाकर, लता से लिपट कर) बनज्योत्स्ना, आम्र से मिली हुई भी तुम इधर की ओर आई हुइ (अपनी) शाखारूपी भुजाओ से गले मिलो, (क्योकि) आज से मै तुम से दूर हो जाऊगी।

काश्यप—

सकल्पितमिति—*अन्वय*—मया तवार्थे प्रथमम् एव सकल्पितम्, आत्मसदशम् भर्तारम् त्वम् सुकृतै गता, इयम् नवमालिका चूतेन सश्रितवनी, सप्रति अहम् अस्याम् त्वयि च वीतचिन्त (अस्मि)

शब्दार्थ—मया=मुझ काश्यप के द्वारा, तवार्थे=तुम्हारे लिये, प्रथमम् एव=पहले ही, सकल्पितम्—जिसका सकल्प किया गया था, आत्मसदृशम्=अपने अनुरूप, भर्तारम्—उस पति को, त्वम्—तुम, सुकृतै (अपने) पुण्यो से, गता=प्राप्त हो गई हो, इयम् नवमालिका=यह बनज्योत्स्ना, चूतेन सश्रितवती—आम्र से मिल गई है सप्रति=अब इस समय, अहम्—मैं, अस्याम् त्वयि च=इसके विषय मे और और तुम्हारे विषय मे, वीतचिन्त=चिन्ता रहित (अस्मि—हो गया हूँ)

अनुवाद—मैंने तुम्हारे लिए पहले ही जिसका सकल्प किया था, अपने अनुरूप पति को तुम (अपने) पुण्यो से प्राप्त हो गई हो, यह बनज्योत्स्ना आम्र से मिल गई है। (अत) अब इस समय मै इसके विषय मे तथा तुम्हारे विषय मे निश्चिन्त (हो गया हूँ)

भावार्थ—शकुन्तला को वनज्योत्स्ना से स्नेहालिङ्गन करते देख कर काश्यप कहते हैं कि मैंने तो तुम्हारे विवाह के लिए पहले जिस पुरुष का सकल्प किया था, उस अपने अनुरूप पति को तुम अपने पुण्यो से ही प्राप्त हो गई हो "गुरो पुनरस्या अनुरूप वरप्रदाने सकल्प" प्रथमाङ्क गत इस कथन के अनुसार स्वय काश्यप मुनि दुष्यन्त से इसका विवाह करना चाहते थे" यह वनज्योत्स्ना लता भी अब अपने अनुरूप पति आम्र वृक्ष से मिल गई है, अर्थात् इसने भी अपने अनुरूप पति को प्राप्त कर लिया है, अत अब मैं तुम दोनो के विवाह कार्य से निश्चिन्त हो गया हूँ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आम्र और नवमालिका पर नायक-नायिका का आरोप होने से **समासोक्ति** अलकार, शकुन्तला और वनज्योत्स्ना दोनो प्रस्तुतो का वीतचिन्त" से सम्बन्ध होने के कारण **तुल्ययोगिता** अलकार, दोनो को अनुरूप पतियो के मिलने के कारण **सम** अलकार, दोनो का पतियो से मिलन 'वीतचिन्त' होने का कारण है, अत **काव्यलिङ्ग** अलकार है। भावध्वनि, प्रसाद गुण और वैदभी रीति का सुन्दर उदाहरण है। मानव और प्रकृति के तादात्म्य को दिखलाया गया है। वसन्त तिलका छन्द है।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) हला, एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेप । [हला, एसा दुवेण वो हत्थे णिक्खेवो ।]

सख्यौ—अय जन कस्य हस्ते समर्पित । [अअ जणो कस्स हत्थे समप्पिदो ।]

सस्कृत व्याख्या—मया-काश्यपेन, तवार्थे—त्वन्निमित्तम् प्रथममेव, (यत्) सकल्पितम्—मनसा विनिर्णीतम्, आत्मसदृशम्—स्वसौन्दयगुणैरनुरूपम्, भर्तारम्—पतिम्, सुकृतै+आत्मकृतपुण्यै, त्वम्—शकुतला, गता—प्राप्ता, इयम्—एषा, नवमालिका—वनज्योत्स्ना, चूतेन+आम्रेण, सश्रितवती—सम्मिलिता, सम्प्रति+इदानीम्, अहम्—कण्व, अस्याम्—वनज्योत्स्नायाम्, त्वयि—शकुन्तलायाम् च, वीत-चिन्त—व्यपगतचिन्त (जात) ।

सस्कृत सरलाथ—शकुन्तलाया वनज्योत्स्नालतालिङगन मवलोक्य तत्स्व मायप्रकृतिप्रेमार्द्रहृदय काश्यपो मुनि कथयति, वत्से, तव पितृस्थानीयेन मया कण्वेन तव विवाहार्थ प्रथममेव मनसा यद् विनिर्णीतम् तदेवेदानी सघटितम्, त्वमात्म-कृतपुण्यै रेवात्मसौन्दयगुणैरनुरूप पति प्राप्तासि, इयञ्च पुरस्थिता तव भगिनी त्वयाकृतनामधेया वनज्योत्स्नेति आत्मानुरूप पति माम्रवृक्ष सम्मिलिता, अतोऽहमिदानी मस्या परिणयविषये तव परिणयविषये च निश्चिन्तो जात ।

टिप्पणी

आमन्त्रयिष्ये—आ+मन्त्र् णिच् लृट् । विदाई लूगी । **अवैमि**—अव+आ+इण् गतौ लट्—जानता हूँ । **सोदर्यास्नेहम्**—समाने उदरे शयितेत्यर्थे (सोदराद्य) इति यप्रत्यये 'विभाषोदरे' इति समानस्य सादेशे सोदर्या समोनोदर्या वा, सोदर्याया स्नेहस्तम्, **शाखावाहाभि**—शाखा रूपी बाहुओ से, "वाहा तु वाहौ स्यात्" वाहा का अथ वाहु है । **प्रत्यालिङ्ग**—प्रति+आ+लिगि—लोट् । **तवार्थे**—'अर्थे' लिये अथ मे अव्यय है, तव निमित्तमित्यथ । **सश्रितवती**—सम्+श्रि+क्त (भावे)+सश्रितम् तदस्या अस्ति, इत्यर्थे मतुप ङीप सश्रितवती, क्तवतु प्रत्ययान्त मानने पर धातु के सकमक होने से चूत सश्रितवती होगा, चूतेन नही अत मतुप् करना ही ठीक है । **अस्याम त्वयि च**—यहाँ विद्वानो की दृष्टि मे प्रक्रम भग दोष है, शकुन्तला का प्रथम दो पक्तियो मे उपादान करके भी यहा अस्याम् को पहले रखा गया, किन्तु यहाँ यह दोष नही होगा, क्योकि काश्यप मुनि मानव की अपेक्षा प्रकृति को ही अधिक प्राधान्य देते हैं, वे सवत्र शकुन्तला के लिए प्रकृति से ही सहानुभूति माँगते है मानव से नही, उन्हे मानव से बढकर प्रकृति से प्रेम है, लता के विवाह की अर्थात् आश्रय की उन्हे शकुन्तला से भी अधिक चिन्ता थी और उस पर प्रेम था इसीलिए उन्होंने उसका प्रथम प्रयोग किया है, कवि का यहाँ यही आशय है। **वीतचिन्त**—वीता व्यपगतो चिन्ता यस्य स—वि+इण् गतौ क्त—टाप् । **इत इति**—अब इधर से मार्ग पर चलो । ●

शकुन्तला—(दोनो सखियो से) सखियो, इस (लता) को तुम दोनो के हाथ मे धरोहर के रूप मे (रख रही हूँ)

(इति बाष्प विहरत ।)

काश्यप —अनसूये अल रुदित्वा । ननु भवतीभ्या मेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला । (सर्वे परिक्रामन्ति ।)

शकुन्तला—तात, एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽन-घप्रसवा भवति, तदा मह्य कमपि प्रियनिवेदयितृक विसर्जयिष्यथ । [ताद, एसा उडअपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा मअवहू जदा अणघप्पसवा होई, तदा मे कपि पिअणिवेदइत्तअ विसज्जइस्सह ।]

काश्यप —नेद विस्मरिष्याम ।

शकुन्तला—(गतिभङ्ग रूपयित्वा) को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते । [को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ ।

(इति परावर्तते) ।

दोनों सखियाँ—अय जन अर्थात् हम दोनो को किसके साथ मे छोड दिया है ।

(यह कह कर आँसू बहाती हैं)

काश्यप—अनुसूया, (तुम लोग) मत रोओ, क्योकि तुम दोनो को ही तो शकुन्तला को धैय बँधाना है ।

(सब चारो ओर घूमते हैं)

शकुन्तला—हे तात, पर्णशाला के समीप विचरण करने वाली गभ (भार) से मन्दगति वाली यह हरिणी जब सुख से प्रसव करे तब (इस) शुभ समाचार को कहने वाले किसी व्यक्ति को मेरे पास भेज देना ।

काश्यप—हम इसे नही भूलेंगे ।

शकुन्तला—(चाल मे अवरोध का अभिनय करके) यह कौन मेरे वस्त्र को खींच रहा है ।

(यह कह कर पीछे मुडती है)

टिप्पणी

निक्षेप —न्यास या धरोहर । **बाष्प विहरत** =आँसू डालना यह एक मुहावरा है । **अल रुदित्वा**—रुद् धातु से अल के योग मे निषेधाथ मे 'अलखल्वो' से क्त्वा प्रत्यय । **स्थिरीकर्तव्या**—स्थिर—च्वि । **उटजपय-तचारिणी**—उटजपयन्त+चर धातु से ताच्छील्ये णिनि ङीप् । **अनघप्रसवा**—अनघ प्रसव यस्या सा । विपत्ति रहित प्रसव वाली अर्थात् जब बिना किसी कष्ट के इसके सन्तानोत्पत्ति हो । अघ का अथ दु ख भी होता है "दु खेनोव्यसनेष्वघम् ।" कच्चिन् मृगीणा मनघा प्रसूति रघुवश । **प्रियनिवेदयितृकम्**—प्रिय+नि+विद्+णिच्+तृच् । **सज्जते**—सञ्ज्+लट् ।

काश्यप—वत्से,

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

काश्यप—हे पुत्री,

यस्येति अन्वय—यस्य कुशसूचिविद्धे मुखे त्वया व्रणविरोपणम् इङ्गुदीनाम् तैलम् न्यषिच्यत, स अयम् श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितक पुत्रकृतक मृग ते पदवीम् न जहाति ।

शब्दार्थ—यस्य=जिसके, कुशसूचिविद्धे=कुशो के (नुकीले) अग्रभाग से विंधे हुए, मुखे=मुख मे, व्रणविरोपणम्=घावो को भरने वाले, इङ्गुदीनाम्—इङ्गुदी (हिंगोट) नामक वन्य फलो का, तैलम्—तेल, त्वया=तुमने न्यषिच्यत=लगाया था । स अयम्=वह यह, श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितक=श्यामाक (सावा या वन्य धान्य) की मुटि्ठयो से पाला गया (और) पुत्र कृतक=पुत्र तुल्य माना गया, मृग—मृग, ते पदवी न जहाति=तेरे मार्ग को नही छोड रहा है ।

अनुवाद—कुशो के अग्रभाग से विंधे हुए जिसके मुख मे तुमने घावो के भरने वाले हिंगोट फलो के तेल को लगाया था, वह यह, श्यामाक धान्य की मुटि्टयो से पाला गया तथा पुत्रवत् माना गया मृग तुम्हारे मार्ग को नही छोड रहा है ।

भावार्थ—शकुन्तला के यह पूछने पर कि कौन मेरे वस्त्र को खीच रहा है, काश्यप मुनि कहते है कि यह तुम्हारा पुत्रवत् माना गया वही मृग तुम्हारे मार्ग को अब नही छोड रहा हैं और तुम्हारे वस्त्र को खीच कर तुम्हे वापस लौटाना चाहता है, जिसके कुशाग्रभाग से छिदे हुए मुख पर तुम घाव भरने वाले हिंगोट के तेल को लगाया करती थी तथा जिसे तुमने श्यामाक धान्य की मुटि्ठयो से पाला था, अब उसी मातृ प्रेम के कारण यह तुम्हे नही छोड रहा है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे मृगस्वभाव का वर्णन होने से **स्वभावोक्ति** अलकार है और **वसन्ततिलका**—छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—यस्य-मृगस्य, कुशानाम् दर्भाणाम् सूचिभि तीक्ष्णाग्रभागै विद्धे क्षते-कुशसूचिविद्धे, मुखे-आनने, त्वया-शकुन्तलया, व्रणाना क्षताना विरोपण विशोषकम्-व्रणविरोपणम्, इङ्गुदीनाम् इङ्गुदीत्याख्याताना तापसतरू-फलानाम्, तैलम्-स्नेह, न्यषिच्यत-निषिक्तम् । स अयम्=स एष, श्यामाकाना वन्यधान्याना मुष्टिभि मुष्टिपरमितधान्यै परिवर्धितक परिपोषित—श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितक, पुत्र कृतक—पुत्रवत् स्वीकृत, मृग—हरिण, ते शकुन्तलाया पदवीम्-मार्गम्, न जहाति-न त्यजति ।

शकुन्तला—वत्स, किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि । अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव । इदानीमपि मया विरहित त्वां तातश्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व तावत् । [वच्छ, कि सहवासपरिच्चाइणि म अणुसरसि । अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व । दाणि पि मए विरहिद तुम तादो चिन्तइस्सदि । णिवत्तेहि दाव ।]

(इति रुदती प्रथिस्ता) ।

काश्यप—

उत्पक्ष्मणो नयनयोरुपरुद्धवृत्ति
बाष्प कुरु स्थिरतया विरतानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥१५॥

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलया पृष्ट काश्यपो मुनि कथयति यदय स एव मृगस्तव मार्ग न परित्यजति अपि तु तव निवसने सज्जते, यस्य कुशतीक्ष्णाग्रभाग क्षते मुखे त्वया क्षतविशोषकम् इङ्गुदीत्याख्याततापसतरुफलाना तैल निषिक्तम्, यञ्च त्व श्यामाकधान्यमुष्टिभि परिपालितवती, यश्च तव पुत्रकृतकोऽस्ति ।

टिप्पणी

व्रणविरोपणम्—व्रणानाम् विरोपणम्, वि+रुह् धातो णिच् तत करणे ल्युट "णिचि कृते धातो हकारस्य "रुह पोऽन्यतरस्यामिति पकारादेश विकल्पत अत विरोपणम् अथवा विरोहणम् विरोपयति अथवा विरोहयति रूप होने हैं । **न्यषिच्यत** नि+सिच् कर्मवाच्ये लङ् 'प्राङ् सितादिति षत्वम् । **कुशसूचिविद्धे** कुशाना सूचिभि विद्धे-व्यध् ताडने क्त, सम्प्रसारणविधिना यकारस्येकारे। परिवर्धितक —परि+वध् +णिच्+क्त तदनु अनु कम्पार्थे क प्रत्यय । **पुत्रकृतक** —कृतक पुत्र पुत्रकृतक मयूर-व्यसकादित्वात् समासे पुत्र शब्दस्य पूर्वप्रयोगे पुत्रकृतक अथवा पुत्र कृत **पुत्रकृत** सुप्सुपेति समास तत स्वार्थे कन् पुत्रकृतक । **जहाति**—ओहाक् त्यागे लट्, **पदवीम्**—मार्ग—अयनवर्त्म मार्गाध्वपन्थान पदवी सृति" ।

शकुन्तला—पुत्र, सहवास को छोड देने वाली मेरा (तुम) क्यो अनुगमन कर रहे हो ?, जन्म देने के बाद शीघ्र ही मृत माता के बिना (तुम) पालित ही किये गये हो, अब भी मुझ से वियुक्त हुये तुम्हारी पिता जी देख भाल करेंगे । अत लौट जाओ ।

(रोती हुई प्रस्थान करती है)

काश्यप—

उत्पक्ष्मणोरिति अन्वय—उत्पक्ष्मणो नयनयो उपरुद्धवृत्ति बाष्पम् स्थिरतया विरतानुबन्धम् कुरु। अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे अस्मिन् मार्गे ते पदानि खलु विषमी भवन्ति ।

शब्दार्थ—उत्पक्ष्मणो —ऊपर उठी हुई विरौनियो (नेत्र लोम) वाले (पक्ष्म =नेत्र पलको के वाल (नेत्र लाम) अथवा विरौनी) नयनयो —नेत्रो की, उपरुद्ध-वृत्तिम् =देखने की शक्ति को रोकने वाले, वाष्पम्—आसू को, स्थिरतया=धैय से, विरतानुवन्धम्=प्रवाहरहित, कुरु=करो, अर्थात् आसुओ को बार बार बहने से रोक लो। (क्योकि) अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे=न दखी हुई ऊँची-नीची भूमि भाग वाले, अस्मिन् मार्गे—इस माग पर, ते पदानि—तुम्हारे चरण, खलु=वस्तुत, विषमीभवति=लडखडा रहे है।

अनुवाद—उठी हुई विरौनियो (नेत्र लोम) वाले नेत्रो की देखने की शक्ति का रोकने वाले आसू को धैय से प्रवाह रहित करो, क्योकि न देखी हुई ऊची-नीची भूमि वाले इस माग पर तुम्हारे चरण वस्तुत लडखडा रहे हैं।

भावार्थ—शकुन्तला को रोती हुई प्रस्थान करते देखकर काश्यप मुनि उससे कहते है कि पतिगृहगमनकाल मे यद्यपि अमङ्गल वारणार्थ तुमने अश्रुपतन को रोकने के लिये अपने नेत्र लोमो को ऊपर उठा लिया है जिससे कि अश्रुपतन न हो किन्तु फिर भी लगातार रोने के कारण जो आसू आ जाते है उनसे तुम्हारी माग देखने की शक्ति रुक जाती है, अत धीरज धारण कर इन लगातार बहने वाले आसुओं को रोको, केवल अमगलवारणाथ नेत्र लोमो का ऊपर उठाना ही पर्याप्त नही हैं। क्योकि जिस माग पर तुम चल रही हो, यह ऊचा नीचा है और तुमने इसके पहले कभी इसे देखा भी नही है, अतएव इस पर चलते हुये तुम्हारे पैर लडखडा रहे हैं।

अथवा 'अलक्षितनतोन्नत भूमिभागे' यह पद शकुन्तला के लिये सम्बोधन है, जिससे तात्पय यह होगा कि यह प्रेम माग जिस पर तुम चल रही हो, बहुत ही ऊँचा-नीचा है और तुमने कभी इसका अनुभव भी नही किया है, अतएव तुम्हारे पैर लडखडा रहे है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आसू रोकने मे स्थिरता कारण है अत पदगत **काव्यलिङ्ग** अलकार, उत्तरार्ध मे आसू रोकने का कारण बतलाया गया है अत वाक्यगत **काव्यलिङ्ग**, अलकार। बसन्ततिलका छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—उद्गतानि पक्ष्माणि नेत्रलोमानि ययोस्तयो —उत्पक्ष्मणो, नयनयो —नेत्रयो, उपरुद्धा प्रतिहता वत्ति दर्शनव्यापारो येन तम्—उपरुद्धवृत्तिम्, वाष्पम—अश्रुजलम्, स्थिरतया=धैर्येण, विरतानुवन्धम्—विरत —विहत निवृत्तो वा अनुवन्ध प्रवाह यस्य, विहताश्रुतप्रवाहम्, कुरु —विधेहि (यत) न लक्षित अलक्षित अदृष्ट नत निम्न उन्नत उत्थित च भूमे भाग भूप्रदेश यस्मिन् तस्मिन्—अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे, अस्मिन् मार्गे—एतस्मिन् पथि, ते—तव, पदानि—चरणविन्यासा, विषमीभवन्ति, नतोन्नता भवन्ति स्खलन्ति वा।

सस्कृत सरलार्थ—रोदनपरा प्रस्थिता शकुन्तला मवलोक्य काश्यपो मुनिस्ता कथयति, वत्से! उद्गतपक्ष्मणो स्वनेत्रयो समवरुद्धदशनव्यापार बाष्प त्व धैर्य

शाङ्‌र्गरव —भगवन्, ओदकान्त स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिद सरस्तीरम्। अत्र सदिश्य प्रतिगन्तुमर्हति।

काश्यप —तेन हीमा क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयाम।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिता।)

काश्यप —(आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभि सदेष्टव्यम्।

(इति चिन्तयति)।

शकुन्तला— (जनान्तिकम्) हला, पश्य। नलिनी-पत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति, दुष्करमह करोमि। [हला, पेक्ख। णलिणीपत्तन्तरिद वि सहअर अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडदि, दुक्कर अह करेमि त्ति।]

अनुसूया—सखि, मैव मन्त्रयस्व।

एषापि प्रियेण बिना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदु खमाशाबन्ध साहयति ॥१६॥

मवलम्ब्य विरतप्रवाह विधेहि यतोहि अदृष्टनिम्नोन्नतभूप्रदेशेऽस्मिन् पथि तव चरणविन्यासा स्खलन्ति।

टिप्पणी

सहवासपरित्यागिनीम्—सहवास परित्यजती त्यर्थे सहवास+परि+त्यज धातो साधुकारिण्यर्थे 'सम्पचानु० इत्यादिना धिनुण (इन्) प्रत्यय तदनु ङीष्। **सहवास**—सहवास इत्यत्र सुप्सुपेति समास, वास इत्यत्र वस् धातो घञ प्रत्यय। **अचिरप्रसूतया**—अचिर प्रसूता तया—कमधारय **चिन्तयिष्यति**—चिती सज्ञाने णिच लृट्। **निवर्तस्व**—नि+वृत्+लोट। **उपरुद्धवृत्तिम्**—उपरुद्धा वृत्ति येन। उप+रुध क्त, वृत्+क्तिन्—वृत्ति अर्थात् दर्शनव्यापार। **विरतानुबन्धम्** विरत अनुबन्ध यस्य तम्। वि+रम्+क्त=विरत। विहतानुवन्धम्' यह भी पाठ है पर अथ मे कोई अन्तर नही है। **विषमीभवन्ति**—विषम+च्वि भूधातुयोगे। महर्षिकण्व निपतन्ति न कह कर यात्राकालीन अमगल वारणाथ विषभी भवन्ति कहते हैं, निपतन्ति कहने पर शकुन्तला को भी अमगल की शका होती, अत विषमी भवन्ति ही कहा है। **नयनयो** वाष्प नयन के बिना नही हो सकते अत अविनाभाव सम्बन्ध से नयन पद तो आक्षिप्त हो ही जाता पुन नयन पद प्रयोग से अथगत पौनरुक्त्य दोष की यहाँ आशका न होनी चाहिये क्योकि 'उत्पक्ष्मणो इस विशेषण के लिये यहाँ नयन पद का उपादान किया गया है।

शाङ्‌र्गरव—भगवन्, प्रियजन का जल के किनारे तक अनुगमन करना चाहिये, ऐसा सुना जाता है, तो यह सरोवर का तट है। यहाँ पर (हमे अपना) सन्देश देकर लौट जाना उचित है।

[सहि, मा एव मन्तेहि]
एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणि विमाअदीहअर गरुअ पि विरहदुक्ख आसाबन्धो सहावेदि ।।]

काश्यप—तो (हम) इस पीपल वक्ष की छाया म बैठते है।

(सब लोग चारो ओर घूम कर स्थित हो जाते हैं)

काश्यप—(मन ही मन) हमे माननीय दुष्यन्त को क्या उचित सन्देश देना चाहिये।

(इस प्रकार सोचने लगते है)

शकुन्तला—(हाथ की ओट करके) सखी, (इधर) देखो, कमलिनी के पत्ते की ओट म स्थित भी (अपने) सहचर (चकवा) को न देखती हुई, व्यथित यह चक्रवाकी चिल्ला रही है। (पर) मैं बडा दुष्कर काय कर रही हूँ अर्थात् जब यह चक्रवाकी, कमलिनी पत्र मात्र के व्यवधान होने पर भी अपने सहचर के लिये व्यथित होकर चिल्लाती है, तब मै तो चिरविरहित हाकर भी अब तक जी रही हूँ, वास्तव मे यह मेरा बडा दुष्कर काम है।

अनसूया—सखी, ऐसा न कहो।

एषेति—**अन्वय**—एषा अपि प्रियेण बिना विषाददीघतरा रजनीम् गमयति। आशाबन्ध गुरु, अपि विरहदुखम् साहयति।

शब्दार्थ—एषा अपि=यह चक्रवाकी भी, प्रियेण विना—अपने प्रिय सहचर के बिना, विषाददीघतराम्=विरह दुख के कारण अधिक लम्बी प्रतीत होने वाली। रजनीम्=रात्रि को, गमयति=व्यतीत करती है। आशावन्ध—पुनर्मिलन की आशा का बन्धन, गुरु अपि=असह्य भी, विरहदुखम्=विरह के दुख को, साहयति=सहन करा देता है।

अनुवाद—यह चक्रवाकी भी अपने प्रिय सहचर के बिना, (विरह) दुख के कारण अधिक लम्बी (प्रतीत होने वाली) रात्रि को व्यतीत कर देती है। (पुनर्मिलन की) आशा का बन्धन असह्य भी दुख को सहन करा देता है।

भावाथ—अनुसूया शकुन्तला से कहती है कि तुम ऐसा मत सोचो, यह चक्रवाकी भी तो अपने प्रिय सहचर स वियुक्त होकर उस सम्पूण रात्रि को अकेले ही व्यतीत कर देती है जो कि विरहवश बडी लम्बी प्रतीत होती है। वस्तुत पुनर्मिलन की आशा का बन्धन असह्य भी विरह दुख को सहन करने की शक्ति देता है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे विशेषाथ के द्वारा सामान्याथ का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलकार, आशाबन्ध मे रूपक अलकार, तथा आर्याजाति है।

सस्कृत व्याख्या—एषा—इय चक्रवाकी अपि, प्रियेण विना—स्वप्रियेण चक्रवाकेन विना, विषादेन विरहजन्येन दुखेन दीघतरा अधिक दीघत्वेन प्रतीयमाना ताम्—विषाददीघतराम्, रजनीम्=रात्रिम्, गमयति—यापयति। (यत) आशाया

काश्यप—शाङ्गरव, इति त्वया मद्वचनात् स राजा शकुन्तला पुरस्कृत्य वक्तव्य ।

शाङ्गरव—आज्ञापयतु भवान् ।

काश्यप—

अस्मान् साधु विचिन्त्य सयमधनानुच्चै कुल चात्मन-
स्त्वय्यस्या कथमप्यबान्धवकृता स्नेहप्रवृत्ति च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमिय दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमत पर न खलु तद् वाच्य वधूवन्धुभि ॥१७॥

पुर्नमिलनाशाया वन्ध वन्धनम्=आशावन्ध, गुरु—असह्यम् अपि, विरहदुखम्—विरहपीडाम्, साहयति—सहनयोग्य विदधाति ।

सस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलोदाहृत दुष्करमह करोमीति वचन माकर्ण्य अनसूया कथयति, सखि मैव मन्त्रयस्व, यत इय चक्रवाकी अपि स्वप्रियेण सहचरेण चक्रवाकेन विना रात्रिकालीनविरहदुखेनाधिकदीर्घत्वेन प्रतीयमाना रात्रिं यापयत्येव, यत पुर्नमिलनाशाबन्धन मसह्यमपि वियोगदुख सहनयोग्य विदधाति, अतस्त्वयापि पुर्नमिलनाशया विरहपीडेय सोढव्या ।

टिप्पणी

ओदकान्तम्—उदकस्य अन्त उदकान्त आ उदकान्तात् इति ओदकान्तम् 'आङ् मर्यादाभिविध्यो' इति अव्ययी भाव समासाभावे ओदकान्तात् आङ्त्वादत्र न प्रगृह्य सज्ञा अतो नात्र सन्धिनिषेध, क्वचित् उदकान्तमित्यपि पाठ । यहा धर्म का प्रतिरूप शाङ्गरव इस धर्म वचन की ओर सकेत करता हुआ कह रहा है "ओद कान्त प्रिय प्रोथ मनुव्रजेत्" याज्ञयवल्क्य अथवा "अतिथि श्रोत्रिय तृप्त मासीमान्त मनुव्रजेत्" प्रियजन को विदा करने के लिए वहाँ तक उसके पीछे जाना चाहिए जहाँ तक नदी जलाशय आदि न मिले ऐसी ही परम्परागत बात प्रचलित है अत अब सरोवर का तट मिल गया है आप लौट जाइये । **सदिश्य**—सम्+दिश्+क्त्वा—ल्यप्, **क्षीरवृक्ष**—दूधवाल वक्ष पीपल वट आदि वृक्ष क्षीर वृक्ष कहा जाता है । **युक्तरूपम्**—अति उचित अत्र प्रशसार्थे रूपप् प्रत्यय । **रजनीम् गमयति** अत्र गतिबुद्धि-इत्यादिना द्वितीया "**आशाबन्ध** पुर्नमिलन की आशा का बन्धन कठोर यातनाओ को को भी सहने की शक्ति देता है । इसी भाव की अन्य सूक्तियाँ भी द्रष्टव्य है "आशाबन्ध कुसुमसदृश प्रायशो ह्यङ्गनाना सद्य पाति प्रणयि हृदय विप्रयोगे रुणद्धि, मेधदूत । शक्य खल्वाशाबन्धेनात्मान धारयितुम्' विक्रमोवशीय ।

शाङ्ग रव—आप आज्ञा दीजिये ।

काश्यप—

अस्मानिति अन्वय—सयमधनान् अस्मान्, आत्मन उच्चै कुल च, त्वयि अस्या कथमपि अबान्धवकृता ता स्नेहप्रवृत्तिञ्च साधु विचिन्त्य, त्वया इयम् दारेषु सामान्यप्रतिपत्तिपूवकम् दृश्या । अत पर भाग्यायत्तम्, तत् खलु वधूबन्धुभि न वाच्यम् ।

शब्दाथ—सयमधनान—इन्द्रियनिग्रहरूपी धन वाले, अस्मान्=हम लोगो का, आत्मन उच्चै कुल च=और अपने उच्च वश का, त्वयि=तुम पर अस्या= इस शकुन्तला के, कथमपि—किसी अज्ञान कारणवश हुए, अवान्धवकृताम्=बन्धुजनो द्वारा न किये गये, ताम्—उस स्वाभाविक, स्नेह प्रवत्तिम्=प्रणय प्रवाह का, **साधु विचिन्त्य**—भली-भाति विचार करके, त्वया, तुम्हारे दुष्यन्त के द्वारा, इयम्—यह शकुन्तला, दारेषु=अपनी अन्य रानियो मे, सामान्यप्रतिपत्तिपूवकम्=सबके समान आदरपूवक, दृश्या=देखी जानी चाहिए । अत पर भाग्यायत्तम्=इसके आगे (सब) भाग्याधीन (है) तद् वधूवन्धुभि =उसे वधू के सम्बन्धियो द्वारा, न वाच्यम्= न कहा जाना चाहिए ।

अनुवाद—इन्द्रियनिग्रहरूपी धन वाले हम लोगो का और अपने उच्च वश का, तथा तुम पर इस शकुन्तला के किसी अज्ञात कारणवश हुए, बन्धुजनो द्वारा न किये गये उस स्वाभाविक प्रणय प्रवाह का भली-भाँति विचार करके, तुम्हारे द्वारा यह शकुन्तला, अपनी अन्य रानियो के बीच, सबके समान आदरभाव पूवक देखी जानी चाहिए, इसके आगे (सब कुछ) भाग्याधीन (है) वह वधू के सम्बन्धियो द्वारा न कहा जाना चाहिए ।

भावाथ—राजा दुष्यन्त को सन्देश देते हुए काश्यप मुनि कहते है, कि शाङ्ग रव, तुम मेरी ओर से राजा से यह कहना कि हम लोग केवल सयमधनी है अर्थात् इन्द्रियनिग्रह साधना के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ नही है, यौतुकदान के लिए तो हमारे पास सम्पत्ति नही है पर हम लोग निग्रहानुग्रह समर्थ अवश्य है, तुम्हे इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और तुम्हे स्वय अपने उच्च एव गौरव-शाली पुरुवश की मर्यादा का भी ध्यान होना चाहिए जिसमे किसी निरपराध व्यक्ति के दण्ड अपमान आदि की सम्भावना नही होती । इसके अतिरिक्त तुम्हे शकुन्तला के उस अज्ञात कारण जन्य स्वाभाविक प्रणय प्रवाह का भी ध्यान होना चाहिए जो कि वधू के सम्बन्धियो द्वारा नही कराया गया था अपितु शकुन्तला का तुम पर अकृत्रिम प्रेम था । इन सभी बातो पर सम्यक विचार कर तुम्हे इस शकुन्तला को अपनी परिगृहीत तथा परिगृह्यमाण अन्य रानियो के बीच समान आदर भाव से देखना चाहिए । इसके आगे जो कुछ इसके भाग्य मे होगा वह घटित होगा, उसे इस समय हम लोगो के द्वारा कहने की आवश्यकता नही है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'माम्' न कहकर सयमधनान् अस्मान् कहा गया है, अत विशेष के लिए सामान्य का प्रयोग होने से **अप्रस्तुत प्रशसा** अलकार, "विचिन्त्य" इस एक क्रिया के साथ अस्मान् आदि तीन कर्मों का सम्ब ध होने से, '**तुल्ययोगिता** अलकार, 'न खलु तद् वाच्य वधूबन्धुभि' इस पदाथ के प्रति 'भाग्यायत्तम्' यह पदाथ **कारण है** अत पदार्थहेतुक **काव्यलिङ्ग** अलकार, श्रुति वृत्ति **अनुप्रास** अलकार तथा **शार्दूलविक्रीडित** नामक छ द है।

सस्कृत व्याख्या—सयम इन्द्रियनिग्रह एव धन येषान्ते तान् सयमधनान् **अस्मान्**—तपस्विन , आत्मन =स्वस्य, उच्चै =गौरवशालि, कुल—वशम् च, त्वयि= **त्वद्विषये**, अस्या —शकुन्तलाया , कथमपि=केनाप्यज्ञातकारणेन, अबान्धवकृताम्— ब धुजन प्रयत्नेन विनैव घटिताम्, ताम्—अकृत्रिमाम् स्नेहप्रवृत्तिम्=प्रणय प्रवाहो- त्पत्तिम् च, साधु=सम्यक, विचिन्त्य=विचाय,त्वया—नृपेण दुष्यन्तेन, इयम्— शकुन्तला, दारेषु—भार्यासु परिगृहीतासु परिगृह्यमाणासु वा पत्नीषु सामान्या साधारणा समानरूपा वा प्रतिपत्ति समादर तत्पूर्वकम्—सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्, **दृश्या**—दर्शनीया, अत परम्=इतोऽधिकम भाग्यायत्तम्—दैवाधीनम्, तत् खलु— **निश्चयेन**, वधूबन्धुभि —कन्यासम्बन्धिभिरस्माभि , न वाच्यम्—न कथनीयम्।

सस्कृत सरलार्थ—राजान दुष्यन्त सदिशन् काश्यपो मुनि कथयति—वयमत्रत्या- **स्तपस्विन** केवल**मिन्द्रियनिग्रहसाधनपरा** स्म, नास्माक यौतुकरूपेण देय लौकिक **सत्कारार्ह** सम्पदादिक विद्यते, पर वय तपसोबलेननिग्रहानुग्रहक्षमा स्म, इत्येतदस्मद् **विषये सम्यग्विनिर्णीय**, स्वकीयस्य च पौरव, गौरवशालि अथ चौचित्यानौचित्यविवेक- **शालि कुल** मनुचिन्त्य, एवञ्च त्वद्विषयेऽस्या शकुन्तलाया केनचिदप्यज्ञातकारणेन **समुद्भूता** तामकृत्रिमा कन्यासम्बन्धिना मस्माक प्रयत्नेन विनैव सघटिता प्रणयप्रवाहो- **त्पत्तिञ्च सम्यग्विचाय**, त्वयेय शकुन्तला परिगृहीतासु परिगृह्यमाणासु वा भार्यासु समानरूपादरभावनयावलोकनीया, वनवासिनीय लौकिकैश्वयसाधनपरिवर्जितेयमिति कृत्वा नापेक्षणीया, इतोऽधिक यत्किमपि भावि तत्सव दैवाधीनमस्ति, न तदथ- **मस्माभि** किमपि चिन्तनीय नापि कथनीयम्।

टिप्पणी

सववचनात्—अत्र ल्यब्लोपे कमणि पञ्चमी। **पुरस्कृत्य**—पुरस्+कृ+क्त्वा— ल्यप्। **सयमधनान्**—सम्+यम्+अच् हम लोग सयमी एव निग्रहानुग्रह समथ तपस्वी **हैं** अत तुम्हे कोई ऐसा व्यवहार न करना चाहिए जिससे हम लोगो का अपमान हो। तपस्वियो के पास अनुग्रह के अतिरिक्त और होता ही क्या है, जो वे दे सके, पर अपमानित होने पर उनमे शापादिनिग्रह की भी क्षमता होती है, और वे अपराध को भी क्षमा कर सकते है क्योकि वे सयमधन होते है। वस्तुत कण्व का यह कथन **बडा** गम्भीर एव चातुयपूण है और राजा के लिए एक गम्भीर चेतावनी है। **अबान्धवकृताम्**—न बान्धवै कृताम्—ब धुजनो द्वारा न कराया गया। गान्धवविवाह परस्परानुराग से ही **सम्पन्न** होता है, **बन्धुजनो का इसमे हाथ नही होता। स्नेह**

शार्ङ्गरव —गृहीत सन्देश ।

काश्यप —वत्से, त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शार्ङ्गरव —न खलु धीमता कश्चिदविषयो नाम ।

काश्यप —सा त्वमित पतिकुल प्राप्य—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीप गम ।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामा कुलस्याधय ॥१८॥
कथ वा गौतमी मन्यते ?

प्रवृत्तिम्—शकुन्तला का दुष्यन्त पर स्वाभाविक प्रणय प्रवाह था। **सामान्यप्रतिपत्ति पूर्वकम**—सामन्या तुल्यरूपा प्रतिपत्ति गौरवम् सामान्यप्रतिपत्ति सा पूर्वा यस्मिन् तत्। पत्नी जैसा साधारण एव समान व्यवहार। **भाग्यायत्तम्**—भाग्ये आयत्तम्—आ+यत्+क्त। **वधूबन्धुभि**—वध्वा वन्धव तै । यद्यपि महर्षि कण्व स्नेहवश अपनी कन्या के लिए भावी सुख और शान्ति की आकाक्षा रखते हैं उसके लिये उच्चपदवी की भी उनके मन मे इच्छा है पर वे इसे यहाँ व्यक्त नही करते और इसे भाग्य पर छोड देते हैं। त्रिकालदर्शी महर्षि के सामने शकुन्तला के भावी जीवन का चित्र है, अत वे अधिक कुछ नही कहना चाहते, वे जानते हैं कि आगे क्या होना है, उन्होने अपने वरदान और आशीर्वादो मे ही उसे सब कुछ दे दिया है अत वे दुष्यन्त से उसके लिए कुछ भी याचना नही करना चाहते, जैसा कि लौकिकजन करते है।

चतुर्थाङ्क के चार प्रसिद्ध श्लोको मे से यह एक श्लोक भी है। महर्षि कण्व का दुष्यन्त के लिए यह सन्देश विनम्र होता हुआ भी गम्भीर भावो से एव चातुर्य से पूर्ण है, मर्यादित है और महनीय भी। वस्तुत यह श्लोक भारतीय सस्कृति पर आधारित पति पत्नी की पारस्परिक आचार साधना का अच्छा निदर्शन है।

शार्ङ्गरव—(आपका) सन्देश (मैंने) ठीक समझ लिया है।

काश्यप—पुत्री, अब तुम्हे (भी कुछ) शिक्षा देनी है। वनवासी होते हुये भी हम लोग लोक व्यवहारो को जानते है।

शार्ङ्गरव—वस्तुत विद्वानो के लिए कोई बात अज्ञात नही होती।

काश्यप—वह तुम यहा से पतिगृह मे पहुँच कर—

शुश्रूषस्वेति—गुरून् शुश्रूषस्व, सपत्नीजने प्रियसखीवृत्तिम् कुरु, विप्रकृता अपि रोषणतया भर्तु प्रतीपमा स्म गम । परिजने भूयिष्ठ दक्षिणा भव, भाग्येषु अनुत्सेकिनी (भव) एव युवतय गृहिणीपदम् यान्ति वामा कुलस्य आधय (भवन्ति)।

शब्दार्थ—गुरून्=गुरुजनो की, शुश्रूषस्व=सेवा करना, सपत्नीजने प्रियसखीवृत्ति कुरु=सपत्नीजनो (सौतो) पर प्रियसखी के समान व्यवहार करना, विप्रकृता

अपि=तिरस्कृत होने पर भी, रोषणतया=क्रोध के कारण, भर्तु प्रतीप मा स्म गम =पति के प्रतिकूल मत जाना। परिजने भूयिष्ठ दक्षिणा भव=अपन आश्रित सेवकादि पर बहुत अधिक उदार रहना। भाग्येषु अनुत्सेकिनी भव=उच्चपदादि प्राप्ति रूप अपने भाग्यो के विषय मे, निरभिमानिनी रहना। एवम्=इस प्रकार (आचरण करने वाली) युवतय =स्त्रिया, गृहिणीपद यान्ति=गहलक्ष्मी या सुगहिणी पद को प्राप्त होती है। वामा =इसके विपरीत आचरण करने वाली स्त्रियाँ, कुलस्य=पितृ-कुल एव पतिकुल के लिए, आधय—मानसिक व्यथा (का कारण) होती है।

अनुवाद—(तुम यहा से पतिकुल मे पहुँच कर) गुरुजनो की सेवा करना, सपत्नीजनो पर प्रिय सखी जैसा व्यवहार करना, तिरस्कृत होने पर भी क्रोध के कारण पति के प्रतिकूल काय मत करना, अपने आश्रितजनो पर अत्यधिक उदार रहना, अपने सौभाग्य के विषय मे निरभिमानिनी रहना। इस प्रकार (आचरण करने वाली) स्त्रियाँ सुगृहिणी पद को प्राप्त होती है, इसके विपरीत आचरण करने वाली दोनो ही कुलो के लिए मानसिक व्यथा (का कारण) होती है।

भावार्थ—पतिग्रह जाती हुई शकुन्तला को अनुशासित करते हुए महर्षि कण्व कहते हैं कि तुम पतिगृह मे पहुँच कर वहाँ सास, ससुर आदि गुरुजनो की सेवा करना, अपनी सपत्नियो पर भी तुम वैसा ही व्यवहार करना जैसे कि तुम अपनी प्रिय सखियो पर करती हो। जब कभी स्थितिवश तिरस्कृत होकर भी क्रोधवश पति के प्रतिकूल आचरण न करना। अपने परिजनो आश्रितो सेवकादिजना पर बहुत अधिक उदारता का व्यवहार करना, यदि तुम्हे उच्चपद प्राप्त होने का सौभाग्य मिले तो घमण्ड न करना, और न उच्च पद प्राप्ति हेतु सदा उत्साह ही दिखाना, भाग्यत जो जब प्राप्त हो उसे विनम्रता पूवक स्वीकार करना। जो युवती जन इस प्रकार का आचरण करती है वे सुगृहिणी अथवा गृहलक्ष्मी कहलाती हैं परन्तु इसके विपरीत आचरण करने वाली स्त्रियाँ पतिकुल एव पितृकुल दोनो ही के लिए मानसिक व्यथा का कारण बनती है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वामा स्त्रियो पर आधित्व का आरोप होने से **रूपक** अलकार, वामा स्त्रियो को आधि का कारण बतलाया गया है अथात् कायभूत आधि पद के साथ कारणभूत वामा का अभेद निर्देश किया गया है अत **हेतु** अलकार, चतुथ चरणगत सामान्याथ से पूवपादत्रयगत विशेषाथ का समथन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलकार, सपत्नी के साथ प्रिय सखी जैसा व्यवहार करना रूप असम्भव वस्तु सम्बन्ध रूप **निदशना** अलकार और इन सब मे परस्पर निरपेक्षतावश संसृष्टि है। प्रसाद गुण एव वैदर्भी रीति है। शास्त्रानुकूल सुन्दर कथन होने के कारण **उपदिष्ट** नामक नाटकीय लक्षण है। "उपदिष्ट मनोहारिवाक्य शास्त्रानुसारत।" शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है। और शाकुन्तल के सवश्रेष्ठ चार श्लोको मे से यह एक श्लोक है। इसम महर्षि कण्व ने शकुन्तला के माध्यम से ससार की नववधुओ के लिए एक सवथा व्यवहरणीय मनोहर उपदेश दिया है जिससे कि उनका भावी जीवन सुखमय हो सके। जो स्त्रियाँ इसमे वर्णित अनेक उदात्त आदर्शों एव भारतीय संस्कृति द्वारा अनुमोदित

स्त्रियोचित इन नियमो का पालन करेंगी वे गृहलक्ष्मी पद को प्राप्त कर सुख और शान्तिमय जीवन बिता सकेगी, इसके विपरीत आचरण करने वाली स्त्रियाँ पितकुल एव पतिकुल के लिए शोचनीय होगी। वस्तुत महर्षि का शकुन्तला के लिए यह अनुशासन शिक्षिता नवयुवतिया के लिए एक उत्तम दीक्षान्त भाषण ही है अतएव यह शाश्वत साहित्य का अभिन्न अग है तथा सबके लिए चिरस्मरणीय है।

सस्कृत व्याख्या—गुरून् श्वशुरादिपूज्यजनान्, शुश्रूषस्व—सेवस्व, सपत्नी जने=सपत्नीवर्ग, प्रिया चासौ सखी तस्या वृत्ति ताम्—प्रिय सखीवृत्तिम्—प्रियवयस्या-व्यवहारम्, कुरु—विधेहि। विप्रकृता अपि-तिरस्कृता अपि सती, रोषणतया=क्रोधावेशेन, भर्तु स्वपत्यु, प्रतीपम्—प्रतिकूलम् विरुद्धम् वा, मा स्म गम—न याहि। परिजने—आश्रितवर्गे सेवकादिसमूहे, भूयिष्ठम्=अत्यधिकम्, दक्षिणा=उदाराशया, भव। भाग्येषु=उच्चपदादिप्राप्तिरूपसौभाग्येषु परमैश्वर्यसम्पत्सु वा अनुत्सेकिनी—गर्वेर्ष्यादिपरिवर्जिता (भव) एवम्=पूर्वोक्तविधिना (आचरन्त्य) युवतय-रमण्य, गृहिण्या पद स्थानम्—गृहिणीपदम्=गहलक्ष्मीस्थानम् सुगृहिणीत्याख्या वा यान्ति—प्राप्नुवन्ति। वामा प्रतिकूलाचरणवर्तिन्य स्त्रियस्तु, कुलस्य—वशस्य न केवल पत्युरेव नापि पतिकुलस्यैव अपितु पितृकुलस्यापि, आधय—मानसिकव्यथाकारणानि, भवन्तीति शेष।

सस्कृत सरलार्थ—पतिगृहं यान्ती शकुन्तला मुद्दिश्य काश्यप कथयति—त्वमित पतिगृह प्राप्य श्वशुरादिपूज्यजनान् सेवस्व, सपत्नीवर्गे प्रियसखीवद् व्यवहार कुरुष्व। यदा-कदा स्थितिवशात् तिरस्कृता अपि सती कोपावेशेन स्वपत्यु प्रतिकूलाचरण मा कुरुष्व। आश्रितवर्गे चात्यधिकमु दाराशया भव, सौभाग्येषु गर्वेर्ष्यादिदोषपरिवर्जिता भव। एतादशेनाचरणेन रमण्यो गृहिणीस्थान प्राप्नुवन्ति, विपरीताचरणवत्यस्तु स्त्रियो वशस्य न केवल पत्युरेव मनोव्यथाकारणानि जायन्ते।

टिप्पणी

वनौकस—वनवासिन। **लौकिकज्ञा** लोके भव लौकिकम् लोक+ठञ्—इक। लौकिक जानाति इति लौकिकज्ञा—लौकिक+ज्ञा+क (अ)। **शुश्रूषस्व**—श्रु धातु से सन् प्रत्यय, लोट म० पु० एक वचन, सन् प्रत्यय करने पर "ज्ञाश्रुस्मृदृशासन" सूत्र से आत्मने पद। शुश्रूषा—सेवा। शुश्रूषु सदा रोगी या गुरुजनो की आवश्यकताओ को सुनने एव उन्हे पूरा करने की इच्छा रखना है, इस प्रकार धात्वर्थ सुरक्षित रहता है। **सपत्नीजने**—समान पति यासा ता सपत्न्य यहा "नित्य सपत्न्यादिषु' से समान को स आदेश, तथा पति के इ को न्, तदनु 'ऋन्नेभ्य से ङीप् होकर सपत्नी बनता है। **प्रियसखीवृत्तिम्** प्रियाया सख्या वृत्तिम्। "शुश्रूषस्व गुरुन्, प्रियसखीवृत्ति सपत्नी जने कुरु" ये दोनो कथन कामसूत्र के इन सूत्रो पर आधारित हैं "गुरुषु भृत्यवर्गेषु नायकभगिनीषु तत्पतिषु च यथार्हं प्रतिपत्ति, श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या" आगता चैना (सपत्नीम्) भगिनिकावदीक्षेत।" **विप्रकृता**—वि+प्र+कृ+क्त टाप्। **रोषणतया**—रुष् धातु से युच्—रोषणम् तत भावे तल्—रोषणता—तया। **प्रतीपम्**—प्रतिकूलम्

गौतमी—एतवान् वधूजनस्योपदेश । जाते, एतत् खलु सर्वमवधारय । [एत्तिओ वहूजणस्स उवदेसो । जादे, एद क्खु सव्व ओधारेहि ।]

काश्यप—वत्से, परिष्वजस्व मा सखीजन च ।

शकुन्तला—तात, इत एव किं प्रियवदाऽनुसूये सख्यौ निर्वातिष्येते । [ताद, इदो एव्व कि पिअवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति ।]

काश्यप—वत्से, इमे अपि प्रदेये । न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम् । त्वया सह गौतमी यास्यति ।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवित धारयिष्यामि । [कह दाणि तादस्स अकादो परिब्भट्टा मलअतरुम्मूलिआ चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअ धारइस्स ।

अपास् अथवा प्रतिगता आपा यत्र प्रति+अप्+अच्, अप के ा को ईत् । प्रतीप का अक्षरार्थ तो जलवेग के प्रतिकूल चलना है, यहाँ इसका अथ विपरीत या प्रतिकूल चलना है । पति के अनुकूल चलना पत्नी का परमकतव्य है, जैसाकि इस श्लोक मे उपदेश है—

अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता, तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम् । सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति, प्राच्यैः पुत्रि निवेदित कुलवधूसिद्धान्तधर्मागम ॥

आ स्म गम अत्र न माङ्योगे इति अडभाव । **भूयिष्ठम्**—बहु+इयसुन्, इष्ठस्य यिटच से बहु को भू आदेश और इ के स्थान पर यिट आदेश । **अनुत्सेकिनी**—उत्+सिच+घञ कुत्व—उत्सेक घमण्ड, न उत्सेक विद्यते यस्या सा अनुत्सेकिनी । इस प्रसग मे भी कामसूत्र के ये सूत्र द्रष्टव्य हैं "न चोपालभेत वामताञ्च न दशयेत् "भोगेष्वनुत्सेक" परिजने दाक्षिण्यम् । भाग्येषु के स्थान पर क्वचित् भोगेषु भी पाठ है । युवतय =तरुणी स्त्रियाँ । युवन् शब्द से स्त्री लिङ्ग मे यूनस्ति से ति प्रत्यय—युवति तरुणी स्त्री, युवत् से ङीप करने पर युवती भी होता है जिसका अथ है पतिवाली या विवाहिता । वस्तुत युवा का स्त्रीलिङ्ग युवति है । **वामा**—वमति स्नेहमित्यर्थे वम+ण (अ) वद्धौ वाम स्त्रीत्वे आ—वामा, अथवा वाम काम अस्त्यस्या "प्रतीपदर्शिनी वामा ।" **आधय**—आ+धा+उपसर्गे धो कि इति कि प्रत्यय । आधीयते दु खमनेनेति आधि 'पुस्याधि र्मानसी व्यथा ।"

कथमिति—गौतमी का (इस उपदेश के सम्बन्ध मे) क्या विचार है, अर्थात् यह कहाँ तक पर्याप्त और उपयुक्त है ?

गौतमी—इतना ही वधुओ के लिए उपदेश है, अर्थात् जितना जो कुछ आपने कहा है, वह उतना ही वधूजनो के लिए उपयुक्त और पर्याप्त है, इससे अधिक की आवश्यकता नहीं । पुत्री, तुम इन सब बातो को ठीक स्मरण कर लो ।

काश्यप—पुत्री, ( ) मुझ से और अपनी सखियो से गले लगकर मिल लो।

काश्यप —वत्से, किमेव कातराऽसि ।

अभिजनवतो भर्तु श्लाध्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभि कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावन
मम विरहजा न त्व वत्से शुच गणयिष्यसि ॥ १९ ॥

(शकुन्तला पितु पादयो पतति ।)

शकुन्तला—तात, मेरी सखियाँ प्रियम्वदा और अनसूया क्या यही से लौट जायेंगी ?

काश्यप —पुत्री, इ हे (भी तो) देना है अर्थात् इन दोनो का भी तो विवाह करना है ? इनका वहाँ जाना उचित नही है, तुम्हारे साथ गौतमी जायेगी ।

शकुन्तला—(पिता से लिपटकर) किस प्रकार मैं अब पिता की गोद से छूटी हुई, मलय तरु से उखाडी गई चन्दनलता के समान, दूसरे देश मे जीवन धारण करूँगी ?

टिप्पणी

एतावान—काश्यप के उपदेश का पूण समथन करती हुई गौतमी कहती है कि नववधू का दी जाने वाली शिक्षायें इतनी और ऐसी ही हैं । वृद्ध तपस्विनी गौतमी नवधूचित शिक्षाओ को विशेषरूप से जानती है अत उससे सम्मति मागी गई थी और उसने अपनी सम्मति दे दी ।

अवधारय—अव+धृ+णिच्—लोट—इस सबको गाँठ बाँध लो । **इमे प्रदेये**—इनका भी विवाह करना है अत इनका वहाँ जाना लोक व्यवहार की दृष्टि से उचित नही । इस स्थान पर कवि का नाट्य कौशल दृष्टव्य है, उसने बडी चतुरता से सखियो को रोक लिया है अन्यथा शाप की बात प्रकट हो जाती और सब कथानक ही गडबडा जाता । विवाह मे केवल कन्यादान ही नही होता अपितु कन्या का प्रदान होता है अतएव भारतीय विवाह अविच्छेद्य माना जाता है, प्रदेये शब्द मे यह स्पष्ट ध्वनि है । **चन्दनलता**—यह शब्द प्रयुक्त तो अन्यत्र भी हुआ है पर चन्दन की लता नही होती उसका वृक्ष ही होता है ।

काश्यप—पुत्री, तुम इस प्रकार दु खित क्यो होती हो ?

अभिजनवत इति-अन्वय—वत्से, त्वम् अभिजनवत भर्तु श्लाध्ये गृहिणीपदे स्थिता, तस्य विभवगुरुभि कृत्यै प्रतिक्षणम् आकुला (सती) अचिरात् प्राची इव अर्क पावन तनयम् प्रसूय च मम विरहजाम् शुचम् न गणयिष्यसि ।

शब्दार्थ—वत्से=पुत्री, त्वम्—तुम, अभिजनवत =महाकुलीन, भर्तु = पति के, श्लाध्ये—प्रशसनीय, गृहिणीपद=गृहस्वामिनी (महारानी) के पद पर, **स्थिता**= अधिष्ठित (होकर) विभवगुरुभि ऐश्वर्य के कारण महत्वशाली **कृत्यै =कार्यों से**, प्रतिक्षणम्=प्रतिपल, आकुला=कायव्यस्ता (सती—रहकर)**अचिरात्=शीघ्र ही**,

प्राची=पूर्वदिशा, पावनम् अर्कम् इव=जिस प्रकार जगत् को पवित्र करने वाले सूर्य को, उसी प्रकार, पावनम् तनयम्=निष्कलक एव धार्मिक पुत्र को, प्रसूय=उत्पन्न करके, मम विरहजा शुचम्=मेरे विरह से उत्पन्न दु ख को, न गणयिष्यसि=नही गिनोगी अर्थात् भूल जाओगी।

अनुवाद—हे पुत्री, तुम, महाकुलीन पति के प्रशसनीय गृहस्वामिनी के पद पर अधिष्ठित होकर, (और) उनके, ऐश्वय के कारण महत्वशाली कार्यो से प्रतिपल कायव्यस्त रहकर, शीघ्र ही, जैसे पूव दिशा जगत्पावन सूय को (जन्म देती है उसी प्रकार) लोक कल्याणकारी पुत्र को ज म देकर, मेरे विरह से उत्पन्न शोक को न गिनोगी अर्थात् भूल जाओगी।

भावार्थ—महर्षि कण्व शकुन्तला को आश्वस्त करते हुये कहते है कि तुम इतनी दु खित क्यो हो रही हो, पुत्री, तुम अपने महाकुलीन पति के प्रशसास्पद गहस्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित होगी अर्थात् महारानी बनोगी। और उनके ऐश्वय पूण महत्वशाली यज्ञोत्सवादि कार्यो मे प्रतिपल व्यस्त रहोगी। शीघ्र ही तुम उसी प्रकार निष्कलक एव धमपरायण पुत्र को जन्म दोगी जिस प्रकार पूव दिशा जगत्पावन सूय को उत्पन्न करती है, इस प्रकार तुम मेरे विरह से होने वाले दु ख को भूल जाओगी।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे "न गणयिष्यति" के स्थिता, आकुला, आदि तीन कारणो के होने से **काव्यलिङ्ग**, अलकार, 'इव' द्वारा' **उपमालकार**, तीन कारणो के एकत्र होने से **समुच्चय** अलकार है। हरिणी नामक छन्द है "न सम रस लागा षड्वेदै हयै हरिणी मता।"

सस्कृत व्याख्या—वत्से—पुत्रि शकुन्तले, त्वम, अभिजनवत=महाकुलीनस्य, भर्तु—पत्यु, श्लाघ्ये—प्रशसनीये, गृहिणीपदे—गृहलक्ष्मीपदे, स्थिता=अधिष्ठिता सती, तस्य—पत्यु दुष्यन्तस्य, विभवै समृद्धिभि गुरुभि महनीयै—विभवगुरुभि, कृत्यै—यज्ञोत्सवादिविशिष्टकार्यै, प्रतिक्षणम्—प्रतिपलम्, आकुला=व्यस्ता सती, अचिरात्—शीघ्रमेव, प्राची=पूर्वा दिशा, पावन—जगत्पवित्रकारकम, अर्कम्=सूयम्, इव, पावनम्—जगत्—कल्याणविधायकम्—तनयम्—पुत्रम, प्रसूय=उत्पाद्य, च, मम—काश्यस्य, विरहजाम्=वियोगजयाम्, शुचम्—शोकम, न गणयिष्यसि—न चिन्तयिष्यसि—विस्मरिष्यसीत्यथ।

सस्कृतसरलार्थ—पतिगृह यान्ती शकुन्तला काश्यपो मुनि कथयति वत्से त्वमित पतिगृह प्राप्य तत्र महाकुलोत्पन्नस्य स्वभर्तु प्रशसास्पदे गृहलक्ष्मीस्थाने अधिष्ठिता सती, तस्य समृद्धिपूर्णे महनीयै यज्ञोत्वादिकार्यै प्रतिपल कायव्यस्ता सती, यथा पूर्वा दिक् जगद्भास्कर भास्कर जनयति तथैव त्वमपि जगद्रक्षक सुत समुत्पाद्य मम काश्यपस्य विरहेण जातामिमा शुच न चिन्तयिष्यसि, मम विरहोत्पन्नामिम शोक सर्वथा विस्मरिष्यसीति।

शकुन्तलेति—(शकुन्तला पिता के पैरो पर गिरती है अर्थात्—चरणवन्दना करती है।

काश्यप—यदिच्छामि ते तदस्तु ।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) हला, द्वे अपि मा सममेव परिष्वजेथाम् । [हला, दुवे वि म सम एव्व परिस्सजह ।]

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सखि, यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्, ततस्तस्मा इदमात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयक दर्शय । [सह, जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे, तदो से इम अत्तणामहेअअकिअ अगुली-अअ दसेहि ।]

शकुन्तला—अनेन सन्देहेन वामाकम्पितास्मि । [इमिणा सदेहेण वो आकम्पिदम्हि]

सख्यौ—मा भैषी । अतिस्नेह पापशकी । [मा भाआहि । अदिसिणेहो पावसकी ।]

शार्ङ्गरव—युगान्तरमारूढ सविता । त्वरतामत्रभवती ।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) तात, कदा नु भूयस्तपोवन प्रेक्षिष्ये ।[ताद, कदा णु भूओ तवोवण पेक्खिस्स ।]

टिप्पणी

कातरा=दु खाभिभूता । **अभिजनवत**—अभिजन्यते जनोऽस्मिन्निति अभिजन वश —अभि+जन्+घञ् 'जनिवध्योश्चेति वृद्धिनिषेध' 'अभिजना वयौ' इत्यमर । तत प्रशस्त अभिजन इत्यर्थे अभिजन शब्दात् प्रशसार्थे मतुप् प्रत्यय —अभिजनवान् तस्य । **श्लाध्ये**—वहुजनहितकारिणि अनएव प्रशसनीये, **प्राचीव पावन** जिस प्रकार सूय स्वय तेजस्वी जगद्धितकारी होता है उसी प्रकारी तुम्हारा पुत्र भी तेजस्वी प्रतापी एव जगद्रक्षक होगा, यह साभिप्राय उपमा है । **प्रसूय**—प्र+सू+क्त्वा—ल्यप ।

पतिगहगमनोत्सुका भी शकुन्तला के मन मे वहुविध सशयो तक-वितर्को एव सकल्प-विकल्पो तथा हष-विषादो का होना स्वाभाविक है, लौकिक जीवन की यही यथाथता है, अत ऐसी स्थिति मे उसका अधीर होना लौकिक स्त्रियोचित काय है, महर्षिकण्व यद्यपि वनवासी एव विरागी है तथापि लौकिकज्ञ होने से उन्हे इस प्रकार की स्थिति का पूण ज्ञान है । प्रथम बार की विदाई के समय नववधू की क्या स्थिति होती है, इसे वे खूब समझते हैं, अतएव वे उसका विषाद एव भय दूर करते हुये उसके सामने उक्त तीन तक रखकर उसे आश्वस्त करते हैं कि कण्व से बिछुड कर भी वह राजभवन मे चिन्तित न होगी ।

काश्यप—मै तुम्हारे लिए जो चाहता हूँ, वह पूण हो ।

शकुन्तला—(सखियो के पास जाकर) सखियो, तुम दोनो एक साथ ही मुझ से गले मिलो ।

दोनों सखियाँ—(वैसा करके) सखी, यदि वह राजा, (तुम्हे) पहचानने मे

19 शिथिल हो तो उसे अपने ही नाम से अकित इस अँगूठी को दिखा देना ।

शकुन्तला—तुम दोनों के इस संदेश से मैं घबडा गई हूँ।

दोनों सखियाँ—मत डरो, अत्यधिक प्रेम अनिष्ट की आशका करता है।

शार्ङ्गरव—सूर्य दूसरे प्रहर मे चढ गया है (आप) शकुंतला शीघ्रता करे।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुह किये हुये स्थित होकर) तात, अब मै फिर कब (इस) तपोवन को देखूगी ?

टिप्पणी

यदिच्छाभि—वस्तुत यहाँ कहना तो यह चाहिए, कि तुम जो चाहती हो वही हो, पर ऐसा न कहकर महर्षि कण्व उसकी चरणवंदना के उत्तर मे कहते हैं कि जो मैं चाहता हूँ वह हो, सम्भवत इससे त्रिकालदर्शी महर्षि के मन मे यह विचार रहा होगा कि मैं इसके भविष्य को जानता हूँ पर यह नही जानती, इसको शापवश जो वियोग दुःख भोगना है, वह तो भोगना ही पडेगा, उसका इसकी इच्छामात्र से निराकरण नही हो सकता, यदि मैं यदिच्छसि तदस्तु कहता हूँ तो वह यह भी कह सकती है कि मैं तपोवन मे ही रहना चाहती हूँ और ऐसा ही हुआ तो शाप का प्रभाव ही न रह जायेगा, इसीलिए वे यदिच्छाभि कहते है और उसकी तपोवन निवास की इच्छा के सम्बन्ध मे उसको उचित समय का निर्देश करते हैं। **प्रत्यभिज्ञानमन्थर**—प्रति+अभि+ज्ञा+ल्युट्—पहचान वस्तुत प्रत्यभिज्ञान, यह एक दार्शनिक शब्द है, इसमे स्मृति और प्रत्यक्ष दोनो का सम्मिश्रण रहता है, जैसे सोऽयं देवदत्त—यहाँ स स्मृति सूचक है अर्थात् पूर्व दृष्ट देवदत्त, और अयम् यह प्रत्यक्षानुभव का द्योतक है अत यहाँ प्रत्यभिज्ञान का अर्थ है पूर्वदृष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव करना, सामने रखना। यहाँ इस कथन द्वारा सखियाँ उसे अप्रत्यक्षरूप मे शाप की बात बतला रही है और उसे समझा रही है कि यदि वह तुम्हें पहचानने मे कुछ आनाकानी करे तो यह अँगूठी उसे दिखा देना इस पर उसका नाम भी लिखा है। ऐसा करने पर वह जानती थी कि शाप दूर हो जायेगा और वह उसे पहचान लेगा। **अतिस्नेह पापशकी**—अति स्नेही जन अपने प्रियजन के लिए अनिष्ट की आशका करता है और ऐसा करना अतिस्नेहवश स्वाभाविक ही होता है। सखियाँ अतिस्नेह के कारण ही ऐसी आशका करती हैं कि राजा कही उसे भूल न जाय और उसका साधन भी बतलाती है, प्राय देखा जाता है कि जब किसी व्यक्ति का कोई प्रियजन परदेश जाता है, तब उसके कुटुम्बीजन उसके लिए अकारण ही किसी न किसी अनिष्ट की आशका करने लगते हैं, भले ही वह सुखी रहे। **युगान्तरम्**—अन्यत् युग युगान्तरम्—युग=प्रहर, तीन घण्टे का एक प्रहर होता है। इस प्रकार रात दिन मे ८ प्रहर होते हैं, यहाँ युगान्तर से तात्पर्य है कि अब सूर्य एक प्रहर पार कर दूसरे प्रहर मे पहुँच रहा है अर्थात् दुपहरी का समय हो रहा है। **आरूढ**—आ+रुह्+क्त, **सविता**—सुवति प्रेरयति कर्माणि सू+तृच्। सूर्य उदित होकर लोगो को कर्म मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है।

काश्यप —श्रूयताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥

काश्यप—सुनो ।

भूत्वेति—अन्वय—चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा, अप्रतिरथम् तनयम दौष्यन्तिम् निवेश्य, तदर्पितकुटुम्बभरेण भर्त्रा साधम् शान्ते अस्मिन् आश्रमे पुन पदम् करिष्यसि ।

शब्दार्थ—चिराय—बहुत समय तक, चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा=चारो समुद्रो तक विस्तीण पृथिवी की सपत्नी होकर, अप्रतिरथम्—अद्वितीय महारथी, तनयम् **दौष्यन्तिम्**=अपने दुष्यन्त के पुत्र को, निवेश्य=राज्य पर विठाकर, तदर्पित कुटुम्बभरेण=उस पर कुटुम्ब के (रक्षण) का भार समर्पित करने वाले, भर्त्रा=पति के साथ, शान्ते अस्मिन् आश्रमे=इस शान्त सासारिक काय जालो से रहित आश्रम मे, पुन पदम् करिष्यसि=फिर अपना निवास स्थान बनाओगी ।

अनुवाद—चिरकाल तक, चारो समुद्रो तक विस्तीण पृथिवी की सपत्नी होकर, अद्वितीय महारथी दुष्यन्त पुत्र को राज्य पर विठाकर, उस पर कुटुम्ब का भारसमर्पित कर देने वाले पति के साथ, इस शान्त आश्रम मे पुन अपना निवास स्थान बनाओगी अर्थात् यहाँ आकर रहोगी ।

भावार्थ—शकुन्तला के "तात, कदा नु भूयस्तपोवन प्रेक्षिष्ये" इस कथन का उत्तर देते हुये महर्षि काश्यप कहते हैं कि तुम बहुत समय महरानी पद पर रहकर, अपने अद्विनीय महारथी दुष्यन्त पुत्र को राज्य देकर और उसी पर राज्य भार सौंप कर अपने पति के साथ पुन इस तपोवन मे आकर रहोगी ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे सपत्नी शब्द से पृथिवी पर पत्नीत्व का आरोप व्यञ्जित होने से यहाँ वस्तु से **रूपकालकार** ध्वनि है । पृथिवी पर सपत्नीत्व का आरोप, फिर उस पर पुत्र का सन्निवेश और फिर उस पर भी भार का सन्निवेश बतलाया गया है अत **मालादीपक**—अलकार है । "तन्मालादीपक पुन,, धर्मिणा मेक धर्मेण सम्बन्धो यद **यथोत्तरम्**" । वसन्ततिलका नामक छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—चिराय—वहुकाल यावत् , चत्वार समुद्रा अन्ता प्रान्ता यस्या तादृश्या मह्या सपत्नी—**चतुरन्तमहीसपत्नी—समग्रपृथिवीसमानभर्तृका**, भूत्वा, न विद्यते प्रतिरथ प्रतिद्वन्द्वी यस्य तम्—**अप्रतिरथम्—अद्वितीयवीरम्** **दौष्यन्तिम्**—दुष्यन्तपुत्रम् तनयम्=सुतम्, **निवेश्य**—राज्ये प्रतिष्ठाप्य, तस्मिन् अर्पित न्यस्त कुटुम्बस्य वधुवर्गस्य भर भार =येन तेन—**तदर्पितकुटुम्बभरेण भर्त्रा**, पत्या स्वामिना वा, साधम्—सह शान्ते—निरुपद्रवे पवित्रे च, **अस्मिन् आश्रमे**—एतस्मिन् तपोवने पुन =भूय , पदम् —स्थानम्, करिष्यसि—**विधास्यसि** ।

गौतमी—जाते, परिहीयते गमनवेला । निवर्तय पितरम् । अथवा चिरेणापि पुन पुनरेषव मन्त्रयिष्यते । निवर्तता भवान् । [जाद्दे, परिहीअदि गमणवेला । णिवत्तेहि पिदर । अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्व मन्त-इस्सदि । णिवत्तदु भव ।]

काश्यप—वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

शकुन्तला—(भूय पितरमाश्लिष्य) तपश्चरणपीडित तातशरीरम् । तन्माऽतिमात्र मम कृत उत्कण्ठस्व । [तवच्चरणपीडिद तादसरीर । ता मा अदिमेत्त मम किदे उक्कण्ठस्स ।]

सस्कृत सरलाथ—"तात, कदा नु भूयस्तपोवन प्रेक्षिष्ये" इति शकुन्तला वाक्य माकण्य काश्यपो मुनिस्ता कथयति—वत्से वहुकाल यावत्, आसमुद्रक्षितीशस्य दुष्यन्तस्य गृहलक्ष्मीपद मधिष्ठाय, अद्वितीयवीर दुष्य ततनय राज्ये प्रतिष्ठाप्य, तस्मिन्नेव पुत्रे वधुवगभार समप्य, भर्त्रा सह, शा तेऽस्मिन् तपोवने निवास करिष्यसि ।

टिप्पणी

चिराय—यह अव्यय है, इसी अथ मे चिरेण चिरात् चिरम् चिरस्य आदि शब्द भी प्रयुक्त होते हैं, जोकि इस बात की पुष्टि करते है कि अव्यय भी पहले साधारण शब्दो के ही समान थे और इनके भी सभी विभक्तियो मे रूप चलते थे। **चतुरन्तमहीसपत्नी**—चारो समुद्र अथवा चारो दिगन्त जिसकी सीमा है ऐसी पृथिवी की सपत्नी, सपत्नी इसलिये कि राजा पृथिवीपति कहलाता है, **अप्रतिरथम्**—प्रतिगत रथ यस्य स प्रतिरथ =प्रतिद्वन्द्वी—विपक्षी, न विद्यते प्रतिरथ यस्य तम् अप्रतिरथम् । **दौष्यन्तिम्** दुष्यन्तस्य पुत्र दौष्यतिस्तम्—दुष्य त शब्दात् अत इञ् इति इञ् प्रत्यये वद्धौ—दुष्य तपुत्र । अब तक यह हुआ ही नही था । अतएव उसका नाम अज्ञात था । **निवेश्य**—नि+विश+णिच्+क्त्वा—ल्यप्, इसका अथ राज्य पर बिठाकर और विवाह कर दोनो ही होते है, यहा इस श्लोक मे दोनो ही अर्थों मे निवेश्य का प्रयोग है । "स निवेश्य कुशावत्याम्" रघवश "तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र स" रघुवश, प्रथम मे राज्य पर बिठाकर, द्वितीय मे विवाह करके अथ है। **तदर्पित-कुटुम्बभरेण**—प्राचीन काल मे राजा वृद्धावस्था मे तपोवन मे जाकर तपस्वी का जीवन व्यतीत करते थे' जैसाकि मनु का वचन है—"गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वली पतितमात्मन अपत्यस्यैव चापत्य तदारण्य समाश्रयेत् । स त्यज्य ग्राम्य माहार सर्वं चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वन गच्छेत् सहैव वा" । प्रस्तुत पद्य मे भारतीय आश्रम व्यवस्था की ओर सकेत किया गया है ।

गौतमी—पुत्री, प्रस्थान का समय बीतता जा रहा है । अपने पिता को लौटाओ । अथवा यह तो चिरकाल तक बार-बार ऐसा ही कहती रहेगी (अत) आप लौट जाइये ।

काश्यप—पुत्री, मेरा तप का अनुष्ठान रुक रहा है (अब मुझे जाने दो) ।

काश्यप —(सनि श्वासम्)

शममेष्यति मम शोक कथ नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढ नीवारवलि विलोकयत ॥२१॥

गच्छ । शिवास्ते पन्थान सन्तु ।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च ।)

शकुन्तला—(पुन पिता स लिपट कर) आपका शरीर तपस्या से कृश है, अत आप मेरे लिए बहुत अधिक दु खित न हो ।

काश्यप—(लम्बी साम लकर)

शममिति अन्वय—वत्से त्वया रचितपूर्वम् उटजद्वारविरुढम् नीवारवलिम् विलोकयत मम शोक कथम् नु शमम् एष्यति ।

शब्दार्थ—वत्से—पुत्री, त्वया—तुम्हारे द्वारा, रचितपूर्वम्—(पूजा के रूप मे) पहले डाले गये, (और अब) उटजद्वारविरुढम्=झोपडी के द्वार पर उगे हुये, नीवार-वलिम्=नीवारवलि (उपहार) को, विलोकयत =देखते हुये, मम शोक =मेरा शोक, कथ नु शमम् एष्यति=कैसे शान्त हो सकेगा ?

अनुवाद—हे पुत्री, तुम्हारे द्वारा (पूजा के रूप म) पहले डाले गये (और अब) झोपडी के द्वार पर उगे हुये, नीवारधान्यों को (बलि उपहार) देखते हुए मेरा शोक किस प्रकार शान्त हो सकेगा ?

भावार्थ— काश्यप मुनि कहते है कि पुत्री, जो तुमने वलि के रूप मे नीवार-धान्यो को झोपडी के द्वार पर डाला था वे अब उग आये, है, उन्हे देखता हुआ मैं तुम्हे कैसे भूल सकूगा और अपने शोक को कैसे शान्त कर सकूगा ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे शोक दूर न होने का कारण नीवारवलि का विलोकन बतलाया गया है, अत यहा पदार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग** अलकार है, **आर्या जाति** छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—वत्से पुत्रि, त्वया शकुन्तलया, पूर्व रचितम् इति रचितपूर्वम्=प्रागुपकल्पितम्, उटजस्य पर्णशालाया द्वारे विरुढम्—अड्कुरितम्—उटजद्वारविरुढम्, नीवाराणा वलिस्तम् नीवारवलिम्=नीवारधान्योपकल्पितभूतवलिम्, विलोकयत —प्रेक्षमाणस्य, मम, काश्यपस्य, शोक —त्वद्विरहजनितविषाद कथम्—केन प्रकारेण, शमम्=शान्तिम, एष्यति=गमिष्यति—दूरी भविष्यतीत्यर्थ ।

काश्यपो मुनि कथयति, पुत्रि ! त्वया यत् पूर्व भूतवलिमुद्दिश्य नीवारधान्यानि पर्णशालाया द्वारे विक्षिप्तानि, तान्यधुना जलससर्गमवाप्य अड्कुरितानि सन्ति तानि प्रतिदिन द्वारेऽवलोकयत मम शोक कथ दूर मपयास्यति, तान्यवलोकयतो मम स्मृतिपथ त्व प्रतिक्षण मायास्यसि अत कथ मह त्वा विस्मरिष्यामि ?

टिप्पणी

परिहीयते—परि+हा+कर्मकर्तरि लट । **उपरुध्यते**—उप+रुध्+कर्म

सख्यौ—(शकुन्तला विलोक्य) हा धिक्, हा धिक्। अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या। [हद्धी, हद्धी। अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईए।]

काश्यप—(सनि श्वासम्) अनसूये, गतवती वा सहचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छत मा प्रस्थितम्।

उभे—तात, शकुन्तलाविरहित शून्यमिव तपोवन कथ प्रविशाव। [ताद, सउन्दलाविरहिद सुण्ण विअ तवोवण कह पविसामो।]

काश्यप—स्नेहप्रवृत्तिरेवदर्शिनी। (सविमर्शं परिक्रम्य) हन्त भो, शकुन्तला पतिकुल विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुत—

वाच्ये—लट। इससे स्पष्ट है कि मुनि, शकु तला के प्रति अत्यधिक स्नेह रखते हुये भी, और करुणा से द्रवित होते हुये भी अपनी तपस्या मे किसी प्रकार का अवरोध नही होने देना चाहते थे। **तपश्चरणपीडित तातशरीरम्**—इससे शकु तला का ऋषि के प्रति अगाध प्रेम प्रकट होता है, वह उन्हे अपने कारण किसी भी प्रकार दु खित नही होने देना चाहती थी। **रचितपूर्वम**—पूव रचितमिति रचितपूवम सुप्सुपेति समास भूतपूर्वेचरडिति निर्देशात्, पूवशब्दस्य पर प्रयोग।

विरुढम्—अड कुरित—वि+रुह+क्त। **नीवारबलिम**—वलिवैश्वदेवयज्ञ अथवा भूतवलि के उद्देश्य से अर्पित किये गये नीवारधा य। **शमम् एष्यति**—शा त होगा। वस्तुन यह कथन जितना सामयिक एव ऋषिजनोचित वातावरण के अनुकूल है उतना ही इसमे भाषा और भाव सौन्दय भी है। सम्पूण श्लोक करुणाप्लावित है, ऋषि कहते हैं कि अकुरित तणधा यो को जब-जब पणशाला से निकलता हुआ और भीतर जा ता हुआ मैं देखूगा तब तब तेरा स्मरण मुझे शोक स तप्त करता रहेगा अत यह कैसे सम्भव है कि मैं तुम्हारे लिए उत्कण्ठित न होऊँ। करुण रस की इतनी गम्भीर अभिव्यक्ति अन्यत्र मिलना कठिन है, कवि ने मानो ऋषि के हृदय मे प्रवेश कर जो कारुणिक अनुभूति प्राप्त की थी उसे ही उसने तदनुकूल भाषा और भावो मे यहाँ अभिव्यक्त किया है।

गच्छेति—अपने करुणाद्रवित हृदय को दबाकर, नियति की अपरिहायता से विवश होकर अन्त मे वे शकुन्तला से कहते है, जाओ, तुम्हारा माग कल्याणकारी हो।

(शकुन्तला और उसके साथ जाने वाले शाङ्ग रव आदि का प्रस्थान) ●

दोनों सखिया—(शकु तला को देखकर) हा, हा, शकु तला तनपक्ति से (आखो से) ओझल हो गई।

काश्यप—(लम्बी सास लेकर) अनसूया, तुम लोगो की सखी चली गई, अब मैं चल रहा हूँ, तुम लोग अपने शोक को दबाकर मेरे पीछे आओ।

दोनों सखियां—तात, शकु तला से रहित इस सूने से तपोवन मे हम कैसे प्रवेश करें।

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतु
जातो ममाय विशद प्रकाम
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२२॥
(इति निष्क्रान्ता सर्वे ।)
इति चतुर्थोऽङ्क ।

काश्यप—प्रेम सचार इस प्रकार दिखलाता है, अर्थात् यह प्रेम की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है कि जिससे सभी पदार्थ सूने से दिखलाई पडने लगते हैं। प्रियजन से रहित स्थान, सब कुछ रहते हुये भी सूना सा जान पडने लगता है। (विचार पूर्वक चारो ओर घूमकर) आह, शकुन्तला को पतिगृह भेज कर मुझे आज मानसिक शान्ति प्राप्त हुई है। क्योकि—

अथ इति **अन्वय**—कन्या हि परकीय एव अर्थ, अद्य ताम् परिग्रहीतु सम्प्रेष्य मम अयम् अन्तरात्मा प्रत्यर्पितन्यास इव प्रकामम् विशद जात ।

शब्दार्थ - कन्या हि=कन्या वस्तुत, परकीय एव अर्थ =पराया (दूसरे का) ही धन होता है (अत) अद्य=आज, ताम्—उसको, परिग्रहीतु =उसके पति के पास, सम्प्रेष्य—भेजकर, मम अयम् अन्तरात्मा=मेरा यह अन्तमन, प्रत्यर्पितन्यास इव=किसी की धरोहर वापस कर देने वाले व्यक्ति के समान, प्रकामम्—अत्यन्त, विशद = स्वच्छ एव प्रसन्न, जात —हो गया है।

अनुवाद—कन्या वस्तुत दूसरे की सम्पत्ति ही होती है, आज उस कन्या को (उसके) पति के पास भेजकर मेरा यह अन्तमन उसी प्रकार अत्यन्त स्वच्छ एव प्रसन्न हो गया है जैसे कि किसी की धरोधर को न्यासकर्ता को लौटा देने वाले व्यक्ति का मन हो जाता है।

भावार्थ—कन्या वस्तुत परकीय सम्पत्ति ही होती है, उसे कन्या का पिता सुरक्षित रखता है और समय आने पर उसे उसके अधिकारी को उसी प्रकार लौटा देता है जिस प्रकार किसी न्यासकर्ता की धरोधर कोई व्यक्ति अपने पास सुरक्षित रख कर मागने पर उसे लौटा देता है, इस न्यास की सुरक्षा करने मे कष्ट और चिन्ता अवश्य होती है पर यथा समय उसे न्यास कर्ता को लौटा देने पर उस का मन बडा प्रसन्न एव स्वच्छ हो जाता है। आज परकीय धन रूप अपनी कन्या शकुन्तला को उसके परिग्रहीता दुष्यन्त के पास भेज कर महर्षि कण्व का भी मन उतना ही प्रसन्न और स्वच्छ हो गया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'इव' द्वारा उत्प्रेक्षालकार है और इन्द्रवज्रा छन्द है "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगाग"।

सस्कृत व्याख्या—कन्या—दुहिता,हि=वस्तुत, परकीय एव=अन्यस्य जनस्य एव, अर्थ —धनम् (भवति) अद्य, ताम् कन्याम् शकुन्तलाम् परिग्रहीतु —

परिणेतु समीपे, सम्प्रेष्य—विसृज्य, प्रत्यर्पित प्रतिदत्त न्यास निक्षेप येन स प्रत्यर्पितन्यास इव, मम—काश्यपस्य, अयम्—एष, अन्तरात्मा—अन्तमन, प्रकामम्—अत्यधिकम्, विशद—निमल प्रसन्नो वा जात—सम्पन्न ।

सस्कृत सरलाथ—कन्या वस्तुत परकीया सम्पत्ति रेव भवति, अद्याह ता कन्या शकुन्तला तस्या पत्यु दुष्यन्तस्य पार्श्वे विसृज्य तथैव प्रसन्नोऽस्मि, यथा कश्चिज्जन न्यासीकृत वस्तु प्रतिदाय प्रसन्नो भवति ।

टिप्पणी

अन्तर्हिता—अन्तर्+धा+क्त—टाप्, धातो हि आदेश । पेडो को ओट म हो जाने से आँखो से ओझल हो गई है। **सहचारिणी**—सह चरतीति सहचारिणी—सह+चर्+ताच्छील्ये णिनि । **निगृह्य**—नि+ग्रह+क्त्वा—ल्यप् । **स्नेहप्रवृत्ति**—स्नेहस्य प्रवृत्ति—प्रेम का प्रवाह या सचार। **एवदर्शिनी**—एव दशयतीत्यथ एव+दृश्+णिच् ताच्छील्ये णिनि डीप्, इस प्रकार दिखाने वाली । **हन्त**—हष सूचक अव्यय । **परिग्रहीतु**—परि+ग्रह+तृच् षष्ठ्येक वचन, विवाह के समय पति कन्या का हाथ पकडकर अग्नि परिक्रमा करता है अतएव वह परिग्रहीता कहा जाता है, इसी अथ मे परिणेता का भी प्रयोग होता है। **प्रत्यर्पितन्यास**—प्रत्यर्पित प्रतिदत्त न्यास निक्षेप येन स—प्रति+ऋ+क्त, न्यसते इति न्यास नि+अस+घञ कमणि । **विशद**—स्वच्छ, भारमुक्त प्रसन्न ।

चतुर्थाङ्क—समाप्त

अथ पञ्चमोऽङ्कः

(तत प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च ।)

विदूषक—(कर्णं दत्त्वा) भो वयस्य, सगीतशालान्तरेऽवधान देहि। कलविशुद्धाया गीते स्वरसयोग श्रूयते। जाने तत्रभवती हसपदिका वर्णपरिचय करोति। [भो वअस्स, सगीतसालन्तरे अवधाण देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसजोओ सूणीअदि। जाणे तत्तहोदी हसवदिआ वण्णपरिअअ करेदि त्ति।]

राजा—तूष्णी भव। यावदाकणयामि।

(आकाशे गीयते।)

अभिनवमधुलोलुपो भवास्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येना कथम्॥१॥
[अहिणवमहुलोलुवो भव तह परिचुम्बिअ चूअमजरि।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर! विम्हरिओ सि ण कह॥]

अथ पञ्चमाङ्क

(तदनन्तर आसन पर बैठे हुये राजा और विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—(कान लगाकर) हे मित्र सगीतशाला के भीतर ध्यान दो। अस्पष्ट मधुर तथा शुद्ध गीति की स्वरयोजना सुनाई पड रही है। म समझता हूँ कि पूजनीया हसपादिका स्वरसाधना कर रही है।

राजा—चुप हो जाओ, तो मै सुनू।

(आकाश मे गाया जा रहा ह)

अभिनवेति-अन्वय—मधुकर! अभिनवमधुलोलुप भवान् चूतमञ्जरीम् तथा परिचुम्ब्य, कमलवसतिमात्रनिवृत एनाम् कथम विस्मृत असि।

शब्दाथ—हे मधुकर—भ्रमर, अभिनवमधुलोलुप=नूतन पुष्प रस के लिए लालायित, भवान्—आप, चूतमञ्जरीम्=आम्र की मञ्जरी को, तथा=उस प्रकार परिचुम्ब्य=परिचुम्बन कर के—रसास्वादन करके, कमलवसतिमात्रनिवृत=कमल पर रहने मात्र से ही सतुष्ट होकर, एनाम् कथ विस्मृत असि=इसको कैसे भूल गये हो।

अनुवाद—हे भ्रमर! नूतन पुष्पपराग के (रसास्वाद) के लिए (सदा) लालायित (रहने वाले) आप आम्र की मञ्जरी का उस प्रकार रसास्वादन कर (और अब) कमल पुष्प पर निवास मात्र से सतुष्ट होकर इस (आम्रमञ्जरी) को कैसे भूल गये हो।

भावार्थ—हंसपदिका के इस गीति द्वारा भ्रमरवृत्ति राजा के लिए एक तीखी व्यङ्ग्योक्ति है। हंसपदिका राजा की एक रानी का नाम है, जोकि एकबार ही उपभुक्ता होने के बाद उपेक्षित कर दी गई है। ठीक उसी प्रकार जैसे शकुन्तला को एकबार उपभोग कर राजा उसे भूल गया था, अतः यहाँ चूतमञ्जरी पद हंसपदिका एवं शकुन्तला दोनों ही ओर सङ्केत करता है, इसी प्रकार प्रस्तुत पद्य का 'कमल' शब्द भी, राजा की पट्टराज्ञी अर्थात् महारानी वसुमती का सङ्केत करता है वसतिमात्र का अर्थ है केवल साथ रहने मात्र से, निर्वृत—सन्तुष्ट होकर। एतावता पद हंसपदिका एवं शकुन्तला दोनों के लिए है क्योंकि राजा दोनों को ही भूल गया था। नाटकीय दृष्टि से यह पद्य अति महत्वपूर्ण है। भ्रमर प्रायः कमल पुष्प पराग का इच्छुक होता है, फिर भी वह स्वभाववश अन्य पुष्पों के रस के लिए भी लालायित रहता है, केवल कमल रस से ही सन्तुष्ट नहीं रहता पर जब उसे अन्य पुष्पों का रस नहीं मिल पाता तब वह पुनः उसी उपभुक्त कमल के पास आ जाता है। अतः प्रस्तुत गीति द्वारा हंसपदिका भ्रमर से कहती है कि तुम सदा नवीन पुष्पों के रस ग्रहण करने के लिए लालायित रहते हो, कभी एक पुष्प रस में सन्तुष्ट नहीं होते, तुमने एक बार आम्रमञ्जरी का रसास्वादन कर फिर उसे भुला दिया और फिर सर्वथा उपभुक्त अतएव परागरहित भी इस कमल पर केवल रहने मात्र से सन्तुष्ट हो गये हो। राजा भी भ्रमर के समान ही केवल एक रानी से ही सन्तुष्ट रहने वाला नहीं है, अतएव वह भी आम्रमञ्जरी रूप हंसपदिका एवं शकुन्तला का एकबार रसास्वादन कर उन्हें भूल गया है और वह अब पुनः वहीं अपनी सर्वथा उपभुक्ता महारानी वसुमती के साथ रहने मात्र से सन्तुष्ट है।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में अर्थ गाम्भीर्य के साथ, साथ उच्चकोटि का नाटकीय कौशल भी है। राजा के चरित्र की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण है। कवि ने यहाँ शकुन्तला की स्मृति दिलाने के लिये और शाप के प्रभाव को दिखाने के लिये इस श्लोक को लिखा है। भाषा एवं भाव सौन्दर्य की दृष्टि से यह उत्तम श्लोक है। हंसपदिका राजा की एक उपेक्षिता रानी है वह इसे उसी प्रकार भूल गया है जैसे शकुन्तला को और पुनः अपने अन्तःपुर की रानियों में निमग्न हो गया है।

प्रस्तुत श्लोक में **अपरवक्त्र** नामक छन्द है। यहाँ **क्षिप्ति** नामक गर्भसन्धि का अङ्ग है "रहस्यार्थस्य तूद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्" सा० द०। दशरूपक के अनुसार यहाँ **आक्षेप** नामक गर्भसन्धि का अङ्ग है "गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः"। **तृतीय पताकास्थानक** भी है "अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते" सा० द०। **हेतु** और **अनुप्रास** अलङ्कार है।

संस्कृत व्याख्या—मधुकर—भ्रमर, अभिनवे नूतने मधुनि पुष्परसे लोलुपः इच्छुकः—अभिनवमधुलोलुपः, भवान्, चूतस्य आम्रवृक्षस्य मञ्जरी कलिका ताम्—चूतमञ्जरीम्, तथा—तेन प्रकारेण सस्नेहमित्यर्थः, परिचुम्ब्य=रसास्वादनं विधाय, कमले पद्मे वसतिः निवासः तन्मात्रेण निर्वृतः सन्तुष्टः—कमलवसतिमात्रनिर्वृतः,

सन्, एनाम्—चूतमञ्जरीम् (हसपदिकाम् शकुन्तलाम् वा) कथ—केन प्रकारेण, विस्मृत असि, न स्मरण करोषि ।

संस्कृत सरलार्थ—हसपदिका कथयति—भ्रमर ! त्वम नूतनपुष्परसास्वादाभिलाषी असि, अतएव त्व पूर्व सहकारकालिका परिचुम्ब्य अधुना पद्मनिवास मात्रेण सन्तुष्टो भूत्वा आम्रमञ्जरी मिमा न स्मरसि ।

टिप्पणी

आसनस्थ —आसन निष्ठतीति आसन+स्था+क आसनस्थ । आसनस्थ का प्रविशति के साथ प्रयोग सम्भव नही है बैठा हुआ प्रवेश नही कर सकता, पर यहाँ इसे नाटकीय रगनिर्देशन मे त्रुटिपूर्ण नही माना जा सकता, क्योकि 'प्रविशति' यह नाटक का पारिभाषिक शब्द है जो कि रगमञ्च पर पात्र की उपस्थिति मात्र का सूचक होता है, प्रवेश पद का सामान्य अर्थ यहा गृहीत नही है, यहा केवल इसका इतना ही अर्थ है कि आसनस्थ राजा और विदूषक दर्शको के दृष्टिपथ म आते है । इसीलिये इसका अर्थ किया गया है—राजा और विदूषक का प्रवेश अर्थात् अब आसनस्थ राजा और विदूषक रगमञ्च पर दिखलाई पडते है । **सगीतशालान्तरे**—इससे ज्ञात होता है कि कालिदास के समय राजप्रासादो मे एक सगीतशाला भी होती थी जहा स्त्रिया सगीत का अभ्यास किया करती थी । **अवधानम**—अव+धा+ल्युट्—ध्यान । **कलविशुद्धाया गीते**—मधुर पर अस्पष्ट ध्वनि कल' कहलाती है । ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कल" इत्यमर विशुद्ध का अर्थ निर्दोष भी है, पर यहाँ यह सगीत शास्त्र के पारिभाषिक शब्द के रूप म प्रयुक्त हुआ है गीतय पञ्च शुद्धाद्या भिन्ना गौडा निवेसरा साधारणी विशुद्धा स्यादवक्रैर्ललितै स्वरै ' सगीत रत्नाकर । इस शुद्धगीति के पाच भेदो मे से विशुद्धा नामक गीति का यहा प्रयोग है जिसम सरल एव ललित स्वर होते है । सगीत म गीत वाद्य एव नृत्य तीनो ही सम्मिलित रहत है "गीत वाद्य च नृत्य च त्रय सगीत मुच्यते" सगीत रत्नाकर । कला चासो विशुद्धा च तस्या कलविशुद्धाया गीते । **स्वर सयोग** स्वरो का सयोजन स्वरो का मिलाना या आलाप । स्वर सात होते है षडज ऋषभ गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद इन्ही के प्रथमाक्षरो को लेकर स, र, ग, म प, ध, नि प्रचलित हैं । **वर्ण परिचयम्**—वर्ण का अर्थ अक्षर भी है और सगीत स्वर भी है यहा तात्पर्य सगीत स्वर से है गानक्रियोच्यते वर्ण स चतुर्धा निरूपित । स्थाय्यारोह्यावरोही च सचारी चेति"—स्थायी, आरोही अवरोही और सचारी । नाट्यशास्त्र म भी इसी को दूसरे शब्दो म इस प्रकार कहा गया है स्थायी तथैव सचारी तथारोहावरोहणौ, वर्णाश्चत्वार एवैते कथिता सत्रगीतिषु । अत वर्णपरिचय करोति का अर्थ है कि हसपदिका स रे ग म आदि सगीतस्वरो का सयोजन गीत क्रमानुसार कर रही थी । **अभिनव मधुलोलुप** —गर्हित लुम्पति इति लोलुप, लुप धातु से यङ् प्रत्यय करने पर लोलुप बनेगा इससे पुन कर्त्ता म अच् प्रत्यय—लोलुप —लोभी या लालायित, अभिनव यन्मधु तस्य तत्र वा लोलुप । **परिचुम्ब्य** —रसास्वादन या

राजा—अहो, रागपरिवाहिणी गीतिः ।

विदूषकः—किं तावद् गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः
[किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो ।]

राजा—(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः । तदस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण महदुपालम्भनं गतोऽस्मि । सखे माधव्य, मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका । निपुणमुपालब्धोऽस्मीति ।

विदूषकः—यद् भवानाज्ञापयति । (उत्थाय) भो वयस्य, गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः । [जं भवं आणवेदि । भो वअस्स, गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो ।]

राजा—गच्छ । नागरिकवृत्त्या सञ्ज्ञापयैनाम् ।

विदूषकः—का गतिः । [का गई ।]

(इति निष्क्रान्तः ।)

सम्भोग करके । कमलवसतिमात्रनिर्वृतः—कमलेषु या वसतिः सा एवेति कमलवसतिमात्रम् तेन निर्वृतः सन्तुष्टः । **विस्मृत**—वि+स्म+क्तरि वर्तमाने च क्त ।

राजा—ओह, कैसा अनुराग की धारा को प्रवाहित करने वाला संगीत है ।

विदूषक—क्या आपने गीति के शब्दों का अक्षरार्थ (व्यङ्ग्यार्थ) समझ लिया है ?

राजा—(मुस्करा कर) यह व्यक्ति अर्थात् हंसपदिका से मैंने केवल एक बार ही प्रणय किया है (और अब मैं महारानी वसुमती से प्रेम करने लगा हूँ) अतएव इसने देवी वसुमती को लक्ष्य बनाकर मुझे बहुत बडा उपालम्भ (उलाहना या ताना) दिया है । मित्र माधव्य, मेरी ओर से हंसपदिका से कह दो कि तुमने मुझे बडी निपुणता से उपालम्भ दिया है ।

विदूषक—जो महाराज की आज्ञा (उठकर) हे मित्र ! जैसे किसी अप्सरा द्वारा पकडा गया कोई विरक्त तपस्वी (फिर उससे छूट नहीं पाता है और उसे मुक्ति नहीं मिल पाती), उसी प्रकार उसके द्वारा (सेविका आदि के) दूसरे के हाथों द्वारा पकडवाये गये (और) चोटी पकड कर पिटवाये गये मुझ प्रेमरहित विदूषक को अब मुक्ति (छुटकारा) न मिल सकेगी ।

राजा—जाओ, और शिष्ट तथा कुशल व्यवहार द्वारा उसे समझा देना ।

विदूषक—और (अब) क्या उपाय है ।

(यह कह कर प्रस्थान)

टिप्पणी

अनुरागपरिवाहिणी—रागं परिवहतीति रागपरिवाहिणी । राग शब्द का **अर्थ अनुराग और राग रागिनी भी होता है, अतः यहाँ इसका अर्थ 'अनुराग' का**

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि । अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥२॥

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति ।)

प्रवाहित करने वाली अथवा रागिनियो के प्रवाहवाली । **अक्षरार्थ** गीति के प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अक्षर का अर्थ, वस्तुतः यहा तात्पर्य व्यङ्ग्यार्थ से है । **सकृत्कृतप्रणयः**—सकृत् कृत प्रणय यस्मिन् स जिससे एक ही बार प्रणय किया गया है । प्र+नी+अच् प्रत्यय । **वसुमती मन्तरेण** अन्तरेणयोगे वसुमतीमित्यत्र द्वितीया—अन्तरेण—लक्ष्य करके । **देवीम्**—कृताभिषेका महारानी । **उपालम्भनम्**—उप+आ+लभ् का अर्थ उपालम्भ उलाहना होता है । उपालब्ध —उप+आ+लभ+क्त । **परकीय** —दूसरे सेविका आदि के । **गहीतस्य**—मनोरञ्जनार्थ पकड लिये जाने पर । वीतरागस्य—वीत व्यपगत राग —सासारिकानुराग यस्य तस्य—विरागिण । **अप्सरसा**—यद्यपि अप्सरस शब्द स्त्रीलिङ्ग एव नित्य बहुवचनान्त है तथापि कवि ने यहाँ इसका प्रयोग एक वचन मे किया है । तपस्वी विश्वामित्र को भी मेनका अप्सरा ने इसी प्रकार पकडा था । विदूषक के पक्ष मे वीतराग का अर्थ प्रेमशून्य है । मोक्ष का अर्थ वीतराग सन्यासी के पक्ष मे मुक्ति है और विदूषक के पक्ष मे छुटकारा पाना है । **नागरिकवृत्ति**—चतुरता पूर्ण व्यवहार, जब जैसा अवसर हो उसी के अनुकूल व्यवहार करना, विदूषक इस बात मे निपुण होते है । **का गतिः**—क्या चारा है अर्थात् जाना ही होगा, बचने का कोई उपाय नही ।

राजा—(मन ही मन) यह क्या कारण है कि मैं गीत के भाव को सुनकर प्रियजन के वियोग के बिना भी अत्यन्त खिन्न हो रहा हूँ ।

अथवा=ऐसा भी होना सम्भव है—क्योकि—

रम्याणीति अन्वय—रम्याणि वीक्ष्य, मधुरान् शब्दान् निशम्य च सुखित अपि जन्तु यत् पर्युत्सुक भवति, तत् नूनम भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि अबोधपूर्वम् चेतसा स्मरति ।

शब्दार्थ रम्याणि—मनोहर वस्तुओ को, वीक्ष्य=देखकर, मधुरान् शब्दान् निशम्य च—और मधुर शब्दो को सुनकर, सुखित अपि जन्तु—प्रसन्नचित्त जन भी, यत् पर्युत्सुक भवति=जो उत्कण्ठित या क्षुब्ध हो उठता है । तत्=तो, नूनम्=निश्चय ही । (वह) भावस्थिराणि=सस्कार रूप मे सुदृढ वर्तमान, जननान्तरसौहृदानि=

पूर्वजन्मो के प्रेम व्यवहारो को, अवोधपूवम्=ठीक-ठीक जाने बिना ही, चेतसा स्मरति=अपने मन से, स्मरण करता है।

अनुवाद—मनोहर पदार्थों को देखकर और मधुर शब्दो को सुनकर, प्रसन्न चित्त भी जन, जोकि (सहसा) उत्कण्ठित हो उठता है, तो अवश्य ही (वह) सस्कार रूप मे दृढ विद्यमान पूर्वजन्मो के प्रेम व्यवहारो को, बिना ठीक ठीक समझे हुये ही, अपने मन से स्मरण करता है।

भावार्थ—गीताथ को समझकर सहसा उत्कण्ठित हुआ राजा सोचता है कि किन्ही रमणीक वस्तुओ को देखकर अथवा मधुर शब्दो को सुनकर, प्रियवियोगादि चिन्ताओ से रहित अतएव सवथा प्रसन्नचित मनुष्य भी यदि सहसा उत्कण्ठित या खिन्न हो उठता है, तो यह निश्चय है कि वह मनुष्य, अपने सस्कार रूप मे स्थिर, अपने पूव जन्म मे किये गये प्रेम व्यवहारो को, बिना ठीक ठीक समझे हुये भी अपने मन से स्मरण कर रहा है। यदि प्रत्यक्षत मनुष्य को किसी वियोगादि कारण के न होते हुये भी खिन्नता सहसा होने लगती है तो इसमे यही समझना चाहिये कि वह अपने पूव जन्मो के प्रेम व्यवहारो को मन से स्मरण करता है और इसीलिये वह विक्षुब्ध होता है, दुःख प्रत्यक्ष कारणो से भी होता है और स्मृति जन्य कारणो से भी।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे पूर्वाधगत विशेषाथ के द्वारा उत्तराधगत सामान्याथ का समथन किया गया है अत **अप्रस्तुत प्रशसालकार**, पूर्वाध के कथन मे उत्तराध कारण है, अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, बोध रूप कारण के अभाव मे भी स्मरण रूप काय का होना बतलाया गया है अत **विभावना** अलकार, नूनम—से **उत्प्रेक्षालकार**, **अनुप्रास, प्रसादगुण, वैदर्भी रीति** है। **वसन्ततिलका** नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—रम्याणि=चन्द्रोद्यानादिमनोहरवस्तुजातानि, वीक्ष्य=अवलोक्य, मधुरान्=श्रुतिसुखकरान् प्रियान् शब्दान्—आलापान् गीतिशब्दान् वा, निशम्य=आकण्य, सुखित=इष्टजनविरहाद्यभावजनितसुख, अपि जन्तु=प्राणी, यत्—यस्मात् कारणात्, पर्युत्सुक भवति—उत्कण्ठित विक्षुब्ध खिन्नो वा जायते, तत्=तस्मात् कारणात् (स) नूनम्=अवश्यमेव भावस्थिराणि=भावै सस्कारै स्थिराणि दृढरूपेण विद्यमानानि=वासनावलाद् दृढमवस्थितानि, अयत् जनन जननान्तरम तस्य सौहृदानि—जननान्तरसौहृदानि=पूवजन्मानुभूतप्रणयादिसम्दन्ध विशेषान्, बोध पूर्वं यथा स्यात्तथा—बोधपूर्वं न बोधपूवम् अवोधपूवम्=विषय विशेषस्याज्ञानपुरःसरम्, चेतसा—मनसा, स्मरति=ध्यायति।

सस्कृत सरलार्थ—यतो हि प्राणिन चन्द्रोदयोद्यानादिमनोहरवस्तुजातान्यवलोक्य, श्रुतिसुखकरान् प्रियान् शब्दान् गीतादिक वाकण्य, प्रणयिजनवियोगाभावत्वात् सवथा, सुखिता भूत्वापि सहसैव समुत्कण्ठिता विक्षुब्धचित्ता वा जायन्ते, अनेन ज्ञायते यत्तेऽवश्यमेव स्वचेतोभि जन्मान्तरानुभूतप्रणयादिव्यवहारान्, ये खलु वासनावलात्तद्-

हृदयेषु दृढ मवस्थिता भवन्ति, विषयविशेषस्याज्ञानपुर सरम स्मृतिं प्रापयन्ति, अतएव प्रसन्ना अपि ते विक्षुब्धा भवन्ति ।

टिप्पणी

इष्टजनविरहादृतेऽपि—प्रियजन के वियोग के बिना भी, राजा के इस कथन से प्रतीत होता है कि वह शापवश यद्यपि शकुन्तला को भूल गया था तथापि उसका सस्कार उसके हृदय मे विद्यमान था जिसे वासनावलात् स्मरण कर वह वियोग के अनुभव मे उत्कण्ठित हो रहा था। **रम्याणि वीक्ष्य**—रम+यत्—रम्याणि, वि+ईक्ष—क्त्वा—ल्यप—वीक्ष्य। वस्तुत—रम्याणि यह विशेषणवाची पद है, अत इसके लिये रूपाणि वस्तूनि आदि किसी विशेष्य पद का उपादान किया जाना चाहिये था, पर तु कवि ने, वामन के इस कथन के अनुसार "विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ" विशेष्यपदापादान नही किया है जैसा कि उसने मधुरान् शब्दान् मे किया है, इस दृष्टि से यहाँ प्रक्रमभड्ग नही है। **पर्युत्सुक भवति**—कही पर पयुत्सुकी यह च्विप्रत्ययान्त भी प्रयोग है पर प्रस्तुत प्रसग मे यह अच्छा नही लगता, दुष्य त मे औत्सुक्य पहले ही जागत हो चुका था। इष्ट वस्तुवियोग से औत्सुक्य उत्पन्न होता है "कालाक्षमत्व-मौत्सुक्य मिष्टवस्तुवियोगत । तद्दशनाद् रम्यवस्तुदिदक्षादेश्च"। **चेतसा स्मरति**—वस्तुत सुप्त मन की वृत्तिया वातावरण पाकर जागृत हो उठनी है जैसा कि मनोविज्ञान का सिद्धा त है, अत स्मरण मन से ही होता है, पर कवि ने चेतसा का प्रयोगकर सम्भवत यह सूचित किया है कि मनुष्य के न चाहते हुये भी उसका चित्त स्मरण करता है अर्थात् तस्य चित्तमेव न तु स स्मरति। अतएव अवोधपूव कहना भी सगत होता है व्यक्ति नही जान पाता कि चित्त क्यो उत्कण्ठित हो रहा है। **भावस्थिराणि**—सिद्धान्तत मनुष्य जो कुछ देखता या सुनता है, वह सूक्ष्म सस्कारो के रूप मे उसकी आ मा मे पडा रहता है, अनुकूल वातावरण पाकर मनुष्य जब कभी उस अतीत का स्मरण करता है तब वे सस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और उसे अतीत की बातो का ज्ञान हो जाता है, भावस्थिराणि का यहाँ यही तात्पय है। भाव अर्थात् सस्कार। **जननान्तरसौहृदानि**—अन्यत् जनन जनना तरम मयूरव्यसकादित्वात् समास तस्य सौहृदानि। सौहाद और सौहद दोनो का एक ही अथ है कवियो ने दोनो का ही प्रयोग भी किया है। हृदय के अथ मे हृदय और हृद् दो शब्दो का प्रयोग होता है। जब मित्र अथ मे सुहृत् शब्द का प्रयोग होता है तब सुहृद भाव इस अथ मे सुहृदय को अण् प्रत्यय करने पर हृद् आदेश एव आदि स्वर को वृद्धि होकर सौहृदम् बनता है इसके लाक्षाणिक होने से उभयपद वद्धि नही होती और जब स्वतन्त्र हृद् शब्द से अण् प्रत्यय होता है तब उभयपद वृद्धि होकर सौहादम बनता है। **अबोधपूवम्** विषय को ठीक-ठीक जाने बिना ही, कालिदास ने रघुवश मे भी इसी भाव को प्रगट किया है "मनो हि जन्मान्तरसगतिज्ञम तथा सस्कारा प्राक्तना इव"।

इतीति—(यह सोचकर खिन्न हो जाता है)

(तत प्रविशति कञ्चुकी ।)

१ कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्था प्रतिपन्नोऽस्मि ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञ ।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥२॥

(तदनन्तर कञ्चुकी का प्रवेश)

१ **कञ्चुकी**—आह, मै अब ऐसी अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ ।

आचारइति अन्वय—राज्ञ अवरोधगहेषु आचार इति अवहितेन मया या वेत्रयष्टि गहीता, सा एव बहुतिथे काले गते (गति) प्रस्थानविक्लवगते मम अवलम्वनार्था जाता ।

शब्दार्थ—राज्ञ = राजा के, अवरोधगहेषु = अन्त पुर मे, आचार इति = अन्त पुर मे आने जाने वाले कञ्चुकियो की यह परम्परागत मर्यादा है कि वे वेत्रयष्टि को धारण किये रहे, यह मन मे विचार करके, अवहितेन = सावधान अथवा सशक्त रहते हुये भी, मया = मैने, या वेत्रयष्टि = जो वेत का दण्ड, गहीता = धारण किया था । सा एव = वही वेत्रयष्टि, बहुतिथे काले गते = बहुत समय बीत जाने पर, प्रस्थानविक्लवगते मम = चलने मे लडखडाती हुई चाल वाले मेरे—कञ्चुकी के लिये, अवलम्वनार्था जाता = सहारे के लिये हो गई है ।

अनुवाद—राजा के अन्त पुर मे 'कञ्चुकियो की यह परम्परागत मर्यादा है कि वे वेत्रयष्टि धारण करें" यह सोचकर सावधान और सशक्त रहते हुये भी मैने जो वेत्रयष्टि धारण की थी, वही (अब) बहुत समय बीत जाने पर, चलने मे लडखडाती हुई चाल वाले मेरे लिये सहारा के लिये हो गई है ।

भावार्थ—कञ्चुकी अपने मन मे सोचता है, जब मे जवान था शक्ति भी रखता था तब तो मैने इस वेत्रयष्टि को इस लिये धारण किया था क्योकि राजा के अन्त पुर मे आने जाने वाले कञ्चुकी लोगो के लिये यह परम्परागत मर्यादा थी, किन्तु अब मैं बहुत समय बीत जाने के बाद बुड्ढा हो गया हूँ अत अब चलने फिरने मे मेरे पैर लडखडाते हैं अतएव अब वही यह वेत्रयष्टि अब मेरा चलने फिरने मे सहारा देने अर्थात् मेरे शरीर को गिरने से बचाने वाली बन गई है । इस प्रकार कञ्चुकी अपनी वृद्धता पर सोच रहा है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अधिक समय बीतना प्रस्थानविक्लवगति का कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, एक ही यष्टि के अनेक रूपो मे प्रयुक्त होने से **विशेषालकार**, उत्तरार्द्ध मे वृद्ध के गमन रूप काय मे सहायक रूप से यष्टि का उपादान किया गया है अत **समाहित** अलकार, पूर्वार्द्ध म उक्तनिमित्ता **विभावना** लकार, छेक, वृत्ति तथा श्रुति अनुप्रास, और बसन्ततिलका छन्द है ।

२ कञ्चुकी—भो , काम धर्मकार्यमनतिपात्य देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदयितुम् । अथवाऽविश्रमोऽय लोकतन्त्राधिकार । कुत —

सस्कृत व्याख्या—राज्ञ दुष्य तस्य, अवरोधगहेषु—अ त पुरगहेषु आचारइति= सौविदल्लानामिय परम्परागता मर्यादति मनसि विचाय, अविहितेन=सावधानेन पशक्तेनापि, मया—कञ्चुकिना, या वेत्रयष्टि—यो वेत्रस्य दण्ड , गृहीता—धृता, सा एव=सैव वेत्रलता—बहुतिथे—बहुसख्यके, काले-यौवनादिसमये, गते—व्यतीते (सनि) प्रस्थाने गमनारम्भे विक्लवा—स्खलिता, गति गमनक्रिया यस्य तस्य—प्रस्थान विक्लवगते , मम—कञ्चुकिन अवलम्वन—आश्रय , अथ प्रयोजन यस्या सा अवलम्वनार्था—अवलम्वनाय, जाता=अभूत् ।

सस्कृत सरलाथ—आत्मान वद्ध मत एव यष्टि बिना पदमपि चलितु मसमर्थं निरीक्ष्य खिन्न कञ्चुकी मनसि चिन्तयति—राज्ञो दूष्य तस्यान्त पुरेषु कञ्चुकिनामिय परम्परागता मर्यादति हेतो सशक्तेनापि मया यो वेत्रदण्डो धत स एवाय दण्ड इदानी बहुसख्यके काले व्यपगते, गमनारम्भकाले स्खलितगते ममावलम्वनाय जात ।

टिप्पणी

कञ्चुकी—कञ्चुक =पादावलम्वि परिधानीय वस्त्रम तदस्यास्तीति कञ्चुकी—कञ्चुक+इनि । कञ्चुकी सात्विक वृद्ध ब्राह्मण होता था, और रानियो का सन्देशवाहक एव अगरक्षक होता था, यह एक लम्बा कुर्ता पहनता था और वेत्रयष्टि धारण करता था जैसा कि उमका लक्षण है 'अ त पुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वित । सवकार्याथकुशल कञ्चुकीत्यभिधीयते" । ये नित्य सत्यसम्पन्ना कामदोषविवर्जिता ज्ञानविज्ञानकुशला कञ्चुकीयास्तु ते मता ।" "अ त कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादय वामन " रत्नावली नाटिका । **अवरोधगृहेषु**—अवरुध्यन्ते राजदारा यत्र स अवरोध —अव+रुध+घञ् । अवरोधगह=अ त पुर । **बहुतिथे** बहूना पूरण इत्यर्थे बहुशब्दात् 'बहुपूगगण' इत्यादिना तिथुक् प्रत्यय तदनु 'तस्य पूरणे' इत्यादिना डट (अ) प्रत्यय —वहुतिय तस्मिन् । **अवलवम्नार्था** अवलम्वनाय इयमिति अवलम्वनार्था अर्थेन नित्यसमासो विशेष्य लिङ्गता च । इस नियम से यहा नित्य समास और विशेष्यानुसार स्त्रीलिङ्ग है । **प्रस्थान विक्लवगते** यहाँ अथगत पुनरुक्ति नही है क्योकि यदि प्रस्थान और गति दोनो का ग्रहण न किया जायेगा तो विह्वलता तो मनोगत भी मानी जा सकती है, अथवा गति शब्द को ज्ञानाथ वाची मानकर दोष का परिहार हो सकता है अथवा 'वृद्धस्य विक्लवगते' पाठ मानकर भी दोष परिहार हो सकता है ।

२ **कञ्चुकी**—भले ही यह ठीक हो कि महाराज के धार्मिक कर्तव्यो मे विलम्ब नही करना चाहिए, फिर भी अभी अभी धर्मासन (न्यायासन) से उठे हुए उन्हे (विश्राम मे) पुन वाधा डालने वाले, कण्वशिष्यो का आगमन का समाचार बताने के

भानु सकृद्युक्ततुरङ्ग एव,
रात्रिन्दिव गन्धवह प्रयाति ।
शेष सदैवाहितभूमिभार
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एष ॥५॥

लिए (मैं) समर्थ नही हूँ । अथवा प्रजापालन के अधिकार मे विश्राम कहाँ होता है अर्थात् नही होता । क्योकि—

भानुरिति-अन्वय—भानु सकृद्युक्ततुरङ्ग एव, गन्धवह रात्रिन्दिवम् प्रयाति, शेष सदैव आहितभूमिभार, षष्ठांशवृत्ते अपि एष धर्म (भवति)

शब्दार्थ—भानु = सूय, सकृद्युक्ततुरङ्ग, एव = एक बार ही अश्वो को (सदा के लिए) जोतने वाला, गन्धवह = वायु, रात्रिन्दिवम् = रातदिन, प्रयाति = चलता है । शेष = शेषनाग, सदैव आहितभूमिभार = सदा ही पृथिवी का भार उठाने वाले, षष्ठांशवृत्ते = उपज के षष्ठ भाग से निर्वाह करने वाले राजा का, अपि = भी, धर्म एष = यही कर्तव्य (भवति = होता है)

अनुवाद—सूर्य एक बार ही अश्वो को (सदा के लिए) जोते रहने वाला (होता है) वायु रात दिन चलता रहता है । शेषनाग सदैव पृथ्वी के भार को उठाये रहने वाले होते हैं । (उपज के) षष्ठ भाग से निर्वाह करने वाले राजा का भी यही कतव्य होता है ।

भावार्थ—कञ्चुकी सोचता है, कि यदि राजा को कण्वशिष्यों के आगमन की अभी सूचना भी दे दी जाय और राजा के विश्राम मे बाधा भी पडे तब भी कुछ अनुचित न होगा क्योकि प्रजापालन के भार को ग्रहण करने वाले राजा को, अपने विश्राम की चिन्ता न करके, प्रजा का रक्षण करना ही प्रमुख कतव्य होता है, क्योकि प्रजापालन के अधिकारी अन्य सभी भी ऐसा ही करते है, लोकरक्षक सूय भी अपने रथ मे जब एक बार अश्वो को जोत लेता है तो फिर वह उन्हे कभी नही खोलता अर्थात् सदा चलता ही रहता है । वायु भी लोकरक्षा के लिए रातदिन बहता रहता है, क्षणमात्र को भी नही रुकता अतएव वह सततगति कहा जाता है, शेषनाग ने जो एक बार भूमि का भार अपने शिर पर उठा लिया है, तो फिर वे कभी उसे नही उतारते, प्रजाजनो से उनकी उपज का केवल षष्ठ भाग कर रूप मे ग्रहण कर अपना निर्वाह करने वाले राजा का भी यही कतव्य होता है कि वह अपने विश्राम की चिन्ता न कर निरन्तर प्रजापालन मे लगा रहे ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अविश्रम रूप सामान्य धर्म का, भानु गन्धवह शेष आदि के कतव्य वणन रूप भिन्न भिन्न शब्दो मे पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है अत यहाँ माला प्रतिवस्तूपमालकार है । 'एव' द्वारा कादाचित्क भी तुरङ्गादिमोक्षण का निषेध किया गया है अत परिसख्यालकार है । विशेष दुष्यन्त के स्थान पर सामान्य राजा का कथन होने से अप्रस्तुत प्रशंसालकार भी है । इन्द्रवज्रा नामक छन्द है ।

३ कञ्चुकी—यावन्नियोगमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देव —

प्रजा प्रजा स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवते श्रान्तमना विविक्तम्।
यूथानि सचार्य रविप्रतप्त
शीत दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्र ॥५॥

(उपगम्य) जयतु जयतु देव । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिन काश्यपसन्देशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विन सप्राप्ता। श्रुत्वा देव प्रमाणम्।

सस्कृत व्याख्या—भानु—सूय सकृत्—एकवारमेव युक्ता रथे नियमिता तुरङ्गा अश्वा येन स—सकृद्युक्ततुरङ्ग, एव अस्ति। गन्धवह—वायु, रात्रिन्दिवम्= अहोरात्रम, प्रयाति=प्रवाति। शेष—अनन्त, सदैव—सततम्, आहित शिरसि न्यस्त भूमे भूमण्डलस्य भार येन स—आहितभूमिभार—न्यस्तपृथिवीभार, (तिष्ठति) षष्ठाश प्रजाजनोत्पादितवस्तुजाताना षष्ठो भाग स एव वृत्ति जीविका यस्य तस्य-षष्ठाशवृत्ते अपि राज्ञ, एष धम—एतदेव प्रधान कतव्यम् (अस्ति)

सस्कृत सरलाथ—प्रजापालनाधिकारिणो नृपस्य कुतो विश्रम इति चिन्तयन् कञ्चुकी कथयति—सूय एकवारमेव स्वरथेऽश्वान् सयोज्याकाशमार्गेण गच्छन् प्रजापालन विधत्ते न कदापि सोऽश्वमोक्षण करोति। वायुरपि अहोरात्र प्रवाति न विश्राम लभते। शेष पृथिव्या भार स्वशिरसि निधाय न विश्राम करोति अपितु तथैव तिष्ठति, षष्ठाशवृत्ते राज्ञोऽपि एतदेव कतव्य भवति।

टिप्पणी

कामम्—यह अव्यय है। **धर्मकार्यम्**—ऋषियो का स्वागत करना राजा का धार्मिक कतव्य माना जाता है। **अनतिपात्यम्**—अतिपात=विलम्व। अनतिपात= विलम्व न करना, अनतिपात्यम्=विलम्व न करना चाहिए—न+अति+यत्+ णिच् ण्यत्। **धर्मासनात्**—न्यायासन से। इसे व्यवहारासन भी कहा जाता है। **अविश्रम**—वि+श्रम्+घञ् नोदात्तोपदेशस्येत्यादिना वृद्धिनिषेध। **लोकतन्त्राधिकार**—लोकाना प्रजाजनाना तन्त्रस्य अधिकार, कतव्यम्। **सकृद्युक्ततुरङ्ग**— तुरेण गच्छतीति तुरङ्ग तुरङ्गमो वा, सकृद् युक्ता तुरङ्गा येन। **रात्रिन्दिवम्**—रात्रौ च दिवा च तयो समाहार। **गन्धवह**—वहतीति वह पचाद्यच् गन्धस्य वह गन्धवह।

३—**कञ्चुकी**—तो (मैं अब) अपने कतव्य का पालन करता हूँ (चारो ओर घूमकर और देखकर) यह महाराज—

प्रजा इति अन्वय—स्वा प्रजा इव प्रजा तन्त्रयित्वा श्रान्तमना, दिवा यूथानि सचाय रविप्रतप्त द्विपेन्द्र शीतम् स्थानम् इव, विविक्तम् आसेवते।

शब्दाथ—स्वा प्रजा इव=अपनी सन्तानो के समान, प्रजा =प्रजाजनो को,

तन्त्रयित्वा=अनुशासित करके अर्थात् उनकी सुव्यवस्था करके, श्रान्तमना=थके हुये चित्त वाला। दिवा=दिन मे, यूथानि=हाथियो के झुण्ड को सचाय=इधर उधर चरागाहो मे छोडकर, रविप्रतप्त=धूप से पीडित, द्विपेन्द्र=गजराज, शीत स्थानम इव=जैसे ठण्ढे स्थान मे, विविक्तम निषेवते=एकान्त शान्त स्थान का सेवन करता है।

अनुवाद—अपनी सन्तानो के समान (अपने) प्रजाजनो को अनुशासित करके (उनके लिये सुव्यवस्था करके) श्रान्तमन (यह राजा) उसी प्रकार एकान्त स्थान का सेवन करता है, जैसे दिन मे अपने झुण्ड को यथायोग्य चरागाहो पर भेजकर धूप से सन्तप्त हुआ गजराज शीतल स्थान का सेवन करता है।

भावार्थ—राजा की तत्कालीन अवस्था का वर्णन करता हुआ कञ्चुकी कहता है कि अपने प्रजाजनो को अपनी सन्तान की ही तरह शासन द्वारा उचित मार्ग पर लगाकर, श्रान्तचित्त होकर यह राजा अब उसी प्रकार एकान्त एव शान्त प्रदेश मे जाकर विश्राम करता है जैसे दिन मे अपने झुण्ड के हाथियो को यथायोग्य चरागाहो पर भेजकर, धूप से सन्तप्त हुआ गजराज किसी शीतल स्थान पर जाकर विश्राम करता है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य के प्रजा प्रजा मे भिन्नार्थक होने से यमकालकार, तथा इव के द्वारा उपमालकार एव अनुप्रास अलकार है। इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से यहाँ उपजाति नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—स्वा स्वकीया, प्रजा=सन्ततय, इव, प्रजा=स्व प्रजा-जनान्, तन्त्रयित्वा=स्व शासनेन नियम्य, श्रान्त मन यस्य स—श्रान्तमना=खिन्न-चित्त, (एष देव) तथैव, विविक्तम=ऐकान्त शान्त च स्थानम, निषेवते=आश्रयते, यथा, दिवा=दिने, यूथानि=गजसमूहान्, सचाय=यथायोग्यक्षेत्रादिषु सप्रेष्य, रविप्रतप्त=आतपपीडित, द्विपेन्द्र=गजराज, शीतम=शीतलम, स्थानम्=प्रदेशम (निषेवते)।

सस्कृत सरलार्थ—यथा दिने गजराज, स्वकीयगजसमूहान् यथायोग्य-क्षेत्रेषु सप्रेष्य सूर्यकिरणसन्तप्त सन् कञ्चित् शीतल प्रदेश माश्रित्य विश्राम करोति तथैवाय राजा अपि स्वकीयसन्ततय इव स्वप्रजाजनान् स्वधर्मशासनेन नियम्य परिश्रमेण खिन्नचित्त सन् एकान्त शान्त च स्थान मेत्य विश्राम करोति।

(उपगम्य) (पास जाकर) महाराज की जय हो। ये हिमालय की तराई के जगल मे रहने वाले, स्त्रियो के साथ तपस्विजन, महर्षि काश्यप का सन्देश लेकर आये हैं, यह सुनकर महाराज जो ठीक समझें, करें।

टिप्पणी

नियोगम्—अपना कर्तव्य—नि+युज्+घञ्। तन्त्रयित्वा=न्यायपूर्वक शासन के द्वारा सभी कार्यों को ठीक करके, **श्रान्तमना**—श्रम+क्त। **विविक्तम्**—एकान्त, शान्त—वि+विच्+क्त। **सचार्य**—सम्+चर्+णिच्+क्त्वा—ल्यप्।

राजा—(सादरम्) किं काश्यपसन्देशहारिणः ।

कञ्चुकी—अथ किम् ।

राजा—तेन हि मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हसीति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(उत्थाय) वेत्रवति, अग्निशरणमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इत इतो देवः । [इदो इदो देवो ।]

द्विपानामिन्द्रः=गजराज । **उपत्यका**—उप+त्यकन् समीप अर्थ मे 'उपाधिभ्यां त्यकन्"—

अधित्यका ऊँची समतल भूमि ।

राजा—(आदर पूर्वक) क्या वे काश्यप का सन्देश लेकर आये हैं ?

कञ्चुकी—हाँ और क्या ।

राजा—तब तो मेरी आज्ञा से उपाध्याय सोमरात से यह कह दो कि इन आश्रमवासियों का वेदविहित विधि से सत्कार करके स्वयं ही इनका प्रवेश करायें । मैं भी यहाँ तपस्वियों के दर्शन योग्य स्थान पर बैठा हुआ प्रतीक्षा करता हूँ ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा ।

(यह कहकर प्रस्थान)

राजा—(उठ कर) वेत्रवती, यज्ञशाला का मार्ग बताओ ।

प्रतीहारी—महाराज, इधर से इधर से आइये ।

टिप्पणी

उपाध्याय—आचार्य की अपेक्षा उपाध्याय का स्थान कुछ निम्न श्रेणी का माना जाता था, मनु ने उपाध्याय का लक्षण इस प्रकार दिया है "एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि यो पुनः । योऽध्यापयति वृत्त्यर्थ मुपाध्यायः स उच्यते । उप+अधि+इङ् अध्ययने धातोः 'इङश्चेति' घञ् प्रत्यय वृद्धि । **श्रौतेन**—श्रुतौ विहित श्रौत स्तन—श्रुति+अण् । **सत्कृत्य**—सत्+कृ+क्त्वा—ल्यप् "आदरानादरयोः' से सत् की गति संज्ञा होने से समास । **अग्निशरणम्**—यज्ञशाला जहाँ त्रिविधि अग्नियों की स्थापना की जाती है, राजा के लिये यज्ञशाला में ही तपस्वियों से मिलने का **विधान है** "अग्न्यागारगतः कार्यं पश्येद् वैद्यतपस्विनम्" ।

राजा—(परिक्रामति । अधिकारखेदं निरूप्य ।) सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः । राज्ञां न्तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव ।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम् ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥६॥

राजा—(चारो ओर घूमता है (और) अपने अधिकार के दुःख का अभिनय करके) सभी प्राणी अपनी मनोवाञ्छित वस्तु को प्राप्त करके सुखी हो जाते है किन्तु राजाओं की चरितार्थता अर्थात् कार्यसफलता दुःख प्रधान ही होती है।

औत्सुक्य मात्रमिति-अन्वय—प्रतिष्ठा औत्सुक्यमात्रम अवसाययति । लब्धपरिपालनवृत्ति एनम् क्लिश्नाति । स्वहस्तधृतदण्डम् आतपत्रम इव राज्यम् अतिश्रमापनयनाय न यथा श्रमाय (भवति)

शब्दार्थ—प्रतिष्ठा=उच्च पद आदि की अथवा अप्राप्त वस्तु की प्राप्तिजन्य प्रतिष्ठा प्रसिद्धि अथवा गौरव, औत्सुक्यमात्रम्, केवल उत्सुकता को (इष्टवस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न उत्कण्ठा को) अवसाययति=शान्त करती है। लब्धपरिपालनवृत्ति=प्राप्त वस्तु की रक्षा का कार्य, एनम्=इसको राजा आदि को, क्लिश्नाति=दुःखित कर देता है। स्वहस्तधृतदण्डम्=जिनका दण्ड (स्वयं अपने) हाथ से पकडा गया है ऐसा, आतपत्रम् इव राज्यम्=छाते के समान राज्य, अतिश्रमापनयनाय न, थकान को उतना अधिक दूर करने के लिए नही होता, यथा श्रमाय=जितना कि और अधिक थकान के लिए होता है।

अनुवाद—उच्चपदादि की प्राप्ति जन्य प्रसिद्धि, केवल उत्सुकता को ही शान्त करती है (किन्तु) प्राप्त वस्तु की रक्षा का कार्य, इस राजा को, दुःखित ही करता है। अपने हाथ से (स्वयं) जिसका दण्ड पकडा गया है ऐसे छत्र के समान राज्य, थकान को उतना अधिक दूर नही करता जितना कि थकान को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—अधिकार प्राप्ति जन्य खिन्नता को प्रकट करता हुआ राजा कहता है कि राज्यादि उच्च पद की प्राप्ति से जो व्यक्ति को गौरव प्राप्त होता है, वह केवल उसकी इष्ट वस्तु प्राप्ति जन्य उत्सुकता या उमंग को ही शान्त करता है और कुछ नही, इष्ट वस्तु पाकर उसकी उमंग समाप्त हो जाती है, किन्तु प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करने का भार उसे अत्यधिक दुःख ही देता है, अतः राज्य वस्तुतः उस छाते के समान है जिसका कि दण्ड उसने स्वयं धारण किया है। ऐसा छाता व्यक्ति की थकान को उतना अधिक दूर नही करता जितना कि उसे थकान स्वयं देता है। कहीं 'नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय' भी पाठ है, वहाँ इसका अर्थ है कि स्वहस्तधृतदण्ड वाला छत्र न तो अधिक थकान दूर ही करता है और न अधिक थकान देता ही है अर्थात् दण्ड धारण मे जितना कष्ट होता है उतना भी आराम नही मिलता है पर लाभ कुछ नही होता।

(नेपथ्ये)

वैतालिकौ—विजयतां देव ।

प्रथम —

स्वसुखनिरभिलाष खिद्यसे लोकहेतो
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे उत्तरार्ध वाक्यार्थ के प्रति पूर्वार्धवाक्यार्थ हेतु है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, चतुर्थ चरण मे **उपमा**, 'श्रमापनयनाय श्रमाय' **विरोधाभास**, दण्ड शब्द के दो अर्थ है, दण्ड विधान और डण्डा । अत **श्लेष, यथासख्य, अनुप्रास** अलकार, बसन्ततिलका छन्द, प्रसादगुण, पाञ्चाली रीति है ।

सस्कृत व्याख्या—प्रतिष्ठा=राज्यलाभादिजन्यगौरवप्रसूता प्रसिद्धि , औत्सुक्यमेव औत्सुक्यमात्रम्—उत्कण्ठामात्रम्—विविधपदार्थभोगेच्छामात्रम् वा, अवसाययति= समाप्ति नयति । लब्धस्य प्राप्तराज्यादे परिपालनीय सर्वतोभावेन सरक्षणाय या वृत्ति व्यापार —लब्धपरिपालनवृत्ति , एनम्=राजानम्, क्लिश्नाति=पीडयति । स्वहस्तेन स्वकीयकरेण धृत गृहीत दण्ड छत्रदण्ड यस्मिन् तत्—**स्वहस्तधृतदण्डम्**, आतपत्रम्—छत्रम् इव राज्यम्, अत्यधिक श्रमस्य खेदस्य अपनयनाय विनाशाय— अतिश्रमापनयनाय, न तथा भवति यथा—येन प्रकारेण, श्रमाय खेदाय (भवति) ।

सस्कृत सरलार्थ—महाञ्चपदादिप्राप्तिजन्यप्रतिष्ठा केवल मुत्कण्ठामात्रमेव समाप्ति नयति पर प्राप्तवस्तुसरक्षणकार्य मेन राजान दु खयत्येव । **स्वकरगृहीतच्छ**त्रदण्डमिव राज्य मतिखेदनाशाय तथा न भवति यथा खेदाय भवति ।

टिप्पणी

अधिकारखेदम्—अधिकार की प्राप्ति से उत्पन्न दु ख । **चरितार्थता**—सफलता— चरित अर्थ येन स चरितार्थ तस्य भाव अपने अभीष्ट प्रयोजन को प्राप्त कर लेना । **दु खोत्तरा**—दु ख उत्तर प्रधान यस्या सा—जिसमे मुख्यत दु ख ही रहता है । **औत्सुक्यमात्रम्**—औत्सुक्य मेव औत्सुक्यमात्रम् मयूरव्यसकादयश्चेति एवार्थे मात्रशब्देन सह नित्यसमास । किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा या उत्कण्ठा मात्र को । **अवसाययति**—समाप्त करती है । अव+सो (सा)+णिच्+लट्, णिच् के पूर्व युक् का आगम । **प्रतिष्ठा**—प्रति+स्था+अड् (अ) । **लब्धपरिपालनवृत्ति** प्राप्त को गई वस्तु की रक्षा का भार । जब तक इष्ट वस्तु प्राप्त नही होती तब तक तो उसकी प्राप्ति की उत्सुकता रहती है, प्राप्त हो जाने पर उत्सुकता तो शान्त हो जाती है पर उस प्राप्त वस्तु की रक्षा का भार उस पर पडता है अत इस रक्षा मे उसे दु ख उठाना पडता है । **स्वहस्तधृतदण्डम्**—यहाँ दण्ड के दो अर्थ हैं, दण्ड=दण्डविधान, न्यायदण्ड जिसे राजा को धारण करना पडता है और दण्ड अर्थात् छत्रदण्ड । **आतपत्रम्**— आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्=छत्रम् आतप+त्रा+क ।

(नेपथ्य मे)

दो स्तुतिपाठक चारण—महाराज की जय हो ।

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्ण
शमयति परिताप छायया सश्रितानाम् ॥७॥

प्रथम चारण—

स्वसुखेति-अन्वय—स्वसुखनिरभिलाप लोकहेता प्रतिदिनम खिद्यसे । अथवा ते वृत्ति एवविधा एव । हि पादप मूर्ध्ना तीव्रम उष्णम अनुभवति । छायया सश्रितानाम् परितापम् शमयति ।

शब्दार्थ—स्वसुखनिरभिलाष = अपने सुख की अभिलाषा न रखने वाले, लोकहेतो = प्रजाजनो के (हित के) लिये, प्रतिदिनम = प्रतिदिन अर्थात् निरन्तर, खिद्यसे = कष्ट सहते हो, अथवा ते = अथवा तुम्हारा, वत्ति = कार्यव्यापार या व्यवहार, एवविधा एव = ऐसा ही है । हि = क्योकि, पादप = वृक्ष, मूर्ध्ना = अपने सिर पर, तीव्रम् उष्णम = प्रचण्ड धूप का, अनुभवति = सहता है, छायया = अपनी छाया देकर, सश्रितानाम = अपने आश्रय मे आये हुये लोगो के परितापम् = सताप, पीडा को, शमयति = शान्त करता है ।

अनुवाद—अपने सुख की इच्छा न रखने वाले (आप) प्रजाजनो के (हित साधन के) लिये प्रतिदिन कष्ट सहते हो, अथवा तुम्हारा कार्यव्यापार ऐसा ही है अर्थात् अपने सुख की चिन्ता न कर, निरन्तर प्रजाजनो के सुख के लिये कष्ट सहते रहना आपका प्रतिदिन का काम ही है । क्योकि वक्ष अपने सिर पर प्रचण्ड धूप को सहता है (फिर भी) अपने आश्रय मे आये हुये लोगो को छाया देकर सन्ताप को दूर करता है ।

भावार्थ—प्रथम वैतालिक कहता है कि आप अपने सुख के लिये इच्छा न कर के निरन्तर प्रजाजनो के हित के लिये काम करते हुये कष्ट उठाते है अथवा ऐसा करना आपके सम्बन्ध मे कोई आश्चर्य की बात नही, आप जैसे लोकरक्षक सम्राट का तो यह काम ही है कि वह अपने सुख की चिन्ता न कर प्रजासुख के लिये कष्ट सहन करे जैसा कि आप करते है । क्योकि वृक्ष भी तो प्रतिदिन अपने सिर पर कडी धूप सहन करता है परन्तु फिर भी अपने यहा आये हुये धूप से सन्तप्त जनो को छाया देकर उनके सन्ताप को दूर करता है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'पादप' शब्द साभिप्राय है, राजा भी पादप ही होता है, पादान् चरणभूता आधारभूता वा प्रजा पातीति रक्षतीति पादप । प्रजाजन राजा के आधारभूत पैर ही होते है, वह उन्ही के सहारे चलता फिरता तथा कार्य करता है अत वह उनकी रक्षा भी करता है, राजा पादतुल्य अपने आश्रित प्रजाजनो का रक्षक होता है । वक्ष के अर्थ मे पादप का अर्थ है—पादै पिबति जो जडो के द्वारा जल या रस का पान करता है, वक्ष अपने जडो से ही जल खीचकर हरे भरे होते है । इस प्रकार यहाँ वृक्ष पर लोकरक्षक राजा के व्यवहार का समारोपण होने से **समासोक्ति** अलकार, छाया, ताप, शान्ति का कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, द्वितीय पंक्ति मे

द्वितीय —
नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्ड
प्रशमयसि विवाद कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातय सन्तु नाम,
त्वयि तु परिसमाप्त वन्धुकृत्य जनानाम् ॥८॥

अथवा के द्वारा स्वोक्ति का प्रतिपेध भी किया गया है, अत **आक्षेप** अलकार, उत्तरार्ध म उपमान के धम का प्रतिबिम्ब होने से **दृष्टान्त** अलकार वृत्यनुप्राम श्रुत्यनुप्रास। वैतालिकनिष्ठ राजविषयक रति भाव की अभिव्यञ्जना। प्रसादगुण, वैदर्भी रीति और मालिनी नामक छ द है "ननमयय युतेय मालिनी।"

सस्कृत व्याख्या—स्वस्य यत् सुख तत्र निरभिलाप =आत्मसुखेच्छारहित, लोकस्य प्रजाजनस्य हेतो —लोकहेतो —जनहितसम्पादनार्थम प्रतिदिनम—प्रत्यह निरतमिति यावत्, खिद्यसे —कष्ट मनुभवसि। अथवा ते —तव राज्ञ दुष्यन्तस्य, वृत्ति = कायव्यापार, एवविधा एव=एतादश एव—स्वसुखनिव्यपेक्षारूपा परसुखोत्पादनरूपा एव ते वृत्तिरितिभाव। हि—यताहि, पादप —वृक्ष, मूर्ध्ना=स्वशिरसा, तीव्रम= दु सहम्, उष्णम=आतपम, अनुभवति। छायया=शीतलच्छायादानेन, सश्रितानाम— आत्माश्रितानां तलोपविष्टाना जनानाम, परितापम=आतपजन्यम तापम्, शमयति= निवारयति।

सस्कृत सरलाथ—प्रथमो वैतालिको दुष्यन्त राजानमुद्दिश्य कथयति—त्व मात्मसुखेच्छाविरहितो भूत्वा प्रजाना हितसम्वर्धनार्थ मेव निरन्तर कष्टमनु भवसि, अथवा नात्र किमप्यत्राद्भुत कर्तव्य मवेद भवत। यतोहि पादपोऽपि स्वशिरसा दु सह मातप सहते, पर स शीतलच्छायादानेन आत्माश्रितानां जनाना मातपजन्य परिताप निवारयत्येव।

टिप्पणी

वैतालिकौ—ये राजस्तुतिपाठक एव निश्चित समय की सूचना देने वाले चारण होते हे, यही रात्रि व्यतीत होने पर स्तुति द्वारा राजा को जगाते भी है अतएव वैतालिका बोधकरा उच्यन्ते 'तत्तत्प्रहरकयोग्यै रागैस्तत्तत्कालवाचिभि श्लोकै। सरभसमेव विताल गायन् वैतालिको भवति" अर्थात् प्रत्येक प्रहरोचित रागो मे तथा भिन्न-भिन्न काल निर्देशक श्लोको से जो तालादिक्रमरहित समयानुसार गाते ह उन्हे वैतालिक कहा जाता है। विविध ताल विताल स प्रयोजनमस्येत्यर्थे विताल शब्दात् "प्रयोजनमिति ठञ् (इक) अथवा वितालगान शिल्पमस्येत्यर्थे ठक। **खिद्यसे** दैवादिकात् खिद् धातो रात्मने पदे लट। **लोकहेतो** —हत्वथ पञ्चमी लोकस्तु भुवने जने।" **वृत्ति** —वृत्+क्तिन्। **पादप** पादै पिवतीति पादप वृक्ष, पादान् चरणभूता आधार भूता वा प्रजा पाति रक्षतीति वा पादप प्रजापालक राजा। **परितापम** प्रजाजनाना सन्ताप दु ख क्लेश वा अन्यत्र आत्मतलापविष्टाना जनाना मातपजन्य तापम।

द्वितीय—दूसरा वैतालिक कहता है—

नियमयसीति-अन्वय—आत्तदण्ड कुमागप्रस्थितान् नियमयसि। विवादम् प्रशमयसि, रक्षणाय कल्पसे। अतनुषु विभवेषु ज्ञातय स तु नाम, प्रजानाम् ब धुकृत्यम् तु त्वयि परिसमाप्तम्।

शब्दार्थ—आत्तदण्ड = राजदण्ड को धारण किये हुये, कुमागप्रस्थितान् = बुरे मार्ग पर चलने वालो को, नियमयसि = निय त्रित कर सन्माग पर लाते हो। विवाद प्रशमयसि = प्रजाजनो के आपसी कलह अथवा वादविवादो को, पूणतया शान्त करते हो। रक्षणाय कल्पसे = (प्रजाजनो की) रक्षा के लिये समथ होते हो। अतनुषु = पर्याप्त, विभवेषु = सम्पत्तियो के होने पर, ज्ञातय स तु नाम = भले ही बहुत से सम्बन्धी हो जाएँ, (कि तु) प्रजानाम् ब धुकृत्यम् = प्रजाजनो का ब धुबा धवो द्वारा करणीय काय तो, त्वयि परिसमाप्तम् = आप मे ही पूण होता है।

अनुवाद—राजदण्ड धारण करने वाले (आप) कुमाग पर चलने वाले अविहित कर्मों को करने वाले लोगो को निय त्रित कर स माग पर लाते हो। (प्रजाजनो के) पारस्परिक विवादो एव कलहो को पूणतया शा त करते हो (और उनकी) रक्षा के लिये समथ होते हो। पर्याप्त सम्पत्तिया के होने पर तो भले ही अ य सम्ब धी जन हो जाएँ पर प्रजाजनो का ब धुजनो द्वारा करणीय कार्य तो आप पर ही पूण होता है।

भावाथ—राजस्तुति करता हुआ द्वितीय वैतालिक कहता है कि आवश्यक होने पर आप राजदण्ड धारणकर अनुचित काय करने वाले लोगो को दण्ड देकर सन्मार्ग पर लाते हो, जब कभी प्रजाजनो के बीच कोई विवाद या झगडा होता है तब आप उसको भली भाँति शा त करते हो और उनकी रक्षा करने मे समथ हाते हा, यह सम्भव है कि विशेष धनवान लागो के अनेक स्वजन कुटुम्बी बन जायँ पर साधारण प्रजाजनो के लिये तो आप ही उनके माता पिता भाई-ब धु होते हो अर्थात् साधारणजन तो आप से ही रक्षित होते हैं अपने निजी कुटुम्बी कह जाने वाले लोगो से नही।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अ तिम चरण के प्रति पूव वाक्याथ हेतु है अत वाक्याथ हेतुक **काव्यलिङ्ग** अलकार, नियमयसि आदि तीन क्रियाओ का कर्ता एक 'त्वम्' है अत **दीपक** अलकार, ब धुजनो की अपेक्षा राजा मे आधिक्य का कथन है अत **व्यतिरेक** अलकार, अनुप्रास, वैतालिकनिष्ठ राजविषयक रति भाव की अभिव्यक्ति है। मालिनी नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—आत्त गृहीत दण्ड राजदण्ड येन स —आत्तदण्ड = गृहीत राजनियमदण्ड, (त्वम्) कुत्सितो माग कुमाग तेन कुमार्गेण प्रस्थितास्तान्—निषिद्धपथपथिकान् कुमागगामिन इत्यथ। नियमयसि—स्वशासनदण्डेन सत्पथगामिन करोषि। विवादम्—धनादिकारणज य पारस्परिक विरोध कलहम् वा, प्रशमयसि = निवारयसि। रक्षणाय = प्रजाजनरक्षाकार्याय, कल्पसे = प्रभवसि। अतनुषु = प्रभूतेषु, विभवेषु = धनधान्यादिषु सत्सु, ज्ञातय = कुटुम्बिन स्वजना वा, सन्तु नाम = भवन्तु

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः ।

(इति परिक्रामति)

प्रतीहारी—एषोऽभिनवसमार्जनसश्रीकः सन्निहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः । आरोहतु देवः । [एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो । आरोहदु देवो]

राजा—(आरुह्य परिजनांशावलम्बी तिष्ठति) वेत्रवति, किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः ।

नाम । प्रजानाम्=प्रकृतीनाम बन्धुकृत्यम=बन्धुजनकरणीय कार्यम्, तु, त्वयि—दृश्यन्ते एव । परिसमाप्तम्=पूर्णतया सम्पन्नं भवति ।

संस्कृत सरलार्थ—द्वितीयो वैतालिकः राजानं प्रस्तौति—गृहीतराजनियमदण्डस्त्वं निषिद्धाचारपरायणान् कुमार्गगामिनो जनान् शासनदण्डेन वशीकृत्य सत्पथगामिनो विदधासि । प्रजाजनानां पारस्परिकविवादं कलहं वा निवारयसि एवं सर्वेषां जनानां रक्षाकार्याय प्रभवसि, सम्भवत्येतत् यत् प्रभूतेषु धनधान्यादिषु सत्सु प्रजानाम ये स्वजना सम्बन्धिनो भवन्तु, परं सामान्यजनानां तु बन्धुबान्धवकरणीयकार्यं साहाय्यं वा त्वयि एव नान्यस्मिन् तथाकथिते बन्धुजने, पूर्णतया सम्पन्नं भवति, अतएव त्वमेव वस्तुतो बन्धुर्नान्य ।

टिप्पणी

आत्तदण्ड—आत्तः दण्डः येन । आ+दा+क्त, 'अच उपसर्गात्त' इति धातोराकारस्य त्—आत्त=गृहीत । राजा को समयानुसार दण्ड भी देना पड़ता है, और ऐसा करना शास्त्रसम्मत भी है अपराध नहीं "समये यश्च तनोति तिग्मताम्' प्रजानां विनयाधानात्" । दण्ड देना शास्त्रसम्मत है "तदर्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्परमेश्वरः" भृगुसंहिता । "स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तिः स्यात् दुग्रदण्डश्च शत्रुषु" **कुमार्गप्रस्थितान्**—कुत्सितः मार्गः=कुमार्गः प्रादितत्पुरुष, तेन प्रस्थितास्तान् । मृज+घञ्=मार्ग । **नियमयसि**—नि+यम्+णिच् लट् अत्रमितां ह्रस्व इति ह्रस्व । **विवादम्**—वि+वद्+घञ् । **प्रशमयसि**—प्र+शम+णिच् लट, अत् णित्वात् वृद्धौ कृतायामपि मितां ह्रस्व इति ह्रस्वत्वम । **कल्पसे** क्लृपि सम्पद्यमाने चेति क्लृप् धातु योगे रक्षणायेत्यत्र चतुर्थी । **अतनुषु**—तनु=कम, अतनु=अधिक । **ज्ञातय**—कुटुम्बी स्वजन । **सन्तु नाम**—नामेति सम्भावनायाम् । **बन्धु कृत्यम्**—बन्धु का लक्षण—"उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे । राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव", **परिसमाप्तम**—परि+सम्+आप्+क्त ।

राजा—(वैतालिककृत स्तुति को सुनकर) खिन्नमन हुआ मैं पुन नवीन उत्साहसम्पन्न हो गया हूँ ।

(यह कहकर चारो ओर घूमता है)

प्रतीहारी—अभी हाल ही स्वच्छकर (झाड़ बुहार कर) मनोहर बनायी गई,

किं तावद् व्रतिना मुपोढतपसा विघ्नैस्तपो दूषित,
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतक मपरिच्छेदाकुल मे मन ॥९॥

और जिसके समीप ही हवन के लिये घृत दूध आदि के लिये उपयोगी गो बँधी हुई है, ऐसी यह अग्निशाला की वेदिका (चबूतरा) है, महाराज उस पर चढे ।

राजा—(राजा चढकर और सेविका के कधे का सहारा लेकर स्थित हो जाता है) वेत्रवती, किस उद्देश्य से भगवान् काश्यप ने मेरे पास ऋषियो को भेजा होगा ?

किमिति—**अन्वय**—किम् तावत् उपोढतपसाम् व्रतिनाम् तप विघ्नै दूषितम् उत धर्मारण्यचरेषु प्राणिषु केनचित् असत् चेष्टितम्, आहोस्वित् मम अपचरितै वीरुधाम् प्रसव विष्टम्भित, इति आरूढबहुप्रतकम् मे मन अपरिच्छेदाकुलम् (अस्ति) ।

शब्दार्थ—किम् तावत्=तो क्या, उपोढतपसाम्=अत्यधिक उच्च तप करने वाले, व्रतिनाम्=व्रती ऋषियो का, तप =तप, विघ्नै =विघ्नो के कारण दूषितम्= कलुषित हो गया है । उत—अथवा, धर्मारण्यचरेषु प्राणिषु=तपोवन मे विचरण करने वाले प्राणियो (मृगो आदि) पर, केनचित्=किसी ने, असत्=अनुचित, चेष्टितम्= चेष्टा की है । आहोस्वित्=अथवा, मम=मेरे (दुष्य त के) अपचरितै =कुकृत्यो से, वीरुधाम्=लताओ का, प्रसव =फल फूल, विष्टम्भित =रुक गया है । इति=इस प्रकार, आरूढबहुप्रतकम्=बहुत सी शकाओ से व्याप्त, मे मन =मेरा मन, अपरिच्छेदाकुलम्=किसी निर्णय पर न पहुँचने के कारण व्याकुल (है) ।

अनुवाद—तो क्या अत्यधिक उच्च तप करने वाले व्रती तपस्वियो का तप विघ्नो के कारण कलुषित हो गया है, अथवा तपोवन मे विचरण करने वाले (मृगादि) जीवो पर किसी ने अनुचित चेष्टा की है, अथवा मेरे कुकृत्यो से लताओ का फलना-फूलना रुक गया है, इस प्रकार अनेक शकाओ से व्याप्त मेरा मन कुछ निर्णय पर न पहुँचने के कारण व्याकुल (हो रहा है) ।

भावार्थ—राजा वेत्रवती से पूछता है कि ऋषियो के आने का क्या कारण हो सकता है, फिर वह स्वय सोचता है कि तो क्या तपस्वियो के तप को विघ्नो द्वारा भ्रष्ट कर दिया गया है अथवा तपोवन के जीवो पर किसी ने अनुचित चेष्टा की है अथवा मेरे ही दुष्कृत्यो से लताओ का फलना फूलना बन्द हो गया है, इस प्रकार की अनेक शकाये मेरे मन मे उठ रही है किन्तु मै किसी निर्णय पर नही पहुँच पा रहा हूँ अतएव मेरा मन व्याकुल हो रहा है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आरूढबहुप्रतक मन की व्याकुलता का कारण बताया गया है अत काव्यलिङ्ग, अलकार छेक, वृत्ति एव श्रुति अनुप्रास, चिन्ता, विषाद, आवेग

आदि भाव धमवीर रस के पोषक है, प्रसाद गुण, पाञ्चाली रीति। शादूलविक्रीडित छद है।

सस्कृत व्याख्या—किं तावत्=किमिति, उपोढम् आरब्ध तप यागादितपश्चरण येषा तेषाम्—उपोढतपसाम्=आरब्धयागादितपश्चरणनाम्, व्रतिनाम्—अग्निष्टोमादि-यागनियमवताम् तप =तपश्चरणम्, विघ्नै =राक्षसादिकृतान्तरायै, दूषितम्=विघ्नितम् अस्ति। उत=अथवा, धर्मारण्यचरेषु=तपोवनविहरणशीलेषु, प्राणिषु=मृगादिजीवेषु केनचित्—केनचिदपि व्याधादिना, असत्=अनुचितम्, चेष्टितम्=आचरितम्। आहोस्वित्=अथवा, मम=दुष्यन्तस्य, अपचरितै =दुष्कृत्यै पापै र्वा, वीरुधाम्=लतानाम्, प्रसव =फलपुष्पाद्युद्गम, विष्टम्भित =सन्निरुद्ध। इति—एव प्रकारेण, आरुढा उद्भूता बहव अनेके प्रतर्का सशया यस्मिन् तत्—आरुढवहु-प्रतकम्, मे—मम दुष्यन्तस्य, मन —मानसम्, अपरिच्छेन विषयविशेषस्य अनवधारणेन आकुल व्याकुल —अपरिच्छेदाकुलम्। वतते।

सस्कृत सरलाथ—राजा स्वमनसि चिन्तयति—किमिति आरब्धयज्ञीयविधीना नियमवताम् तपस्विना तपश्चर्या राक्षसादिकृतविघ्नै दूषितास्ति। अथवा तपोवन विचरणशीलेषु मृगादिजीवेषु केनापि दुष्टेनानुचितमाचरितम् अथवा मम दुष्कृत्यै लताना पुष्पफलाद्युद्गमो निरुद्ध, इति, समुद्भूतानेकसशय मे मानस विषयविशेषस्य निणयाभावेनातिव्याकुल वतत।

टिप्पणी

क्लान्तमनस—क्लान्त खिन्न मनो येषान्ते। **नवीकृता**—उत्साहसम्पन्ना कृता यद्यपि मेरा मन अब तक उदास था पर वैतालिको की स्तुति सुनकर फिर उत्साहित हो गया है।

प्रतीहारी—सन्धिविग्रह सम्बद्ध नानाकायसमुत्थितम्। निवेदयन्ति या काय प्रतीहार्यस्तु ता मता—नाना कार्यों की सूचना देने वाली राज सेविका प्रतीहारी कहलाती है। **अभिनवसमार्जनसश्रीक** अभिनवेन समाजनेन श्रिया सहित—**होम-धेनु**—होमार्था धेनु। **अलिन्द**—अलिन्द का अथ वस्तुत देहली अथवा ऊँचा प्रवेश द्वार है यहा प्रसगत इसका अथ यज्ञवेदिका या चबूतरा लिया गया है। **उपोढतप-साम्**—उप+वह+क्त, सम्प्रसारण ढत्व धत्व ढत्व आदि—उपोढ, इसका अथ धारण करना है "उपाढशब्दा न रथाङ्गनेमय शकुन्तल। अन्य टीकाकारो ने इसका अथ अत्य-धिक तथा उच्च भी लिया है पर धात्वथ के अनुसार धारण करना ही अथ उचित है, प्रसगानुकूल यहा इसका अथ आरब्ध किया गया है और तप का अथ यज्ञ लिया है। व्रती का अथ नियमवान् या यज्ञदीक्षित करना ही प्रसगानुकूल है।

दूषितम्—दुष्+णिच+क्त 'दोषो णौ' इति उकारस्य दीघ।

अपचरित—ऐसी मान्यता थी कि राजा के दुष्कम से ही प्रजा पर आपत्ति आती थी राज्ञाऽपचारात् पृथिवी स्वल्पसस्या भवेत् किल। अल्पायुष प्रजा सर्वा दरिद्रा व्याधिपीडिता। "न राजापचारमन्तरेण प्रजासु, अकाल मृत्यु सचरति" (उत्तररा-

प्रतीहारी—सुचरितनन्दन ऋषयो देव सभाजयितुमागता इति तर्कयामि। [सुचरिदणन्दिणो इसीओ देव सभाजइदु आअदेत्ति तक्केमि।]

(तत प्रविशन्ति गौतमीसहिता शकुन्तला पुरस्कृत्य मुनय । पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च ।)

कञ्चुकी—इत इतो भवन्त ।

शाङ्‍र्ङरव—शारद्वत,

महाभाग काम नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ,
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीद शश्वत् परिचितविविक्तेन मनसा,
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीत गृहमिव ॥१०॥

मच्चरित)" राजदोषैं विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिता रामायण। **प्रसव**—प्र+सू+अप्। **आरूढ**—आ+रुह+क्त। **अपरिच्छेद**—परिच्छेद—परि+छिद् घञ्=काटना विवेचन करना अतएव निणय करना।

प्रतीहारी—मैं यह समझती हूँ कि (आपके) सच्चरित्र से प्रसन्न हुये ऋषिजन महाराज का अभिनन्दन करने के लिए आये है।

(तदनन्तर गौतमी के साथ, शकुतला को आगे करके, मुनिजन प्रवेश करते हैं और इनके आगे कञ्चुकी तथा पुरोहित।)

कञ्चुकी—आप लोग इधर से आइये इधर से।

शाङ्‍र्ङरव—हे शारद्वत !

महाभाग इति अन्वय—कामम अभिन्नस्थिति असौ नरपति महाभाग, वर्णानाम् अपकृष्ट अपि कश्चित् अपथम् न भजते। तथापि शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा जनाकीणम् इदम् हुतवहपरीतम् गृहम इव मन्ये।

शब्दार्थ—कामम्=भले ही, अभिन्नस्थिति=मर्यादा को न तोडने वाला अर्थात् मर्यादापालक, असौ नरपति=यह राजा, महाभाग=महाभाग्यशाली या महायशस्वी (है) और (इसके राज्य मे) वर्णानाम् अपकृष्ट अपि=ब्राह्मणादि वर्णों मे निकृष्ट वण शूद्रादि भी, कश्चित्=कोई, अपथ न भजते=कुमाग को नही अपनाता है। तथापि=फिर भी, शश्वत्परिचितविविक्तेनमनसा=निरन्तर एकान्त से अभ्यस्त मन से, जनाकीणम् इदम्=भीड भाड़ से युक्त इस, राजगृह को (मै) हुतवहपरीत गृहम् इव=अग्नि से घिरे हुए घर की तरह, मन्ये=मानता हूँ।

अनुवाद—भले ही मर्यादापालक यह राजा महाभाग्यशाली है, (इसके राज्य मे) ब्राह्मणादि वर्णों मे निकृष्ट शूद्रादि भी, कोई कुमाग पर नही चलता है, तथापि निरन्तर एकान्त से अभ्यस्त मन से मैं इन लोगो से भरे हुए राजगृह को अग्नि से गिरे हुए घर के समान मानता हूँ।

भावार्थ—राजद्वार पर लोगो की बडी भीड़ को देखकर शाङ्‍र्ङरव, अपने

साथी ऋषि शारद्वत से कहता है कि भले ही यह मर्यादापालक राजा परम सौभाग्यशाली और महायशस्वी हो तथा इसके राज्य मे निकृष्ट वर्ण शूद्रादि भी कोई कुमार्गगामी न हो, इस प्रकार यह राजा पूर्णधार्मिक, न्यायप्रिय, मर्यादापालक एव प्रजाजनरक्षक हो, परन्तु यह राजगृह जो कि अनेक लोगो से भरा हुआ होने के कारण सवथा अशान्त एव कोलाहल पूर्ण है, मुझे वैसा ही अशान्त एव विक्षुब्ध लग रहा है जैसे कि यह अग्नि ज्वालाओ से घिरा हुआ हो, इसका कारण है कि मेरा मन एकान्त मे रहने का अभ्यासी है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अशान्ति का कारण न होने पर भी विक्षुब्धता बतलाई गई है अत **विभावनालकार** यद्यपि राजा महानुभाव धार्मिक एव परमशान्ति है, तथापि शान्ति का अनुभव नही हो रहा है अत **विशेषोक्ति अलकार**, 'इव' के द्वारा **उपमालकार**, और 'मन्ये' से बोधित **उत्प्रेक्षालकार**, उक्तविभावना और विशेषोक्ति के यद्यपि निमित्त बतलाये गये हैं तथापि दोनो मे साधक और बाधक प्रमाणो का निर्देश न होने से **सन्देहसकर** है। यद्यपि 'इव मन्ये' यहाँ पर 'मन्ये' पद से उत्प्रेक्षालकार जान पडता है तथापि यहाँ उत्प्रेक्षा की अन्य सामग्री न होने से उत्प्रेक्षालकार न होकर केवल उपमालकार ही है, ऐसी कुछ टीकाकारो की मान्यता है। प्रसादगुण तथा वैदर्भी रीति है। शार्ङ्गरव के इस सम्पूर्ण कथन से शकुन्तला के भावीप्रत्याख्यान रूप अमगल की भी सूचना मिलती है अन्यथा सुन्दर भी राजभवन शार्ङ्गरव को क्यो उद्वेगजनक एव त्याज्य लगता, जिसे उसने पहले ही त्याज्य मान लिया वह राजभवन अन्त मे सबके लिए त्याज्य ही प्रमाणित हुआ। प्रस्तुत पद्य मे शिखरिणी नामक छन्द है "रसैरुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागा शिखरिणी।"

सस्कृत व्याख्या—कामम्—भवतु नामैतत्, यत् न भिन्ना नोच्छिन्ना स्थिति लोकमर्यादा येन स —अभिन्नस्थिति —मर्यादापालक, असौ नरपति —एष दुष्यन्तो राजा, महान् भाग भाग्य यस्य स —महाभाग प्रशस्तभाग्यशाली महायशस्वी वा (वर्तते) (राज्येऽस्य) वर्णाना—ब्राह्मणादि वर्णाना मध्ये, अपकृष्ट अपि=निकृष्ट शूद्रादिरपि कश्चित्, अपथ न भजते—कुमार्गम् नाश्रयते तथापि, शश्वत् निरन्तर परिचित अभ्यस्त विविक्त निर्जन स्थान येन तेन—शश्वत्परिचितविविक्तेन—आजन्माभ्यस्तविजनस्थानेन, मनसा—चित्तेन (अहम्) जनै लोकै आकीर्णं व्याप्तम्—जनाकीर्णम्—लोकसकुलम्, इदम्=राजगृहम्, हुत हवनीयद्रव्य वहति तद्दत्तदेवेभ्य समर्पयति—हुतवह =अग्नि तेन परीतम्—सर्वत आक्रान्तम्—हुतवहपरीतम्—वह्निपरिव्याप्तम्, गृहम्—भवनम्, इव, मन्ये—सभावयामि।

सस्कृत सरलार्थ—राजद्वार मुपेत्य तत्रत्य जनसमुदायञ्च निरीक्ष्य विक्षुब्धमना शार्ङ्गरव शारद्वत कथयति—नात्र काचिदपि सशीति यदय राजर्षि दुष्यन्तो धर्मनिष्ठत्वात् प्रजापालकत्वाल्लोकमर्यादासरक्षकत्वा न्यायप्रियशासकत्वाच्च महानुभावो महाभाग्यशाली महायशस्वी वा वर्तते, अस्य सद्गुणत्वाच्छासनभयत्वाच्चास्य राज्ये

शारद्वत —स्थाने भवान् पुरप्रवेशादित्थम्भूत संवृत्त । अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नात शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगति जनमिह सुखसङ्गिन मवैमि ॥११॥

निकृष्ट शूद्रादिरपि कश्चिद् वर्णो न कदाप्यपथेन याति किमुत ब्राह्मणाद्युच्चवर्णाना विषये । तथापि परितो जनसकुलमिद राजभवन मह चिराभ्यस्तविजनस्थानेन मनसा वह्निपरिव्याप्तमिव सम्भावयामि ।

टिप्पणी

सुचरितनन्दिन—शोभन चरित सुचरित तेन साधु न द तीत्येव शीला इति सुचरितनन्दिन—सुचरित+नन्द् धातो साधु कारिण्यर्थे कतरि णिनि । **सभाजयितुम्**—स्वागत सत्काराथक चौरादिकात् सभाज इत्यस्माद्धातो णिचि तुमुन् । **महाभाग**—महान् प्रशस्त भाग भागधेय भाग्य वा यस्य "आरभ्योत्पत्तिर्मामृत्यो कलङ्को यस्य नो भवेत् । स्याच्चैवानुपमा कीर्ति महाभाग स उच्यते" । **कामम**—सम्भावनाथक मव्यय मेतत् । **अभिन्नस्थिति** न+भिद+क्त, स्था+क्तिन्, स्थिति—मर्यादा । **अपथम्**—न—पन्था तत्पुरुष अत्र 'पथो विभाषा' इति समासान्त अप्रत्यय । अपथ नपुसकमिति नित्यक्लीवत्वम् । **परिचितविविक्तेन**—परि+चि+क्त, वि+विच्+क्त । **परीतम्**—परि+इ+क्त । **शश्वत**—निरन्तर ॥

शारद्वत—यह उचित ही है कि आप नगर मे प्रवेश करने से इस प्रकार के हो गये हैं । मैं भी—

अभ्यक्तमिति अन्वय—सुखसङ्गिनम जनम इह स्नात अभ्यक्तम् इव, शुचि अशुचिम् इव, प्रबुद्ध सुप्तम् इव, स्वैरगति बद्धम् इव, अवैमि ।

शब्दार्थ—इह=यहाँ इस राजभवन मे, सुखसङ्गिनम जनम=ऐहिक सुखो मे आसक्त जन को, स्नात=स्नान किया हुआ व्यक्ति, अभ्यक्तम इव=जैसे तेल लगाये हुये व्यक्ति को, शुचि=पवित्र व्यक्ति, अशुचिम् इव=जैसे अपवित्र व्यक्ति को, प्रबुद्ध=जागा हुआ व्यक्ति, सुप्तम् इव=जैसे सोये हुये व्यक्ति को, स्वैरगति=स्वच्छन्द-गामी जन, बद्धम् इव=जैसे बँधे हुये व्यक्ति को, अवैमि—समझता हूँ ।

अनुवाद—(मैं भी) लौकिक सुखो मे आसक्त लोगो को, यहाँ राजभवन मे (ऐसा ही) समझता हूँ, जैसे नहाया हुआ व्यक्ति तेल लगाये हुये व्यक्ति को, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, जागा हुआ व्यक्ति, सोये हुये को और स्वच्छन्द विचरण करने वाला बँधे हुये व्यक्ति को, जानता है ।

भावार्थ—लौकिक आमोद-प्रमोदो मे तथा सुखो मे आसक्त राजभवन के लोगो को देख कर ऋषिकुमार शारद्वत कहता है कि मै इन लोगो को उसी प्रकार देखता हूँ जैसे कि कोई नहाया हुआ व्यक्ति, किसी तेल लगाये हुये व्यक्ति को देखता है, पवित्र जन अपवित्र को और जगा हुआ सोये हुये को तथा स्वच्छन्दचारी किसी बँधे

हुये व्यक्ति को देखता है, अर्थात् मेरी दष्टि मे ये लोग अपवित्र प्रसुप्त आबद्ध एव सवथा अशुद्ध है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे एक सुखसड गीजन के अनेक उपमानो का वणन होने से यहाँ मालोपमालकार है और अनुप्रास भी। प्रस्तुत पद्य और उक्त 'महाभाग' आदि पद्य मे दोनो ऋषिकुमारो के कथन से दोनो का चारित्रिक अन्तर स्पष्ट झलकता है। शाङ्ग रव मे जहा बाह्यन्निरीक्षण वृत्ति है वहा शारद्वत की सूक्ष्म दृष्टि जनमानस के भीतर प्रवेश कर सूक्ष्म अन्तर्भावनाओ का परिवीक्षण करने वाली है अतएव शाङ्ग रव जनाकीण राजभवन को देखकर एकान्त प्रदेश मे भाग जाना चाहता है पर शारद्वत इस स्थिति का गम्भीरतापूवक सूक्ष्म निरीक्षण करता है। उसके कथन मे सुखसड्गीजनो के प्रति जहाँ एक ओर उद्वेग है, वही दूसरी ओर उनके प्रति करुणभाव भी है। एका त शान्त वातावरण मे आजन्म रहने वाले तपस्वीजनो की दृष्टि मे सासारिक भोगासक्त जन कैसे होते हैं, इसका बडा ही भव्य वणन इन श्लोको मे किया गया है। कवि ने यहाँ हि दूदशन के अनुसार शरीर शुद्धि मन शुद्धि प्रबोध (ज्ञान) एव मोक्ष की ओर सूक्ष्म सकेत किया है, कवि मे तपोमय ऋषि जीवन के प्रति कितनी आस्था है यह इससे स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत पद्य मे आर्याजाति है।

सस्कृत व्याख्या—(अहम्-अपि) सुखसडिगनम्=लौकिकसुखासक्तम् जनम्=नागरिकलोकम, इह=राजभवने, स्नात=कृतस्नानाचारपरिग्रह, अभ्यक्तम्=कृततैलमदन जनम्, इव=यथा, शुचि=पवित्र, अशुचिम्—अपवित्र जनम्, इव, प्रबुद्ध—जागरितो जन, सुप्तम्=शयितम् इव, स्वैरा गति यस्य स—स्वैरगति=विषयविरक्त स्वच्छ दगामी जन, बद्धम्=निगडितम् इव, अवैमि=जानामि।

सस्कृत सरलाथ—लौकिकामोदप्रमोदासक्त राजभवनलोक मवलोक्य शारद्वत कथयति—अहमपि यथा त्व तथैव भौतिकसुखेष्वासक्त राजभवनलोक तथैवावगच्छामि यथा स्नातो जनस्तैलसिक्त जन गणयति, यथा च पवित्रो जनोऽपवित्र जनमवलोकयति, एव यथा जागरितो जनो निद्रितजन मवैति, एवमेव यथा स्वच्छन्दगति जनो निगडादिभिरावद्ध जन जानाति।

टिप्पणी

स्थाने—समुचितमेतद् यदभिहित भवता—अव्ययम्। **अभ्यक्तम्**—अभि+अन्ज्+क्त, तैल लगाकर स्नान न करने वाला अथवा स्नान करके तैल लगाने वाला व्यक्ति देहशुद्धि रहित माना जाता है "तैलाभ्यड्गे चिताधूमे मैथुने क्षौरकमणि। तावद् भवति चाण्डालो यावत् स्नान माचरेत्"। **स्नात** कृतस्नान, स्नान करने से देहशुद्धि होती है जो कि मुमुक्षु की चार अवस्थाओ मे से प्रथम अवस्था है। **प्रबुद्ध** प्र+बुध्+क्त=तत्वज्ञानी व्यक्ति, जहाँ तत्वज्ञानी व्यक्ति प्रबुद्ध तत्त्वज्ञाता कहा जाता है, वहाँ अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति सुप्त कहा जाता है "यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने, या निशा सवभूताना तस्या जागर्ति सयमी—गीता। इस कथन से मुमुक्षु की

21 तृतीय अवस्था, शान वैराग्य अवस्था की ओर सकेत किया गया है। **शुचि**—मन,

शकुन्तला—(निमित्त सूचयित्वा) अहो, किं मे वामेतर नयन विस्फुरति ? [अम्महे, कि मे वामेदर णअण विप्फुरदि ?]

गौतमी—जाते, प्रतिहतममङ्गलम्। मुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु। [जादे, पडिहद अमगल। सुहाइ दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु।]

(इति परिक्रामति)

पुरोहित—(राजान निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विन, अस्तावत्रभवान् वर्णाश्रमाणा रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो व प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

शार्ङ्गरव—भो महाब्राह्मण, काममेतदभिनन्दनीय तथापि वयमत्र मध्यस्था। कुत—

> भवन्ति नम्रास्तरव फलागमै-
> र्नवाम्बुभि र्दूरविलम्बिनो घना।
> अनुद्धता सत्पुरुषा समृद्धिभि
> स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

वचन, कर्म से पवित्र व्यक्ति, इस कथन से मुमुक्षु की द्वितीय अवस्था मन शुद्धि को बतलाया गया है। **स्वैरगति**· ऐहिक विषयो से विरक्त व्यक्ति ही स्वच्छदगामी होता है, विषयासक्त जन बद्ध या परतन्त्र होता है, इस कथन से मुमुक्षु की अन्तिम चतुथ अवस्था मोक्षोपलब्धि को बतलाया गया है। स्व+ईर्—स्वदीरेरिणो वृद्धि=स्वैर। कवि का यह श्लोक दाशनिक दृष्टि से बडा ही उत्तम है, इसमे सक्षेप मे मुमुक्षु की चारो ही अवस्थाओ का उल्लेख है।

शकुन्तला—(अपशकुन का अभिनय करके) ओह, मेरी दाहिनी आँख क्यो फडक रही है ?

गौतमी—पुत्री, अमङ्गल नाश हो। तेरे पतिकुल के देवता तुझे सुख प्रदान करें।

(यह कहकर चारो ओर घूमती है)

पुरोहित—(राजा की ओर सकेत करके) हे तपस्वियो (चारो) वण (एव चारो) आश्रम के रक्षक महाराज पहले से ही अपना आसन छोडे हुये आप लोगो की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप लोग इनसे मिलिये।

शार्ङ्गरव—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! भले ही यह (राजा द्वारा हमारे प्रति शिष्टाचार का प्रदर्शन) प्रशसनीय हो तथापि हम लोग इस विषय मे उदासीन ही हैं, क्योकि—

भवन्तीति-अन्वय—तरव फलागमै नम्रा भवन्ति, घना नवाम्बुभि दूरविलम्बिन· (भवन्ति) सत्पुरुषा समृद्धिभि अनुद्धता (भवन्ति) एष परोपकारिणाम् स्वभाव एव।

शब्दार्थ—तरव=वृक्ष, फलागमै=फलो के आने से, नम्रा=झुके हुये होते हैं। घना=मेघ, नवाम्बुभि=नये जल से, दूरविलम्बिन=बहुत अधिक

(भूमि के पास) लटक आने वाले, (होते हैं) सत्पुरुषा -सज्जनपुरुष, समृद्धिभि =सम्पत्तियो से, अनुद्धता =विनयशील, (होते है) एष परोपकारिणाम् स्वभाव एव= परोपकारियो का यह स्वभाव ही (होता है) ।

अनुवाद—वृक्ष फल आने पर (स्वत एव) झुक जाते हैं। मेघ नवीन जल से (पूण होने पर) अत्यधिक (भूमि पर) नीचे लटक आते है। सज्जन पुरुष, सम्पत्ति (पाकर) विनयशील (बनते है) परोपकारियो का यह स्वभाव ही होता है।

भावाथ—परोपकारी जन स्वत एव विनयशील होते हैं, किसी प्रकार के प्रदशन के लिये अथवा किसी भी प्रकार दबाव मे आकर वे विनम्रता नही दिखाते, उनमे विनयशीलता एक स्वाभाविक गुण ही होता है, सज्जन अत्यधिक समृद्धि पाकर भी विनीत बने रहते है, मेघ जब नव जल से पूण होते है तब वे स्वत एव नीचे पृथ्वी पर लटक आते है, इसी प्रकार वृक्ष भी फल आने पर झुक जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'हि' के प्रयोग के बिना भी सामान्याथ से विशेषाथ का समथन किया गया है, अत **अर्थान्तरन्यास** अलकार, अप्रस्तुत सत्पुरुष सामान्य से प्रस्तुत दुष्यन्त रूप विशेष की प्रतीति होती है, अत **अप्रस्तुतप्रशसा** अलकार, दोनो का अङ्गाङ्गीभाव **सकर**, प्रस्तुत तरव घना सत्पुरुषा का एक 'भवन्ति' इस क्रिया रूप एक धम से सम्बन्ध होने से **तुल्ययोगिता** अलकार, अचेतन तरू एव घनो का वस्तुत नम्रत्व और दूरविलम्बित्व गुणो से कोई सम्बन्ध न होने पर भी यहाँ इनका अभेद रूप वणन किया गया है, अत **अतिशयोक्ति** अलकार नम्रत्व रूप एक साधारण धम का, दूर विलम्वी अनुद्धत आदि पदो द्वारा पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है अत **मालाप्रतिवस्तूपमा** अलकार, **हेतु** अलकार तथा **अनुप्रास** अलकार, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति है और इसमे **वशस्थ** नामक छन्द है "जतौतु वशस्थ मुदीरित जरा"।

सस्कृत व्याख्या—तरव =वृक्षा, फलागमैं =फलोत्पत्तिभि, नम्रा = अधोमुखा विनीताश्च, भवन्ति=जायन्ते । घना =मेघा, नवाम्बुभि =नवजल सचयै दूरविलम्बिन =अत्यन्तविलम्बिता—भूतल यावत् समागमनशीला अत्यधिक-वषणशीला वा (भवन्ति) सत्पुरुषा -सज्जना, समृद्धिभि -धनसम्पत्तिभि, अनुद्धता - गवशून्या विनम्रा वा (भवन्ति) एष -अयम्, परोपकारिणाम्=परहितनिरतानाम्, जनानाम्, स्वभाव एव=प्रकृतिरेव (भवति)

सस्कृत सरलाथ—परहितनिरताना जनाना मेतादृशी प्रकृतिरेव भवति यत्ते स्वत एव परकार्यं साधयन्ति, अनाहूता एव परकार्यसाधनाय परसाहाय्यदानाय च प्रवतन्ते। एते स्वभावत एव विनीता विनयशीला भवन्ति, सर्वेष्वेवैते विनयेन वर्तन्ते, समृद्धि प्राप्याप्यैते नोद्धता यान्ति अपितु गवशून्या भूत्वा समधिकविनयेन वतन्ते, यथा वृक्षा फलान्यवाप्याधोमुखा विनीताश्च जायन्ते, यथा च मेघा नवजलपूर्णा भूत्वा भूतल यावत् समागमनशीला अत्यधिकजलवषणशीलाश्च भवन्ति तथैव सत्पुरुषा समृद्धि मवाप्य समधिकविनम्रत्व दशयन्ति।

प्रतीहारी—देव, प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते। जानामि विश्रब्धकार्या ऋषय। [देव, पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति। जाणामि विस्सद्धकज्जा इसीओ।]

टिप्पणी

निमित्तम—इस शब्द का प्रयोग दोनो ही प्रकार के शुभ एव अशुभ शकुनो के लिये होता है। प्रथमाङ्क मे "निमित्त सूचयन्" के द्वारा शुभ शकुन बतलाया गया है, और प्रस्तुत प्रसग मे निमित्त शब्द का प्रयोग अपशकुन के अथ मे हुआ है। **सूचयित्वा** अभिनीय—दिखलाकर, **वामेतरम** वामात् इतरत् वामेतरम् अथवा वामम् इतरत् यस्मात वामेतरम न वहुव्रीहौ, इति, सवनाम सज्ञाभाव। स्त्रियो का वाम और पुरुष का दक्षिण अग फडकना शुभ माना जाता है, प्रथमाङ्क मे राजा की दक्षिण भुजा का फडकना शुभ शकुन था यहाँ शकु तला की दक्षिण आख फडकना अपशकुन है। "वाम भागश्च नारीणा श्रे ष्ठ पुसा तु दक्षिण" अङ्गविस्फुरण नृणा दक्षिण सवकामदम्, तदेव शस्यते सद्भि नारीणामप्रदक्षिणम्। "पु सा सदा दक्षिणदेहभागे स्त्रीणा तु वामावयवे प्रजात स्प द फलाप्ति प्रदिशत्यवश्य निहन्त्युक्ताङ्गविपययेण। **वर्णश्रमाणाम्** अत्र शेषे षष्ठी, **रक्षिता**=रक्ष+तृच। मुक्तासन-मुक्त आसन येन स।

महाब्राह्मण—सामा यत ब्राह्मण या वैद्य के पूव महाशब्द का प्रयोग उपहास या निन्दापरक माना जाता है। पर सम्भवत कालिदास के समय ऐसा न रहा हो अत यहाँ महाब्राह्मण का अथ नीच ब्राह्मण न होकर श्रे ष्ठ ब्राह्मण ही है, वैसे महा ब्राह्मण कुधान्य लेने वाले नीच ब्राह्मण को ही कहते है जैसा कि कहा जाता है "शखे तैले तथा मासे वैद्ये ज्योतिषके द्विजे। यात्राया पथि निन्द्राया महच्छब्दो न दीयते"।

कामम—भले ही, **एतद** राजा के द्वारा मुक्तासन होकर नम्रता प्रदर्शित करना, **अभिनन्दनीयम्** अभि+नन्द+अनीयर् प्रशसनीय। **मध्यस्था** उदासीन अर्थात् हमारे लिये तो राजा का विनयावनत कोई विशेष प्रशसा की बात नही है राजा का यह शिष्टाचार प्रदशन उसका सामा य काय है, हम लोगो के लिये तो यह कोई महत्व नही रखता क्योकि हम लोग किसी की नि दास्तुति से परे है। मध्य+स्था+क। **फलागम** समृद्धिभि नवाम्बुभि इन तीनो मे हेतौ तृतीया है। **दूरविलम्बिन**—दूर भूतल यावत् विलम्वन्ते समागच्छ तीति-अत्र ताच्छील्ये णिनि, दूर+वि+लम्व् धातो साधुकारिणि कतरि णिनि। **अनुद्धता**—ऊर्ध्वं गता इति उदधता उत+हन् गतौ+क्त। न उद्धता अनुद्धता विनम्रा। **परोपकारिणाम**—परेषा मुपकार परोपकार सोऽस्त्येषामिति परोपकारिण तेषाम्। पर+उप+कृ+णिनि।

प्रतीहारी—महाराज! ये प्रसन्नमुखाकृति दिखाई पड रहे हैं अत मे समझती हूँ कि ये ऋषि किसी अच्छे काय के लिये आये हैं।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) और यह स्त्री—

राजा—(शकुन्तला दृष्ट्वा) अथात्रभवती—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥

कास्विदिति अन्वय—पाण्डपत्राणाम् मध्ये किसलयम् इव तपोधनानाम् मध्ये अवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या कास्वित् ।

शब्दार्थ—पाण्डुपत्राणाम् मध्ये=पीले पत्तो के बीच, किसलयम् इव=किसलय (नवीन कोपल) के समान, तपोधनानाम् मध्ये=(इन) तपस्वियो बीच, अवगुण्ठनवती=घूघट वाली, नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या=जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक प्रकट नही हो रहा है, ऐसी कौन है ?

अनुवाद—पीले पत्तो के बीच किसलय के समान, तपस्वियो के बीच घूँघट वाली जिसके शरीर का सौदय बहुत अधिक प्रकट नही हो रहा है ऐसी (यह स्त्री) कौन है ?

भावार्थ—शकु तला ने राजदरबार मे पहुँचने पर उस समय के शिष्टाचार के अनुकूल अपने शिर पर वस्त्र (परदा) नान रखा था और वह तपस्वियो के साथ थी अत उसे देखकर राजा कहता है कि जैसे पीले पके पत्तो के बीच कोई नवीन किसलय हो उसी प्रकार इन तपश्चरण से रुक्ष एव कृशकाय तपस्वियो के बीच अनुपम सौदयशालिनी स्वर्णाभ कोमलाङ्गी यह स्त्री कौन है जिसने कि इस समय अपने ऊपर अवगुण्ठन डाल रखा है जिसके कारण उसके शरीर का सौदर्य बहुत अधिक दिखलाई नही पडता है ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे 'इव' से **उपमालकार** है, शरीरलावण्य के अपरिस्फुट होने का कारण अवगुण्ठन है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार है । **अनुप्रास** अलकार, औत्सुक्य तथा विस्मय भाव है । आर्याजाति छद है ।

सस्कृत व्याख्या—पाण्डूनि च तानि पत्राणि तेषा पाण्डुपत्राणाम्—विपरिणाम भावेन पीतवर्णानाम् जीणपर्णानाम् मध्ये=अतरे किसलयम्=नवोद्भूतकोमल पल्लवम्, इव=यथा, तपोधनानाम्=तपस्विनाम् (मध्ये) अवगुण्ठनवती=सशिरोमुखप्रावरणवती (अतएव) न अतिपरिस्फुटम् अनतिव्यक्तम् शरीरस्य देहस्य लावण्य सौन्दयम् यस्या सा—नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या (इयम् स्त्री) का स्वित्—कान्वेषा भवेत् ।

सस्कृत सरलार्थ—तपोधनाना मध्ये सौन्दयशालिनी मवगुण्ठनवती शकुन्तलां निरीक्ष्य विस्मयौत्सुक्यपरिगतो राजा कथयति—यथा विपरिणाम भावेन सजातपीत वर्णाना जीणपणानामन्तरे नवोद्भूतकोमलपल्लव भवति तथैव तपश्चरणकृशरुक्षशरीराणामेषा तपस्विना मध्ये सशिरोमुखप्रावरणवती अतएवानतिव्यक्तशरीरसौन्दर्या पुर स्थितेय स्त्री का नु खलु भवेत् ।

प्रतीहारी—**देव, कुतूहलगर्भ प्रहितो न मे तर्क प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।** [देव, कुतूहलगब्भो पहिदो ण मे तक्को पसरदि। ण दसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि।]

टिप्पणी

प्रसन्नमुखवर्णा—प्रसन्ना मुखस्य वर्णा येषान्ते। वण शब्द का यद्यपि अथ रग होता है तथापि यहा इसका तात्पय आकृति से है अर्थात् प्रसन्न मुखाकृति वाले। **विश्रब्धकार्या**—विश्रब्ध शान्तिविश्वासयुक्त कार्य कश्यपस देशरूप कायम् येषान्ते। अत किसी व्यग्रता की बात नही है। विश्वास के अथ मे विश्रब्ध एव विस्रब्ध दोनो ही प्रकार के शब्दो का प्रयोग होता है। वि+श्रम्भ् कतरि क्त। **का स्वित्**—'स्वित् प्रश्न वितकयो' स्वित्—प्रश्न अथवा वितक सूचक अव्यय है। **अवगुण्ठनवती**—अवगुण्ठन=घूघट—परदा। अथात् उस समय शकु तला अपने शिर और मुख पर पर्दा डाले हुई थी। कवि के इस कथन से तो यह प्रतीत होता है कि उस समय भारतवष मे पर्दा प्रथा प्रचलित थी और यह अतिप्राचीनकाल से चली आ रही थी, जसा कि महर्षि अगिरा का भी यह वचन है—"श्वशुरस्याग्रतो यस्माच्छिर प्रच्छादना क्रिया। एव पुत्रै दर्भेण सा कार्या भर्तुरभ्युदयार्थिभि ।" तथापि घ्घट और पर्दा-प्रथा इन दोनो मे बडा अन्तर है। कालिदास के समय मे और उससे भी प्राचीनकाल मे उच्चकुलो एव राजपरिवारो की विवाहिता युवती स्त्रिया विशेष अवसरो पर घूघट अवश्य डालती थी, अर्थात् साडी से शिर और मुख ढक लेती थी, क्योकि विवाहिता युवती का सौन्दय प्रदशन समाज मे उचित नही माना जाता था, इसीलिये भगवान् पाणिनि ने "असूय ललाटयो दृशितपो" सूत्र मे सूर्यं न पश्यन्तीति असूयपश्या राजदारा कहा है। सामान्यतया राजपरिवार की स्त्रियाँ बाह्यजनसम्पक मे नही आती थी वे अगरक्षको के निरीक्षण मे अन्त पुर मे ही रहती थी, पर इसका तात्पय यह कदापि नही कि वे मदा पर्दा ही डाले रहती थी। कितने ही अवसर ऐसे होते थे जब कि वे बिना घूघट के ही समाज के सम्पक मे आती थी और उ हे सवसाधारण देख सकता था, जिसके लिये अनेक प्राचीन वाक्य यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं, हिन्दू समाज मे आज जैसी पर्दा प्रथा प्रचलित है ऐसी पर्दा प्रथा भारतवष मे कभी नही रही है, पर्दा तो कभी था ही नही, केवल विशेष अवसरो पर घूघट ही था वह भी प्राय उच्चघरो मे। पर्दाप्रथा तो यवन काल ही की देन है। "स्वैर हि पश्यन्तु कलत्र मेतद्‌ वाष्पाकुलाक्षै वदनै र्भवन्त। निर्दोषदृश्या हि भवति नार्यो यज्ञे विवाहव्यसने वने च (भास—प्रतिमा) "व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयम्वरे न क्रतौ न विवाहे च दशन दूष्यते स्त्रिया" रामायणयुद्ध काण्ड। "अदृष्टिपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्मसु। ददृशुस्ता महाराज जना याता पुर प्रति।" महाभारतशल्य पव। **नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या**—लावण्य=सौ दय का लक्षण "मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्व मिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्य तदिहोच्यते।"

प्रतीहारी—महाराज, कौतूहल से भरा हुआ (यह) मेरा अनुमान प्रेरित

राजा—भवतु । अनिर्वर्णनीय परकलत्रम् ।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा । आत्मगतम् हृदय, किमेव वेपसे ? आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीर तावद् भव । [हिअअ, कि एव्व वेवसि ? अज्जउत्तस्स भाव ओहारिअ धीर दाव होहि ।]

पुरोहित —(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विन । कश्चिदेषा-मुपाध्यायसन्देश । त देव श्रोतुमर्हति ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

ऋशय —(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन् ।

राजा—सर्वानभिवादये ।

ऋषय —इष्टेन युज्यस्व ।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनय ?

ऋषय —

कुतो धर्मक्रियाविघ्न सता रक्षितरि त्वयि ।
तमस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ? ॥१४॥

होकर भी, कुछ निश्चय नही कर पा रहा है। अर्थात् मुझे भी जानने की उत्सुकता है कि यह कौन स्त्री है, अतएव मै इस ओर अपनी अनुमान शक्ति को यद्यपि प्रेरित कर रही हूँ, तथापि मैं किसी निश्चय पर नही पहुँच पा रही हूँ। तथापि इसकी आकृति मनोहर प्रतीत हो रही है।

राजा—अच्छा, परस्त्री की ओर ध्यान से देखना उचित नही है ।

शकुन्तला—(हाथ अपने वक्षस्थल पर रखकर मन ही मन) हृदय, तू इस प्रकार क्यो काप रहा है, पतिदव के प्रेम भाव को समझ कर धैर्य धारण करो।

पुरोहित—(आगे बढकर) विधिपूवक पूजित ये तपस्वी (उपस्थित हैं) इनके गुरु का कोई सन्देश है, महाराज, आप उसे सुनने की कृपा करें ।

राजा—मैं सावधान हूँ ।

ऋषिजन—(अपने हाथ उठाकर) महाराज, विजयी हो ।

राजा—मैं आप सब को प्रणाम करता हूँ ।

ऋषिजन—आप अभीष्ट वस्तु प्रात करे ।

राजा—ऋषिजन की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है ?

ऋषिजन—

कुत इति अन्वय—सताम् रक्षितरि त्वयि धमक्रियाविघ्न कुत धर्मांशौ तपति (सति) तम कथम् आविर्भविष्यति ।

शब्दार्थ—सताम् रक्षितरि त्वयि=सज्जनो के रक्षक आपके विद्यमान रहते, धमक्रियाविघ्न कुत =(हमारी) धार्मिक क्रियाओ मे विघ्न कहाँ से हो सकता है, धर्मांशौ तपति (सति)=सूय के तपत हुये रहने पर, तम =अन्धकार, कथम् = कैसे, आविर्भविष्यति=प्रकट हो सकता है ।

अनुवाद—सज्जनो के रक्षक आपके विद्यमान रहते (हमारी) धार्मिक क्रियाओ मे विघ्न कहाँ से हो सकता है। सूय के तपते रहते हुये अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है।

भावाथ—ऋषिजन कहते हैं कि जैसे, जब तक सूय प्रकाशित रहता है तब तक अ धकार प्रकट नही हो सकता, उसी प्रकार जब तक आप हम जैसे तपस्वियो के रक्षक विद्यमान है, तब तक हमारी धार्मिक क्रियाओ अ ात् यज्ञानुष्ठानादि क्रियाओ मे विघ्न नही हो सकता है। वस्तुत इस कथन से ऋषियो का तात्पय यह है कि इस राज्य मे आप ही रक्षक हैं और आपके रक्षक रहने पर यहा सब सज्जन है अत उनकी क्रियामात्र मे विघ्नो की सम्भावना नही हो सकती, धमक्रियाओ म तो स्वत एव विघ्नाभाव रहेगा ही, इसी प्रकार ज्योहि सूय उदयाचल पर प्रकट होता है त्यो ही अन्धकार नष्ट हो जाता है और जब वह पूण रूप से देदीप्यमान होने लगता है, तब तो अपने आप ही अ धकार की सम्भावना नही रहती, अत हमारा तप निर्विघ्नतापूवक चल रह है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे यह बतलाया गया है कि सूर्योदय के द्वारा अ धकाराभाव के समान ही तुम्हारे रक्षक होने पर धम क्रियाओ मे विघ्नाभाव है, इस बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होने **दृष्टान्त** अलकार, जब कि रक्षक होने पर क्रिया मात्र मे विघ्नाभाव सम्भव है तो धमक्रियाओ मे तो स्वत एव विघ्नाभाव रहेगा अत **अर्थापत्ति** अलकार है, **अनुप्रास**, वैदर्भी रीति, प्रसादगुण और पथ्यावक्त्र नामक छन्द है (युजोश्चतुथतो जेन पथ्या वक्त्रप्रकीर्तितम्) अथात् यदि समचरणो मे चतुथवण के आगे जगण हो एव एक लघुवण हो तथा विषम चरणो मे चतुथवण के आगे यगण तथा एक लघुवण हो तो पथ्यावक्त्र नामक विषम छन्द होता है, यहाँ उदाहरण नामक नाटय लक्षण है "यत्र तुल्याथयुक्तेन वाक्येनाभि प्रदशनात्। साध्यतेऽभिमतश्चाथस्त दुदाहरण मतम् सा० द०। इस श्लोक से राजा का सूयवत् तेजस्वी होना भी ध्वनित होता है।

सस्कृत व्याख्या—सताम्—सज्जनानाम्, रक्षितरि—सरक्षक के, त्वयि—राजनि दुष्यन्ते विद्यमाने सति, धमक्रियासु=यज्ञानुष्ठानादिधार्मिककृत्येषु विघ्न अ तराय—धमक्रियाविघ्न, कुत—कथ सम्भवति। धर्मा अशव यस्य तस्मिन्—धर्मांशौ=सूर्ये, तपति=देदीप्यमाने सति, तम=अ धकार, कथम्=केन प्रकारेण, आविभविष्यति—प्रकटी भविष्यति।

सस्कृत सरलाथ—यथा सूर्ये भासमाने सति तिमिर न सम्भवति तथैव त्वयि दुष्यन्ते सरक्षके सति यज्ञानुष्ठानादिधमकर्मा तरायो न सम्भवति।

टिप्पणी

कुतूहलगभ—कुतूहल गर्भे यस्य स। **भवतु**—अत्रेद निषेधाथकम् अव्ययम्। **अनिवणनीयम परकलत्रम्**—परस्त्री का ध्यान से देखना वर्जित है "परदारान् न वीक्षेत" इससे राजा के चरित्र की महत्ता द्योतित हाती है। **आयपुत्रस्य**—पति के अथ म यह नाटकीय प्रयोग है। **इष्टेन युज्यस्व** व्यङ ग्याथ है कि तुम शकु तला रूपी

राजा—अर्थवान् खलु मे राजशब्दः । अथ भगवाल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः ?

शार्ङ्गरवः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह ।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान् ।

शार्ङ्गरवः—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् । कुतः—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतो नः,
शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥१५॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति ।

प्रियवस्तु से युक्त हो । सताम्—अस् धातु मे शतृ षष्ठी बहुवचन । धर्मांशु —उष्ण-रश्मि । इस श्लोक के भाव से मिलती हुई अन्य सूक्तियां । "सर्वत्र नो वार्त मवेहि राजन् नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् । सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ रघु० ५ ॥ तमासि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान् न याति यावदुदयाद्रिमौलिताम् । मालविकाग्निमित्रम् । "ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः" शिशुपालवध १—।

राजा—तो मेरा राजा 'यह शब्द' वस्तुतः सार्थक है । भगवान् काश्यप विश्व कल्याण के लिए सकुशल तो है ।

शार्ङ्गरव—सिद्धियो से सम्पन्न जनो का सकुशल होना उनके अधीन होता है । उन्होने आपकी नीरोगिता का प्रश्न पूछते हुये आप से यह कहा है ?

राजा—भगवान् ने क्या आज्ञा दी है ?

शार्ङ्गरव—जोकि आपने गान्धर्व विधि से इस मेरी पुत्री से विवाह किया है, उस कार्य के लिये, प्रसन्न हुये मैने तुम दोनो को स्वीकृति दे दी है, क्योकि—

त्वमिति अन्वय—त्वम् नः अर्हताम् प्राग्रसरः स्मृतः असि, शकुन्तला च मूर्तिमती सत्क्रिया (अस्ति) तुल्यगुणम् वधूवरम् समानयन् प्रजापतिः चिरस्य वाच्यम् न गतः ।

शब्दार्थ—त्वम्—तुम दुष्यन्त, नः—हमारे लिये, अर्हताम्—प्रशंसनीय जनो मे, प्राग्रसरः—मुख्यतम, स्मृतः असि—माने गये हो । शकुन्तला च—और शकुन्तला, मूर्तिमती—शरीरधारिणी, सत्क्रिया—पूजा या सत्कारस्वरूपा (अस्ति—है) तुल्यगुण वधूवरम्—समान गुणो वाले वधू और वर का, समानयन्—मिलाते हुये, प्रजापतिः—ब्रह्मा, चिरस्य—चिरकाल के पश्चात् वाच्यं न गतः—निन्दापात्र नही हुये है ।

अनुवाद—तुम (दुष्यन्त) हमारे लिए, प्रशंसनीय जनो में मुख्यतम माने गये

हो और शकुन्तला शरीरधारिणी सत्कारस्वरूपा है। समानगुणो वाले वधू और वर को मिलाते हुये ब्रह्मा (अब) चिरकाल के बाद निन्दापात्र नही हुये है। अर्थात् इस सम्बन्ध मे आज चिरकाल के बाद प्रजापति की प्रशसा हो सकी है।

भावार्थ—भगवान् काश्यप की मान्यता को प्रकट करता हुआ शाङ्गरव कहता है, कि तुम (दुष्यन्त तो) हम लोगो की दृष्टि मे प्रशसनीय और योग्यजनो म मुख्यतम माने गये हो और यह शकुन्तला भी साक्षात्शरीरधारिणी सत्कारस्वरूपा ही है, इस प्रकार ब्रह्मा ने आज समानगुणो वाले वधू वर को जो विवाहसूत्र मे आबद्ध किया है अनएव अब तक जो वधूवर के विवाह के सम्बन्ध मे उनकी निन्दा हो रही थी कि ब्रह्मा कभी समान गुण वाले वधूवर को नही मिलाता, आज उनकी यह निन्दा निरस्त हो गई है और दुष्यन्त शकुन्तला जैसे समानगुणो वाले वधूवर को मिलाकर वे प्रशसा-भाजन हो सके हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'सत्क्रिया' पद मे **गम्योत्प्रेक्षालकार**, योग्य का योग्य से मेल होने से **समालकार** और तृतीय चरण के चतुर्थ चरण का कारण होने से **काव्यलिङ्ग** अलकार है, **अनुप्रास**, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति। वशस्थ नामक छन्द है, ब्रह्मा पर जो सदा यह दोषारोपण किया जाता रहा है कि वह कभी समान गुणो वाले वधूवर का सयोग नही होने देता मानो ब्रह्मा ने अपने इस दोषारोपण को न सहनकर आज इन दोनो का सयोग कराकर अपने उक्त अपवाद को धो डाला है, इस कथन से यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि इससे पूर्व समान गुण वाले वधू वर थे ही नही, ब्रह्मा बेचारा करता भी क्या, कहाँ से लाता ? जब उसे मिल गये तब उसने दोनो को मिला दिया अत वस्तुत ब्रह्मा का कोई दोष न था।

सस्कृत व्याख्या—त्वम्—दुष्यन्त, न—अस्माकम्, अर्हताम्=पूज्यानाम्, प्राग्रसर—मुख्यतम, स्मृत असि—मतोऽसि। शकुन्तला च—इय शकुन्तला च, मूर्तिमती=शरीरधारिणी, सत्क्रिया—सत्कारस्वरूपा (अस्ति) तुल्यगुणम्=समान-गुणसमन्वितम्, वधवरम्—वरवध्वौ समानयन्—सयोजयन्, प्रजापति—ब्रह्मा, चिरस्य—चिरकालानन्तरम्, वाच्य न गत—निन्दा न प्राप्त।

सस्कृत सरलार्थ—शाङ्गरव कथयति यत्त्व दुष्यन्त अस्माक पूज्याना मुख्यतमो मतोऽसि। इय शकुन्तला च साक्षाद् शरीरधारिणी सत्कारस्वरूपास्ति, एव समान गुणान्वित वधूवर सयोजयन् प्रजापति चिरकालानन्तरम् अद्यानयो परिणय कारयित्वा निन्दाविमुक्तो जात।

तदिति—तो अब इस गर्भवती को अपने साथ धर्माचरण के लिए स्वीकार करो।

टिप्पणी

राजशब्द—राजते, रञ्जयति वा लोकानिति राजा अथवा राजृ दीप्तौ कनिन्—(अन्) राजा अर्थात् राजा वह होता है, जो प्रकाशवान् तेजोमय और प्रजानुरञ्जक हो "रक्षार्थ मस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभु (मनु) यथा प्रह्लाद

गौतमी—आर्य, किमपि वक्तुकामास्मि । न मे वचनावसरोऽस्ति । कथमिति—

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजन ।
एकैकस्य च चरिते भणामि किमेकैकम् ॥१६॥

[अज्ज, किपि वत्तुकामम्हि । ण मे वअणावसरो अत्थि । कहत्ति ।]
णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए तुए पुच्छिदो ण बन्धुअणो ।
एक्कक्कस्स च चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥]

नाच्चन्द्र, प्रतापात् तपनो यथा । तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् (रघु०) । **लोकानुग्रहाय**—महर्षि कण्व जीवन्मुक्त होने के कारण केवल लोकानुग्रह के लिए ही जीवित थे, 'क्रियार्थोपपदस्येत्यादिनात्र चतुर्थी । **कुशली**—कुश+ला+क, कुशलमस्यास्तीति कुशली । वस्तुत कुशल का अर्थ कुश काटने वाला होता है, कुशाग्रभाग के तीक्ष्ण होने के कारण इसके काटने मे अधिक चातुर्य होना चाहिए, अतएव अब इसका अर्थ चतुर हो गया है । **सिद्धिमन्त** अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा, प्राप्ति प्राकम्य मीशित्व वशित्व चाष्टसिद्धय —इन अष्टसिद्धियो से पूर्ण जन । **स्वाधीन कुशला**—स्वस्मिन् अधि इति, स्व+अधि+ख, स्वाधीनम्, स्वाधीन कुशल येषान्ते । **अनामयप्रश्न पूर्वकम्**—अनामयस्य प्रश्न स पूर्व यथा स्यात्तथा "ब्राह्मण कुशल पृच्छेत् क्षत्र पृच्छेदनामयम् । वैश्य क्षेम समागम्य शूद्रमारोग्य मेव च । **भगवान्**—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धैर्यस्य यशस श्रिय ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णा भग इतीरिणा । इन छ गुणो को भग कहते है इनसे सम्पन्न व्यक्ति भगवान् होता है । **आज्ञापयति**—आ+ज्ञा+णिच्—लट्, **समयात्**—सम्+इ+अच्—गुण । **उपायस्त**—उप+आ+यम्+लुङ् । 'उपाद्यम स्वकरणे' इत्यात्मनेपदम् । **दुहितरम्**—दुह+तृच न षट्स्वस्रादिभ्य इति ङीप् निषेध —दुहिता दूरे हिता भवति 'यास्क' । क्योकि वह दूर पतिगृह चली जाती है । **अर्हताम्**—पूजनीयजनो मे । **प्राग्रसर**—प्रकर्षेण अग्रे सरति—अग्र+सृ+ट प्रत्यय । वाहुलकात् आगे के स्थान पर अग्र का प्रयोग । **सत्क्रिया**—सत्+कृ+श (अ) टाप । **वधूवरम्** वधू वरश्च तयो समाहार, अतएव एक वचन । **समानयन** सम्+आ+नी+शतृ । **चिरस्य वाच्यम्**—विषम वधूवर का विवाह कराने का दोष ब्रह्मा पर लगाया जाता है, जैसाकि कहा गया है "या सुन्दरस्तद्वनिता कुरूपा या सुन्दरी सा पतिरूपहीना । यत्रोभय तत्र दरिद्रता च विधेर्विचित्राणि विचेष्टितानि ।

गौतमी—आर्य, मैं कुछ कहना चाहती हूँ । तथापि मेरे कहने का (कोई) अवसर नही है । क्योकि—

नापेक्षित इति अन्वय—अनया गुरुजन न अपेक्षित, त्वया बन्धुजन न पृष्ट । एकैकस्य च चरिते एकैकम् किम् भणामि ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति ?
[कि णु क्खु अज्जउत्तो भणादि ?]

शब्दार्थ—अनया=इस शकुन्तला के द्वारा, गुरुजन न अपेक्षित=गुरुजनो से अनुमति नही ली गई, त्वया=तुम्हारे द्वारा, बन्धुजन न पृष्ट=(इसके) बन्धुजनो से सम्मति नही ली गई। एकैकस्य च चरिते=तुम दोनो के परस्पर के इस आचरण पर, एकैकम् किं भणामि=तुम दोनो म से प्रत्येक से मैं क्या कहूँ।

अनुवाद—इस शकुन्तला के द्वारा (अपने) गुरुजनो से अनुमति नही ली गई (और) न तुम्हारे द्वारा (इसके) बन्धुजना से सम्मति ली गई। (अत) तुम दोनो के परस्पर क इस आचरण पर मै प्रत्यक से क्या कहूँ।

भावार्थ—गौतमी कहती है कि न तो इस शकुन्तला ने ही अपने गुरुजनो से अनुमति ली और न तुमने ही इसके बन्धुजनो से सम्मति ली अत तुम दोनो के इस प्रकार के पारस्परिक विवाह रूप आचरण के विषय मे अब मै तुम दोनो मे से प्रत्येक से कुछ भी कहने की स्थिति मे नही हूँ, मुझे कुछ कह सकने का अवसर ही नही है। तुम दोनो ने बिना गुरुजनो की सम्मति के ही परस्पर प्रेम किया और फलत गान्धर्व विवाह किया। इस प्रकार अब तुम दोनो के इस पारस्परिक प्रेम एव स्वेच्छाचारिता के सम्बन्ध मे तुम दोनो से ही कुछ कहन का अवसर नही है, अब तो तुम दोनो का ही यह उत्तरदायित्व है कि इस स्वकृत काय का निर्वाह करा।

विशेष—प्रस्तुत पद्य म **अर्थापत्ति** अलकार एव आया जाति हे।

सस्कृत व्याख्या—अनया—शकुन्तलया, गुरुजन=पूजनीयो जन कण्वादि, न अपेक्षित—न परिगणित, त्वया—दुष्यन्तेन अपि, बन्धुजन=(अस्या सम्बन्धिवर्ग, न पृष्ट—न अपेक्षित। एकैकस्य च—एकस्य एकस्य च, चरिते— कृते कर्मणि, एकैकम्—एक मेकम् (अहम्) किम् भणामि किं कथयामि।

सस्कृत सरलार्थ—गौतमी कथयति यदस्मिन् विषये यद्यप्यहमिच्छामि किमपि वक्तुम किन्तु नास्त्यत्र कोऽपि मम वचनावसर। पारस्परिकविवाहात् पूर्वं शकुन्तलयानया न स्वकीयो गुरुजन कण्वादि परिगणित एवमेव त्वयापि नाम्या बन्धुजनोऽपृष्टित। स्वातन्त्र्येणैवानुष्ठितेऽस्मिन् प्रेमविवाहसम्बन्धेऽहमेकैकं किं कथयामि, उभयारप्यपराधे नैक एवोपालभ्य इति। नोचित युवाभ्या कृतमिति ध्वन्यते।

टिप्पणी

वक्तुकामा—वक्तु काम यस्या सा। 'तु काममनसोरपि' इति नियमात् प्रत्ययमकार लोप। **अपेक्षित**—अप+ईक्ष+क्त। **पृष्ट**—प्रच्छ+क्त। **एककस्य**—एकस्य एकस्य—वीप्सार्थे नित्यवीप्सयो। इति द्वित्वम्। 'एक बहुव्रीहिवत्' इति बहुव्रीहिवत्त्वात् विभक्ति लोप, एकैकमप्येवमेव साध्यते।

शकुन्तला—(मन मे) (देखे) अब आयपुत्र क्या कहते है ?

राजा—यह क्या (बात मेरे अनुमोदनार्थ सहसा) उपस्थित की गई है।

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ?

शकुन्तला—(आत्मगतम्) पावक खलु वचनोपन्यास ।
[पावओ क्खु वअणोवण्णासो ।]

शार्ङ्गरव—कथमिद नाम ? भवन्त एव सुतरा लोकवृत्तान्त निष्णाता ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसश्रया
जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अत समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभि ॥१७॥

शकुन्तला—(मन मे) राजा की बात का यह कथनारम्भ वस्तुत अग्नि (के तुल्य) है ।

शार्ङ्गरव—आप यह कैसे कह रहे है, आप तो स्वय ही लोकव्यवहार को अच्छी तरह जानने वाले है ।

सतीमिति—अन्वय—भर्तृमतीम् ज्ञातिकुलैकसश्रयाम् सतीम् अपि जन अन्यथा विशङ्कते । अत स्वबन्धुभि प्रमदा प्रिया अप्रिया वा परिणेतु समीपे इष्यते ।

शब्दार्थ—भर्तृमती=सधवा, ज्ञातिकुलैकसश्रयाम्=बन्धु कुल मे ही सदा रहने वाली, सतीम् अपि, सती साध्वी भी को, जन=लोग, अन्यथा=कुछ और ही, इसके विपरीत व्यभिचारिणी । विशङ्कते=शका करते है । अत=इसलिए, स्वबन्धुभि=वधू के बन्धु बान्धवो द्वारा, प्रमदा=युवती स्त्री, प्रियाऽप्रिया वा=(पति को) प्रिया हो अथवा अप्रिया हो, परिणेतु=पति के, समीप इष्यते=समीप ही (रखना) चाहा जाता है ।

अनुवाद—सधवा (होकर भी) बन्धुकुल मे ही एकमात्र सदा रहने वाली सती साध्वी स्त्री को भी लोग अन्यथा समझने लगते है अर्थात् उसके असतीत्व की आशका करने लगते हैं, अत वधू के बन्धुजन युवती वधू को, चाहे वह प्रिया हो अथवा अप्रिया उसके पति के पास ही रखना चाहते है ।

भावार्थ—शार्ङ्गरव राजा से कहता है कि आप तो स्वय लोक व्यवहार की बातो को अच्छी प्रकार जानते है, लोक व्यवहार के अनुसार विवाहिता सधवा स्त्री भले ही वह सती साध्वी क्यो न हो किन्तु यदि वह सदा अपने बन्धुजनो के साथ ही रहती हैं तो लोग उसके असती होने की आशका करने लगते है, अत वधू के बन्धुजन युवती स्त्री को उसके पति के पास ही रखना चाहते है, भले ही वह प्रिया अथवा अप्रिया ही हो, अत शकुन्तला चाहे तुम्हे प्रिय हो अथवा अप्रिय, इसे आपको अपने पास ही रखना उचित है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'शकुन्तला को तुम्हारे पास रहना चाहिए' इस विशेष के स्थान पर यहा सामान्य वर्णन किया गया है अत **अप्रस्तुतप्रशसालकार** है। उत्तराध के प्रति पूर्वाध कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, 'सतीमपि' से यदि असती हो तब तो कहना ही क्या, यह अथ प्रतीत होता है, अत **अर्थापत्ति** अलकार, अनुप्रास प्रसादगुण, वैदर्भी रीति। अथविशेषण नामक नाट्यालकार "उक्तस्याथस्य यत्तु स्यादुत्कीतनमनेकधा। उपालम्भस्वरूपेण तत्स्यादथविशेषणम्" सा० द०। वशस्थ नामक छन्द है "जतौ तु वशस्थ मुदीरित जरा।"

सस्कृत व्याख्या—भतृमतीम्—जीवद्भतृकाम् सधवामित्यथ, ज्ञातिकुलैकसश्रयाम्—ज्ञाते कुले एक केवल सश्रय आश्रयस्थानम् यस्यास्ताम्—पितृवशैकाश्रयाम्, सतीम् अपि=पतिव्रताम साध्वीम् अपि स्त्रियम् जन=लोक, अन्यथा—अन्य प्रकारेण असतीत्वेनेत्यथ, विशङ्कते—सम्भावयति। अत—एतस्मात कारणाद्, स्वबन्धुभि—वधूबन्धुजनै, प्रमदा=कामिनी, प्रिया=स्वभर्तुरभिमता, अप्रिया=अनभिमना, वा (स्यात्) परिणेतु=स्वभतु, समीपे=पार्श्वे=इष्यते=वाञ्छ्यते।

सस्कृत सरलाथ—जीवद्भतुका कामिनी यदि सदा स्वपितृकुले एव निवसति, तर्हि पतिव्रतामपि ता जन असतीत्वेन सम्भावयति तस्याश्चरित्रविषये शङ्का विधत्ते अतो वधूबन्धुजनास्तस्या स्वभर्तु समीप मेव निवासमिच्छन्ति सा स्वभतुरभिमता अनभिमता वा भवेत्।

टिप्पणी

उपन्यस्तम—उपन्याम का अथ है किसी बात के अनुमोदनाथ उसे सामने प्रस्तुत करना। उप+नि+अस+क्त=यह क्या अनोखी बात मेरे सामने उपस्थित की गई है। **वचनोपन्यास**—बात का सामने रखना। राजा के उपन्यस्तम को ही लक्ष्य कर वचनोपन्यास कहा गया है—उप+नि+अस+घञ। सुनराम्=बहुत अधिक—सु+तरप 'किमेत्तिङव्यय' सूत्र मे अन्त मे आम प्रत्यय। **लोकवृत्तान्तनिष्णाता**—लोकस्य वृत्तान्ते व्यवहारे निष्णाता कुशला। नि+स्ना+क्त 'निनदीभ्या स्नाते कौशले' से कुशलाथ मे धातु के सकार को षत्व। **परिणेतु**—परि+नी+तृच षष्ठ्येक वचने, विवाह के समय वर अग्नि के चारो ओर परिक्रमा करता है कन्या उसकी अनुगामिनी बन साथ चलती है अत पति को परिणेता कहा जाता है। यह श्लोक तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश डालना है मधवा स्त्री का अधिक समय पितृकुल मे रहना उचित नही माना जाता था, पद्मपुराण की भी यही मान्यता है "कन्या पितृगहे नैव सुचिर वास महति। लोकापवाद सुमहान् जायते पितृवेश्मनि। कामसूत्र उसे विशेष अवसरो पर ही पितृगृह जाने के लिए कहता है "ज्ञातिकुलस्यानभिगमनमन्यत्र व्यसनोत्सवाभ्याम्।"

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ?

शकुन्तला—(सविषादम् । आत्मगतम्) हृदय, साम्प्रत ते आशङ्का । [हिअअ, सपद दे आसङ्का ।]

शार्ङ्गरव—किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ?

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्न ?

शार्ङ्गरव—मूर्च्छन्त्यमी विकारा प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥१८॥

राजा—क्या मैने इस कन्या (शकुन्तला) के साथ पहले कभी विवाह भी किया था ?

शकुन्तला—(विषादपूर्वक मन मे) हृदय, तेरी आशका उचित ही थी ।

शार्ङ्गरव—

अन्वय—किं कृतकार्य द्वेष धर्म प्रति विमुखता, कृतावज्ञा ?

शब्दार्थ—किम्—क्या, कृतकार्यद्वेष =किये गये कार्य के प्रति अरुचि, धर्मं प्रति विमुखता=कर्तव्य पालन से मुख मोडना, कृतावज्ञा=किये हुये कार्य का जान-बूझकर निरादर करना ।

अनुवाद—क्या किये हुये कार्य के प्रति अब आपको अरुचि हो रही है अथवा आप कर्तव्य पालन की ओर से मुख मोड रहे है, अथवा आप (जान बूझ कर) किये हुये कार्य का निरादर कर रहे है ।

राजा—झूँठी कल्पना पर आश्रित यह प्रश्न कहाँ से उपस्थित हुआ ?

शार्ङ्गरव—

अन्वय—ऐश्वर्यमत्तेषु प्रायेण अमी विकारा मूर्च्छन्ति ।

शब्दार्थ—ऐश्वर्यमत्तेषु=वैभव के कारण मदान्ध (लोगो मे, प्रायेण=प्राय, अमी विकारा =ये मन के विकार, मूर्च्छन्ति=बढते ही है ।

अनुवाद—वैभव के कारण मदान्धजनो मे अधिकतर ये (कृतकार्यद्वेषादि) मनोविकार बढते ही रहते है ।

भावार्थ—राजा के यह कहने पर कि क्या मैंने कभी इससे विवाह भी किया था ? "शार्ङ्गरव कहता है कि अब ऐसा कहकर क्या आप अपने किये हुये कार्य के प्रति अपनी अरुचि दिखला रहे है, अथवा यह आपका कर्तव्य से मुख मोडना है अथवा अब आप जान बूझकर अपने किये हुये काम को ही दुष्कर्म समझकर उसका तिरस्कार कर रहे हैं ?

शार्ङ्गरव की ये बातें सुनकर (राजा बीच मे ही उसे रोक कर कहता है कि मेरे विषय मे ऐसी झूठी कल्पना का तो प्रश्न ही नही उठता, पर शार्ङ्गरव अपनी बात को पूरा करता हुआ आगे कहता है कि ऐसा प्राय देखा जाता है कि जो लोग वैभव से मदान्ध हो जाते है उनमे कृतकार्यद्वेष आदि मनोविकार प्राय उत्पन्न होते ही

हैं जैसा कि आज आप मे दृष्टिगत हो रहा है शकुन्तला से विवाह करने के बाद भी अब आप उसका निरादर कर रहे हैं।

विशेष— प्रस्तुत पद्य म सामान्याथ स पूर्वार्धगत विशेषार्थ का समथन होने स **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार पूर्वार्ध मे **सन्देहालंकार**, अप्रस्तुत ऐश्वयमत्त सामान्य से प्रस्तुत ऐश्वयमत्त दुष्यन्त की प्रतीति हो रही है अत **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलङ्कार, **हेतु** और **अनुप्रास** अलकार तथा आर्या जाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या किम = किमिति कृत स्वेच्छया निर्मिते कार्ये गान्धर्व विवाहरूप कर्मणि द्वेष अरुचिरप्रीति वा धर्म प्रति = गान्धर्वविवाहरूप स्वकीय कर्तव्य पालन प्रति, विमुखता = पराङ्मुखता कृतावज्ञा = कृतस्य विवाहरूपस्य कर्मण अवज्ञा अनादर किम। ऐश्वर्येण विभवेन मत्तेषु मदान्धेषु ऐश्वर्य मत्तेषु— प्रभुत्वैश्वर्यमदोन्मत्तेषु-जनेषु, प्रायेण आधिक्येन अमी विकारा = एते कृतकार्यद्वेषादयो मनोविकारा, मूर्च्छन्ति = प्रवर्धन्ते एवेति।

संस्कृत सरलार्थ—'किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वेति' राजवचनमाकर्ण्य शार्ङ्गरव कथयति किं भवानधुना स्वेच्छया कृते गान्धर्वविवाहरूपकर्मणि स्वारुचि प्रदर्शयति अथवा स्वकर्तव्यपालन प्रति वैमुख्यम् अथवा स्वकृतकार्यविधीरणा वा प्रदर्शयति, यद्येव तथापि नास्त्यत्र किमपि वैचित्र्य यतोहि प्रभुत्वैश्वर्यमदोन्मत्तेषु जनेष्वेवप्रायो मनोविकारा प्रवर्धन्त एव।

टिप्पणी

परिणीतपूर्वा—'पूर्व परिणीता इति परिणीतपूर्वा भूतपूर्वे चरडिति ज्ञापकादत्र पूर्वशब्दस्य परनिपात। **साम्प्रतम्**—इसका अर्थ 'एतर्हि सम्प्रतीदानी मधुना साम्प्रतम् तथा" के अनुसार "इस समय" होता है किन्तु जब इसका प्रयोग विशेषणवत् होता है तब, जैसा कि यहा है, इसका अर्थ 'उचित' होता है। **सविषादम्**—विषादेन सहितम यथा स्यात्तथा।

कृतकार्य द्वेष—स्वेच्छया कृते गान्धर्वविवाहे द्वेष घृणा 'द्विष्+घञ्— द्वेष। फिर भी ऐसा करना प्रायश्चित्तार्ह होने से कुछ अश तक क्षम्य माना जा सकता है। **कृतावज्ञा**=कृतस्य अवज्ञा—असदभावना से प्रेरित होकर विवाह करना और फिर उसका तिरस्कार करना सर्वथा अक्षम्य अपराध है। **धर्मप्रतिविमुखता**—धर्मविधि से शकुन्तला को पत्नी रूप मे स्वीकार करके अब उसके उत्तरदायित्व के वहन करने से पराङ्मुख होना सर्वथा अनुचित है। **असत्कल्पनाप्रश्न** सर्वथा असत्य कल्पना पर आधारित यह प्रश्न उचित नही (असती या कल्पना असम्भवद्वस्तुविषयिणी कल्पना सर्वथा निराधारकल्पना तन्मूलक प्रश्न अथवा असती या कल्पना तया (कृत) प्रश्न। **मूर्च्छन्ति** मूर्च्छ् धातु के दो अर्थ होते हैं मूर्च्छित होना और बढना, 'मूर्च्छा मोह उच्छ्राये" यहाँ पर इसका अर्थ बढना है 'कालिदास ने अन्यत्र भी इस अर्थ मे प्रयोग किया है "शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य' तौयस्वन मूर्च्छति मङ्गलार्थे" रघुवंश। क्रोधयुक्त कथन होने से यहाँ त्रोटक नामक गर्भ सन्धि का अंग है "त्रोटक पुन सरब्धवाक्" सा० द०।

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि ।

गौतमी—जाते, मुहूर्तं मा लज्जस्व । अपनेष्यामि तावत् तेऽवगुण्ठनम् । ततस्त्वा भर्ताऽभिज्ञास्यसि । [जादे, मुहुत्तअं मा लज्ज । अवणइस्स दाव दे ओउण्ठण । तदो तुम भट्टा अहिजाणिस्सदि ।]

(इति यथोक्त करोति ।)

राजा—(शकुन्तला निर्वर्ण्य । आत्मगतम्)

इदमुपनतमेव रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीत स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषार
न च खलु परिभोक्तु नैव शक्नोमि हातुम् ॥१९॥

(इति विचारयन् स्थित ।)

राजा—(इस कथन से तो) मै अत्यधिक तिरस्कृत हुआ हूँ ।

गौतमी—(पुत्री, थोडी देर के लिये लज्जा न करो, तो मै तेरे घूघट को हटाती हूँ तब तेरा पति तुझको पहचान लेगा । (यह कहकर वैसा ही करती है)

राजा—(शकुन्तला को ध्यान से देखकर मन ही मन)

इदमिति अन्वय—एवम् उपनतम् इदम् अक्लिष्टकान्ति रूपम् प्रथमपरिगृहीतम् स्यात् न वा इति अव्यवस्यन् विभाते अन्तस्तुषारम् कुन्दम् भ्रमर इव न च खलु परिभोक्तुम् नैव हातुम् शक्नोमि ।

शब्दार्थ—एवम्=इस प्रकार, उपनतम्=प्राप्त हुये, इदम्=इस, अक्लिष्ट-कान्ति=निर्दोष शोभाशाली, रूपम्=सौन्दर्य को अर्थात् सौन्दर्यशाली व्यक्ति को प्रथम-परिगृहीतम्—पहले कभी (विवाह रूप मे) स्वीकार किया है, न वा=अथवा नही, इति अव्यवस्यन्=इस प्रकार निश्चय न कर सकता हुआ, विभाते=प्रातःकाल, अन्तस्तुषारम्=ओस से भरे हुए, कुन्दम्=कुन्द के पुष्प को, भ्रमर इव=भ्रमर के समान, (मैं) न च परिभोक्तुम् शक्नोमि=न तो (इसका) उपयोग ही कर सकता हूँ, नैव शक्नोमि हातुम्=(और) न (इसे) छोड ही सकता हूँ ।

अनुवाद—इस प्रकार प्राप्त हुये इस निर्दोष शोभाशाली सौन्दर्य को अर्थात् सौन्दर्यशाली व्यक्तित्व को (मैंने कभी) पहले (पत्नी रूप मे) स्वीकार किया था अथवा नही, इस प्रकार निश्चय न कर सकता हुआ, प्रातःकाल ओस से भरे कुन्द पुष्प को भ्रमर के समान, मैं न तो (इसका) उपभोग ही कर सकता हूँ और न (इसे) छोड ही सकता हूँ ।

भावार्थ—शकुन्तला को ध्यानपूर्वक देखकर, राजा अपने मन मे सोचता हुआ कहता है कि इस प्रकार अर्थात् गर्भिणी रूप से प्राप्त हुये इस निर्दोष शोभा सम्पन्न इस सुन्दरी को मैंने कभी पहले पत्नी रूप मे स्वीकार किया था अथवा नही इस प्रकार किसी निर्णय पर न पहुँचता हुआ मैं उसी प्रकार न तो इसका उपभोग ही कर सकता

हूँ और न इसे छोड ही सकता हूँ जैसे भ्रमर उस कुन्द पुष्प को जिसमे कि ओस भरा हुआ है, न तो उपभोग ही कर सकता है अर्थात् न तो उसके रस को ही ग्रहण कर सकता है और न उसको छोड ही सकता है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य म **उपमा** और **सन्देह** अलकार है और **अनुप्रासालकार** है। मालिनी नामक छन्द है, यहा सशय नामक नाटकीय भूषण है "अनिश्चयात यद्वाक्य सशय सनिगद्यते" प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति।

सस्कृत व्याख्या—एवम्=अनेन प्रकारेण, उपनतम्=प्राप्तम्, न क्लिष्टा अक्लिष्टा अम्लाना निर्दोषा वा कान्ति शोभा यस्य तत्—अक्लिष्टकान्ति, इदम्—पुरोवर्ति, रूपम्—सौन्दयम लक्षणयात्र सुन्दरी रमणी मित्यथ, प्रथमपरिगहीतम्=पूव गान्धवविवाहेन पत्नीरूपेण स्वीकृतम् स्यात्=भवेत्, न वा=न वा भवेत्, इति—एतत् अव्यवस्यन्=निर्णेतुमशक्नुवन् (अहम्) विभाते=प्रात काले अन्त मध्ये तुषारो हिम यस्य तत्—अन्तस्तुषारम् कुन्दम्—कुन्दकुसुमम् भ्रमर —पटपद इव, न च खलु—नहि खलु परिभोक्तुम्=स्वीकर्तुम् उपभोक्तुम् वा, नैव—न च हातुम्=परित्यक्तुम्, शक्नोमि—समर्थो भवामि।

सस्कृत सरलार्थ—यथा प्रात काले तुषारावृत कुन्दपुष्प तुषारस्पर्शस्यासह्यत्वाद् भ्रमरो नोपभोक्तु शक्नोति नैव तस्यातिप्रियत्वात्तत् परित्यज्य गन्तुमपि पारयति तथैवाहमिदानी मेव समुपगत मनिद्यसुन्दरी मिमाम् 'मयय पूव गान्धवविवाह विधिना पत्नीत्वेन स्वीकृता भवन्नवा भवेदिति निर्णेतुमपारयन्, नैवोपभोक्तु नैव च परित्यक्तुमपि प्रभवामि।

टिप्पणी

विशेषेण अधिक्षिप्ताऽस्मि—मै विशेष रूप से निरस्कृत हुआ हूँ। यद्यपि शाङ्गरव का कथन सामान्य कथन ही है इसमे राजा के तिरस्कार की कोई बात नही है तथापि परिस्थितिवश शाङ्गरव ने यह सब चक्रवर्ती सम्राट को लक्ष्य करके कहा है, अत राजा के लिये ऐसा सोचना भी स्वाभाविक है यद्यपि शाङ्गरव के वचन विशेष रूप से उत्तेजक है फिर भी राजा उन्ह सहन करके केवल इतना ही कहता है कि इस कथन से मेरा निरस्कार किया जा रहा है वह क्रुद्ध भी नही होता और न कुछ उत्तर ही देता है इससे राजा की धीरता गम्भीरता मुनिजनो के प्रति आदर भावना तथा शान्तिप्रियता एव सच्चरित्रता का पता चलता है। **अवगुण्ठनम्**—इससे ज्ञात होता है कि उस समय उच्च कुलो मे विशेष अवसर पर घूघट डालने की प्रथा थी, महाकवि भास के नाटको से भी ऐसी ही परम्परा ज्ञात होती है "सक्षिप्यताम् जवनिका" देव्योऽवगुण्ठन मपनयामि" क्रमश —स्वप्न एव प्रतिमा०।

यथोक्त करोति—यह कहकर गौतमी उसके घूघट को हटा देती है जिससे कि दुष्यन्त उसे पहचान ले। वस्तुत गौतमी द्वारा इस स्थिति मे घूघट हटाना, जिससे कि उसका पति उसके उसी सौन्दय को पुन अपनी उन्ही आँखो से, जिनसे कि उसने उसे पहले देखा था और आकृष्ट होकर विवाह किया था, देख ले और पहचान ले,

गौतमी की स्त्रीजनोचित बुद्धिकुशलता की चरम सीमा का परिचायक है, साथ ही इससे कवि का रचना कौशल, मनोवैज्ञानिक अवसर प्राप्त सूक्ष्म निरीक्षण भी द्योतित होता है।

गौतमी के इस कथन से लेकर षष्ठ अक की समाप्ति तक विमश (अवमश) सन्धि है, क्योकि यहा शाप के कारण शकुन्तला को पहचानने मे विघ्न उपस्थित हुआ है। "यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिक । शापाद्यै सान्तरायश्च स विमश इति स्मृत "अथवा" क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात गर्भनिर्भिन्न वीजार्थ सोऽवमर्थ इति स्मृत"। यहाँ शाप रूप व्यसन से अवमश है। यहा प्रकरी नामक अर्थप्रकृति और नियताप्ति नामक कार्यावस्था है।" शाभार्यै वैदिकाना यथा पुष्पक्षतादय । अथर्तवणनादिस्तु प्रसगे प्रकरी भवेत"। यहा प्रसगत ऋतुवणनादि प्रकरी के अन्तगत है। जैसा कि षष्ठ अक मे "तत प्रविशति चूताङ्कुरम्" से लेकर 'नेपथ्ये' तक प्रकरी चलती है। किन्ही आचार्यों ने षष्ठ अक के मातलिप्रसग को प्रकरी माना है। "नियता तु फलप्राप्ति यदा भावेन पश्यति" अर्थात् जहा फल प्राप्ति का निश्चित निर्धारण हो वहा नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है। अवमश सन्धि के १३ अग होते है "तत्रापवादसफेटौ विद्रवद्रवशक्तय । द्युति प्रसगश्छलन व्यवसायो विरोधनम् । प्ररोचनाविचलन मादानञ्च त्रयोदश । **एवम्**—यद्यपि इसका स्पष्ट अर्थ है, दैवयोग से, बिना किसी उद्योगविशेष के ही प्राप्त हुई, पर कुछ टीकाकारो ने इसका तात्पय आपन्नसत्त्वा रूप मे, लिया है और इसके प्रमाण रूप मे शार्ङ्गरव के कथन 'आपन्नसत्वा' इय प्रतिगह्यताम्" को बतलाया अतएव उपमा मे कुन्द को अन्तस्तुषार कहा गया है। प्रसगत यह अथ भी ठीक है। **अक्लिष्टकान्ति**—इससे शकुन्तला की प्रथम यौवन विकासशालिता तथा अपूवलावण्यशालिता द्योतित होती है और यही राजा के त्याग न कर सकने मे कारण भी है। **रूपम्**—इस पद से लक्षणाशक्ति द्वारा रमणी का ग्रहण है क्योकि रूप परिगृहीत नही होता। अत लक्षणा द्वारा इसका अथ है—रमणी मूर्ति। **अव्यवस्यन्**—वि+अव+सो+शतृ नञ समास। **विभाते अन्तस्तुषारम्**—इससे द्योतित होता है कि जिस प्रकार प्रातकालीन तुषार से आवृत कुन्द पुष्प के रस को भ्रमर नही ग्रहण कर पाता उसी प्रकार शापावृत शकुन्तला के सौन्दर्य रस का पान राजा नही कर पाता। कुन्द पुष्प यथा तुषारावृत है तथैव शकुन्तला भी आपन्नसत्वा है। तुषारस्पश के असह्य होने से भ्रमर उस पर नही बैठता, इसी प्रकार आपन्नसत्वा रमणी का ग्रहण धर्मात्मा राजा भी नही कर सकता है। विभाते' से तात्पय है कि जिस प्रकार, प्रातकालीन तुषार जब सूय किरणो से नष्ट हो जायेगा तब भ्रमर को उसका रस अवश्य प्राप्त होगा उसी प्रकार जब अभिज्ञानदशन द्वारा शाप निवृत्त हो जायेगा तब राजा को शकुन्तला का उपभोग अवश्य प्राप्त होगा। इससे स्थायी भाव रति की दृढता ध्वनित होती है। **परिभोक्तुम्**—भ्रमर तो तुषारस्पश के असह्य होने से और राजा आपन्नसत्वा और परकीया होने से उपभोग नही कर पाता। **हातुम्**—भ्रमर तो पुष्परसास्वाद मे लालायित होने के कारण नही छोड पाता और राजा उसके अपूर्व

प्रतीहारी--(स्वगतम्) अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः । ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति ? [अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो । ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि ।]

शार्ङ्गरव—भो राजन्, किमिति जोषमास्यते ?

राजा—भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि । तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ?

शकुन्तला—(अपवार्य) आर्यस्य परिणय एव सन्देहः । कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा ? [अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो । कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा ?]

शार्ङ्गरव—मा तावत् ।

> कृताभिमर्शामनुमन्यमानः
> सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
> मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं
> पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥२०॥

लावण्यवती होने के कारण नहीं छोड़ पाता । साथ ही पति की विवाहिता को न छोड़ने में पाप का डर भी है ।

इतीति— (ऐसा सोचकर चिन्ता मग्न होकर चुप हो जाता है)

प्रतीहारी—(मन में) अहो महाराज की कैसी धर्मनिष्ठा (है) ऐसा अनायास उपलब्ध हुये सौन्दर्य को देखकर और कौन विचार करता है अर्थात् कोई भी अपूर्व लावण्यवती रमणी को अनायास प्राप्त कर उसके स्वीकार करने या न करने के विषय में सोचेगा, प्रत्युत उसे तुरन्त स्वीकार कर लेगा ।

शार्ङ्गरव- हे राजन् आप अब चुप क्यों बैठे हैं ?

राजा—हे तपस्वियो, सोचता हुआ भी मैं (इसको पत्नी रूप में) स्वीकार करने का स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ तो मैं किस प्रकार गर्भवती के लक्षणों वाली इसके प्रति अपने को क्षेत्री (पति) मानता हुआ इसे ग्रहण स्वीकार करूँ ।

शकुन्तला—(एक ओर मुह करके) महाराज को तो (मेरे साथ) विवाह में ही सन्देह है तो फिर (अब) मेरी (वह) ऊँची आशा कहाँ ?

शार्ङ्गरव—तुम्हारा ऐसा कहना प्रस्तुत प्रसंग के विपरीत है —

कृतेति— अन्वय— कृताभिमर्शाम् सुताम् अनुमन्यमानः मुनिः त्वया विमान्यः नाम । येन मुष्टम् स्वम् अर्थम् प्रतिग्राहयता (त्वम्) दस्युः इव पात्रीकृतः असि ।

शब्दार्थ—कृताभिमर्शाम्= (तुम्हारे द्वारा) बलात् उपभुक्ता (भी) सुताम्= (अपनी) पुत्री को, अनुमन्यमानः = (तुम्हारे लिये) अनुमति देने वाले, मुनिः =(उस) काश्यप मुनि का, त्वया=तुम्हें विमान्यः नाम=वस्तुतः अपमान ही करना चाहिये ।

येन=जिसके द्वारा, मुष्टम् स्वम् अर्थम्=चुराये गये अपने (शकुन्तला रूपी) धन को, प्रतिग्राहयता=तुम्हें समर्पण करते हुये, दस्यु इव=चोर के समान तुम), पात्रीकृत असि=योग्य पात्र बनाये गये हो।

अनुवाद—(तुम्हारे द्वारा) बलात् उपभुक्ता (भी) (अपनी) पुत्री को (तुम्हारे लिये) अनुमति दे देने वाले (उन) मुनि काश्यप का तुम्हें वस्तुतः अपमान ही करना चाहिये ? जिसके द्वारा चुराये गये भी अपने (शकुन्तला रूपी) धन को (तुम्हें) समर्पण करते हुये, चोर के समान तुम योग्य पात्र बनाये गये हो।

भावार्थ—राजा का कथन सुनकर शार्ङ्गरव कहता है कि तुम्हारा ऐसा कहना प्रस्तुत प्रसंग में सर्वथा विपरीत है ठीक ही तो है, तुम्हें ऐसे उस मुनि काश्यप का अपमान ही करना चाहिये जिसने कि तुम्हारे द्वारा बलात् उपभोग की गई भी अपनी पुत्री को तुम्हें समर्पित कर दिया है अर्थात् शाप आदि दण्ड न देकर इस चौर्यकार्य को भी अनुमोदित करते हुये शकुन्तला को तुम्हें स्वतः समर्पित कर दिया है। वस्तुतः शार्ङ्गरव की यह व्यङ्ग्योक्ति है जिसका तात्पर्य है कि तुम्हें उस मुनि का कदापि अपमान न करना चाहिये। वस्तुतः मुनि ने तुम्हारे साथ वैसा ही उदार व्यवहार किया है जैसा कि कोई व्यक्ति, किसी चोर द्वारा अपने घर से चुराये धन को उसी चोर को समर्पित कर देता है और उसकी प्रशंसा भी करता है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में दस्युरिव' में उपमालंकार इस उपमा से दुष्यन्त की निकृष्टता व्यञ्जित होती है अतः अलंकार से वस्तु ध्वनि है अतः **सूक्ष्मालंकार**, अपराधी दुष्यन्त को सन्तोषार्थ कन्या देकर भी सन्तोष नहीं हुआ अपितु अपमान ही मिला अतः विषमालंकार, छेक, वृत्ति अनुप्रास, उपजाति नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—कृतः अनुष्ठितः अभिमर्शः बलात् छलाद् वा उपभोगः यस्यास्ताम् कृताभिमर्शाम् सुताम्=स्वकीयां पुत्रीं शकुन्तलाम्, अनुमन्यमानः=त्वत्कृत गान्धर्वविवाहमनुमोदमानः, मुनिः=महर्षिः काश्यपः, त्वया=दुष्यन्तेन, विमान्य नाम=अवमाननीय एव। येन=निग्रहसमर्थनापि दयालुना मुनिना, मुष्टम्=चोरितम्, स्वमर्थम्=स्वकीयं शकुन्तलारूपं धनम्, प्रतिग्राहयता=आत्मनैव दत्वा तदधीनं कारयता पुरुषेण, त्वम् दुष्यन्त दस्युः=चौरः, इव, पात्रीकृतः—सुपात्रतां नीतोऽसि, त्वत्कृतापराधं विस्मृत्य यः मुनिना स्वकन्या त्वत्समीपमेव प्रेषिता तस्यावमानना न त्वया कार्या इति भावः।

संस्कृत सरलार्थ—राजवचनमाकर्ण्य शार्ङ्गरवः कथयति यत्त्वया छलादुपभुक्तामपि स्वसुतां शकुन्तलां प्रतिग्राहयन् एव त्वत्कृतापराधं विस्मृत्य, त्वत्कृतगान्धर्वविवाहस्यानुमोदमानः स मुनिः काश्यपः त्वया तु तावदवमाननीयः। शापादिनिग्रह समर्थनापि दयालुना येन मुनिना चोरितं स्वकीयं शकुन्तलारूपं धनं प्रतिग्राहयता त्वं दस्युरिव पात्रत्वं प्रापितोऽसि।

शारद्वत — शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले, वक्तव्यमुक्तमस्माभि। सोऽयमत्रभवानेवमाह। दीयतामस्म प्रत्ययप्रतिवचनम्।

शकुन्तला — (अपवार्य) इद मवस्थान्तर गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन ? आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्। (प्रकाशम्) आर्यपुत्र—(इत्यर्धोक्ते) सशयित इदानीं परिणये नष समुदाचार।—पौरव, न युक्त नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिम जन

टिप्पणी

धर्मापेक्षिता—धममपेक्षते विचारयति इति धर्मापेक्षी-धम+अप+ईक्ष धातो ताच्छील्ये णिनिं तस्य भाव तल धर्मापेक्षिता=धमनिष्ठता धार्मिकता, यदि ऐसा न होता ता कौन दूसरा व्यक्ति इस प्रकार से अपने आप प्राप्त अपूव लावण्यवती रमणी को स्वीकार करने मे आगा पीछा सोचता अर्थात् कोई न सोचना, तुरत स्वीकार कर लेना, **क्षेत्रिणम**—क्षेत्रम (पत्नी) यस्य तम् 'क्षेत्र कलत्रे केदारे"। परपत्नी मे गभाधान करने वाला व्यक्ति क्षेत्री कहलाता हे वीजी नहीं, इससे उत्पन्न सन्तान क्षेत्रज कही जाती है जो कि औरस सन्तान की अपेक्षा निम्न मानी जाती है गभवती इसको स्वीकार करने पर मै इसका क्षेत्री पति कहलाऊँगा और यह मेरी क्षेत्रा पत्नी होगी धमपत्नी नहीं इस प्रकार यह कथन भी मान्य न हो सकेगा 'प्रनिगह्यना सहधम चरणाय'। जहा क्षेत्रियम् पाठ है, वहा इसका अथ है परस्त्रीगामी। इसमे राजा का धमभीरू होना ध्वनित होता है। **अपवार्य**—रहस्य कथ्यतेऽयस्यापवारितम्"।

दूराधिरोहिण्याशा—'परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य न" राजा के इन कथन के अनुसार शकुन्तला को यह महत्वाकाक्षा थी कि वह राजमहिषी बनेगी। **मा तावत**—इसके यहा दो अथ हो सकते है—ऐसा न कहिये अथवा आप शकुन्तला को स्वीकार न करें। **विमानय नाम**—अवश्य अपमान करो और यदि मा तावत् को यहाँ लगा लिया जाय तो अथ होगा, मुनि का अपमान न करो वस्तुत शार्ङ्गरव के इस कथन मे यहाँ कठोर व्यङ्ग्य ही ध्वनित होता है और यह प्रसगानुकूल भी है 'नाम' क्रोध सूचक भी होता है अत इसका तात्पय होगा कि मुनि का तुम्हारे द्वारा अपमान तो हाना ही चाहिये और तुम से क्या आशा की जा सकती है। पर यह भी न भूलना चाहिये कि मुनि निग्रह समथ भी है। एक बार तो क्षमा कर दिया पर यदि अब तुमने तिरस्कार किया तो दण्ड भागी भी होगे। **अनुमन्यमान**—अनु+मन् कमणि शानच, **मुष्टम**—मुष स्तेय क्त। **प्रतिग्राहयत**—प्रति+ण्यन्त ग्राहि+तृच।

शारद्वत—शार्ङ्गरव! तुम अब चुप हो जाओ। शकुन्तला (जो कुछ भी) हमे कहना था, कह दिया यह राजा इस प्रकार कह रहे हं। अब तुम इन्हे विश्वसनीय उत्तर दो।

शकुन्तला—(एक ओर मुह करके) जब वैसा (प्रगाढ) प्रेम इस विपरीत दशा तक पहुँच चुका है तो (अब) याद दिलाने से क्या लाभ ? अब यह तो निश्चय है कि

समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्। [इमं अवत्थन्तरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण ? अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं। अज्जउत्त—ससइदे दाणिं परिणए ण एसो समुदाआरो।—पोरव, ण जुत्तं णाम दे तहं पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं।]

राजा—(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापम्।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥२१॥

मुझे अपने आपकी ही निन्दा करनी पड़ेगी अर्थात् अपने भाग्य को ही कोसना पड़ेगा। (प्रकट) आर्यपुत्र ! (इतना आधा ही कहकर बीच में ही रुक कर) अब तो विवाह के ही संदिग्ध होने पर यह सम्बोधन उचित नहीं है—पौरव ! आपके लिये यह उचित नहीं है कि इस प्रकार पहले आश्रम स्थान में स्वभाव से ही गाम्भीर्यरहित—अतिमुग्ध सरल एवं निष्कपट हृदय वाले इस व्यक्ति को (मुझे) शपथपूर्वक, अथवा गान्धर्वविवाहपूर्वक अथवा समयपूर्वक धोखा देकर इस प्रकार के वाक्यों से उसका निराकरण करें।

राजा—(कानों को बन्द करके) पाप शान्त हो।

व्यपदेशमिति अन्वय—किम् (त्वम्) व्यपदेशम् आविलयितुम् इमम् जनम् पातयितुम् च ईहसे। कूलंकषा सिन्धुः प्रसन्नम् अम्भः तटतरुम् च इव।

शब्दार्थ—किम्=क्या, (तुम) व्यपदेशम्=कुल को, आविलयितुम्=कलंकित करने के लिये, इमम् जनम्=इस जन अर्थात् मुझ दुष्यन्त को, पातयितुम्=पतित बनाने के लिये, ईहसे=चेष्टा करती हो, कूलंकषा=अपने किनारों को तोड़ने वाली, सिन्धुः=नदी, प्रसन्नम् अम्भः=स्वच्छ जल को, आविलयितुम् तटतरुम् च पातयितुम्=गन्दा करने के लिये और किनारे के वृक्ष को गिराने के लिये, (ईहते=चेष्टा करती है।

अनुवाद—क्या (तुम) अपने कुल को कलंकित करने के लिये और इस जन अर्थात् मुझ दुष्यन्त को पतित बनाने के लिये उसी प्रकार चेष्टा कर रही हो, जैसे कि (एक) किनारों को तोड़ने वाली नदी स्वच्छ जल को गन्दा करने और किनारे के वृक्ष को गिराने के लिये चेष्टा करती है।

भावार्थ—शकुन्तला की बात सुनकर दुष्यन्त कहता है कि क्या तुम, उसी प्रकार अपने कुल को कलंकित करने की एवं मुझको भी पतित बनाने की चेष्टा कर रही हो जैसे कि एक अपने किनारों को तोड़ने वाली नदी स्वच्छ जल को गन्दा करने की तथा किनारे के वृक्ष को गिराने की चेष्टा करती है, जल प्रवाह के आधिक्य से जैसे नदी अपने किनारों को तोड़ने से मिट्टी गिरा कर जल को गन्दा कर देती है और मिट्टी के बह जाने से कमजोर हुआ किनारे पर खड़ा हुआ भी वृक्ष उससे गिर पड़ता है उसी प्रकार तुम स्वयं पतिता होकर जो यहाँ मेरे पास आई हो इससे प्रकट है कि

तुम अपने कुल को भी कलङ्कित कर रही हो और मुझे भी पतित बनाने की चेष्टा कर रही हो।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में उपमा समुच्चय, यथासंख्य और अनुप्रास अलङ्कार हैं, आर्याजाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—किम्=किमिति व्यपदेशम्=स्वकीयम् कुलम् आविलयितुम्=कलङ्कयितुम् इमम् जनम्=माम् दुष्यन्तम् च, पातयितुम्=पतितं कर्तुम् च, ईहसे=चेष्टसे, कूलं तटम् कषतीति कूलङ्कषा=स्वकीयतटपातनकुशला, सिन्धुः=नदी, प्रसन्नम् अम्भः=निर्मलं जलम् आविलयितुम्=मलिनीकर्तुम् तटतरुम्=तटस्थ वृक्षम् च, पातयितुम्=उन्मूलयितुम् च इव=यथा, ईहते=चेष्टते।

संस्कृत सरलार्थ—यथा स्वतटपातनशीला नदी स्वच्छमपि स्वकीयं जलं तटोत्पाटनेन मलिनीकरोति एवञ्च तटस्थं वृक्षञ्च जले निपातयति तथैव स्वेच्छाचारिणी त्वमपि गर्भवती भूत्वा मत्समीपमागमनेन स्वकीयं निर्मलं कुलं कलङ्कयितुम् एवं मां दुष्यन्तञ्च पतितं कर्तुमीहसे। तदनुचितम्।

टिप्पणी

प्रत्ययप्रतिवचनम्—प्रत्यय=विश्वास, प्रतिवचनम्=उत्तर, ऐसा उत्तर जो विश्वास के योग्य हो। प्रत्ययजनकं प्रतिवचनम् अत्र मध्यमपदलोपिसमासः। **आत्मा**—अपने को ही **शोचनीय**—धिक्कारना है अपने ही भाग्य को कोसना है इसमें अन्य किसी का दोष नहीं यह मेरा भाग्य दोष ही है। अन्यत्र शोधनीय भी पाठ है इसका अर्थ है कि अब मुझे अपने को निर्दोष सिद्ध करना है। **अवस्थान्तरम्**—अन्यामवस्थामिति मयूरव्यंसकादित्वात् नित्यसमासः अन्तर शब्दस्य परनिपातश्च। **पौरव**—पुरुवंशोत्पन्न राजन् यह सम्बोधन साभिप्राय है अर्थात् पुरु जैसे उत्तम वंश में उत्पन्न होकर जो तुम आश्रम में विवाहिता भी पत्नी का त्याग कर रहे हो, यह सर्वथा अनुचित है, अपने इस कृत्य से आप अपने कुल को कलङ्कित कर रहे हैं और अपने को पतित बना रहे हैं ... आप जैसा कार्य आप ही कर सकते हैं मेरा नहीं आप जैसे ही लोग ... दुराचारी होते हैं, मुझ जैसी ऋषिकन्यायें नहीं, **स्वभावोत्तानहृदयम्**—स्वभावेन उत्तानं सरलं निष्कपटं हृदयं यस्य तम्। आश्रमवासिनी होने के कारण मेरा हृदय ... लोकव्यवहार, परप्रतारणा, मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् से दूर, अभिमुख एवं सरल तथा निष्कपट है।

समयपूर्वम्—गान्धर्वविवाहपूर्वक अथवा प्रतिज्ञापूर्वक "परिग्रहबहुत्वेऽपि इत्यादि अथवा निश्चित समय पूर्वक "एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीय इत्यादि। अथवा ... बहकाकर मुग्धहृदय को प्रतारित कर के, ईदृशैः अक्षरैः—"न खलु ... स्वीकरणमत्र भवत्या स्मरामि' इत्यादिवाक्यों द्वारा। **प्रत्याख्यातुम्**—निराकरण या अस्वीकार करना। **प्रताय**—प्र+ण्यन्त तृ+क्त्वा—ल्यप्। **व्यपदेशम्**—व्यपदिश्यते आहूयते परिचीयते वानेन वि+अप्+दिश्+घञ्—व्यपदेश वंश या कुल। **आविलयितुम्**—आविलं मलिनम् कर्तुम् 'तत्करोति तदाचष्टे'। इति णिच्।

शकुन्तला—भवतु । यदि परमार्थत परपरिग्रहशङ्किना त्वयैव ववतु प्रवृत्तम् तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि । [होदु । जइ परमत्थता परपरिग्गहसंकिणा तुए एव्व वत्तु पउत्त ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसक अवणइस्स ।]

राजा—उदार कल्प ।

शकुन्तला—(मुद्रास्थान परामृश्य) हा धिक । अगुलीयकशून्या मेऽङ्गुलि । [हद्धी । अगुलीअअसुण्णा मे अगुली ।]

(इति सविषाद गौतमीमवेक्षते ।)

गौतमी—नून ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिल वन्दमानाया प्रभ्रष्टमगुलीयकम् । [णूण दे सक्कावदारब्भन्तरे सचीतित्थसलिल वन्दमाणाए पब्भट्ट अगुलीअअ ।]

राजा—(सस्मितम) इद तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।

शकुन्तला—अत्र तावद् विधिना दर्शित प्रभुत्वम् अपर ते कथयिष्यामि । [एत्थ दाव विहिणा दसिद पहुत्तण । अवर दे कहिस्स ।]

राजा—श्रोतव्यमिदानी सम्वृत्तम् ।

"काऽस्य व्यपदेश" **पिधाय**—अत्र भागुरिमते अकार लोप अपिधाय इत्यपि । **शान्तम्**—शम् णिच क्त । **पातयितुम्**—पत्+णिच+तुमुन्, **कूलकषा**—कूल कषतीत्यर्थ—कूल+कष कर्तरि सर्वकूलाभ्रकरीषेषु इति कर्तरि खच खित्वात् मुम् टाप ।

शकुन्तला—अच्छा, यदि वस्तुत (मुझे) परस्त्री की शका करने वाले आपने ऐसा कहना आरम्भ किया है तो मै इस अभिज्ञान (परिचायक अँगूठी) से आपकी शका को दूर करती हूँ ।

राजा—यह उत्तम प्रस्ताव है ।

शकुन्तला—(अँगूठी पहनने के स्थान अर्थात् अँगुलि का स्पर्श करके) हाय मेरी अँगुली अँगूठी से सूनी है ।

(यह कहकर खेदपूर्वक गौतमी की ओर देखती है)

गौतमी—निश्चय ही शक्रावतार तीर्थ पर शचीतीर्थ के जल की वन्दना करती हुई तुम्हारी अँगूठी गिर गई है ।

राजा—(मुस्कराकर) जो यह कहा जाता है कि स्त्रियां तुरत बुद्धि (प्रत्युत्पन्नमति) होती है, यही यह बात है ।

शकुन्तला—इस विषय मे तो भाग्य ने अपना प्रभाव दिखा दिया, अब मै दूसरी बात तुम से कहती हूँ ।

राजा—अब सुनना ही रह गया है ।

टिप्पणी

परमार्थत—वस्तुत, **परपरिग्रहशङ्किना**—परस्य अन्यस्य परिग्रह कलत्र

शकुन्तला—नन्वेकस्मिन् दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्र भाजनगतमुदक तव हस्ते सनिहितमासीत्। [ण एक्कस्सि दिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअ उअअ तुह हत्थे सण्णिहिद आसि ।]

राजा—शृणुमस्तावत् ।

शकुन्तला—तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापागो नाम मृगपोतक उपस्थित । त्वयाय तावत् प्रथम पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन । न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्याशमुपगत । पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृत प्रणय । तदा त्वमित्थ प्रहसितोऽसि। सर्व सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकाविति। [तक्खण सो मे पुत्तकिदओ दीहापगो णाम मिअपोदआ उवट्ठिओ। तुए अअ दाव पढम पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअएण । ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भास उवगदो । पच्छा तस्सि एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुम इत्थ पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आरण्णआ त्ति ।]

राजा—एवमादिभिरात्मकायनिर्वर्तिनीनाममृतमयवाड्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिण ।

गौतमी—महाभाग, नार्हस्येव मन्त्रयितुम् । तपोवनसवर्धितोऽनभिज्ञोऽय जन कैतवस्य। [महाभाअ ण अरुहसि एव्व मन्तिदु। तवोवणसवड्ढिदो अणभिण्णो अअ जणो कइदवस्स ।]

गड कने इनि परपरिग्रह + शकि + णिनि। **अभिज्ञानेन**—अभिज्ञायते परिचीयते अनेनेति। **अपनेष्यामि**—अप + नी + लृ "कतृ स्थे चाशरीरे कमणि" इति नात्मनेपदम्, सत्यपि अशरीरे कमणि नात्मगक्त विद्यते शकुन्तलायाम्। **उदार कल्प**—यह एक मुहावरा है इसी अथ मे 'प्रथम कल्प' अधिक प्रचलित है। **शक्रावताराभ्यन्तरे**—यह एक नदी विशेष का तट या घाट था जो कि पवित्र माना जाता था, **शचीतीथ सलिलम**—इन्द्राणी घाट के जल को। हस्तिनापुर के समीप शक्रावतार घाट के पास ही यह घाट था। **वन्दमानाया**—जलाप दते समय। **अगुलीयम**—जिह्वामूलाङ्ग-लेश्छ से छप्रत्यय (ईय) तत स्वाथ क प्रत्यय। **प्रत्युत्पन्नमति**—तात्कालिकी तु प्रतिभा प्रत्युत्पन्नमति स्मता।" इस मुहाविरे का प्राय यह अथ लिया जाता है कि स्त्रिया स्वभाव से ही हाजिर जबाव या बात बनाने मे चतुर होती है। **स्त्रैणम**—स्त्री जाति, स्त्री + समूहार्थे नञ्। **श्रोतव्य सम्वतम**—अब दिखाने की बात तो नही रही केवल सुनना ही शेष रह गया है वस्तुत शकुन्तला पर राजा का यह करारा व्यङ्ग्य है। जो मन मे आये कहे जाओ म सुन रहा हू।

शकुन्तला—एक दिन नवमालिका के मण्डप मे कमलिनी के पत्तो के दोने मे स्थित जल तुम्हारे हाथ मे रखा हुआ था।

राजा—हा, सुन रहा हूँ (आगे कहो)

शकुन्तला—उस समय मेरा कृत्रिम पुत्र दीर्घापाङ्ग नामक मृग का बच्चा,

राजा—तापसवृद्धे !

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु,
सदृश्यते किमुत या प्रतिबोधवत्य ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यद्विजैः परभृता खलु पोषयन्ति ॥२२॥

वहा आ गया था । तब दयावशी हुन आपने 'यही पहले पिये' (यह सोचकर) उसे जल पीने के लिए सहमत किया था, कि तु आपसे अपरिचित होने के कारण (वह) आपके हाथ के पास नही आया था, बाद मे उसी जल का मेरे द्वारा ग्रहण कर लेने पर (वह) स्वय (पीने के लिये) आग्रह करने लगा था । तब तुमने इस प्रकार उपहास किया था ' सभी अपने निकट सम्बन्धियो पर विश्वास करते ह । तुम दोनो ही यहाँ वनवासी हो ।

राजा—अपने स्वार्थ को सिद्ध करने वाली स्त्रियो के इसी प्रकार के अमत से भरे हुये मीठे वचनो से विषयी लोग ही आकृष्ट होते ह ।

गौतमी—महोदय, आपको ऐसा कहना उचित नही है, तपोवन मे पला हुआ यह व्यक्ति (अर्थात् शकुन्तला) छल कपट का नही जानती है ।

टिप्पणी

नलिनीपत्रभाजनगतम—नलिनीपत्रनिर्मित भाजनम् तस्मिन् गतम्—नलिनीपत्रभाजनगतम् । **मगपोतक**—मृगस्य पोत एव मृगपोतक—स्वार्थ कन् । **श्रृणुमस्तावत्**—यह वाक्य, शापवश सब कुछ भूले हुये राजा की उपेक्षा दृष्टि का सूचक है, अर्थात् उसका आशय है कि तुम कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो नही दे सकी, अब घटना सुनाने मात्र से मुझे विश्वास दिलाने का प्रयास कर रही हो, कोई बात नही, कहो, उसे भी सुन रहा हूँ । **उपच्छन्दित**—आमन्त्रित किया-बुलाया । **प्रहसित**—अकर्मकत्वात् हस धातो कर्तरि क्त इट । **सगन्धेषु**—समान गन्ध सम्बन्ध गुण वा येषान्ते तेषु । साथियो सहवासिया या सम्बन्धियो पर । गन्ध शब्द का अर्थ "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयो' के अनुसार यहा, सम्बन्धी है । "समानस्य छन्दसि" अत्र योगविभागात् समानस्य स आदेश अथवा सदृशार्थकेन सह शब्दन सह अस्वपदबहुव्रीहि-समासे 'वोपसर्जनस्येति तदादेश । **आरण्यक**—अरण्ये भव इत्यर्थे 'अरण्यान्मनुष्ये' इति वुञ—(अक) वृद्धि, अथवा अरण्यस्यायमित्यर्थे अण—आरण्य तत स्वार्थे कन् आरण्यक तौ । **आत्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम्**—आत्मन कार्य निर्वर्तयन्ति या तासाम् । **अमृतमयवाङ्मधुभि**—अमृतमयवाच एव मधूनि तै, अन्यत्र अनृतमयेत्यपि पाठ वहाँ इसका अर्थ है, असत्यपूर्ण तथापि मधुर वचनो से । **विषयिण**—सासारिक सुखोपभोगासक्त जन अर्थात् कामुक जन । **आकृष्यन्ते**—आ + कृष + कर्मणि लट । **कैतवस्य**—कितव धूर्त तस्य कर्म कैतवम् तस्य कैतवस्य । **अनभिज्ञ**—न अभि + ज्ञा + क । ●

राजा—हे वृद्ध तपस्विनी !

स्त्रीणामिति—अन्वय—स्त्रीणाम् अमानुषीषु (अपि) अशिक्षितपटुत्वम् सदृश्यते,

या प्रतिबोधवत्य (तासाम्) किमुत। परभृता खलु अन्तरिक्षगमनात् प्राक् स्वम् अपत्य जातम् अन्यैः द्विजैः पोषयन्ति।

शब्दार्थ—स्त्रीणाम्=स्त्रियों के मध्य, अमानुषीषु=मानव जाति से भिन्न स्त्रियों में (अपि=भी) अशिक्षितपटुत्वम्=शिक्षण के बिना ही चतुरता (चालाकी) संदृश्यते=देखी जाती है। या प्रतिबोधवत्य=जो ज्ञानवती (मानुषी स्त्रियाँ) हैं (तासाम्—उनका) किमुत=तो कहना ही क्या ? परभृता खलु=निश्चय ही कोयलें अन्तरिक्षगमनात् प्राक्=आकाश में उड़ने की (शक्ति होने) के पूर्व तक, स्वम् अपत्य-जातम्=अपने बच्चों का अन्य द्विजैः=दूसरे पक्षियों (अर्थात् कौओं) द्वारा, पोषयन्ति=पालन कराती हैं।

अनुवाद—स्त्रियों के बीच मानवजाति से भिन्न (पशु पक्षी आदि) की स्त्रियों में भी शिक्षण के बिना ही चतुरता (चालाकी) देखी जाती है जो ज्ञानवती मानवी स्त्रियाँ (हैं) उनका तो कहना ही क्या ?, निश्चय ही कोयलें आकाश में उड़ने की सामर्थ्य होने से पूर्व तक, अपने बच्चों का, अन्य पक्षियों अर्थात् कौओं द्वारा पालन पोषण कराती हैं।

भावार्थ—अगूठी के सिरा में विशेषतया शकुन्तला के गौतमी की ओर इशारा करने पर और गौतमी के तुरन्त यह कहने पर कि वह शचीतीर्थ में जल में गिर गई होगी, राजा उसकी स्त्रीजनोचित स्वाभाविक चतुरता को देखकर मुस्कराकर कहता है कि यही तो स्त्रीजाति की स्वाभाविक तुरन्त बुद्धि है कि वे बातें बनाने में बड़ी ही चालाक होती हैं, स्त्री जाति के बीच जो मानवी स्त्रियाँ नहीं हैं अर्थात् पशु पक्षियों आदि की योनि में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ हैं उनमें भी जबकि जन्मजात चालाकी देखी जाती है तब फिर सभी विषयों में तुरन्त बुद्धि रहने वाली शिक्षित मानवी स्त्रियों के विषय में तो कहना ही क्या ? वे तो न जाने कितनी चालाक एवं तुरन्त बुद्धि होंगी। राजा कहता है कि तुम जानती हो कि कोकिलायें, जब तक उनके बच्चे आकाश में उड़ना नहीं सीख जाते तब तक वे उनका पालन पोषण कौवों से कराती हैं, (और फिर अपना बना लेती हैं)।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उत्तरार्धगत विशेषार्थ से पूर्वार्धगत सामान्यार्थ का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार, शकुन्तला रूप विशेष के प्रस्तुत रहने सामान्य का वर्णन करने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार किमुत इस कथन से आधिक्य का वर्णन होने से व्यतिरेक अलंकार, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, हेतु अवधारण नामक सन्धि का अंग है 'निश्चयो हेतुनार्थस्य मतं हेत्ववधारणम्' अर्थात् जहाँ हेतु से प्रयोजन का निश्चय किया जाय। छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, वसन्ततिलका छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—स्त्रीणाम्=नारीणां मध्ये, अमानुषीषु=मानवेतरजाति समुद्भूतपशुपक्ष्यादिस्त्रीषु (अपि) अशिक्षितपटुत्वम्=शिक्षणं विनापि गूढप्रवञ्चना-चातुर्यम्, संदृश्यते=आलक्ष्यते या=नार्यः प्रतिबोधवत्य=गाम्भीर्यज्ञानादिकुशला बुद्धिमत्य (तासाम्=ज्ञानसम्पन्नाना स्त्रीणाम्) किमुत=किं वक्तव्यम्, न किमपीत्यर्थ

परभृता सन्तु=यनाहि कानि ान्त्रिय, अन्तरिक्षगमनात् प्राक्=आकाशगमन सामर्थ्यलाभात् पूर्व यावत् स्वम्=स्वकीयम् अपत्यजातम्=अपत्यसमूहम्, अन्यै द्विज स्त्रभिन्नै पक्षिभि काकैरित्यथ पोषयन्ति=वर्धयन्ति।

संस्कृत सरलार्थ—कोकिला स्वापत्यानि काककुलायेषु निक्षिपन्ति, काकाश्च कृष्णवर्णसाम्यात्तदपत्यानि स्वापत्यभ्रमेण शिशुकान यावत् पालयन्ति इति प्रसिद्धि । यत्र कोकि नान्त्रिय एनादृश्य कर्तव्यजड़ाकुशना तदा कि वक्तव्य तासा मानुषीणा स्त्रीणा विषये या बुद्धिमत्या वाग्व्यवहारकुशला सन्ति अना न सामान्य तो विश्वसनीय स्त्रीवचनमिति ।

टिप्पणी

तापसवृद्धे—वृद्धा तापसी, कर्मधारय कडारा कर्मधारये इति वृद्धशब्दस्य विकल्पत परनिपात । वृद्धतापसी शब्द ही यद्यपि अधिक प्रचलित है, पर यहाँ राजा द्वारा गौतमी के लिए यह सम्बोधन राजा के क्रोध का सूचक है, क्योकि उसने शकुन्तला की ही बात का समर्थन किया था । **अमानुषीषु**—मानवेतरजातिसमुत्पन्नासु स्त्रीषु । मनोरपत्यानि मानुष्य न मानुष्य अमानुष्य तासु । **अशिक्षितपटुत्वम्**—अशिक्षितम् अनुपदिष्ट च यत् पटुत्व प्रवञ्चनानैपुण्यम् । यथोच्यते 'निसर्गनिपुणा स्त्रिय" मालवि०, "स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिता पुरुषाणान्तु पाण्डित्य शास्त्रैरेवोपदिश्यते" मृच्छ० । **प्रतिबोधवत्य**—प्रतिबुध्यतेऽनेनेति प्रतिबोध—प्रति+बुध+घञ सोऽस्त्यासामित्यर्थ मतुप डीप् । **किमुत**—सुशिक्षिता स्त्रियो के विषय मे तो कहना ही क्या । **अन्तरिक्षगमनात प्राक**—अञ्चूत्तरपदयोगे गमनादित्यत्र पञ्चमी । द्यावापृथिव्योमध्ये ईक्ष्यते इति अन्तरिक्ष अन्तर्+ईक्ष+घञ कर्मणि, जो द्युलोक और पृथिवी के बीच दिखाई पडता है, वस्तुत उक्त व्युत्पत्ति से अन्तरीक्ष प्रयोग होना है पर वेद मे छान्दस ह्रस्व होकर अन्तरिक्ष प्रयोग हुआ है, कुछ टीकाकारो ने अन्त मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत् यह भी व्युत्पत्ति की है और पृषोदरादित्वात् सिद्ध किया है । **परभृता**—परै काकै भ्रियन्ते शिशुकाले पोष्यन्ते इति परभृता कोकिला अर्थात् कोकिलस्त्रिय, यद्यप्यय जातिवाची तथापि अजादियठिनत्वान्नात्र डीष प्रत्यय 'वनप्रिय परभृत कोकिल पिक इत्यपि इत्यमर, **द्विजै**—द्वि+जन्+ड—द्विज पक्षी और ब्राह्मण आदि भी । **अपत्यजातम्**—सन्तति समूह को । **पोषयन्ति**=पालन-पोषण कराती है । वस्तुत यहाँ परभृत, अपत्य, द्विज, पोषयन्ति आदि शब्दो का प्रयोग साभिप्राय है, कवि यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से शकुन्तला की उत्पत्ति की ओर सकेत करता है, अमानुषी और परभृता के द्वारा मेनका की ओर सकेत है, वह अप्सरा होने के कारण अमानुषी और वेश्या होने के कारण परभृता (परै कामुकै भ्रियते) भी है । स्वमपत्यम् से शकुन्तला का निर्देश है, अन्यै द्विजै से कण्व गौतमी आदि का सकेत है जिनके द्वारा उसका पालन किया गया था । प्रागन्तरिक्ष आदि से शकुन्तला को जन्म देकर मेनका के आकाश मार्ग से जाने का सकेत है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शकुन्तला वेश्यापुत्री अतएव अकुलीन है । कुछ आचार्यों ने इस श्लोक को भावी कथा

शकुन्तला—(सरोषम्) अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि । क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ?
[अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि, को दाणिअण्णो धम्मकञ्चुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदि पडिवदिस्सदि ?]

राजा—(आत्मगतम्) सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा ह्यनया-

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥

(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये ।

का सूचक भी माना है । परभृत पद से शकुन्तला की, स्वमपत्यजातम् पद से शकुन्तला पुत्र भरत की अन्यैः द्विजैः पद से मारीचाश्रमवासी मुनिजनों की ओर, प्रागन्तरिक्षगमनात् पद से मातलि के साथ दुष्यन्त के मारीचाश्रम में आने की प्रतीति होती है, इस प्रकार यहाँ कवि ने मारीचाश्रम में मुनियों द्वारा संरक्षित पुत्र सहित शकुन्तला का निवास तथा इन्द्रलोक से लौटते समय राजा का वहाँ जाना और शकुन्तला तथा भरत से मिलना, इस भावी कथा का संकेत किया है ।

शकुन्तला—(क्रोधपूर्वक) अनार्य, अभद्र, अधम, (तू) अपने हृदय के अनुमान से ही (सबको) देखता है अर्थात् तू जैसा वञ्चक हृदय है वैसा ही तू दूसरे को (शुद्ध हृदय वाली मुझ को भी) समझता है । तेरे अतिरिक्त और कौन अब, धर्म का कञ्चुक (चोगा) (बाह्यावरण, ढोंग, पाखण्ड) धारण करने वाले (तथा) घास फूस से ढके हुये कूप के समान तुम्हारा अनुकरण करेगा ? अर्थात् कोई नहीं ।

राजा—(अपने मन में) मुझे संदिग्ध बुद्धि बनाता हुआ इसका क्रोध निष्कपट जान पड़ता है, अर्थात् शकुन्तला का क्रोध बनावटी नहीं अपितु परिस्थिति के अनुकूल स्वाभाविक प्रतीत होता है जो कि मुझे और भी सन्देह में डाल रहा है । क्योंकि इसके द्वारा—

मयीति—अन्वय—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ (अतएव) रहः वृत्तम् प्रणयम् अप्रतिपद्यमाने मयि एव, अतिरुषा अतिलोहिताक्ष्या (अनया) कुटिलयोः भ्रुवोः भेदात् स्मरस्य शरासनम् भग्नम् इव ।

शब्दार्थ—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ=(गान्धर्वविवाह की) विस्मृति के कारण कठोर चित्तवृत्ति वाले, (अतएव) रहः वृत्तम्=एकान्त में घटित हुये, प्रणयम्=प्रेम वृत्तान्त को, अप्रतिपद्यमाने=स्वीकार न करने वाले, मयि एव=मेरे ही ऊपर, अतिरुषा=अतिक्रोध के कारण, अतिलोहिताक्ष्या=अत्यन्त (क्रोधवश) लाल नेत्रों वाली (अनया=इस शकुन्तला के द्वारा) कुटिलयोः भ्रुवोः भेदात्=तिरछी भौंहों के

चढा लेने से, इव=मानो, स्मरस्य=कामदेव का, शरासनम्=धनुष, भग्नम्=तोड दिया गया है।

अनुवाद—(गान्धर्व विवाह की) विस्मृति के कारण कठोर चित्तवृत्ति वाले (अतएव) एकान्त मे घटित हुये प्रेमवृत्तान्त को स्वीकार न करने वाले मेरे ही उपर, अतिक्रोध के कारण, अति लाल नेत्रो वाली (इस शकुन्तला के द्वारा, तिरछी भौहा के चढा लेने से मानो कामदेव का धनुष ही तोड दिया गया है।

भावार्थ—राजा अपने मन मे सोचता है कि शकुन्तला यह समझ रही है कि मैं आश्रम मे किये गये प्रणय व्यवहारो को भूल गया हूँ और इसीलिये इसके प्रति इतना कठोर बन गया हूँ और इनके साथ किये गये गान्धर्व विवाह को अब स्वीकार नही कर रहा हूँ, इसी अपराध के कारण यह मुझ पर इतनी क्रुद्ध हो गई है और क्रोधवश इसकी आँखे लाल हो गई है तथा इसकी भौहे तन गई है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसने कामधनुष् को ही तोड दिया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'इसका क्रोध तात्विक है कृत्रिम नही, यह अलकार से वस्तु ध्वनि है और इससे स्थायिनी रति का अनुसन्धान होता है। भग्नमिव मे **उत्प्रेक्षालङ्कार** है, अतिरुषा पद अतिलोहिताक्ष्या का कारण है अत पदार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग** अलकार है, छेक और वृत्ति **अनुप्रास** प्रत्येक पक्ति मे है। **वसन्ततिलका** नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—विस्मरणेन गान्धर्वविवाहविस्मृत्या दारुणा कठोरा चित्तस्य मनस वृत्ति व्यापार यस्य तस्मिन् विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ (अतएव) रह वृत्तम्=एकान्ते सम्पन्नम्, प्रणयम्=परस्परप्रणयफलभूतगान्धर्वविवाहादिकायजातम्, अप्रतिपद्यमाने=धर्मविध्वसभियास्वीक्रियमाणे मयि=दुष्यन्ते, एव, अतिरुषा=अतिक्रोधेन, अतिलोहिते अत्यन्त रक्तवर्णे अक्षिणी नेत्रे यस्यास्तया-अतिलोहिताक्ष्या (अनया) कुटिलयो=स्वभाववक्रयो, भ्रुवो भेदात्=भ्रूभङ्गरचनाजात्, स्मरस्य=कामदेवस्य, शरासनम्=धनु, भग्नमिव=त्रोटितमिव।

संस्कृत सरलार्थ—दुष्यन्तो मनसि चिन्तयति यदस्या कोपस्तात्विक प्रतीयते न तु कृत्रिम, सम्भवतइयमिदमवगच्छति, यदह (दुष्यन्त) आश्रमे सम्पन्न प्रणयव्यवहार विस्मृतवानस्मि, अत एवानया सह कृत गान्धर्वविवाहमिदानी न स्वीकरोमि, अस्मादेवापराधादेषा क्रोधमागता, क्रोधवशादेवास्या नेत्रे रक्तवर्णे जात, एव मस्या भ्रूभङ्गोऽपि जात। ऐतेनैव प्रतीयते यदनया कामधनुरेव त्रोटितम्।

टिप्पणी

सरोषम—रोषेण सहित यथा स्यात्तथा। राजा ने गौतमी के समाधान पर आपत्ति करते हुये जो उसे कोकिला से उपमित कर उसका अपमान किया था और उक्त कथन से जो यह ध्वनित किया था कि शकुन्तला वस्तुत वेश्या पुत्री होने से अकुलीन है अत अग्राह्य है, इससे न केवल अपने पर अपितु समस्त स्त्री-जाति पर लाञ्छन देखकर उसे विशेष क्रोध उत्पन्न हो गया था अतएव वह उसे अनार्य कह कर

शकुन्तला—सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि । याऽहमस्य पुरुवशप्रत्ययेन मुखमधो हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता । [सुट्ठु दाव अत्त मच्छन्दचारिणी किदम्हि । जा अह इमस्स पुरुवसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भास उवगदा ।]

(इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति ।)

शार्ङ्गरव—इत्थात्मकृतमप्रतिहत चापल दहति ।
अत परीक्ष्य कतव्य विशेषात् सगत रह ।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम् ॥२४॥

सम्बोधित करती है। **धमकञ्चुकप्रवेशिन** धमस्य कञ्चुक प्रविशतीत्यर्थे णिनि तस्य। **तृणच्छन्नकूपोपमस्य**—तणै छन्न य कूपस्तस्य उपमा यस्य तस्य। शकुतला के क्रोधयुक्त वचनो के कारण "सरोषम् से यहाँ तक सफेट नामक अवमश सन्धि का अग बतलाया गया है "सफेटो रोषभाषणम् अथवा रोषप्रथितवाक्य तु सफेट परिकीर्तित"। विस्मरणेत्यादि से यह सूचित किया गया है कि विस्मृतिवश ही वह इतनी निष्ठुरता दिखा रहा था अन्यथा वह इस अपूव सुन्दरी के प्रति कठोर कभी न होता। **स्मरस्य शरासन भग्नमिव**—दुष्यन्त का तात्पय है कि, जबकि उसने कामधनुष को ही तोड दिया तब वह मुझ पर प्रहार तो कर ही न सकेगा, अत अब इसको मनाने की भी आवश्यकता, नही और इसका क्रोध इतना बढ गया है कि अब किसी प्रकार का अनुनय काम भी न देगा, इसका क्रोध नाविक है कृत्रिम नही। इससे यह भी ध्वनित होता है कि उसकी भ्रूलता जनोन्मादकारिणी है जिसने काम धनुष् को तिरस्कृत ही नही, तोड भी डाला है, वस्तुत कवि का यह उत्प्रेक्षा का प्रयोग, अति रमणीय, मार्मिक, गम्भीर एव रचनावैशिष्टय का परिचायक है।

(राजा ने इतना तो मन मे सोचा, अब वह प्रकट रूप से शकुन्तला से कहता है।

प्रकाशम्—कल्याणी, दुष्यन्त का चरित्र सवत्र प्रसिद्ध है, अर्थात् यह सब जानते है कि मै कभी भी भ्रम से भी परस्त्री का स्पश नहीं कर सकता और न वञ्चना ही कर सकता हूँ। तथापि (तुमने जो मेरे सामने अपने मुझसे विवाहिता होने के प्रमाण प्रस्तुत किये और मुझे प्रवञ्चक ठहराया) इस बात को मैं अपने अन्दर नही देखता, मैंने अब तक किसी को धोखा नही दिया है।

शकुन्तला—अच्छा तो (अब) मै यहा स्वच्छन्दविहारिणी, अनियन्त्रिता अथवा दुश्चरित्रा घोषित कर दी गई हूँ। जो मै पुरुवश के विश्वास के कारण, मुख मे तो मधु वाले अर्थात् ऊपर से मुख से मीठे वचन बोलने वाले (किन्तु) हृदय मे विष भरे हुए इस (राजा) के हाथ पड गई थी।

(इतना कहकर आँचल से मुख ढक कर रोती है)

शाङ्ग रव—इस प्रकार अपने आप की गई अनियन्त्रित चञ्चलता दाहक होती है।

अत इति अन्वय—अत सगतम् परीक्ष्य कतव्यम्, रह सगतनु विशेषात् (परीक्ष्य कतव्यम्) अज्ञानहृदयेषु सौहृदम् एवम् वैरीभवति।

शब्दाथ—अत =इसलिए, सगतम्=मेल, मित्रता, प्रेम आदि, परीक्ष्य= शील कुलाचार आदि का भलीभाति निणय करके कतव्यम्=करना चाहिए, रह सगतन्नु विशेषात्=किन्तु एकान्त सगन तो विशेष रूप से परीक्षा करने के बाद ही करनी चाहिए। (अन्यथा) अज्ञातहृदयेषु=जिनके हृदय—आचार विचार व्यवहार आदि का ज्ञान न हो ऐसे लागो के साथ किया गया, सौहृदम्=प्रेम—प्रणय, एवम् वैरी भवति=इसी प्रकार जैसा कि तुम्हारे साथ इस समय हुआ है, विद्वेष अथवा शत्रुता का कारण होता है।

अनुवाद—अत मित्रता या प्रणय, व्यक्ति विशेष के शील कुलाचारादि की पूणत परीक्षा करके करना चाहिए, एकान्त सगत तो विशेष रूप से परीक्षा करके ही करना चाहिए, अन्यथा, (जिस व्यक्ति विशेष के) आचार-विचार व्यवहारादि का ज्ञान न हो ऐसे व्यक्ति के साथ किया गया प्रणय इसी प्रकार द्वेष का कारण होता है।

भावार्थ—दुष्यन्त और शकुन्तला के वार्तालाप को सुनकर अपने अन्तिम निणय के रूप मे शाङ्ग रव कहता है कि इसीलिए तो यह कहा गया है कि मैत्री अथवा मेल व्यक्ति विशेष के शील कुलाचार आदि की पूण परीक्षा करके करना चाहिए किन्तु एकान्त प्रणय तो विशेषरूप से व्यक्ति के आचार विचार व्यवहार आदि की सवथा पूण परीक्षा करके ही करना चाहिए, अन्यथा इसका परिणाम द्वेष का कारण होता है, जिस व्यक्ति के आचार विचारो को अच्छी तरह नही समझा, देखा, सुना गया है ऐसे व्यक्ति के साथ सहसा किया गया प्रणय परिणामत दुखद ही होता है, जैसा कि इस समय तुम्हारे साथ घटित हो रहा है।

विशेष—यहा प्रस्तुत विशेष शकुन्तला के सगमन को न बताकर जो अप्रस्तुत सामान्य सगमन मात्र को बताया गया है अत **अप्रस्तुतप्रशसालकार**, उत्तराध मे वैधर्म्य रूप से सामान्य के द्वारा विशेष का समथन किया गया है अत **अर्थान्तरन्यास** अलकार, पूर्वाध के प्रति पराधगतवाक्याथ हेतु है, अत वाक्याथहेतुक **काव्यलिङ्ग** अलकार है। प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति। पथ्यावक्त्र नामक छन्द है, प्रस्तुत श्लोक भावी प्रेमीजना के लिए एक चेतावनी है, सम्भवत कालिदास के समय मे भी प्रेम विवाहो के दुष्परिणाम दिखलाई पडने लगे होगे, यद्यपि प्रेम विवाह प्रचलित रहे होगे, अतएव यहा कवि ने इस ओर सकेत किया है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रेम विवाह के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है, वस्तुत प्रेम विवाह के लिए प्रेमीजनो मे उत्कृष्ट विवेक की आवश्यकता है, ऊपरी आकषण या अन्य किन्ही कारणोवश किया गया प्रणय विवाह विद्वेष का ही कारण होता है।

राजा—अपि भो, किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान् सयुक्तदोषाक्षरै क्षिणुथ ?

शाङ्गरव —(सासूयम्) श्रुत भवद्भिरधरोत्तरम—

आ जन्मन शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाण वचन जनस्य ।
परातिसन्धानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाच ॥२५॥

सस्कृत व्याख्या—अत = अस्मादेव कारणात्, सगतम् = मैत्री प्रणयसम्बन्धम् वा, परीक्ष्य = व्यक्तिविशेपस्य कुलशीलादिक सम्यक परिज्ञाय कतव्यम् = विधेयम्, रह सगतम् (तु) एकान्तसगतम् (तु) विशेषात् = विशेपरूपेण परीक्ष्य कतव्यम् अज्ञातम् अपरीक्षित हृन्यम् मन व्यक्तिविशेषस्याचारविचारादिक वा येषा तेषु—अज्ञातहृदयेषु, सौहृदम् = सगमनम्, एवम् = इत्थम् त्वदीयवत्तान्तवत् वैरी भवति = विद्वेषायैव कल्पते ।

सस्कृत सरलाथ—दुष्यन्तस्य शकुन्तलायाश्च वार्तालाप सध्यान माकण्य शाङ्गरव कथयति यदस्मादेव कारणदभियुक्ता जना मन्यन्ते यत् सामान्यत सगतमात्र व्यक्ति विशेषस्य गुणदोपादिक सम्यग विविच्य कतव्यम् किन्तु एकान्तसगमनन्तु विशेषतो विचार्यैव विधेयम् अन्यथा सहसा कृतस्य सगतस्य दुष्परिणामो जायते, व्यक्ति विशेषस्याचारविचारादीना विवेक विनैव कृत सगमन त्वदीयवत्तान्तवदेव दुष्परिणाम शालि जायते ।

टिप्पणी

स्वच्छन्दचारिणी—कुछ टीकाकारो ने इसका अथ पुश्चली या व्यभिचारिणी किया है पर यह अथ यहाँ असगत है इसका अथ केवल मनमानी करने वाली, या अनियन्त्रिता ही उचित है, गान्धववविवाह उस समय प्रचलित था अत गान्धवविवाह को करने वाली स्त्री को स्वैरिणी नही कहा जा सकता । विवेकपूवक परिणाम पर विचार न करने के कारण ही अथवा गुरुजनो की अनुमति न लेने के कारण यहा उसे स्वच्छन्दचारिणी कहा गया है। **मुखमधो हृदयस्थितविषस्य**—अन्यत्र भी कहा गया है "वजयेत् तादृश मित्र विषकुम्भ पयोमुखम्" । **अप्रतिहतम**—अनियन्त्रितचञ्चलता—असमीक्ष्यकारिता—"सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम्—भारवि । **अत**—एतद् शब्दात् तसिल, **परीक्ष्य**—परि + ईक्ष + क्त्वा—ल्यप् । **सगतम**—सम + गम भावे क्त ।

राजा—महानुभावो ! इस (शकुन्तला) पर विश्वास के कारण से ही क्यो (आप लोग) दोषयुक्त वाक्यो से मुझे व्यथित कर रहे है ?

शाङ्गरव—(ईर्ष्यापूवक) आप लोगो ने यह निकृष्ट उत्तर अर्थात् उल्टी बात सुनी !

आजन्मन इति अन्वय—य आजन्मन शाठयम् अशिक्षित तस्य जनस्य वचनम् अप्रमाणम्, यै परातिसन्धान विद्या इति अधीयते ते किल आप्तवाच सन्तु ।

शब्दार्थ—य =जिसने, आजन्मन =जन्म से लेकर, शाठयम्=धूर्तता, अशिक्षित =नही सीखा, तस्य जनस्य=उस शकुन्तला रूप व्यक्ति का, वचनम्=कथन अप्रमाणम्=प्रमाणरहित अविश्वसनीय । यै =जिन लोगो के द्वारा परातिसन्धानम= परवञ्चना—दूसरो को धोखा देना, विद्या इति अधीयते=एक विद्या के रूप मे सीखा जाता है, ते=वे लोग, किल=वस्तुत आप्तवाच =सत्य एव विश्वसनीय बात कहने वाले, सन्तु=माने जायँ ।

अनुवाद—जिसने जन्म से लेकर (कभी) धूर्तता नही सीखी है। उस शकुन्तला रूप व्यक्ति का कथन तो प्रमाणरहित अविश्वसनीय (माना जाय किन्तु) जिन लोगो के द्वारा, दूसरो को धोखा देना (एक) विद्या के रूप मे सीखा जाता है, वे लोग वस्तुत सत्य एव विश्वसनीय बात कहने वाले माने जायँ। (वस्तुत शार्ङ्गरव की यह उक्ति व्यङ्ग्योक्ति है, जिसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में सभी छल प्रपञ्चो से रहित शकुन्तला का कथन ही सत्य है, न कि इस राजा का, जिसने जन्म भर प्रवञ्चना का ही अभ्यास किया है ।

भावार्थ—शार्ङ्गरव कहता है कि वस्तुत शकुन्तला का कथन ही इस सम्बन्ध में सत्य एव प्रामाणिक है क्योकि जन्म से लेकर यह अब तक आश्रम मे ही रही है जहा लोग सभी प्रकार के छल प्रपञ्चो से सदा दूर रहने वाले होते है, और इस सम्बन्ध मे राजा का कथन निश्चयत विश्वास योग्य नही है, क्योकि राजा आजीवन परवञ्चना का ही अभ्यास करते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे जो दुष्यन्त शकुन्तला आदि का प्रयोग न करके, जन आदि अप्रस्तुत का कथन किया गया है अत वैधर्म्यप्रयुक्त **अप्रस्तुतप्रशसालकार** है। परातिसन्धान पर तादात्म्येन विद्या का आरोप करने से **रूपकालकार**, यदि, तस्य वचन अप्रमाणम, इति न, इस प्रकार योजना की जाय तो साधर्म्य प्रयुक्त भी अप्रस्तुत प्रशसा है। प्रसादगुण, वैदर्भीरीति, **उपजाति छन्द है**। "सुष्ठु तावत्" शकुन्तला के इस कथन से लेकर यहा तक क्रोधयुक्त वचन होने के कारण अवमर्श सन्धि का द्रव नामक अग है, "द्रवो गुरुव्यतिक्रान्ति शोकावेगादि सम्भवा" सा० दा० । शार्ङ्गरव की इस कथन से तपस्विजनोचित निरीहिता एव स्पष्टवादिता तथा स्वाभिमानता प्रकट होती है ।

सस्कृत व्याख्या—य =जन , आजन्मन =जन्मन प्रभृति अद्यावधि, शाठ्यम् =परवञ्चनाचातुर्यम अशिक्षित =अनुपदिष्ट अनभ्यस्तश्च। तस्य जनस्य=शकुन्तला रूपस्य जनस्य, वचनम्=कथनम, अप्रमाणम=प्रमाणरहितम् अविश्वसनीयम् वा। यै =नृपादिभि , परातिसन्धानम=परप्रतारणम्, विद्या इति=विद्यारूपेणेत्यर्थ , अधीयते=पठ्यते, ते किल, नृपादय , किल=वस्तुत , आप्तवाच —सत्यवादिन विश्वासाहवचनप्रयोक्तार , सन्तु=भवन्तु ।

राजा—भो सत्यवादिन्, अभ्युपगत तावदस्माभिरेवम् । किं पुनरिमा-मतिसन्धाय लभ्यते ?

शार्ङ्गरव —विनिपात ।

राजा—विनिपात पौरवै प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयमेतत् ।

शारद्वत —शार्ङ्गरव, किमुत्तरेण । अनुष्ठितो गुरो सन्देश । प्रतिनिवर्तामिहे वयम् । (राजान प्रति)

सस्कृत सरलार्थं—शार्ङ्ग रव कथयति यदत्रान पर कि वैचित्र्य यत् परप्रतारणा-कुशलाजनास्तु आत्मान सत्यवादिन प्रमाणयन्ति पर स जनोऽत्रासत्यवादी धूर्तो वा प्रमाणीक्रियते य आजन्मन परवञ्चन कौटिल्य वाशिक्षित । वस्तुतस्तु शकुन्तला कथनमेवात्र विश्वासार्ह नत्वस्य राज्ञ य परातिसन्धानमेव राजविद्येत्यधीतवान् ।

टिप्पणी

अत्रभवतीप्रत्ययात—शकुन्तलाया कथने विश्वासात् । **सयुतदोषाक्षर** —सयुता सयुक्ता परिपूर्णा दोषा येषु त तै सयुतदोषै तादृशै अक्षरै, दोषपूण वचनो द्वारा । **क्षिणुथ**—व्यथित करते हो । 'अत्रभवती' शब्द यहाँ पर गम्भीर आक्षेप सूचक है, राजा का तात्पय है कि यह शकुन्तला भले ही तुम्हारे लिये पूजार्हा हो, पर मेरी दृष्टि मे तो यह परपुरुषससगजातगर्भा होने से प्रतारिका ही है, फिर भी आप लोग इसका ही एकमात्र विश्वास करते है, यह बडे आश्चय की बात है । **सासूयम्**—असूयया सहित यथा स्यात्तथा । गुणेषु दोषाविष्करणमसूया-छिद्रान्वेषण, गुणो मे भी बुराई ढूँढना । **अधरोत्तरम**—अधर च तत उत्तर चेति द्वन्द्व , अर्थात् यदेव अधर तदेव उत्तरम्, जो नीचा है वही तो ऊँचा अर्थात् उल्टा, जा झूठ बोलता है नीच है वही तो श्रेष्ठ और जो सत्य बोलता है वही नीच समझा जाय अर्थात् विपरीत कथन । अथवा यहाँ कमधारय समास मानकर इसका अथ निकृष्ट उत्तर भी हो सकता है, अधर यदुत्तरम् । **आजन्मन** —जन्म अभिव्याप्य-आजन्म अव्ययोभाव , 'आङ्मर्याद वचने' इति कम प्रवचनीयत्वेन 'पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति पञ्चमी । **शाठ्यम्**—शठस्य भाव कर्म वेत्यर्थे शठ+ष्यञ । **अशिक्षित** —अत्र आदिकमणि क्त प्रत्यय । **परातिसन्धानम**—परेषा मतिसन्धानम्=अति+सम्+धा ल्युट । अतिसन्धान=धोखा देना । **आप्तवाच**—आप्ता वाक् येषान्ते—यथाथ बात कहने वाले ।

राजा—हे सत्यवादी, हम लोगो ने तो मान लिया कि हम ऐसे ही हैं, किन्तु इस स्त्री को धोखा देकर हमे क्या मिलेगा ?

शार्ङ्ग रव—अध पतन (नरक) मिलेगा ।

राजा—पुरुवशी राजा (अपना) अत पतन चाहते है, यह बात विश्वसनीय नहीं ।

शारद्वत—शार्ङ्ग रव ! अब उत्तर देने से क्या (लाभ) हम लोगो ने गुरु (कण्व) का सन्देश पूरा कर दिया । (अब) हम लौटते हैं । (राजा के प्रति) ।

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥२६॥

गौतमि ! गच्छाग्रतः ।

(इति प्रस्थिताः ।)

तदिति अन्वय—तत् एषा भवतः कान्ता, एनाम् त्यज वा गृहाण वा। हि दारेषु सर्वतोमुखी प्रभुता उपपन्ना ।

शब्दार्थ—तत्=तो फिर, एषा=यह शकुन्तला, भवतः=आपकी, कान्ता= गान्धर्वविवाह विधि से परिणीता पत्नी (अस्ति=है) एनाम् त्यज वा गृहाण वा= इसे छोड दीजिये अथवा स्वीकार कीजिये। हि=क्योंकि, दारेषु=पत्नी पर, सर्वतो-मुखी=(पति को) सब प्रकार की, प्रभुता=अधिकार, उपपन्ना=स्वीकार की गई है।

अनुवाद—तो फिर यह शकुन्तला आपकी गान्धर्व विवाह विधि से परिणीता पत्नी (है) आप चाहें इसे छोड दें अथवा स्वीकार करें, क्योंकि पत्नी पर (पति का) सब प्रकार का अधिकार माना जाता है।

भावार्थ—शारद्वत कहता है कि हमें जो कुछ कहना था, कह दिया, और अन्त में हमारी ओर से यही निर्णय रहा कि शकुन्तला जिसके साथ आपने गान्धर्व विधि से विवाह किया था, आपकी पत्नी है, अब चाहे आप अपनी इस पत्नी को छोड दें अथवा स्वीकार करें, क्योंकि पतिजनों का अपनी पत्नी पर सब प्रकार का अधिकार माना जाता है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में उत्तरार्धगत सामान्यार्थ से पूर्वार्धगत विशेषार्थ का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलंकार और **पथ्यावक्त्र** नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—तत्=अत्र वाक्योपसंहारे, इत्येव विनिश्चितम् यत्, एषा=पुरोवर्तमाना शकुन्तला, भवतः=दुष्यन्तस्य, कान्ता=गान्धर्वविवाहविधिना परिणीता पत्नी, अस्तीति शेषः। एनाम्, शकुन्तलाम् त्यज वा=विमुञ्च वा, गृहाण वा=स्वीकुरु वा। हि=यतोहि, दारेषु=भार्यायाम्, सर्वतोमुखी=सर्वविधा, प्रभुता=प्रभुत्वम्, उपपन्ना=स्वीकृता।

संस्कृत सरलार्थ—वाक्योपसंहारे स्वनिर्णयं निर्दिशन् शारद्वतः कथयति, राजन् एषा शकुन्तला भवतः दुष्यन्तस्यैव गान्धर्वविवाहविधिपरिणीता पत्नी वर्तते, स्थिता-वस्थायामधुना भवानिमां परित्यजतु स्वीकरोतु वा, अस्याः परित्यागाय स्वीकाराय वा भवतः पूर्णाधिकारः, शास्त्रकृद्भिरपि भार्यायां पत्युः सर्वाधिकारः स्वीक्रियते। अतस्त्व-मात्मरुचिं समाचर, गच्छामो वयम्।

टिप्पणी

अभ्युपगतम्—अभि+उप+गम+क्त=स्वीकृतम् अर्थात् हमने यह स्वीकार किया कि हम लोग परप्रतारणा कुशल हैं, पर यह तो बताइये कि इस स्त्री को

शकुन्तला—कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि ? यूयमपि मां परित्यजथ ? [कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्ध म्हि ? तुम्हे वि मं परिच्चअह ?]

(इत्यनुप्रतिष्ठते)

गौतमी—(स्थित्वा) **वत्स शार्ङ्गरव, अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ?** [वच्छ सगरव, अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला। पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु ?]

शार्ङ्गरव —(सरोषं निवृत्य किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?

(शकुन्तला भीता वेपते।)

प्रतारित कर हमें क्या लाभ होगा, यदि कोई अन्य राजा आदि होता तब ना ठीक भी था कि राज्यादि की प्राप्ति होती पर इस स्त्री से हमें क्या मिलेगा ? इसके उत्तर में शार्ङ्गरव तुरन्त कहता है, अवश्य मिलेगा और वह अधःपतन, होगा। अर्थात् ऐसी पत्नी का परित्याग अधःपतन, अधोगति का देने वाला होगा। **न श्रद्धेयम्—** अर्थात् पुरुवंशी राजा अपना अधःपतन चाहे, यह बात विश्वास योग्य नहीं। 'भो सत्यवादिन् से न श्रद्धेयम्" तक अक्षमा नामक नाट्यालंकार है 'अक्षमा स्यात्परिभवः स्वल्पोऽपि न विसह्यते।"

कान्ता—कुत्रचित् पत्नी भी पाठ है पर कमु कान्तौ से निष्पन्न कान्ता शब्द ही यहां उपयुक्त है कान्ता=प्रेम की गई अर्थात् प्रेम पात्र, दुष्यन्त ने प्रेम के वशीभूत हो इससे गान्धर्व विवाह किया था, यह अग्नि साक्षिक विवाह नहीं था, आश्रमवासी भी इतना ही जानते थे कि यह प्रेमविवाह है, अतः कान्ता शब्द अधिक उपयुक्त है, **उपपन्ना—**उप+पद्+क्त+टाप्। दारेषु=भार्यायाम—दार शब्द पुल्लिङ्ग नित्य बहुवचनान्त है, इसमें कालिदासकालीन सामाजिक स्थिति का भी परिचय मिलता है उस समय पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार माना जाता था, और इससे भी पूर्व की स्थिति ऐसी ही थी 'भर्तृनाथा हि नार्य' भास। भर्ता हि दैवतं स्त्रीणां भर्ता हि गतिरुच्यते" अग्नि पुराण।

गौतमी—हे गौतमी, तुम लोग आगे चलो।

(यह कहकर सब का प्रस्थान)

शकुन्तला—इस धूर्त के द्वारा मैं ठगी गई हूँ, आप लोग भी मुझे छोड़ रहे हैं (मैं) कैसे क्या (करूँ)।

(यह कहकर (उनके) पीछे चलने लगती है)

गौतमी—(रुक कर) वत्स शार्ङ्गरव, करुणविलाप करती हुई यह शकुन्तला हम लोगों के पीछे आ रही है। कठोरतापूर्वक पति द्वारा परित्याग कर दिये जाने पर (अब) बेचारी मेरी पुत्री क्या करे।

शार्ङ्गरव—शकुन्तले !

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मन
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥२७॥

तिष्ठ । साधयामो वयम् ।

शार्ङ्गरव—(क्रोधपूर्वक घूम कर) अरी दुष्टे, क्या तू (अब) स्वच्छन्दता का अवलम्बन कर रही है ?

(शकुन्तला भयभीत होकर काँपने लगती है)

शार्ङ्गरव—अरी, शकुन्तला ।

यदीति अन्वय—क्षितिप यथा वदति, यदि त्वम तथा असि, उत्कुलया त्वया पितु किम, अथ तु आत्मन व्रतम शुचि वेत्सि, पतिकुले तव दास्यम अपि क्षमम् ।

शब्दार्थ—क्षितिप =राजा दुष्यन्त, यथा वदति=जैसा कहता है, यदि त्वम तथा असि, यदि तुम वैसी ही हो उत्कुलया त्वया पितु किम=कुलमर्यादा का उल्लघन करने वाली अथवा कुल मर्यादा से भ्रष्ट तुझसे पिता को क्या करना है ? अर्थात् पिता (कण्व) को तुमसे कोई प्रयोजन नही । अथ तु=यदि, आत्मन व्रतम्=अपने आचरण का शुचि वेत्सि=पवित्र समझती हो पतिकुले तव दास्यम अपि क्षमम=तो पतिपरिवार म तुम्हारी दासता भी उचित है ।

अनुवाद—राजा दुष्यन्त जैसा कहता है यदि तुम वैसी ही हो तो कुल मर्यादा से भ्रष्ट तुझसे पिता (कण्व) को भी क्या प्रयोजन ? यदि तुम अपने आचरण को पवित्र समझती हो, तो पतिपरिवार मे तुम्हारी दासता भी उचित है ।

भावार्थ—शार्ङ्गरव कहता है कि राजा ने तुम्हारे विषय मे जैसा भी सोचा और कहा है यदि वस्तुत तुम वैसी ही स्वच्छन्दचारिणी हो तो कुल मर्यादा से पतित हुई तुम से पिता को भी क्या प्रयोजन है अर्थात् महर्षि कण्व भी तुझसे कोई सम्बन्ध रखना न चाहेगे । किन्तु यदि तुम अपने आचरण को पवित्र समझती हो, तो राजा भले ही कुछ कहे, तुम्हे पतिकुल मे ही रहकर दासता करना भी उचित है ।

शार्ङ्गरव का यह कथन कालिदासकालीन समाज मे स्त्रियो की दशा की ओर सकेत करता है जिसमे पत्नी वस्तुत पति की इच्छानुगामिनी बन कर ही रहती थी, पति का उस पर पूर्ण अधिकार था वह चाहे उसके साथ कैसा भी व्यवहार करे, स्त्री के लिए स्वातन्त्र्य वर्जित था ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य म द्वितीय और चतुर्थ चरण का कारण प्रथम और तृतीय चरणो म बतलाया गया है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, **अनुप्रास**, प्रसाद गुण, **वैदर्भी** रीति और **द्रुतविलम्बित** नामक छन्द है, इसका लक्षण 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" अर्थात् इसके प्रत्येक चरण म नगण भगण भगण रगण के क्रम से १२ अक्षर होते है ।

राजा—भोस्तपस्विन्, किमत्रभवती विप्रलभसे ?

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिना हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥२८॥

यहा पर प्रसग की समाप्ति दिखलाई गई है अत यहा प्ररोचना नामक अवमश सधि का अग हे "प्ररोचना तु विज्ञेया सहाराय प्रदर्शिनी" (सा० द०)।

सस्कृत व्याख्या—क्षितिप =भूपति दुष्यन्त यथा वदति=यथा नय मया परिणीतपूर्वेति भाषते, यदि त्व तथा असि=चेत्त्व तादृश्यवासि, तर्हि, उत्कुलया=कुल-मर्यादाभ्रष्टया त्वया शकुन्तलया, पितु—कण्वस्य, किम्=किं प्रयोजनम् न किमपी-त्यथ, अथ तु=यदि, आत्मन – स्वस्य, व्रतम=आचरणम, शुचि=पवित्रम्, वेत्सि= जानासि, (तर्हि) पतिकुले=स्वभर्तु गृहे, तव=शकुन्तलाया, दास्यम्=दासभावेना-वस्थानमपि, क्षमम्=उचितम् (अस्ति)।

सस्कृत सरलार्थ—शाङ्गरव कथयति यद्राजकथनमेव सत्यम त्व नासि तेन परिणीतपूर्वा अपि तु स्वच्छन्दचारिणी, तत कुलमर्यादापतितया त्वया पितुरपि किं कार्यम पितापि ते स्वच्छन्दचारिणी त्वा न गृहीष्यति। यदि च त्वमात्मन आचरण पवित्र मवगच्छसि तर्हि त्वयात्रैव पतिकुल एव स्थातव्यम्, स्थित्यनुकूल दास्यमपि कार्यम्।

तिष्ठेति—(अब तुम यही) ठहरो, हम लोग जा रहे है।

टिप्पणी

कथम्—यहा इसका अथ है, कि इस स्थिति मे मैं कैसे क्या करूँ, क्या उपाय है। **विप्रलम्भ**—वि+प्र+लभ्+क्त+टाप्। **कितवेन**—धूर्त के द्वारा। **अनुप्रतिष्ठते** —अनु+ स्था+लट "समवप्रविभ्य स्थ" सूत्र से प्र+स्था को आत्मने पद। **करुणपरिदेविनी**—करुण यथा स्यात्तथा परिदेविनी, परि+दिव+णिनि ङीप= परिदवन=विलाप करना। **प्रत्यादेशपरुषे**—प्रत्यादेशेन निराकरणेन परुषे निष्ठुरे। **पुरोभागे**—पुर भाग यस्या सा तत्सम्बुद्धौ—पुरोभागा=ढीठ, निलज्ज, दुष्ट अथवा नीच इसका अथ छिद्रान्वेषी भी होता है "दोषैकदृक् पुराभागी" **स्वातन्त्र्यम्**—स्व आत्मा तन्त्र प्रधान यस्य स स्वतन्त्र तस्य भाव =मनमानी, अवलम्बस=धारण करती हो। शाङ्गरव का अभिप्राय यह है कि अब वह स्वतन्त्र नही, पति के अधीन है अत वह जैसा कहता है वही करना उचित है जैसे कि मनु आदि धमवेत्ताओ के वचन है "पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा। न स्त्री स्वातन्त्र्य महति"। अथवा "बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने। पुत्राणा भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम। **क्षितिप**—भूमिपालक होने से इससे तुम्हे भी सरक्षण मिलेगा। **उत्कुलया**—उत्क्रान्ता कुलात् कुल वा तया। **क्षमम्**=योग्यम्—उचितम। **दास्यम्**— दासस्य भाव कर्म वा।

राजा—हे तपस्वी, आप क्यो इस स्त्री को धोखा द रहे है, अर्थात् आश्रम से

लाकर पहले तो मुझे धोखा देना चाहा, पर मेरे प्रत्याख्यान करने पर अब इसे यहाँ अकेली छोड कर जा रहे हो, यह तो स्त्री के साथ स्पष्ट प्रवञ्चना है।

कुमुदानीनि अन्वय—शशाङ्क कुमुदानि एव, सविता पङ्कजानि एव बोधयति, हि वशिना वृत्ति परपरिग्रहसश्लेषपराङ मुखी (भवति)।

शब्दार्थ—शशाङ्क =चन्द्रमा, कुमुदानि=कुमुदो को, एव=ही, (और) सविता=सूय, पङ्कजानि एव, कमलो को ही, बोधयति=विकसित करता है। हि= क्योकि, वशिनाम्=जितेन्द्रियजनो की, वृत्ति =मनोवृत्ति, परपरिग्रहसश्ले-षपराङ मुखी=परस्त्री के सम्पर्क से विमुख रहने वाली (होती है)।

अनुवाद—चन्द्रमा कुमुदो को ही, (और) सूय कमलो को ही विकसित करता है (इसके विपरीत नही) क्योकि जितेन्द्रियजनो की मनोवृत्ति परस्त्री के सम्पर्क से (सदा) विमुख रहने वाली (होती है)।

भावार्थ—राजा कहता है कि जिसका सम्बन्ध जिससे स्वभावत स्थापित है वह उसी को ग्रहण करता है अन्य को नही, जैसे प्रकृति नियमानुसार चन्द्र कुमुदो को ही और सूय कमलो को ही विकसित करता है इसके विपरीत नही, यदि तुम लोग इसको यह समझकर छोडे जा रहे हो कि मै इसे स्वीकार कर लूगा तो यह तुम्हारा बहुत बडा भ्रम है, मुझ जसे जितेन्द्रियजनो की मनोवृत्ति, परस्त्री के सम्पक से सदा दूर रहने वाली होती है, अत मै इसे कभी स्वीकार न करूँगा। इसमे राजा के महनीय चरित्र की अभिव्यक्ति होती है। वह परकलत्र मे ही पराङ्मुख नही अपितु उसके सम्पर्क से भी विमुख रहने वाला है।

विशेष—यहा दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के स्वीकार रूप विशेष के प्रस्तुत रहने पर भी जो अप्रस्तुत सामान्य का कथन किया गया है अत **अप्रस्तुत प्रशंसालकार** पूर्वार्ध मे **दृष्टान्त** अलकार, 'बोधयति' इस एक क्रिया से अप्रस्तुत शशाङ्क एव सविता का कर्तृत्वेन सम्बन्ध होने से **तुल्ययोगिता** अलकार, तथा सामान्य से विशेष का समथन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलकार है, छेक, वृत्ति **अनुप्रास**, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति एव आर्याजाति छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—शशाङ्क —चन्द्र, कुमुदानि=कैरवसमूहानि, एव न तु कमलानि, सविता—सूय, पङ्कजानि—कमलानि, एव न तु कुमुदानि बोधयति—विकासयति। हि—यतो हि, वशिनाम्—जितेन्द्रियजनानाम्, वृत्ति =प्रवृत्ति मनोवृत्ति र्वा, परेषा म यषा परिग्रहाणा भार्याणाम् सश्लेषे सस्पर्शे आलिङ्गने वा पराङ मुखी= विमुखी—परपरिग्रहसश्लेषपराङ मुखी, भवति।

सस्कृत सरलार्थ—यथा चन्द्र कुमुदान्येव विकासयति न तु कमलानि, सविता च कमलान्येव विकासयति न तु कुमुदानि तथैव इन्द्रियसयमिना मादृशा जनाना मनोवृत्ति सदैव परकलत्रसस्पर्शपराङ मुखी भवति, अतएव परस्त्रीमिमा नाह कदापि स्वीकरिष्यामि।

टिप्पणी

बोधयति—उन्मीलयति, विकासयति—बुध + णिच्—लट्।

शाङ्गरव—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद् विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरु ?

राजा—(पुरोहित प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघव पृच्छामि।

मूढ स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति सशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपासुल ॥२९॥

वृत्ति—वृत्+क्तिन्, **परिग्रह**—पत्नी, 'का त्व शुभे कस्य परिग्रहा वा किं वा मदभ्यागमकारण ते' रघु०। **सश्लेष**—सम्+श्लिष+घञ।

शाङ्ग रव—जबकि आप पूर्वघटित घटना को अन्य (स्त्री अथवा कार्य) मे आसक्त या व्यस्त होने के कारण भूल गये है, तो आप अधर्म से डरने वाले कैसे ? अर्थात् तब तो अधर्मभीरू नही कहे जा सकते।

राजा—(पुरोहित से) मै इस विषय मे आपसे ही उचित और अनुचित अथवा गौरव और लाघव की बात पूछता हूँ।

मूढ इति—अहम् मूढ स्याम, वा एषा मिथ्या वदेत्, इति सशये दारत्यागी भवामि आहो परस्त्रीस्पर्शपासुल।

शब्दार्थ—अहम् मूढ=मै नष्टमति अथवा विस्मरणशीलबुद्धिवाला, भवामि=हो गया हूँ, वा=अथवा, एषा=शकुन्तला, मिथ्या वदेत्=झूठ बोल रही है ? इति सशये=इस सन्देह मे, दारत्यागी भवामि=पत्नी परित्यागी बनू, आहो=अथवा, परस्त्रीस्पर्शपासुल=परस्त्री के स्पर्श से दूषित (भवामि=होऊँ)।

अनुवाद—मै ही विस्मरणशील मति हो गया हूँ अथवा यह शकुन्तला ही झूठ बोल रही है इस सशय मे (मै) पत्नीत्यागी बनू अथवा परस्त्री के स्पर्श से दूषित होऊँ।

भावार्थ—राजा पुरोहित से पूछता है कि जब तक कि यह बात सशयग्रस्त है कि या तो मै भूल गया हूँ अथवा यही झूठ बोलती है, तब तक शकुन्तला परित्याग कर मुझे पत्नीत्यागी बनना चाहिए अथवा परस्त्री के स्पर्श से दूषित बनना चाहिए, क्योंकि इसके परित्याग कर देने पर मै पत्नीत्यागी कहलाऊँगा और रख लेने पर परस्त्री स्पर्श का दोषी बनूगा, अत आप बताइये मेरे लिए क्या उचित है।

वस्तुत इस कथन से राजा का अभिप्राय है कि इस अनिश्चितता की स्थिति मे तो यही उचित है कि मै इसका त्याग कर दू, परस्त्री स्पर्श के दोष की अपेक्षा पत्नीत्याग मे कम ही पाप होगा।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वितर्क नामक मतिभाव है, और पथ्यावक्त्र नामक छन्द है। प्रसादगुण, वदर्भी रीति है। 'भो सत्यवादिन्' से लेकर यहा तक उत्तर प्रत्युत्तर वाले वाक्य होने से विरोध नामक विमर्श सन्धि का अग है "उत्तरोत्तर वाक्यं तु विरोध इति सज्ञित"।

सस्कृत व्याख्या—अहम्=दुष्यन्त, मूढ=नष्टबुद्धि विस्मरणशील स्याम्=

पुरोहित —(विचार्य) यदि तावदेव क्रियताम् ।

राजा—अनुशास्तु मा भवान् ।

पुरोहित —अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यते इति चेत्—त्वं साधुभिरादिष्टपूर्वः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति । स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि । विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव ।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते ।

पुरोहित —वत्से, अनुगच्छ माम् ।

शकुन्तला—भगवति वसुधे, देहि मे विवरम् । [भअवदि वसुहे, देहि मे विवरं ।]

(इति रुदती प्रस्थिता । निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति ।)

भवेयम । वा=अथवा, एषा=शकुन्तला, मिथ्या=असत्यम, वदेत्=भाषेत । इति संशये=सन्देहे दारत्यागी=पत्नीपरित्यागी (भवामि) आहो=अथवा, परस्य अन्यस्य स्त्रियाः पत्न्याः स्पर्शः सम्पर्कः तेन पांसुलः=दूषितः—परस्त्रीस्पर्शपांसुलः, (भवामि) ।

संस्कृत सरलार्थ—राजा पुरोहितं पृच्छति यदिमहं शकुन्तलां मेनां स्वीकृत्य परपत्नीसंश्लेषदूषितः भवामि अथवा एनां परित्यज्य पत्नीत्यागी भवामि, यतो हि नैतदद्यापि विनिश्चितम यदावयोः कोऽसत्यवादी—अहमेनां विस्मृतवानस्मि अथवा शकुन्तलेयं मसत्यवादिनीति ।

टिप्पणी

अन्यसङ्गात—यहाँ अन्य शब्द का अर्थ—अन्य राजकीय कार्य, अथवा अन्य वसुमती आदि रानियाँ अथवा अन्य अर्थात् शापप्रभाव भी हो सकता है । **गुरुलाघवम**—गुरु=उत्तम श्रेष्ठ अथवा उचित लघु—निकृष्ट कार्य अथवा अनुचित कार्य । गुरु च लघु चेति गुरुलघु तयोर्भाव इत्यर्थे अणि, गौरवलाघवम् रूप होना चाहिए था किन्तु "पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचिन्ता नास्तीति भाष्य प्रयोगानुरोधादत्र उत्तरपदवृद्धि अन गुरुलाघवम् अन्यत्र भी यह प्रयोग मिलता है "आरभेत ततः कार्य सञ्चिन्त्य गुरुलाघवम" मनु । 'विमृश्य गुरुलाघवम' रामायण । **संशये**—सम् + शी + अच । **पांसुल**—पांसु—धूलि अतः पांसुल—दूषित ।

पुरोहित—(सोच कर) यदि ऐसा है तो तब ऐसा कीजिए ।

राजा—आप मुझे आज्ञा दीजिए ।

पुरोहित—यह पूजनीया (शकुन्तला) सन्तानोत्पत्ति काल तक मेरे घर में रहे, यदि आप मुझसे पूछें कि ऐसा क्यों कह रहे हो तो (मेरा उत्तर है कि) आपको (भविष्यवक्ता) महात्माओं द्वारा पहले ही यह बताया जा चुका है कि आप सर्वप्रथम ही चक्रवर्ती पुत्र को जन्म देंगे, यदि वह मुनि के दौहित्र (पुत्री का पुत्र) उन

(नेपथ्ये)

आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

राजा—(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात् ?

(चक्रवर्ती राजा के) लक्षणा से युक्त होगा, तो आप इस शकुन्तला को, अभिनन्दित करके (अपने) अन्तःपुर में प्रवेश कराइयेगा, अन्यथा उसका अपने पिता के पास भेजना निश्चित ही है।

राजा—जैसा आप गुरुजनों को अच्छा लगे।

पुरोहित—पुत्री, मेरे पीछे जाओ।

शकुन्तला—भगवती पृथिवी, मुझे अपने भीतर स्थान दो, (शकुन्तला रोती हुई चल पड़ती है। पुरोहित और तपस्वियों के साथ उसका प्रस्थान)।

(शाप के कारण विलुप्तस्मृति होकर राजा शकुन्तला के विषय में ही सोचता है)

टिप्पणी

आप्रसवात्—आ के योग में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति पञ्चमी। **कुत इदमुच्यत इति चेत्**—विद्वान् पुरोहित का, यह दार्शनिक पद्धति के अनुकूल, वचन यहाँ सर्वथा उपयुक्त है। **साधुभिः**—इसका अर्थ यहाँ भविष्यवक्ता ऋषिजनों से है, प्रथमाङ्क में वैखानस राजा को *आशीर्वाद देता हुआ कहता है 'पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमवाप्नुहि'*। इतरो—सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रं माप्नुहि"। **आदिष्टपूर्व**—पूर्वम् आदिष्ट भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात् पूर्वशब्दस्य परनिपात। **चक्रवर्तिनम्**—सार्वभौमम्, चक्रवर्ता चक्रे भूचक्रे वर्तितुं शीलमस्य तम्-चक्रवर्तिनम् अथवा चक्रं भूचक्रं वर्तयति इति चक्रवर्ता चक्र+वत्+णिनि। 'अतिरिक्तः करो यस्य, ग्रथिताङ्गुलिको मृदु" यस्य पादतले प्रथमं पद्मं चक्रं वाप्यथ तोरणं, अंकुशं कुलिशं चापि स सम्राट् भवेद् ध्रुवम्। **पुत्रम्**—पुत्+त्रै+क, पुन्नामनरक से बचाने वाला "पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः"। **मुनिदौहित्र**—मुनेः कण्वस्य दौहित्रः दुहितुः शकुन्तलायाः पुत्रः। **तल्लक्षणोपपन्नः**—तस्य चक्रवर्तिनः लक्षणैः पादपद्मचक्राङ्कुलिशादिभिः उपपन्नः युक्तः। **विपर्यये**—इसके विपरीत होने पर, **गुरुभ्यः**—रुच धातुयोगे चतुर्थी। **देहिमे विवरम्**—अर्थात् पृथिवी फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। **शापव्यवहितस्मृतिः**—शापेन व्यवहिता स्मृतिः यस्य सः, राजा की स्मृति तो थी पर शाप ने उसमें व्यवधान डाल दिया था अतः वह उसे भूल गया था। यहाँ विमर्शसन्धि का प्रतिषेध नामक अंग है "ईप्सितार्थ प्रतिघातः प्रतिषेध इतीष्यते"।

(नेपथ्य में)

आश्चर्य है, आश्चर्य है।

राजा—(सुनकर) क्या बात हो सकती है ?

(प्रविश्य)

पुरोहित —(सविस्मयम्) देव, अद्भुत खलु सवृत्तम् ।

राजा—किमिव ?

पुरोहित —देव, परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेप क्रन्दितु च प्रवृत्ता ।

राजा—किं च ?

पुरोहित —

स्त्रीसस्थान चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैना ज्योतिरेक जगाम ॥३०॥

(सर्वे विस्मय रूपयन्ति)

(प्रवेश करके)

पुरोहित—(आश्चय के साथ) महाराज, बडे आश्चय की बात हो गई है।

राजा—वह क्या ?

पुरोहित—महाराज, कण्व शिष्यो के लौट जाने पर—

अन्वय—सा वाला स्वानि भाग्यानि निन्दन्ती वाहूत्क्षेपम् क्रन्दितु प्रवृत्ता च। अप्सरस्तीथम् आरात् स्त्रीसस्थानम् एकम् ज्योति एनाम् उत्क्षिप्य जगाम च।

शब्दार्थ—सा वाला=वह वालिका, स्वानि भाग्यानि निन्दती=अपने भाग्यो को कोसती हुई, वाहूत्क्षेपम्=हाथ उठा कर क्रन्दितुम् प्रवत्ता च=रोने लगी। अप्सरस्तीथम् आरात्=अप्सरा तीथ के समीप ही, स्त्रीसस्थानम्=स्त्री जैसे शरीरावयवो को धारण करने वाली,एक ज्याति =एक तेज पुञ्ज एनाम् उत्क्षिप्य=इसको उठाकर, जगाम च=चला गया।

अनुवाद—और वह बालिका अपने भाग्यो को कोसती हुई, भुजाये उठा कर रोने लगी।

राजा—और फिर,

पुरोहित—अप्सरा तीथ के पास ही, स्त्री जैसे आकारवाला एक तेज समूह उसे उठाकर चला गया।

(अप्सरस्तीथम् आरात्) की व्याख्या टीकाकरो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। किन्तु अप्सरस्तीथ का अथ प्रसिद्ध शचीतीथ करना यहाँ किसी प्रकार सगत नही हो सकता, यह कोई दूसरा ही अप्सरा सरोवर हस्तिनापुर के पास ही रहा होगा, प्रसिद्ध शचीतीथ यहाँ से पर्याप्त दूरी पर था, वहाँ तक पुरोहित के जाने का कोई अवसर न था। वस्तुत इसका अर्थ यह तो सम्भव है कि कोई तेजोमयी मूर्ति उसे अप्सरस्तीथ की ओर लेकर चली गई)।

विशेष—चकारद्वय द्वारा क्रियासमुच्चय अलकार, स्त्रीसस्थानम्' मे उपमालकार, हेतु तथा अनुप्रास अलकार अद्भुत रसध्वनि, प्रसाद गुण,, वैदर्भी रीति,

राजा—भगवन्, प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते? विश्राम्यतु भवान्।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व।

(इति निष्क्रान्तः।)

राजा—वेत्रवति, पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इत इतो देवः। [इदो, इदो देवो।]

(इति प्रस्थिताः।)

शालिनी नामक छन्द है "मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेद लोकैः" अर्थात् जिस छन्द मे मगण, तगण, तगण तथा अन्त मे दो गुरुवर्णों के क्रम से ११ वर्ण तथा चतुर्थ एवं सप्तम वर्ण पर यति हो वह शालिनी छन्द होता है। 'नेपथ्ये' से लेकर यहां तक विरोधोपशान्ति होने से शक्ति नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग दिखलाया गया है। "विरोधप्रशमो यस्तु सा शक्तिरिति कीर्तिता"।

(सभी लोग आश्चर्य का अभिनय करते हैं)

संस्कृत व्याख्या—सा बाला=सा बालिका शकुन्तला, स्वानि भाग्यानि=स्वकीयानि अदृष्टानि निन्दन्ती=अधिक्षिपन्ती सती, बाहूत्क्षेपम=स्वकीयौ बाहू ऊर्ध्वं क्षिप्त्वा, क्रन्दितुम्=उच्चैः विलपितुम्, प्रवृत्ता च=प्रारब्धवती। स्त्रियः संस्थानम आकृति इव संस्थानं यस्य तत्—स्त्रीसंस्थानम—ललनाकारमित्यर्थः। एकं ज्योतिः= एका तेजोमयी मूर्तिः, एनाम=शकुन्तलाम=उत्क्षिप्य=उत्थाप्य जगाम च= निरोदधे।

संस्कृत सरलार्थ—पुरोहितः कथयति यन्मामनुसरन्ती सा बालिका शकुन्तला यदा स्वकीयं भाग्यं मान्निन्दन्ती उच्चैः विलपितुं प्रारब्धवती, तदैव अप्सरस्तीर्थसमीपे ललनाकारा काचिदेका तेजोमयी मूर्तिरेतामुत्थाप्य निरोदधे। अथवा अप्सरस्तीर्थ नामकं प्रदेशविशेषं लक्ष्यीकृत्य तिरोबभूव।

टिप्पणी

सा बाला=पति एवं बन्धुजनों से परित्यक्त अतएव अशरणा और अपने कर्तव्य को न समझ सकने वाली शकुन्तला। **बाहूत्क्षेपम**—बाहु+उत्+क्षिप 'स्वाङ्गेऽध्रुवे' णमुल (अम) बाहू उत्क्षिप्येत्यर्थः। **स्त्रीसंस्थानम**—सम्यगीयतेऽनेनेति संस्थानम् स्त्रियाः संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत् उत्तरपदलोपिबहुव्रीहिः।

(सभी लोग आश्चर्य का अभिनय करते हैं)

राजा—भगवन् हमने तो पहले ही उस अर्थ (वस्तु) अर्थात् शकुन्तला का निराकरण कर दिया है। अब व्यर्थ ही तर्क द्वारा उसे क्यों खोजते हैं अर्थात् अब उस विषय में तर्क वितर्क करने में क्या लाभ? जब उसका निराकरण ही कर दिया तब उसे कौन ले गया, कहां ले गया आदि बातों पर विचार करना व्यर्थ है। आप विश्राम करें।

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम् ॥३१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

(इति पञ्चमोऽङ्कः)

पुरोहित—(राजा की ओर देखकर) महाराज की जय हो ।

(यह कहकर प्रस्थान)

राजा—वेत्रवती, मै व्याकुल हो रहा हूँ । शयनगृह का मार्ग बतलाओ ।

प्रतीहारी—महाराज, इधर से आइये ।

(यह कहकर चल देती है)

राजा—

काममिति अन्वय—कामम् प्रत्यादिष्टाम् मुने तनयाम् परिग्रहम् न स्मरामि । तु बलवत् दूयमानम् हृदयम् माम् प्रत्याययति इव ।

शब्दार्थ—कामम्=भले ही, प्रत्यादिष्टाम् (अपने द्वारा) परित्यक्ता, मुने तनयाम्=महर्षि कण्व की पुत्री को, परिग्रहम्=अपनी विवाहिता पत्नी के रूप मे, न स्मरामि=नही स्मरण कर रहा हूँ, तु=किन्तु, बलवत् दूयमानम् हृदयम्=अत्यधिक दु खित होता हुआ मेरा हृदय, माम् प्रत्याययति इव=मुझे (ऐसा) विश्वास सा करा रहा है।

अनुवाद—भले ही (मेरे द्वारा) परित्यक्ता मुनि कन्या शकुन्तला को (मैं) अपनी विवाहिता पत्नी के रूप मे स्मरण नही कर पा रहा हूँ, किन्तु अत्यधिक दु खी होता हुआ (मेरा) हृदय मुझे (ऐसा) विश्वास करा रहा है, (कि यह मेरी पत्नी ही है)।

भावार्थ—शकुन्तला आदि के चले जाने पर विक्षुब्ध हृदय राजा सोचता है कि यद्यपि मै यह स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ कि मैने कभी इस मुनि कन्या शकुन्तला से विवाह कर इसे पत्नी रूप मे स्वीकार किया था, तथापि इस घटना से इस समय जो मेरा हृदय अत्यन्त विक्षुब्ध हो रहा है इससे मुझे ऐसा भी विश्वास हो रहा है कि यह मेरी पत्नी ही होगी ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'प्रत्याययति इव' मे **उत्प्रेक्षालकार**, और इससे स्थायिनी रति का अनुसन्धान भी ध्वनित होता है। स्मृतिरूप कारण के अभाव मे भी दूयमानत्व रूप कार्योत्पत्ति होने से **विभावनालकार**, दूयमान हृदयरूप हेतु से प्रत्यायन साध्य है अत हेतु अलकार । मुनितनया से गुरुपुत्री के उल्लेख के कारण, प्रसग नामक विमर्श सन्धि का अग है (प्रसगो गुरुकीर्तनम्) आर्या जाति—छन्द है। प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति । सम्पूर्ण अक मे वीर रस प्रधान है अत सात्वती वृत्ति है "शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वती आरभटी पुन । रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्ति सर्वत्र भारती ।"

संस्कृत व्याख्या—कामम्—भवतु नामैतत्, प्रत्यादिष्टाम=परित्यक्ताम्, मुने =कण्वस्य, तनयाम्=पुत्री शकुन्तलाम, परिग्रहम=इयं मे परिणीता पत्नीति, न स्मरामि=न विभावयामि। तु=किन्तु वलवत्=अत्यधिकम्, दूयमानम्=पीडयमानम, हृदयम=मच्चित्तम्, माम=दुष्यन्तम् प्रत्याययति इव=विश्वास मिम जनयति यदेपा मया परिणीतपूर्वेति।

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलाया निराकरणानन्तरम् राजा चिन्तयति यद्यपि नाहमिदानी स्मरामि यत् कदापि पूर्व मयैषा मुनितनया शकुन्तला पत्नीरूपेण स्वीकृता तथापि मे हृदय मिदानी वलवद दूयते, अनेनाह मित्यपि विभावयामि यदेपा मया परिणीतपूर्वा इति।

टिप्पणी

सोऽर्थ—वह शकुन्तला रूप अर्थ वस्तु, **प्रत्यादिष्ट**—प्रत्याख्यात निराकृत—प्रति+आ+दिश+क्त। **किं वथा**—राजा का अभिप्राय है कि जब कि मैंने इसका प्रत्याख्यान कर ही दिया है तब उसे कौन कहा किस प्रकार ले गया अथवा उसका क्या हुआ ? इन सब बातो पर तर्क वितर्क करना व्यर्थ है। इसमे राजा का शकुन्तला के प्रति उपेक्षाभाव प्रकट होता है। **कामम**—यह अव्यय है इसका अर्थ—भले ही, मैं ऐसा मानता हूँ, यह सत्य है, आदि होता है। कुछ टीकाकारो ने इसका अर्थ 'अत्यधिक' किया है, वह प्रस्तुत प्रसग के अनुसार उचित नही जान पडता। **परिग्रहम्**—इसका अर्थ 'विवाहिता पत्नी" है, परिगृह्यते पत्नीत्वेन स्वीक्रियते इति परिग्रह—परि+ग्रह+अप्। **प्रत्याययति**—प्रति+इण गतौ+णिच्+लट्। प्रतिपूर्वक इण धातु का अर्थ जानना या विश्वास करना होता है, को न प्रत्येति=कौन विश्वास नही करता। इण् धातु मे णिच करने पर अवबोधन अर्थ होने के कारण यहाँ 'णौ गमिरबोधने' से इण को गम आदेश नही होता है। फलत माम मे 'गति बुद्धि, सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है। **दूयमानम्**—दू+यक+शानच+मुक।

(इसके बाद सबका प्रस्थान)

(पञ्चम अङ्क समाप्त)

अथ षष्ठोऽङ्कः

(तत प्रविशति नागरिक श्याल पश्चाद् बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च।)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अरे कुम्भीरक, कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेय राजकीयमङ्गुलीयक समासादितम् ? [अले कुम्भीलआ, कहेहि कहि तुए एशे मणिवन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीअए अगुलीअए शमाशादिए ?]

पुरुष—(भीतिनाटितकेन) प्रसीदन्तु भावमिश्रा। अह नेदृशकर्मकारी। [पशीदन्तु भावमिश्शे। हगे ण ईदिशकम्मकाली।]

प्रथम—किं शोभनो ब्राह्मण इति कल्पयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्त ? [कि शोहणे बह्मणेत्ति कलिअ रण्णा पड्गिगहे दिण्णे ?]

(तदनन्तर राजा के साले कोतवाल का तथा (उसके) पीछे, (एक) बँधे हुये पुरुष को लेकर दो सिपाहियो का प्रवेश)

दोनों सिपाही—(मारकर) अरे चोर, बताओ, तूने मणि जडित एव जिस पर (राजा का) नाम अकित (खुदा हुआ) है, (ऐसी) यह राजकीय अँगूठी कहाँ पाई ?

पुरुष—(भय का अभिनय करता हुआ) आप आदरणीय सज्जनो प्रसन्न हो, मैं ऐसा काम करने वाला नही हूँ।

प्रथम सिपाही—तो क्या, तू श्रेष्ठ ब्राह्मण है, ऐसा समझ कर राजा ने (तुझे) उपहार दिया है।

टिप्पणी

नागरिक—नगर रक्षति अथवा नगरे नियुक्त इत्यर्थे रक्षार्थे रक्षतीतिसूत्रेण अथवा 'तत्र नियुक्त' इति सूत्रेण नगर शब्दात् ठक् (इक) वृद्धि नागरिक—नगर की रक्षा के लिये नियुक्त अधिकारी—कोतवाल। **श्याल**—साला या पत्नी का भाई। इसे ही राजश्याल या राजश्यालक, राष्ट्रीय या राष्ट्रियश्याल अथवा शकार भी कहा जाता है। मृच्छकटिक मे शकार का विस्तृत वणन है, शकार इसे इसलिये कहा जाता है क्योकि यह नीच कुल की स्त्री से उत्पन्न हुआ व्यक्ति होता है और

शकारी बोली का प्रयोग करता है 'शकारभाषाप्रायत्वात् शकारो राष्ट्रिय स्मृत" साहित्य दपणकार आचाय विश्वनाथ ने इसका लक्षण मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलैश्वर्य सयुक्त । सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञ श्यालः शकार इत्युक्त किया है। राजाओं की अनेक पत्नियाँ हुआ करती थी उन्ही में से किसी रानी के भाई को यह पद होता था इस प्राय नगररक्षक नियुक्त किया जाता था। अन्यत्र भी इसी प्रकार के राजश्याल का वणन मिलता है, नगररक्षक होने के कारण ही यहा इसे नागरिक श्याल कहा गया है, आगे राष्ट्रिय का भी प्रयोग है। **बद्धपुरुषम**—हथकडी बेडी से बँधे हुये एक चोर को। **रक्षिणौ**—रक्षापुरुष अर्थात् सिपाही जो कि नगर रक्षा में कोतवाल के सहायक होते है। **कुम्भीरक**—चोर, गण्डपद चोर, तस्कर मलिम्लुच आदि इसके पर्याय है। कुम्भावस्य स्त इत्यर्थे कुम्भशब्दादिनि कुम्भी, कुम्भिनमीरयतीत्यर्थे—कुम्भन् + ईर् कतरि अण्—कुम्भीर तत स्वार्थे कन्—कुम्भीरक तत्सम्बुद्धौ—कुम्भीरक ! (कुम्भिल श्यालके चौरे') इस व्युत्पत्ति से कुम्भीरक का मुख्य अथ मगर होना है पर उसके चोरी के स्वभाव के कारण, गौण रूप मे इसका अथ चोर भी होता है, यह कुम्भिन् अर्थात् हाथी को जल से भगा देता है। कु + भिद् से भी निपातनात् यह शब्द बनता है, कु का मुख्याथ तो पृथिवी है पर गौण अथ मे इसका प्रयोग मिट्टी और मिट्टी की दीवार भी होता है चोर दीवार तोडकर सेंध लगाकर चोरी करता है, अत कुम्भीरक का अथ चोर होता है। अन्यत्र इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार भी है—कुम्भी स्वल्प कुम्भ घट धनपूर्ण राति चोरयति असौ कुम्भीर स एव कुम्भीरक । **मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयम**—मणे बन्धन यत्र तत—मणिबन्धनम् अर्थात् जिस पर मणि जडा हुआ था। उत्कीर्ण नामधेय यत्र तत्—उत्कीर्णनामधेय अर्थात् जिस पर राजा का नाम खुदा हुआ था, ऐसी अगूठी, मणिबन्धन च तत् उत्कीर्णनामधेय—कमधारय। **पुरुष**—इसका अथ यहा धीवर है जिसे राजनामाङ्कित अगूठी, शक्रावतार से पकडी हुई मछली के पेट से प्राप्त हुई थी। भरतमुनि के कथनानुसार राक्षसादि की भाषा मागधी होती है अर्थात् नाटको मे ये मागधी बोलते है, धीवर भी मागधी बोलता है "मागधी राक्षसादे स्यात्"। इसमे स को श, र को ल और कर्ता एकवचन एकारान्त होता है। जैसे इसके कथन मे—पशीदन्तु भावमिश्शे हग ईदिशकम्म-कालो—देखा जाता है। **राजकीयम** —'राज्ञ क च' राजक, छ प्रत्यये राजकीयम् राज्ञ इदम्। **भीतिनाटितकेन**—भीति- नाटि भावे क्त- भीतिनाटितम्, तत स्वार्थे कन् भीतिनाटितकम् तेन सह भीतिनाटितकेन—भय का अभिनय करता हुआ। **भावमिश्रा** मान्यो भावस्तु वक्तव्य, भाव अर्थात मान्य मिश्र शब्द आदरसूचक है, भावाश्च ते मिश्रा अर्थात् आदरणीय सत्पुरुष। **ईदृशकर्मकारी**—ईदृश कर्म करोत्यर्थे णिनि अर्थात् चोरी जैसा कम करने वाला। **शोभन**—शोभते इति शोभन —शुभ—युच गुण। **कलयित्वा**—समझ कर **प्रतिग्रह** – उपहार अथवा दान। धीवर के इस कथन मे पडिग्गहे दिण्णे—प्रथमैक वचन के एकारान्त प्रयोग है। यह मागधी की विशेषता है।

पुरुष —**शृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः।** [शुणध दाणि । हगे शक्कावदालब्भन्तरालवाशी धीवले ।]

द्वितीय — **पाटच्चर, किमस्माभिः जातिः पृष्टा?** [पाडच्चल, किं अम्हेहि जादा पुच्छिदा?]

श्याल —**सूचक, कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मैनमन्तरा प्रतिबधान।** [सूअअ कहेदु शव्वं अणुक्कमेण । मा णं अन्तरापडिवन्धह ।]

उभौ—**यदावुत्त आज्ञापयति। कथय।** [जं आवुत्ते आणवेदि। कहेहि ।]

पुरुष —**अहं जालोद्गालादिभिः मत्स्यवन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।** [अहके जालुग्गालादिहिं मच्छवन्धनोवाएहिं कुडुम्बभलणं कलेमि ।]

श्याल —(**विहस्य**) **विशुद्ध इदानीमाजीवः।** [विसुद्धो दाणिं आजीवो ।]

पुरुष—सुनिये तो, मैं शक्रावतार नामक तीर्थ पर रहने वाला धीवर हूँ।

दूसरा सिपाही—अरे चोर, क्या हमने (तेरी) जाति पूछी है?

राजश्यालक—सूचक, (सिपाही का नाम) इसे सब कुछ क्रम से कह लेने दो, इसे बीच ही में मत रोको।

दोनों सिपाही—जो जैसी आप आज्ञा देते हैं। (तुम धीवर अपनी बात) कहो।

टिप्पणी

शक्रावताराभ्यन्तरालवासी—शक्रावतार नामक तीर्थ के क्षेत्र में रहने वाला। **शक्रस्य अवतारः** शक्रावतारः—नाम होने से नित्यसमास, अव+तृ+घञ्=अवतार =घाट। धीवर =मल्लाह "कैवर्ते दासधीवरौ" इत्यमरः। **पाटच्चर**—चोर, पाटयन् —उत्पाटयन् उत्खनन् वा चरति-विचरति इति पाटच्चरः यहाँ पृषोदरादित्वात् यकार का लोप होकर, पाटच्चर बनता है, अर्थात् जो घर या दीवार आदि में सेंध लगाता हुआ (खोदता हुआ) घूमता रहता है, और इस प्रकार चोरी करता है। अथवा पटयन् =चौर्यार्थं रात्रौ मुखादिकं पटेनाच्छादयन् चरति विचरति इति पटच्चरः, पटच्चर एव पटच्चरः स्वार्थे अण्। "दस्यु पटच्चर स्तेन पाटच्चरमलिम्लुचाः" इत्यमरः। **मा प्रतिबधान**— मत रोको, निषेधात्मक माङ्योगे लोट्। **आवुत्त**—भगिनीपतिरावुत्तः इत्यमरः। यहाँ पर इसका प्रयोग आदर सूचनार्थ है। **अन्तरे**—बीच में।

पुरुष—मैं जाल काँटा आदि मछलियों के पकड़ने के साधनों से अपने कुटुम्ब का पालन करता हूँ।

श्याल—(हँस कर) तब तो बहुत पवित्र आजीविका है।

पुरुष —
सहजं किल यद् विनिन्दित न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रिय ॥१॥
[शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणी अए ।
पशुमालण कम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव्व शोत्तिए ॥]

पुरुष —

सहजमिति—अन्वय—विनिन्दित यत् कम सहजम् किल, तत् खलु न विवजनीयम् । पशुमारणकमदारुण श्रोत्रिय अनुकम्पामृदु एव ।

शब्दार्थ—विनिन्दितम=लोकनिन्दित (भी) यत् कम=जो कम, सहजम्=स्वाभाविक अथवा कुल परम्परागत, किल=वस्तुत । तत् कम=वह कर्म, खलु=अवश्य ही, न विवजनीयम्=न छोडना चाहिये । पशुमारणकमदारुण =(यज्ञो मे) पशुवध-रूपी कम के कारण क्रूर (भी) श्रोत्रिय =वेदपाठी ब्राह्मण, अनुकम्पामृदु एव=दयाभाव से कोमल हृदय ही, (भवति=होता है)

अनुवाद—(लोक मे) निन्दित (भी) जो कम वस्तुत स्वाभाविक एव कुल-परम्परागत (होता है) उस कम को अवश्य ही न छोडना चाहिये (यज्ञो मे) पशुवध रूपी कर्म से क्रूरहृदय भी वेदपाठी ब्राह्मण (सहज) दयाभाव से कोमल हृदय होता ही है ।

भावार्थ—राजश्यालक का अपनी जीविका के विषय मे व्यङ ग्य कथन सुनकर बन्दी पुरुष कहता है, मान्यवर ! आपको ऐसा न कहना चाहिये, क्योकि जिसका जो स्वाभाविक वशपरम्परागत कम होता है, उसे उसको कदापि न छोडना चाहिये, भले ही लोग उस कम की निन्दा करें, देखिये, सब जीवो पर दयालु होने के कारण स्वभाव से ही कोमलचित्त भी वेदज्ञ ब्राह्मण यज्ञ कम मे पशुवध करके कठोर हो जाता है, क्योकि यह उसका कुलक्रमागत कम है, और उसकी आजोविका का साधन है अतएव वह दयालु होकर भी इस कठोर कम को करता है, छोडता नही । इसी प्रकार मै भी अपने आजीविका के साधन एव कुलक्रमागत मत्स्यब धन रूप कम को नहीं छोडता हूँ, और न मुझे इसे छोडना ही चाहिये, भले ही अहिंसावादी जन इस कम की नि दा करें । अत आपको मेरे आजीविका के साधन की हँसी न उडाना चाहिये ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे सामान्याथ के द्वारा विशेषाथ का समथन किया गया है, अत **अर्थान्तरन्यासालकार**, मृदु होकर भी दारुण इस कथन मे **विरोधाभास अलकार**, मृदु श्रोत्रिय से दारुणत्वरूप विरुद्ध गुणोत्पत्ति का कथन होने से **विषमालकार**, धीवर, इस प्रस्तुत विशेष के रहते हुये भी अप्रस्तुत सामा य का कथन किया गया है अत, **अप्रस्तुत प्रशसालकार**, जिस प्रकार मृदु श्रोत्रिय पशुवधरूपदारुण कम नही छोडता, उसी प्रकार मुझे भी लोकनिन्दित भी अपना सहज कम नही छोडना चाहिये, इस प्रकार यहाँ **दृष्टान्त** अलकार भी है । श्लोकगत एव वस्तुत इव के अथ मे है, अत **उपमालकार**, भी है । प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति है । **सुन्दरी** नामक छन्द है, इसका लक्षण है "अयुजो यदि सौ जगौ, युजो सभरा ल्गौ यदि सुन्दरी मता" अर्थात् जिस छन्द के विषम

चरणो मे क्रमश दो सगण, जगण तथा एक गुरु वण हो, और समचरणो मे सगण, भगण, रगण तथा एक लघु एव एक गुरु वण हो तो वह सुन्दरी नामक विषम छन्द होता है। किन्तु उक्त लक्षण का प्रस्तुत पद्य मे सघटित करने के लिये इसके द्वितीय चरण को "न तु तत्कम विवजनीयकम्" के रूप में रखना पडेगा जैसाकि अन्यत्र पाठ है भी, फिर भी अथ मे कोई अ तर न पडेगा—यथा —

	सगण	सगण	जगण	गु०
	। । ऽ	। । ऽ	। ऽ ।	ऽ
प्रथम चरण—	स ह ज,	कि ल य,	द्वि नि न्द	त—१० वण
	सगण	सगण	जगण	गु०
	। । ऽ	। । ऽ	। ऽ ।	ऽ
तृतीय चरण—	प शु मा,	र ण क,	म दा रु,	णो—१० वण
	सगण	भगण	रगण	ल० गु०
	। । ऽ	ऽ । ।	ऽ । ऽ	। ऽ
द्वितीय चरण—	न तु त,	त्क म वि,	व ज नी,	य कम् —११ वण
	सगण	भगण	रगण	ल० गु०
	। । ऽ	ऽ । ।	ऽ । ऽ	। ऽ
चतुथ चरण—	अ नु क	म्पा मृ दु	रे व श्रो,	त्रि य —११ वण

सस्कृत व्याख्या—विनिन्दितम्=लोकगर्हितम् (अपि) यत् कम सहजम् किल=वस्तुत यत्कम स्वाभाविक कुलक्रमादागत वास्ति, तत् खलु न विर्जनीयम्= तत् कम अवश्यमेव न परित्त्याज्यम्। पशूना यज्ञीयपशूना मारण वधरूप यत्कर्म कार्यं तन दारुण क्रूर—पशुमारणकमदारुण (अपि) श्रोत्रिय =वेदपाठी ब्राह्मण, अनु कम्पया दयया मृदु कोमल—अनुकम्पामृदु =कृपापरिप्लावितहृदय एव (भवति)

सस्कत सरलाथ—यस्य जनस्य यत्किमपि निन्द्य स्तुत्य वा स्वाभाविक कुलपर-म्पराप्राप्त कम भवति, तत् कम तेन जनेन लोकनि दाभीत्या न कदापि परित्याज्यम्, यद्यस्ति तत्कम तस्य जीविकासाधनमपि तर्हि तु तत्कम न कदापि परित्याज्यम् अपितु अवश्यमेव तदेव करणीयम्, निन्द तु धमज्ञा स्तुवन्तु वा। यतोहि करुणापरिप्लावितहृ-दयोऽपि षट्कम निरतो वेदज्ञो विप्र यज्ञीयपशुवधकमणि निष्ठुर एव भवति, स्वभावदयालुरपि श्रोत्रियो यज्ञकमणि दयाविरहित सन् पशूना वधे प्रवतत एवातो न त्याज्य लोकविरुद्धमपि सहज कर्मेत्यभिप्राय ।

टिप्पणी

जालोदगालादिभि—जालानि च उद्गालाश्चेति समाहारद्वन्द्वे 'जातिरप्राणि-नामित्येकवचनम्' जालोद्गालमादि येषान्तै जालोद्गालादिभि, उद्+गृ धातो- 'उन्न्याग्र' इनि घजि अचि विभाषेति रेफस्य वैकल्पिक लत्वे उदगाल = मछली पकडने का काटा। **मत्स्यबन्धनोपाय**=मत्स्याना वन्धनस्य उपायास्तै। **विशुद्ध आजीव**— वस्तुन श्यालक का धीवर क लिय यह कथन व्यङ्ग्य पूण है, उसका अभि-प्राय ह कि तुम्हारा यह जीविका का हत्यारूप साधन बडा ही निकृष्ट है

श्याल —ततस्तत [तदो तदो]

पुरुष —एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत्। तस्योदराभ्यन्तरे इद रत्नभासुर मङ्गुलीयक दृष्ट्वा पश्चादह तस्य विक्रयाय दर्शयन गृहीतो भावमिश्रै । मारयत वा मुञ्चत वा। अयमस्यागमवृत्तान्त । [एक्कश्शि दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे जाव। तश्श उदलब्भन्तले एद लदणभाशुल अगुलीअअ देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दशअते गहिदे भावमिश्शेहि। मालेह वा मुचेह वा। अअ शे आअमवुत्तते।]

श्याल —जानुक, विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव नि सशयम्। अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छाम।

अतएव तुम नीच हो। **सहजम**—सह जातमित्यथ सह+जन्+ड (अ) प्रत्यय टि लोप। ज म सिद्ध कम भले ही निन्दनीय हो पर उसे छोडना नही चाहिये, इस सम्ब ध मे अनेक सूक्तियाँ देखी जाती है और धमवचन भी—"सहज कम कौ तेय सदोपमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता"। श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ॥ स्वभावनियत कम कुवन्नाप्नोति किलविषम्। गीता। वर स्वधर्मो विगुणो न पारक्य स्वनुष्ठित । परधमण जीवन् हि सद्य पतति जातित ॥मनु॥ येनास्य पितरो याता येन याता पितामहा, तेन यायात् सदा सोऽपि, तेन गच्छन्न दुष्यति। देशानुशिष्ट कुलधममग्र्य स्वगोत्रधम न हि सन्त्यजेत्। स्मृति वचन। **श्रोत्रिय**—छ दोऽधीते "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते" इति निपातनात् छन्दस श्रोत्रादेश घञ प्रत्ययश्च—श्रोत्रिय । "ज मना ब्राह्मणो ज्ञेय सम्कारैर्द्विज उच्यते, विद्याभ्यासी भवेद विप्र, श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि।" एका शाखा सकल्पा वा षड्भिरङ्गैरधीत्य च। षट्कमनिरतो विप्र श्रोत्रियो नाम धर्मवित्।

प्रस्तुत पद्य मे वैदिक कमकाण्ड का समथन किया गया है और बौद्धो के तक के विरुद्ध "वैदिकी हिसा हिंसा न भवति का समथन किया गया है 'अग्निष्टोमीय पशुमालभेत 'श्रुति को प्रमाण माना गया है तत्कालीन वर्णाश्रम व्यवस्था का भी अनुमोदन किया गया है कुछ टीकाकारो की यह भी मान्यता है कि पशुबलि यज्ञो म कभी प्रचलित नही थी और न कालिदास ने इस पद्य द्वारा उसका अनुमोदन ही किया है। अग्निष्टोमीयम् आदि श्रुति का अथ पशुपालन एव सरक्षण है, हनन नही पशुबलि तो मासाहारी वाममार्गियो की देन है अत सवथा त्याज्य है, श्लोक का भाव केवल इतना ही है कि जैसे पशुहत्या करने वाला भी ब्राह्मण घृणित दृष्टि से नही देखा जाता है उसी प्रकार मेरा भी यह कम उपेक्षणीय है नि दनीय नही।

श्याल—हाँ तब फिर ?

पुरुष—एक दिन मैने (एक) रोहू मछली के ज्योहि टुकडे टुकडे किये उसके पेट के भीतर रत्नो से चमकती हुई यह अँगूठी देखकर, बाद मे उसके बेचने के लिए

[जाणुअ विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिस्सअं। अंगुलीअअदसण से विमरिसिदव्व राअउलं एव्व गच्छामो।]

रक्षिणौ - तथा। गच्छ अरे गण्डभेदक। [तह। गच्छे अले गडभेदअ।]

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

दिखलाता हुआ मैं आप मान्यजनों द्वारा पकड़ लिया गया। मारिये अथवा छोड़िये। इसके मिलने का यह वृत्तान्त है।

श्याल—जानुक (एक सिपाही का नाम) कच्चे मांस की गन्धवाला निश्चय ही यह गोह खाने वाला धीवर ही है। इसका अँगूठी पाना विचारणीय है, अच्छा, हम राजकुल को ही चलते हैं।

दोनों सिपाही—जैसी आज्ञा। अरे गिरहकट चल।

(सब घूमते हैं)

टिप्पणी

कल्पित—क्लृप्+क्त, **आगमवृत्तान्त**—मिलने की बात। **विस्रगन्धी**—विस्र शब्द का अर्थ अमरकोश के अनुसार कच्चे मांस की गन्धवाला है 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्" इस प्रकार जब विस्र का ही अर्थ कच्चे माँस की गन्धवाला है तब विस्र शब्द के आगे गन्ध शब्द का प्रयोग अनावश्यक प्रतीत होता है, सम्भवतः कालिदास के समय विस्र शब्द का प्रयोग केवल कच्चे मांस के ही अर्थ में प्रचलित रहा होगा पर अमरकोशकार अमरसिंह के समय इसका अर्थ कच्चे मांस की गन्धवाला हो गया होगा, इसीलिए यह भिन्नता है। विस्रस्य गन्धः अस्ति अस्येत्यर्थे विस्रगन्ध शब्दात् मत्वर्थीय इनि। **गोधादी**—गोधाम् अत्तु शीलमस्येत्यर्थे गोधा+अद् भक्षणे धातोः कर्तरि ताच्छील्ये णिनिः इति णिनि प्रत्यय गोधादी, किन्तु "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" सूत्र से यहाँ णिनि प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि गोधा शब्द जातिवाचक है, गोधा या गोह एक छोटा सा जीव होता है जो कि जंगलों में खोह में रहता है, धीवर प्रायः इसे मानकर खाते हैं, अतः यहाँ पौनःपुन्य अर्थ में णिनि प्रत्यय मानना संगत होगा। पौनःपुन्येन गोधाम् अत्तीत्यर्थ गोधाम्+अद्भक्षणे धातोः 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' सूत्र से णिनि प्रत्यय होकर गोधादी रूप बनेगा अर्थात् बार-बार गोधा को खाने वाला। कुछ टीकाकारों ने इसे अपाणिनीय प्रयोग मानकर इसके स्थान पर जो गोघाती पाठ माना है वह सर्वथा असंगत है क्योंकि धीवर लोग कभी गोहत्या नहीं करते और न गोमांस ही खाते हैं अतः गोधादी ही प्रयोग ठीक है। **मत्स्यबन्ध**—मत्स्यान् बध्नातीत्यर्थ मत्स्य+बन्ध धातोः अण् प्रत्यय। **विमर्शयितव्यम्**-वि+मृश्, णिच्+तव्यत्—विचारणीय। **गण्डभेदक** गण्ड अर्थात् गांठ को काटने वाला गण्डं ग्रन्थि भिनत्ति—गण्ड+भिद्+ण्वुल्—गिरहकट=चोर। अन्यत्र ग्रन्थिभेदक ग्रन्थिच्छेदक भी पाठ मिलता है।

श्याल—सूचक, इम गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयत यावदिद-मङ्गुलीयक यथागमन भर्तुर्निवेद्य तत शासन प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि। [सूअअ, इम गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालह जाव इम अगुलीअअ जहागमण भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासण पडिच्छिअ णिक्कमामि।]

उभौ—प्रविशत्वावुत्त स्वामिप्रसादाय। [पविशदु आवुत्ते शामिप-शादश्श।]

(इति निष्क्रान्त श्याल)

प्रथम—जानुक, चिरायते खल्वावुत्त। [जाणुअ, चिलाअदि क्खु आवुत्ते।]

द्वितीय—नन्ववसरोपसर्पणीया राजान। [ण अवशलोवशप्पणीआ लाआणो।]

प्रथम—जानुक, स्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनस पिनद्धुम्। [जाणुअ, फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहश्श शुमणा पिणद्धु।]

(इति पुरुष निर्दिशति)

पुरुष—नार्हति भावोऽकारणमारण भावयितुम्। [ण अलुहदि भावे अकालणमालण भविदु।]

द्वितीय—(विलोक्य) एष न स्वामी पत्रहस्तो राजशासन प्रतीक्ष्ये-तोमुखो दृश्यते। गृध्रबलि भविष्यसि, शुनो मुख वा द्रक्ष्यसि। [एशे अम्हाण शामी पत्तहत्थे लाअशाशण पडिच्छिअ इदोमुहे देखीअदि। गिद्धबली भविश्शशि। शुणो मुह वा देक्खिश्शशि।]

श्याल—सूचक, इस (धीवर की) नगर द्वार पर सावधान होकर देखभाल करना, जब तक कि मैं इस अगूठी के मिलने का यथावत् समाचार राजा से बताकर और उनकी आज्ञा प्राप्त करके आता हूँ।

दोनो सिपाही—आप महाराज की कृपा प्राप्त करने के लिये प्रवेश कीजिये।

(श्यालक का प्रस्थान)

पहला सिपाही—जानुक, श्यालक (कातवाल साहब) विलम्ब कर रहे है।

दूसरा सिपाही—वस्तुत राजाओ के पास अवसर पाकर ही पहुँचा जाता है (अर्थात् राजाओ के पास उचित अवसर पाकर ही पहुँचा जा सकता है, सर्वदा नही)

पहला सिपाही—जानुक, मेरे हाथ इसके वध के लिये इसे फूलो की माला पहनाने के लिए फडक रहे हैं।

(यह कहकर धीवर की ओर सकेत करता है)

पुरुष—आपका, मुझे बिना कारण ही वध के लिए सोचना, उचित नही है।

दूसरा सिपाही—(देख कर) यह हमारे स्वामी पत्र हाथ मे लिये हुये, राजा का आदेश प्राप्त करके इधर की ओर मुह किये हुये (आते) दिखलाई पड रहे है। (तू अब) गिद्धो की बलि (भोजन) बनेगा अथवा कुत्ते का मुह देखेगा।

(प्रविश्य)

श्याल—सूचक, मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्न खल्वस्याङ्गुलीयकस्यागम। [सूअअ, मुचेदु एसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु से अगुलीअअस्स आअमो।]

सूचक—यथावुत्तो भणति। [जह् आवुत्ते भणादि।]

द्वितीय—एष यमसदन प्रविश्य प्रतिनिवृत्त। [एशे जमशदण पविशिअ पडिणिवुत्ते।]

(इति पुरुष परिमुक्तवन्धन करोति।)

टिप्पणी

गोपुरद्वारे—नगर के मुख्य द्वार पर 'पुरद्वारन्तु गोपुरम् इत्यमर" इस कोश के अनुसार नगर का मुख्यद्वार गोपुर कहा जाता हे। गोपायति पुरम—गुप् +उरच प्रत्यय=जा नगर की रक्षा करता हे। पुरमात्रेऽपि गोपुरम्' इस कोश के अनुसार गोपुर शब्द का अथ केवल नगर भी होता है अत गोपुरद्वार का अथ है, नगर का मुख्य द्वार। गवा पुरम गोपुरम--जहा गाये बाधी जाती हैं, पर यहाँ गोपुरद्वार का अथ नगर का मुख्य द्वार ही हे। अथवा इसका अथ गोपुर नामक द्वार पर भी हो सकता है, नगर के प्रवेश द्वारो मे से एक गोपुरद्वार। **अप्रमत्तौ**—प्र+मद्+क्त कर्तरि—प्रमत्त यहाँ 'न ध्याख्याप मूर्च्छिमदाम" सूत्र नियम से प्रत्यय का नकारादेश नही होता—न प्रमत्त अप्रमत्त—सावधान। **प्रतिपालयतम**—'प्रति +पालि का अथ प्रतीक्षा करना होता है पर यहा इसका अथ निगरानी करना है जिससे कि चार भाग न जाये। भतृ=राजा के लिए राजकमचारी एव नागरिक भर्ता=पालन कता शब्द का प्रयोग करते है। **शासनम**—राजाज्ञा को **प्रतीक्ष्य**=प्रति+ईक्ष+क्त्वा—ल्यप=प्रतीक्षा करके पर यहा इसका अभिप्राय है—प्राप्त करके, 'प्रतीष्य' भी पाठ है—प्रति+इष+क्त्वा—ल्यप=लेकर। **स्वामिप्रसादाय**—स्वामिन प्रसाद तस्मै, स्वामिन प्रसाद प्रसन्नता कृपा वा लब्धुम, अत्र क्रियार्थोपपदस्येति चतुर्थी। **चिरायते**—चिरमस्त्य स्येत्यर्थे चिर+अच्=चिर स इवाचरतीत्यर्थे चिर+क्यङ्+लट् आत्मने पदम्। **उपसर्पणीया**—उप+सृप+अनीयर। **सुमनस पिनद्धुम**—प्राचीन काल मे राजनियमानुसार अपराधी को लाल पुष्पा की माला पहना कर फाँसी दी जाती थी। यहा सुमनस का अथ पुष्प माला ह। "दत्तकरवीरदामा" पितृवनसुमनोभि र्वेष्टितम' मच्छकटिक) **पिनद्धुम**—पहनाने के लिए 'आमुक्त प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापि नद्धवत्" अमरकाश। **गृध्रवलि**—गध्रेभ्यो बलि—प्राचीनदण्ड प्रथा के अनुसार अपराधी का फासी देकर उसके शव को गीधो को खिला दिया जाता था। **शुनोमुखम**—कुत्ता का मुख—अथवा अपराधी का आधा गाड कर कुत्ते छोड दिये जाते थे और वे उसे जीवित ही खा जाते थ।

(प्रवेश करके)

श्याल—सूचक, इस जालोपजीवी (मछलियो को पकडकर) जीविका चलाने वाले (धीवर) को छोड दो। इस अँगूठी के मिलन का वृत्तान्त सत्य है।

पुरुष —(श्याल प्रणम्य) भर्त , अथ कीदृशो म आजीव [भट्टा अह कीलिशे मे आजीवे]

श्याल —एष भर्त्राङगुलीयकमूल्यसमित प्रसादोऽपि दापित । [एसो भट्टिणा अडगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो ।]

(इति पुरुषाय स्व प्रयच्छति ।)

पुरुष —(सप्रणाम प्रतिगृह्य) भत अनुगृहीतोऽस्मि । [भट्टा, अणुग्गहिद म्हि ।]

सूचक —एष नामानुग्रहो यच्छूलादवताय हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापित । [एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे ।]

जानुक —आवुत्त, पारितोषिक कथयति, तेनाङगुलीयकेन भतु समतेन भवितव्यम् । [आवुत्त, पालिदोशिअ कहेदि, तेण अगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्व ।]

सूचक—जैसी आपकी आज्ञा ।

दूसरा सिपाही—यह यमलोक म पहुँचकर लौट आया हे ।

(यह कहकर धीवर को ब धन से छोड देता है)

पुरुष—(श्याल का प्रणाम करके) स्वामी, (अब कहिये) मेरी आजीविका कैसी है ?

श्याल—महाराज न अँगूठी के मूल्य के बराबर का यह पारितोषिक भी दिलवाया है ।

(यह कहकर पुरुप को धन देता हे)

पुरुष— (प्रणाम पूवक (धन) लेकर) स्वामी म अनुगहीत हू ।

सूचक—वस्तुत यह अनुग्रह ही ह कि इसको शूली पर से उतार कर हाथी की पीठ पर बैठा दिया गया है ।

जानुक—श्रीमन्, पारितोपिक यह बतलाता है कि यह अँगूठी महाराज का बहुत प्रिय होनी चाहिए ।

टिप्पणी

मुच्यताम्—मुच् कमणि लाट । **जालोपजीवी**–जालेन उपजीवते, जीव +णिनि । **उपपन्न** —उप +पद्+क्त 'रदाभ्यामिति' प्रत्ययस्य धातोश्च च नत्वम=सत्य प्रमाणित हुआ । **आगम** =प्राप्ति । यमसदनम=यमलोक, अभिप्राय यह कि इसका वस्तुत मृत्युदण्ड मिलना था परन्तु यह निर्दोष मुक्त हो गया **कीदृश** =श्यालक ने विशुद्ध इदानीमाजीव" कहकर धीवर पर व्यग्य किया था, अब निर्दोप प्रमाणित होने पर धीवर भी उस पर व्यङ्ग्य करता हुआ कहता है कि अब बतलाइये मेरी जीविका कैसी है ? **अङ गुलीयकमूल्यसमित** —अङ्गुलीयकस्य मूल्येन समित । अगूठी के मूल्य के बराबर (समित =तुल्य) मूल शब्द स नावगाहम' इत्यादिना आनाम्यस्

श्याल—न तस्मिन् महार्हे रत्ने भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि । तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः । मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्यश्रुनयन आसीत् । [ण तस्सि महारुहे रदणे भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि । तस्स दसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो । मुहुत्तअं पकिदिगम्भीरो वि पज्जस्सुणअणो असि ।]

सूचक—सेवित नामावुत्तेन । [शेविद णाम आवुत्तेण ।]

जानुक—ननु भण । अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति । [ण भणाहि । इमश्श कए मच्छिआ भत्तुणो त्ति ।]

(इति पुरुषमसूयया पश्यति ।)

पुरुष—भट्टारक, इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु । [भट्टालक, इदो अद्धं तुम्हाणं शुमणोमुल्लं होदु ।]

जानुक—एतावद् युज्यते । [एत्तके जुज्जइ ।]

श्याल—धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यक इदानीं मे संवृत्तः । कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते तच्छौण्डिकापणमेव गच्छाम । [धीवर, महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो । कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि । ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(इति प्रवेशकः)

अर्थात् शेषीकरणीयम् अर्थ में यत् प्रत्यय । **प्रसाद**—पुरस्कार, प्र+सद्+घञ । **दापित**—दा+णिच् कर्मणि क्त । मेरे द्वारा दिलवाया है । **प्रतिष्ठापित**—प्रति+स्था+णिच् कर्मणि क्त, उपसर्गात्सुनोतीत्यादिना षत्वम् । **पारितोषिकम्**—परि+तुष+घञ—परितोष=हार्दिक सन्तोष परितोष प्रयोजनं अस्येत्यर्थे ठञ प्रत्यय (इक वृद्धि अकारलोप—पारितोषिकम् जो हार्दिक सन्तोष देने वाला हो ।

श्याल—मैं तो ऐसा समझता हूँ कि उस (अँगूठी) में बहुमूल्य रत्न महाराज को अधिक प्रिय नहीं था । (अपितु) उसके दर्शन ने महाराज को किसी इष्टजन की याद दिला दी थी । (अतएव) स्वभाव से गम्भीर होने पर भी (महाराज) क्षणभर के लिए अश्रुपूर्ण नेत्र वाले हो गये थे अर्थात् उनकी आँखों में आँसू भर आए थे ।

सूचक—वस्तुतः आपने (राजा की अच्छी) सेवा की है ।

जानुक—यह कहो, कि इस मछुआ के स्वामी धीवर के लिए (सेवा की है, अपने लिए नहीं ।)

(यह कहकर धीवर को ईर्ष्या से देखता है)

पुरुष—स्वामी, इसमें से आधा भाग आप लोगों की (पूजा के लिए) पुष्पों का मूल्य रूप हो । अर्थात् आप लोगों ने जो मेरा राजा को दे आर पद दिलवाया है अतः आप लोग मेरे पूज्य हैं, पूज्यजनों की पूजा के लिए पुष्प अपेक्षित हैं अतः यहाँ

उनके स्थान पर फूलों के मूल्य रूप मे मैं आपको इस धन का आधा भाग दे रहा हूँ।)

जानुक—इतना ठीक है।

श्याल—धीवर, अब तुम हमारे बहुत बडे प्रियमित्र हो गये हो, (अत) हमारी प्रथम मित्रता, कादम्बरी (शराब) को साक्षी करके होनी चाहिए, अत अब हम लोग शराब बेचने वाले की दुकान पर ही चले।

(यह कहकर सबका प्रस्थान)

टिप्पणी

दर्शनेन अभिमत जन स्मारित—प्रेरणार्थक प्रयोग अर्थात् अँगूठी के देखने ने इष्ट जन की याद दिलाई। अभिमत =अभि+मत् मतिबुद्धीति वर्तमाने क्त, क्तस्य च वर्तमाने—इति भर्तुरित्यत्र षष्ठी। स्मृ+णिच+क्त—स्मारित। **पर्यश्रुनयन**—परिगतानि अश्रूणि ययोस्ते पर्यश्रुणी तादृशे नयने यस्य स। **मात्स्यिकभर्तु**—मत्स्यान् घ्नन्तीत्यर्थे "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति" इति ठक (इक) वृद्धि—मात्स्यिका तेषा भर्ता पालक तस्य, कुछ टीकाकारो ने 'मत्स्यै र्जीवन्ति मात्स्यिका भी विग्रह किया है। **असूयया**—ईर्ष्या से क्योकि पारितापिक धीवर को मिला था, सिपाहियो को नही, अत सिपाहियो को ईर्ष्या होना स्वाभाविक था। **सुमनोमूल्यम**—फूलो के मूल्य स्वरूप, सुमनस् का अर्थ दयालुता सद्भाव आदि भी होता है, अत इसका अर्थ होगा कि आपकी मुझ पर दयालुता के मूल्य स्वरूप 'क्वचित् सुरामूल्यमित्यपि पाठ। कादम्बरीसाक्षिकम्=मदिरा को साक्षी बनाकर, क्वचित् 'कादम्बरीसखित्वमित्यपि पाठ' कुत्सितम् अम्बर वस्त्र यस्य स कदम्बर तस्येय कादम्बरी कदम्बर+अण+ङीप। **शौण्डिकापणम्**—शुण्डा सुरा पण्यम् अस्य इत्यर्थे तदस्य पण्यमिति ठक इक वृद्धि—शौण्डिक—शराब बेचने वाला, आपण=दुकान। शुण्डा का अर्थ सुरा होता है 'शुण्डा पानगृहे मता।"

(यहा प्रवेशक समाप्त हुआ)

"प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्र प्रयोजित। अङ्कद्वयान्त विज्ञेय शेष विष्कम्भके यथा" सा० द०। प्रवेशक' सदा दो अको के बीच मे रखा जाता है और यह भूत और भावी कथाओ का सूचक होता है, इसके पात्र निम्न श्रेणी के व्यक्ति होते हे और वे प्राकृत ही बोलते है।

इस प्रवेशक से तत्कालीन वैदिकी हिसा के विषय मे तो सूचना मिलती ही है, साथ ही चौर्यापराध के लिए कठोर दण्ड एव रक्षाधिकारियो के जीवन एव उनके आचरण, मद्यपान, घूस लेना, व्यवहार, आदि का भी पता चलता है, इस दृष्टि से भी यह प्रवेशक उपयोगी है।

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सरा ।)

सानुमती—निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसान्निध्यं यावत् साधुजनस्याभिषेककाल इति । साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि । मेनकासबन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि । (समन्तादवलोक्य) किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते । अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम् । किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः । भवतु, अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये ।

[णिव्वत्तिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति । संपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरिस्सं । मेणआसबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला । ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्वम्हि । किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ । अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं । किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्वो । होदु, इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं ।]

(इति नाट्येनावतीर्य स्थिता ।)

(इसके बाद विमान से सानुमती नामक अप्सरा का प्रवेश)

सानुमती—साधुजनों के स्नान के समय तक, अप्सरस्तीर्थ के सामीप्य में बारी-बारी से उपस्थित रहने के नियम को (आज) मैंने पूरा कर लिया है । (अतः) अब मैं इस राजर्षि दुष्यन्त के वृत्तान्त को (स्वयं) देखूँगी । मेनका से (उसका) सम्बन्ध होने से (अब) शकुन्तला (भी) मुझे स्वशरीरवत् प्रिया है । और उसने अपनी पुत्री के लिये पहले ही कह रखा है (कि मैं उसकी देख भाल रखूँ) (चारों ओर देख कर) क्या बात है कि (वसन्त) ऋतु के उत्सव के उपस्थित होने पर भी राजपरिवार उत्सवारम्भ रहित सा दिखलाई पड़ता है । ध्यान से ही सब कुछ जान लेने के लिये मुझ में सामर्थ्य है । किन्तु सखी के सादर अनुरोध को भी मुझे मानना चाहिये । अच्छा, तो इन ही उद्यान रक्षिकाओं की समीपवर्तिनी होकर, तिरस्करिणी विद्या से अपने को अदृश्य रखती हुई, (सब समाचार) प्राप्त करूँगी ।

(विमान से उतरने का अभिनय करके स्थित हो जाती है)

टिप्पणी

आकाशयानेन—यात्यनेनेत्यर्थे याधातोः करणे ल्युट यानम्–सवारी, आकाशयान-आकाशगामी यान अर्थात् विमान । अथवा, आकाशयान का अर्थ आकाश मार्ग या आकाश गमन भी हो सकता है क्योंकि अप्सराओं में पक्षियों की भाँति आकाश में उड़ने की शक्ति थी । **पर्यायनिर्वर्तनीयम**—बारी-बारी से वहाँ उपस्थित रहने का नियम—अप्सरस्तीर्थ की संरक्षिकायें अप्सरायें थीं अतः वहाँ प्रति दिन एक अप्सरा को तब तक

(ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी ।
अपरा च पृष्ठतस्तस्याः ।)

प्रथमा—

आताम्रहरितपाण्डुर जीवित सत्य वसन्तमासस्य ।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वा प्रसादयामि ॥२॥
[आतम्महरिअपडुर जीविद सत्त वासन्तमासस्स ।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमगल तुम पसाएमि ॥]

उपस्थित रहना पडता था जब तक साधुजन वहा स्नान करे, जिससे कि उनके स्नान म कोई बाधा न हो। परि -इण धाता 'परावनुपात्ययइण" इति घञ्, वृद्धि पर्याय तेन निवतनीयम्—निर- वत्=अनीयर। **सान्निध्यम**—सम्+नि+धा+कि—सन्निधि तत भावे ष्यञ । **उदन्तम**—उद्गत प्राप्न अन्त घटनावसर यस्य स उदन्त—समाचार। **प्रत्यक्षीकरिष्यामि**—अक्ष्णा प्रति—प्रति+अक्षि—समासान्तष्ट च प्रत्यक्षम् अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष करिष्यामीत्यर्थे च्विप्रत्यय । **मेनकासम्बधेन**—इसका यह अथ हो सकता है कि मेनका के साथ मेरा मैत्रीसम्बन्ध होने से । **शरीरभूता**-शरीरस्य भूता—तुल्या अर्थात् शरीरस्वरूपा शरीरसमाना वा। अथवा अशरीर शरीर भूतेत्यर्थे श्रेण्यादय कृतादिभि' से समास होगा क्योकि यह गण आकृतिगण है अथवा इसे शिष्ट प्रयोग माना जा सकता है जैसा कि अन्यत्र भी "आश्रमललाम भूतामित्यादिस्थल मे देखा जाता है प्रणिधान=ध्यान शक्ति, यह देवयोनियो, अप्सराओ और योगियो को प्राप्त होती है जो कि ध्यान से ही भत, भविष्यत्काल की बात जान लेते है। **आदर**—आ+द+अप्—यहा इसका अथ सादर अनुरोध है। **तिरस्करिणी**—अदृश्य हो जाने की विद्या, तिरस्करिणी विद्या प्राप्त व्यक्ति को तो कोई नही देख पाता पर वह सबको देखता सुनता रहता है। तिरस्कृ णिनि+ङीप निपातनात् वृद्धय भाव अथवा सज्ञापूवको विधिरनित्य ।

(इसके बाद आम्रमञ्जरी को देखती हुई एक दासी का और उसके पीछे
दूसरी दासी का प्रवेश)

पहली दासी—

आताम्रेति अन्वय—आताम्रहरितपाण्डुर, वसन्तमासस्य सत्यम् जीवित, चूतकोरक दृष्ट असि (हे) ऋतुमङ्गल (अहम) त्वाम् प्रसादयामि।

शब्दार्थ—आताम्रहरितपाण्डुर=कुछ कुछ लाल हरित एव श्वेत वर्ण वाले वसन्तमासस्य सत्यम् जीवित= बसन्त मास के वस्तुत जीवनस्वरूप चूतकोरक= आमवृक्ष के बौर दृष्ट असि=(तुम मुझे आज) दिखलाई पडे हो। ऋतुमङ्गल हे ऋतु (बसन्त ऋतु) के मङ्गलरूप! त्वाम् प्रसादयामि=(मै) तुमको प्रसन्न करती हूँ।

अनुवाद—कुछ-कुछ लाल हरित एव श्वेतवर्ण वाले बसन्तमास के वस्तुत

द्वितीया—परभृतिके, किमेकाकिनी मन्त्रयसे? [परहुदिए, कि एआइणी मन्तेसि?]

प्रथमा—मधुकरिके, चूतकलिका दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति। [महुअरिए, चूदकलिअ देक्खिअ उन्मत्तिआ परहुदिआ होदि।]

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) कथमुपस्थितो मधुमास? [कह उवट्ठिदो महुमासो?]

जोवनस्वरूप हे आम्र क बार (तुम मुझे आज) दिखलाई पडे हो ह बसन्त ऋतु के मङ गलरूप (मै) तुमको प्रसन्न करती हूँ।

भावाथ—अग्रभाग म कुछ लाल तथा अयत्र हरित एव पाण्डुर वण की आम्रमञ्जरी को जाकि अय बासन्तिक पुष्पा के रहते हुय भी बसन्त मे सर्वोत्तम मानी जाती है अत वह बसन्त का जीवन सवस्व कही जाती है सम्बाधित करते हुये चेटी कहती है कि आज तुम चिरप्रतीक्षा के बाद दिखलाई पडे हो अत मै तुमको प्रसन्न करती हूँ अर्थात् तुम प्रसन्न हो इसलिय मै तुम्हे प्रणाम करती हूँ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य म स्वभावोक्ति एव रूपक अलकार है तथा आर्या जाति छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—आताम्रहरितपाण्डुर=ईषद्रक्तहरितश्वेतवर्णे समन्वित वसन्तमासस्य=चैत्रमासस्य सत्यम्—वस्तुत जीवित—जीवनस्वरूप, चूतकोरक= आम्रकोरक, दृष्ट—अवलोकित असि, हे ऋतुमङ गल—वसन्तर्तो मङ्गलस्वरूप, त्वाम् प्रसादयामि—अह त्वा प्रीणयामि।

सस्कृत सरलाथ—आम्रकोरक मवलोक्य चेटी कथयति—हे आम्रकोरक! वसन्ततमङ्गलस्वरूप! त्वमद्य मया चिरादवलोकितोऽसि, त्वमसि वस्तुत वसन्त मासस्य प्राणस्वरूप अय च लोहितहरितश्वेत वण किञ्चित् समन्वित, अह प्रसादनाय त्वा प्रीणयामि।

टिप्पणी

आताम्रेति—प्रस्तुत पद्य मे आ=ईषद का सम्बन्ध तीनो ही वर्णों से है, पाण्डुर शुक्लपीतक, कुछ पीलापन लिये हुये शुक्ल वण पाण्डुर कहलाता है यहाँ पाण्डु शब्द से मत्वथ मे र प्रत्यय होता है—ताम्रश्चासौ हरितश्च पाण्डुरश्चेति वर्णो वर्णेनेति कमधारय आ के साथ इनमे सुप्सुपा से समास हो गया। ताम्र गुण अस्येत्यर्थे मतुप प्रत्यय तस्य 'गुण वचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ट' मे लोप होकर ताम्र हरित आदि बनेगे।

बसन्तमासस्य—चैत्र और वैशाख इन दो महीनो को बसन्त ऋतु माना जाता है यहाँ बसन्त म तात्पय चैत्र मास से है इसी मास मे प्रथम आम्रमञ्जरी देखी जाती है।

दूसरी चेटी—परभृतिका तू क्या अकेली गुनगुना रही है?

प्रथमा—मधुकरिके, तवैदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम्। [महुअरिए, तव दाणि कालो एसो मदविब्भमगीदाण।]

द्वितीया—सखि, अवलम्बस्व मा यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। [सहि, अवलम्ब म जाव अग्गपादट्ठिआ भविआ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि।]

प्रथमा—यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य। [जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स।]

प्रथम चेटी—मधुकरिका, कोयल आम्रकली को देख कर मतवाली हो जाती है (अतएव मैं परभतिका भी मतवाली हो रही हूँ)।

दूसरी चेटी—(हर्षपूर्वक शीघ्र पास जाकर) क्या मधुमास आ गया है ?

प्रथम चेटी—मधुकरिका, अब तुम्हारे मतवाले विलासो और गीतो का यही समय है (मधुकरिका अर्थात् भ्रमरी इसी समय मतवाली विलासक्रीडायें एव मधुर गीत गाती है)।

दूसरी चेटी—सखी मुझे जरा सहारा दो जिससे कि मैं पैरो के अग्रभाग पर (पजो पर) खडी होकर आम्रकली को तोडकर कामदेव की पूजा करूँ।

प्रथम चेटी—यदि पूजा के फल का आधाभाग मुझे भी मिले (तो मैं तुम्हे सहारा दे सकती हूँ।

टिप्पणी

मधुकरिका और परभतिका के मुख्यार्थ क्रमश भ्रमरी और कोयल है पर यहाँ कवि ने इन दोनो का साभिप्राय प्रयोग किया है। इन दोनो चेटियो (सेविकाओ) के नाम भी यही है अर्थात् एक का नाम मधुकरिका और दूसरी का परभतिका है, यहाँ इन्ही दोनो का व्यङ्ग्यपूर्ण वार्तालाप है वे परस्पर एक दूसरे की सखी है। मधुकरिका एव परभतिका दोनो ही बसन्त ऋतु मे आनन्दित होती है अतएव बसन्त मे मधुर कोकिल ध्वनि सुनाई पडती हे और पुष्पो पर भ्रमरी गुञ्जार करती है। उक्त दोनो ही शब्द श्लिष्ट है मधुकर से स्वार्थ कन् और स्त्रीत्व विवक्षा मे ङीप् होकर मधुकरिका तथा परभत से भी इसी प्रकार परभृतिका होगा। **मदविभ्रमगीतानाम्**—विभ्रमाश्च गीताश्चेति विभ्रमगीता मदेन विभ्रमगीता तेषाम्। **अग्रपादस्थिता**—अग्रौ च तौ पादौ तयो स्थिता। कवि ने यहाँ इन दोनो के वार्तालाप मे प्रियम्वदा और अनसूया जैसा ही दोनो का भिन्न स्वभाव चित्रित किया है, परभतिका जहा हास्यप्रिय और अधिक बात करने वाली है वहाँ मधुकरिका गम्भीर और कम बोलने वाली है, दोनो का यह पारस्परिक स्नेह एव दोनो की वचनभङ्गिमा दर्शनीय है, इस प्रकार कवि ने यहाँ पचम अक के गम्भीर वातावरण को कुछ मनोरञ्जक बना दिया है और कथा सूत्र से सम्बद्ध कर दिया है।

द्वितीया—अकथितेऽप्येतत् सपद्यते। यत एकमेव नौ जीवित द्विधा स्थित शरीरम्। (सखी मवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुर गृह्णाति।) अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसबोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभि भवति।

(इति कपोतहस्तक कृत्वा)

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्त कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्य पञ्चाभ्यधिक शरो भव ॥३॥

[अकहिदे वि एद सपज्जइ। जदो एक्क एव्व णो जीविद दुधाट्ठिद सरीर। अए, अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवा एत्थ बन्धणभगसुरभी होदि।

तुम सि मए चूदकुर दिण्णो कामस्स गहीद धणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पचाब्भहिओ सरो होहि ॥३॥]

(इति चूताङ्कुर क्षिपति)

दूसरी चेटी—बिना कहे हुए भी ऐसा यही होता है। क्योंकि हम दोनो के प्राण एक [illegible] शरीर [illegible] अलग अलग स्थित है। (सखी का सहारा लेकर खडी होकर आम्रमञ्जरी को [illegible] है,) अरे पूर्ण विकसित न हुआ भी यह आम का बौर अपने [illegible] पर सुगन्धित हो रहा है। (यह कहकर कपोताकार हाथो को जोड़कर)

[illegible] अन्वय—हे चूताङ्कुर! त्वम् मया गृहीतधनुषे कामाय दत्त असि। पथिकजनयुवतिलक्ष्य पञ्चाभ्यधिक शर भव

शब्दार्थ—चूताङ्कुर—हे आम के बौर त्वम् मया—तुम मेरे द्वारा, गृहीतधनुषे कामाय = धनुर्धारी कामदेव का दत्त असि=समर्पित किये गये हो। पथिकजनयुवतिलक्ष्य = पथिकजनो की युवतियो के लक्ष्य वाले, पञ्चाभ्यधिक शर भव—(कामदेव के) पञ्च बाणो मे श्रेष्ठ बाण बनो।

अनुवाद—हे आम्रमुकुल! मैंने तुमको धनुष धारण करने वाले कामदेव को समर्पित कर दिया है (अत अब तुम) पथिको की युवतियो को (अपना) लक्ष्य बनाने वाले (कामदेव के) पाँच बाणो मे श्रेष्ठ बाण बनो।

भावार्थ—चेटी कहती है कि हे आम के बौर मैंने तुमको उस कामदेव को समर्पित कर दिया है जो कि मानिनी नायिकाओ के मान भग करने के लिए और प्रोषित भर्तृका नायिकाओ को अपने उन्मादक बाणो से पीड़ित करने के लिए प्रस्तुत खडा है अत अब तुम पथिकजनो की विरहिणी युवतियों को अपना लक्ष्य बनाकर कामदेव के प्रसिद्ध पाच बाणो मे सर्वश्रेष्ठ बाण बनो, जहाँ काम के वे अपने बाण कुण्ठित हो जायें वहाँ तुम उसकी सहायता करो।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे, यद्यपि कामदेव के पाच बाण ही प्रसिद्ध है तथापि आम्राङ्कुर रूप एक अतिरिक्त बाण की कल्पना की गई है अत यहाँ असम्बन्ध मे सम्बन्ध लक्षणा अतिशयोक्ति है और आर्या जाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—चूताङ्कुर—हे आम्रकोरक, त्वम् मया द्वितीयया उद्यान-पालिकया, गहीत धनुर्येन तस्मै गृहीतधनुषे=सज्जीकृतचापाय कामाय, दत्त असि=समर्पितोऽसि। पथिका पान्था च ये जना पथिकजना तेषा युवतय रमण्य एव लक्ष्य शव्य यस्य स—पथिकजनयुवतिलक्ष्य=प्रोषितभर्तृकाहृदयपीडक, पञ्चभ्य प्रसिद्धेभ्य अरविन्दादिपञ्चसख्यकेभ्य कामवाणेभ्य अभ्यधिक पञ्चवाणव्यतिरिक्त=सर्वश्रेष्ठ शर—वाण, भव।

संस्कृत सरलार्थ—द्वितीयोद्यानपालिका कथयति—हे आम्रकोरक! त्वमद्य मया मानिनीमानदलनशीलाय प्रोषितभर्तृकाणाञ्च हृदयोत्पीडकाय धृतचापाय मदनाय समर्पितोऽसि। अतोऽधुना त्व प्रोषितभर्तृकाणा हृदयोत्पीडक सन् तस्य कामस्य प्रसिद्धेभ्य अरविन्दादिपञ्चसख्यकवाणेभ्य व्यतिरिक्त सर्वश्रेष्ठ शर भव।

टिप्पणी

नौ=आवयो, जीवितम=जीवनम प्राणा वा **अप्रतिबुद्ध**—प्रति—वुध्+क्त—प्रतिवुद्ध=विकसित प्रफुल्लित, न प्रतिवुद्ध अप्रतिवुद्ध—जो खिला हुआ न हो **बन्धनभङ्ग सुरभि**—बन्धनात्—वृन्तात् भङ्गेन सुरभि—अपने डठल से टूटने पर जो सुगन्धित हो रहा है। **कपोतहस्तक कृत्वा**—कपोत इव स्थितौ हस्तौ यस्मिन् तत्—कपोतहस्तकम्। जब कोई किसी को प्रणाम आदि करता है तब अपने दोनो हाथो को इस प्रकार जोडता है कि हाथो का मूलभाग एव अग्रभाग तो जुड जाता है पर बीच मे कुछ अवकाश रह जाता है, इस प्रकार बीच के भाग के कुछ उठे होने के कारण ही इसे कपोताकार हस्तबन्धन कहते हैं "कपौतोऽसौ करौ यत्र श्लिष्ट मूलाग्रपार्श्वकौ" सगीत रत्नाकर। कपोताकार हस्तप्रयोग "भीतौ विज्ञापने चैव विनये च प्रयुज्यते"। प्रस्तुत पसग मे चेटी कामदेव के प्रसादन के लिये कपोताकार हाथ जोडकर विनय करती है। **गृहीतधनुषे**—गृहीत धनुर्येन तस्मै। वस्तुत यहाँ इस बहुव्रीहि समास मे 'धनुषश्च' सूत्र से समासान्त अनङ् होकर गृहीतधन्वने रूप बनना चाहिये था परन्तु समासान्त विधि के अनित्य होने से यहाँ अनङ् न होकर धनुषे भी शुद्ध है "समासान्त विधेरनित्यत्वान्नात्रानुपपत्ति। अन्य कवियो ने भी ऐसा प्रयोग किया किया है "धृतधनुष रघुनन्दन स्मरामि" उ० रामचरित। अश्वत्थामा करधृतधनु—वेणीसहार। **पथिकजनयुवतिलक्ष्य**—पन्थान गच्छतीत्यर्थे पथिन् शब्दात् ष्कन् (क)। पथिकाश्च ते जना तेषा युवतय लक्ष्य यस्य स। **पञ्चाभ्यधिक**—पञ्चानामभ्यधिक—पाँचो बाणो मे श्रेष्ठ कामदेव के पञ्चवाण—

(क) "अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चवाणस्य सायका।

(ख) सम्मोहनोन्मादौ च शोषणस्तापनस्तथा।
स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्चवाणा प्रकीर्तिता।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपित ।)

कञ्चुकी—मा तावत् अनात्मज्ञे ! देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्ग किमारभसे ?

उभे—(भीते) प्रसीदत्वार्य । अगृहीतार्थे आवाम् । [पसीददु अज्जो । अग्गहीदत्थाओ वअ]

कञ्चुकी—न किल श्रुत युवाभ्या यद् वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासन प्रमाणीकृत तदाश्रयिभि पत्रिभिश्च । तथाहि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्व रज,
सनद्ध यदपि स्थित कुरबक तत् कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुस्कोकिलानां रुतं,
शङ्के सहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्ट शरम् ॥४॥

अपने नाम के अनुसार ही ये बाण प्रभाव डालने वाले होते हैं । पञ्चाभ्यधिक का अर्थ किन्ही टीकाकारो ने षष्ठ बाण भी किया है । इससे वसन्त का उद्दीपकातिशय भी ध्वनित होता है ।

(यह कहकर आम्रमञ्जरी डाल देती है)

(परदे को एक ओर हटाकर क्रोध सहित प्रविष्ट होकर)

कञ्चुकी—अरी नासमझ, ऐसा न कर, महाराज के द्वारा वसन्तोत्सव के रोक दिये जाने पर तू आम्रमञ्जरी तोडना क्यो आरम्भ कर रही है ?

दोनों—(भयभीत होकर) आय आप क्षमा करें । हम दोनो को यह बात ज्ञात न थी ।

कञ्चुकी—क्या तुम दोनो ने नही सुना है कि वसन्त ऋतु के वृक्षो और उन पर रहने वाले पक्षियो ने भी महाराज की आज्ञा का पालन किया है । क्योकि—

चूतानामिति—अन्वय—चूतानाम् चिरनिगता अपि कलिका स्व रज न बध्नाति । कुरवकम् यदपि सन्नद्धम् तत् कोरकावस्थया स्थितम् । शिशिरे गते अपि पुस्कोकिलानाम् रुतम् कण्ठेषु स्खलितम् । शङ्के स्मर अपि चकित तूणार्धकृष्ट शरम् सहरति ।

शब्दार्थ—चूतानाम्=आम्रवृक्षो की, चिरनिर्गता अपि=बहुत समय से निकली हुई भी कलिका=कली, स्व रज न बध्नाति=अपना पराग धारण नहीं कर रही है । कुरवकम्=कुरवकपुष्प, यदपि=यद्यपि, सनद्धम्=विकसित होने के लिये प्रस्तुत (है परन्तु) तत्=वह, कोरकावस्थया स्थितम्=कली के रूप मे स्थित रह गया है । शिशिरे गते अपि=शिशिर ऋतु के बीत जाने पर भी, पुस्कोकिलानाम् रुतम=नरजातीय कोयलों की ध्वनि, कण्ठेषु स्खलितम्=(उनके) कण्ठों में ही अवरुद्ध (हो गई है) शङ्के=मैं सोचता हूँ कि, स्मर अपि=कामदेव भी, चकित=स्तब्ध होकर, तूणार्धकृष्ट शरम्=तूणीर से आधे निकाले हुये (अपने) बाण को, सहरति=(पुन) रोक लेता है ।

अनुवाद—आम्रवृक्षो की बहुत समय से निकली हुई भी कली अपने पराग को धारण नही कर रही है, कुरवक पुष्प यद्यपि विकसित होने के लिये प्रस्तुत है (तथापि) वह कली के रूप मे ही स्थित रह गया है। शिशिर ऋतु के बीत जाने पर भी नर-जातीय कोयलो की ध्वनि (उनके) कण्ठो मे ही अवरुद्ध (रह गई है) मै सोचता हूँ कि कामदेव भी स्तब्ध होकर तूणीर से आधे निकाले गये (अपने) बाण को (पुन) रोक लेता है।

भावार्थ—कञ्चुकी ने कहा था कि महाराज की आज्ञा का वासन्तिक वृक्षो ने एव उन पर रहने वाले पक्षियो ने भी, पालन किया है, अपनी इसी बात की पुष्टि करता हुआ वह कहता है कि आम्रवृक्षो मे यद्यपि बहुत समय से कलिया निकल आई है तथापि वे अब भी अपने स्वाभाविक पराग को धारण नही कर रही है। कुरवक पुष्प यद्यपि खिलने के लिये प्रस्तुत है तथापि वह राजाज्ञावश अब तक कली के रूप मे ही स्थित है विकसित नही हो रहा है, इसी प्रकार यद्यपि अब शिशिर काल समाप्त हो चुका है, वसन्त आ गया है, तथापि कोयलो की मधुर ध्वनि उनके गले मे ही रुकी हुई है, बाहर नही निकल रही है, इतना ही नही मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वय कामदेव भी इस राजाज्ञा को सुनकर स्तब्ध रह गया है अतएव वह अपने तूणीर से आधे ही निकाले गये बाण को पुन अपने तरकस मे ही बन्द कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि वसन्तोत्सव रोक देने की राजाज्ञा का प्रभाव न केवल वासन्तिक वृक्षो पुष्पो पर ही पडा है अपितु कोयलो की मधुर ध्वनि भी सुनाई नही पड रही है इतना ही नही, कामदेव भी राजाज्ञा से भयभीत एव चकित होकर अपने निकाले गये भी बाण को पुन तरकस मे बन्द कर रहा है।

प्रस्तुत पद्य के कलिका, कुरवकम्, रुतम् को जाति अर्थ मे एकवचन मानना चाहिये अर्थात् इनका अर्थ क्रमश कलिया, पुष्प और ध्वनिया है। प्रस्तुत पद्य के रज पदका अर्थ रजोदर्शन भी हो सकता है अत समासोक्ति अलकार के द्वारा इसका अर्थ यह भी होगा कि जैसे कोई बाला प्रौढा होकर भी रजोदर्शन (रजस्वला) भाव को प्राप्त नही करती उसी प्रकार कलिका भी अपने स्वाभाविक पराग को धारण नही करती। कञ्चुकी का आशय यह है कि जहाँ अचेतन वृक्षादि चेतन पक्षी आदि तथा महामहिमशाली कामदेव भी राजाज्ञा का पालन कर रहे है, वहा तुम लोगो ने राजाज्ञा न सुनी हो, ऐसा सम्भव नही। अतएव तुम अनात्मज्ञा अर्थात् अपनी स्थिति को न समझने वाली मूर्ख हो।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे "रज न बध्नाति" मे उक्त प्रकार से चेतन व्यवहार समारोपण द्वारा **समासोक्ति** अलकार, चिरनिर्गता आदि कारणो के रहते हुये भी परागादि कार्यो की उत्पत्ति का निषेध किया गया है, अत **मालाविशेषोक्ति** अलकार 'शङ्के' पद के प्रयोग से वाच्या **उत्प्रेक्षा** अलकार, प्रथम तीन चरणो के तीन वाक्य चतुर्थ चरणगत कामदेव के शरसहरणात्व मे कारण है अत वाक्यार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग** अलकार है छेक वृत्ति श्रुति **अनुप्रास**, शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—चूतानाम्=आम्रवृक्षाणाम्, चिरनिर्गता अपि=चिरादुद्भिन्ना अपि, कलिका=आम्रमञ्जरी, स्व रज=स्वकीय स्वाभाविक परागम्, न बध्नाति न धारयति । (यथा काचन वाला प्रौढावस्थाङ्गतापि रजोदर्शन न लभते तथैवाम्रमञ्जरी अपि पराग न धत्ते) कुरवकम=कुरवकपुष्पम, यदपि,=यद्यपि, सनद्धम आत्मविकासाय सज्जीभूतम (तथापि) तत्=कुरवक कुसुमम, कोरकावस्थया=कलिकारूपेण, स्थितम=अविकसितमेव स्थितम । शिशिरे गतेऽपि=शिशिरतौ व्यपगते वसन्तारम्भेऽपि, पुस्कोकिलानाम=(पुमासश्च ते कोकिला तेषाम) पुजातीयपिकानाम्, रुतम=कूजितम कण्ठेषु (तेषाम) गलविलेष एव, स्खलितम=समवरुद्धम । शङ्के=एतेनाह मन्ये, स्मरोऽपि=मदनोऽपि, चकित=स्तब्ध भयभीतो वा, तूणार्धकृष्टम्=स्वनिषङ्गादर्ध निष्कासित मपि, शर=वाणम, सहरति=पुनरेव स्वनिषङ्ग एव निक्षिपति ।

संस्कृत सरलार्थ—वसन्तोत्सवप्रतिषेधात्मिका राजाज्ञामनुरुध्य चिरादुद्भिन्नापि रसालकलिका स्वकीय स्वाभाविक पराग तथैव न समाधत्ते यथा काचन वाला प्रौढत्व मापन्नापि स्वकीय मवस्थानुरूप रजोदर्शन न लभते । कुरवककुसुममपि यद्यपि विकासाय सज्जीभूत तथापि राजाज्ञामनुसृत्य तत्तथैव कोरक रूपेणैवाविकसितावस्थायामेव स्थित मस्ति । पुस्कोकिलाना वसन्तारम्भेऽपि स्वकीय स्वाभाविक मधुर कूजित मपि तदीयगलविलभागेष्वेव समवरुद्ध न तत् वहिर्निगतम, एतत्सव मालक्ष्य मन्येऽह यत्मदनोऽपि भयभीत सन् स्वनिषङ्गादर्धमुद्धृतमपि स्वकीय शर पुनरेव स्वनिषङ्ग एव निक्षिपति ।

टिप्पणी

अपटीक्षेपेण—राजाज्ञा के विरुद्ध काय करती हुई उद्यानपालिकाओ को देखकर क्रुद्ध हुआ कञ्चुकी स्वय परदे को हटाकर सहसा प्रवेश करके कहता है, अतएव यहाँ पात्र प्रवेश की सूचना नही दी गई है । **अगृहीतार्थे**—न गहीत अथ याभ्या ते अगहीतार्थे—अथ=वात । **वासन्तिकै**—वसन्ते जाता इत्यर्थे वसन्ताच्चेति ठञ् इक । यह वस्तुत वैदिक प्रयोग है, कालिदास ने बहुत से वैदिक शब्दो का प्रयोग किया है उन्ही मे से यह भी एक प्रयोग है लोक मे वसन्त से अण प्रत्यय होकर वासन्त प्रयोग होगा । **कुरवकम् कु**=कुत्सित, रव=भ्रमर ध्वनि, कुरवक पुष्प मे अल्प मकरन्द होने के कारण इस पर भ्रमर गुञ्जार कम होती है । पुस्कोकिलानाम्—युवक कोयलो के । पुस्कोकिल की ही ध्वनि अधिक स्पष्ट होती है और बसन्त मे स्वभावत स्त्रीजाति की अपेक्षा पुरुष जाति मे ही अधिक मद होता है इसीलिये कवि ने सामान्य कोयल न कहकर कोकिल युवक का ही प्रयोग किया है । **सनद्धम**—सम्+नह्+क्त, रुतम=रु शब्दे +क्त ।

उभे—नास्ति सन्देह । महाप्रभावो राजर्षि । [णत्थि सदेहो । महा-प्पहाओ राएसी ।]

प्रथमा—आर्य, कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपाद-मूल प्रेषितयो । इत्थ च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम् । तदागन्तुकतया-ऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्त [अज्ज, कदि दिअहाइ अम्हाण मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूल पेसिदाण । इत्थ अ णो पमदवणस्स पालणकम्म समप्पिद । ता आअन्तुअदाए अस्सुदपुव्वा अम्हेहि एसो वुत्तन्तो ।]

कञ्चुकी—भवतु न पुनरेव प्रवर्तितव्यम् ।

उभे—आर्य, कौतूहल नौ । यद्यनेन जनेन श्रोतव्य कथयत्वार्य किंनिमित्त भर्त्रा वसन्तोत्सव प्रतिषिद्ध । [अज्ज, कोदूहल णो । जइ इमिणा जणेण सोदव्व कहेदु अज्जो किणिमित्त भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो ।]

सानुमती—उत्सवप्रिया खलु मनुष्या । गुरुणा कारणेन भवितव्यम् । [उस्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा । गुरुणा कारणेण होदव्व ।]

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत् किं न कथ्यते । किमत्र भवत्यो कर्णपथ नायात शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम् ?

उभे—श्रुत राष्ट्रियमुखाद् यावदङ्गुलीयकदर्शनम् [सुद रट्ठिअमुहादो जाव अगुलीअदसण ।]

दोनों—(इसमे कोई) सन्देह नही, राजर्षि दुष्यन्त महाप्रभावशाली हैं ।

पहली—आर्य, राजश्यालक मित्रावसु द्वारा महारानी के चरणो मे भेजी गइ हम दोनो को (अभी) कितने दिन हुये हैं ? और इस प्रकार हम दोनो को इस प्रमद वन की सुरक्षा का काम सौपा गया है । अत नवागन्तुक होने के कारण हमने यह समाचार पहले नही सुना है ।

कञ्चुकी—अच्छा, अब फिर ऐसा न करना चाहिये ।

दोनों—आय, हम दोनो को कुतूहलता है । यदि हम दोना यह सुन सकती हैं, तो आप कृपा कर कहे कि महाराज ने किसलिये बसन्तोत्सव रोक दिया है ?

सानुमती—मनुष्य (स्वभावत) उत्सवप्रिय होते हैं, अत (इस रोकने मे) कोई बडा कारण होगा ।

कञ्चुकी—यह बात बहुत फैली चुकी है, ता (इह भी) क्यो न बता दूँ । क्या आप लोगो ने शकुन्तला के परित्याग से (उत्पन्न) जननिन्दा (की बात) नही सुनी है (आपके कानो तक नही पहुँची है ?)

दोनों—हमने राजश्यालक के मुख से अँगूठी मिलन तक की (बात) सुनी है ।

टिप्पणी

नास्ति सन्देह —इस वाक्य मे उद्यानपालिका द्वारा राजा के लिए राजर्षि शब्द का प्रयोग कुछ सन्देहास्पद है, क्योकि दासी आदि राजा के लिए सवत्र देव, या भर्ता

कञ्चुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम्। यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात् प्रत्यादिष्टेति। तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथाहि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते,
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा,
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्॥५॥

का ही प्रयोग करती है, राजर्षि का प्रयोग नही, अत ऐसा प्रतीत होता है कि यह सानुमती का वाक्य है, चेटी का नही। कति दिवसानि—कितने दिन हुये है? इसका अर्थ "कई दिन हो चुके है" यह यहा पर प्रसगानुकूल न होने से ठीक नही है, जैसा कि अन्य टीकाकारो ने समझा है। दिवस शब्द का प्रयोग सामान्यत पुल्लिङ्ग मे ही होता है पर यह शब्द अर्धर्चादिगण मे होने से नपुसकलिङ्ग भी हो सकता है जैसा कि यहाँ इसका प्रयोग है। मित्रावसुना—मित्रावसु राजश्यालक का नाम है। राष्ट्रियेण राष्ट्रिय राजश्यालक का पर्यायवाची शब्द है "राजश्यालस्तु राष्ट्रिय" इत्यमर। राष्ट्रे अधिकृत राष्ट्रशब्दात् 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' सूत्रेण घ प्रत्यये तस्य इयादेशे श्रोतव्यम्—यदि यह बात हमारे सुनने योग्य हो तो। किं निमित्तम—निमित्तपर्याय प्रयोगे सब ही विभक्तियो का प्राय प्रयोग देखा जाता है। उत्सवप्रिया—उत्सवा प्रिया येषान्ते, उत्+सू+अप्—उत्सव, प्रिय शब्द के साथ समास होने पर 'वा प्रियस्य' वार्तिक से प्रिय शब्द का पूर्वा पर प्रयोग होता है, प्रियमण्डना, उत्सवप्रिय। बहुलीभूतम्=अबहुल बहुल भूतमित्यर्थे च्वि प्रत्यय। कौलीनम—कुले भव कुलीन कुल+ख—ईन, तस्य भाव इत्यर्थे कुलीन+अण् कौलीनम्—कुल की गोपनीय बात, यहाँ इसका अर्थ लोकनिन्दा है।

कञ्चुकी—तब तो बहुत थोडा ही कहना है, ज्योही अपनी अँगूठी को देखने से महाराज को (यह) स्मरण हुआ कि वस्तुत मैंने माननीया शकुन्तला से पहले एकान्त मे विवाह किया था और अज्ञान के कारण परित्याग कर दिया है, तब से लेकर ही महाराज पश्चात्ताप मे पड़ गये हैं क्योकि—

रम्यमिति-अन्वय—रम्य द्वेष्टि, यथा पुरा प्रकृतिभि प्रत्यहम् न सेव्यते। उन्निद्र एव शय्याप्रान्तविवतनै क्षपा गमयति। यदा दाक्षिण्येन अन्त पुरेभ्य उचितां वाचम् ददाति तदा गोत्रेषु स्खलत चिरम् व्रीडाविलक्ष च भवति।

शब्दार्थ—रम्यम् द्वेष्टि=रमणीक वस्तुओ से घृणा करते हैं। यथा पुरा=पहले की तरह, प्रकृतिभि=मन्त्रियो आदि से, प्रत्यहम=प्रतिदिन, न सेव्यते=नही मिलते हैं। उन्निद्र एव=(रातभर) जागते हुये ही, शय्याप्रान्तविवतनै=शय्या के किनारो पर करवट बदलते हुये ही, क्षपा गमयति=रात्रियाँ व्यतीत कर देते हैं। यदा—जब, दाक्षिण्येन=शिष्टता के कारण, अन्त पुरेभ्य=अन्त पुर की रानियो को,

उचिता वाच ददाति=उचित उत्तर (भी) देते है। तदा—तब गोत्रेषु स्खलित = नामोच्चारण म गलती कर देते ह (अथात् किसी रानी के नाम के स्थान पर गलती से जब शकुन्तला का नाम लेन है) (और तब) चिरम्=बहुत दर तक, व्रीडाविलक्ष च भवति। लज्जा से चिन्तित हा जाते हैं।

अनुवाद—(वह) रमणीक वस्तुओ मे घणा करत हे, पहले जैसे मन्त्रियो आदि से प्रतिदिन नही मिलते। (रातभर) जागते रहते हुय शय्या के किनारो पर करवटे बदलते ही रात्रिया व्यतीत कर देते है। जब शिष्टतावश अन्तपुर की रानियो का उचित (आवश्यक उत्तर (भी) देते ह तब नामोच्चारण (मे) गलती हो जाने से, (वह) देर तक लज्जा से चिन्तित हो जाते ह।

भावार्थ—राजा की पश्चात्ताप की स्थिति का वणन करता हुआ कञ्चुकी कहता है कि वह किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर प्रसन्न नही होते अपितु उससे घणा ही करते है जैसे वह पहले मन्त्रियो आदि से प्रतिदिन मिलते थे, उसी प्रकार अब नही मिलते अपने बिस्तर के किनारो पर करवटे बदलते हुये ही जागते हुय ही सम्पूर्ण रात्रिया बिता देते है। शिष्टतावश जब कभी वे अपने अन्तपुर की रानियो को किसी बात का अत्यावश्यक उत्तर भी देते है तो जब वे नामोच्चारण म गलती कर देते है अर्थात् किसी रानी के नाम के स्थान पर शकुन्तला के नाम का उच्चारण कर जाते है तब उन्हे बडी लज्जा होती है इससे वे बडे चिन्तित एव विक्षुब्ध हो जाते है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे पश्चात्ताप आदि का कारण न बता कर जो उनके कायभूत रम्य द्वेष्टि आदि का कथन किया गया है अत **पर्यायोक्त** अलकार, पश्चात्ताप के प्रतिपादक अनेक कारणो के उल्लेख होने से **समुच्चय** अलकार, व्रीडाविलक्ष का कारण गोत्रस्खलन बतलाया गया है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, छेक, वृत्ति **अनुप्रास**। उक्त विविध अनुभाव और चिन्ता विषादादि भावो से यहा विप्रलम्भ शृङ्गार व्यञ्जित होता है। प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, एव शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—रम्यम=मनोहारि—स्रकचन्दन गीतवादित्रादिकम द्वेष्टि=नाभिनन्दति अपितु द्रष्टुमपि नेच्छति यथा पुरा—पूर्ववत्, प्रकृतिभि=अमात्यादिभि, प्रत्यहम—प्रतिदिनम, न सेव्यते—राजकार्यसम्पादनाय नोपास्यते। शय्याया शयनीयस्य प्रान्तेषु उपान्तभागेषु विवर्तनानि परिलुण्ठनानि तै—शय्याप्रान्तविवर्तनै, उत्सृष्टा निद्रा येन स उन्निद्र=निद्राशून्य जागरित एव क्षपा=रात्री, विगमयति=अतिवाहयति। यदा दाक्षिण्येन=उदारतया शिष्टतया स्वावरयागोपनाय चातुर्येण वा अन्त पुरभ्य अवरोधस्थितकामिनीभ्य, उचिताम=तत्कालोचिताम अभ्यस्ता वा वाच ददाति=उत्तर प्रयच्छति तदा गोत्रेषु=नामसु, स्खलित=विपर्यस्त प्रभ्रष्ट वा शकुन्तलामयचित्तत्वात् अन्यस्या कामिन्या नामोच्चारणकाले शकुन्तलानामोच्चारणात् इत्यर्थ चिर=बहुकाल यावत् व्रीडाविलक्ष=व्रीडया लज्जया विलक्ष विलक्ष विस्मयान्विता वा च, भवति जायते।

सानुमती—प्रियं मे। [पिअं मे।]

कञ्चुकी—अस्मात् प्रभवतो वैमनस्यादुत्सव प्रत्याख्यात ।

उभे—युज्यते। [जुज्जई।]

(नेपथ्ये)

एतु एतु भवान्। [एदु एदु भव।]

कञ्चुकी—(कर्णं दत्त्वा) अये, इत एवाभिवर्तते देव। स्वकर्मानुष्ठीयताम्।

उभे—तथा। [तह।]। (इति निष्क्रान्ते।)

संस्कृत सरलार्थ—राज्ञो दुष्य नस्य पश्चात्तापस्थिति वर्णयन् कञ्चुकी कथयति यत् स राजा इदानी रम्यवस्तूनि शकुन्तलाविरहदु खातिरेकाच्चक्षषाप्यवलोकयितु नेच्छति, यथा पूर्व स राज्यामात्यादिभिरपि प्रतिदिन राज्यकार्यविधानाय नोपास्यते रात्रिषु शयनीयोपान्तभागेषु परिलुण्ठनै व्यपगतनिद्र एव गम्भीरपवाहयति। यदा शिष्टतावशेन स्वकीयान्त पुरकामिनीभ्य स्तत्कालोचित मुत्तरमपि ददाति तदा अन्यनामोच्चारण काले शकुन्तला नामोच्चारणात् बहुकाल यावत् लज्जाविस्मयान्विता जायते।

टिप्पणी

ऊढपूर्वा—पूर्वम ऊढा—ऊढपूर्वा सुप्सुपेति समास। **प्रकृतिभि**—प्रकृति का अर्थ मन्त्री और प्रजाजन भी होता है। **विगमयति**—वि+इण+णिच लट—णौ गमिर-बोधने' इ इत्यस्य गमादेश। **दाक्षिण्येन**—दक्षिणस्य भाव दाक्षिण्यम, दक्षिण नायक का लक्षण है "एषु त्वनेकमहिला समरागोद क्षिण कथित"। अन्त पुरेभ्य—यहाँ लक्षणा द्वारा अन्त पुर का अर्थ अन्त पुरस्थित रानिया है। **गोत्रेषु**—गोत्र का अर्थ नाम है, गोत्रस्खलन का अर्थ है नाम भूल जाना। गोत्रस्खलन संस्कृत कवियो को बडा प्रिय रहा है अत अन्य कवियो ने भी इसका उल्लेख किया है "स्मरसि स्मरमेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्। कु० स०। जगाद गोत्रस्खलितम्—नैषध।

सानुमती—यह बात मेरे लिए अतिप्रिय है।

कंचुकी—इस प्रबल मानसिक ग्लानि के कारण महाराज ने उत्सव रोक दिया है।

दोनो—यह उचित है।

(नेपथ्य में)

आप इधर से आइये, इधर से।

कंचुकी— (कान लगाकर) आह, महाराज इधर ही आ रहे है (जाओ) अपना काम करो।

दोनो—बहुत अच्छा। (दोनो का प्रस्थान)

(तत प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा
विदूषक प्रतीहारी च।)

कञ्चुकी—(राजानमवलोक्य) अहो, सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देव । तथाहि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधि र्वामप्रकोष्ठार्पित,
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलय श्वासोपरक्ताधर ।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयन स्तेजोगुणादात्मन ,
सस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

टिप्पणी

प्रिय मे—राजा को शकुतला के परित्याग का पश्चात्ताप हो रहा है अतएव इनकी यह स्थिति है, यह बात जान कर मुझे प्रसन्नता है। वैमनस्यात्—विकृत मन विमन तस्य भाव इत्यर्थे विमनस्+ष्यञ प्रत्यय प्रत्याख्यात—प्रति+आ+चक्ष+क्त, चक्ष इत्यस्य ख्यादेश । 'प्रविश्यापटीक्षेपेण से लेकर यहाँ तक द्युति नामक विमर्श सन्धि का अग है। "तजनोद्वेजने प्रोक्ता द्युति ।"

(इसके बाद पश्चात्ताप के अनुरूप वेष धारण किये हुये राजा का, विदूषक और प्रतीहारी का प्रवेश)

कञ्चुकी—(राजा को देखकर) अहो, सुदर आकृति वालो की सभी अवस्थाओ मे रमणीयता (रहती है) इस प्रकार (शकुन्तला वियोग के कारण) विक्षुब्ध भी महाराज देखने मे सुन्दर प्रिय लगते है। क्योकि—

प्रत्यादिष्टेति-अन्वय—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधि वामप्रकोष्ठार्पितम् एकम् एव काञ्चनम वलयम् बिभ्रत, श्वासोपरक्ताधर, चिन्ताजागरणप्रतान्तनयन सस्कारोल्लिखित महामणि इव क्षीण अपि आत्मन तेजोगुणात् न आलक्ष्यते।

शब्दार्थ—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधि =जिसने (विरहजन्य कृशतावश अथवा अरुचिवश) विशेषरूप से अलकरणधारणादि काय बन्द कर दिया है, वामप्रकोष्ठार्पितम्=बाई कलाई मे डाले गये, एकमेव काञ्चन वलयम्=केवल एक ही स्वण कड्कण को विभ्रत्=धारण किये हुये, श्वासोपरक्ताधर =(विरहजन्य उष्ण) श्वासो से जिसका अधरोष्ठ लाल वण का हो रहा है। चिन्ताजागरणप्रतान्तनयन = (शकुतलागत) चिन्ता के कारण (रात भर) जागते रहने से जिनके नेत्र अत्यन्त म्लान एव अलसाये हुये हो गये है। सस्कारोल्लिखित महामणि इव=(अधिक चमक लाने के लिये) खराद-पर काट-छाट कर घिसे हुये, बहुमूल्य मणि के समान/क्षीण अपि=दुबल होता हुआ भी, आत्मन तेजोगुणात्=अपनी सहज तेजस्विता के गुण के कारण (कृश) न/आलक्ष्यते=दुबले दिखाई नही पडते है।

अनुवाद—विशेष रूप के अलकरण प्रसाधन का कार्य बन्द कर दने वाले, बाई, कलाई म डाले हुये केवल एक ही स्वण कड्कण को पहने हुये, (शकुतला के विरह

से उष्ण) श्वासो से जिनका अधरोष्ठ लाल पड गया है (और) (शकुन्तलागत) चिन्तावश (रात भर) जागते रहने के कारण जिनकी आखे अत्यधिक म्लान एव अलसाई हुई है, (अधिक चमक लाने के लिये) खराद पर घिसे हुये बहुमूल्य मणि के समान, दुबले होते हुये भी (जो) अपनी सहज तेजस्विता के गुण के कारण (कृश) नही दिखलाई पडते है ।

भावार्थ— राजा की सर्वावस्थागत रमणीयता का वर्णन करता हुआ कञ्चुकी कहता है कि यद्यपि राजा ने अपने राजोचित विशेष प्रकार के अलकरणधारण एव अन्य प्रसाधनात्मक कार्यों को बिल्कुल त्याग दिया है, राजचिह्न के रूप मे जो केवल एक स्वर्णवलय को ही अपनी बाइ कलाई मे डाले हुये है, शकुन्तला के विरह के कारण उष्ण निकलते हुये श्वासो से जिनका अधरोष्ठ लाल पड गया है और शकुन्तला-गत चिन्ता के कारण रात भर जागते रहने से जिनकी आखे बहुत कुछ मुर्झायी एव अलसाई हुइ है, इस प्रकार यद्यपि वे अतिम्लान एव दुबले दिखलाई पड रहे है, तथापि उनकी यह दुर्बलता, अपने स्वाभाविक तेज की विशेषता के कारण उसी प्रकार लक्षित नही होती जिस प्रकार अधिक चमक लाने के लिये खराद पर काट-छाट कर और घिसकर चमकाई गई महामणि क्षीण होने पर भी अपनी चमक के कारण क्षीण जैसी नही जान पडती है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे राजा के विशेषणो मे **स्वभावोक्ति** अलकार और इनके साभिप्राय होने से **परिकर** अलकार भी है, 'महामणिरिव' मे **उपमालकार** सर्वत्र **अनुप्रास**, पाञ्चाली रीति, प्रसाद गुण और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

प्रस्तुत श्लोक मे प्रत्यादिष्टत्यादि विशेषण से विषय निवृत्ति, चिन्तेत्यादिपद से चिन्ता, जागरण से निद्रानाश क्षीण पद से तनुता, नामक काम दशाओ का निर्देश किया गया है, ये कामदशाये दस होती है "नयनप्रीति प्रथम चिन्तासङ्गस्ततोऽथ सकल्प । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाश । उन्मादो मूर्च्छा इत्येता स्मरदशा दशैव स्युरित्या चक्षते" अन्यत्र इन्ही को इस प्रकार बतलाया गया है "दृङ्मन सङ्ग सकल्पो जागर कृशतारति । ह्रीत्यागोन्माद मूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश" इनमे ह्रीत्याग उन्माद आदि कुछ कामदशाओ का वर्णन गत श्लोको मे भी किया गया है । इसमे राजगत चिन्ता ग्लानि आदि भाव है किन्तु कञ्चुकीगत हर्ष विस्मय आदि भाव हैं ।

सस्कृत व्याख्या-प्रत्यादिष्ट =विरहजन्यकृशतया अरत्या वा निराकृत विशेषस्य मण्डनस्य अलकारधारणस्य प्रसाधानस्य वा विधि कार्य येन स —प्रत्यादिष्टविशेष-मण्डनविधि वामश्चासौ प्रकोष्ठश्च तस्मिन् अर्पित समर्पितम् परिधृत वा—वाम-प्रकोष्ठार्पितम् एकम्=मुख्यम् एकसख्यात्मक वा, काञ्चनम्=स्वर्णमयम्, वलयम्= करकटकम्, बिभ्रत्=दधत् (व्यवहारविरुद्धेन वामहस्तकटकधारणेनास्योन्मादावस्था सूच्यते) श्वासै विरहजन्योष्णनि श्वासै उपरक्त पाटलित अधर अधरोष्ठ यस्य स — श्वासोपरक्ताधर, चिन्तया शकुन्तलागतचिन्तया यज्जागरण तेन प्रकर्षेण ताम्रे म्लाने नयने यस्य स —चिन्ताजागरण प्रताम्रनयन, सस्काराथ उल्लिखित उद्धृष्ट सस्कारो-

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति। [ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किद सउन्दला किलम्मदि त्ति।]

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्॥७॥

लिखित = तेजोविशेषोपलब्धये शाणोपरि सर्घषित अनल्प क्षीणतां गमित, महामणि इव = बहुमूल्य रत्नमिव, क्षीण = दौर्बल्य प्राप्त अपि, आत्मन—स्वकीयस्य तेजोगुणात् = सहजशरीरकान्तिप्रभावात् न आलक्ष्यते—न प्रतीयते।

संस्कृत सरलार्थ—राज्ञा दुष्यन्तस्य सर्वावस्थागत रमणीयत्व वर्णयन् कञ्चुकी कथयति—यद्यपि विरहकृशतयाऽस्या वा राज्ञालङ्करणप्रसाधनविधि सर्वथैव निराकृत केवलमेकमेव स्वर्णमय वलय वामप्रकोष्ठे धारयन्नस्ति शकुन्तलाविरहजन्योष्णनि श्वासैरस्याधरोष्ठोऽपि पाटलितो वर्तते अत्र च शकुन्तलागतचिन्तया जागरणेनास्य नेत्रेऽपि परिम्लानतां गते स्त एव सोऽतिदौर्बल्य मापन्नो वर्तते तथापि दौर्बल्य मस्य स्वकीयस्य सहजशारीरिककान्तिप्रभावात्तथा नालक्ष्यते यथा तेजोविशेषोपलब्धये शाणोपरि संघर्षित बहुमूल्य रत्न कृशतामापन्न भूत्वापि न कृश मालक्ष्यते। यथा शाणोल्लीढस्यात एव प्रभाविद्योतमानस्य महार्घस्य तनुत्व नावबुध्यते सहसा, तथैव स्वसहजप्रभोद्भासितस्य कृशाङ्गस्यापि राज्ञ कार्श्य स्वतेजोमण्डलाच्छादित सन् नालक्ष्यते इति भाव।

टिप्पणी

पश्चात्तापसदृशवेष—पश्चात् य ताप पश्चात्ताप तेन सदृश वेष यस्य स। **सर्वास्ववस्थासु**—सर्वाश्च ता अवस्था तासु, भावसाम्य—किमिव हि मधुराणां मण्डन नाकृतीनाम्—शाकु० "अहो सर्वास्ववस्थासु अनवद्यता रूपस्य मालविकाग्निमित्रम्। **रमणीयत्वम**—रम् + णिच् + अनीयर + त्व। **उत्सुक**—इसका अर्थ यहाँ चिन्तित या खिन्न होना है अर्थात् शकुन्तला की प्राप्ति के लिए व्याकुल मन वाले। प्रत्यादिष्ट—प्रति आ + दिश + क्त। **वामप्रकोष्ठ**—बाये हाथ में कङ्कण पहनना राजा की उन्मादावस्था का द्योतक है। श्वासेत्यादि—विरहजन्य उष्ण भी श्वासो से उसका अधर रूक्ष नही था प्रत्युत वह लाल था जिससे उसका शोभातिशयत्व प्रकट होता है, क्योंकि अधर लाल ही शोभादायक होता है। प्रतान्त=अत्यधिकम्लान या अलसाये हुये। विभ्रत् + वि=भृ + शतृ। उपरक्त=उप + रञ्ज + क्त।

सानुमती—(राजा को देखकर) (इनके द्वारा किये गये) परित्याग से अपमानित भी शकुन्तला यदि इनके लिये बिलखती है तो यह उचित ही है।

राजा—(ध्यान मे मग्न धीरे-धीरे चारो ओर घूमकर)

प्रथममिति—**अन्वय**—प्रथमम सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानम अपि सुप्तम इदम हतहृदय सम्प्रति अनुशयदु खाय विबुद्धम ।

शब्दार्थ—प्रथमम = पहले तो, सारङ्गाक्ष्या प्रियया = मृगनयनी प्रिया शकुन्तला के द्वारा, प्रतिबोध्यमानम अपि = जगाया जाता हुआ होकर भी, सुप्तम = सो गया था। इद हतहृदयम = यह (मेरा) दुष्ट हृदय सम्प्रति = अब इस समय, अनुशयदु खाय = पश्चात्ताप क दु ख के लिय, विबुद्धम = जाग गया है।

अनुवाद—पहले तो मृगनयनी प्रिया शकुन्तला के द्वारा जगाया जाता हुआ होकर भी सो गया था यह (मेरा) दुष्ट हृदय अब पश्चात्ताप के दु ख के लिये जाग गया है।

भावार्थ—दुष्यन्त मन ही मन कहता है कि वस्तुत यह मेरा हृदय अति नीच एव दुष्ट है क्योंकि जब पहले प्रिया शकुन्तला ने यहा स्वय आकर इसे जगाया तब तो यह सोता ही रहा किन्तु अब जब कि वह चली गई है यह दुष्ट हृदय मुझे पश्चात्ताप के दु ख का अनुभव कराने के लिये जाग गया है।

विशेष—जगाने पर भी नहीं जागा अपितु सो गया अर्थात् कारण के होते हुये भी कार्य नहीं हुआ अत **विशेषोक्ति** अलकार अब हृदय विबद्ध है पर विबोधन कारण नहीं है अत **विभावना** अलकार सारङ्गाक्ष्या म **लुप्तोपमा अनुप्रास** राजगत निर्वेद चिन्ता आदि भाव प्रसादगुण वैदर्भी रीति, आर्या जाति छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—प्रथमम = पूर्वम सारङ्गस्य मृगस्य अक्षिणी नेत्रे इव अक्षिणी यस्या सा तया—सारङ्गाक्ष्या—हरिणलोचनया, प्रियया—अतिहृद्यया शकुन्तलया प्रतिबोध्यमानम—बहुविध ज्ञाप्यमानम अपि सुप्तम—मोह मुपगतम, इदम—एतत् हतहृदयम—अधमहृदयम् सम्प्रति—अधुना, अनुशयखेदाय—पश्चात्तापदु खानुभवाय, विबुद्धम—जागरितम ।

सस्कृत सरलार्थ—शकुन्तला प्रत्याख्यानेन पश्चात्तापमनुगतो राजा चिन्तयति यद् वस्तुत इद मम हृदयम् अधमम वर्तते यतो हि यदा प्रथम प्रिया शकुन्तला स्वयमेवागत्येनद् बहुविध ज्ञापितवती तदद तस्या ज्ञापन मनाकर्ण्य मोहमुपगत परमधुना तदेतन्मम हतहृदय प्रियावियोगे जात पश्चात्ताप दु खानुभवाय जागरित मस्ति।

टिप्पणी

स्थाने—यह उचित अर्थ द्योतक अव्यय है, सानुमती का अभिप्राय यह है कि राजा के इस व्यवहार से यह सर्वथा स्पष्ट हो गया है कि यह सच्चे हृदय से शकुन्तला से प्रेम करता है और अब उसके परित्याग के कारण घोर पश्चात्ताप का अनुभव कर रहा है, ऐसे प्रेमपरायण सहृदय एव अनुपम सौन्दर्यशाली राजा के लिये, प्रत्याख्यानापमानिता होकर भी, यदि शकुन्तला इसके लिये बिलखती रहती है, तो उसका ऐसा होना सर्वथा उचित ही है। **क्लाम्यति**—क्लम + लट—दु खी होती है। **प्रथमम**—शकुन्तला के त्याग के समय, **सारङ्गाक्षी**—सारङ्ग + अक्षिन् समासान्त षच प्रत्यय ङीष। **हतहृदयम्**—नीचहृदय—हत, हतक दग्ध आदि शब्दो का प्रयोग

सानुमती—मन्दीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि। [ण ईदिसाणि तबस्सिणीए भाअहेआणि।]

विदूषक—(अपवार्य) लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति। [लघिदो एषो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कह चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति।]

कञ्चुकी—(उपगम्य) जयतु जयतु देव। महाराज, प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराज।

राजा—वेत्रवति, मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति। [जं देवो आणवेदि।]

(इति निष्क्रान्ता।)

राजा—वातायन, त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। (इति निष्क्रान्तः।)

निकृष्ट अर्थ मे होता है, 'अस्य दग्धोदरस्यार्थे, दुर्योधनहतक, हतविधिलसितानां हि विचित्रो विपाकः' माघ, कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्' रघुवंश। **विबुद्ध**—वि+बुध+क्त—जागा है, होश मे आया है।

सानुमती—उस बेचारी के भाग्य ही ऐसे हैं (क्या किया जाय, पहले तो दुष्यन्त ही उसे भूल गया और जब उसे याद आई तब वह चली गई, यह सब उसके भाग्य का ही परिणाम है)।

विदूषक—(एक ओर मुह करके, अपने आप ही) शकुन्तला की बीमारी फिर भी इन्हे सताने लगी है, पता नही इस रोग का कैसे इलाज होगा।

कञ्चुकी—(पास जाकर) महाराज की जय हो जय हो। महाराज, प्रमदवन के सभी स्थानों का भलीभाँति निरीक्षण कर लिया गया है, अब महाराज अपनी इच्छा के अनुसार मनोरञ्जन के स्थानो पर विराजें।

राजा—वेत्रवती, मेरी आज्ञा के अनुसार मन्त्री आर्य पिशुन से कहना कि—आज देर से उठने के कारण धर्मासन पर बैठना हमारे लिए सम्भव नहीं है, अतएव आपने नगर का जो कुछ काम देखा है उसे पत्र पर लिख कर दे दें।

प्रतीहारी—जो महाराज की आज्ञा।

(यह कहकर प्रतीहारी का प्रस्थान)

राजा—वातायन, तुम भी अपना काम पूरा करो।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा। (यह कहकर प्रस्थान)

टिप्पणी

ईदृशानि—ऐसे अर्थात् प्रतिकूल भाग्य। **तपस्विन्याः**—दयापात्र बेचारी के।

विदूषक —कृत भवता निर्मक्षिकम् । साम्प्रत शिशिरातपच्छेदरमणी-येऽस्मिन् प्रमदवनोद्देश आत्मान रमयिष्यसि । [किद भवदा णिम्मच्छिअ । सपद सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सि पमदवणुद्देसे अत्ताण रमइस्ससि ।]

राजा—वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तदव्यभिचारि वच । कुत —

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना,
मम च मुक्तमिद तमसा मन ।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता,
धनुषि चूतशरश्च निवेशित ॥८॥

"तपस्वी चानुकम्पाह इत्यमर" तपस्वी तापसे दीने, तपस्वी तापसे चानुकम्प्ये त्रिषु इति च कोश । भागधेयानि—नाम और भाग शब्दो से धेय प्रत्यय होकर नामधेय भागधेय शब्द होते है । लघित—शकुन्तलारूप बातव्याधि से अभिभूत या आक्रान्त हो चुका है, बातव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति ऊटपटाग बकने लगता है और कुछ खाता-पीता भी नही अर्थात् लघन करता है, राजा भी रम्य द्वेष्टि आदि के द्वारा सब कुछ छोड चुका है और गोत्रस्खलन भी करता है । चिकित्सितव्य—चिकित्सा योग्य होगा कित् धातु से व्याधिप्रतीकाराथ मे 'गुप्तिजकिद्भ्य सन्' से सन् प्रत्यय द्वित्व चिकित्स तदनु तव्यत् चिकित्सितव्य, तात्पय यह कि इसका इलाज तो शकुन्तला ही है और वह अब मिल नही सकती अत अब यह व्याधि कृच्छ्र साध्य ही नही असाध्य ही है । प्रत्यवे-क्षिता—प्रति+अव+ईक्ष+क्त भलीभाँति निरीक्षित, पूण सुरक्षित हैं, किसी चोर शत्रु आदि के भय से सर्वथा रहित । प्रमदवनम्—प्रमदार्थं वनम् प्रमदवनम् । धर्मा-सनम्—न्यायासन अत्र अधिशीङ् इत्यादिना कर्मणि द्वितीया एवमेव विनोदस्थाना-नीत्यत्रापि । अमात्यम्—अमा सह भव इत्यर्थे अव्ययात्त्यप् इति त्यप् प्रत्यय मन्त्री राजा के साथ रहता है अतएव वह अमात्य कहा जाता है । आर्य पिशुनम्—पिशुन मन्त्री का नाम है आर्य आदरार्थक है । सम्भावितम्—सम्+भू+णिच् कर्मणि क्त । यहाँ इसका गौण अर्थ है मुख्याथ तो पूज्य या मान्य होता है । पत्रमारोप्य—पत्र पर चढ़ाकर अर्थात् लिखकर, अध्यासितुम्—अलमथ योगे तुमुन् । मदवचनात्—अत्र ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी बातायन—कञ्चुकी का नाम है । ●

विदूषक—(अच्छा हुआ जो) आपने सब मक्खियाँ उडा दी अर्थात् सबको भेज कर यह स्थान एकान्त बना लिया । अब शीत और गर्मी के अभाव के कारण रमणीक इस प्रमदवन के प्रदेश मे अपना मनोविनोद कीजिये ।

राजा—मित्र, जो यह कहा जाता है कि विपत्तियाँ छिद्र पाकर आ घेरती हैं अर्थात् एक विपत्ति होने पर अन्य अनेक विपत्तियाँ आ जाती हैं, यह बात सत्य है (अनर्था=दु ख या विपत्तियाँ, रन्ध्र=छिद्र, उपनिपातिन=घुस पडने वाली—विपत्तियाँ सदा अवसर की ताक मे रहतीं हैं, जहाँ भी जरा सा भी अवकाश या छिद्र

कमजोरी मिली कि वे झट आ धमकती है, अतएव कहा जाता है "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।")

क्योंकि—

मुनीति—**अन्वय**—सखे मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना तमसा मम इद मन मुक्तम् च। प्रहरिष्यता मनसिजेन धनुषि चूतशर निवेशित च।

शब्दार्थ—सखे=मित्र मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना=कण्वपुत्री शकुन्तला पर प्रेम स्मरण का रोकने वाले तमसा=मोह या अज्ञान ने, मम इद मन= मेरे इस मन को, मुक्त च=मुक्त कर दिया है। प्रहरिष्यता=(मुझ पर) प्रहार करने के इच्छुक, मनसिजेन—कामदेव ने, धनुषि=अपने धनुष पर चूतशर=आम्रमञ्जरी रूपी बाण, निवेशित च=चढा लिया है।

अनुवाद—मित्र, मुनिसुता शकुन्तला पर (मेरी) प्रेम स्मृति को रोकने वाले मोह ने (ज्यों ही) इस मेरे मन को मुक्त किया (त्यों ही) (मुझ पर) प्रहार करने वाले कामदेव ने धनुष पर रसालमञ्जरी रूपी बाण चढा लिया।

भावार्थ—'रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था' इस बात को स्पष्ट करता हुआ राजा विदूषक से कहता है कि ज्यों ही शकुन्तला की प्रणयस्मृति को भुला देने वाले मोह ने मेरे मन को मुक्त किया त्यों ही कामदेव ने तुरन्त मुझ पर प्रहार करने के लिये अपने धनुष पर रसालमञ्जरी का बाण चढा लिया अर्थात् अभी प्रिया को भुला देने वाला मेरा मोह पूर्णतया उतर भी न पाया था कि कामदेव भी शरसधान कर आ धमका, एक ओर तो प्रिया की वियोग विपत्ति हुई और दूसरी ओर यह बसन्त काल आ पहुँचा, वियोगी के लिये अत्यन्त उद्दीपक होने के कारण बसन्त सचमुच काल ही होता है, कामदेव मुझ पर प्रहार करने की ताक मे तो बैठा ही था पर उसे उपयुक्त अवसर न मिल पा रहा था अब ज्यो ही मोह दूर हुआ, प्रिया की स्मृति जाग्रत हुई त्यो ही उपयुक्त अवसर पाकर कामदेव ने भी शरसधान कर लिया, अत ठीक ही है 'रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था', एक अनर्थ के साथ दूसरा अनर्थ लगा चला आता है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे भिन्न क्रम मे प्रयुक्त चकारद्वय मोचन और निवेशन क्रियाओ का यौगपद्य सूचित करते हैं, अत **समुच्चयालकार** है, यहा पर मन का मोह-रहित होना कारण है और काम का बाण चढ़ाना कार्य है, पर यहाँ कार्य कारण का एक साथ होना दिखलाया गया है, अत **अतिशयोक्ति अलकार** है। अथवा अतिशयोक्ति मूलक समुच्चय है। भोजराज ने इसे **स्मरणालकार** का उत्कृष्ट उदाहरण माना है, क्योंकि अदृष्ट कारण से भी स्मरणालकार होता है। 'अदृष्टादपि स्मरणे स्मरणालकार" **अनुप्रास** द्रुतविलम्बित नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—सखे—वयस्य, मुने कण्वस्य सुता पुत्री तस्या य प्रणय प्रेम तस्य स्मृतिम् स्मरणम् रुणद्धि आवृणोति तेन—मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना= शकुन्तलाविषयकप्रेमस्मृतिलोपिना, तमसा=अज्ञानेन मोहेन वा (यदैव) मम= दुष्यन्तस्य, इदम मन=चित्तम एतद्, मुक्तम च=त्यक्तम च (तदैव) प्रहरिष्यता=

विदूषक —तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाण नाशयिष्यामि । [चिट्ठ दाव । इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पवाण णासइस्स ।]

(इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुर पातयितुमिच्छति ।)

राजा—(सस्मितम्) भवतु । दृष्ट ब्रह्मवर्चसम् । सखे, क्वोपविष्ट प्रियाया किंचिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टि विलोभयामि ।

विदूषक —नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता सन्दिष्टा ।

प्रहर्तु मिच्छता, मनसिजेन—कामदेवेन, धनुषि=स्वशरासने, चूतशर =रसालमञ्जरी वाण , निवेशित =समारोपित ।

सस्कृत सरलार्थ—"रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था" इत्युक्ति सघटयन् राजा विदूषक कथयति—यदैव शकुन्तलाप्रणयस्मृतिविलोपिना मोहेन ममेद मनो मुक्तम् तदैव कामेन मयि प्रहर्तु मिच्छता स्वशरासने रसालमञ्जरीवाण समारोपित । एतेन ज्ञायते छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्तीति ।

टिप्पणी

निमक्षिकम्—मक्षिकाणामभाव इत्यर्थे अव्ययीभाव । अनावश्यक लोगो से रहित अतएव एकान्त । **शिशिरा०**—शिशिरश्च आतपश्च तयो छेदेन रमणीये—ठण्ड और गर्मी के अभाव के कारण रमणीय, कुछ टीकाकारो ने छेद का अर्थ अवकाश या मध्य भाग मान कर शिशिर और ग्रीष्म का मध्यभाग अर्थात् बसन्त अथ किया है **आत्मानम्**—अत्र गतिबुद्धीति कमणि द्वितीया । **रन्ध्रोप०**—रन्ध्र=छिद्र, न अर्था अनर्था =विपत्ति या दुख । इसी भाव की अन्य सूक्तिया "क्षते प्रहारा निपतन्त्य भीक्ष्णम् पञ्चतन्त्र । प्रायो गच्छति यत्र भाग्यहतकस्तत्रैव यान्त्यापद ' नीतिशतक, तथा मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुली भवति—मृच्छ० । **अव्यभिचारि**—हेतो साध्या भाववद्वृत्तित्व व्यभिचार , यह न्याय का पारिभाषिक शब्द है—व्यभिचार—दोष या अपवाद, अव्यभिचारि=अपवादरहित, सवथा दोष रहित । "न रूपमित्य व्यभिचारि तद्व च —कुमार० । **रोधिना**—रुध् धातो ताच्छील्ये णिनि । **मनसिजेन**—तत्पुरुषे कृतीति सप्तम्या अलुक् । **प्रहरिष्यता**—प्र हृ लृट—शतृ तृतीयैक वचन । **प्रणय**—प्र+नी+अच् । **मुक्तम्**—मुच्+क्त ।

विदूषक—जरा ठहरिये, (मै) इस काष्ठदण्ड से कामदेव के वाण को नष्ट करता हूँ (अन्यत्र कन्दर्पव्याधिम् भी पाठ है वहाँ इसका अथ है—कामव्याधि को नष्ट करता हूँ ।

(यह कहकर दण्ड उठाकर आम्रमञ्जरी को गिराना चाहता है)

राजा—(मुस्कराकर) बस करो, (मैंने तुम्हारा) ब्रह्मतेज देख लिया । मित्र ! कहाँ बैठकर प्रिया का कुछ अनुकरण करने वाली लताओ पर दृष्टि को आनन्दित करूँ ?

विदूषक—आपने ही तो समीपवर्तिनी दासी चतुरिका को आदेश दिया था कि

माधवीमण्डप इमां वेला मतिवाहयिष्ये । तत्र मे चित्रफलकगता स्वहस्तलिखिता तत्रभवत्या शकुन्तलाया प्रतिकृतिमानयेति ।[णआसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा सदिट्ठा । माहवीमण्डवे इम वेल अदिवाहिस्स । तहि मे चित्तफलअगद सहत्थलिहिद तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति ।]

राजा—ईदृश हृदयविनोदनस्थानम् । तत्तमेव मार्गमादेशय ।

विदूषक —इत इतो भवान् । [इदो इदो भव ।]

(उभौ परिक्रामत । सानुमत्यनुगच्छति ।)

विदूषक —एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपहाररमणीयतया नि सशय स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति । तत् प्रविश्य निषीदतु भवान् । [एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवहाररमणिज्जदाए णिस्ससअ साअदेण विअ णो पडिच्छदि । ता पविसिअ णिसीददु भव ।]

(उभौ प्रवेश कृत्वोपविष्टौ)

मैं माधवीलता मण्डप मे इस समय को बिताऊँगा । तुम चित्रफलक पर अपने हाथो से बनाये गये श्रीमती शकुन्तला के चित्र को लेकर आना ।

राजा—ऐसा मनोरञ्जन का स्थान है, तो उसी माग का निर्देश करो ।

विदूषक—आप इधर से आइये ।

(दोनो चारो ओर घूमते हैं सानुमती अनुगमन करती है)

विदूषक—यह मणिमय शिलापट्ट से युक्त माधवीलता का मण्डप (पुष्पो के) उपहारों से मनोहर होने के कारण निस्सन्देह मानो स्वागतपूवक हम लोगो को आमन्त्रित कर रहा है । तो यहाँ प्रवेश करके आप बैठिये ।

(दोनो प्रवेश करके बैठते हैं)

टिप्पणी

कन्दर्पबाणम्—अन्यत्र कन्दपव्याधिम् भी पाठ है इसका अर्थ है काम के रोग को, पर इसका अथ यहाँ आम्रमञ्जरी है, यही प्रसगानुकूल भी है । **ब्रह्मवर्चसम्**—ब्रह्मण वर्च तेज 'ब्रह्महस्तिभ्या वचस' से समासान्त अच् प्रत्यय । **विलोभयामि**—वि+लुभ+णिच्+लट् अन्यत्र विनोदयामि भी पाठ है, दोनो का तात्पय है आनन्दित करना या बहलाना । वियोगावस्था में मन बहलाव के चार साधनो मे से कवि ने यहाँ दो का निर्देश किया है, तत्सदृश वस्तु का देखना और आगे उसका चित्र बनाना । अन्य दो साधन हैं, स्वप्न मे उसको देखना जिसका भी आगे उल्लेख है और चौथा है उसके द्वारा छुई हुई वस्तु का स्पर्श करना, इसका भी आगे अन्य प्रकार से उल्लेख है । अतिवाहयिष्ये=अत्र 'णिचश्चेत्यात्मनेपदम्'' **प्रतीच्छति**—स्वागतपूवक बुलाने के अथ में—प्रतिपूर्वक इष धातु का प्रयोग होता है ।

सानुमती—लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत् सख्या प्रतिकृतिम्। ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि। [लदासस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं। तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं।]

(इति तथा कृत्वा स्थिता।)

राजा—सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान् प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित् संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।

विदूषक—न विस्मरामि। किन्तु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयाऽपि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती। [ण विसुमरामि। किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचिक्खिदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व गहीदं। अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी।]

सानुमती—एवमेवैतत्—[एव्वं णेदं।]

राजा—(ध्यात्वा) सखे, त्रायस्व, माम्।

विदूषक—भो, किमेतत्। अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदापि सत्पुरुषा शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः। [भो, किं एदं। अणुव्वण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति। ण पवादे वि णिक्कम्पा गिरीओ।]

सानुमती—अच्छा तो पहले लता का सहारा लेकर सखी का चित्र देखूंगी। तब (उसके) पति के बहुमुखी प्रेम को उसे बतलाऊँगी।

(यह कहकर वैसा ही करके स्थित हो जाती है)

राजा—मित्र, शकुन्तला का सम्पूण प्रथम वृत्तान्त अब मैं स्मरण कर रहा हूँ। मैंने आप से भी कहा था। वह आप (उसके) परित्याग के समय मेरे पास नहीं थे। पहले भी तुमने कभी उस माननीया का नाम याद नही दिलाया। सम्भवतः मेरी ही तरह तुम भूल गये थे।

विदूषक—मैं नही भूला हूँ, किन्तु सब कुछ कहकर के अन्त में फिर आपने यह कह दिया था कि यह हँसी की ही बात है, सच नही है। मुझ अतिमन्दबुद्धि वाले ने भी वैसा ही मान लिया था अथवा होनहार प्रबल होती है।

सानुमती—यह ऐसी ही बात है।

राजा—(सोचकर) मित्र, मुझे बचाओ।

विदूषक—मित्र, यह क्या है? ऐसा आपके विषय मे सर्वथा अनुचित है। सज्जन कभी भी शोक मे दूसरो के द्वारा समझाने योग्य नहीं होते (अन्यत्र

राजा—वयस्य, निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि । सा हि—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तु व्यवसिता,
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुन दृष्टि वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती,
मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्य दहति माम् ॥६॥

शोकवस्तव्या भी पाठ है वहाँ इसका अथ—शोक के आधार या स्थान नही होते ।) प्रचण्ड आँधी मे भी पहाड विचलित नही होते है ।

टिप्पणी

बहुमुखम्—अनेक प्रकार से प्रकट किया गया । कच्चित्=प्रश्नसूचक अव्यय । **मृत्पिण्डबुद्धिना**—मिट्टी के ढेले के तुल्य मन्द बुद्धि वाला—मृत्पिण्ड इव बुद्धि यस्य 'प्रभवति शुचि बिम्बग्राहे मणि न मृदादय" भवभूति । **भवितव्यता**—भू+तव्य+तल् । भावसाम्य की अन्य सूक्तिया "सवङ्कषा भगवती भवितव्यतैव" मालतीमाधव । नियति केन बाध्यते" यत्पूर्व विधिना ललाटलिखित तन्मार्जितु क क्षम (हितोपदेश) भवितव्य भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत् । **अनुपपन्नम्**—अनुचित, न उप+पद्+क्त । **विजल्प**—कथन—परिहासविजल्प — हँसी की बात, **भूतार्थ**—सत्य बात ।

राजा—मित्र, (मेरे द्वारा) परित्याग से विह्वल हुई प्रिया शकुन्तला की उस अवस्था का अनुस्मरण कर मै बहुत अधिक असहाय या अधीर हो रहा हूँ । क्योकि वह—

इत इति अन्वय—इत प्रत्यादेशात् स्वजनम् अनुगन्तुम् व्यवसिता, गुरुसमे गुरुशिष्ये 'तिष्ठ' इति उच्चै वदति (सति) स्थिता । वाष्पप्रसरकलुषा दृष्टि यत् पुन मयि क्रूरे अर्पितवती तत् सविषम् शल्यम् इव माम् दहति ।

शब्दार्थ—इत=इस स्थान से, प्रत्यादेशात्=परित्यक्त होने के कारण, स्वजनम् अनुगन्तुम्=अपने कुटुम्बियो के पीछे जाने के लिये, व्यवसिता=प्रस्तुत हुई, गुरुसमे गुरुशिष्ये=पिता के तुल्य, पितृशिष्य के, तिष्ठ इति उच्चै वदति सति=(वही) 'ठहरो' यह बात उच्च स्वर से कहने पर, स्थिता=रुक गई। वाष्पप्रसरकलुषाम्=आँसुओं के प्रवाह से मलिन, दृष्टिम्—दृष्टि को, यत्=जो, पुन मयि क्रूरे अर्पितवती=पुन मुझ क्रूर पर डाली थी, तत्=वह उसका दृष्टि डालना, सविषम् शल्यम् इव=विषैले शल्य (वाणाग्रभाग) के समान, माम् दहति=मुझे जला रहा है ।

अनुवाद—इधर से अर्थात् मेरे द्वारा परित्याग के कारण (वह शकुन्तला) अपने कुटुम्बियो के पीछे चलने के लिये प्रस्तुत हुई, (किन्तु) पिता के तुल्य पितृशिष्य के उच्चस्वर से यह कहने पर कि 'ठहरो कहाँ जा रही हो' (वह) रुक गई (और फिर विवश उसने) अश्रुप्रवाह से मलिन दृष्टि को पुन जो मुझ निदय पर डाला था, वह (उसका दृष्टि—डालना) विषैले शल्य की भाँति मुझे जला रहा है ।

भावार्थ—राजा प्रत्याख्यानकालीन शकुन्तला की स्थिति को बतलाता हुआ विदूषक से कहता है, मित्र, मेरे द्वारा परित्याग कर देने पर जब वह अपने कुटुम्बियो के पीछे-पीछे जाने लगी, तब ही कण्वशिष्य ने उससे जोर से कहा कि यही ठहर, कहा जा रही है, गुरुशिष्य की यह बात सुन कर भयभीत होकर वह वही खडी हो गई, फिर और कुछ उपाय न देखकर, अश्रुप्रवाह से कलुषित दृष्टि को उसने पुन जो मुझ निदय पर डाला था, वस्तुत उसकी वह विवश दृष्टि मुझे अब भी विषैले शल्य के समान जला रही है, उस समय की उसकी उस दयनीय एव विवश स्थिति का दृश्य मुझे अब भी सन्तप्त कर रहा है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य के 'सविष शल्यमिव' मे श्रौतोपमालकार, दृष्टि विशेष को पुरुष विशेष पर डालने से समालकार, शिखरिणी नामक छन्द है। प्रत्यादेशात् स्वजन मित्यादि कथन से 'भर्ता रक्षति यौवने' के अनुसार राजा का उसे सर्वथा त्याग करना अनुचित तथा लोकद्वय विरोधी काय था, पतिपरित्यक्ता पतिव्रता के लिये स्वजनो की शरण के अतिरिक्त ओर उपाय ही क्या था, यह द्योतित किया गया है ''गुरुसमे' पद से कण्वशिष्य के वचनो का अनुल्लघनीयत्व सूचित किया गया है, क्रूर पद से राजगत निवद व्यञ्जित होता है, वस्तुत क्रूरे का अथ यहा वञ्चक है अत अर्थान्तरसक्रमित वाच्य ध्वनि है, 'दहति' पद से अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि प्रकट होती है, क्योकि दृष्टि दाहक नही हो सकती। वास्तव मे भाव सौन्दर्य रसध्वनि प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, पदलालित्य आदि की दृष्टि से करुण विप्रलम्भ का यह सुन्दर श्लोक है।

सस्कृत व्याख्या—इत =अस्मात् स्थानात्, प्रत्यादेशात्=निराकरणहेतो, स्वजनम्, स्वबन्धुजनम्, अनुगन्तुम्=अनुसतुम्, व्यवसिता=उद्युक्ता प्रवृत्ता वा, गुरुसमे= पितृवत्पूजनीये, गुरुशिष्ये=पितृशिष्ये शाङ्ग रवे, ''तिष्ठ''=इहैव तिष्ठ, अनुगमनाद्विरम, इति उच्चै =तारस्वरेण, वदति (सति)=भाषमाणे (सति) स्थिता= गमनात् निवृत्ता। वाष्पाणाम् अश्रूणा प्रसरेण प्रवाहेण कलुषा आविला मलिना वा ताम्— वाष्पप्रसरकलुषाम, दृष्टिम्=लोचनम्, पुन =भूयोऽपि यत् मयि क्रूरे=मयि निर्दये दुष्यन्ते, अर्पितवती—पातितवती निक्षिप्तवती वा, तत्=दृष्ट्यर्पणम्, सविषम्= विषाक्तम्, शल्यम्—वाण इव, माम्=दुष्यन्तम्, दहति—सन्तापयति।

सस्कृत सरलाथ—प्रत्याख्यानसमये निराशाया निरूपायाया शकुन्तलाया दशामनुस्मृत्य सन्तप्तहृदयो दुष्यन्तो विदूषक कथयति वयस्य, तत्समये मया निराकृता विवशा सा मे प्रिया नान्यमुपाय पश्यन्ती स्वबन्धुजन गौतम्यादिक मनुसर्तु प्रवृत्ता पर तदानीमेव 'तिष्ठेहैव विरमानुगमनात्' इति पितृतुल्यपूजनीये पितृशिष्ये भाषमाणे सति, पितृतुल्यगुरुशिष्यशाङ्ग रव वचनाना मनुल्लघनीयत्वात् सा तत्रैव स्थिता, अथ ''चानाथा विवशा मशरणामिदानी मा मे भर्ता स्वीकुर्यादित्याशया सा यदश्रुपरिपूरिता दृष्टि मयि निदय निक्षिप्तवती सा तस्या विवशा दृष्टिरिदानी मा विषाक्त शल्यमिवातिसन्तापयति,

सानुमती—अहो, ईदृशी स्वकार्यपरता । अस्य सन्तापेनाह रमे । [अम्महे, ईदिसी स्वकज्जपरदा । इमस्स सदावेण अह रमामि ।]

विदूषक—भो, अस्ति मे तर्क, केनापि तत्रभवत्याकाशचारिणा नीतेति । [भो, अत्थि मे तक्को, केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति ।]

राजा—क पतिदेवतामन्य परामष्टुमुत्सहेत ? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणीभि सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते ।

सानुमती—समोह खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोध । [समोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो ।]

विदूषक—यद्येवमस्ति खलु समागम कालेन तत्र-भवत्या । [जइ एव्व अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए ।]

मया परित्यक्ताया स्वजनभर्त्सितायाश्च तस्या कातरा मश्रुभिराविला दृष्टि स्मार स्मार मे मनो व्यथते ।

टिप्पणी

निराकरण०—निराकरणेन प्रत्याख्यानेन विक्लवा व्याकुला तस्या । **समवस्थाम्**—समान अवस्था अर्थ यहाँ नही है क्योकि प्रसगानुकूल यह अथ सघटित नहीं होता, सम्भवत कवि ने सामान्य अवस्था अथ मे ही यहाँ समवस्था का प्रयोग किया है, **अशरण**—अधीर या दु खी । **व्यवसिता**—वि+अव+सो+क्त 'द्यतिस्यती-स्यादिना धातोरोकारस्यात्वम् । **स्थिता**—इसके स्थान पर 'मुहु' यह पाठ भी मिलता है, पर यह पाठ मानने पर शकुन्तला की पितृतुल्य शार्ङ्गरव के प्रति धृष्टता लक्षित होगी और उसके कथन का अनादर भाव सूचित होगा अत स्थिता पद ही प्रसगानुकूल है, उसे बार-बार नही कहना पडा अपितु उसके एक बार डाँटने पर ही वह रुक गई । **वदति**—शतृप्रत्ययान्त सप्तम्यन्त रूप है ।

सानुमती—अहो, ऐसी (यह मुझे) अपने कार्य साधन की तत्परता (है) (जिससे कि) मैं इसके दु ख से आनन्दित हो रही हूँ ।

विदूषक—मेरा अनुमान है कि उस पूज्या शकुन्तला को कोई आकाशचारी व्यक्ति उठा ले गया है ।

राजा—उस पतिव्रता को और कौन छूने का साहस कर सकता है, मैने सुना है कि मेनका तुम्हारी सखी शकुन्तला की जन्मदात्री है, मेरे हृदय को आशका है कि उसकी अर्थात् मेनका की सखियाँ तुम्हारी सखी को ले गई हैं ।

सानुमती—(इस राजा को शकुन्तला का) भूल जाना ही आश्चर्य योग्य बात है, (उसका) स्मरण करना आश्चर्य की बात नही है ।

विदूषक—यदि ऐसी बात है तो अवश्य ही कालान्तर मे आपका उन श्रीमती से समागम होगा ।

राजा—कथमिव ?

विदूषक —न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदु खिता दुहितरं चिरं द्रष्टु पारयत । [ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअ दुहिदर चिर देक्खिदु पारेन्ति ।]

राजा—वयस्य,

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्ट नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असन्निवृत्यै तदतीतमेते
मनोरथा नाम तटप्रपाता ॥ १० ॥

टिप्पणी

स्वकायपरता—स्वस्य काय स्वकायम् तत् पर प्रधान यस्या सा **स्वकायपरा** तस्या भाव इत्यर्थे तल टाप् सानुमती को राजा की शकुन्तला के प्रति मनोदशा को जानने के लिए भेजा गया था, वह समझती थी कि राजा को शकुन्तला वियोग से जितना अधिक दु ख होगा उतनी ही जल्दी इसका उससे समागम हो सकेगा अतएव उसे दु खी देखकर अपने स्वाथ ही सिद्धि जानकर वह प्रसन्न हो रही थी । **पतिदेवताम्**—पति देवता यस्यास्ताम्=पतिव्रता । पतिव्रता मे सहज तेज होता है उसे कोई दुर्भावना से छू नही सकता, राजा को उसके पातिव्रत्य का विश्वास था । **परामर्ष्टुम्**—छूने के लिए । **जन्मप्रतिष्ठा**—जनदात्री—प्रति+स्था+अड् (अ) प्रतिष्ठा, जन्मन प्रतिष्ठा ज-मप्रतिष्ठा । **कालेन**— यथा समय, अत्रापवर्गे तृतीया । **मातापितरौ**— माता च पिता चेति द्वन्द्वे "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' इत्यानङ् ।

राजा—यह कैसे ?

विदूषक—वस्तुत माता-पिता पतिवियोग से दु खित पुत्री को अधिक समय तक नही देख सकते ।

राजा—मित्र,

स्वप्न इति—अन्वय—तत् स्वप्न नु, माया नु, मतिभ्रम नु, तावत्फलमेव क्लिष्ट पुण्यम् नु, असन्निवृत्यै अतीतम्, एते मनोरथा नाम तटप्रपाता ।

शब्दार्थ—तत्=शकुन्तला से मिलन रूप वस्तु, स्वप्न नु=क्या स्वप्न था, माया नु=क्या ऐन्द्रजालिक माया थी, मतिभ्रम नु=(अथवा) क्या यह मेरा बुद्धिभ्रम था, तावत्फलमेव क्लिष्ट पुण्यम् नु=(अथवा) क्या वह उतने ही फल वाला (मेरा) अत्यल्प पुण्य था, असन्निवृत्यै अतीतम्=वह फिर कभी न लौटने के लिए ही चला गया है । मनोरथा नाम=(इसके बाद ये मेरे) मनोरथ, तटप्रपाता =तट प्रपात के समान हैं ।

अनुवाद—वह शकुन्तला रूपी वस्तु, क्या कोई निद्रित अवस्था मे अनुभूत वस्तु अर्थात् स्वप्न थी, अथवा क्या यह कोई ऐन्द्रजालिक माया थी, अथवा क्या यह

मेरा बुद्धिभ्रम मात्र था अथवा क्या, (जितना जो कुछ उससे सम्भाषण आदि हो सका) उतने ही फल वाला मेरा वह अत्यल्प पुण्य था (जो भी हो किन्तु अब वह) फिर कभी न लौटने के लिए चला गया है। (इसके बाद अब ये) मेरे मनोरथ तट प्रपात के समान हैं।

भावार्थ—अगूठी मिलने के बाद जब राजा को शकुन्तला के विषय मे पूर्व-घटित सभी बातो का स्मरण हो जाता है तब वह उसके मिलन के विषय मे स्वभावत अनेक तर्क-वितर्क करता है, कवि ने प्रस्तुत श्लोक मे उसके चार विकल्पो का निर्देश किया है वह क्रमश अपने एक-एक विकल्प को काट कर दूसरा विकल्प प्रस्तुत करता जाता है और अन्त मे कह देता हे कि अब पुन कभी न लौटगी। प्रथम विकल्प मे वह कहता है कि क्या वह शकुन्तला रूपी वस्तु अथवा वह मेरा शकुन्तला से मिलना और सुखानुभव करना, स्वप्न था अथवा कोई निद्रितावस्था मे अनुभूत वस्तुमात्र थी ? पर ऐसा नही था क्याकि मै उस समय सोया हुआ नहो था यदि स्वप्न होता तब तो जागृत अवस्था मे उसका अनुभव नही होना चाहिए था पर अनुभव तो हो रहा है अत स्वप्न नही हो सकता तो (२) क्या यह कोई ऐन्द्रजालिक माया थी ? "मन्त्रतन्त्राभ्यामसत प्रकटन माया) मन्त्र तन्त्रादिक से असत् भी वस्तु को सत् सा दिखा देना ही माया है परन्तु उसका कोई वास्तविक स्वरूप नही होता परन्तु शकुन्तला के विषय मे तो यह माया नही थी, क्योकि शकुन्तला का तो वास्तविक सत्स्वरूप था उसे तो मैने साक्षात् देखा था, मायिक वस्तु क्षणिक होती है, पर वह क्षणिक नही थी अत वह माया नही हो सकती। (३) तो क्या वह मेरा मतिभ्रम मात्र था, अर्थात् मैने अन्य किसी के स्थान मे शकुन्तला को समझ लिया था वह वस्तुत शकुन्तला नही थी, किन्तु ऐसा भी नही हो सकता क्योकि भ्रम से उत्पन्न वस्तु से व्यवहार नही किया जा सकता पर मैने शकुन्तला से वार्तालापादि व्यवहार भी किया था अत यह मतिभ्रम भी नही हो सकता। (४) तो क्या यह, जितना भी उससे सम्भाषण आदि हो सका उतना ही फल वाला मेरा अत्यल्प पुण्य था, और अब वह अत्यल्प पुण्य समाप्त हो चुका है, अतएव अब वह चली गई है। अर्थात् अब वह पुन कभी लौटकर न आयेगी जितना मेरा पुण्य था उतना उसका सम्पर्क मुझे मिल गया अतएव अब वह सदा के लिए चली गई है। आगे वह विदूषक से कहता है कि मित्र, उसके चले जाने के बाद जो तुम्हारे द्वारा बतलाये गये ये मनोरथ है कि पतिवियुक्त कन्या को माता-पिता बहुत समय तक नही देख सकते अत आपका उससे अवश्य समागम होगा, इसके अतिरिक्त अन्य मनोरथ भी जिनकी मैं स्वय कभी कभी कल्पना किया करता हूँ, इस स्थिति मे अब ये सब मनोरथ वस्तुत (५) तट प्रपात के समान ही है, इनसे कोई भी लाभ नही है, अर्थात् जैसे वर्षा के समय मे प्रबल जल प्रवाह के कारण नदी के किनारे एक-एक करके अहमहमिका के साथ गिरते जाते है अर्थात् एक गिरता है, दूसरा सामने आता है, उसके गिरने पर तीसरा, और फिर चौथा इत्यादि और इस प्रकार वे थोडी ही देर म सब गिर जात है, ठीक इसी प्रकार य सब मेरे मनारथ भी एक-एक करक उत्पन्न

विदूषक —मैवम् । नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यभाव्यचिन्तनीय समागमो भवतीति । मा एव्व । ण अगुलोअअ एव्व निदसण अवस्सभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति ।]

होते और विलीन होते जाते है अर्थात् इनका कोई अस्तित्व नही है । तात्पय यह कि तुम्हारी ये सान्त्वनाये तथा उसके विषय मे मेरी विविध आशायें, सब व्यथ है, अब वह पुन मिलने वाली नही है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य के चारो ही "नु" **सन्देहालकार** के द्योतक है, श्लोक की प्रथम दो पक्तिया असन्निवृत्यै मे कारण है अत **काव्यलिङ्ग अलकार** है । अन्यत्र "मनोरथानामतटप्रपाता" भी पाठ है अतट तथा प्रपात शब्द प्राय समानाथ वाची है अत यहाँ **पुनरुक्त वदाभासालकार** भी हो सकता है, "प्रपातस्त्वतटो भृगु" कोश, पर यह क्लिष्ट कल्पना है, वस्तुत 'नाम' यहाँ सम्भावना सूचक मात्र है । "यद्येव से लेकर यहा तक सिद्धो के वचनो के तुल्य भावी घटना का सकेत मिलने से अवमश सन्धि का यह प्ररोचना नामक अग है "सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना" । और सशय होने के कारण सशय नामक नाटकीय लक्षण भी हे "सशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद् यदनिश्चय" **छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास**, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, उपजाति नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—तत्—शकुन्तलासम्मिलनरूप वस्तु, स्वप्नो नु=किमिति मया स्वप्नेऽवलोकित वस्तु, पर स्वप्नश्चेत् जाग्रदवस्थाया नानुभूयेत, अत, माया नु—किमिति ऐन्द्रजालिक प्रकटिता मिथ्याघटना, पर यदि माया स्यात्ततस्तदधिष्ठान न प्रतीत स्यादत, मतिभ्रमो नु=किमिति वुद्धिविपयय अन्यस्थाने शकुन्तलाभ्रम इत्यथ, स्यादेव यदि व्यवहारायोग्यता स्यादत, तावत्फलमेव क्लिष्ट पुण्य नु=तावदेव फल यस्य तत् तावत्फलम् यावत् सम्भाषणदशनादिजनित स्तया सह व्यवहार स्तदेव फल यस्य तदित्यथ अत एव क्लिष्टम् अत्यल्प पुण्य किम् । असन्निवृत्यै= अपुनरागमनाय, अतीतम्=गतम् । एते=इमे, मनोरथा=ममाभिलाषा नाम । तटप्रपाता—तटस्य तीरस्य प्रपात पतनम इव प्रपात यषान्ते तटप्रपाता सन्ति ।

सस्कृत सरलार्थ—अङ्गुलीयकदशनजातस्मृति दुष्यन्त शकुन्तलाविषये चिन्तयन् अनेकान् विकल्पान् विधत्ते—तच्छकुन्तलालक्षण वस्तु, तया सह पूवकृत सम्भाषणादिकम्वा स्वप्नो नु, इन्द्रजालकल्पिता मिथ्याघटना नु, वुद्धिविपययो नु, तावत् कालमात्रभोग्यम अत्यल्प सौभाग्य नु, तदिदानी मपुनरागमनाय व्यतीतम् । इमे मनोरथा नाम तट प्रपाता एव सन्ति ।

टिप्पणी

असन्निवृत्य—सम्+नि+वृत्+भावे क्तिन्—सन्निवृत्ति न सन्निवृत्ति अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी, **प्रपाता**—प्रपतन्ति एभ्य प्र+पत्+घञ ।

विदूषक—नही, ऐसा नही । वस्तुत यह अँगूठी ही इस बात का प्रमाण है कि अवश्यम्भावी समागम अचानक ही होता है अथात् जो प्राप्ति अवश्य ही होने को होती

राजा—(अङ्गुलीयक विलोक्य) अये, इद तावद सुलभस्थानभ्र शि शोचनीयम् ।

तव सुचरितमङ्गुलीय नून
प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन ।
अरुणनखमनोहरासु तस्या-
श्च्युतमसि लब्धपद यदङ्गुलीषु ॥११॥

है वह दैवगति से अपने आप ही होती है उसके विषय मे पहले से भले ही कोई न सोच सके और इसका प्रमाण यह अँगूठी ही है ।

राजा—(अँगूठी को देखकर) ओह, दुर्लभ स्थान से गिर जाने वाली यह अँगूठी तो शोचनीय है (शकुन्तला की अँगुलि रूपी उच्च एव दुलभ पद को प्राप्त करके भी यदि यह उसे छोडकर गिर पडी है तो यह अवश्य शोचनीय है, क्योकि अब इसे वह स्थान कभी न मिल सकेगा) ।

तवेति-अन्वय—हे अङ्गुलीय, तव सुचरितम् मम इव नूनम् प्रतनु (इति) फलेन विभाव्यते । यत् अरुणनखमनोहरासु तस्या अङ्गुलीषु लब्धपदम् (अपि) च्युतम् असि ।

शब्दार्थ—अङ्गुलीय=हे अँगूठी, तव सुचरितम्=तेरा सुकृत या पुण्य, मम इव=मेरे ही तरह, नूनम्=अवश्य ही, प्रतनु=अत्यल्प (है) 'यह' फलेन विभाव्यते=यह बात तेरे द्वारा अनुभूत फल से ज्ञात होती है । यत्=जो कि, (तू) अरुणनख-मनोहरासु तस्या अङ्गुलीष=लाल नखो से मनोहर, उसकी अङ्गुलियो मे, लब्धपदम्=स्थान प्राप्त करके (भी) च्युतम् असि=गिर गई हो ।

अनुवाद—हे अँगूठी, तेरा पुण्य मेरी ही तरह अवश्य ही अत्यल्प है (यह तेरे द्वारा अनुभूत) फल से ज्ञात होता है जो कि तू लाल नखो से मनोहर उस शकुन्तला की अँगूलियो मे स्थान पाकर भी (वहाँ से) गिर पडी हो ।

भावार्थ—राजा अँगूठी से कहता है कि तेरा भी पुण्य मेरे पुण्य के समान वस्तुत अत्यल्प ही था जैसा कि तेरे द्वारा अनुभूत फल से ज्ञात होता है, फल के अत्यल्प होने के ही कारण तू शकुन्तला की सुन्दर अँगुलियो मे पहुँच कर भी वहाँ से नीचे गिर पडी हो, जब तक तेरा पुण्य रहा तब तक तो तू उसकी अँगुली मे बनी रही पर ज्यो ही पुण्य समाप्त हुआ तू नीचे गिर गई, पुण्य से स्वग प्राप्त कर भी लोग "क्षीणे पुण्ये मत्यलोक विशन्ति" अतएव तू शोचनीय हे ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अल्प फल से अल्प पुण्य का अनुमान होने से **अनुमाना-लकार**, अल्प पुण्य का कारण फल है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, अँगूठी के नीचे गिरने मे क्षीणपुण्य जन के अध पतन का आरोप किया गया है, अत **समासोक्ति अलकार है, ममेव मे उपमालकार** है, अनुप्रास, पुष्पिताग्रा नामक छन्द है ।

सानुमती—यद्यन्यहस्तगत भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत्। [जइ अण्णहत्थगद भवे सच्च एव्व सोअणिज्ज भवे।]

विदूषक—भो, इय नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याश

सस्कृत व्याख्या—हे अड गुलीय, तव—त्वदीयम्, सुचरितम्=पुण्यम्, मम=दुष्यन्तस्य, इव, नूनम्—अवश्यमेव, प्रतनु=अत्यल्पम् (अस्तीति) फलेन=शकुन्तलाड्गुलिवियोगरूपेण त्वयानुभूतेन परिणामेन विभाव्यते=ज्ञायते। यत्—यस्मात् कारणात् (त्वम्) अरुणै आरक्तवर्णै नखै मनोहरा मनोरमा तासु अरुणनखमनोहरासु, तस्या=शकुन्तलाया, अड्गुलीषु, लब्ध प्राप्त पद स्थान येन तत्—लब्धपदम्, (सदपि) च्युतम्—निपतितम् असि।

सस्कृत सरलार्थ—स्वकीय मड्गुलीयक सम्बोधयन् राजा कथयति—अड्गुलीय, तवापि पुण्य मम पुण्यमिव अवश्यमेव अत्यल्प मस्ति, इति त्वयानुभूतफलेन स्पष्ट प्रतीयते। अल्पपुण्यत्वादेव त्व शकुन्तलाया आरक्त वर्णै नखै सुशोभितासु अड्गुलीषु स्थान लब्ध्वापि तत निपतितमसि।

टिप्पणी

निदर्शनम्—इसका सामान्य अर्थ उदाहरण होता है, पर यहाँ प्रसगत इसका अथ प्रमाण है अर्थात् दैवगतिवश अवश्यम्भावी काम अचिन्तनीय रूप से अचानक ही हो जाता है, जैसे इस अँगूठी की प्राप्ति आपको अचिन्त्य रूप से हुई है, इसी प्रकार शकुन्तला का समागम भी अचानक ही होगा। निर्दिश्यते अनेनेति निदर्शनम्—नि+दृश् करणे—ल्युट्। अवश्यम्भवतीति अवश्यम्भावी—अवश्यम्+भू "आवश्यकाधमण्ययो" इति आवश्यकार्थेऽत्र णिनि। **समागम** सम्+आ+गम्+अप्—मिलना। असुलभस्थानभ्रशि—असुलभ यत् स्थान तस्मात् भ्रश्यत इति ताच्छील्ये णिनि। असुलभम्—न+सु+लभ्+खल्। **प्रतनु**—वस्तुत पुण्य अतीन्द्रिय पदाथ होता है अतएव उसका न्यूनाधिक होना उसके फल से ही जाना जा सकता है। **अगुलीषु**—इसमे बहुवचन का प्रयोग यह बतलाता है कि शकुन्तला अँगूठी को कौतुकवश भिन्न-भिन्न अँगुलियो मे पहना करती थी, अथवा अँगुलियो के पतले होने के कारण वह गिरने के डर से बार-बार भिन्न-भिन्न अँगुलियो मे पहनती रहती होगी, अथवा विरहकृशतावश मुकुलीकृत पाँचो ही अँगुलियो मे एक साथ पहनती होगी। **अरुण**—नखो का लाल होना सौन्दय का तथा सौभाग्य का भी द्योतक होता है। मनोहर से तात्पय सामुद्रिक शास्त्र मे वर्णित "नातिह्रस्वा नातिदीर्घा' आदि पद मे निर्दिष्ट अँगुली के लक्षण से समन्वित होना है।

सानुमती—यदि (यह) किसी अन्य के हाथ पड जाती तो अवश्य शोचनीय होती।

विदूषक—मित्र, आपने वह नामाङ्कित अँगूठी किस प्रसग से उसके हाथ मे पहुँचाई थी?

प्रापिता ? [भो, इअ णाममुद्रा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भास पाविदा]

सानुमती—ममापि कौतूहलेनाकारित एष । [मम वि कोदूहलेण आआारदो एसो ।]

राजा—श्रूयताम् । स्वनगराय प्रस्थित मा प्रिया सवाष्पमाह कियच्चिरेणार्यपुत्र प्रतिपत्ति दास्यतीति ।

विदूषक —ततस्तत [तदो तदो ?]

राजा—पश्चादिमा मुद्रा तदडगुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीय
नामाक्षर गणय गच्छसि यावदन्तम् ।
तावत् प्रिये मदवरोधगृहप्रवेश
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥१२॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम् ।

सानुमती—मरी ही कुतूहलता से यह भी प्रेरित हुआ हे (अथात् मुझे भी यही बात जानने की उत्सुकता हो रही थी, इसने भी यही बात पूँछी है)

राजा—सुनिये, अपने नगर के लिये प्रस्थान करते हुये मुझसे प्रिया शकुन्तला ने ऑखो मे आसू भरकर कहा था 'आयपुत्र आप कितने दिनो मे मुझे अपना समाचार देगे ।

विदूषक—तब फिर क्या हुआ ?

राजा—इसके बाद इस अँगूठी को उसके हाथ मे पहनाते हुये मैंने उससे कहा था—

एककमिति—अन्वय—प्रिये, अत्र दिवसे-दिवसे एकैकम् मदीय नामाक्षरम् गणय, यावत् अन्तम् गच्छसि, तावत् मदवरोधगृहप्रवेश नेता जन तव समीपम् उपैष्यति इति।

शब्दार्थ—हे प्रिये=शकुतले, अत्र=इस अँगूठी पर, दिवसे दिवसे=प्रत्येक दिन, एकैकम्=एक एक, मदीय नामाक्षरम्=मेरे नाम के अक्षर को, गणय=गिनना, यावत् अन्त गच्छसि=जब तक तुम (उन अक्षरो की) समाप्ति तक पहुँचोगी, तावत्=तब तक, मदवरोधगृह प्रवेश नेता जन=मेरे अन्त पुर मे प्रवेश के लिये ले जाने वाला व्यक्ति, तव समीपम् उपैष्यति इति=तुम्हारे पास पहुँच जायेगा ।

अनुवाद—हे प्रिये शकुतले, इस अँगूठी पर प्रत्येक दिन एक-एक मेरे नाम के अक्षर को गिनना, जब तक (तुम उन अक्षरो को) समाप्ति तक पहुँचोगी, तब तक मेरे अन्त पुर मे प्रवेश के लिये ले जाने वाला व्यक्ति तुम्हारे पास पहुँच जायेगा ।

भावार्थ—विदूषक द्वारा उत्सुकतापूवक यह पूछे जाने पर कि आपने किस प्रसग से यह अँगूठी उसके हाथ तक पहुँचाई थी, राजा कहता है कि जब मेने अपने नगर के लिये प्रस्थान किया तभी प्रिया ने आखो मे आसू भरकर मुझस पूँछा था

सानुमती—रमणीय खल्ववधिर्विधिना विसवादित । [रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसवादिदो ।]

कि आप कब तक अपना समाचार देंगे तब मैंने इसका उत्तर देते हुये उसकी अँगुली मे इस अँगूठी को पहनाते हुये कहा था कि इस अँगूठी मे प्रतिदिन मेरे नाम के एक-एक अक्षर को गिनते रहना, जब तक तुम इन अक्षरो के अन्त तक पहुँचोगी तव तक तुम्हे मेरे अ त पुर मे पहुँचाने वाला व्यक्ति तुम्हारे पास आ जायेगा ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे स्पष्ट पाच दिन न कहकर जो अप्रत्यक्ष रूप से नामाक्षर गणना को बताया गया है अत **पर्यायोक्त अलकार** है "पर्यायौक्त यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते" अर्थात् जहाँ गम्याथ को ही वचन भङिगमा से कहा जाय। किन्ही आचार्यो ने यहाँ काव्यलिङ्ग अलकार भी माना है। छेक, वृत्ति अनुप्रास, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, वसन्ततिलका नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—प्रिये=कान्ते, अत्र=अस्मिन् अङ्गुलीयके, दिवसे दिवसे= प्रतिदिनम्, एकैकम्,=एकम्,—एकम् मदीयम्=मामकम्, नामाक्षरम्=नाम्नोऽक्षरम् 'दुष्यन्त' इति यथाश्रुतम्, गणय=गणित कुरु, यावत्=यत्कालम्, अन्तम्=अक्षरगणनाया समाप्ति, गच्छसि—प्राप्नोषि तावत्=तत्कालम् चतुर्भि पञ्चभि र्वा दिनैरित्यथ । मदवरोधगृहप्रवेशम् नेता जन=मम दुष्यन्तस्य अवरोधगृहे अन्त पुरे प्रवेशम प्रवेशनम—मदवरोधगृहप्रवेशम, नेता=प्रापयिता, जन=नर, तव समीपम उपैष्यतीति=तव सकाश मागमिष्यतीति ।

सस्कृत सरलार्थ—प्रियया सानुरोध सवाष्पञ्च पृष्टे दुष्यन्तो यदाह प्रिया प्रति तदेव स इदानी विदूषक कथयति—प्रिये अङ्गुलीयकेऽस्मिन् मुद्रितानि मदीयनामाक्षराणि एकैकश प्रतिदिन गणय, यावदक्षरसमाप्ति प्राप्नोषि तावदेव मदन्त पुरप्रवेश प्रापयिता कोऽपि जनस्तव समीप मुपागमिष्यति ।

टिप्पणी

शोचनीयम्—तब यह शोक की बात होती। **उद्धातेन**=प्रसग से अथवा किस प्रकरण मे, **आकारित**—आ+कृ प्रेरणाथक णिच् क्त—प्रेरित हुआ है अर्थात् जिस बात को जानने के लिए मेरे हृदय मे उत्सुकता हुई थी वही बात इसने भी पछी है। **एकैकम्**—नात्र वीप्सार्थे, नित्यवीप्सयोरिति द्वित्वम् अपि तु "स्वार्थेऽवधार्यमाणे एकस्य भवत इति वक्तव्यमिति एकस्य द्वित्वम् एव 'एक बहुव्रीहिवदिति सुपो लोप । **दिवसे-दिवसे**—नित्यवीप्सयोरिति वीप्सार्थे द्वित्वम् । **गच्छसि**—अत्र यावत्पुरानिपातयोरिति भविष्यदर्थे लट । **मदवरोधगहप्रवेशम्**—मम अवरोधगृहे प्रवेशम्—अवरुध्यन्ते अस्मिन्नित्यवरोध प्रविशत्यनेनेति प्रवेश अव+रुध् धातोरधिकरणे घञ्, प्र+विश् धातो करणे घञ् प्रवेश 'गुणकमणि वेष्यते' इति द्वितीया ।

तच्चेति—और वह काय मुझ क्रूर हृदय ने अज्ञानवश नही किया ।

सानुमती—वस्तुत बहुत सुन्दर अवधि (थी, किन्तु) भाग्य ने बिगाड दी ।

विदूषक —कथ धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्य स्योदराभ्यन्तर आसीत्
[कह धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भन्तले आसि ?]

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानाया सख्यास्ते हस्ताद् गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम् ।

विदूषक —युज्यते । [जुज्जइ ।]

सानुमती—अत एव तपस्विन्या शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षे परिणये सन्देह आसीत् । अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते । कथमिवैतत् ?
[अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए सदेहो आसि । अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाण अवेक्खदि । कह विअ एद ?]

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम् ।

विदूषक —(आत्मगतम्) गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम् । [गहीदो णेण पन्था उम्मत्तआण ।]

राजा—(अङ्गुलीयक विलोक्य) मुद्रिके ।

कथ नु त बन्धुरकोमलाङ्गुलि
कर विहायासि निमग्नमम्भसि ?

अथवा—

अचेतन नाम गुण न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

विदूषक—धीवर द्वारा काटी गई रोहित मछली के पेट के अन्दर यह कैसे पहुँची ।

राजा—शचीतीथ की वन्दना करती हुई तुम्हारी सखी के हाथ से गगा की धारा मे गिर पडी थी ।

विदूषक—यह ठीक है ।

सानुमती—इसीलिए (इस) अधर्म से डरने वाले राजर्षि को उस बेचारी शकुन्तला के साथ विवाह के विषय मे सन्देह हो गया था । अथवा इस प्रकार का प्रेम अभिज्ञान (विवाह परिचायक चिह्न) की अपेक्षा करता है । यह कहाँ तक ठीक है ।

राजा—अच्छा तो अब मैं इस अँगूठी को उलहना दूगा ।

विदूषक—(मन मे) अब इन्होने पागलो का रास्ता अपनाया ।

राजा—(अँगूठी को देखकर) हे मुद्रिके—

कथमिति—अन्वय—बन्धुरकोमलाङ्गुलिम् त कर विहाय कथम् नु अम्भसि निमग्नम् असि । अथवा अचेतनम् नाम गुणम् न लक्षयेत्, मया एव कस्मात् प्रिया अवधीरिता ।

शब्दार्थ—बन्धुरकोमलाङ्गुलिम्=सुन्दर एव कोमल अँगुलियो वाले, त=

उस, करम्=हाथ को, विहाय=छोडकर, (तुम) कथ नु=कैसे, अम्भसि=जल मे, निमग्नम असि=डूब गई थी। अथवा, अचेतन नाम=भले ही अचेतन वस्तु गुण न लक्षयेत्=(किसी वस्तु विशेष के) गुणो को न देखे, मया एव कस्मात् प्रिया अवधीरिता=मैंने ही कैसे प्रिया शकुन्तला का तिरस्कार कर दिया।

अनुवाद—सुन्दर एव कोमल अँगुलियो वाले उस हाथ को छोडकर (तुम) कैसे जल मे डूब गई थी। अथवा—अचेतन वस्तु भले ही (किसी वस्तुविशेष के) गुणो को न देखे (किन्तु) मैंने ही प्रिया शकुन्तला का कैसे तिरस्कार किया था।

भावार्थ—अपनी अँगूठी को उलहना देते हुये राजा कहता है कि हे मुद्रिके, तू सुन्दर और कोमल अँगुलियो वाले प्रिया शकुन्तला के हाथ से छूट कर जल मे क्यो गिर पडी, इसके बाद वह स्वय सोचता है कि इस अँगूठी का क्या दोष है, क्योकि यह तो अचेतन वस्तु है, अचेतन पदाथ किसी के गुणो की ओर ध्यान नही देता, पर मैं तो सचेतन हूँ तो फिर मैंने ही शकुन्तला के सौन्दर्य आदि गुणो की ओर क्यो ध्यान नही दिया और उसका परित्याग कर दिया अत वस्तुत दोष तो मेरा है, इसका नही।

विशेष—प्रस्तुत पद्य के तृतीय चरण मे सामान्य से विशेष का समथन होने से **अर्थान्तरन्यासालकार**, चतुथ चरण मे अङ्गुलीयक की अपेक्षा अपना अधिक अधमत्व स्वीकार किया गया है अत वस्तु से **व्यतिरेकालकार** ध्वनि है। अवधीरणा के कारण के अभाव मे भी अवधीरण कार्य की उत्पत्ति होने से **विभावनालकार** है। पूर्वाध मे अचेतन अँगूठी पर चेतन व्यक्ति के व्यवहार का समारोपण कर उसके जल मे डूबने का वणन किया गया है, अत **समासोक्तिअलकार** है। वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, वशस्थ नामक छन्द है "जतौ तु वशस्थ मुदीरित जरा।"

सस्कृत व्याख्या—वन्धुरा नतोन्नता सुन्दरा वा कोमला मृदव अडगुलय यस्मिन् तम्—वन्धुरकोमलाडगुलिम्, तम करम्=शकुन्तलाया हस्तम्, विहाय, परित्यज्य, कथ नु=केन कारणेन, अम्भसि=जले, निमग्नम् असि=त्व नितराम् अदृश्यत्व गतम्। अथवा, अचेतनम्=चेतनाशून्य वस्तु, गुणम्=सौन्दयकोमलत्वादिक प्रेमादिकम्वा वस्तुविशेषगत वैशिष्ट्यम्, नाम=सम्भाव्यत एतत्, न लक्षयेत्—न द्रष्टु पारयेत् (किन्तु) मया—सचेतनेन दुष्यन्तेन एव, कस्मात्=केन कारणेन, प्रिया=हृदयसवस्वभूता शकुन्तला, अवधीरिता=तिरस्कृता।

सस्कृत सरलार्थ—स्वकीया मुद्रिका सम्बोधयन् राजा कथयति—मुद्रिके! त्व कान्ताया शकुन्तलाया सुन्दर कोमलञ्च कर परित्यज्य केन कारणेन जले निमग्न मसि। क्षणान्तर मेव स पुनश्चिन्तयति अथवा अचेतन वस्तु यद्यन्य वस्तुगत वैशिष्ट्य न पश्येत् नात्राचेतनस्य वस्तुनो दोष, सचेतनेनापि मया केन कारणेन प्रिया तिरस्कृता? **अतोऽचेतनस्याङ्गुलीयकस्य नात्र कोऽपि दोष—दोषस्तु सचेतनस्य ममैवेति।**

विदूषक —(आत्मगतम्) कथ बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि । [कद्र बुभुक्खाए खादिदव्वो म्हि ।]

राजा—प्रिये, अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामय जन पुनर्दर्शनेन ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका—इय चित्रगता भट्टिनी । [इअ चित्तगदा भट्टिणी ।]

(इति चित्रफलक दर्शयति ।)

विदूषक —(विलोक्य) साधु वयस्य । मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेश । स्खलतीव मे दृष्टिर्नतोन्नतप्रदेशेषु । [साहु वअस्स । महुरावत्थाणदसणिज्जो भावाणुप्पवेसो । क्खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु ।]

सानुमती—अहो, एषा राजर्षेर्निपुणता । जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति । [अम्मो एसा राएसिणो णिउणदा । जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति ।]

टिप्पणी

विसवादित —वि+सम+वद्+णिच+क्त— बिगाड दिया । रमणीय खलु कथायोगो नगसेन विसवादित (स्वप्नवा०) उन्मत्तानाम्—उन्माद दशापन्नो का, दश काम दशाओ मे से आठवी दशा उन्माद है, "अङ्गेष्व सौष्ठव ताप पाण्डुला कृशताऽरुचि अधृनि स्यादनालम्बस्त मयो मादमूच्छना मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह" सा० द० । राजा द्वारा अँगूठी को यह उपालभ्भ देना स्वाभाविक ही है क्योकि कामातजनो को अचेतन चेतन का ध्यान नही रहता "कार्माता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु" मेघ० । बन्धुर—इसका अथ नतोन्नत और सुन्दर भी होता है "वन्धुर तून्नतानतम्" वन्धुर सुन्दर रम्यम्—कोश । बन्ध्+उरच् ।

विदूषक —(मन मे) क्या बात है मानो भूख मुझे खाये डाल रही है ।

राजा—प्रिये, बिना कारण परित्याग से (उत्पन्न) पश्चात्ताप से सन्तप्त हृदय वाल इस जन (दुष्यन्त) को पुन दशन देकर अनुगृहीत करो ।

(चित्रफलक को हाथ मे लिये हुये, पर्दा को हटाकर, प्रवेश करके)

चतुरिका—(यह चित्रलिखित महारानी है)

(यह कहकर चित्रफलक दिखलाती है)

विदूषक—(देख कर) मित्र, बहुत सुन्दर, (इसमे शकुन्तला आदि के हृष, भय आदि) भावो का सचार, सुन्दर विन्यास के कारण दशनीय है । (इस चित्र के) ऊचे नीचे स्थानो पर मेरी दृष्टि लडखडाती सी है ।

सानुमती—अहो, राजर्षि की यह चित्रकलानिपुणता (आश्चयजनक ही है) ऐसा ज्ञात होता है कि मानो सखी शकुन्तला मेरे सामने ही वतमान है ।

राजा—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥१४॥

राजा—

यदिति-अन्वय—चित्रे यत्-यत् साधु न स्यात् तत्-तत् अन्यथा क्रियते। तथापि तस्या लावण्यम् रेखया किञ्चित् अन्वितम्।

शब्दार्थ—चित्रे=चित्र मे, यत-यत् साधु न स्यात्=जो-जो (शरीरावयव) सुन्दर न हो, तत्तत् अन्यथा क्रियते=वह-वह अर्थात असुन्दर भी वह-वह शरीरावयव सुन्दर बना दिया जाता है। तथापि तस्या लावण्यम्=तथापि उस शकुन्तला का सौन्दय, रेखया किञ्चित् अन्वितम्=चित्रनिर्माण तूलिका की रेखाओ से कुछ थोडा-सा ही प्रकट हो सका है।

अनुवाद—चित्र मे जो-जो (शरीरावयव) सुन्दर नही होते हैं, उन्हे सुन्दर बना दिया जाता है, तथापि शकुन्तला का तो सौन्दय चित्रनिर्माण तूलिका की रेखाओ से (इस चित्र मे) कुछ ही जुड पाया है।

भावार्थ—चित्र निर्माण की साधारण पद्धति तो यह होती है कि चित्रकार चित्र बनाते समय यदि किसी अग विशेष को असुन्दर देखता है तो उसे अपने कौशल से रेवाओ द्वारा सुन्दर बनाकर दिखा देता है, अतएव कभी-कभी असुन्दर व्यक्ति का भी चित्र बहुत सुन्दर प्रतीत होने लगता है। दुष्यन्त कहता है कि इस शकुन्तला के चित्र मे तो उसका वास्तविक सौदय चित्रतूलिका की रेखाओ से बहुत ही कम आ पाया है अर्थात् उसका पूरा लावण्य चित्र मे नही दिखाया जा सका है। वस्तुत जिसे स्वय ब्रह्मा ने चित्रफलक पर रख कर अपनी तूलिका से बनाया हो, इतना ही नही त्रिलोक का सौन्दय एकत्र कर जिसका निर्माण किया हो उसका कोई मनुष्य अपनी साधारण तूलिका से कैसे निर्माण कर सकता था, अत दुष्यन्त का यह कथन सत्य है। वस्तुत सौन्दय चित्रित किया ही नही जा सकता है क्योकि वह तो क्षण-क्षण मे नवीनता धारण करने वाला होता है महाकवि बिहारी का यह कथन सत्य ही है "लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि गहि गरब गरूर, भये न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर।" तात्पय यह कि चित्रनिर्माण पद्धति के अनुसार उसको सुन्दर बनाने की बात तो दूर रही, उसका अपना ही पूरा सौन्दय मैं चित्रित नही कर पाया हूँ, केवल उसकी वाह्या-कृति की रूपरेखा ही चित्रित कर सका हूँ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अनुष्टुप् छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—चित्रे—आलेख्ये, यत् यत् (अङ्गम्)=शरीरावयव सस्थानम्, साधु=सम्यक्, न स्यात्=न भवेत्, तत् तद् (अङ्गम्)=तत्तदवयवसस्थानम्, अन्यथा क्रियते=चित्रकारेण विकल विपरीत वा विधीयते, परावृत्य चित्रे विलिख्यत इत्यर्थ, तथापि=एतादृश्या चित्रपद्धतौ सत्यामपि, तस्या =शकुन्तलाया, लावण्यम्=

सानुमती—सदृश मेतत् पश्चात्तापगुरो स्नेहस्यानवलेपस्य च । [सरिस एद पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ ।]

विदूषक—भो, इदानीं तिस्रस्तत्र भवत्यो दृश्यन्ते । सर्वाश्च दर्शनीया । कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला ? [भो, दाणि तिण्हिेओ तत्तहोदीओ दीसन्ति। सव्वाओ अ दसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला ?]

सानुमती—अनभिज्ञ खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरय जन । [अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रुवस्स मोहदिट्ठी अअ जणो ।]

राजा—त्व तावत् कतमा तर्कयसि ?

विदूषक—तर्कयामि यैषा शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदविन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्या बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला । इतरे सख्याविति [तक्केमि जा एसा सिढिलबन्धणुब्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिण्ण-

---

सर्वांगव्यापि सौदयम् रेखया=मत्कृतया तूलिकाविहितया रेखया, किञ्चित्=अल्पमेव न तु साकल्येन, अन्वितम्=सम्वद्धम् ।

सस्कृत सरलार्थ—विदूषककृतचित्रप्रशसा माकर्ण्य राजा कथयति यत् प्राय चित्रकारै चित्रनिर्माणकाले व्यक्तिविशेषस्य यद्यदङ्गमसुन्दर लक्ष्यते तत्तदङ्ग चित्रे सुदर विधीयते, यद्यप्यस्त्येतादृशी प्रायेण चित्रनिर्माणपद्धतिस्तथापि शकुन्तलाया अस्मिन् चित्रे तस्या शरीरलावण्यन्तु मत्कृतया तूलिकाविहितया रेखया अल्पमेव न तु साकल्येन सम्वद्धम्, चित्रेऽस्मिन्नास्ति तस्या अपूवलावण्य साकल्येन चित्रीकृतम्, तत्कर्तुमसामर्थ्यादिति ।

टिप्पणी

खादितव्य—राजा के ध्यान को अन्यत्र खीचने के लिए वह यह कहता है कि भूख मुझे खा जायेगी अर्थात् मैं बडा भूखा हूँ । **स्खलति**—चित्र मे शरीर के स्तनादि उन्नत एव नाभि आदि नत अगो को बडी सावधानी से चित्रित किया गया था अत विदूषक की दृष्टि इन नतोन्नत शरीरावयवो पर रुक रुक कर पड रही थी ।

सानुमती—यह अर्थात् राजा का यह कथन उसके, पश्चात्ताप के कारण बढे हुये स्नेह और निरभिमान के अनुरूप ही है ।

विदूषक—मित्र, इस समय (इसमे) तीन माननीय स्त्रियाँ दिखलाई पड रही हैं और सभी सुदर हैं । इनमे से कौन सी स्त्री शकुन्तला है ?

सानुमती—इस प्रकार के रूप की पहचान न रखने वाला यह व्यक्ति अर्थात् विदूषक निरथक दृष्टि वाला है अर्थात् इसकी दृष्टि व्यथ है ।

राजा—अच्छा, तो तुम किसको शकुन्तला समझते हो ?

विदूषक—मै समझता हूँ कि जो यह, जिसके जूडे के ढीले पड जाने से (उसमे लगे हुये) फूल गिर गये है, ऐसे केशपाश से (युक्त) एव जिसके मुख पर पसीने की बूँदें

स्सेअबिन्दुणा बअणेण विसेसदो ओसरिआहि वाहाहि अवसेअसिणिद्धतरुण-पल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला। इदराओ सहीओ त्ति।]

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्णिकोच्छ्वासात्॥१५॥

चतुरिके! अर्धलिखितमेतद् विनोदस्थानम् गच्छ, वर्तिकां तावदानय।

झलक आई है तथा जिसकी भुजाये विशेष रूप से झुकी हुई हैं और जो जल सेचन से चिकने नवोद्गत पल्लवो वाले आम्रवृक्ष के पास कुछ थकी हुई सी चित्रित की गई है, वह शकुन्तला है और दूसरी दो उसकी सखियाँ है।

राजा—आप चतुर है। इस चित्र मे मेरे भावो का भी चिह्न है।

स्विन्नेति—अन्वय—रेखाप्रान्तेषु मलिन स्विन्नाङ्गुलिविनिवेश दृश्यते, इद च कपोलपतितम् अश्रु वर्णिकोच्छ्वासात् दृश्यम्।

शब्दार्थ—रेखाप्रान्तेषु=चित्र की रेखाओ के किनारो पर, मलिन=मलिन—कुछ काले वण का, स्विन्नाङ्गुलिविनिवेश=स्वेद युक्त अँगुलियो का विन्यास, दृश्यते=दिखलाई पड रहा है। इद च कपोलपतितम् अश्रु=और यह कपोल पर गिरा हुआ आँसू, वर्णिकोच्छ्वामात्=रग के फैल जाने से, दृश्यम्=दृष्टिगत हो रहा है।

अनुवाद—चित्र की रेखाओ के किनारो पर कुछ काले वर्ण का मलिन, स्वेद युक्त अँगुलियो का विन्यास दिखलाई पड रहा है, और यह कपोल पर गिरा हुआ आँसू, रग के फैल जाने से दृष्टिगत हो रहा है।

भावार्थ—राजा विदूषक से कहता है कि इस चित्र मे मेरे सात्विक भावों का चिह्न भी देखा जा सकता है अर्थात् चित्र बनाते समय जो मुझमे स्वेद और अश्रु इन दो सात्विक भावो का उदय हुआ था वह दोनो ही इस चित्र मे देखे जा सकते हैं, चित्र की रेखाओ के किनारो पर तो मेरी सस्वेदाङ्गुलियो का रखना देखा जा सकता है इसीलिए रेखाओ के किनारे कुछ मलिन हो गये है, सस्वेद अँगुलियो के रखने से किनारो का मलिन (मैला—गन्दा) हो जाना स्वाभाविक ही है, यह मेरे स्वेदसात्विक का चिह्न है, और दूसरा सात्विक भाव—आँसू है जो कि शकुन्तला के कपोल पर गिरने से रग के फैल जाने से स्पष्ट दिखलाई पड रहा है। आँसू के गिरने से रग का फैल जाना भी स्वाभाविक है।

इस प्रकार आठ सात्विक भावो मे से यहाँ मेरे दो (स्वेद और अश्रु) सात्विक भावो का चिह्न स्पष्ट देखा जा सकता है।

विशेष—सात्विक भावो का उदय, स्वेद से चित्ररेखाओ का मलिन का होना, अश्रु पतन से रग का फैल जाना, यह सब स्वाभाविक काय हैं, अत स्वभावोक्ति अलंकार

सात्विकभावोदय से राजा की भावविह्वलता का भी अनुमान होने से **अनुमानालंकार** भी है। आर्या जाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—रेखाप्रान्तेषु=चित्रफलकस्य प्रान्तभागेषु, मलिन=श्याम-वर्णः, स्विन्नानाम् स्वेदयुक्तानाम् अङ्गुलीनाम् विनिवेश विन्यास—स्विन्नाङ्गुलिविनि-वेश, दृश्यते=समवलोक्यते। इद च=एतच्च, कपोलपतितम्=चित्रगत शकुन्तलाया गण्डप्रदेशनिपतितम्, अश्रु—नेत्रजलम्, वर्णिकोच्छ्वासात्—चित्रसाधनी-भूतलेपप्रसरणात्, दृश्यम्=दृष्टु शक्यम्।

संस्कृत सरलार्थ—राजा विदूषक कथयति यदस्मिन् चित्रे मदीयसात्विक भावोदयचिह्नमप्यस्ति, चित्रगतरेखाप्रान्तभागेषु स्वेदयुक्ताङ्गुलिविन्यासो श्याम-वर्णोऽवलोक्यते, यश्चास्ति मयि स्वेदसात्विकभावोदयस्य सूचक। चित्रगतशकुन्तला-कपोलदेशे निपतितमश्रु चित्रसाधनीभूतलेपस्य प्रसरणात्, दृश्यमेवास्ति।

चतुरिके— इति—हे चतुरिके, जाओ, यह मनोविनाद की वस्तु (अभी) अर्धचित्रित ही है (अत) चित्र में रग भरने की कूची ले आओ।

टिप्पणी

पश्चात्तापगुरो—शकुन्तला परित्याग के पश्चात्ताप के कारण बढे हुये अथवा वृद्धि को प्राप्त हुये। पश्चात्ताप के कारण उसका अनुराग और अधिक बढ गया था। **अनवलेपस्य**—अव+लिप्+घञ्—अवलेप=अभिमान, घमण्ड, अनवलेप=गर्व रहित। **मोघदृष्टि**—मोघा दृष्टि यस्य स, असफल या निरर्थक दृष्टि वाला, सानुमती विदूषक को मोघदृष्टि इसलिये कहती है कि वह अपूर्वलावण्यवती शकुन्तला को प्रथम दृष्टि मे ही नही पहचान सका था, वस्तुत सानुमती का यह विचार उपयुक्त न था, विदूषक तो जानबूझ कर ही अनभिज्ञ बन रहा था, वह शकुन्तला को देखते ही पहचान गया था जैसा कि वह दूसरे वाक्य मे राजा से स्वय कहता है। **शिथिल०**—शिथिल यत् बन्धन तेन उद्वान्तानि कुसुमानि यस्मात्तेन। **उद्भिन्नस्वेदबिन्दुना**—उद्भिन्ना स्वेदस्य बिन्दव यस्मिन् तेन। **विशेषतोऽपसृताभ्याम्**—सुन्दरी नायिकाओ की भुजायें स्वत एव कुछ झुकी हुई होती हैं, पर शकुन्तला की वे अत्यधिक अवनत थीं, जिससे उसका सौन्दर्यातिशय प्रकट हो रहा था। **भावचिह्नम्**—भाव से तात्पर्य—सात्विक भावो से है जोकि 'स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय नाम से आठ होते हैं, यहाँ स्वेद और अश्रु दो का निर्देश किया गया है। स्विन्ना स्वेदार्द्रा या अङ्गुलय तासा विनिवेश। स्विद्धातो क्त प्रत्यये, धातो दकारस्य प्रत्ययतकारस्य च नत्वे—स्विन्न, **विनिवेश**—वि+नि+विश्+घञ्। दृश्यम्=द्रष्टु योग्यम्—दृश्+यत्। **वर्णिकोच्छ्वासात्**—वर्णिका और वर्णक दोनों का ही अर्थ रग है उच्छ्वास=फैलना। उत्+श्वस्+घञ्। कहीं वर्णिका के स्थान पर 'वर्तिका' पाठ है—वर्तिका का अर्थ—चित्रपट का लेप या रग वर्तिका रग भरने की कूँची को भी कहते हैं, अर्थ मे कोई विशेष अन्तर नहीं है।

चतुरिका—आर्य माधव्य, अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि ।
[अज्ज माढव्व, अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि ।]

राजा—अहमेवैतदवलम्बे ।

(इति यथोक्तं करोति) ।

(निष्क्रान्ता चेटी ।)

राजा—(निःश्वस्य) अहं हि—

साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं,
चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य,
जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥१६॥

चतुरिका—आर्य माधव्य, (इस) चित्रपट को पकड लीजिये, जब तक कि मैं (लौटकर) आती हूँ ।

राजा—मैं ही इसे पकड लेता हूँ । (वह चित्रपट को पकड लेता है)

(चेटी का प्रस्थान)

राजा—(लम्बी सास लेकर) मै तो—

साक्षादिति—अन्वय—सखे, पूर्वम् साक्षात् उपगताम् प्रियाम् अपहाय, पुनः चित्रार्पिताम् इमाम् बहुमन्यमानः पथि निकामजलाम् स्रोतोवहाम् अतीत्य मृगतृष्णिकायाम् प्रणयवान् जातः ।

शब्दार्थ—सखे—मित्र, पूर्वम्=पहले, साक्षात्=प्रत्यक्ष रूप से, उपगताम् प्रियाम्=समीप आई हुई प्रिया शकुन्तला को, अपहाय=छोडकर, पुनः=अब इस समय, चित्रार्पिताम्=चित्रलिखित, इमाम्=इस शकुन्तला को, बहुमन्यमानः= अत्यधिक आदर देता हुआ (मै) पथि=मार्ग मे निकामजलाम्=पूर्णतया जल से भरी हुई, स्रोतोवहाम्=नदी को, अतीत्य=पार करके—छोडकर, मृगतृष्णिकायाम्= मरुमरीचिका मे, प्रणयवान् जातः=प्रेम करने वाला हो गया हूँ ।

अनुवाद—मित्र, पहले प्रत्यक्षतः समीप आई हुई प्रिया शकुन्तला को छोडकर, अब इस समय चित्रलिखित इस शकुन्तला को अत्यधिक आदर देता हुआ (मैं) मार्ग मे पूर्णतया जल से भरी हुई नदी को छोडकर मरुमरीचिका मे प्रेम करने वाला हो गया हूँ ।

भावार्थ—चित्रफलक पर शकुन्तला के चित्र को बडे प्रेमपूर्वक देखता हुआ राजा विदूषक से कहता है, मित्र, जब मेरी प्रिया शकुन्तला पहले मेरे पास प्रत्यक्षरूप मे आई थी तब तो मैंने उसका तिरस्कार कर दिया था किन्तु अब चित्रलिखित उसी शकुन्तला को मै बहुत बडा आदर दे रहा हूँ। ऐसा करते हुये अब मेरी वही स्थिति है जो उस प्यासे व्यक्ति की होती है जो कि मार्ग मे पडने वाली पूर्णजला नदी को छोडकर मृगतृष्णा मे प्रेम करने लगता है, अर्थात् जलपूर्ण नदी को छोडकर मृगतृष्णा

से अपनी प्यास बुझाना चाहता है। चित्रगत शकुन्तला को अत्यादर की दृष्टि से देखना मृगतृष्णा से प्यास बुझाने के समान है, अत यह उपहासास्पद है।

विशेष—मृगतृष्णा से प्यास बुझाना असम्भव है, श्लोक के पूर्वार्ध एव उत्तरार्ध उपमा के रूप मे समाप्त होते है अत यहाँ असम्भवद् वस्तु सम्बन्ध रूप **निदर्शनालङ्कार है, काव्यलिङ्ग**—श्रुति, वृत्ति अनुप्रास, प्रसादगुण, वैदर्भी रीति। वसन्ततिलका छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—सखे=वयस्य विदूषक, पूर्वम्=अव्यवहितकाले न तु कालान्तरे, साक्षात्=प्रत्यक्षत, उपगताम्=मत्समीपमागताम्, प्रियाम्=हृदयवल्लभा शकुन्तलाम्, अपहाय=अवगणय्य न तु त्यक्त्वा, त्यक्तस्य पुनरुपादाने महापुरुषस्यानौचित्यात्। पुन=अनन्तरम्, इदानीमित्यर्थ, चित्रार्पिताम्=चित्रलिखिताम्, इमाम्—पुरोदृश्यमानाम् (शकुन्तलाम्) बहुमन्यमान=अत्यादरेण प्रेम्णा चावलोकयमान, पथि=मार्गे, निकाम प्रभूत जल सलिलम् यस्या ताम्—निकामजलाम् परिपूर्णोदकाम्, स्रोतोवहाम्=प्रवहद्रूपा नदीम्, अतीत्य=उल्लङ्घ्य, मृगतृष्णिकायाम्=मरुमरीचिकायाम्, प्रणयवान्=सतृष्ण अभिलाषुको वा जलार्थी वा, जात=सम्वृत्तोऽस्मि।

संस्कृत सरलार्थ—चित्रगता शकुन्तला सबहुमानमवलोकयन् राजा विदूषक कथयति, वयस्य, यदा प्रिया शकुन्तला प्राक प्रत्यक्षतो मत्समीप मागता तदा मया सा समुपेक्षिता परमिदानीमिमा चित्रलिखिता मत्यादरेणावलोकयन्नह तथैव स्वकीया प्रेमपिपासा मपनेतु मुत्सुको जातोऽस्मि यथा पिपासाकुल कश्चिन्मार्गे परिपूर्णोदका प्रवहमाना नदी मुल्लङ्घ्य मरुमरीचिकयात्मपिपासाशान्त्यर्थं मभिलाषुको भवति। प्रियामवगणय्य कृत्रिमे चित्रे मनो योजयन्नह मूर्ख एवास्मि इति भाव।

टिप्पणी

अपहाय—अप+ओहाक त्यागे+क्त्वा—ल्यप्। प्रियाम्=प्रीङ् धातो क प्रत्यये ईकारस्येयङ् स्त्रीत्वे टाप्। **उपगताम्**—उप+गम्+क्त, **स्रोतोवहाम्**—वहतीति वहा पचाद्यच् स्रोतसा वहा स्रोतोवहा ताम्। **निकामजलाम्**—निवृत्त काम यस्मात् अनेन वा निकाममम्, निकाम जल यस्या सा ताम्। अपहाय—इसका अर्थ यहाँ उपेक्षा करके है, छोडकर नही, क्योंकि एक बार छोडी गई वस्तु को पुन ग्रहण करना दुष्यन्त जैसे राजर्षि के लिये अनुचित होना। अतीत्य—अति+इ+क्त्वा—ल्यप्—पार करके, बीच मे ही छोडकर, **चित्रार्पिताम्**—चित्रे अर्पिता लिखिता ताम्। **बहुमन्यमान**—बहु+मन्+शानच। **प्रणयवान**—प्रणीयते अनेनेति प्रणय, प्र+नी धातो 'एरच्' इति अच् प्रत्यय करणे प्रणयोऽस्त्यस्येत्यर्थे मतुप—प्रणयवान् अर्थात् प्रणयी। प्रणय+सुखादिभ्यश्चेति इनि, यही शब्द अधिक प्रचलित है पर कालिदास ने दोनो ही शब्दो का प्रयोग किया है 'अङ्काश्रयप्रणयिन शाकु०' प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनम्' रघु०। सा हि प्रणयवत्यासीत् रघु०। **मृगतृष्णिकायाम्**—मृगाणा तृष्णा मृगतृष्णा सास्त्यस्मिन् इति मृगतृष्णा सा एव मृगतृष्णिका। मृगतृष्णा से मत्वर्थ मे अच् होकर मृगतृष्णा, पुन क प्रत्यय टाप्। 'मृगतृष्णा मरीचिका' इस कोश के अनुसार मृगतृष्णा को मरुमरीचिका

विदूषक—(आत्मगतम्) एषोऽत्रभवान् नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां सक्रान्त । (प्रकाशम्) अपर किमत्र लेखितव्यम् ? [एसो अत्तभव णदिं अतिक्कमिअ मिअतिण्हिआ सकन्तो । भो, अवर कि एत्थ लिहिदव्वम्]

सानुमती—यो य प्रदेश सख्या मेऽभिरूपस्त तमालेखितुकामो भवेत् । [जो जो पदेसो सहीए मे अहिरुवो त त आलिहिदुकामो भवे ।

राजा—श्रूयताम्,

कार्या सैकतलीनहसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध ,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम् ॥१७॥

भी कहा जाता है । मरुस्थल मे सूय किरणो के सचार को जल समझ कर मृग भ्रमवश अपनी प्यास बुझाने को उधर ही भागता है पर वहाँ जल न पाकर भीषण गर्मी से स्वय मर जाता है। अत मरुमरीचिका या मृगतृष्णा शब्द झूठी तृष्णा के अर्थ मे प्रचलित है ।

विदूषक—(मन मे) अच्छा, यह महाराज नदी पार करके मृगतृष्णा मे प्रविष्ट हो गये हैं (प्रकट) महाराज ! अब आपको इसमे और क्या बनाना है ?

सानुमती—मेरी सखी को जो-जो स्थान पसन्द हैं, उन-उन को यह, बनाने के लिये इच्छुक होगे ।

राजा—सुनिये,

कार्येति अन्वय—सैकतलीनहसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी कार्या, ताम् अभित निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना पादा (कार्या) शाखालम्बितवल्कलस्य तरो अध कृष्णमृगस्य शृङ्गे वामनयनम् कण्डूयमानाम् मृगीम् च निर्मातुम् इच्छामि ।

शब्दार्थ—सैकतलीनहसमिथुना=जिसके रेतीले किनारे पर हसो के जोडे बैठे हुये हैं, स्रोतोवहा मालिनी कार्या=(ऐसी) मालिनी नामक नदी बनानी है । ताम् अभित=उसके दोनो ओर, निषण्णहरिणा=जिन पर हरिण बैठे हुये हैं (ऐसे) गौरीगुरो=हिमालय पवत की, पावना पादा कार्या=पवित्र पहाडियाँ (प्रत्यन्त पवत) बनानी हैं । शाखालम्बितवल्कलस्य=जिसकी शाखाओ पर वल्कलवस्त्र लटके हुये है, तरो=(ऐसे) वृक्ष के, अध=नीचे, कृष्णमृगस्य=कृष्णमृग के, शृङ्गे=सीग पर, वामनयनम्=बायें नेत्र को, कण्डूयमानाम्=खुजलाती हुई, मृगीम् च=और मृगी को, निर्मातुम् इच्छामि=बनाना चाहता हूँ ।

अनुवाद—जिसके रेतीले किनारे पर हसो के जोडे बैठे हुये हैं ऐसी मालिनी नामक नदी बनाना है, उसके दोनो ओर, जिन पर हिरण बैठे हुये है ऐसे हिमालय की प्रत्यन्त पहाडियाँ बनानी है । जिसकी शाखाओ पर वल्कलवस्त्र लटके हुये है ऐसे वृक्ष

के नीचे, कृष्णमृग के सींग पर बायें नेत्र को खुजलाती हुई हरिणी को भी बनाना चाहता हूँ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'कार्या' इस' क्रिया पद से स्रोतोवहा तथा पादा इन दोनो अप्रस्तुत पदार्थों का कमरूप म सम्बन्ध ह अत **तुल्ययोगितालकार** हे, **स्वभावोक्ति**, गौरीगुरो मे प्रमगापादान से **उदात्तालकार** छेक, वृत्ति, श्रुति **अनुप्रास** शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द है। इस पद्य से राजा आश्रमस्थ पूर्वानुभूत तत्कालीन सभी उद्दीपन विभावो का स्मरण करता है। स्मयमाण होकर ये सभी उद्दीपक पदार्थ सम्भ्रम प्रवासहेतुक विरह की पुष्टि करते हैं।

सस्कृत व्याख्या—सैकते=वालुकामये पुलिने, लीनानि=उपविष्टानि हसमिथुनानि हसाना द्वन्द्वानि यस्या सा—सैकतलीनहसमिथुना, स्रोतोवहा=नदी, मालिनी=मालिनीति नाम्नी नदी, कार्या=चित्रयितव्या। ताम्—मालिनीम, अभित= उभयन, निषण्णा उविष्टा हरिणा मृगा येषु ते—निषण्णहरिणा, गौर्या शिवाया गुरु जनक तस्य—गौरीगुरो=हिमालयस्य, पावना=पवित्रा, पादा=प्रत्यन्तपर्वता, (कार्या=आलेख्या) शाखासु लम्बितानि अवसक्तानि वल्कलानि मुनिपरिधेयवृक्षत्वच यस्य तस्य—शाखालम्बितवल्कलस्य, तरो=वृक्षस्य, अधः=नीचै, कृष्णमृगस्य= कृष्णसाराख्यमृगविशेषस्य, श्रृङ्गे=विषाणे, वामनयनम्=दक्षिणेतरनेत्रम्, कण्डूयमानाम्=घषयन्तीम्, मृगीम्—हरिणीम च, निर्मातुम्=आलेखितुम्, इच्छामि= वाञ्छामि।

सस्कृत सरलार्थ—दुष्यन्तो विदूषक कथयति यदस्मिन् चित्रे मया सा मालिनी नदी आलेख्यास्ति यस्या वालुकामयपुनिनप्रदेशेषु हसद्वन्द्वानि उपविष्टानि सन्ति, ता मालिनी नदी मुभयत मया हिमालयस्य ते पवित्रा प्रत्यन्तपर्वता अपि चित्रयितव्या, यत्र हरिणा उपविष्टा सन्ति एवञ्चाह शाखावसक्तवल्कलस्य वृक्षस्याध कृष्णमृगस्य विषाणे रिरसया स्वकीय वामनेत्र घषयन्ती मृगीमपि आलेखितु मिच्छामि।

टिप्पणी

अभिरूप=रुचिकर, **आलेखितुकाम**=आलेखितु काम यस्य स 'तु काम मनसोरपीति नियमादत्र मकारलोप। **सैकत**—सिकता सन्त्यत्रेत्यर्थे सिकता+अण् सिकता शब्द का प्रयोग सदा स्त्रीलिङ्ग बहुवचन मे ही होता है। आप सुमनसो वर्षा अप्सरस् सिकता समा, एते स्त्रियाँ बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रयम्।" **पादा**—समीपवर्तिनी छोटी पहाडियाँ। **ताम् अभित**—अभित इत्यस्य योगे तामित्यत्र द्वितीया। **निषण्ण०**—नि+सद्+क्त धातोदकारस्य प्रत्यय तकारस्य चेति नत्वम्।" **कण्डूयमानाम्**—खुजलाती हुई, मृगी का कृष्णसार मृग के सींग पर वामनेत्र खुजलाना उसकी रिरसा का द्योतक है 'रिरसा यत्र जायेत कण्डूतिस्तत्र जायते। मृगीणा वामनयने योषिता मदनालये" कुमारसम्भव मे भी यही भाव व्यक्त किया गया है—मधुद्विरेफ कुसुमैक पात्रे पपौ प्रिया स्वा मनुवर्तमान। शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसार॥ कार्या आर निमातुमिच्छामि—इन दो समानाथक पर भिन्न-भिन्न शब्दो

विदूषक—(आत्मगतम्) यथाह पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलक लम्बकूर्चाना तापसाना कदम्बै । [जह अह देक्खामि पूरिदव्व णेण चित्तफलअ लम्वकुच्चाण तावसाण कदम्वेहिं ।]

राजा—वयस्य, अन्यच्च । शकुन्तलाया प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृत-मस्माभि ।

विदूषक—किमिव ? (किं विअ)

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य विनयस्य च यत्सदृश भविष्यति । [बणवासस्स सोउमारस्स विणअस्स अ ज सरिस भविस्सदि] ।

राजा—

कृत न कर्णार्पितबन्धन सखे,
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमल,
मृणालसूत्र रचित स्तनान्तरे ॥१८॥

का प्रयोग यह सूचित करता है कि मालिनी और पादा तो कर्तु शक्य ह, पर वामनयन का कण्डूयन चित्रित नही किया जा सकता, यद्यपि राजा ऐसा करना चाहता था । स्रोतोवहा, निषण्णहरिणा, गौरीगुरो आदि शव्दो का प्रयोग, उस स्थान की परमरमणीयता, उद्दीपकता निर्विघ्नविहारक्षमता एव सुरत क्षमता का द्योतक है । विप्रलम्भश्रृङ्गार का उत्तम उदाहरण है ।

विदूषक—(मन में) जैसा कि मुझे प्रतीत होता है कि (अब) यह (इस) चित्र फलक को लम्बी दाढी वाले तपस्वियो के झुण्ड से पूरा करेंगे ।

राजा—मित्र, और (अब) यह (करना है) शकुन्तला की जो प्रसाधन (सजावट) हम करना चाहते थे (वह) इस चित्र मे भूल गये हैं ।

विदूषक—वह क्या ?

सानुमती—(उसके) वनवास, सुकुमारता एव विनयशीलता के अनुरूप जो वस्तु होगी (उसी वस्तु से यह उसकी सजावट करना चाहते होगे)

राजा—

कृतमिति—अन्वय—हे सखे, कर्णार्पितबन्धनम् आगण्डविलम्बिकेसरम् शिरीष न कृतम् । स्तनान्तरे शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम् मृणालसूत्रम् न वा रचितम् ।

शब्दार्थ—हे सखे मित्र, कर्णार्पितबन्धनम्=कानो मे फँसाये गये डण्ठल वाला, आगण्डविलम्बि केसरम्=कपोल पयन्त फैले हुये पराग वाला, शिरीषम्=शिरीष पुष्प को, न कृतम्=नही बनाया है । स्तनान्तरे=स्तनो के बीच, शरच्चन्द्रमरीचि कोमलम्=शरत् कालीन चन्द्रमा की किरणो के समान कोमल, मृणालसूत्रम्=कमल नाल का हार, न वा रचितम्=नही बनाया है ।

अनुवाद—मित्र, (इस चित्र म मैंन) जिसका मूलभाग कानो मे पहना गया

है और जिसका पराग कपोलो तक फैल रहा है ऐसा शिरीष पुष्प चित्रित नही किया है (और न मैंने) शरद् कालीन चन्द्र किरणो के समान कोमल मृणाल (कमल नाल का) हार ही स्तनो के बीच चित्रित किया है।

भावार्थ—राजा कहता है कि इस चित्र मे मै जो शकुन्तला के प्रसाधन को चित्रित करना चाहता था वह इसमे नही कर पाया हूँ, अत इसे अब पूरा करना है, जैसे कि, मैने अब तक इसमे उस शिरीष पुष्प को चित्रित नही किया है जिसका कि मूल भाग शकुन्तला अपने कानो मे पहन लेती थी और तब उसके नीचे लटकने पर उसका पराग उसके कपोलो पर फैल जाता था। इसके अतिरिक्त मैंने उसके स्तनो के बीच पहनने वाले कमल नाल के उस हार को भी चित्रित नही किया है जो कि शरद्कालीन चन्द्र किरणो के समान श्वेत वर्ण का एव कोमल था।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे कृतम् व रचितम् क्रियाओ के समुच्चित होने के कारण **समुच्चयालकार**, शरच्चन्द्रेत्यादि मे **लुप्तोपमालकार**, छेक, वृत्ति और श्रुति **अनुप्रास** और **वशस्थ** नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—हे सखे—वयस्य, कर्णयो अर्पित वन्धनम् यस्य तत्—कर्णार्पितवन्धनम्—श्रोत्रनिवेशितवृत्तम्, आगण्डम् कपोलपर्यन्त विलम्बिन प्रसृता केसरा किञ्जलका यस्य तत्—आगण्डविलम्बिकेसरम्, शिरीषम्=शिरीषकुसुमम्, न कृत =न चित्रितम, वा=किञ्च, स्तनयो कुचयो अन्तरे मध्यभागे—स्तनान्तरे, शरच्चन्द्रस्य शरदिन्दो मरीचिवत् कोमल मृदुलं शुभ्र च—शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम् मृणालसूत्रम्=विसतन्तुघटितो हार, न रचितम्—न चित्रे लिखितम्। एतदुभयमपि विस्मरणकारणान्न चित्रित मत सम्प्रति तत्कर्तुमिच्छामीति भाव।

सस्कृत सरलार्थ—राजा कथयति वयस्य चित्रेऽस्मिन् मया शकुन्तलाप्रसाधनमप्यालेखितु मभिप्रेतम् तद विस्मरणकारणान्न पूर्वं चित्रितम्, एतदिदानी कर्तुमिच्छामि, श्रोत्रविनिवेशितवृन्तम्, कपोलपर्यन्त प्रसृतकेसर शिरीषपुष्प न चित्रितम् एव शरदिन्दुमरीचिवत्कोमल विसतन्तुसूत्रमपि न पूर्व विरचितम्, एतदुभयमपीदानी मह कर्तुमिच्छामि।

टिप्पणी

पश्यामि—इसका यहाँ तात्पर्य है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है। **लम्बकूर्चानाम्**—लम्बा कूर्चा येषान्ते तेषाम्, कदम्बै =झुण्ड या समूह। **आगण्डविलम्बिकेसरम्**—यहाँ पर गण्ड और केसर का परस्पर भूष्य भूषण भाव सम्बन्ध प्रकट होता है जिससे व्यञ्जित होता है कि शिरीषपुष्प न केवल कानो को ही अपितु वह गण्डस्थल को भी सुशोभित करने वाला था। इससे शकुन्तला का अतिसौकुमार्य भी ध्वनित होता है अतएव वह केवल शिरीष जैसे कोमल पुष्प को ही धारण करती थी। **मृणालसूत्रम्**—विसतन्तुओ से बना हुआ हार, स्तनो की पीवरता के कारण केवल विसतन्तु ही उनके अन्तराल मे आ सकता था। मृणालतन्तु एव स्तनो के परस्पर शोभाकारी होने के कारण यहाँ अन्योन्यालकार व्यञ्जित होता है।

विदूषक—भो, किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमावार्य चकितचकितेव स्थिता। (सावधान निरुप्य दृष्ट्वा) आ, एष दास्या पुत्र कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनकमलमभिलङ्घते मधुकर। [भो, किं णु तत्तहोदी रत्ताकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुह आवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ। आ, एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणकमल अहिलङ्घेदि महुअरो।]

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्ट।

विदूषक—भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति। [भव एव्व अविणीदाण सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि।]

राजा—युज्यते। अयि भो कुसुमलताप्रियातिथे, किमत्र दरपतनखेदमनुभवसि?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

विदूषक—श्रीमन्, यह क्या बात है कि देवी शकुन्तला लालकमल के पल्लव के समान सुशोभित अगुलियो से अपने मुख को ढक कर बहुत भयभीत सी खडी हैं। (सावधानी से विचार कर और देख कर) अरे यह नीच, पुष्पो के रस को चुराने वाला भ्रमर इन देवी शकुन्तला के मुख कमल पर आक्रमण कर रहा है। अर्थात् भ्रमर इसके मुख को कमल समझकर इसके रसपान की इच्छा कर रहा है।

राजा—इस धृष्ट (ढीठ भ्रमर) को रोक दो।

विदूषक—दुष्टो के शासक आप ही है (अत) इसको रोकने मे आप ही समथ होगे।

राजा—ठीक है। हे पुष्पित लता के प्रिय अतिथि भ्रमर! तुम क्यो इस शकुन्तला के मुख पर चारो ओर से गिरने का श्रम उठा रहे हो अर्थात् इसके मुख के चारो ओर चक्राकार मँडराने का कष्ट क्यो उठा रहे हो? देखो —

एषेति—अन्वय—अनुरक्ता कुसुमनिषण्णा सती एषा मधुकरी तृषिता सती अपि भवन्तम् प्रतिपालयति। त्वया विना न खलु मधु पिबति।

शब्दार्थ—अनुरक्ता—(तुमसे) प्रेम करने वाली, कुसुमनिषण्णा=पुष्प पर बैठी हुई, एषा मधुकरी=यह भ्रमरी, तृषिता सती अपि=प्यासी होकर भी, भवन्तम् प्रतिपालयति=आपकी प्रतीक्षा कर रही है, त्वया बिना=तुम्हारे बिना, न खलु मधु पिबति=यह वस्तुत मधु का पान नही कर रही है।

अनुवाद—तुमसे प्रेम करने वाली, पुष्प पर बैठी हुई यह भ्रमरी, प्यासी होकर भी, आपकी प्रतीक्षा कर रही है और तुम्हारे बिना यह वस्तुत मधुपान नही कर रही है।

भावार्थ—भ्रमर को सम्बोधित करना हुआ राजा कहता है कि तुमसे अनुराग

रखने वाली, पुष्प पर बैठी हुई यह मधुकरी, यद्यपि मधुपान के लिए तृषिता हो रही है तथापि यह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है और तुम्हारे बिना अकेली यह वस्तुत मधुपान भी नही करना चाहती है, अत तुम शकुन्तला के मुख के आसपास मँडराना छोडकर अपनी इस भ्रमरी के साथ यहाँ आकर पुष्प रसपान करो, वहाँ घूमने से तुम्हे क्या मिलेगा।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे भ्रमर और भ्रमरी पर नायक-नायिका के व्यवहार का समारोपण होने से **समासोक्ति अलकार**, चित्रस्थ भ्रमरी का मधुपान न करना स्वाभाविक है पर यह कहना कि तुम्हारे बिना वह मधुपान नही करती, कृत्रिम है, इस प्रकार दोनो मे अभेदाध्यवसाय होने से **अतिशयोक्ति अलकार**, है, छेक, वृत्ति **अनुप्रास** तथा आर्या जाति छन्द है। यहाँ कुसुमनिषण्ण मे स्थानसाध्यता, अनुरक्ता से सुगम्यता, प्रतिपालयति से प्रेमातिशय, न पिबति से पातिव्रत्य और विशेषानुराग ध्वनित होता है। प्रेमाभिभूत राजा का भ्रमरी पर कोमल भावो का आरोप करना कवि के प्रकृति चित्रण की विशेषता एव विलक्षणता का द्योतक है।

संस्कृत व्याख्या—अनुरक्ता=अनुरागवती, एषा=पुर स्थितचित्रे चित्रिता मधुकरी=भ्रमरी, कुसुमनिषण्णा सती=पुष्पोपरि स्थिता सती, तृषिता अपि, तृषिता=पिपासिता भूत्वा अपि, भवन्तम्=त्वा भ्रमरम्, प्रतिपालयति=प्रतीक्षते, त्वया विना=त्वया भ्रमरेण विना, न खलु मधु पिबति=वस्तुत मधुपान न करोति।

संस्कृत सरलार्थ—प्रेमाभिभूतो राजा भ्रमर सम्बोधयन् कथयति—भ्रमर! त्वमत्र शकुन्तलामुखकमले किमिति परिपतनखेद मनुभवसि, पुष्पोपरि एकाकिनी निषण्णा एषा तव प्रिया, भवति अनुरागवती भ्रमरी तृषिता भूत्वापि भवन्त प्रतीक्षते, भवन्त विहाय एकाकिनी मधुपान कर्तु नेच्छति अतस्त्वयात्रागम्य स्वप्रियया सह मधुपान करणीयम्।

टिप्पणी

रक्तकुवलयपल्लवशोभिना—कुवलय, नीलकमल होता है अत उसके पल्लव रक्त वर्ण नही हो सकते, रक्त कुवलय पल्लव के स्थान पर रक्तपल्लवशोभिना पाठ ही उचित प्रतीत होता है। रक्त कुवलयस्य पल्लववतशोभी तेन। आवाय— आ+वृ+णिच्—क्त्वा—ल्यप् आच्छादित करके, **चकितचकिता**—चकितम्=भयभीत, सामान्ये नपुसकम्, चकिताद् चकिता सहसुपतिसमास अत्यधिक भयभीत। नात्र प्रकारे गुणवचनस्येत्यनेन द्वित्व सम्भवति, नात्र सादृश्यवाधक इवादि शब्द प्रयुक्त। **दास्या पुत्र**—अत्र निन्दार्थे पुत्रऽन्यतरस्यामिति षष्ठ्या अलुक्। परिपतनखेदम्=चारो ओर मँडराने का कष्ट। **कुसुमनिषण्णा**—कुसुमे निषण्णा। **प्रतिपालयति**—प्रति+पाल्+णिच् लट्। साम्य—मधु द्विरेफ कुसुमैकपात्रे—कु० स ।

सानुमती—अद्याभिजात खल्वेष वारित । [अज्ज अभिजाद क्खु एसो वारिदो ।]

विदूषक—प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जाति । [पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी ।]

राजा—एव भो, न मे शासने तिष्ठसि ? श्रूयतां तर्हि सम्प्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीय
पीत मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधर स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया,
त्वा कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

सानुमती—इस समय इन्होने इस भ्रमर को कुलीनजनोचित शिष्ट एव न्यायोचित ढङ्ग से रोका है।

विदूषक—रोके जाने पर भी विपरीत काम करने वाली यह जाति है। भ्रमर जाति वही काम करती है जिसके लिये इसे रोका जाय।

राजा—अच्छा, अरे, तो तू मेरी आज्ञा नही मानता, तो अब यह सुन—

अक्लिष्टेति अन्वय—हे भ्रमर ! अक्लिष्टवालतरुपल्लवलोभनीयम्, मया रतोत्सवेषु सदयम् एव पीतम्, प्रियाया विम्वाधरम् चेत् स्पशसि त्वाम् कमलोदर वन्धनस्थम् कारयामि ।

शब्दार्थ—हे भ्रमर=मधुकर ! अक्लिष्टवालतरुपल्लवलोभनीयम्=न मुझये हुये नवीन तरुपल्लव के तुल्य आकषक (तथा) मया रतोत्सवेषु सदयमेव पीतम्=मेरे द्वारा रतिकाल मे दयापूवक ही पान किये गये, प्रियाया विम्वाधरम्=प्रिया शकुन्तला के विम्वतुल्य अधरोष्ठ का, चेत् स्पृशसि=तुम यदि स्पश करते हो (तो मैं) त्वाम्=तुमको, कमलोदरवन्धनस्थम्=कमल के मध्यभाग रूपी कारागार मे बन्द कारयामि =कराता हूँ।

अनुवाद—हे मधुकर ! न मुझये हुये नवीन तरुपल्लव के समान आकर्षक (तथा) मेरे द्वारा रतिकाल मे सदयता पूर्वक ही पान किये गये प्रिया शकुन्तला के विम्वतुल्य अधरोष्ठ का यदि तुम स्पर्श करते हो तो मैं तम्हे कमल के मध्य भागरूपी कारागार मे बन्द कराता हूँ।

भावार्थ—राजा भ्रमर को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि यदि तू मेरी आज्ञा को नही मानता तो फिर सुन, तेरे लिये यह राजदण्ड होगा, अगर तू मेरी प्रिया के उस विम्व तुल्य अधरोष्ठ का स्पश करेगा जो कि न मुझये हुये नवीन तरु पल्लव के समान सुन्दर है और रतिकाल मे जिसका मैंने भी सदयता पूर्वक ही रसपान किया है तो मैं तुम्हे कमलोदररूप कारागार मे बन्द करा दूगा अर्थात राजाज्ञा भङ्ग करने के अपराध मे तुझे कारागार का कष्ट उठाना पड़ेगा।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे भ्रमर पर प्रतिनायक के व्यवहार का समारोपण होने से **समासोक्ति अलकार**, यद्यपि भ्रमर के लिये कमलोदरबन्धनस्थ होना स्वाभाविक है तथापि यहाँ उसका अपने प्रयोजन का विषय बनाने से **अतिशयोक्ति अलकार**, विम्बाधरम् तथा अक्लिष्टेत्यादि पद मे समासगता **लुप्तोपमा**, **कमलोदरेत्यादि** पद मे रूपक अलकार, कमल शब्द का जल अर्थ भी है अत **श्लेष** अलकार, अक्लिष्टेत्यादि पद विधेय विशेषण है अत भ्रमर के स्पर्श मे हेतु होने से **भ्रान्तिमान** अलकार व्यङ्ग्य है, हेतु और **अनुप्रास** अलकार, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति तथा वसन्ततिलका छन्द है। राजा की घोषणा होने के कारण यहाँ व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि का अग है "व्यवसायश्च विज्ञेय प्रतिज्ञाहेतु सम्भव"।

संस्कृत व्याख्या—हे भ्रमर-मधुकर! अक्लिष्ट अम्लान बाल नूतन य तरो वृक्षस्य पल्लव किसलय तमिव लोभनीयम् आकर्षकम्—अक्लिष्टबालतरुपल्लव लोभनीयम्=अम्लाननूतनतरुपल्लववदाकर्षकम, प्रियाया=हृदयवल्लभाया शकुन्तलाया, विम्बाधरम=पक्वविम्वफलसदृशारक्ताधरोष्ठम, मया=दुष्यन्तेनापि, रतमेवोत्सवस्तेषु—रतोत्सवेषु—सुरतक्रीडामहोत्सवेषु रतिकाल इत्यर्थ, सदयम् एव=सानुकम्पमेव स्वाद स्वाद मेव, पीतम्=आस्वादितम् चेत्—यदि, स्पृशसि=त्वम् दशसि, त्वाम्—तर्हि त्वा भ्रमरम् अहम् कमलस्य उदरम अभ्यन्तरमेव बन्धनम् कारागृहम् तत्र तिष्ठतीति तम् कमलोदरबन्धनस्थम्, कारयामि=केनापि मदीयेन कर्मचारिणा करागृहे प्रापयामि।

संस्कृत सरलार्थ—भ्रमर सम्बोधयन् राजा कथयति—मधुकर, यदि त्व मम हृदयवल्लभाया शकुन्तलाया तम् पक्वविम्वफलसदृशारक्ताधरोष्ठ दशसि, य अम्लाननूतनतरपल्लववदाकर्षक अस्ति यश्च मयापि रतिकाले सानुकम्पमेवास्वादित तर्हि अह त्वा कमलोदररूपकारागृहे प्रापयामि।

टिप्पणी

अभिजात वारित—अभिजात का अर्थ है कुलीन अर्थात् कुलीन व्यक्ति के समान, उचित न्याय पूर्वक रोका गया, "अभिजात स्मृत न्याय्ये" यहाँ सानुमती का अभिप्राय है कि राजा ने अब भी अर्थात् इस अवस्था को प्राप्त होकर भी कितनी कोमलता, न्यायप्रियता, सद्भावना, सतर्कता एव नम्रता के साथ भ्रमर से चले जाने के लिये कहा है जब कि कोई विरह से व्याकुल साधारण व्यक्ति ऐसी विरहाकुल अवस्था मे ऐसा नही कह सकता था इससे राजा की न्यायप्रियता एव आभिजात्यता ध्वनित होती है। **अक्लिष्टेत्यादि**—इससे अधर की अभुक्तता, अम्लानता, रक्तता एव कोमलता प्रकट होती है। यद्यपि पल्लव, तरु का ही होता है तथापि यहाँ तरुपदोपादान से कवि का तात्पर्य तरु मे लगा हुआ ही पल्लव है, क्योकि तरु से टूटने पर पल्लव मे स्वाभाविक कोमलता नही रह जाती। अक्लिष्टविम्बशोभाधरस्य' नागा०। **बिम्बाधरम्**—विम्बाकार विम्बसदृशो वा अधर शाकपार्थिवादित्वात् उत्तरपदलोपि समास नात्र मध्यमपदलोपिसमास सम्भवति, वार्तिके उत्तरपदलोपिसमासस्यैव

विदूषक—एव तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेत्स्यति ? (प्रहस्य। आत्मगतम्) एष तावदुन्मत्त । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव सवृत्त । (प्रकाशम्) भो, चित्र खल्वेतत्। [एव्व तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि ? एसो दाव उम्मत्तो। अह वि एदस्ससगेण ईदिसवण्णो विअ सवुत्तो। भो, चित्त क्खु एद ।]

राजा—कथ चित्रम् ?

सानुमती—अहमपीदानीमवगतार्था। किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येष । [अह पि दाणि अवगदत्था। कि उण जहालिहिदाणुभावी एसो।]

विधानात्। विम्व एक प्रकार का लाल फल होता है। अथवा यहाँ विम्व इव अधर अधर विम्वमिव ऐसा विग्रह करने पर विशेषण विशेष्येण बहुलम् से कमधारय समास होकर मध्यमपदलोपिसमाम भी हो सकता है। नवयुवतियो के अधर की तुलना प्राय कवियो ने विम्व फल से की है—'वेत्तीव विम्वाधरवद्धतृष्णम्—रघु०। विम्वाधरालक्तक-मालवि०। वस्तुत इस समय राजा अन्यमनस्क था इसलिये वह चित्रित भी भ्रमर को वास्तविक भ्रमर समझ रहा था। **रतोत्सवेषु**—उत्सव रूप सुरत-क्रीडाओ मे, **सदयम् एव**—अत्युत्कण्ठित होते हुये भी मेरे द्वारा जिसका धीरे-धीरे, स्वाद-स्वाद से रसपान किया गया था न कि उसे दष्ट किया गया था। **स्पृशसि**—यहाँ राजा का तात्पर्य है कि यदि तुम उसे दष्ट करोगे उस पर निदयता पूवक दन्तक्षत करोगे। **कमलोदरेति**—कमलस्योदररूप यद् वन्धन कारागृहम् तत्र तिष्ठतीति—कमलोदर-वन्धन+स्था+क। कुवलयानन्द का इसी भाव का यह श्लोक द्रष्टव्य है। "रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभात भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कज श्री। इथ विचिन्तयति-कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहार"। वस्तुत राजा का तात्पर्य यहाँ यह है कि अत्यन्त कोमल होने के कारण जिस अधर का मैंने ही रतिकाल मे धीरे-धीरे ही रसास्वाद मात्र किया था उसे यदि तू काटने का प्रयत्न करेगा तो तुझे भी परस्त्री लम्पट की भाँति मेरी राजकीय आज्ञानुसार जेल जाना पडेगा, क्योकि मैं न्यायप्रिय राजा हूँ, लम्पटो को दण्ड देना मेरा कतव्य है। इस प्रकार यह सब वर्णन यहाँ इसलिये अनुचित नही कहा जा सकता क्योकि इस से यहाँ कवि को राजा की उन्मादावस्था का वणन करना ही अभीष्ट है और उन्मादी के लिये ऐसा वार्तालाप स्वाभाविक ही है। ●

विदूषक—इस प्रकार कठोर दण्ड देने वाले (आप से) यह क्यो न डरेगा अर्थात् अवश्य डरेगा। (हँसकर मन मे) यह तो पागल हो गया है, मैं भी इसके साथ के कारण इसी प्रकार का (पागल) हो गया हूँ। (प्रकट) श्रीमान् यह तो चित्र है।

राजा—अरे, क्या यह चित्र है ?

सानुमती—मुझे भी तो अब वास्तविक स्थिति का पता चला है अर्थात् मैं भी अब समझ सकी हूँ कि वस्तुत यह चित्र था साक्षात् शकुन्तला नहीं। तो फिर जैसा

राजा—वयस्य, किमिदमनुष्ठित पौरोभाग्यम्

दर्शनसुखमनुभवत साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ।।२१।।

(इति वाष्प विहरति ।)

चित्र मे अडि्कत है उसी प्रकार का अनुभव करने वाले इस राजा के विषय मे तो कहना ही क्या ? अर्थात् जिसने स्वय चित्र बनाया हो और वह उसे अपनी भावनाओ के अनुसार उसी रूप मे देखे तो इसमे आश्चय ही क्या ?

राजा—मित्र, तुमने यह कैसी मूखता कर डाली ?

दर्शनेति-अन्वय—तन्मयेन हृदयेन साक्षात् इव दशनसुखम् अनुभवत मे स्मृतिकारिणा त्वया कान्ता पुनरपि चित्रीकृता ।

शब्दार्थ—तन्मयेन हृदयेन=शकुन्तलामय चित्त के द्वारा, साक्षात् इव=प्रत्यक्षत, मानो, दशनसुखम् अनुभवत =दशन का आनन्द प्राप्त करते हुये, मे=मुझे, स्मृतिकारिणा=याद दिला देने वाले, त्वया=तुम्हारे द्वारा, कान्ता=प्रिया शकुन्तला, पुनरपि=फिर भी, चित्रीकृता=चित्र मे चित्रित कर दी गई है ।

अनुवाद—शकुन्तलामय चित्त के द्वारा मानो प्रत्यक्ष ही दशनानन्द का अनुभव करने वाले, मुझे याद दिला देने वाले तुम्हारे द्वारा प्रिया शकुन्तला को फिर भी चित्रित कर दिया गया है ।

भावार्थ—खिन्न मन होकर राजा विदूषक से कहता है, कि जब कि मैं तन्मय अर्थात् शकुन्तलामय मन से उसका मानो प्रत्यक्षत दर्शनानन्द प्राप्त कर रहा था उसी समय तुमने यह याद दिला कर कि यह तो चित्र है, साक्षात् शकुन्तला नही, मेरी प्रिया को जो कि साक्षात् मेरे सामने थी, पुन चित्रित कर दिया है, और इस प्रकार तुमने मुझे उसके दशन के सुख से वचित कर दिया है, यह तुम्हारी बहुत बडी धृष्टता है ।

विशेष—'साक्षादिव' मे **वाच्योत्प्रेक्षालकार**, चित्रीकृता मे ***गम्योत्प्रेक्षालकार***' स्मृतिकारिणा चित्रीकृता मे शब्द-शक्तिमूलक विरोधाभास व्यड्ग्य है । भोजराज ने दूसरे के द्वारा स्मरण कराने मे भी **स्मरणालकार** माना है अन्य आचार्यों ने यहाँ **भ्रान्तिमान्** अलकार भी माना है, क्योकि अविकल समानता के कारण चित्र मे राजा को शकुन्तला का भ्रम हो रहा था । इसके अतिरिक्त यहाँ पर विप्रलम्भशृड्गार की अगभूत भाव सन्धि भी है क्योकि पूर्वार्ध मे हष तथा उत्तराध मे विषाद भावो की सन्धि है । छेक, वृत्ति तथा श्रुति अनुप्रास, आर्या जाति नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—तन्मयेन हृदयेन=शकुन्तलामयेन चित्तेन, साक्षादिव=प्रत्यक्षत इव, दशनसुखम्=अवलोकनानन्दम्, अनुभवत =विभावयत , मे—दुष्यन्तस्य, स्मृति करोति कारयति तेन स्मृतिकारिणा=चित्रमिदमिति स्मरण जनयता, त्वया=विदूषकेन, कान्ता=प्रिया शकुन्तला, पुनरपि=भूयोऽपि, चित्रीकृता=आलेख्य समर्पिता ।

सानुमती—पूर्वापरविरोध्यपूर्व एव विरहमार्गः। [पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो।]

राजा—वयस्य, कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

संस्कृत सरलार्थ—राजा विदूषक कथयति—यदाहं शकुन्तलामयेन मनसा तस्याः साक्षादिव दर्शनसुखानुभवं कुर्वन्नासम्, तदा त्वया चित्रमिदं न शकुन्तलेति स्मृति जनयता सा मे कान्ता पुनरपि आलेख्यसमर्पिता कृता।

टिप्पणी

तीक्ष्णवयस्य—वस्तुत विदूषक की राजा के लिये यह व्यङ्ग्योक्ति है। अवगतार्था—अवगत अथ यया सा, मुझे भी अब वास्तविकता ज्ञात हुई है, अब तक तो मैं भी इसे साक्षात् शकुन्तला ही समझ रही थी।

यथालिखितानुभावी—जैसा इसने शकुन्तला का चित्र बनाया था वैसा ही यह अनुभव कर रहा था, चित्रकार व्यक्ति विशेष को साक्षात् रूप मे सामने रखकर चित्र बनाता है अतएव वह उस चित्र मे व्यक्ति को साक्षात् रूप मे ही देखता है। "राजा-युज्यते" से लेकर यहाँ तक, भ्रान्ति नामक सन्ध्यन्तराङ्ग है "भ्रान्ति विपर्ययज्ञान प्रसगस्या निश्चयात्" "नून वायतामेष धृष्ट से लेकर यहाँ तक तन्मयत्व-प्रवास विप्र-लम्भ अवस्था बतलाई गई है "तन्मय तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरस्तथा" जब भीतर और बाहर सर्वत्र सारा ससार तन्मय दिखाई पडे तब तन्मय प्रवास विप्रलम्भ होता है "विरहे तन्मय जगत् सर्वम्, यह विप्रलम्भ चार प्रकार का होता है "स च पूर्वरागमान प्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।

पौरोभाग्यम्—धृष्टता या अविनय—दोषमात्र देखना 'पौरोभाग्य दोषदर्शित्वम्' दोषैकदृक् पुरोभागी। अकारण परित्याग' से लेकर यहाँ तक चित्र नामक सन्ध्यन्त-राङ्ग है "चित्र त्वाकारस्य विलेखनम्"।

स्मृतिकारिणा—स्मृति करोतीत्यर्थे साधुकारिण्यर्थे णिनि। चित्रीकृता—अर्थात् जो चित्रित नही थी उसे चित्रित कर दिया अथवा चित्रीकृता का अर्थ है—आश्चर्य रूप कर दी गई "आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्" अमरकोश।

सानुमती—(राजा का) यह विरह मार्ग भूत और वर्तमान कालो के परस्पर विपरीत है अत यह निराला ही है, (इस विरह प्रदर्शन मे पूर्व की और इस समय की घटना मे परस्पर विरोध है, पहले तो इसने चित्र को चित्र समझा और फिर उन्मादावस्था मे उसी को साक्षात् शकुन्तला समझने लगा, और अब फिर चित्र को चित्र समझने लगा है अतएव यह पूर्वापरविरोध है)।

राजा—मित्र, मैं इस प्रकार लगातार दुःख का अनुभव क्यों कर रहा हूँ ?

प्रजागरादिति-अन्वय—प्रजागरात् तस्या स्वप्ने समागम खिलीभूत । वाष्प तु चित्रगताम् अपि एनाम् द्रष्टुम् न ददाति ।

शब्दार्थ=प्रजागरात्=अत्यधिक जागते रहने के कारण, तस्या स्वप्ने समागम =उस शकुन्तला का स्वप्न मे भी मिलना, खिलीभूत =रुक गया या असम्भव हो गया है । वाष्प तु=और आँसू, चित्रगताम् अपि एनाम्=चित्रलिखित भी इस शकुन्तला को, द्रष्टुम् न ददाति=देखने नही देता है ।

अनुवाद—अत्यधिक जागने के कारण उस शकुन्तला का स्वप्न मे भी मिलना असम्भव हो गया है और आँसू चित्रलिखित भी इस शकुन्तला को देखने नही देता ।

भावार्थ—राजा विदूषक से कहता है कि मैं रात दिन विरह दु ख का ही अनुभव करता रहता है, रात मे शकुन्तलागत चिन्ता के कारण नीद नही आती अत स्वप्न मे भी उसे देख नही पाता, दिन मे यदि चित्र मे उसे देखना चाहूँ तो आँसूओ के कारण देख नही पाता इस प्रकार कभी एक क्षण भी उसका दशन कर सुखानुभव नही कर पाता ।

विशेष—यहाँ पर वाष्प और जागरण रूप हेतुओ से अदशन और अनिद्रा रूप हेतुमानो का अभेद बतलाया गया है अत हेतु अलकार है "अभेदनाभिधा हेतु र्हेतो र्हेतुमता सह ।" यहाँ 'दर्शनसुखम्' से लेकर यहाँ तक विरोधन नामक अवमश अन्धि का अग है, क्योकि यहाँ सुखानुभव काय के प्रति विघ्न पडना बतलाया गया है । "कार्यात्ययोपशमन विरोधनमिति स्मृतम् ।" पथ्यावक्त्र नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—प्रजागरात्=अत्यधिक रात्रिजागरणात्, तस्या =शकुन्तलाया स्वप्ने=निद्रावस्थायाम्, समागम =सम्मेलनम्, खिलीभूत =अवरुद्ध । वाष्प तु= अविश्रान्ताश्रुसचारस्तु, चित्रगताम्=चित्रलिखिताम् अपि, एनाम्=शकुन्तलाम्, द्रष्टु न ददाति=दर्शनयोग्या न विदधाति ।

सस्कृत सरलाथ—राजा विदूषक कथयति—यद्रात्रावधिकजागरणात् तस्या शकुन्तलाया निद्रितावस्थाया सम्मेलन मसम्भव जातम् । चित्रदशनकाले अविश्रान्ता-श्रुसचारश्चित्रिता मप्येना न दशनयोग्या करोति, एव महोरात्र तस्या दर्शनाभावादह मविश्रान्त दु ख मनुभवामि ।

इतीति—(यह कहकर आँसू बहाता है)

टिप्पणी

पूर्वापरविरोधी—पूवश्च अपरश्च तयो विरोध सोऽस्यास्तीति पूर्वापरविरोधी । इसके विरह का प्रदशन वस्तुत पूर्वापर घटनाओ का विरोधी है अतएव यह अपूर्व है, जब शकुन्तला साक्षात् रूप मे इसके पास आई तब तो इसने उसका परित्याग कर दिया और अब उसके लिये पश्चात्ताप करता है । **खिलीभूत**—खिल का अथ ऊपर भूमि जहाँ कोई बीज नही उगता अतएव यहाँ इसका अथ है, असम्भव या अवरुद्ध । कवि का यह बडा सुन्दर श्लोक है, इसी भाव की अन्य सूक्तियाँ भी उपलब्ध होती है "मत्सभोग कथमुपनयेत् (मे० ३१) त्वामालिख्य मेघ० ४५ । कथमुपलभे निद्रां

सानुमती—सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः। [सव्वहा पमज्जिद तुए पच्चादेसदुःख सउन्दलाया।]

(प्रविश्य)

चतुरिका—जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि। [जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरण्डअ गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिदम्हि।]

राजा—किं च?

चतुरिका—स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः। [सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सवलक्कारं गहीदो।]

विदूषक—दिष्ट्या त्वं मुक्ता। [दिट्ठिआ तुमं मुक्का।]

चतुरिका—यावद् देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा। [जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता।]

राजा—वयस्य, उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च, भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

समागमकारिणीम् (वक्रमो०) "स्वप्नेऽपि दुर्लभ महो तव दर्शनं मे, चञ्चच्चकोरनयनेऽस्मि यतो विनिद्रः।"

सानुमती—आपने (इस प्रकार) शकुन्तला के परित्याग का दुःख पूर्णरूप से धो डाला है।

(प्रवेश करके)

चतुरिका—महाराज की जय हो। मैं तो तूलिका की पेटी लेकर इधर की ओर ही आ रही थी।

राजा—तो, फिर क्या हुआ।

चतुरिका—उसे मेरे हाथ से, तरलिका के साथ देवी वसुमती ने, यह कह कर कि मैं ही इसे आर्य पुत्र के पास ले जाऊँगी, बीच ही में बलपूर्वक छीन लिया।

विदूषक—अच्छा हुआ, तू बच गई अर्थात् बड़े सौभाग्य की बात हुई कि तू उनके हाथ से बचकर निकल आई, पिटी नहीं।

चतुरिका—वृक्ष की शाखा में उलझे हुये देवी के दुपट्टे को जब तक तरलिका छुड़ावे तब तक मैंने अपने को बचा लिया अर्थात् मैं चुपचाप निकल आई।

राजा—मित्र, देवी अधिक स्वाभिमान के कारण गर्विता हैं और अब आने ही वाली हैं। आप इस चित्र की रक्षा करें।

विदूषकः—आत्मानमिति भण। (चित्रफलकमादाय उत्थाय च) यदि भवानन्तःपुरकूटवागुरातो मोक्ष्यते तदा मा मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दायय। [अत्ताण त्ति भणाहि। जइ भव अन्तेउलकूडवागुरादो मुञ्चीअदि तदो म मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावहि।]

(इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः।)

सानुमती—अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसम्भावनामपेक्षते शिथिल-सौहार्द इदानीमेष। [अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि सिढिल-सोहदो दाणिं एसो।]

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—जयतु जयतु देवः। [जेदु जदु देवो।]

राजा—वेत्रवति, न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।

विदूषक—यह कहिये कि मेरी रक्षा करें (अर्थात् आप साफ-साफ यह क्यो नहीं कहते कि देवी के हाथ से मेरी भी रक्षा करो, केवल चित्र की ही नही (चित्र-फलक को लेकर और उठकर) यदि आप अन्तःपुर के कूट जाल से मुक्त हो जायें तो आप मुझे मेघप्रतिच्छन्द नामक प्रासाद पर बुला लें। (कहीं—कूट वागुरातो के स्थान पर कालकूटात् भी पाठ है वहाँ उसका अथ कालवत् कूट अर्थात "कठिन माया जाल से बच सकें" है, दानो अर्थों मे कोई विशेष अन्तर नही है।)

(यह कहकर शीघ्रता से निकल गया)

टिप्पणी

अन्तरा— माग के वीच मे ही। **वर्तिका करण्डकम्**—वर्तते इति वर्तिका, वृत् कर्तरि ण्वुल्—करण्डक=डिब्बा या पेटी जिसमे रग भरने की कूचियाँ रखी जाती हैं। **इतो मुखम्**—इत मुख यस्मिन् कमणि तद् यथा स्यात्तथा। **तरलिकाद्वितीयया**—तरलिका द्वितीया यस्यास्तया। **उत्तरीयम**—उत्तरस्मिन् भवमित्यर्थे उत्तर+छ। **निर्वाहित**—निर+वह्+णिच कमणि क्त। यदा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियम्—बुद्ध च०। **कूटवागुरात**—वागुरा=जाल, प्रपञ्च जाल या मायाजाल से, **बहुमानगर्विता**—बहुमानेन गर्विता 'मान स्त्रीणामीर्ष्याकृत कोप। **शब्दायय**—शब्द कुर्वन्त प्रेरयतीत्यर्थे शब्द+क्यङ्+णिच्—लोट्—शब्दाय नामधातु। तत णिच् लोट्। **धात्वर्थेनोप-संग्रहादकर्मकत्वम्, अण्यन्तकर्तरि** अहमित्यत्र गतिबुद्धीति कमत्वम्।

सानुमती—अन्य अर्थात् दूसरी नायिका अर्थात् शकुन्तला पर आसक्त चित्त होकर भी (और) अब (वसुमती के प्रति) शिथिल प्रेम वाला होकर भी यह पुराने प्रेम और आदर का ध्यान रखता है।

(पत्र हाथ मे लिये हुये प्रवेश करके)

प्रतीहारी—महाराज की जय हो।

राजा—वेत्रवती, क्या तुमने माग में देवी वासुमती को नहीं देखा था ?

प्रतीहारी—अथ किम् ? पत्रहस्ता मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता। [अह इं ? पत्तहत्थ म देक्खिअ पडिणिउत्ता।]

राजा—कार्यज्ञा देवी, कार्योपरोध मे परिहरति।

प्रतीहारी—देव, अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षित तद्देव पत्रारूढ प्रत्यक्षीकरोतु—इति। [देव, अमच्चो विण्णवेदि। अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्क एव्व पोरकज्ज अवेक्खिद त देवो पत्तारूढ पच्चक्खीकरेदु त्ति।]

राजा—इत पत्र दर्शय। (प्रतिहार्युपनयति)

राजा—(अनुवाच्य) कथम् ? समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्न। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्ट खल्वनपत्यता। वेत्रवति ! बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यता यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतीहारी—हाँ महाराज ! किन्तु पत्र हाथ मे लिये हुये मुझे देख कर वह लौट गई।

राजा—महारानी काय को समझती हैं अतएव वे कार्य मे बाधा नहीं डालती।

प्रतिहारी—महाराज ! मन्त्री निवेदन करता है कि राजकीय धन सग्रह की गणना की अधिकता के कारण एक ही नागरिक काय की जाच (मैंने) की है, पत्र पर लिखित उसे महाराज देख ले।

राजा—पत्र इधर दिखलाओ। (प्रतीहारी पत्र देती है)

टिप्पणी

अन्यसक्रान्तहृदय—अन्यस्या सक्रान्त हृदय यस्य स। **प्रथम संभावनाम्**—सम्भावना=आदर, पुराने प्रेम का अर्थात् वसुमती के प्रति अपने प्रेम का आदर करता है, प्रथमा या सम्भावना ताम्। **शिथिल सौहार्द**—शिथिल सौहार्द प्रेम यस्य स। **कायज्ञा**—काय के उचितानौचित्य को जानने वाली। **कार्योपरोधम्**—कार्ये उपरोध तम्-कार्य मे विघ्न को, यहाँ कवि ने अवसर के उपस्थित होते हुये भी रगमञ्च पर गृहकलह को उपस्थित नही होने दिया है, क्योकि यह यहाँ नाटक की प्रगति साधक न था अतएव बडी चतुरता से उसे रोक दिया है। **अर्थजात**—सरकारी टैक्स का धन। अवेक्षितम्—जाच की है। **प्रत्यक्षीकरोतु**—अक्षणो प्रति प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष+च्वि+कृ—लोट्।

राजा—(पत्र पढ कर) यह क्या ? समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला धन मित्र नामक मुख्य वणिक् जहाज टूट जाने से मर गया है। वह बेचारा सन्तानहीन

प्रतीहारी—देव, इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्त-पुंसवना जायाऽस्य श्रूयते। [देव, दाणि एव्व साकेद अस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुसवणा जाआ से सुणीअदि।]

राजा—ननु गर्भ पित्र्य रिक्थमर्हति। गच्छ, एवममात्य ब्रूहि।

प्रतीहारी—यद् देव आज्ञापयति। [ज देवो आणवेदि।]

(इति प्रस्थिता।)

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इयमस्मि। [इअ म्हि।]

राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासा दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥२३॥

था। मन्त्री ने इसमे यह लिखा है कि उसका धन सग्रह राजकीय वस्तु है। सन्तान-हीनता बडे ही कष्ट की बात है। हे वेत्रवती, उसके बहुत धनवान् होने के कारण उसकी कई पत्नियाँ भी होनी चाहिये, पता लगाओ कि उसकी पत्नियो मे कोई गर्भवती तो नही है?

प्रतीहारी—महाराज, सुना जाता है कि साकेत के सेठ की पुत्री, उसकी पत्नी ने अभी पुसवन सस्कार किया है।

राजा—तो गर्भस्थ बालक पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होना चाहिये। जाओ, इस प्रकार मन्त्री से कहना।

प्रतीहारी—जो महाराज की आज्ञा। (चल पडती है)

राजा—पहले इधर आओ।

प्रतिहारी—मैं यह उपस्थित हूँ।

राजा—इस बात से क्या, कि सन्तान है या नही।

येनेति-अन्वय—प्रजा येन येन स्निग्धेन बन्धुना वियुज्यन्ते, पापात् ऋते दुष्यन्त तासाम् स स इति घुष्यताम्।

शब्दार्थ—प्रजा =येन येन स्निग्धेन वन्धुना=प्रजाजन (अपने) जिस-जिस प्रिय सम्बन्धी से, वियुज्यन्ते=विरहित होते हैं। पापात् ऋते=पाप कर्म के अति-रिक्त, दुष्यन्त =राजा दुष्यन्त, तासाम्=उन प्रजाजनो का, स स इति=वह-वह सम्बन्धी है यह, घुष्यताम=घोषणा कर दो।

अनुवाद—प्रजाजन (अपने) जिस-जिस प्रिय सम्बन्धी जन से विरहित होते हैं, पाप कम के अतिरिक्त, दुष्यन्त उन प्रजाजनो का वह-वह सम्बन्धी है, ऐसी घोषणा कर दो।

भावार्थ—राजा दुष्यन्त प्रतीहारी से कहता है कि इससे कोई प्रयोजन नही कि कोई सन्तान वाला है और कोई नही, तुम राज्य मे यह घोषणा कर दो कि

प्रजाजन अपने जिस-जिस प्रिय सम्बन्धी जन से, पितृ पुत्रादि कुटुम्बी जन से, दैवयोग से रहित हो जाये तो वे उस कुटुम्बी जन के स्थान पर दुष्यन्त को अपना कुटुम्बी जन समझ लें अर्थात् उनके लिये दुष्यन्त वही करेगा जो कि उनका वह कुटुम्बी जन करता, किन्तु पाप कर्म के अतिरिक्त अर्थात् यदि कोई स्त्री पतिवियुक्ता हो गई है, तो दुष्यन्त उसके स्थान पर परस्त्रीगामी न होगा। पाप का अर्थ पापी भी होता है अत इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पापी जनो को छोडकर वह अन्य जनो का बन्धु होगा।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे राजा के साथ बन्धु का अभेद दिखलाया गया है अत रूपकालकार है, और यहाँ साहाय्य नामक नाटयालकार है 'साहाय्य सकटे यत्स्यादानुकूल्य परस्य च" इससे राजगत उत्कर्षातिशय द्योतित होता है। पथ्यावक्त्र नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—प्रजा = मदीया प्रजाजना, येन येन स्निग्धेन बन्धुना = येन येन प्रियेण पित्रादिस्वजनेन, वियुज्यन्ते = वियुक्ता भवन्ति, पापात् ऋते = पापकर्म बिना अर्थात् स्त्रीणा भर्तृत्वेन विना, दुष्यन्त नृपोऽहम्, तासाम् = प्रजानाम्, स स, इति = सोऽस्ति इति, घुष्यताम् = भेरीवादनपूर्वक राज्ये सर्वत्र उच्चै निवेद्यतामिति।

सस्कृत सरलार्थ—राजा प्रतीहारी निर्दिशति यन्मम राज्ये सर्वत्रैव भेरीवादनपुरःसरमिति निवेद्यताम् यन्मदीया प्रजा येन येन स्वकीयेन प्रियेण कुटुम्बभरणक्षमेण पित्रादिस्वजनेन वियुक्ता भवन्ति, पापकर्म विहाय अर्थात् स्त्रीणा भर्तृत्वेन बिना तत्स्थाने दुष्यन्त स्तेषा प्रजाजनाना सरक्षको भविष्यति।

टिप्पणी

समुद्रव्यवहारी—समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला, इससे ज्ञात होता है कि उस समय समुद्री मार्ग से विभिन्न देशो से भारत का व्यापार होता था। **सार्थवाह**—सार्थं समूह वहतीति = व्यापारियो के झुण्ड का वहन करने वाला अर्थात् प्रमुख व्यापारी। **राजगामी**—राजान गच्छतीति—राजा के पास पहुँचने वाला। 'अहार्य ब्राह्मणद्रव्य राज्ञा नित्यमिति स्थिति। इतरेषान्तु वर्णाना सर्वाभावे हरेन्नृप.' मनु। **पुसवनम्**—षोडश सस्कारो मे यह द्वितीय सस्कार है जो कि पुत्रोत्पत्ति के लिये किया जाता था। **गर्भ**—इसका अर्थ यहाँ गर्भस्थ बालक है। **पित्र्य रिक्थम्**—पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी गर्भस्थ बालक उस समय माना जाता था "बालदायादिक रिक्थ तावद्राजा नुपालयेत्। यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशव"। **पापात् ऋते**—पापमस्त्यस्येति पाप—पाप मत्वर्थे अच् अर्थात् पापी, **वियुज्यन्ते**—वि + युज – लट् यक्।

घुष्यताम्—घुष् चुरादि लोट् यक्।

प्रतीहारी—एवं नाम घोषयितव्यम्। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्। [एव्व णाम घोसइदव्व। काले पवुट्ठ विअ अहिणन्दिद देवस्स सासणम्।]

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः, सततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ते। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।

प्रतीहारी—प्रतिहतममङ्गलम्। [पडिहद अमगल।]

राजा—धिङ् मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

सानुमती—असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा। [असंसअ सहिं एव्व हिअए करिअ णिन्दिदो णेण अत्ता।]

राजा—संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी,
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय,
वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥२४॥

प्रतीहारी—इसी प्रकार घोषणा करती है। (निकल कर पुन प्रवेश करके) समय पर हुई वर्षा के समान महाराज की घोषणा का (प्रजाजनो ने) अभिनन्दन किया है।

राजा—(लम्बी और गर्म श्वास लेकर) ओह, इसी प्रकार सन्तान के अभाव के कारण निराश्रित कुलो की सम्पत्तियाँ वश के प्रतिनिधि-मूल पुरुष के अवसान होने पर, दूसरो के पास चली जाती हैं। मेरे मरने पर भी पुरुवश की लक्ष्मी की भी यही दशा होगी (एष एव वृत्तान्त के स्थान पर "अकाल इवोप्तवीजा भूरेवप्रजा" भी पाठ है, जिसका अर्थ है, जिसमें असमय मे बीज बोया गया है ऐसी भूमि के समान ऐसी ही होगी अर्थात् अन्यत्र चली जायेगी।

प्रतीहारी—अमगल दूर हो।

राजा—उपस्थित हुये कल्याण अर्थात् शकुन्तला का अपमान करने वाले मुझे धिक्कार है।

सानुमती—निश्चय ही सखी शकुन्तला को ही मन मे रखकर इसने अपने आपकी निन्दा की है।

राजा—

सरोपित इति-अन्वय—काले उप्तबीजा महते फलाय कल्पिष्यमाणा वसुन्धरा इव, कुलप्रतिष्ठा धर्मपत्नी, आत्मनि सरोपिते अपि मया त्यक्ता नाम।

शब्दार्थ—काले उप्तबीजा = जिसमे समय पर बीज बो दिया गया है (अतएव) महते फलाय कल्पिष्यमाणा = महान् फल को देने वाली, वसुन्धरा इव = पृथिवी के समान, कुल प्रतिष्ठा = वश की प्रतिष्ठा स्वरूप, धर्मपत्नी—शकुन्तला, आत्मनि सरो-

पिते अपि=उसमे गर्भ रूप मे पुत्र का आधान कर देने पर भी, मया त्यक्ता नाम= मैंने परित्याग कर दिया है।

अनुवाद—समय पर जिसमे बीज बो दिया गया है (और फलत जो) महान् फल देने ही वाली है, (ऐसी) पृथ्वी के समान, वश को प्रतिष्ठा स्वरूप धर्मपत्नी शकुन्तला का (मैंने) उसमे (गर्भरूप मे) पुत्र का आरोपण कर देने पर भी परित्याग कर दिया है।

भावार्थ- जिसमे यथा समय बीज बो दिया गया है और फलत वह महान् फल को निकट भविष्य मे देने ही वाली है ऐसी पृथिवी को जैसे कोई व्यक्ति त्याग देता है उसी प्रकार, मैंने अपने वश की उत्तरोत्तर वश परम्परा को चलाने वाली अपनी धर्मपत्नी शकुन्तला का मैंने उस समय परित्याग कर दिया है जबकि मैं उसमे उसके गर्भ रूप मे पुत्र का समारोपण कर चुका था और निकट भविष्य मे ही मुझे पुत्र की प्राप्ति होने वाली थी।

विशेष—समय पर बीज बोना महान् फल का कारण है, अत काव्यलिङ्ग अलकार, वसुन्धरा इव धमपत्नी मे श्रौत्रोपमालकार है। श्रुत्यनुप्रास उपजाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—काले=यथोचित समये, उप्त निक्षिप्त सरोपित वा बीज धान्यादिक यस्या सा—उप्तबीजा=कृतबीजवपना, (अतएव) महते=विपुलाय, फलाय=धान्यादिरूपाय फलाय, कल्पिष्यमाणा=जनयितु शक्ष्यन्ती, वसुन्धरा—भूमि इव, कुलप्रतिष्ठा=वशस्थितिकारणभूता, धर्मपत्नी=धर्मपूवक परिणीता भार्या शकुन्तला, आत्मनि सरोपिते अपि=पुत्रगर्भोत्पादिते अपि, मया=दुष्यन्तेन, त्यक्ता नाम=परित्यक्ता।

संस्कृत सरलार्थ—यथा कश्चित् तामपि भूमिं, यस्या तेन यथोचित काले बीज निक्षिप्तम्, फलत या प्रभूताय धान्यादिफलाय समुत्पादयितु शक्ष्यन्ती अस्ति, मोहात् परित्यजति, तथैव मया दुष्यन्तेन पुरुवशस्थितिकारिणी धमत परिणीता भार्या-शकुन्तला यस्या मया पुत्रगर्भ समुत्पादित, मोहात् परित्यक्ता।

टिप्पणी

सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानाम्—सन्ततीना पुत्रादीना छेदेन अभावेन निरवलम्बा निराश्रयास्तेषाम्, **मूलपुरुषावसाने**—वश प्रवर्तक मूल पुरुष के अन्त होने पर यहाँ इसका अर्थ पुरुवश के प्रतिनिधि से है। अवसाने=मरने पर, **परमुपतिष्ठन्ते**—अन्यमुप-गच्छन्ति, अत्र उपाद्-देवपूजेत्यादिना सगतिकरणार्थे आत्मने पदम्। **सरोपिते**—सम्=रुह्+णिच् कर्मणि क्त। **आत्मनि**—पुत्र वस्तुत पिता की आत्मा ही माना जाता है। अत पिता, पुत्र गभ रूप मे मानो अपनी आत्मा का ही आधान करता है जैसा कि श्रुति स्मृति का वचन है "आत्मा वै जायते पुत्र" आत्मा प्रविश्य जायाया पुत्र रूपेण जायते "आत्मा वै पुत्रनामासि सजीव शरद शतम्" **महते फलाय कल्पिष्यमाणा**—क्लृपि सम्पद्यमाने च। इति फलायेत्यत्र चतुर्थी, क्लृ लृट् शानच् टाप्।

सानुमती—अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति। [अपरिच्छिण्णा दाणिं ते सददी भविस्सदि।]

चतुरिका—(जनान्तिकम्) अये, अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यं माधव्यं गहीत्वागच्छ। [अए, इमिणा सत्थवाह वुत्तन्तेण दिउणुव्वेओ भट्टा। ण अस्सादिदुं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्ज माढव्व गेण्हिअ आअच्छेहि।]

प्रतीहारी—सुष्ठु भणसि। [सुट्ठु भणासि।]

(इति निष्क्रान्ता।)

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः—

अस्मात् परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति॥२४॥

(इति मोहमुपगतः।)

सानुमती—अब तुम्हारी वंश परम्परा अटूट (सदा चलती रहने वाली) होगी।

चतुरिका—(अलग प्रतीहारी से) ओह, इस व्यापारी के समाचार से महाराज का सन्ताप दुगुना हो गया है इनको धैर्य बँधाने के लिये मेघप्रतिच्छन्द से आर्य माधव्य को ले आओ।

प्रतीहारी—ठीक कहती हो।

(यह कहकर प्रस्थान)

राजा—ओह, दुष्यन्त के पिण्डभागी पितर अब संशय में पड़ गये हैं। क्योंकि—

अस्मादिति-अन्वय—बत अस्मात् परम् नः कुले यथाश्रुति संभृतानि निवपनानि कः नियच्छति, इति नूनम् पितरः प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तम् उदकम् धौताश्रुशेषम् पिबन्ति।

शब्दार्थ—बत=ओह, खेद की बात है कि, अस्मात् परम्=इस दुष्यन्त के बाद, नः कुले=हमारे कुल में, यथाश्रुति=वेदविहित रीति से, संभृतानि=प्रस्तुत किये गये, निवपनानि=श्राद्ध और तर्पण को, कः नियच्छति=कौन करेगा, इति=यह सोचकर, नूनम्=अवश्य ही, पितरः=हमारे मृत पूर्व वंशज, प्रसूतिविकलेन मया=सन्तानरहित मेरे द्वारा, प्रसिक्तम्, उदकम्=दिये गये तर्पण जल को, धौताश्रुशेषम्=धोये गये आँसुओं से शेष बचे हुये जल को, पिबन्ति=पीते हैं।

अनुवाद—खेद की बात है कि इस दुष्यन्त के बाद हमारे कुल में, वेदबोधित विधि के अनुसार प्रस्तुत किये गये श्राद्धतर्पण को कौन करेगा, यह सोचकर अवश्य ही

हमारे वश के पूवज, सन्तानरहित मेरे द्वारा दिये गये और आसुओ को धोने से शेष बचे हुये तपणजल को पीते है।

भावाथ—राजा अपने मन मे सोचता है कि बडे खेद की बात है कि "इस दुष्यन्त के बाद हमारे कुल मे वेदविहित विधि के अनुसार प्रस्तुत किये गये श्राद्ध तपण आदि पितृ कम को कौन करेगा" यह सोचकर, इस समय, अवश्य ही हमारे पितर सन्तानहीन मेरे द्वारा दिये गये तपण जल से पहले तो अपने आँसुओ को धोते होंगे और तब उससे शेप बचे हुये जल को पीते होगे। अर्थात् यह जानकर कि दुष्यन्त के बाद मेरे कुल मे श्राद्ध तपण करने वाला कोई न रहेगा अत उन्हे दु ख होता होगा अतएव इस समय नि सन्तान मेरे द्वारा दिये गए तपण जल से पहले तो वे अपने आँसू धोते होगे और बचे हुये उसी जल को पीते होगे।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे नूनम् पद से **क्रियोत्प्रेक्षालकार**, पूर्वार्ध, उत्तराध का कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, **अनुप्रास**, वसन्ततिलका नामक छन्द है। "दीघ मुष्ण च नि श्वस्य' से लेकर यहाँ तक हार्दिक खेद का उल्लेख होने के कारण छलन नामक अवमश सन्धि का अग है "आत्मावसादन यत्तु छलन तदुदाहृतम्"। नियच्छति के आगे इति का अथ है इति विचिन्त्य पर कवि ने विचिन्त्य का प्रयोग नही किया है परन्तु यहाँ न्यूनपदता दोष न समझना चाहिये क्योकि "उक्तावानन्दमग्नादे स्यान्यूनपदता गुण" सा० द० के इस कथन के अनुसार यह न्यूनपदता दोष नही अपितु गुण ही है।

सस्कृत व्याख्या—वत = इति खेदे, अस्मात् = दुष्यन्तात्, परम् = अनन्तरम्, न = अस्माकम्, कुले = वशे, श्रुतिं वेदम् अनतिक्रम्य यथाश्रुति = वेदविहितविधिपूवकम्, सम्भृतानि = सोपकरणसयोजितानि, निवपनानि = पितृदेयश्राद्धतर्पणादीनि, क नियच्छति = को जन ददाति—दास्यतीत्यर्थ, इति विचिन्त्य, नूनम् = अवश्यम्, पितर = पूवपुरुषा, प्रसूत्या सन्तत्या विकल रहितस्तेन—प्रसूतिविकलेन—नि सन्तानेन मया—दुष्यन्तेन, प्रसिक्तम् = दत्तम्, उदकम् = तपणजलम्, धौतानि क्षालितानि अश्रूणि वाष्पजलानि येन, तस्मात् शेषम् अवशिष्टम—क्षालितवाष्पशेषम् (जलम्) पिबन्ति = आचामन्ति।

सस्कृत सरलाथ—मदीया पितर, इति विचिन्त्य यदस्माक कुले दुष्यन्तादनन्तर न कोऽपि श्रुतिवोधितविध्यनुसार सोपकरणसयोजितानि श्राद्धतपणादीनि दास्यति, इदानीमपि नि सन्तानेन मया प्रदत्तेन तपणजलेन प्रथम स्ववाष्पजलानि क्षालयन्ति तदनु क्षालनादवशिष्ट तदेव तपणजल माचामन्ति।

टिप्पणी

अपरिच्छिन्ना—परि + छिद् + क्त = परिच्छिन्न = टूटा हुआ अपूर्ण—न परिच्छिन्ना अपरिच्छिन्ना—निरन्तर चलते रहने वाली। सानुमती जानती थी कि राजा का शाकुन्तलेय पुत्र भरन है अत उसकी वश परम्परा चलती रहेगी। **पिण्डभाज** = श्राद्धपिण्ड के भागी—पिता-पितामह और प्रपितामह को श्राद्ध मे पिण्डदान किया

चतुरिका—(ससम्भ्रममवलोक्य) समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता।
[समस्ससदु समस्ससदु भट्टा।]

सानुमती—हा धिक् हा धिक्। सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति। अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तला समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथाऽनुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दयिष्यतीति। तद् युक्तमेतं कालं प्रतिपालयितुम्। यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि।

[हद्धी हद्धी। सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अन्धआरदोसं अणुहोदि। अहं दाणिं एव्व णिव्वुदं करेमि। अहवा सुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महेन्दजणणीए मुहादो जण्णभाओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्दि जह अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणन्दिस्सदि त्ति। ता जुत्तं एदं कालं पडिपालिदुं। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं समस्सासेमि।]

(इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्राता)

जाता है अत यही पिण्ड भागी होते हैं "लेपभाजश्चतुर्थाद्या पित्राद्या पिण्डभागिन" निवपनानि—पितृदान निवाप स्यात् इत्यमर अर्थात् पितरो के निमित्त जो कुछ जल पिण्ड आदि दिया जाता है उसे निवाप कहा जाता है—नि+वप+ल्युट्। इस आशय का श्लोक रघुवश मे भी है "मत्पर दुलभ मत्वा नूनमावर्जित मया। पय पूर्वसनि श्वासै कवोष्ण मुपभुज्यते।" धौताश्रुशेषम्—धौतानि अश्रूणि येन तस्मात् शेषम्। धाव् शुद्धौ कर्मणि क्त "च्छ्वो शूडनुनासिके च" तथा 'एत्येधत्यूठ्सु'=धौत। शिष्यते इति शेषम्। प्रसूतिविकलेन—प्रसूत्या विकलस्तेन—प्र+सू+क्तिन्। प्रसिक्तम्=प्र+सिच्+क्त। सम्भृतानि—सम्+भृ+क्त।

इतीति—(यह कहकर मूर्च्छित हो जाता है)

चतुरिका—(घबराहट के साथ देखकर) महाराज, धैय धारण कीजिये, धैर्य धारण कीजिये।

सानुमती—खेद है, खेद है। दीपक के (पुत्र के) रहते हुये भी व्यवधान (बीच मे पर्दे के) दोष के कारण यह (राजा) अन्धकार दोष (नि सन्तानता) का अनुभव करता है। मैं इसे अभी सुखी कर दूँ। अथवा शकुन्तला को धैर्य बँधाती हुई इन्द्र की जननी अदिति के मुख से मैंने यह सुना था कि यज्ञभाग के लिये उत्सुक देवता ही वैसा काम करेंगे जिससे शीघ्र ही पति (दुष्यन्त अपनी धर्मपत्नी का अभिनन्दन करेगा) इसलिये यह उचित है कि तब तक प्रतीक्षा की जाय। तब तक मैं इस समाचार से प्रिय सखी शकुन्तला को धैर्य बँधाती हूँ।

(यह कहकर उद्भ्रान्तक नृत्य के साथ प्रस्थान)

टिप्पणी

दीपे—पुत्र कुल का दीपक होता है अत यहाँ पुत्र के लिये दीपक शब्द का

(नेपथ्ये)

अब्रह्मण्यम् । [अब्बम्हण ।]

राजा—(प्रत्यागतचेतन , कर्णं दत्त्वा) अये, माधव्यस्येवार्तस्वर । क कोऽत्र भो ?

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससम्भ्रमम्) परित्रायतां देव सशयगत वयस्यम् । [परित्ताअदु देवो ससअगद वअस्स ।]

राजा—केनात्तगन्धो माणवक ?

प्रतीहारी—अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपित । [अदिट्ठरूवेण केन वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमि आरोहिदो ।]

प्रयोग बहुत ही सुन्दर है, जिस घर मे यह दीपक नही होता वह अन्धकारमय होता है "सुताभिधान स ज्योति सद्य शोकतमोऽपहम्" रघ० । व्यवधानदोषेण—यहाँ निराशारूपी व्यवधान या पर्दा था । निर्वृत्तम्—तुम्हारा पुत्र सर्वदमन है यह बताकर मैं इसे इसी समय प्रसन्न करती हूँ । यज्ञभागोत्सुका—यज्ञो मे देवताओ को भाग मिलता है, इस समय शकुन्तला के विरह से दु खी राजा यज्ञानुष्ठान नही कर रहा था, पत्नी के मिलने पर वह फिर यज्ञादि करेगा और देवताओ को भाग मिलेगा, इसलिये उत्सुक देवता दुष्यन्त से उसकी धमपत्नी को मिलाने का प्रयत्न करेंगे । उद्भ्रान्तकेन—एक प्रकार का प्रसन्नता परिचायक नृत्य होता है "पूर्वं दक्षिणमुत्थाप्य पश्चादाकुञ्चयन् पदम्, वाम शीघ्र भ्रमेद् वामावतमुदभ्रान्तक विदु" कुछ आचार्यों ने इसका अर्थ—उछल कर आकाश मे उड जाना भी किया है । अर्थात् उद्भ्रान्तक एक गतिविशेष का नाम है ।

यहाँ श्रुत मया इत्यादि से भावी मातलि प्रवेश की सूचना दी गई है । अत यहाँ अवमर्श सन्धि का आदान नामक अग है "बीजकार्योपगमन मादान मिति सज्ञितम्" यहाँ अचिरेण धमपत्नी भर्ताभिनन्दिष्यति से बीजभूत कार्य का उपगमन बतलाया गया है ।

(नेपथ्य मे)

बचाओ, बचाओ ।

राजा—(चेतनता को प्राप्तकर, कान लगाकर) ओह, यह तो माधव्य जैसा करुण क्रन्दन है । यहाँ कौन है ?

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—महाराज, जीवन सशय मे पडे हुये अपने मित्र को बचाइये ।

राजा—किसने उस बेचारे बालक को तिरस्कृत किया है ।

प्रतीहारी—अलक्षित स्वरूप वाले किसी प्राणी ने उसे पकड कर मेघप्रतिच्छन्द नामक प्रासाद की ऊपरी मजिल पर डाल दिया है ।

राजा—(उत्थाय) मा तावत्। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहा ।
अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव ताव-
ज्ज्ञातु प्रमादस्खलित न शक्यम् ।
प्रजासु क केन पथा प्रयातो-
त्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्ति ॥२६॥

राजा—(उठकर) ऐसा नही हो, क्या मेरे घर भी भूत आदि के द्वारा तिरस्कृत होते हैं। अथवा—

अहनीति—अन्वय—अहनि-अहनि आत्मन एव प्रमादस्खलितम् तावत् ज्ञातुम् न शक्यम्। प्रजासु क केन पथा प्रयाति, इति अशेषत वेदितुम् शक्ति अस्ति।

शब्दार्थ—अहनि-अहनि=दिन प्रति दिन, आत्मन एव=अपनी ही, प्रमाद-स्खलितम्=प्रमाद से उत्पन्न त्रुटियो (गलतियो) को, तावत्=पूणरूप से, ज्ञातुम्=जानने के लिये, न शक्यम्=सम्भव नही है। प्रजासु=प्रजाजनो के बीच, क केन पथा प्रयाति=कौन किस माग से चलता है, इति=इस बात को, अशेषत =पूणरूप से, वेदितु शक्ति अस्ति=जानने के लिये सामथ्य नही है।

अनुवाद—प्रतिदिन अपनी ही प्रमाद जन्य (अनेक) त्रुटियो को पूर्णत जानना सम्भव नही है तब प्रजाजनो के बीच कौन किस उचितानुचित माग से चल रहा है, इन बात को पूर्णत जानना तो कैसे सम्भव हो सकता है।

भावार्थ—राजा कहता है कि जब कि मैं स्वय ही अपनी ही अनेक प्रमाद-जन्य धर्मादि से विच्युति आदि गलतियो को नही जान पाता हूँ तो प्रजाजनो मे लोग किस उचित अथवा अनुचित मार्ग से चल रहे हैं, इस बात का पूर्ण रूप से पता लगाना तो कैसे सम्भव हो सकता है। मनुष्य जब स्वय अपनी ही गलतियो को नही देख पाता तब वह दूसरो की गलतियो को पूर्ण रूप से कभी नही जान सकता। प्रजा अथवा राजा के अपचारो से ही भूत आदि निष्कृष्ट जीव राजगृहो पर प्रभाव डालते है, अतएव विदूषक पर किसी अज्ञात जीव ने आक्रमण किया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य के चतुथ चरण मे काकु होने से अर्थापत्ति अलकार, सामान्य से विशेष की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशसालकार, छेक, वृत्ति अनुप्रास, उपजाति नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—अहनि अहनि—प्रतिदिनम्, आत्मन एव=स्वस्यैव प्रमादेन अनवधानतया स्खलितम=धर्माचारादिविच्यूति—प्रमादस्खलितम्, तावत्=साकल्येन, ज्ञातु न शक्यम्=याथार्थ्येन वेदितु न सम्भाव्यते। प्रजासु=प्रजाजनेषु, क=क जन, केन पथा=केन मार्गेण, प्रयाति=विचरति, न्याय्य म याय्य वा विदधाति, धर्मेण अन्यायेन वा व्यवहरतीति भाव, इति अशेषत=पूर्ण रूपेण, वेदितुम्—ज्ञातुम्, शक्ति अस्ति=सामर्थ्यम् अस्ति किम्, नास्तीत्यथ।

(नेपथ्ये)

भो, वयस्य, अविहा अविहा । [भो वअस्स, अविहा अविहा ।]

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे, न भेतव्य न भेतव्यम् ।

(नेपथ्ये)

(पुनस्तदेव पठित्वा) कथ न भेष्यामि ? एष मा कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्ग करोति । [कह् ण भाइस्स, एस म को वि पच्चवणदसिरोहर इक्खु विअ तिण्णभग करेदि ।]

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत् ।

सस्कृत सरलार्थ—राजा चिन्तयति यदाहमेव स्वस्यैव प्रमादजन्या धर्माचरणादि विच्युति वेदितु न पारयामि तदा प्रजाजनेषु क केन मार्गेण धर्मेण अन्यायेन वा विचरति इति साकल्येन परिज्ञातु न शक्यम् । यदा स्वस्यैव स्खलित ज्ञातु न शक्यते तदा सकलजनाचरण ज्ञातु कथ सम्भवतीत्यर्थ ।

टिप्पणी

अब्रह्मण्यम्—ब्रह्मणि (ब्राह्मणे) साधु ब्रह्मण्यम, न ब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्, जो ब्राह्मण के लिये हित कर न हो, अर्थात् अनथ या विपत्ति वस्तुत यह एक मुहाविरा है जिसका प्रयोग आपत्ति काल मे कोई भी आर्तजन करता है, केवल ब्राह्मण ही नही । **आत्तगन्ध**—गध शब्द का अथ यहाँ गर्व है, आत्त अपनीत हृत वा गन्ध—गव यस्य स जिसका गव हरण कर अपमान किया गया है "पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धा" रघु ।

माणवक—मनोरपत्य कुत्सित मिति माणव अनुकम्पित माणव माणवक अनुकम्पार्थे कन् अथवा माणव एव माणवक स्वार्थे कन् । मनु से अपत्यार्थ मे अण् होकर मानव बनता है, कुत्सितार्थ मे णत्व होकर माणव होता है । **सत्त्वेन**—भूत-प्रेतादिना, **ममापि**—क्या मुझ जैसे धमनिष्ठ राजा के घरो पर भी भूतप्रेत आक्रमण कर सकेंगे । **गृहा**—यह शब्द पुल्लिङ्ग मे सदैव बहुवचन मे प्रयुक्त होता है ।

अशेषत—अविद्यमान शेष अस्मात् अशेष—तसिल् ।

(नेपथ्य मे)

हे मित्र ! बचाओ बचाओ ।

राजा—(चाल बदल कर घूमता हुआ) मित्र, मत डरो, मत डरो ।

(नेपथ्य मे)

(फिर उसी बात को दुहरा कर) कैसे न डरूँगा । यह कोई नीचे झुकाई गई गरदन वाले मुझे ईख की तरह तीन टुकडे कर रहा है । अर्थात् इसने मेरी गरदन को नीचे मोड दिया है और मुझे तीन टुकडो मे तोड रहा है ।

राजा—(दृष्टिपातपूवक) मेरा धनुष तो (लाना)

(धनुष् हाथ मे लिये प्रवेश करके)

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—भर्तः ! एतद् हस्तावापसहितं शरासनम् । [भट्टा, एद हत्थावावसहिद सरासण ।]

(राजा सशरं धनुरादत्ते ।)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूल पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्त्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥२७॥

यवनी—महाराज ! यह दस्ताना के सहित धनुष है ।

(राजा बाण सहित धनुष् लेता है)

(नेपथ्य मे)

एष इति-अन्वय—अभिनव कण्ठ शोणितार्थी (अहम्) शार्दूल पशुम् इव चेष्टमानम् त्वाम् एष हन्मि । आर्तानाम भयम् अपनेतुम् आत्तधन्वा दुष्यत इदानीम् तव शरणम् भवतु ।

शब्दार्थ—अभिनव कण्ठ शोणितार्थी=गले के ताजे खून का इच्छुक (अहम्—मैं) शार्दूल पशुम् इव चेष्टमानम्=जिस प्रकार व्याघ्र, बचने के लिए छटपटाते हुये पशु को (मारता है उसी प्रकार) त्वाम्=तुमको, एष हन्मि=अभी मारता हूँ। आर्तानाम् भयम् अपनेतुम्=दुःखितो के भय को दूर करने के लिये । आत्तधन्वा= धनुष धारण करने वाला, दुष्यन्त तव इदानी शरण भवतु=दुष्यन्त अब तुम्हारी शरण हो अर्थात् तुम्हे बचावे ।

अनुवाद—गले के ताजे खून का इच्छुक (मैं) जिस प्रकार व्याघ्र (बचने के लिये) छटपटाते हुये पशु को (मार डालता है उसी प्रकार मैं) अभी तुमको मारता हूँ। पीडितजनो का (रक्षा के लिये) भय दूर करने के लिये धनुर्धारी दुष्यन्त अब तुम्हारी रक्षा करे अर्थात् यदि तुम्हे बचा सकें तो बचावें ।

भावार्थ—नेपथ्य से, कोई अज्ञात सत्व कह रहा था कि (तुम्हारे) गले के ताजे खून का इच्छुक मैं तुमको अभी उसी प्रकार मारे डालता हूँ, भले ही तुम अपनी रक्षा के लिये छटपटाते रहो, जैसे कि व्याघ्र अपनी रक्षा के लिये छटपटाते हुये भी पशु को मार डालता है । दुष्यन्त, जो पीडितजनो का भय दूर करने के लिये धनुर्धारी-माने जाते हैं, अब आकर तुम्हारी (रक्षा) करे, यदि वे तुम्हे मुझ से बचा सकें तो बचा कर देखें ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे वीभत्स रस ध्वनित होता है, उपमा एव श्रुति, वृत्ति अनुप्रास अलकार है । इसमे ओज नामक सन्ध्यन्तराङ्ग है "ओजस्तु वागुपन्यासो निजशक्तिप्रकाशक" । यहाँ भग्नप्रक्रमता दोष प्रतीत होता है, हन्मि को शार्दूल के

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति ? तिष्ठ कुणपाशन ! त्वमिदानीं न भविष्यसि। (शार्ङ्गमारोप्य) वेत्रवति, सोपानमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इत इतो देव। [इदो इदो देवो।]

साथ हन्ति करके लगाना पडेगा। आर्तानामित्यादि पद से दुष्यन्तगत स्वाभाविक क्रोधावेग की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ प्रहर्षिणी नामक छन्द है ''म्नाजरगाः त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्'' जिसमे क्रमश मगण नगण जगण रगण और एक गुरुवर्ण के क्रम से १३ वर्ण होते हैं और तृतीय तथा दशम वर्ण पर यति होती है, वह प्रहर्षिणी नामक छन्द होता है।

संस्कृत व्याख्या—अभिनवम नूतनम् सद्योविनिःसृत, उष्णमिति यावत्, कण्ठस्य शोणितम्—गलरुधिरम—अभिनवकण्ठशोणितम् तस्य अर्थी अभिलाषुक = उष्णोष्णकण्ठरक्तपानाभिलाषी (अहम्) शार्दूल—व्याघ्र, विचेष्टमानम्=स्वरक्षार्थम् इतस्तत प्रयतमानम्, पशुम—मृगादिकम् इव, त्वाम—माधव्यम्, एष—इदानी मेव, हन्मि=व्यापादयामि। आर्तानाम्—पीडितजनानाम्, भयम=भीतिम्=अपनेतुम्= दूरीकर्तुम्, आत्तधन्वा=धृतकार्मुक, दुष्यन्त, इदानीम् सम्प्रति, तव शरण भवतु=यदि तव रक्षणाय शक्नोति तह्यागच्छतु।

संस्कृत सरलार्थ—नेपथ्यगृहादुक्तिरियमश्रूयत यदहमस्मि तव कण्ठविनिर्गतस्योष्णोष्णस्य रुधिरस्य पानाभिलाषी, अत स्वरक्षार्थमितस्तत प्रयतमान त्वामह तथैवेदानीमेव व्यापादयामि यथा व्याघ्र रक्षणायेतस्ततो यतमान मृगादिक पशु निहन्ति। आर्तजनभयपीडाहरणाय गृहीतकार्मुको दुष्यन्तोऽधुना यदि तव रक्षणाय प्रभवति तर्हि स आगच्छतु।

टिप्पणी

अविहा—खेदसूचकमव्ययमेतत्, विद्वानो की कल्पना है कि अव् रक्षणे धातु + इह=अत्र से मिल कर यह शब्द बना है। अव—रक्षा करो। **प्रत्यवनतशिरोधरम्**—प्रत्यवनता शिरोधरा यस्य तम्, **शार्ङ्गहस्ता**—शार्ङ्ग धनु हस्ते यस्या सा। **हस्तावापसहितम्**—हस्तम आवपति रक्षति हस्तावाप कमण्यण् तेन सहितम्—हाथ की रक्षा के लिये पहना जाने वाला चमडे का दस्ताना। **शरासनम्**—शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अनेनेति—शर+अस्—ल्युट्। अर्थ्यते इति अर्थी ऋ धातु कर्तरि णिनि—इच्छुक, **एष हन्मि**—यहाँ एष यह वर्तमानार्थद्योतक है। **आत्तधन्वा**—आत्त गृहीत धनु येन धनुषश्चेत्यत्र समासान्तोऽनङ्।

राजा—(क्रोधपूर्वक) क्या यह मुझे ही लक्ष्य कर के कह रहा है ? अच्छा तो हे राक्षस ! ठहर, अब तू नही होगा अर्थात् अब तू नही बच सकेगा। (धनुष् चढा कर) वेत्रवती, सीढियो का मार्ग दिखलाओ।

प्रतीहारी—महाराज, इधर से आइये।

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

राजा—(समन्ताद् विलोक्य) शून्य खल्विदम् ।

(नेपथ्ये)

अविहा अविहा । अहमत्रभवन्त पश्यामि । त्व मा न पश्यसि ? विडाल-गृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते सवृत्त [अविहा अविहा । अह अत्तभवन्त पेक्खामि, तुम म ण पेक्खसि । विडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे सवुत्तो ।]

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित, मदीयमस्त्र त्वा द्रक्ष्यति । एष तमिषु सन्दधे—

यो हनिष्यति वध्य त्वा रक्ष्य रक्षिष्यति द्विजम् ।
हसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यप ॥२८॥

(इत्यस्त्र सन्धत्ते)

(सभी शीघ्र पास जाते है)

राजा—(चारो ओर देखकर) यह तो (स्थान) खाली है ।

(नेपथ्य मे)

बचाओ, बचाओ, मै आपको देख रहा हूँ । आप मुझे नही देख रहे हैं । बिल्ली द्वारा पकडे गये चूहे की तरह, मै अपने जीवन के विषय मे निराश हो गया हूँ ।

राजा—हे तिरस्करिणी विद्या से गर्वित ! मेरा शस्त्र तुमको देखेगा, यह मैं उस शर को चढाता हूँ ।

य इति अन्वय—य वध्यम् त्वाम हनिष्यति । रक्ष्यम् द्विजम् रक्षिष्यति । हि हस क्षीरम् आदत्ते, तन्मिश्रा अप वजयति ।

शब्दार्थ—य वध्यम् त्वा हनिष्यति = जो कि वध के योग्य तुमको मारेगा । रक्ष्य द्विजम् रक्षिष्यति = रक्षा करने योग्य ब्राह्मण (विदूषक) की रक्षा करेगा । हि हस क्षीरम् आदत्ते = क्योकि हस दूध को पी लेता है । तन्मिश्रा अप वजयति = और उसमे मिले हुये जल को छोड देता है ।

अनुवाद—जो कि वध के योग्य तुमको मारेगा और रक्षा के योग्य ब्राह्मण (विदूषक) की रक्षा करेगा । क्योकि हस दूध को पी लेता है और उसमे मिले हुये पानी को छोड देता है ।

भावार्थ—राजा कहता है कि अब मै उस शर को चढाता हूँ जो कि वधयोग्य तुमको तो मारेगा और रक्षणीय ब्राह्मण विदूषक की रक्षा करेगा, ठीक उसी प्रकार जैसे हस दूध को तो पी लेता है पर उसमे मिले हुये जल को छोड देता है ।

विशेष—यहा दृष्टान्त अलकार, पथ्यावक्त्र छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—य = शर, वध्यम् = वधयोग्यम्, त्वाम् = राक्षसम्, हनिष्यति = मारयिष्यति । रक्ष्यम् = रक्षायोग्यम्, द्विजम् = ब्राह्मणम (विदूषकम्) रक्षिष्यति =

(तत प्रविशति विदूषक मुत्सृज्य मातलि)

मातलि—राजन्—

कृता शरव्य हरिणा तवासुरा
शरासन तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सता सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूषि न दारुणा शरा ॥२९॥

त्रास्यते । हि—यथा, हस =हसाख्यपक्षिविशेष , क्षीरम्—दुग्धम्, आदत्ते=गृह्णाति, तन्मिश्रा =पयोमिलिता =अप =जलानि, वर्जयति=परित्यजति ।

सस्कृत व्याख्या—राजा कथयति यन्मदीय मस्त्र वधार्हम् त्वा तथैव मारयिष्यति, रक्षणीय ब्राह्मण विदूषक तथैव त्रास्यते यथा हस क्षीर गृह्णाति, दुग्धमिश्रितानि जलानि च परित्यजति ।

टिप्पणी

कुणपाशन—कुणप शवमस्त्रियाम् इत्यमर । कुणप शवम् अश्नाति इति कुणपाशन, कुणप+अश् कर्तरि युच् (अन) । **तिरस्करिणी**—अन्तर्धान या अपने को छिपा लेने की विद्या—तिरस्+कृ करणे ल्युट तत णिनि स्त्रियाम् । **वध्यम्**—वधमर्हतीत्यर्थे हन् धातोयत् 'हनो वा यद् वधश्च वक्तव्य' इति हन वधादेश । **हस**—हस का नीरक्षीर विवेक साहित्य मे प्रसिद्ध है । "हसो यथा क्षीर मिवाम्वुमध्यात्" नीरक्षीर विवेके हसालस्य त्वमेव तनुषे चेत् ।" कुछ टीकाकारो ने इसमे उपमालकार भी माना है पर दृष्टान्त ही अधिक स्पष्ट है । प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति का सुन्दर उदाहरण है । 'नेपथ्ये' से लेकर यहाँ तक रौद्र रस की अभिव्यक्ति है जिसका स्थायी भाव क्रोध होता है । राजा—भो यहा से लेकर व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि का अग है ।

इतीति—(यह कहकर बाण चढाता है)

(इसके बाद विदूषक को छोडकर मातलि का प्रवेश)

मातलि—राजन्—

कृता इति अन्वय—हरिणा असुरा तव शरव्य कृता, इदम् शरासनम् तेषु विकृष्यताम् । सताम् सुहृज्जने प्रसादसौम्यानि चक्षूषि पतन्ति, दारुणा शरा न ।

शब्दार्थ—हरिणा=इन्द्र ने, असुरा =असुरो को, तव=तुम्हारे, शरव्यम्=वाणो का लक्ष्य, कृता =बनाया है, इदम् शरासनम्=इस धनुष् को, तेषु=उन असुरो पर ही, विकृष्यताम्=चढाइये । सताम्=सत्पुरुषो के, सुहृज्जने=अपने मित्रजन पर, प्रसादसौम्यानि चक्षूषि=प्रेम से मनोहर नेत्र ही, पतन्ति=पडते हैं, दारुणा शरा न=कठोर बाण नहीं ।

अनुवाद—राजन्, इन्द्र ने असुरो को आपके वाण का लक्ष्य बनाया है, इस

राजा—(ससम्भ्रममस्त्रमुपसंहरन्) अये, मातलि । स्वागतं महेन्द्र-सारथे !

धनुष् को आप उन पर ही चढाइये, सत्पुरुषो के प्रेम से मनोहर नेत्र ही अपने मित्रजनो पर पडते हैं, कठोर बाण नही ।

भावार्थ—प्रकट होकर मातलि (इन्द्र सारथी) राजा दुष्यन्त से कहता है कि राजन्, देवराज इन्द्र ने आपके बाणो का लक्ष्य असुरो को बनाया है अत आप इस धनुष् को उन्ही पर चढाइये, क्योंकि सज्जनो के प्रेमपूर्ण नेत्र ही अपने प्रियजनो पर पडते हैं, कठोर वाण नही, सत्पुरुष अपने मित्रो को स्नेहमयी दृष्टि से ही देखते हैं उन पर कठोर वाण नही चलाते । इन्द्रदेव आपके मित्र है और मैं उनका सारथी हूँ अत आप मुझ पर वाण न चलाइये । आपके वाणो का लक्ष्य असुर है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे उत्तरार्धगत सामान्यार्थ से पूर्वार्धगत विशेषार्थ का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलकार है । 'तव मयि, न कह कर सता सुहृज्जने यह सामान्य कथन किया गया है अत **अप्रस्तुत प्रशसालकार** है । द्वितीय चरण के प्रति प्रथम चरण कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार है चक्षूँषि पतन्ति न दारुणा शरा मे **व्यतिरेकालकार** है । **वृत्यनुप्रास** वशस्थ नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—हरिणा—इन्द्रेण, असुरा—राक्षसा, तव शरव्यम्=तव दुष्यन्तस्य वाणलक्ष्यम्, कृता—निर्दिष्टा । इदम् शरासनम्=पुरोवर्तमानमिद धनु., तेषु असुरेषु=विकृष्यताम्=सधीयताम । सताम्—सत्पुरुषाणाम्, सुहृज्जने=प्रियजने, प्रसादेन प्रसन्नतया सौम्यानि मधुराणि—प्रसाद सौम्यानि, चक्षूँषि=नेत्राणि, पतन्ति= निपतन्ति, दारुणा शरा न+कठोरवाणा न निपतन्ति ।

सस्कृत व्याख्या—मातलि कथयति—राजन्, देवेन्द्रेण तव वाणलक्ष्य राक्षसा एव निर्दिष्टा अतो धनु रिद तेष्वसुरेष्वेव सन्धीयताम् । इन्द्र तव मित्रम्, अहञ्च तत्सेवक अतोऽह न तव शरलक्ष्यम्, असुरा एव ते शरव्य देवराजेन निर्दिष्टा अत प्रसादपूर्णया दृष्ट्या मा पश्यतु भवान्, न तु मयि वाणो निपात्य इति भाव ।

टिप्पणी

शरव्यम्—शृणाति इति शरु तत, तस्मै हित मित्यर्थे उगवादिभ्यो यत् इति यत् प्रत्यये शरव्यम्—लक्ष्य, "लक्ष लक्ष्य शरव्यञ्चेत्यमर" । **प्रसादसौम्यानि**—प्र+ सद्+घञ्—प्रसाद =प्रसन्नता अनुग्रह, सोमो देवता अस्येत्यर्थे सोमाट् ट्यण्—सौम्यम् अथवा सोमशब्दात् स्वार्थे ष्यञ् । प्रस्तुत पद्य मे मातलि का वाक् चातुर्य द्रष्टव्य है, उसने प्रथम पक्ति मे ही अपने आगमन का प्रयोजन तथा अपने स्वामी का सन्देह बता दिया है और आगे की पक्तियो मे मित्र पर कृपादृष्टि रखने तथा शत्रु पर वाण चलाने का परामर्श है तथा सताम् आदि पदो द्वारा राजा की प्रशसा भी की गई है ।

राजा—(शीघ्रता से अस्त्र को रोकते हुये) ओह, आप मातलि हैं देवराज इन्द्र के सारथि ! आपका स्वागत है ।

(प्रविश्य)

विदूषक —अह येनेष्टिपशुमार मारित , सोऽनेने स्वागतेनाभिनन्द्यते ।
[अह जेण इट्ठिपसुमार मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि ।]

मातलि —(सस्मितम्) आयुष्मन्, श्रूयता यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाश प्रेषित ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मातलि —अस्ति कालनेमिप्रसूति दुर्जयो नाम दानवगण ।

राजा—अस्ति श्रुतपूर्व मया नारदात् ।

मातलि—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य-
स्तस्य त्व रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तु प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैश तिमिरमपाकरोति चन्द्र ॥३०॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

(प्रवेश करके)

विदूषक—जिसने मुझे यज्ञीय पशु की मार से मारा है उसका यह स्वागत के द्वारा अभिनन्दन कर रहे हैं ।

मातलि—(मुस्कराहट के साथ) आयुष्मन्, जिसके लिये इन्द्र ने मुझे आपके पास भेजा है, वह सुनिये ।

राजा—मै सावधान हूँ ।

मातलि—कालनेमि के वशज दुजय नामक दानवो का एक समूह है ।

राजा—है, मैंने नारद से पहले (उनके विषय मे) सुना था ।

मातलि—

सख्युरिति-अन्वय—स किल ते सख्यु शतक्रतो अजय्य । त्वम् रणशिरसि तस्य निहन्ता स्मृत । सप्तसप्ति यत् नैशम् तिमिरम् उच्छेत्तुम् न प्रभवति, तत् चन्द्र अपाकरोति ।

शब्दार्थ—स किल=वह राक्षसगण वस्तुत , ते सख्यु शतक्रतो =तुम्हारे मित्र इन्द्र के द्वारा, अजय्य =अजेय (है) त्वम् रणशिरसि=तुम (ही) युद्ध की अग्रभूमि मे, तस्य निहन्ता स्मृत असि=उसके मारने वाले माने गये हो । सप्तसप्ति =सूय, यत् नैशम् तिमिरम्=जिस रात्रिकालीन अन्धकार को, उच्छेत्तुम् न प्रभवति= नष्ट करने में समर्थ नहीं होता है, तत् चन्द्र अपाकरोति=उसको चन्द्रमा नष्ट करता है ।

अनुवाद—वह दानवगण वस्तुत तुम्हारे मित्र इन्द्र के द्वारा अजेय (हैं) समराग्र भूमि मे आप ही उसके मारने वाले माने गये हैं । सूय जिस रात्रिकालीन अन्धकार को नष्ट करने के लिये समर्थ नही होता है, उसको चन्द्रमा नष्ट करता है ।

भावार्थ—अपने आगमन का उद्देश्य बतलाता हुआ मातलि राजा से कहता है कि वह दानवगण वस्तुत तुम्हारे मित्र इन्द्र के द्वारा नही जीता जा सकता, अत आप ही समर की अग्रभूमि मे उसके मारने वाले माने गये है। क्योकि जिस रात्रि-कालीन अन्धकार को सूय नष्ट करने मे समथ नही होता, वह अन्धकार चन्द्रमा ही नष्ट करता है।

इस पद्य मे मातलि का वाक्चातुय और उसकी स्वामिभक्ति भी दशनीय है, वह सख्यु पद के प्रयोग द्वारा यद्यपि इन्द्र को राजा का मित्र बतलाता है तथापि वह इन्द्र की उपमा सूय से देकर और राजा को चन्द्र से उपमित कर अपने स्वामी की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है, और मित्र की सहायता के लिये राजा को प्रोत्साहित भी करता है, जो काय अपने मित्र से न हो सके उसे उसके मित्र को करना ही चाहिये।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे दृष्टान्त अलकार है और प्रहर्षिणी नामक छन्द है "म्नाशाभि र्मन जरगा प्रहर्षिणीयम्"।

सस्कृत व्याख्या—स =दानवगण, किल=वस्तुत, ते=तव दुष्यन्तस्य, सख्यु —मित्रस्य, शतक्रतो =इन्द्रस्य, अजय्य =जेतु मशक्य, त्वम्—दुष्यन्त, रणशिरसि=समराग्रभूमौ, तस्य=दानवगणस्य, निहन्ता=घातक, स्मृत =मत, असि, सप्तसप्ति =सूय, यत् नैशम् तिमिरम्=यत् रात्रिभवम् अन्धकारम्, उच्छेत्तुम्=विनाशयितुम्, न प्रभवति=न समर्थो जायते, तत्=तम, चन्द्र अपाकरोति=विधु विनाशयति।

सस्कृत सरलार्थ—मातलि कथयति—यत् स दानवगणो वस्तुत तव मित्रेण इन्द्रेणापि अजेयोऽस्ति, अत एव त्वमेव समरे तस्य विनाशक मतोऽसि। यद्रात्रिभव मन्धकार मपनेतु सूर्यो न प्रभवति, तच्चन्द्रेणैवापाक्रियते, अतस्त्व त विनाश्य इन्द्र साहाय्य कुरु।

टिप्पणी

इष्टिपशुमार मारित—इष्टिपशुरिव मारित, उपमाने कमणि चेत्यत्र णमुल्। यज्+क्तिन्=इष्टि, इष्टि+मृ+णिच् तदनु णमुल्। **कालनेमिप्रसूति**—कालनेमि एक राक्षस था जिसके अनेक सिर और हाथ थे, यह हिरण्यकशिपु का पुत्र था। इसके ही वशज दुजय नामक दानव थे, दनु नामक दक्षपुत्री की सन्तान दानव कहे जाते हैं। **शतक्रतु**—इन्द्र, सौ यज्ञ करने वाला इन्द्र पद का अधिकारी होता था—क्रतु का अर्थ यज्ञ है। **अजय्य**—'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' से जेय के स्थान पर निपातनात जय्य होता है। जेतु शक्य जय्य न जय्य अजय्य। **निहन्ता**—नि+हन्+तृच। **नैशम्**—निशा+अण् रात्रिभवम्। **सप्तसप्ति**—सप्त सप्तय यस्य—सूय की सात रग की किरणे उसके सप्त अश्व माने गये है, सप्ति का अथ—अश्व है।

स इति—अत अब आप अस्त्र लिये हुये ही इन्द्र के रथ पर चढकर विजय के लिये प्रस्थान कीजिये।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवत सभावनया। अथ माधव्य प्रति भवता किमेव प्रयुक्तम् ?

मातलि—तदपि कथ्यते। किंचिन्निमित्तादपि मन सन्तापा दायुष्मान् मया विक्लवो दृष्ट । पश्चात् कोपयितु मायुष्मन्त तथा कृतवानस्मि।

कुत —

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्नि विप्रकृत पन्नग फणा कुरुते।
प्राय स्व महिमान क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जन ॥३१॥

राजा—इन्द्र के इस सम्मान से मै अनुगृहीत हूँ। किन्तु आपने माधव्य के प्रति ऐसा व्यवहार क्यो किया ?

मातलि—वह भी बतलाता हूँ। किसी भी कारणवश मानसिक सन्ताप से मैने आप को खिन्न देखा था, तत्पश्चात आपको क्रुद्ध करने के लिये मैने वैसा किया था। क्योकि—

ज्वलतीति-अन्वय—अग्नि चलितेन्धन ज्वलति, विप्रकृत पन्नग फणा कुरुते। हि जन प्राय क्षोभात् स्वम् महिमानम प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—अग्नि चलितेन्धन ज्वलति=अग्नि, लकडियो को इधर-उधर हिला देने से जलता है। विप्रकृत पन्नग फणाम् कुरुते—छेड दिये जाने पर सप फन को फैलाता है। हि जन प्राय क्षोभात्=इसी प्रकार मनुष्य प्राय उत्तेजित होने से, स्व महिमान प्रतिपद्यते=अपने पराक्रम को प्राप्त करता है।

अनुवाद—लकडियो के इधर-उधर हिला देने से अग्नि जलता है, छेड देने से सप फन फैलाता है इसी प्रकार प्राय मनुष्य सक्षोभ से ही अपने पराक्रम को प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार ईधन के इधर-उधर हिलाने से अग्नि जलने लगता है और छेडने पर सप फन उठाता है उसी प्रकार मनुष्य प्राय अपने भूले हुये पराक्रम को सक्षोभ से ही प्राप्त करता था।

विशेष—यहाँ भवान् के स्थान पर जन इस सामान्य का प्रयोग होने से **अप्रस्तुत प्रशसालकार** तथा अग्नि एव पन्नग इन दो उपमानो के साधर्म्य प्रतिबिम्बन के कारण **दृष्टान्त अलकार** है, तेज प्रतिरूप एक ही क्रिया का पृथक्-पृथक् शब्दो द्वारा निर्देश होने से **प्रतिवस्तूपमालकार** है, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, आर्या जाति छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—चलितम् इन्धन यस्यासौ चलितेन्धन इतस्ततो विपर्यस्तेन्धन काष्ठ, अग्नि=वह्नि, ज्वलति—दीप्यते, विप्रकृत=कथमपि उत्तेजित, पन्नग=सप, फणाम् कुरुते=फटाटोप दर्शयति। हि=तथाहि, जन=नर, प्राय=बाहुल्येन, क्षोभात्,=कुतश्चिदभिघात प्राप्य, स्वम्=स्वकीयम्, महिमानम्=प्रभावम्, प्रतापम्, पराक्रम वा, प्रतिपद्यते=आसादयति।

राजा—(जनान्तिकम) वयस्य, अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा। तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुन ब्रूहि।

त्वन्मति केवला तावत् परिपालयतु प्रजा।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृत धनु ॥३२॥

विदूषक—यद् भवानाज्ञापयति। [ज भव आणवेदि।]

(इति निष्क्रान्त।)

मातलि—आयुष्मान् रथमारोहतु।

(राजा रथाधिरोहण नाटयति।)

(इति निष्क्रान्ता सर्वे।)

इति षष्ठोऽङ्कः

सस्कृत सरलार्थ—यथा चलायमाने धनोऽग्नि ज्वलति, यथा चोद्वेजित सप फटाटोप दशयति तथाहि जन प्रायेण सक्षोभ प्राप्य स्वप्रभाव लभते।

टिप्पणी

मघवत—'मघवा वहुलम्, सूत्र से विकल्पत मघवन् का मघवत् होता है अत षष्ठी एक वचन मे मघोन और मघवत दोनो रूप बनते हैं। **सम्भवना**—आदर सम्+भू+णिच्+युच्—टाप्। विक्लव=खिन्न या व्याकुल। **प्रयुक्तम्**—ऐसा क्यो किया। **कोपयितुम्**—कुप्+णिच्+तुमुन्। **फणा कुरुते**=फन फैलाता है, फण और फणा दोनों ही शब्दो का प्रयोग होता है।

राजा—(एक ओर मुँह करके) मित्र, देवराज इन्द्र की आज्ञा उल्लघनीय नही है। अत तुम इस समाचार से अवगत कराकर, मेरी आज्ञा से मन्त्री पिशुन से कहो—

त्वमिति-अन्वय—केवला त्वन्मति तावत् प्रजा परिपालयतु। इदम् अधिज्यम् धनु अन्यस्मिन् कमणि (यावत्) व्यापृतम्।

शब्दार्थ—केवला त्वन्मति=केवल तुम्हारी बुद्धि ही, तावत्=तब तक, प्रजा परिपालयतु=प्रजाओ का पालन करे। (यावत्—जब तक कि) इदम अधिज्यम् धनु=यह प्रत्यञ्चा चढा हुआ धनुष् अन्यस्मिन् कमणि=अन्य काम मे, व्यापृतम्=सलग्न है।

अनुवाद—केवल तुम्हारी बुद्धि ही तब तक प्रजाओ का पालन करे (जब तक कि) प्रत्यञ्चा चढा हुआ मेरा यह धनुष् अन्य काम मे सलग्न है।

भावार्थ—राजा कहता है कि मित्र विदूषक तुम मन्त्री पिशुन से कह दो कि जब तक मेरा यह प्रत्याञ्चा चढा हुआ धनुष् दानवगण के बध के काम मे सलग्न है तब तक केवल तुम्हारी अकेली बुद्धि ही प्रजाओ का पालन करती रहे। मन्त्री की बुद्धि और राजा का धनुष् यही दो प्रजारक्षक होते हैं, धनुष् के अभाव मे मन्त्री की बुद्धि ही अब प्रजारक्षक रहेगी।

विशेष—**काव्यलिङ्ग** अलकार, अनुष्टुप् छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—केवला=एकाकिनी असहाया त्वन्मति=त्वदीया बुद्धि एव, तावत्=मत्प्रत्यागमनकाल यावत् प्रजा=प्रजाजनान् परिपालयतु=सरक्षतु, इदम् अधिज्यम्=समारापितमौर्वीकम, धनु=कामु कम् (यावत्) अन्यस्मिन् कर्मणि =दानववधरुपे अन्यस्मिन् कार्ये, व्यापृतम्=सलग्नम् ।

सस्कृत सरलाथ—राजा कथयति। यावन्मदीय समारोपितमौर्वीकम् इद कार्मुकम्, दानववधरुपे अन्यस्मिन् कार्ये सलग्न मस्ति तावत् त्वदीया बुद्धि रेव केवला प्रजाजनान् सरक्षतु ।

टिप्पणी

दिवस्पते—दिव पति तस्य "तत्पुरुषे कृति वहुलम्' इति षष्ठ्या, अलुक्, कस्कादेराकृतिगणत्वात् स् ।

परिगतार्थम्—परिगत अवगत अथ येन तम। **केवला**—अभिप्राय यह है कि राजा और मन्त्री दोनो के परस्पर अनुकूल होने पर ही राज्य का सरक्षण होता है, मन्त्री की बुद्धि और राजा का धनुष् प्रजा की रक्षा करते हैं, धनुष् के अभाव मे केवल मन्त्री की बुद्धि ही राज्यसरक्षिका बनेगी, कवि ने कहा है 'सदानुकूलेषु हि कुवते र्रात नृपेष्वमात्येषु च सवसम्पद"। इससे राजगत उत्साह और शौय ध्वनित होता है ।

विदूषक—जो आप आज्ञा देते ह ।

(यह कहकर प्रस्थान)

मातलि—आप रथ पर चढिये ।

(राजा रथ पर चढने का अभिनय करता है)

(सब का प्रस्थान)

षष्ठ अक समाप्त

अथ सप्तमोऽङ्कः

(तत प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च ।)

राजा—मातले, अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवत सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्त-मिवात्मान समर्थये ।

मातलि —(सस्मितम्) आयुष्मन्, उभयमप्यपरितोष समर्थये ।

प्रथमोपकृत मरुत्वत
प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो
भवत सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ।।१।।

अथ सप्तमाङ्क प्रारम्भ

(इसके बाद रथ पर बैठे हुये राजा और मातलि का आकाश यान से प्रवेश)

राजा—हे मातलि, (इन्द्र की) आज्ञा का पालन कर देने वाला भी (मै) इन्द्र के विशेष प्रकार के सत्कार के कारण, अपने आपको अनुपयुक्त सा मानता हूँ, अर्थात् यद्यपि मैंने इन्द्र की आज्ञा का पालन किया है तथापि उसके बदले जो उन्होने मेरा विशेष प्रकार का सम्मान किया है उससे मै अपने को अनुपयुक्त सा समझता हूँ अर्थात् मुझे ऐसा प्रतीत होता है मैंने कुछ भी नही किया है ।

मातलि—(मुस्कराहट के साथ) आयुष्मन्, मै समझता हूँ कि आप दोनो ही असन्तुष्ट हैं ।

प्रथमेति-अन्वय—भवान् मरुत्वत प्रतिपत्त्या प्रथमोपकृतम् लघु मन्यते । सोऽपि भवत अवदानविस्मित सत्क्रियागुणान् न गणयति ।

शब्दार्थ—भवान्=आप दुष्यन्त, मरत्वत प्रतिपत्त्या=इन्द्र के गौरव के कारण, **प्रथमोपकृतम्**=अपने द्वारा किये गये पूव उपकार को, लघु मन्यते=तुच्छ **समझते हैं** । सोऽपि=वह इन्द्र भी, भवत अवदानविस्मित =आपके नि स्वाथ पराक्रम से आश्चर्यान्वित (होकर) सत्क्रियागुणान् न गणयति=(अपने द्वारा किये गये) सत्कार के महत्त्व को नही गिनता है ।

अनुवाद—आप इन्द्र के प्रति गौरव एव आदर भावना के कारण, (अपने द्वारा

किये गये) प्रथम उपकार को तुच्छ समझते है, और वह इन्द्र भी आपके नि स्वार्थ पराक्रम से विस्मित (होकर) (अपने द्वारा किये गये आपके) सत्कार के महत्व को नही गिनता है ।

भावार्थ—मातलि कहता है, वस्तुत मै तो दोनो ओर ही असन्तोष देखता हूँ, क्योकि आप इन्द्र के प्रति विशेष आदर रखते हैं अतएव जो आपने दानवगण का वध करके इन्द्र का उपकार किया है उसे आप तुच्छ समझते हैं, इसलिये तो आपको असन्तोष हे, और उधर इन्द्र भी आपने जो नि स्वाथभाव से पराक्रम दिखाकर दानवो का वध किया है इससे इन्द्र विस्मित हो गया है अतएव अपने उस सत्कार के महत्व को जो कि उसने आपके प्रति दिखलाया हे, कुछ नही समझता है, इस प्रकार इन्द्र को भी असन्तोष ही है । इन्द्र का आदर प्रदशन आपके काय के आगे तुच्छ है, और इन्द्र के प्रति आदर भावना के कारण आपका उनके लिये किया गया काय आपको तुच्छ लगता है, इस प्रकार दोनो ही ओर असन्ताष है ।

विशेष—यहा सत्क्रिया रूप कारण के रहते हुये भी गणना रूप काय की अनुत्पत्ति हैं अत **विशेषोक्ति** अलकार है । गणनाभाव रूप काय की उत्पत्ति है पर इस अभाव का कारण नही है अत **विभावना** अलकार है ओर दोनो मे सन्देह सकर है । **श्रुत्यनुप्रास**, सुन्दरी नामक छन्द है "अयुजो यदि सौ जगौ युजा सभराल्गौ यदि सुन्दरी मता ।"

यहाँ से लेकर अङ्क की समाप्ति नक निवहणसन्धि है "बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् । एकाथमुपनीयन्ते यत्र निवहण हि तत्" सा० द० । अथवा मुखसन्ध्याद्यो यत्र विकीर्णा बीजसयुता । महा प्रयोजन यान्ति तन्निवहण मुच्यते । सुधाकर । इस सधि के १४ अग होते हैं जिनका यथा स्थान निर्देश किया गया है । यहाँ पर शकुन्तला प्राप्तिरुप काय अथ प्रकृति है—यदाधिकारिक वस्तु सम्यक् प्राज्ञै प्रयुज्यते । तदर्थो य समारम्भ तत्कार्यं कथ्यते इति । दुष्यन्त को पुत्र के साथ पत्नी की प्राप्ति होती है अत फलागम नामक कार्यावस्था है "अभिप्रेत समर्थं च प्रतिरुप क्रिया-फलम् । इतिवृत्त भवेद्यस्मिन् फलयोग स कथ्यते" किन्तु आचाय विश्वनाथ ने शकुन्तला के अभिज्ञान के उपरान्त अक समाप्ति पयन्त निवहण सन्धि मानी है ।

सस्कृत व्याख्या—भवान्=दुष्यन्त, मरुत्वत=इन्द्रस्य, प्रतिपत्त्या=गौरवेण, प्रथम—पूर्व कृतम् यत् उपकृतम् उपकार तत्—प्रथमोपकृतम्, लघु=तुच्छम्, मन्यते= जानाति, सोऽपि—इन्द्रोऽपि, भवत —तव दुष्यन्तस्य, अवदानेन नि स्वाथपराक्रमेण विस्मित आश्चर्यान्वित—अवदानविस्मित, सत्क्रियाया सत्कारस्य गुणान् विनयादि प्रदशनरुप महत्त्वम्—सत्क्रियागुणान्, न गणयति—न चिन्तयति ।

सस्कृत सरलार्थ—उभयमप्यपरितोष समथये" इति स्वकीय कथन समर्थयन् मातलि कथयति यद् भवान् मघोनो गौरवेण आत्मकृत दानववधरुप कार्यसाधनात्मक पूवम् कृतम् उपकार तुच्छ जानाति। इन्द्रोऽपि भवत नि स्वाथपराक्रमेण विस्मित आत्मकृत सत्कारमहत्त्वम् न विशेषेण चिन्तयति ।

राजा—मातले, मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनाव-सरसत्कार । मम हि दिवौकसा समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थ
जयन्त मुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का
मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥२॥

टिप्पणी

मरुत्वत—मरुत सन्त्यस्येति मरुत्वान् तस्य । मरुत् वायु देवताओ का नाम है, वृत्रासुरवध मे ये इन्द्र के सहायक थे अतएव इन्द्र को भी मरुत्वान कहा जाता है । प्रथमोपकतम—दानववध रुप पहले किये गये उपकार को। **प्रतिपत्त्या**——प्रति+पद्+क्तिन्— प्रतिपत्ति—गौरव आदरभावना, तया । **अवदान विस्मित**—अवदान—विशुद्ध कम—नि स्वाथ सेवा, अव+दै+(दा) ल्युट् । "पराक्रमोऽवदान स्यात्" मातलि के इस कथन से दुष्यन्तगत पराक्रमशीलता तथा गुणग्राहकता ध्वनित होती है । जो कि नायक के औदाय को प्रकाशित करती है ।

राजा—हे मातलि, नही ऐसा न कहो । मेरी विदाई के समय का (उनके द्वारा किया गया) सत्कार, आशातीत अथवा कल्पना से भी परे की वस्तु थी । क्योकि देवन्जो के सामने ही मुझे अपने आधे आसन पर बिठा कर—

अन्तगतेति-अन्वय—अन्तिकस्थम् अन्तगतप्राथनम् जयन्तम् उद्वीक्ष्य, कृतस्मितेन हरिणा आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाड्का मन्दारमाला पिनद्धा ।

शब्दाथ—अन्तिकस्थम्=समीप मे स्थित, अन्तगतप्राथनम=मन ही मन (मन्दार माला) के प्रार्थी, जयन्तम=जयन्त नामक अपने पुत्र को, उद्वीक्ष्य=देख करके, कृतस्मितेन=कुछ मुस्कराकर, हरिणा=इन्द्र ने, आमृष्टवक्षोहरिचन्द-नाड्का=वक्ष स्थल पर लगे हुये हरिचन्दन से चिह्नित, मन्दारमाला—मन्दार वृक्ष के पुष्पो की माला को (मुझे) पिनद्धा—पहना दी ।

अनुवाद— समीप मे ही स्थित, मन ही मन (मन्दार माला के लिये) प्रार्थी अपने पुत्र जयन्त को देखकर, मुस्करा कर इन्द्र ने, वक्ष स्थल पर लिप्त हरिचन्दन से चिह्नित मन्दार पुष्पो की माला को (मुझे) पहना दिया था ।

भावाथ—इन्द्रकृत सत्कार को कल्पनातीत बतलाते हुये दुष्यन्त मातलि से कहते हैं कि पास ही मे खडे हुये और मन्दार माला को पाने के लिये इच्छुक भी अपने पुत्र जयन्त की ओर देख करके इन्द्र ने उस माला को जोकि उनके वक्ष स्थल पर लगे हुये हरिचन्दन स चिह्नित थी, जयन्त को न देकर इन्द्र ने मुझे पहना दी थी । अथात् अपने सामने स्थित देवताओ और अपने पुत्र जयन्त की भी उपेक्षा कर इन्द्र ने मन्दार माला को मेरे गले में डाल दिया था, यह मेरा कल्पनातीत सत्कार था ।

विशेष—गौरवाधिक्य का वर्णन होने से **उदात्तालकार**, तथा कई विशेषणो के साभिप्राय होने से **परिकरालकार**, छेक, वृत्ति **अनुप्रास**, उपजाति नामक छन्द है। पिनद्धा—पद से स्पष्ट है कि राजा ने माला दी नही अपितु अपने हाथो से उनके गले मे पहना दी, इससे उनका सम्मानातिशय प्रकाशित होता है। कृतस्मितेन—से प्रकट होता है कि जयन्त की भी अपेक्षा दुष्यन्त अधिक स्नेह पात्र थे अतएव उन्होंने जयन्त के मनोगत भाव जान कर भी वह माला उन्हे न दी थी।

सस्कृतव्याख्या—अन्तिकस्थम=समीपस्थितम्, अन्तर्गता प्राथना यस्यतम्—अन्तगतप्राथनम—मनोगतमन्दारमालाभिलाषशालिनम्, जयन्तम=एतन्नामक स्वकीय पुत्रम्, उद्वीक्ष्य=अवलोक्य, तदभिलाषा सम्यग् ज्ञात्वेत्यथ, कृत स्मित येन तेन-कृतस्मितेन कृतमन्दहासेन, हरिणा=इन्द्रेण, आमृष्ट सश्लिष्ट यद् बक्षसि हरि-चन्दनम तस्य अड्क चिह्न यस्या सा-आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का, मन्दारमाला=देवतरुविशेषसुमनोमालिका, पिनद्धा=स्वहस्ताभ्यामेव मदुरसि परिधापिता।

सस्कृत सरलाथ—समीपस्थित मनोगतमन्दारमालाभिलाषशालिन स्वकीय पुत्र जयन्तमपि उद्वीक्ष्य कृतमन्दहासेनेन्द्रेण अनुलिप्तवक्षोहरिचन्दनचिह्निता मन्दार माला यन्मदुरसि स्वहस्ताभ्यामेव परिधापिता, एतेन, ज्ञायते यत्तत्कृतोऽय सत्कार कल्पनातीतो वतते।

टिप्पणी

अभूमि—अपात्र अर्थात् जहाँ तक किसी की इच्छायें भी न पहुँच सके। **दिवौकसाम्**—द्यौ ओक गृह येषान्ते तेषाम्—स्वग मे रहने वाले। **अर्धासनोपवेशितस्य**—देवताओ के समक्ष इन्द्र के अर्धासन पर बैठना बडे गौरव की बात थी, इससे दुष्यन्त का देवताओ से अधिक आदर सूचित होता है, इसीलिये दुष्यन्त इस बात को अधिक महत्व दे रहा था। **उद्वीक्ष्य**—ऊपर देखकर, इससे ज्ञात होता है कि जयन्त नीचे खडा था, इन्द्र ने उसे देखा और उसकी अन्तगत अभिलाषा को भी जान लिया था तथापि उन्होने अपनी माला उसे न देकर दुष्यन्त के प्रति आदर प्रकट करने के लिये उनके गले मे डाल दी थी। **आमृष्ट** का अथ पुछा हुआ भी है माला से हरिचन्दन पुछ गया था अतएव वह चिह्नित हो गई थी, पर मैंने प्रसगत इसका अर्थ अनुलिप्त लिया है, इन्द्र के वक्ष स्थल पर चन्दन का लेप था इससे माला मे चन्दन लग गया था। इन्द्र को इस चन्दन के वृक्ष का चन्दन अधिक प्रिय होगा अतएव उसे हरिचन्दन कहा गया है, वैसे हरिचन्दन आदि कई देव तरु है। हरिचन्दन एक प्रकार का लेप होता था जो कि तुलसी, अगरु, केसर, कपूर आदि को घिसे हुये चन्दन मे मिलाकर बनाया जाता था। मन्दार नामक एक देवतरु है यह माला इसी के पुष्पो से बनी थी अतएव वह **मन्दारमाला** कही जाती थी। मन्दार, पारिजात, कल्पवृक्ष, सन्तान, हरिचन्दन ये पाँच देवतरु प्रसिद्ध है। **पिनद्धा**—अपि+नह्+क्त टाप् भागुरिमत मे अ का लोप होता है।

मातलि—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति ? पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं
त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः
पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥

मातलि—आयुष्मान्, आप देवराज इन्द्र से क्या पाने योग्य नही है अर्थात् सब कुछ पाने योग्य है। देखिये—

सुखेति-अन्वय—अधुना नतपर्वभिः तव शरैः, पुरा च नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणः नखैः, उभयैः सुखपरस्य हरेः त्रिदिवम् उद्धृतदानवकण्टकम् कृतम् ।

शब्दार्थ—अधुना=इस समय, नतपर्वभिः=गाठो पर से झुके हुये, तव=आपके, शरैः=बाणो के द्वारा, पुरा च=और प्राचीन काल मे, नतपर्वभिः=गाँठ पर से मुडे हुये, पुरुषकेसरिणः—नृसिंहावतार भगवान् के, नखैः=नाखूनो द्वारा, उभयैः=इन दोनो के द्वारा, सुखपरस्य=सदा भोगो मे आसक्त रहने वाले, हरेः=इन्द्र के, त्रिदिवम्=स्वर्ग को, उद्धृतदानवकण्टकम्=दानव रूपी काँटो से रहित, कृतम्=कर दिया गया है।

अनुवाद—इस समय तो गाँठो पर से झुके हुये आपके बाणो के द्वारा और प्राचीन काल मे गाँठ पर से मुडे हुए नृसिंहावतार भगवान् के नाखूनो के द्वारा, इन दोनो ही के द्वारा, सुखोपभोगो मे आसक्त रहने वाले इन्द्र के स्वर्ग को दानवरूपी काटो से रहित कर दिया गया है।

भावार्थ—मातलि कहता है कि इन्द्र तो सदा सुखोपभोगो मे लिप्त रहने वाला है, उसके स्वर्ग की रक्षा दानव रूपी काँटो को उखाड कर इस समय तो आपके बाणो द्वारा की गई है, और इसी प्रकार प्राचीनकाल मे नृसिंहावतार भगवान् के नखो के द्वारा हिरण्यकशिपु को मार कर की गई थी।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'कृतम्' इस एक क्रिया से प्रस्तुत बाणो और अप्रस्तुत नखो का सम्बन्ध बतलाया गया है अतः **दीपक** अलंकार है, द्रुतविलम्बित नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—अधुना=इदानीम्, नतानि समाकुञ्चितानि पर्वाणि ग्रन्थयः येषान्तैः—नतपर्वभिः, तव=दुष्यन्तस्य, शरैः=बाणैः, पुरा च=प्राचीन काले च, नतानि ईषदाकुञ्चितानि पर्वाणि अङ्गुलिपर्वभागाः येषां तैः—नतपर्वभिः, पुरुषश्चासौ केसरी च तस्य=पुरुषकेसरिणः—भगवतः, नृसिंहस्य, नखैः=नखरैः इति उभयैः एव सुखं परं प्रधानं यस्य तस्य—सुखपरस्य=सुखोपभोगेष्वासक्तस्य, हरेः=इन्द्रस्य, त्रिदिवम्=स्वर्गं, उद्धृता उन्मूलिता दानवाः कण्टका इव यस्मात् तत्—उद्धृतदानवकण्टकम् समूलोन्मूलितदानवरूपकण्टकम्, कृतम्—विहितम् ।

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्य ।

सिध्यन्त कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्या
सभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसा विभेत्ता
त चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥४॥

संस्कृत सरलार्थ—मातलि कथयति—सुखोपभोगासक्तस्य महेन्द्रस्य त्रिदिव मधुना तव शरै दानवान् विनाश्य रक्षितम् एवमेव पुरा नृसिंहस्य नखै हिरण्यकशिपु विनाश्य सरक्षितम ।

टिप्पणी

उभयै—उभयशब्दस्य द्विवचन नास्तीति कैयटा , अस्तीति हरदत्त द्वितीयमतमेव भाष्यसम्मतम । **त्रिदिवम्**—अमरकोश के अनुसार यद्यपि यह शब्द पुल्लिग है त्रि + दिव् धातो इगुपधेति कतरि क । "त्रिदिव सुखे स्वर्गे च त्रिदिवा नद्याम्" इसके अनुसार नपुसकलिङ्ग भी । तृतीय दिव त्रिदिवम । अथवा त्रयो ब्रह्मविष्णुमहेशा दीव्यन्ति यस्मिन् तत् त्रिदिवम् ।" जहाँ सवदा सुख ही रहता है । पुरुषकेसरिण =नृसिंहस्य—यह विष्णु का चतुथ अवतार है, जिसमे उन्होने हिरण्यकशिपु का नखो से वध किया था । **नतपर्वभि**—नम + क्त=नत, पव=ग्रथि या गाँठ ।

राजा—इस विषय मे तो वस्तुत इद्र की ही महिमा प्रशसनीय है ।

सिध्यन्तीति—**अन्वय**—महत्सु अपि कमसु नियोज्या सिध्यन्ति (इति) यत्, तम् ईश्वराणाम् सम्भावनागुणम् अवेहि । किं वा अरुण तमसाम विभेत्ता अभविष्यत, चेत् सहस्रकिरण तम् धुरि न अकरिष्यत् ।

शब्दार्थ—महत्सु अपि कमसु नियोज्या सिध्यन्ति यत्=बडे-बडे भी कामो मे सेवक जन जो सफल हो जाते है, तम् ईश्वराणाम् सम्भावनागुणम् अवेहि=उसको (आप उनके) स्वामियो के गौरव प्रदान का ही फल समझे । किं वा=क्या, अरुण = अरुण—सूय सारथि, तमसा विभेत्ता=अन्धकारो का नाशक, अभविष्यत्=हो सकता था, चेत्—अगर, सहस्रकिरण =सहस्ररश्मि सय ने, त=उसको, धुरि=अग्रभाग मे, न अकरिष्यत्=न किया होता ।

अनुवाद—बडे बडे भी कार्यो मे जो सेवक जन सफल हो जाते हैं, उसे (आप) सामथ्यवान् स्वामियो का (उन्हे) गौरव प्रदान का ही फल समझे । क्या अरुण अन्धकार का विनाशक हुआ होता यदि उसको सूय ने (अपने रथ के) अग्रभाग मे न नियुक्त किया होता ।

भावार्थ—अरुण, सूय का सारथी कहलाता है अतएव उनके रथ पर आगे बैठकर चलता है सूय से भी पहले अरुणोदय होता है, अरुणोदय होने ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्राकतिक उदाहरण को लेकर राजा कहता है कि बडे-बडे दु साध्य कार्यो मे भी यदि सेवक जन सफलता प्राप्त कर लेते हैं तो इसे उनके स्वामियो का

उन्हे गौरव प्रदान का ही फल समझना चाहिये, यदि सूय ने अरुण को अपने रथ के आगे न लगाया होता तो वह अन्धकार विनाशक नही कहा जा सकता था, सूय द्वारा अपने सेवक अरुण को अपने आगे प्रतिष्ठित कर गौरव देने का ही यह फल है कि वह अन्धकारनाशक बन सका है। दुष्यन्त का अभिप्राय यह है कि यदि मैं दानवो का वध कर सका हूँ तो इसे इन्द्र द्वारा मुझे प्रदत्त गौरव का ही फल समझना चाहिये।

विशेष—यहाँ अप्रस्तुत नियोज्य सामान्य से प्रस्तुत राजा-रूप विशेष की प्रतीति होती है अत **अप्रस्तुत प्रशसालकार** है, तथा पूर्वाध सामान्य द्वारा उत्तरार्धगत विशेष का समथन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलकार है। इससे यहा राजगत भृत्यत्व और इन्द्रगत स्वामित्व ध्वनित होता है, एव विनयातिशय द्योतक होने से यहाँ **उदात्तालकार** भी व्यड्ग्य है। कुछ आचार्यों ने यहाँ उत्तराध मे **दृष्टान्तालकार** भी माना है। **अनुप्रास** इन्द्रविषयक रति भाव। वसन्ततिलका छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—महत्सु=गुरुतरेषु, अपि कमसु=कार्येषु नियोक्तु योग्या नियोज्या=सेवकजना, सिध्यन्ति=सफलमनोरथा जायन्ते। इति-यत्, तम्, ईश्वराणाम्=सामर्थ्यवता स्वामिनाम्, सम्भावनागुणम्—गौरवप्रदानमहत्त्वम्, अवेहि=जानीहि। (सम्भावना वासनायां गौरवध्यानकर्मणीति कोश) किं वा=किमिति, अरुण=सूयसारथि, तमसाम्=अन्धकाराणाम्, विभेत्ता=विनाशक, अभविष्यत्, चेत्=यदि, सहस्रकिरण=सूय, तम्=अरुणम्, धुरि=स्वरथस्याग्रभागे, न अकरिष्यत्=न अयोजयिष्यत्।

सस्कृत सरलाथ—राजा कथयति—सेवकाना यत् दुस्तरेष्वपि कार्येषु साफल्य तत्स्वामिप्रसादेनैव जायते न हि तत्र तेषा कश्चिद् गुण कारणम्। अरुणस्यान्धकारविभेदे न सहजा शक्ति, अपितु सा तस्मिन् स्वामिप्रदत्तगौरवेणैव समुद्भूयते। कथनेनानेन दुष्यन्तस्यायमभिप्राय यद दानवविजयलाभो देवराजकृतसम्भावनयैव न तु मत्कृत पराक्रमेणेति, अतस्तस्यैवात्र महिमा स्तुत्य, न मे कश्चिद् गुण।

टिप्पणी

अत्र—इसका तात्पय है कि दानवो पर प्राप्त मेरी विजय के विषय मे, **नियोज्या**—नियोक्तु योग्या इत्यर्थे नि+युज्+यत्—नियोज्य=सेवक, पर यहाँ इसका अथ अधीनस्थ जन है। **सम्भावनागुणम्**— सम्—भू+णिचि भावे युच् टाप्=सम्भावना तस्या गुणस्तम्। सम्भावन क्रियासु योग्यताध्यवसानम्—किसी से किसी बडे काम को कर लेने की सम्भावना या आशा करना, कि वह इस काय को अवश्य कर लेगा। अत सम्भावना का अथ होना है किसी को बडे काय मे सफलता मिलने पर गौरव प्रदान करना, गुण का अथ यहाँ महत्व या फल है। इसी भाव को द्योतित करने वाली ये सूक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं "तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्व नयवत्म विद्विषाम्" किरात। "तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहाय मेक मधुमेव लब्ध्वा" कुमार०। ननु वज्रिण एव वीयमेतद् विजयन्ते द्विषदो यदस्य पक्ष्या" विक्रमो०। अरुणो यदधतमस निषेधति स्फुरित नराधिप तदकतेजसाम्। नव साह०। **सहस्रकिरण**—

मातलि.—सदृशमेवैतत् । (स्तोकमन्तरमतीत्य) आयुष्मन्, इत पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशस ।

विच्छित्तिशेषै सुरसुन्दरीणा
वर्णैरमी कल्पलताशुकेषु ।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजात
दिवौकसस्त्वच्चरित लिखन्ति ॥५॥

सहस्ररश्मि सूय, सहस्र का अथ यहा असख्य है। **विभेत्ता**—वि+भिद् कतरि तृच्। **स्तुत्य** —स्तु+क्यप् तुक् स्तुति करने योग्य।

मातलि—यह कथन आपके अनुकूल ही है। (थोडी दूर आगे चलकर) आयुष्मन्, आप स्वगलोक मे प्रतिष्ठित अपनी कीर्ति के सौभाग्य को देखें—

विच्छित्तीति-अन्वय—अमी दिवौकस गीतक्षमम् अर्थजातम् विचिन्त्य सुरसुन्दरीणाम् विच्छित्तिशेषै वर्णै कल्पलताशुकेषु त्वच्चरितम् लिखन्ति ।

शब्दार्थ—अमी दिवौकस = ये देवता, गीतक्षमम्=गाने योग्य, **अर्थजातम्**= साथक पदावली को अथवा भाव समूह को, विचिन्त्य=सोच करके, सुरसुन्दरीणाम्= देवसुन्दरियो के (देवनाङ्गनाओ के नही) विच्छित्तिशेषै =अङ्गरादि से बचे हुये, वर्णै = रञ्जन के साधनभूत रक्त पीतादि वणको-रगो से, कल्पलताशुकेषु=कल्पलता से उत्पन्न कौशेय वस्त्रो पर, त्वच्चरितम्=आपके जीवन चरित्र को, लिखन्ति= लिखते हैं।

अनुवाद—ये पुर स्थित देवता गाने योग्य भावपूर्ण सार्थक पदावली को सोचकर, देवसुन्दरियो के अगरागादि से बचे हुये रगो से कल्पलता से उत्पन्न कौशेय वस्त्रो पर आपका चरित लिखते हैं।

भावार्थ—मातलि कहता है कि राजन्, स्वगलोक मे आपका यश फैला हुआ है अतएव ये सामने स्थित देवगण, काव्यमयी भावपूर्ण साथक पदावली को सोचकर, सुरसुन्दरियो के अगराग से बचे हुये रगो से कल्पलता से प्राप्त कौशेय वस्त्रो पर आपका चरित लिख रहे है।

विशेष—यहाँ विच्छित्तिशेष अगराग का लिखने मे उपयोग किया गया है अत परिणामालकार है। यहा लिखने वाले भी विशिष्ट हैं, चरित भी विशिष्ट, आधार और लेखन साधन सामग्री भी विशिष्ट है अत **उदात्तालकार** है, और इससे देवताओ की सदा शृङ्गाररसोपभोग योग्य स्थिति आपके चरित के कारण ही बनी रहती है, यह वस्तु ध्वनित होती है, अत यहाँ अलकार से वस्तुध्वनि है। श्रुति, वृत्ति अनुप्रास, प्रसादगुण, वैदर्भी रीति, दुष्यन्त का पराक्रम और यश ध्वनित होता है, उपजाति नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—अमी=दूरे दृश्यमाना, दिवौकस =देवा, गीतक्षमम्= गीतियोग्यम्, अर्थजातम्=भावसमूहम्—साथपदावली वा, विचिन्त्य=विचार्य,

राजा—मातले ! असुरसप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षित स्वर्गमार्ग । कतमस्मिन् मरुता पथि वर्तामहे ?

मातलि —

त्रिस्रोतस वहति यो गगनप्रतिष्ठा
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मि ।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्क
वायोरिम परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥६॥

सुरसुन्दरीणाम्=देवाङ्गनानाम, विच्छित्त्या अङ्गरागात् शेषै अवशिष्टै — विच्छित्तिशेषै, वर्णै=वर्णकै रागै वा, कल्पलताशुकेषु=कल्पलतोत्पन्नवस्त्रेषु, त्वच्चरितम्=त्वदीय जीवनचरितम्, लिखन्ति ।

सस्कृत सरलार्थ—मातलि कथयति—राजन् अमी देवा गेय भावसमूह विचिन्त्य सुरसुन्दरीणाम् अङ्गरागादवशिष्टै वर्णै कल्पलतोत्पन्नवस्त्रेषु तव जीवनचरित लिखन्ति ।

टिप्पणी

नाकपृष्ठ=स्वग लोक, प्रतिष्ठित=व्याप्त विस्तीण । **सौभाग्यम्**=महत्व अथवा गौरव । **विच्छित्ति** का मुख्याथ है, काटना, छाँटना, सभालना चित्रादि रचना अत यहाँ इसका अथ है काट छाँट कर बेल बूटे बनाना, चित्र मे रगो के द्वारा बेल बूटे बनाये जाते है, स्त्रियाँ मेहदी से अपने हाथ पैरो पर बेल पत्तियाँ आदि बनाती हैं, यह सब रगो द्वारा की जाने वाली शारीरिक रचना विच्छित्ति कही जाती है । देव सुन्दरियाँ जो अगराग लगाती थी उससे जो अगराग बच रहता था उसी रग से देवता दुष्यन्त के चरित को लिखते थे । **कल्पलताशुकेषु**—अशुक का अथ वस्त्र होता है । कल्पवृक्ष सभी युवतीमण्डन प्रदान किया करता है, कालिदास की ऐसी मान्यता है । अथवा इसका अर्थ कल्पलता के अकुश अर्थात् "वस्त्ररूप पल्लवा पर" भी हो सकता है, यह अर्थ भी प्रसगानुकूल ठीक है ।

राजा—गतदिवस, असुरो पर प्रहार करने के लिये उत्सुक मेरे द्वारा स्वर्ग पर चढते हुये स्वर्ग का माग नही देखा गया था । (अत अब आप बतलाइये कि इस समय हम लोग) वायु के किस मार्ग मे चल रहे हैं ।

मातलि—

त्रिस्रोतसमिति—अन्वय—य गगनप्रतिष्ठाम् त्रिस्रोतसम् वहति । प्रविभक्तरश्मि ज्योतींषि वतयति च । तस्य परिवहस्य वायो द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम् इमम् मागम् वदन्ति ।

शब्दार्थ—य =जो, गगन प्रतिष्ठाम्=आकाश मे प्रतिष्ठित अर्थात् अन्तरिक्ष मार्ग में बहने वाली, त्रिस्रोतसम्=गङ्गा को, वहति=धारण करता है । प्रविभक्तरश्मि =जो अपनी वायु रूपी किरणो को चारो ओर फैला देने वाला, ज्योतींषि

वतयति च=नक्षत्रो को यथा स्थान घुमाता है। तस्य परिवहस्य वायो=उस परिवह नामक वायु का, द्वितीय हरिविक्रमनिस्तमस्कम्=(वामन रूपधारी) विष्णु के द्वितीय पाद न्यास से पवित्र, इमम् मार्गम् वदन्ति=यह मार्ग कहा जाता है।

अनुवाद—जो अन्तरिक्ष माग मे बहने वाली मन्दाकिनी नाम गङ्गा को धारण करता है और जो अपनी वायु रूप किरणो को चतुर्दिक प्रसारित करके नक्षत्रो को यथा स्थान घुमाता है, उस परिवह नामक वायु का, (वामन रूपधारी) विष्णु के द्वितीय पाद न्यास से पवित्र, यह माग कहा जाता है।

भावार्थ—यह परिवह नामक वायु का मार्ग है, जो कि वामनावतार मे विष्णु के द्वितीय पादनिक्षेप से पवित्र कर दिया गया है, यही मार्ग अन्तरिक्षगामिनी मन्दाकिनी नाम गङ्गा को धारण करता है अर्थात् इसी वायु माग मे मन्दाकिनी प्रवाहित होती है, और यही माग अपनी वायु रूपी किरणो को चारो ओर फैलाता है और इस प्रकार वह नक्षत्रो को यथा स्थान घुमाता है।

विशेष—विशिष्ट वणन के कारण यहाँ उदात्तालकार है, अनुप्रास तथा वसन्ततिलका छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—य -परिवहनामको वायु , गगनप्रतिष्ठाम्=अन्तरिक्षमार्गगामिनीम्, त्रिस्रोतसम्=आकाश-गङ्गाम् मन्दाकिनीत्याख्याताम्, वहति=धारयति। प्रविभक्ता समन्ततो विस्तृता रश्मय वायुरुपा किरणा येन स —प्रविभक्तरश्मि सन्, ज्योतीषि=नक्षत्राणि, वतयति च, यथास्थान भ्रमयति च। तस्य परिवहस्य=परिवहनामकस्य, वायो=पवनस्य, द्वितीयेन हरे वामनरुपधारिण विष्णो विक्रमेण पादन्यासेन निस्तमस्कम्, पवित्रीकृतम् द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्, इमम्, मागम् वदन्ति, एत पन्थानम् कथयन्ति।

सस्कृत सरलार्थ—अयमस्ति परिवहाख्यस्य वायो मार्ग , य द्वितीयेन वामन रुपधारिणो विष्णो पादन्यासे नपवित्रीकृतोऽस्ति। अयमेव वायु मन्दाकिनीतिव्याख्याताम् अन्तरिक्षमागगामिनी गङ्गा धारयति एवञ्च स्वकीयान् वायुरुपकिरणान् समन्तत प्रसार्य नक्षत्राणि यथास्थान भ्रमयति।

टिप्पणी

असुर०—असुरै दुर्जयाख्य दानवै सह सप्रहारे युद्धे उत्सुक औत्सुक्याभिभूत स्तेन। सुरा अमृतम् अस्यास्तीत्यर्थे मत्वर्थे अचि सुर देव न सुर असुर , अमृत पान करने वाले देवता तथा इमसे रहित असुर कहे जाते हैं—दैत्य दानव राक्षस आदि सब असुर कहलाते हैं। **सप्रहार**—सम्+प्र+हृ+घञ्। सप्रहरन्ति अस्मिन्निति सप्रहार=युद्ध। **पूर्वेद्यु**—पूर्वस्मिन् अहनीत्यर्थे 'सद्य परुत्० इत्यादिना निपातनात् पूर्वेद्यु =गत दिवस। **कतमस्मिन्**=किस, वायु सात है, अत यह माग किस वायु का है, अर्थात् सात मे से यह माग किस वायु का है, कुछ प्रतियो मे 'कतरस्मिन्' पाठ है पर इस प्रसग मे वह ठीक नही, क्योकि यहाँ सात मे से एक का निर्धारण करना है अत कतमत् शब्द का ही प्रयोग होना चाहिये कतरत् का नही। **सप्ताम् पथि**—आवह, प्रवह,

राजा—मातले ! अत्र खलु सवाह्यान्त करणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णो स्व ।

मातलि —कथमवगम्यते ?

राजा—अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
हरिभिरचिरभासा तेजसा चानुलिप्तै ।
गतमुपरि धनाना वारिगर्भोदराणा,
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमि ॥७॥

उदवह, सवह, परिवह, परावह, नाम के सात वायु है । हिन्दू शास्त्रो की मान्यता के अनुसार अन्तरिक्ष सात भागो मे विभक्त किया गया है, प्रत्येक भाग एक एक वायु के अधिकार मे है, कहा किस नाम का वायु है इसका विवरण सिद्धान्त शिरोमणि मे इस प्रकार है। पृथिवी से मेघमण्डल तक आवह नामक वायु है। सूयमण्डल प्रवह नामक वायु मे है । चन्द्र सवह वायु मे, नक्षत्र उद्‌वह वायु मे, ग्रह विवह नामक वायु मे, सप्तर्षिमण्डल परिवह नामक वायु मे, ध्रुव परावह नामक वायु मे है। **ब्रह्माण्ड पुराण** मे भी इन वायुओ का नामत उल्लेख है पर नामो के क्रम मे कुछ अन्तर है। महाभारत और वायु पुराण मे भी इनका उल्लेख है। परिवह नामक वायु मे सप्तर्षि और आकाश गगा है जिसका यहाँ वणन किया गया है। **त्रिस्रोतसम्**—त्रीणि स्रोतासि यस्या सा ताम्—गगा की तीन धारायें हैं, एक आकाश मे जिसे आकाश गगा या मन्दाकिनी कहा जाता है । पृथ्वी पर जिसे भागीरथी तथा तीसरी पाताल मे जिसे भोगवती कहा जाता है। ब्रह्माण्ड पुराण और वायु पुराण से भी यह प्रमाणित होता है कि मन्दाकिनी और सप्तर्षिमण्डल परिवह नामक वायु के अतर्गत है "सप्तर्षिचक्र स्वगङ्गा षष्ठ परिवहस्तथा" श्रेष्ठ परिवहो नाम तेषा वायु रपाश्रय । योऽसौ विभर्ति भगवान् गङ्गामाकाशगोचराम्" ।

ज्योतींषि—नक्षत्र, यहा तात्पय सप्तर्षि मण्डल से है, क्योकि ये परिवह नामक वायु मे आते हैं। **द्वितीय**-हिरण्यकशिपु के वशज बलि को मारने के लिये विष्णु ने वामन अवतार धारण किया था, उन्होने तीन पैर पृथ्वी माँग कर तीनो लोको को तीन पैर से नाप लिया था द्वितीय पैर से आकाश को अतएव वह पवित्र हो गया था इसी का यहाँ पौराणिक कथाओ के आधार पर सकेत है, वामन सम्बन्धी पौराणिक कथायें वैदिक कथा का विकृत रूप ही है, वस्तुत यहाँ विष्णु से तात्पय सय से है उनके उदय, मध्याह्न और अस्त रूप तीन पैर है जिनसे वे तीनो लोको को नाप लेते है। ●

राजा—मातलि, इसीलिये मेरी अन्तरात्मा वाह्य एव अन्त इन्द्रियो सहित, प्रसन्न हो रही है (वाह्य इन्द्रिया-चक्षु आदि दश इद्रियाँ, अन्त इन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित्त अहकार) (रथ के पहिये को देखकर) अब हम दोनो मेघ माग पर उतर आये हैं।

मातलि—आपको यह कैसे ज्ञात होता है ?

राजा—

अयमिति अन्वय—शीकरक्लिन्ननेमि अयम् ते रथ, अरविवरेभ्य निष्पतद्भि

चातकै, अचिरभासाम् तेजसा अनुलिप्तै हरिभि च, वारिगर्भोदराणाम् धनानाम् उपरि गतम् पिशुनयति ।

शब्दार्थ—शीकरक्लिन्ननेमि =जलकरणो से भीगे हुये चक्र के प्रान्तभाग वाला, अय ते रथ =यह आपका रथ, अरविवरेभ्य =पहियो के बीच के डडो के छिद्रो से, निष्पतद्भि =निकलते हुये, चातकेभ्य =चातको से, अचिरभासाम्=और विजलियो के, तेजसा-तेज से, अनुलिप्तै हरिभि =रजित हुये घोडो से, वारिगर्भोदराणाम् घनानाम् उपरि=भीतर जल से भरे मेघो के ऊपर, गत पिशुनयति =(हम लोगो के) चलने को सूचित कर रहा है ।

अनुवाद—जल कणो से भीगे हुये चक्रप्रान्त भाग वाला यह आपका रथ, अरो के छिद्रो से निकलते हुये चातको के द्वारा तथा विजलियो के तेज से रञ्जित अश्वो के द्वारा, जल पूण मेघो के ऊपर (हम लोगो के) चलने को सूचित कर रहा है ।

भावार्थ—राजा मातलि से कह रहा है, इस समय हम लोग जल से भरे हुये मेघो के माग पर चल रहे है, क्योकि आपके रथ के पहियो के प्रान्त भाग भीग गये हैं, तथा रथ के अरो के छिद्रो से चातक पक्षी निकल रहे हैं तथा विजलियो के तेज से आपके रथ के घोडे रञ्जित हो रहे हैं ।

विशेष—पूर्वाध मे मेघमार्ग सूचन के प्रति दो कारण बतलाये गये हैं अत **समुच्चयालकार**, शीकरक्लिन्ननेमि मेघपथ का कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, मेघपथ पर गमन का अनेक हेतुओ से अनुमान किया गया है अत **अनुमानालकार है** । छेक, वृत्ति अनुप्रास, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, मालिनी नामक छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—शीकरै जलकणै क्लिन्ना आर्द्रा नेमय चक्रप्रान्तभागा यस्य स —शीकरक्लिन्ननेमि , अयम्—एष , ते=तव, रथ —स्यन्दन , अराणाम् चक्राङ्गानाम् विवरेभ्य छिद्रेभ्य —अरविवरेभ्य , निष्पतद्भि —निर्गच्छद्भि , चातकै —चातकाख्यपक्षिविशेषै , अचिर क्षण भास प्रकाशा यासा ता तासाम्— अचिरभासाम्—विद्युताम्, तेजसा=कान्त्या, अनुलिप्तै —रञ्जितै , हरिभि — अश्वै च, वारिगर्भाणि जलपूरितानि उदराणि अभ्यन्तराणि येषा तेषाम्—वारिगर्भोदराणाम्, घनानाम् मेघानाम्, उपरि=ऊर्ध्वभागे, गतम्=अस्मद्गमनम्, पिशुनयति =सूचयति ।

सस्कृत सरलार्थ—राजा मातलिं कथयति यदधुना आवा जलपूरितमेघपदवीमवतीर्णौ स्व , यतो हि तव रथस्य चक्रप्रान्तभागा जलेनार्द्रा सन्ति । चातकपक्षिणश्च तव रथस्य अरविवरेभ्य निष्पतन्ति, तव रथाश्वाश्च विद्युत्कान्त्या रञ्जिता सन्ति, एतल्लक्षणै ज्ञायते यदावामिदानी जलपरिपूणमेघमार्गेण गच्छाव ।

टिप्पणी

सवाह्य०—वाह्यानि अन्त करणानि च तै सह-करण का अथ इन्द्रिय होता है, १० (पाच कर्मेन्द्रिय, पाच ज्ञानेन्द्रिय) वाह्य इन्द्रियाँ तथा चार अन्त इन्द्रियाँ—मन

मातलि—क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते ।

राजा—(अधोऽवलोक्य) वेगादवतरणादाश्चर्यदर्शन सलक्ष्यते मनुष्यलोक । तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जता मेदिनी,
पर्णाभ्यन्तरलीनता विजहति स्कन्धोदयात् पादपा ।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगा,
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवन मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥

बुद्धि चित्त, अहकार "होती है। **प्रसीदति**—प्र+सद्+लट्। प्रसन्न होती है। **मेघपदवीम्**—पृथ्वी से मेघो तक के अवकाश मे आवह नामक भूवायु रहता है, यही मेघपदवी है, भास्कराचाय ने कहा है कि पृथवी के बारह बाहर योजनो तक भूवायु रहता है जहाँ विद्युत् मेघ आदि रहते हैं। "भूमेर्वहि द्वादशयोजनानि भूवायुरत्राम्बुविद्युदाद्यम्"। **अवतीर्ण**—अव+तॄ+क्त, परिवह नामक वायु के नीचे आवह वायुमाग तक उतर आये है। **अरविवरेभ्य**—पहियो के बीच मे तिरछे दूर-दूर लगे हुये डडे अर कहलाते है, इन्ही के बीच के अवकाश को विवर कहा गया है। **अचिरभासाम्**—बिजली का प्रकाश क्षणस्थायी होता है अत बिजली को अचिरभास—कहा जाता है। गतम—गमन, भावे क्त। **वारिगर्भोदराणाम्**—वारि गर्भे येषान्तानि वारिगर्भाणि तादृशानि उदराणि येषा तेषाम्। **पिशुनयति**—पिशुन+णिच्।

मातलि—क्षण भर मे ही आप अपनी अधिकार भूमि मे पहुँच जायेंगे।

राजा—(नीचे देखकर) वेग से उतरने के कारण मनुष्य लोक आश्चयजनक सा दिखलाई पड रहा है। क्योकि—

शैलानामिति—अन्वय—मेदिनी उन्मज्जताम् शैलानाम् शिखरात् अवरोहति इव, पादपा स्कन्धोदयात् पर्णाभ्यन्तरलीनताम् विजहति। तनुभावनष्टसलिला आपगा सतानै व्यक्तिम् भजन्ति। पश्य, उत्क्षिपता केनापि भुवनम् मत्पार्श्वम् आनीयते इव।

शब्दार्थ—मेदिनी=पृथिवी, उन्मज्जताम्=प्रकट होते हुये, शैलानाम् शिखरात्=पवतो के शिखर से, अवरोहति इव=मानो (नीचे) उतर रही है। पादपा = वृक्ष, स्कन्धोदयात=अपने तनो के दिखलाई पडने से, पर्णाभ्यन्तरलीनताम्=पत्तो के भीतर छिपे रहने को, विजहति=छोड रहे है। तनुभावनष्टसलिला =सूक्ष्मता के कारण जिनका जल दृष्टिगत नही हो रहा था ऐसी अव, आपगा =नदियाँ, सन्तानै = विस्तार के कारण, व्यक्ति भजन्ति=प्रकट हो रही है। पश्य=देखिये, उत्क्षिपता केनापि=ऊपर को उछालने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा, भुवनम्=पृथिवीलोक को, इव =मानो, मत्पाश्वम=मेरे पास, आनीयते=ले आया जा रहा है।

अनुवाद—पृथिवी प्रकट होते हुये पवतो के शिखर से मानो (नीचे) उतर रही

है। वृक्ष अपने तनो के दिखाई पडने से पत्तो के अन्दर अपना छिपा रहना छोड रहे हैं। सूक्ष्मता के कारण जिनका जल अब तक दृष्टिगोचर नही हो रहा था ऐसी नदियाँ अब विस्तार के कारण प्रकट हो रही हैं। देखिये, ऊपर को उछालने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा मानो पृथिवी लोक मेरे पास ले आया जा रहा है।

भावार्थ—राजा मातलि से कहता है कि भू-लोक के समीप आ जाने के कारण मानो अब यह पथिवी प्रकट होते हुये पवतो के शिखर से नीचे उतर रही है और अब वृक्षो के तने दिखलाई पडने लगे है जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि जो वृक्ष अब तक पत्तो के भीतर छिपे हुये थे अब बाहर प्रकट हो रहे हैं, दूर से देखने के कारण जिन नदियो का जल अब तक बहुत ही सूक्ष्म दिखलाई पडता था अब पास आ जाने से विस्तार के कारण वे नदिया स्पष्ट दिखलाई पडने लगी है, देखिये अब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई व्यक्ति मानव लोक को उठाकर मेरे पास फेंक कर मेरे पास ले आ रहा है। अर्थात् हम लोग मानव लोक के अति समीप आ गये हैं।

विशेष—इव के द्वारा उत्प्रेक्षालकार, चतुथ चरण के प्रति अन्य तीन चरण कारण है, अत काव्यलिङ्ग अलकार तथा सम्पूण श्लोक मे स्वभावोक्ति अलकार है। शादूल विक्रीडित नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—मेदिनी=पृथिवी, उन्मज्जताम्=प्रकटी भवताम्, शैलानाम्=पवतानाम्, शिखरात्=अग्रभागात, अवरोहति इव=अधोऽवतरतीव, पादपा=वृक्षा, स्कन्धानामुदयस्तस्मात-स्कन्धोदयात्=प्रकाण्डप्राकट्यात्, पर्णानाम् पत्राणाम् अभ्यन्तरे मध्ये लीनताम् गुप्तताम—पर्णाभ्यन्तरलीनताम्, विजहति=परित्यजन्ति। तनुभावेन कार्श्येण क्षीणतया वा नष्टानि अलक्षितानि अदृश्यानि वा सलिलानि जलानि यासा ता—तनुभावनष्टसलिला, आपगा=नद्य, सन्तानै=विस्तारै, व्यक्तिम् प्रकटताम्, भजन्ति=प्राप्नुवन्ति। पश्य=अवलोकय, उत्क्षिपता=कन्दुकवदूर्ध्वं प्रापयिता, केनापि=कौतुकवता जनेन, भुवनम्=भूमण्डलम्, मत्पार्श्वम् मन्निकटम्, आनीयते=प्राप्यते इव।

सस्कृत सरलार्थ—भूमण्डलसमीप मागच्छन् राजा मातलि कथयति—पश्यतु भवान्, यदधोदृश्यमानेय पृथिवी प्रकटी भवता पवतानामग्रभागेभ्योऽवतरतीवा लक्ष्यते। वृक्षप्रकाण्डाना प्रकटनात् इमेऽधोदृश्यमाना वृक्षा इदानी स्वपत्राभ्यन्तरगुप्तता परित्यजन्ति अर्थात प्राकट्य मायान्ति—स्पष्ट-मालक्ष्यन्ते। दूरादवलोकनात् या नद्योऽलक्षितजला आसन् ता एवे दानी क्रमश पूणजला सत्य प्रकटतामाप्नुवन्ति। एवम्भूतेनानेन प्रकृतिगत परिवतनेनैव प्रतीयते यत्केनापि जनेन उर्ध्वं प्रक्षिपता भूलोकोऽय मधुना मन्निकट प्राप्यते।

टिप्पणी

भले ही कवि के समय वायुयान न चलते हो और कवि ने उनमे बैठकर इस प्रकार का स्वय अनुभव न प्राप्त किया हो पर इस श्लोक का वर्णन वैसा ही है जैसा

मातलि—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो उदाररमणीया पृथ्वी।

राजा—मातले! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढ कनकरसनिस्यन्दी सान्ध्य इव मेघपरिध सानुमानालोक्यते।

कि वायुयान द्वारा यात्राभ्यासी व्यक्ति वणन करता है, वायुयान से आकाश मे यात्रा करते हुये व्यक्ति को यह भूलोक जैसा दिखाई पडता है, ओर फिर धीरे-धीरे उसके नीचे आते समय जैसा-जैसा परिवतन पहाडो, नदियो, वृक्षो आदि मे दिखलाई पडता जाता है कवि ने यहाँ वैसा ही दश्य अकित किया है। वायुयान से नीचे आते हुये दुष्यन्त को पहले पवत शिखर दिखाई दिये तदनु उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो पृथिवी, पवत शिखरो से नीचे उतर रही है, उन्मज्जताम=ऊपर प्रकट होते हुये, समीप आने पर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो अब तक दूर होने के कारण छिपे हुये से दिखलाई पडने वाले पवत अब प्रकट होने लगे है। **मेदिनी**—"मधुकैटभयोरासीन्मेदसैव परिप्लुता, तेनेय मेदिनी देवी प्रोच्यते ब्रह्मवादिभि" इस पौराणिक मान्यता के अनुसार विष्णु ने मधु कैटभ दैत्यो को मारा था और तब उनकी मेदस् चर्बी से यह पृथिवी भर गई थी, तभी से इनका नाम मेदिनी पड गया है, देवी भागवत मे भी "मधुकैटभयोर्मेद सयोगा मेदिनी स्मृता, धारणाच्च धरा प्रोक्ता पृथिवी विस्तारयोगत" ऐसा ही माना गया है। **पर्णाभ्यन्तरलीनताम**—अन्यत्र पणष्व तरलीनताम् भी पाठ है पर अथ मे कोई अन्तर नही है। दूर होने पर वृक्ष अपने पत्तो से ढके हुये से प्रतीत होते थे, पास आने पर उनकी डालियाँ तने आदि प्रकट होने लगे थे। प्रथम पक्ति के प्रक्रम भग दोष को मज्जनात पाठ मान कर दूर किया जा सकता है। **विजहति**—वि+ओहाक् त्यागे+लट् बहुवचन। **सन्तानै**—पाठ भेद-सन्तानात, हेत्वथ मे पञ्चमी और एकवचन होने से यह पाठ अधिक उपयुक्त है। **तनुभाव नष्ट सलिला**—तनुना भाव सामान्ये नपुसकम्—तनुभाव। दूर से देखने पर नदियाँ अतिसूक्ष्म दिखाई पडती थी मानो उनमे जल था ही नही, पास आने पर उनमे जल दिखाई पडने लगा था। व्यक्ति भजन्ति=जल पूर्ण दिखाई पडने लगी थी। **स्कन्धोदयात**—वृक्षस्कन्धो के दिखलाई पडने से। कवि का यह बडा ही स्वाभाविक चित्रण है, रेलयात्री या वायुयानयात्री को पृथिवी वृक्षादि भागते हुये से दिखलाई पडते है। इसीलिये केनापि उत्क्षिपता यह कथन भी सगत होता है। **उत्क्षिपता**—उत्+क्षिप+शत् तृतीयैक वचन, **उन्मज्जताम्**—उत्+मज्ज+शतृ—षष्ठी बहुवचन, **व्यक्तिम्**—वि+अज्ज्+क्तिन, नष्ट=णश् अदशने क्त। वस्तुत कवि का यह बडा ही स्वाभाविक एव मनोवैज्ञानिक चित्रण है यह उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति एव काव्य प्रतिभा का भी परिचायक है। ●

मातलि—आपने ठीक देखा (विशेष आदर के साथ देख कर) ओह, यह पृथ्वी कैसी विशाल एव सुन्दर है।

राजा—मातलि, पूव और पश्चिम समुद्रो तक फैला हुआ, स्वण रस को

मातलि—आयुष्मन्, एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तप-ससिद्धिक्षेत्रम्। पश्य—

स्वायम्भुवान्मरीचेर्यं प्रबभूव प्रजापतिः।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥९॥

फैलाने वाला सध्याकालीन मेघो की दीवाल या अगला के समान यह कौन-सा पवत दिखलाई पड रहा है।

मातलि—आयुष्मन्, यह हेमकूट नामक किपुरुष (किन्नरो का) पवत है और तपस्या की सिद्धि का (उत्तम) स्थान है देखिये—

स्वायम्भवादिति-अन्वय—स्वयम्भुवात् मरीचे य प्रजापति प्रवभूव। सुरासुरगुरु स सपत्नीक अत्र तपस्यति।

शब्दार्थ—स्वायम्भुवात्=स्वयम्भू=ब्रह्मा, स्वायम्भुवात् मरीचे=ब्रह्मपुत्र मरीचि नामक महर्षि से, य=जो, प्रजापति प्रवभूव=प्रजास्रष्टा मारीच या कश्यप नामक महर्षि उत्पन्न हुये थे। सुरासुरगुरु=देवताओ और असुरो के जनक, स=वह, सपत्नीक,=अपनी पत्नी अदिति के साथ, अत्र तपस्यति=यहाँ तप करते हैं।

अनुवाद—ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचि नामक महर्षि से जो प्रजास्रष्टा मारीच या कश्यप नामक महर्षि उत्पन्न हुये, देवो और असुरो के जनक वह महर्षि, अपनी पत्नी अदिति के साथ यहा तप कर रहे है।

भावाथ—ब्रह्मा के मानसपुत्र महर्षि मरीचि थे उनसे प्रजास्रष्टा मारीच या कश्यप नामक महर्षि उत्पन्न हुये थे यह मारीच महर्षि हो देवासुरो के जनक थे, इनकी अदिति नामक पत्नी से अदितेरपत्य पुमान् आदित्य अर्थात् देवता तथा इनकी दिति नामक पत्नी से देतेरपत्य दैत्य अर्थात् दैत्य उत्पन्न हुये थे इस प्रकार देवासुर जनक मारीच थे, यह इस समय भी अपनी पत्नी अदिति के साथ इस किंपुरुष पवत पर तप कर रहे थे।

विशेष—यह अनुष्टुप नामक अष्टवर्णात्मक छन्द है। इसके चारो ही चरणो मे पाचवा वण लघु होता है, समपादो मे सप्तमाक्षर लघु होता है और सभी पादो मे षष्ठ अक्षर गुरु होता हे, अन्य वर्णों के लिये कोई नियम नही है। यदि इसके चतुर्थ वण के अनन्तर यगण हो तथा द्वितीय एव चतुथ पाद मे भगण तथा एक गुरु वर्ण हो, तो यही वक्त्र नामक छन्द होता है, और यदि इसी छन्द के चतुथ वण के बाद जगण हो अर्थात् भगण न हो तो यही पथ्यावक्त्र नामक छन्द कहलाता है, इनके प्रत्येक पाद मे अष्टाक्षर ही होते है, ये दोनो भी अनुष्टुप् के ही अन्य भेद हैं।

सस्कृत व्याख्या—स्वयम् आत्मना भवतीति स्वयम्भू—ब्रह्मा, तस्या पत्य पुमान् स्वायम्भुव तस्मात् स्वायम्भुवात् ब्रह्मणो मानसपुत्रादित्यथ। मरीचे=एतदाख्यात् देवर्षे, य प्रजापति=य प्रजास्रष्टा मारीच कश्यपो वा, प्रवभूव=प्रथम जात,

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

मातलि—प्रथमः कल्पः।

(नाट्येनावतीर्णौ।)

राजा—(सविस्मयम्)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः
प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयाऽनिरुद्धत-
स्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

मातलि—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः।

सुराणां मसुराणाञ्च गुरुः जनकः—सुरासुरगुरुः, स पत्न्या सह वर्तमानः सपत्नीकः, अत्र=अस्मिन् किंपुरुषाख्ये पर्वते, तपस्यति=तपश्चरति।

संस्कृत सरलार्थ—ब्रह्मणो मानसपुत्रात् मरीचेः य प्रजास्रष्टा कश्यपः प्रथमः जातः, देवासुरजनकः सोऽत्र स्वपत्न्या अदित्या सह तपश्चरति।

टिप्पणी

उदाररमणीया—उदारा विशाला चासौ रमणीया मनोहरा। **पृथिवी**—पृथनात् विस्तारयोगात् पृथिवी। पूर्वा०—पूर्वम् अपरं च समुद्रम् अवगाढ—पूर्वपश्चिम समुद्रों तक विस्तृत। "प्रागायता महाराज षडेते वर्षपर्वताः, अवगाढा उभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ" महाभारत "पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य—कु० सं०। किंपुरुष पर्वत भी इन्हीं छः में से एक है, इसे किन्नरों का निवास स्थान माना जाता है। किन्नर एक देवयोनि है, इनका शरीर मानव जैसा पर शिर घोड़े जैसा होता है, ये कुबेर के सेवक माने जाते हैं। **हेमकूट**—स्वर्ण की चोटी वाला, यह भी उक्त छः वर्ष पर्वतों में से एक है जो कि हिमालय के उत्तर में कैलास के समीप माना जाता है। **कनकरसनिष्यन्दी**—कनकरसस्य निष्यन्दोऽस्त्यस्येत्यर्थे मत्वर्थे णिनिः "अनुविपर्यभि इत्यादि से वैकल्पिक षत्व होने से निष्यन्द और निस्यन्द दोनों ही शब्द बनते हैं। **तपस्यति**—तपः चरति "कर्मणोरोमन्थेत्यादिना क्यङ् प्रत्यये तपसः परस्मैपदमिति परस्मैपदम्

राजा—तब तो कल्याणमयी चीजों का उल्लंघन कर न जाना चाहिये। मैं भगवान् मारीच की प्रदक्षिणा करके ही जाना चाहता हूँ।

मातलि—यह उत्तम विचार है। (दोनों उतरने का अभिनय करते हैं)

राजा—(विस्मयपूर्वक)

उपोढेति-अन्वय—अभूतलस्पर्शतया रथाङ्गनेमयः उपोढशब्दाः न, रजः च प्रवर्तमानम् न दृश्यते। अनिरुद्धतः तव रथः अवतीर्णः अपि न लक्ष्यते।

शब्दार्थ—अभूतलस्पर्शतया=पृथिवी का स्पर्श न होने के कारण,

रथाङ्गनेमय =रथ के पहियो के प्रान्त भागो ने शब्द नही किया अर्थात् रथ की नेमियो से कोई शब्द नही हुआ। रज च प्रवर्तमान न दृश्यते=और धूलि भी उडती हुई नही दिखाई पडी। अनिरुद्धत =लगाम न रोकने से, तव रथ अवतीर्ण अपि= तुम्हारा रथ (भूमि पर) उतरा हुआ भी, न लक्ष्यते=वैसा प्रतीत नही होता।

अनुवाद—पृथिवी का स्पश न होने के कारण रथ के पहियो के प्रान्त भागो से कोई शब्द नही हुआ और न धूलि ही उडती हुई दिखलाई पडी। लगाम न रोकने के कारण तुम्हारा रथ उतरा हुआ भी उतरा हुआ सा नही प्रतीत होता है।

भावार्थ—राजा कहता है कि यद्यपि तुम्हारा रथ अब भूमि पर उतर आया है तथापि रथ के घोडो की लगाम न रोकने के कारण यह उतरा हुआ सा प्रतीत नही होता, क्योकि रथ के उतरने पर लगाम का रोकना आवश्यक होता है। आपका रथ पृथिवीतल का स्पश नही कर रहा है अतएव रथ चक्रो की नेमियो से शब्द भी नही हो रहे है, जब कि पृथिवी पर चलते हुये रथ की नेमियो से शब्द अवश्य होता है। इसी प्रकार रथ के चलने पर धूलि भी उडती है, पर आप के रथ से धूलि भी उडती नही दिखाई पडती। सामान्य रथ की अपेक्षा देवरथ मे यही विशेषताये होती है।

विशेष—यहाँ पर रथावतरण रूप कारण के होने पर भी नेमिशब्द आदि कार्यों की अनुत्पत्ति है, अत **विशेषोक्ति** अलकार, रथावतरण के न जानने के प्रति पूव वाक्यार्थ कारण है अत **काव्यलिङ्ग** अलकार, अवतीण अपि न लक्ष्यते' यह **विरोधाभास** अलकार है। श्रुति **अनुप्रास** और वशस्थ नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—नास्ति भूतले पृथिवीपृष्ठे स्पश यस्य-तस्य भाव तया—अभूतलस्पर्शतया=पृथिवीतलस्य स्पर्शा भावात्, रथाङ्गानाम् रथचक्राणा नेमय प्रान्त भागा —रथाङ्गनेमय, उपोढा धृता प्रारब्धा वा शब्दा घरघरेतिध्वनय यैस्ते—उपोढशब्दा —कृतघरघरेतिध्वनय, न=न सन्ति। रज =धूलिश्च, प्रवतमानम्= तुरगखुरै उदगच्छत्, न दृश्यते=नावलोक्यते। अनिरुद्धत =अश्वप्रग्रहानिरोधात्, तव रथ =त्वदीय रथोऽयम्, अवतीण अपि=हेमकूटभूतलमागतोऽपि, न लक्ष्यते=न विज्ञायते।

सस्कृत सरलार्थ—हेमकूटभूतलमागत मातलिरथ मवलोक्य राजा कथयति—यद्यपि तवाय रथ हेमकूटभूतलमवतीर्ण स्तथाप्यय रथाश्वप्रग्रहाणा मनिरोधादवतीर्ण इव नावलोक्यने, रथचक्रप्रान्तभागा अपि शब्दायमाना न सन्ति, धूलिश्चापि रथाश्वखुरै र्नोत्क्षिप्यते।

मातलि—इन्द्र के और आपके रथ मे इतना ही अतर है। आपके अवतीण हुये रथ मे उक्त तीनो बाते देखी जाती है पर इन्द्ररथ मे नही।

टिप्पणी

अनतिक्रमणीयानि श्रेयासि—क्योकि प्रतिबध्नाति हि श्रेय पूज्यपूजाव्यतिक्रम रघु०। श्रेयासि से यहाँ तात्पय निग्रहानुग्रहसमथ ऋषि से है। **प्रथम कल्प**—प्रथम

राजा—मातले, कतमस्मिन् प्रदेशे मारीचाश्रम ?

मातलि—(हस्तेन दर्शयन्)

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा सन्दष्टसर्पत्वचा,
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडित ।
असव्यापि शकुन्तनीडनिचित बिभ्रज्जटामण्डल,
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्ब स्थित ॥११॥

का अथ उत्तम है, श्रेष्ठविचार। उपोढ—उप+वह् कर्मणि क्त। अनिरुद्धत—अनिरोधात्—निरोध=रोकना, अनिरोध=न रोकना। अत्र हेतौ पञ्चमी।

राजा—मातलि किस स्थान पर मारीच का आश्रम है।

मातलि—(हाथ से दिखलाता हुआ)

वल्मीकेति-अन्वय—वल्मीकाधनिमग्नमूर्ति, सन्दष्टसपत्वचा उरसा (उपलक्षित) कण्ठे जीणलताप्रतानवलयेन अत्यथसपीडित, असव्यापि, शकुन्तनीडनिचितम् जटा-मण्डलम् विभ्रत्, स्थाणु=इव अचल असौ मुनि यत्र अकविम्वम् अभि स्थित (तत्रैव मारीचाश्रमो वतते)।

शब्दाथ—वल्मीकाधनिमग्नमूर्ति=जिसका आधा शरीर वमी या बाँवी मे डूबा हुआ या दबा हुआ है (चीटियो द्वारा बनाया गया एक प्रकार का मिट्टी का टीला वमी या बाँवी कहलाता है, पुराना हो जाने पर इस बावी मे प्राय सप रहने लगते है, तपस्या मे निरतर ध्यानावस्थित रहने के कारण चीटियो ने इनके चारो ओर यह मिटटी का टीला खडा कर दिया था, जिसमे इनका आधा शरीर दब गया था। सन्दष्टसपत्वचा उरसा=सपत्वक=सर्पों की केचुली, सन्दष्ट=लिपटी हुई अर्थात् केंचुलियो से लपटे हुये वक्ष स्थल मे उपलक्षित, जीणलता प्रतानवलयेन=पुरानी लताओ के ततुओ या रेशो के वर्तुलाकार वेष्टन से, कण्ठे=गले पर, अत्यथसपीडित =अत्यधिक पीडित, असव्यापि=कधो पर फैले हुये, शकुतनीडनिचितम्=पक्षियो के घोसलो से भरे हुये, जटामण्डलम्—जटासमूह को, विभ्रत्=धारण किये हुये, स्थाणु इव अचल=ठूठ की तरह निश्चल, असौ मुनि=यह मुनि, यत्र=जहाँ अकविम्वम् अभि=सूयमण्डल की ओर अभिमुख होकर, स्थित=स्थित है (वही मारीच का आश्रम है)।

अनुवाद—जिनका आधा शरीर वल्मीक मे दबा हुआ है, (और जो) केचुली लपटे हुये वक्ष स्थल से उपलक्षित हैं, (तथा) पुराने लता तन्तुओ के वर्तुलाकार वेष्टन से जो गले पर अत्यधिक पोडित हो रहे है, (एवम्) कन्धो पर फैले हुये, पक्षियो के घोसलो से भरे हुये, जटासमूह को धारण करते हुये, ठूठ के समान निश्चल यह मुनि जहा पर सूयमण्डल की ओर अभिमुख होकर बैठे है (वही मारीच का आश्रम है)।

भावाथ—तपस्यानिरत मुनि को हाथ से दिखलाता हुआ मातलि कहता है, राजन् दखो जिस स्थान पर यह मुनि स्थाणु के समान निश्चल होकर सूयमण्डल की

ओर मुँह किये हुये बैठे है वहा ही मारीचाश्रम है, आगे मातलि राजा से तपोनिरत मुनि का वणन करता हुआ कहता है कि इन मुनि का आधा शरीर तो वल्मीक मे दबा हुआ है, और इनके वक्ष स्थल पर सर्पो की केचुली पडी हुई है। इनके कण्ठ के चारो ओर पुराने लता-तन्तु लपटे हुये हैं जिमसे वे अत्यधिक पीडित हो रहे हैं, इनके कन्धो पर जटाये फैली हुई है, जिनमे पक्षियो ने अपने घोसले बना लिये है। मुनि के इस प्रकार के घोर तप से उनका दीघकाल तक तप करना सूचित होता है। सन्दष्टेत्यादि पद से मुनि का सब जीवो पर समभाव प्रकट होता है तथा जीर्णेत्यादि पद उनका अपकारी के प्रति भी उपकारी होना घोषित करना है।

विशेष—यहाँ सभी विशेषणो के साभिप्राय होने से **परिकर** अलकार तथा उरसा कण्ठे आदि शब्दो के श्लिष्ट होने से **श्लेष** तथा अनुप्रास अलकार है, शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—वल्मीके—पिपीलिकानिर्मितमृत्तिकास्तूपे अर्ध निमग्ना निविष्टा मूर्ति शरीर यस्य स—वल्मीकार्धनिमग्नमूर्ति, स दष्टा सलग्ना सपत्वक् निर्मोक यस्मिन् तेन—सन्दष्टसपत्वचा, उरसा—वक्ष स्थलेन (उपलक्षित) जीर्णानाम् परिणतानाम लताना वल्लीनाम् प्रतान कुटिलतन्तु स एव वलय वेष्टन तेन—जीणलताप्रतानवलयेन, कण्ठे=कण्ठस्थले, अत्यथ सपोडित=अतिशयेन क्लेश प्रापित, असौ स्कन्धौ व्याप्नोतीति तत्-असव्यापि=स्कन्धपर्यन्तव्याप्तम् शकुन्ताना पक्षिणा नीडै कुलायै निचित व्याप्तम—शकुन्तनीडनिचितम्, जटामण्डलम्=जटासमूहम् बिभ्रत् =धारयन्, स्थाणु—शुष्कवृक्षकाण्ड इव, अचल=निश्चल, असौ मुनि—स ऋषि यत्र=यस्मिन् स्थाने, अकविम्वम्=सूयमण्डलम्, अभि=लक्ष्यीकृत्य, स्थित= तिष्ठति (तत्रैव मारीचाश्रम अस्ति)।

सस्कृत सरलाथ—मारीचाश्रम निर्दिशन् मातलि कथयति राजन् यत्र असौ मुनि स्थाणुरिवाचलो भूत्वा सूयमण्डल लक्ष्यीकृत्य तिष्ठति स एवास्ति मारीचाश्रम, तपोनिरतस्यास्य मुनेरधशरीर वल्मीके निविष्ट मस्ति। वक्षस्थलेऽस्य सपत्वच सलग्ना सन्ति। परिणतलता तन्तुवेष्टनेनाय मुनि कण्ठस्थलेऽतिशयेन क्लेश प्रापितोऽस्ति। स्कन्धव्याप्त पक्षिनीडव्याप्तञ्चाय जटामण्डल धारयन्नस्ति।

टिप्पणी

एतावान—इतना ही, जिस प्रकार देवता पृथ्वी का स्पश नही करते इसी प्रकार इन्द्र का रथ भी पृथिवी का स्पश नही करता था। **वल्मीकेति**—इस श्लोक मे जिस मुनि का वणन है वस्तुत वह मारीच मुनि न होकर कोई अन्य तपस्वी है, क्योकि मारीच का आने का वार्तालाप उन्हे समाधिस्थ योगी सिद्ध नही करता। **अभ्यकविम्वम्**—अकविम्वम अभि अत्र 'अभिरभागे' इत्यनेन कमप्रवचनीयत्वेन द्वितीया अथवा अभ्यकविम्वमित्येक पदम् लक्षणेनाभिप्रतीत्यादिना अव्ययीभावसमास। **उरसेत्यत्र** उपलक्षणे तृतीया। **सन्दष्ट**—सम्+दश+क्त। **जीर्ण**—जॄ+क्त। **बिभ्रत्** =वि+भृ+शतृ। कोई आचाय स्थाणु पद का शिव अथ लेकर उसके साथ भी इन

राजा—नमस्ते कष्टतपसे ।

मातलि —(सयतप्रग्रह रथ कृत्वा) एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्ष प्रजापतेराश्रम प्रविष्टौ स्व ।

राजा—स्वर्गादधिकतर निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि ।

मातलि —(रथ स्थापयित्वा) अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य) मातले, भवान् कथमिदानीम् ।

मातलि —सयन्त्रितो मया रथ । वयमप्यवतराम । (तथा कृत्वा) इत आयुष्मन् ! (परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणा तपोवनभूमय ।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि ।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने,
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया ।
ध्यान रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसनिधौ सयमो,
यत कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

सभी विशेषणो को लगाते हैं। स्थाणु—वृक्षप्रकाण्ड के अर्थ मे भी ये सब विशेषण लगाये जा सकते है, क्योकि उरसा, जटा, कण्ठ आदि पद यहाँ श्लिष्ट है। अत यहाँ श्लेषोपमालकार ही है। समाधिस्थ योगी का विशद वणन है जो कि कवि की वणना-शक्ति का परिचायक है।

राजा—कठोर तप करने वाले (मुनि) को प्रणाम है।

मातलि—(रथ की लगाम खीच कर) यहाँ पर अदिति द्वारा सर्वाधित मन्दार वृक्षो वाले प्रजापति मारीच के आश्रम मे हम दोनो प्रविष्ट हो गये हैं।

राजा—यह स्वग से भी अधिक शान्तिप्रद स्थान है। यहाँ पर मैं मानो अमृत सरोवर मे निमग्न हो गया हूँ।

मातलि—(रथ को रोककर) आप उतरिये।

राजा—(उतर कर) मातलि, अब आप कहाँ क्या करेंगे ?

मातलि—मैंने रथ को भली भाँति रोक लिया है। मैं भी उतरता हूँ, (वैसा ही करके) आप इधर से आइये, (घूमकर) आप माननीय ऋषियो की तपोभूमियो का दशन करें।

राजा—वस्तुत मैं आश्चय से देख रहा हूँ।

प्राणानामिति—अन्वय—सत्कल्पवृक्षे वने अनिलेन प्राणानाम् वृत्ति उचिता। काञ्चनपद्मरेणुकपिशे तोये धर्माभिषेकक्रिया। रत्नशिलातलेषु ध्यानम्, विबुधस्त्री-सनिधौ सयम, अन्य मुनय तपोभि यत् काक्षन्ति तस्मिन् अमी तपस्यन्ति।

शब्दाथ—सत्कल्पवृक्षे वने=विद्यमान कल्प वृक्षो वाले वन मे, **अनिलेन**=वायु भक्षण के द्वारा, प्राणानां वृत्ति =जीवन धारण की क्रिया, **उचिता**=अभ्यस्त की जाती है। काञ्चनपद्मरेणुकपिशे तोये=स्वर्ण कमलो के पराग से पीतवर्ण जल

मे, धर्माभिषेक क्रिया=धर्मार्थ स्नान विधि की जाती है। रत्नशिलातलेषु=रत्नो के शिलातलो पर, ध्यानम=ईश्वर-चिन्तन किया जाता है। विवुधस्त्रीसनिधौ=देवाङ्-गनाओ के समीप मे, सयम=इन्द्रिय निग्रह किया जाता है। अन्य मुनय=अन्य मुनिजन, तपोभि=तपस्याओ के द्वारा, यत्—काशन्ति=जिन वस्तुओ की आकाक्षा करते हैं, तस्मिन्=उन सभी पदार्थों के भोग से युक्त स्थान पर, अमी=ये मुनिजन, तपस्यन्ति=तपस्या करते हैं।

अनुवाद—विद्यमान कल्प वृक्षो वाले वन मे (भी) (केवल) वायुभक्षण के द्वारा जीवन धारण की क्रिया अभ्यस्त की जाती है, अर्थात् वायुभक्षण कर जीते रहने का अभ्यास किया जाता है। स्वण-कमलो के पराग से पीतवर्ण जल मे (केवल) धर्मार्थ स्नान विधि की जाती है। रत्नो के शिलातलो पर ईश्वर ध्यान किया जाता है, देवा-ङ्गनाओ के सान्निध्य मे इन्द्रिय निग्रह किया जाता है। अन्य मुनि लोग तपस्याओ के द्वारा जिन पदार्थो की आकाक्षा करते हैं ये मुनिजन उन पदार्थों के भोग से युक्त स्थल मे (भी) तप करते हैं।

भावार्थ—राजा कहता है कि ऐसे आश्रमो मे पहुँच कर अपनी घोर तपस्याओ द्वारा, अन्य मुनिजन जिन पदार्थों की प्राप्ति के लिये कष्ट उठाते हैं, यहाँ के ये मुनिजन उन सभी पदार्थों के भोगो को प्राप्त करके भी, उनकी उपेक्षा कर घोर तप मे सलग्न रहते हैं, इसीलिये यद्यपि इस आश्रम मे इच्छानुसार सभी पदार्थों को देने वाले कल्पवृक्ष विद्यमान हैं, तथापि यहाँ के मुनिजन उनसे स्वादिष्ट भोज्य पदाथ न लेकर केवल वायु भक्षण द्वारा ही अपने प्राणो को धारण करने का अभ्यास करते है। यद्यपि यहाँ के सरोवरो का जल स्वण कमलो के पराग से पीतवण एव सुगन्धित है तथापि ये मुनिजन उनमे जल विहार न करके केवल धर्म क्रियाओ की साधना के के लिये उनमे स्नान मात्र करते हैं। यद्यपि यहाँ रत्न शिलायें हैं तथापि ये मुनिजन उन पर सुरसुन्दरियो के साथ शयन न करके उन पर केवल ध्यान करते हैं, यद्यपि यहाँ अनेक अप्सरायें रहती है तथापि ये मुनिजन उनके सम्पर्क मे रह कर भी इन्द्रिय निग्रह का अभ्यास करते हैं। यहाँ के मुनिजनो की यही दिनचर्या है, जिसका एक उदाहरण 'वल्मीकेत्यादि श्लोक मे दिया जा चुका है।

विशेष—यहाँ कल्पवृक्षादि कारणो के रहते हुये भी उनसे तदनुकूल कार्योत्पत्ति नही होती अपितु तद्विरुद्ध अनिलादि से प्राण धारणादि किया जाता है अत **उक्तनिमित्ता, माला विशेषोक्ति अलकार** है। इस कथन से अत्रत्य तपस्वियो का धैर्यातिशय व्यञ्जित होता है अत **अलकार से वस्तुध्वनि** है। चतुथचरणगत वाक्याथ के प्रति पूव चरणत्रयगत वाक्याथ हेतु हैं अत **वाक्याथ हेतुक काव्यलिङ्ग अलकार** है। अन्य मुनियो की अपेक्षा अत्रत्य मुनियो मे आधिक्य वतलाया गया है अत **व्यतिरेक अलकार** है। **छेक, वृत्ति, श्रुति, अनुप्रास**, मुन्यावलम्बना रति भाव तथा **शार्दूल विक्रीडित छन्द** है।

मातलि—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। (परिक्रम्य। आकाशे) अये वृद्धशाकल्य, किमनुतिष्ठति भगवान् मारीचः ? किं ब्रवीषि ? दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।

राजा—कर्णं दत्त्वा अये, प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।

संस्कृत व्याख्या—सन्तः विद्यमानाः कल्पवृक्षाः एतन्नामकाः देवतरवो यत्र तस्मिन्—सत्कल्पवृक्षे वने=वनाश्रमे, अनिलेन=वायुभक्षणेन एव केवलम्, प्राणानाम् वृत्तिः=जीवनधारणक्रिया उचिता=अभ्यस्ता भवति। काञ्चनपद्मानाम्—स्वर्णकमलानाम् रेणुभिः परागैः कपिशे पिङ्गलवर्णे, तोये जले, धर्मार्थम् अभिषेकः क्रिया स्नानविधिः—धर्माभिषेकक्रिया (क्रियते) रत्नानां मणीनाम् शिलातलेषु शिलापट्टेषु—रत्नशिलातलेषु, ध्यानम्=ईश्वरचिन्तनम् (क्रियते) विबुधानाम् देवानाम् स्त्रियः पत्न्यः तासां सन्निधौ समीपे—विबुधस्त्रीसन्निधौ, संयमः—इन्द्रिय-निग्रहः (क्रियते) अन्यमुनयः=अन्यतपस्विनः, तपोभिः=तपस्याभिः, यत्=कल्पवृक्षादिवस्तुजातम्, काङ्क्षन्ति=अभिलषन्ति, तस्मिन्=तादृशभोग्यपदार्थसनाथे स्थाने, अमी=अत्रत्याः मुनयः तपस्यन्ति=तपश्चरन्ति।

संस्कृत सरलार्थ—राजा कथयति—अन्ये मुनयस्तपोभिः यादृशं वस्तुजातमभिलषन्ति, इमे अत्रत्याः मुनयस्तादृशे सर्वभोग्यपदार्थसनाथेऽप्यस्मिन्नाश्रमे तपश्चरन्ति। अत एव इमे मुनयः सत्कल्पवृक्षेऽपि वने केवलं वायुभक्षणेनैव स्वप्राणधारणवृत्तिं सम्पादयन्ति। स्वर्णकमलपरागकपिशीकृते सुवासिते च जले केवलं धर्मार्थं स्नानक्रिया क्रियते, रत्नशिलासनमधिरुह्य एतैः ध्यानं क्रियते, सुराङ्गनासान्निध्ये निवसद्भिरप्येतैः रत्रत्यैः मुनिभिरिन्द्रियनिग्रहः क्रियते।

टिप्पणी

निर्वृत्ति स्थानम्— सुख और शान्ति का स्थान। **भवान् कथमिदानीम्**—अब आप कहाँ क्या करेंगे। **उचिता**—इसका अर्थ कुछ टीकाकारों ने अवश्यकरणीय भी किया है। **संयम**—सम्- यम्=अप्। **ध्यानम्**—ध्यै चिन्तायाम्—ध्या+ल्युट्। **तपस्यन्ति**—तपस् क्यङ् लट्। इस श्लोक में प्रयुक्त प्राणानामित्यादि पदों से मुनिजनों की निर्लिप्तता, निरीहता निःस्पृहता, जितेन्द्रियता, निःसङ्गता, आदि द्योतित होती है। ●

मातलि—महात्माओं की इच्छा सदा ऊर्ध्वगामिनी होती है, (अर्थात् वे यत्किञ्चित् लाभ से ही सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहते अपितु सदा उत्तमोत्तम पदार्थ और स्थान प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। (चारों ओर घूमकर। आकाश में) कहिये, वृद्धशाकल्य ! इस समय भगवान् मारीच क्या कर रहे हैं ? क्या कहा ? दाक्षायणी (अदिति) ने जो पतिव्रता धर्म के सम्बन्ध में उससे पूछा था, महर्षि पत्नियों के साथ स्थित उनको वे तद्विषयक उपदेश दे रहे हैं।

राजा—(कान लगाकर अर्थात् सुनकर) अरे, तब तो यह (पतिव्रता धर्मोपदेश) ऐसा है कि हमें अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। (अर्थात् जब तक यह उपदेश समाप्त नहीं होता तब तक हमें उनके दर्शन के अवसर के लिये प्रतीक्षा करनी होगी।

मातलि —(राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान्, यावस्त्वामिद्रागुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

राजा—यथा भवान् मन्यते ।

(इति स्थित ।)

मातलि —(आयुष्मन्, साधयाम्यहम् ।

(इति निष्क्रान्त ।)

राजा—(निमित्त सूचयित्वा ।)

मनोरथाय नाशसे किं वाहो स्पन्दसे वृथा ।
पूर्वावधीरित श्रेयो दु ख हि परिवर्तते ॥१३॥

मातलि—(राजा की ओर देख कर) आप तब तक इस अशोक वृक्ष के नीचे बैठिये, जब तक मैं इन्द्र के जनक भगवान् मारीच को आपके आगमन की सूचना देने के लिये उचित अवसर प्राप्त करूँ ।

राजा—जैसा आप उचित समझें (यह कहकर बैठ जाता है)

मातलि—आयुष्मन्, मैं जा रहा हूँ । (यह कहकर प्रस्थान)

राजा—(शुभ शकुन का अभिनय करके)—

मनोरथायेति-अन्वय—मनोरथाय न आशसे, हे वाहो, वृथा किं स्पन्दसे ? हि पूर्वावधीरितम् श्रेय , दु ख परिवर्तते ।

शब्दार्थ—मनोरथाय = शकु तला प्राप्ति रुप अपनी अभिलाषा के लिये तो, न आशसे = मै आशा ही नही करता । हे वाहा = मेरी दाहिनी भुजा । वृथा किं स्पन्दसे = तब तू व्यथ ही क्यो फडक रही है । हि = क्योकि, पूर्वावधीरित श्रेय = वह कल्याण (कल्याण कारक वस्तु) जिसका पहले तिरस्कार कर दिया गया है, दु ख परिवतते = दु ख रूप मे ही परिवर्तित होती है अर्थात् बडी कठिनाई से पुन प्राप्त होती है ।

अनुवाद—शकुन्तलाप्राप्ति रूप अपनी अभिलाषा के लिये तो मैं आशा ही नही करता, हे वाहु ! तब तू व्यथ ही क्यो फडक रहा है, क्योकि जिस कल्याणकर वस्तु का पहले तिरस्कार कर दिया जाता है वह फिर दु ख रूप मे ही परिवर्तित होती है । अर्थात् वह पुन बडी कठिनाई से ही प्राप्त होती है ।

भावाथ—अपनी दक्षिण भुजा का फडकना, जो कि सुन्दर स्त्री की प्राप्ति का सूचक होता है, देख कर राजा अपने मन मे कहता है कि अपनी उत्कट अभिलाषा तो शकुन्तला की प्राप्ति ही है, पर अब मै उसकी तो आशा ही नही करता तो फिर इस भुजा का फडकना मेरे लिय व्यथ् ही है । क्योकि जब कल्याणमयी शकुन्तला मेरे पास आई तब तो मैंने उसका परित्याग कर दिया था, और अब इस अकारण परित्याग के फलस्वरूप उसकी पुन प्राप्ति दु ख साध्य ही है ।

विशेष—पूर्वाध मे 'मनोरथाय' प्रयोग से, शकुन्तला रुप विषय के निगरण

(नेपथ्ये)

मा खलु चापल कुरु। कथ गत एवात्मन प्रकृतिम् ? [मा क्खु चावल करेहि। कह् गदो एव्व अत्तणो पकिदि ?]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य। को न खल्वेष

से यहाँ अतिशयोक्ति अलकार है। उत्तरार्ध मे सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलकार है। वृत्यनुप्रास, पथ्यावक्त्र नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—मनोरथाय=मदिच्छाविषयीभूताय शकु तलासमागमाय, न आशमे=नैव सभावयामि। हे वाहो=मदीयदक्षिणभुज ! वृथा=मुधा, किं स्पन्दसे=किमर्थ स्फुरसि, हि=यत, पूर्वावधीरितम्=प्रथम तिरस्कृतम्, श्रेय=कल्याणकर वस्तु, दु ख परिवतते=दुखमेव परिणमति।

सस्कृत सरलार्थ—वरस्त्रीलाभसूचक स्वदक्षिणभुजस्पन्दनमवगत्य राजा मनसि चिन्तयति किमनेन शुभशसिना दक्षिणभुजस्पन्दनेन ममाभिलाषाविषयीभूताया शकुन्तलाया प्राप्तिस्तु सुदुलभैव, यतोहि मया सा कल्याणमयी पूर्व तिरस्कृता, कल्याणकरस्य वस्तुनोऽकारणपरित्यागेन दु ख मेवानुभूयते।

टिप्पणी

उत्सर्पिणी—ऊध्वगामिनी, दूराधिरोहिणी—उत्तरोत्तर ऊँचे ऊँचे ही चढने वाली, उत्+सप+ताच्छील्ये णिनि। वृद्धशाकल्य—ऋग्वेद की शाकल शाखा का अध्येता मारीच का सेवक यह कोई ऋषि था। आकाशे अर्थात् आकाशभाषित के द्वारा यह वार्तालाप होता है, इसमे कोई एक ही व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष को सम्बोधित कर स्वय ही प्रश्नोत्तर करता है अन्य व्यक्ति नही रहता, नाटको का यह एक परिभाषिक शब्द है। दाक्षायणी—दक्षपुत्री अदिति महर्षि—ऋषियो की क्रमश उन्नत ये सात श्रेणियाँ होती है—ऋषि, महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, काण्डर्षि, और श्रुतर्षि। तस्यै—अत्र सप्रदाने चतुर्थी। निमित्तम्—शुभ शकुन "वामेतरभुजस्पन्दो वरस्त्री लाभसूचक"। प्रस्ताव—प्रसग, प्रतिपाल्यावसर—ऐसा अवसर जिसके लिये प्रतीक्षा करनी पडेगी। अशोकवृक्षमूले—अशोक वृक्ष के नीचे इसलिये बैठाया गया था कि शकुन्तला की प्राप्ति से उसका भी शोक दूर हो सके। अन्तरान्वेषी—अन्तरम् अवसरम अन्विष्यतीति। मनोरथाय—स्वमनोरथ विषयीभूतायै शकुन्तलायै—अत्र क्रियार्थोपपदस्येति चतुर्थी। पूर्वावधीरित श्रेय—तिरस्कृतपूर्व कल्याणम्, दु ख परिवतते =पूर्वतिरस्कृत कल्याण केवल दु ख रूप मे ही लौटता है, दु ख से ही मिलता है। ●

(नेपथ्य से)

चञ्चलता मत करो, क्यो, यह तो अपने स्वभाव पर ही आ गया है।

राजा—(कान लगाकर) यह स्थान तो अविनय (उदण्डता) के योग्य नही है। तो फिर किसके द्वारा कौन मना किया जा रहा है ? (आवाज की ओर देखकर)

निषिध्यते ? (शब्दानुसारेणावलोक्य) (सविस्मयम्) अये, को नु खल्वयमनु-वध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बाल ?

अर्धपीतस्तन मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितु सिंहशिशु बलात्कारेण कर्षति ॥१४॥

(विस्मय के साथ) अरे, दो तापसियो के द्वारा पीछा किया जाता हुआ, असाधारण शक्ति सम्पन्न यह कौन बालक है ।

अर्धेति—अन्वय—मातु अधपीतस्तनम् आमदक्लिष्टकेसरम् सिंहशिशुम् प्रक्रीडितुम् बलात्कारेण कषति ।

शब्दार्थ—मातु अधपीतस्तनम्=जिसने माता के आधे ही स्तनो का अभी दूध पी पाया है, आमदक्लिष्टकेसरम=(खीचने मे) रगड से जिसके कन्धे के बाल इधर-उधर बिखर गये हैं, सिंहशिशुम्=सिंह के बच्चे को, प्रक्रीडितुम्=खेलने के लिये, बलात् कारेण=बलपूर्वक, कषति=खीच रहा है ।

अनुवाद—जिसने अभी माता के आर्ध ही स्तनो का दूध पी पाया है और (खीचने मे) रगड से जिसके कन्धो पर के बाल इधर-उधर बिखर गये हैं, ऐसे सिंह-शावक को खेलने के लिये बलपूवक खोच रहा है ।

भावार्थ—राजा बालक को देखकर कहता है कि इस बालक मे असामान्य शक्ति है अतएव यह उस सिंहशावक को अपने साथ खेलने के लिये बलात् पकड़कर अपनी ओर खीच रहा है, जिसने कि अभी अपनी माता के स्तनो का पूरा दूध भी नही पी पाया है और बलात् खीचने के कारण जिसके कन्धो के बाल इधर-उधर बिखर गये है ।

विशेष—स्वभावोक्ति, तथा उदात्तालकार, पथ्यावक्त्र छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—मातु=स्वमातु केसरिण्या, अधम् असम्पूर्णं यथास्यात्तथा पीत स्तन येन स तम्—अधपीतस्तनम्=असम्पूणपीतस्तनविनिःसृतदुग्धम्, आमर्दन वलादाकषणजनितावेगेन क्लिष्टा इतस्ततो विक्षिप्ता केसरा स्कन्धवाला यस्य तम्—आमदक्लिष्टकेसरम्, सिंहस्य शिशुस्तम्—सिंहशिशुम्=सिंहशावकम्, प्रक्रीडितुम् क्रीडनार्थं मनोविनोदाथमिति भाव, वलात्कारेण=बलपूवकम्, कषति=आकर्षति ।

सस्कृत सरलार्थ—तपस्विनीभ्या मनुवध्यमानमवालसत्व वालक मवलोक्याश्चयचकिता राजा कथयति—यद् वालोऽयमपूवशक्तिसम्पन्न प्रतीयते यतोह्यय तमपि सिंहशावक क्रीडनाथ वलादाकषति, येन नाद्यापि स्वमातुरशेष स्तन्य पीतम्, यस्य स्कन्धवाला आकषणजनितावेगेनेतस्ततो विक्षिप्ता वतन्ते ।

टिप्पणी

अबालसत्त्व—साधारण बालक के बल से भिन्न अर्थात् असाधारण शक्ति सम्पन्न । "वालोऽप्यवालप्रतिमो बभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च" बुद्ध चरित । इसी भाव का कुमारसम्भव का यह श्लोक द्रष्टव्य है "गृह्णन् विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन्नुमा केसरिण

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः)

बालः—जृम्भस्व सिंह, दन्तांस्ते गणयिष्ये [जिम्भ सिंघ, दन्ताइं दे गणइस्सं ।]

प्रथमा—अविनीत, किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि ? हन्त, वर्धते ते संरम्भः । स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि । [अविणीद, किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि ? हन्त, वड्ढइ दे संरम्भो । ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि ।]

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ? नूनमनपत्यता मां वत्सलयति ।

द्वितीया—एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि । [एसा क्खु केसरिणी तुमं लघेदि जइ से पुत्तअं ण मुञ्चेसि ।]

बालः—(सस्मितम्) अहो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि । [अम्हहे, वलिअं क्खु भीदो म्हि ।]

(इत्यधरं दर्शयति)

सटाली, स भृङ्गिगण सूक्ष्मतरे शिखाग्रं कषन् बभूव प्रमदाय पित्रो" अधपीतेत्यादि पद से बालक का उत्कर्षातिशय ध्वनित होता है, क्योंकि पहले तो एक बच्चा दूसरे बच्चे को खीच ही नही सकता, फिर भी सिंह के बच्चे का खीचना, फिर भी माता की गोद से खीचना, फिर भी स्तन्यपान करते हुये को बीच मे ही खीच लेना, फिर भी डडे आदि से नही अपितु बाल पकड कर खीचना, फिर भी खीच कर भाग न जाना अपितु खीचते ही रहना, बालक के उत्कर्ष को द्योतित करते है । ●

(तदनन्तर पूर्वोक्त कार्य मे लगे हुये बालक का दो तापसियो के साथ प्रवेश)

बाल—हे सिंह, अपना मुह खोल, मैं तेरे दान्त गिनूँगा ।

प्रथम तापसी—अरे नटखट ! हमारी सन्तान के तुल्य (पले हुये) प्राणियो को तू क्यों तग कर रहा है । ओह, तेरा क्रोध तो बढता ही जा रहा है । ऋषियो ने ठीक ही तेरा नाम सर्वदमन रखा है ।

राजा—मेरा हृदय इस बालक पर निजी पुत्र के समान क्यो स्नेह कर रहा है ? अवश्य ही सन्तानहीनता मुझे इस प्रकार का प्रेम करा रही है (अर्थात् ऐसा जान पडता है कि पुत्र न होने के कारण ही मेरे मन मे इसके प्रति यह वात्सल्य प्रेम उमड आया है ।)

दूसरी तापसी—यह सिंहनी अवश्य तुझ पर आक्रमण कर देगी यदि तू इसके बच्चे को नही छोडता है ।

बाल—(मुस्कराकर) ओह, तब तो मैं बडा डर गया हूँ ।

(उसे चिढाने के लिये अपना अधरोष्ठ दिखाता है)

राजा—

महतस्तेजसो वीज वालोऽय प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थित ॥१५॥

राजा—

महत इति-अन्वय—महत =तेजस वीजम् अय वाल स्फुलिङ्गावस्थया एधापेक्ष स्थित वह्नि इव मे प्रतिभाति।

शब्दार्थ—महत तेजस वीजम्=बहुत बडे प्रभाव का बीज रूप, अयम् वाल =यह बालक, स्फुलिङ्गावस्थया एधापेक्ष स्थित वह्नि इव=चिनगारी की अवस्था से ईधन की अपेक्षा करने वाले अग्नि की तरह, मे प्रतिभाति=मुझे प्रतीत होता है।

अनुवाद—बहुत बडे प्रताप का बीज रूप यह बालक, चिनगारी के रूप मे ईधन की अपेक्षा रखने वाले अग्नि की तरह मुझे प्रतीत होता है।

भावार्थ—उस अपूव शक्तिसम्पन्न वालक को देख कर, राजा मन मे सोचता है कि यह बालक मुझे वहुत बडे प्रताप का बीज सा ज्ञात होता है, यह इस समय उसी प्रकार प्रताप के वीज रूप मे वतमान है ओर अवस्था प्राप्त करने की अपेक्षा रखता है जैसे कि एक कण के रूप मे स्थित अग्नि इधन की अपेक्षा करता है, अवस्था प्राप्त कर यह बालक उसी प्रकार अपने प्रताप को प्रदर्शित करेगा जैसे कि अग्नि इधन प्राप्त कर प्रज्वलित हो उठता है।

विशेष—**उपमा** एव **अनुप्रास** अलकार, पथ्यावक्त्र छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—महन तेजस =अनल्पस्य प्रतापस्य, वीजम्=उत्पत्ति-कारणम्, अय वाल =पुरतो विद्यमान एष वालक, स्फुलिङ्गस्य अग्निकणस्य अवस्था दशा तया—स्फुलिङ्गावस्थया=अग्निकण रुपेण, एधान् काष्ठानि अपेक्षते= एधापेक्ष स्थित, वन्हि—अग्नि इव, मे=मम, प्रतिभाति=प्रतीयते।

सस्कृत सरलार्थ—यथाग्निस्फुलिङ्गोऽणुरपि काष्ठसयोगमवाप्य प्रज्वलितो भवति तथैवायमपूवशक्तिसम्पन्नो वालोऽपि कालेनावस्था शिक्षाञ्चा वाप्य महान् तेजस्वी भविष्यतीति भाव।

टिप्पणी

विप्रकरोषि—परेशान करते हो। **स्थाने**—यह उचित ही है। **जृम्भा**—जमुहाई, जृम्भस्व=जमुहाई लो अर्थात् मुह खोलो। **अपत्यनिर्विशेषाणि**—सन्तान तुल्य, निर्गत विशेष येभ्य तानि। सुतनिर्विशेषम् रघु०। **सरम्भ**—क्रोध, **सर्वदमन**—सव दमयति—सब को दबाने वाला। **औरस**—उरस जात =निजी, **वत्सलयति**—पुत्रवत् प्रेम कराता है। **बलीय**—बहुत अधिक, यह व्यङ्ग्योक्ति है अर्थात् मैं बिल्कुल नही डरता हूँ। **अधरम्**—ओठ दिखाना, निन्दा या घृणा सूचक होता है। **बीजम्**—उत्पत्ति बीज। **स्फुलिङ्ग**=अग्नि कण, **एधापेक्ष**—एध=ईंधन, की अपेक्षा रखने वाला। एधस्, एध, अकारान्त दोनो इधन काष्ठ के वाचक है।

प्रथमा—वत्स, एन बालमृगेन्द्र मुञ्च । अपर ते क्रीडनकं दास्यामि । [वच्छ, एद बालमिइन्दअ मुञ्च । अवर दे कीलअण दाइस्स ।]

बाल—कुत्र ? देह्य तत् । [कहि, देहि ण ।]

(इति हस्त प्रसारयति ।)

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) कथ चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते ? तथाह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो,
विभाति जालग्रथिताङगुलि कर ।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया,
नवोषसा भिन्नमिवैकपङकजम् ॥१६॥

प्रथम तापसी—वत्स इस सिंह के बच्चे को छोड दो, मैं तुझे दूसरा खिलौना दूंगी ।

बालक—कहाँ है, वह खिलौना मुझे दो ।

(यह कहकर हाथ फैलाता है)

राजा—(बालक का हाथ देख कर) अरे, क्यो, यह तो चक्रवर्ती के लक्षण भी धारण करता है । क्योकि इसका—

प्रलोभ्येति अन्वय—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारित जालग्रथिताङ्गुलि अस्य कर, इद्धरागया नवोषसा भिन्नम् अलक्ष्यपत्रान्तरम् एक पङ्कजम् इव विभाति ।

शब्दार्थ—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारित =आकषणीय वस्तु (खिलौना) के प्रेम के कारण फैलाया गया, जालग्रथिताङ्गुलि =जाल के समान एक दूसरे से मिली हुई अगुलियो वाला, अस्य कर =इसका हाथ, इद्धरागया=बढी हुई लालिमा वाले, नवोषसा=नवीन उष काल के द्वारा=भिन्नम्=विकसित किया गया, अलक्ष्य-पत्रान्तरम्=जिस के पत्तो का मध्यभाग स्पष्ट दृष्टिगत नही हो रहा है, ऐसे, एक-पङ्कजम् इव=एक अद्वितीय कमल के समान, विभाति=शोभा पा रहा है ।

अनुवाद—आकर्षणीय वस्तु (खिलौना) के प्रति प्रेम के कारण फैलाया गया (और) जाल के समान मिली हुई अँगुलियो वाला इसका यह हाथ बढी हुई लालिमा वाले नवीन उष काल के द्वारा विकसित और जिसके पत्तो के बीच का अवकाश स्पष्ट दिखाई नही पड रहा है ऐसे एक अद्वितीय कमल के समान शोभित हो रहा है ।

भावार्थ—बालक के लिये खिलौना एक आकर्षक वस्तु होता है, उसे लेने के लिये ज्योहि वह अपना हाथ फैलाता है, राजा जाल के समान सग्रथित अँगुलियो वाले उसके हाथ को देखता है (अँगुलिया का जाल के समान एक दूसरे से मिला होना चक्रवर्ती राजा का चिह्न है) उस समय उसका वह हाथ उसी प्रकार सुशोभित हो रहा था जैसाकि वह एक कमल सुशोभित होता है जो कि विशिष्ट लालिमा युक्त नवीन

उष काल पाकर विकसित हुआ हो और जिसके पत्तो के बीच का अवकाश स्पष्टतया दिखाई न पड रहा हो।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे **उपमा, काव्यलिङ्ग** छेक, वृत्ति, श्रुति, अनुप्रास, प्रसादगुण, वैदर्भी रीति, वशस्थ नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या – प्रलोभ्ये=अत्याकषके लाभजनके वा, वस्तुनि=क्रीडनकरुपे, य प्रणय =प्रेम, तेन प्रसारित विस्तृत =प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारित। जालवत् ग्रथिता परस्पर सश्लिष्टा अँगुलयो यस्मिन् स =जालग्रथिताङ्गुलि, अस्य=बालकस्य, कर =हस्त, इद्ध समृद्ध राग लौहित्य यस्या स्तया= इद्धरागया, नवा चासौ उषाश्चेति तया—नवोषसा=नवप्रात सन्ध्यया, भिन्नम्=किञ्चिद् विकासितम्, (अतएव) अलक्ष्याणि अदृश्यानि पत्राणा दलानाम् अन्तराणि अवकाशा यस्मिन् तत्—अलक्ष्य पत्रान्तरम्, एकपङ्कजम् इव=एकम् अद्वितीयम् कमलम् इव, विभाति=विशोभते।

सस्कृत सरलाथ—क्रीडनक मादातु चक्रवर्तिलक्षणोपेत बालकस्य हस्त मवलोक्य राजा साश्चय स्वमनसि कथयति क्रीडनकरपाकपकवस्तुग्रहणाय प्रसारित जालवद्-ग्रथिताङ्गुलिरस्य बालकस्य करस्तथैव विशोभते, यथा प्रवृद्धलौहित्येन नवोष कालेन विकासितम अतएवादृश्यदलान्तरमेक मद्वितीय कमल शाभामाप्नोति।

टिप्पणी

चक्रवर्तिलक्षणम्—अतिरिक्त करो यस्य ग्रथिताङ्गुलिको मृदु। चापाङ्-कुशाङ्कितो यश्च चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम्। सामुद्रिक शास्त्र के इस वचन के अनुसार जिसके हाथ की अँगुलियाँ जाल के समान एक दूसरे से जुडी हुइ होती हैं वह चक्रवर्ती राजा होता है। अथवा—अकुश कुण्डल चक्र यस्य पाणितले भवेत्'' वह भी चक्रवर्ती होता है। **प्रणय**—अभिलाषा। **जालग्रथिताङ्गुलि**—जालवत् अगुलियो का ग्रथित होना वस्तुत महापराक्रमी होने का लक्षण है। बुद्धचरित मे भी इसी प्रकार का वणन मिलता है ''चक्राङ्कपाद स तथा महर्षि जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम्। सोर्णभ्रुव वारणव-स्तिकोश सविस्मय राजसुत ददर्श। **प्रलोभ्य**—प्र+लुभ्+ण्यत्। **प्रणय**—प्र+नी+अच्। **प्रसारित**—प्र+सृ+णिच्+क्त। **इद्धरागया**—**इद्ध**—प्रवृद्ध या समृद्ध=बढी हुई—इन्ध+क्त। राग अर्थात् लालिमा—उष काल मे स्वाभाविक समृद्ध लालिमा होती ही है। **नवोषसा**—नवीन उष काल की प्रथम किरणो द्वारा, उषस् शब्द स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग, दोनो मे प्रयुक्त होता है, उष काल की नूतन किरणो से कमल विकसित होने लगता है पर सूय किरणो से वह पूणतया विकसित हो जाता है, जालग्रथित अँगुलियो वाला यह हस्तकमल भी किञ्चित् ही विकसित था, यही कारण था कि उसकी पखडियो के बीच का अवकाश स्पष्टया दृष्टिगत नही हो रहा था जैसे कि हाथ की अँगुलियो के सग्रथित होने के कारण अँगुलियो के बीच का अवकाश स्पष्ट दिखलाई नही पड रहा था, पङ्कज की पखडियाँ तो उष काल की रक्तिमा से आरक्त थी पर बालक की अँगुलियाँ स्वाभावत आरक्त थी, **एकपङ्कजम्**—अद्वितीय या अनुपम कमल, बालक ने भी एक ही हाथ फैलाया

द्वितीया—सुव्रते न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम्। गच्छ त्वम्, मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति, तमस्योहर। [सुव्वदे, ण सक्को एसो वाआमेत्तेण विरमाविदु, गच्छ तुम। ममकेरए उडए मक्कडेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआ मोरओ चिट्ठदि। त से उवहर।]

प्रथमा—तथा। [तह।]

(इति निष्क्रान्ता।)

बाल अनेनैव तावत् क्रीडयिष्यामि। [इमिणा एव्व दाव कीलिस्स।]

(इति तापसीं विलोक्य हसति।)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै—
रव्यक्तवर्णरमणीयवच प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो,
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

था जो कि अनुपम था। हाथ का फैलाना ही कमल का विकास था। **अलक्ष्यपत्रान्तरम्—अन्तर**=अवकाश, पूण विकासाभाव के कारण अतर अलक्ष्य था पर बालक के हाथ **की अँगुलियो** के सग्रथित होने से उनके बीच का अवकाश अलक्ष्य था। वस्तुत कवि **की यह** सर्वाङ्गपूण उपमा है। **राग**—रञ्ज्+घञ् **भिन्नम्**=भिदिर्+क्त।

दूसरी तापसी—सुव्रता (यह प्रथम तापसी का नाम है) यह केवल कहने मात्र से रोका न्ही जा सकता है, (अत) तुम जाओ, मेरी झोपडी मे ऋषिकुमार माकण्डेय का रग से रगा हुआ मिट्टी का मोर रखा है, उसे इसके लिये ले आओ।

प्रथम तापसी—अच्छा। (यह कह कर चली जाती है)

बालक—तब तक मै इससे ही खेलूँगा।

(तापसी को देख कर हँसता है)

राजा—मै इस नटखट बालक को वस्तुत बहुत चाहता हूँ।

आलक्ष्येति—अनिमित्तहासै आलक्ष्यदन्तमुकुलान् अव्यक्तवणरमणीयवच प्रवृत्तीन्, अङ्काश्रय प्रणयिन तनयान् वहन्त धन्या तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति।

शब्दाथ—अनिमित्तहासै=अकारण हँसने से, आलक्ष्यदन्तमुकुलान्=जिनके दात रूपी अकुर कुछ दिखाई पडने लगते है, अव्यक्तवणरमणीयवच प्रवृत्तीन्=अस्पष्ट **वर्णों** के कारण जिनका बोलना मनोरम प्रतीत होता है। अङ्काश्रयप्रणयिन=गोद मे रहने के लिय इच्छुक, तनयान् वहन्त=पुत्रो को गोद मे धारण करने वाले, धन्या=भाग्यवान् जन ही, तदङ्गरजसा=उनके शरीर की धूलि से, मलिनी भवन्ति =मलिन होते है।

अनुवाद—अकारण हँसने से जिनकी दन्तकलियाँ कुछ कुछ दिखलाई पडने लगती है और अस्पष्ट वर्णोच्चारण के कारण (अर्थात् तोतली बोली के कारण) जिनका बोलना मनोरम लगता है, तथा जो गोद मे रहने के इच्छुक रहते है, ऐसे पुत्रो को गोद मे धारण करने वाले भाग्यवान् लोग ही उनके शरीर की धूलि से मलिन होते है।

भावार्थ—वस्तुत वही लोग भाग्यवान् कहे जाते है जो कि अपने उन बच्चो को गोद मे खिलाते हुये उनके शरीर की धूलि से अपने को मलिन करते है, जिनके कि अकारण हँसने से कुछ कुछ दात दिखाई पडने लगने है तथा तोतली बोली के कारण जिनका बोलना बडा प्रिय लगता है तथा जो गोद मे चढने के लिये उत्सुक बने रहते है।

कवि का बाल स्वभाव चित्रण और उसके द्वारा पितृजनो का अव्याज मनोहर सौख्य वणन अत्यन्त सुन्दर है, बालक्रीडाओ से पितहृदय पर पडने वाले प्रभाव का यह सूक्ष्म निरीक्षण कवि की मानव हृदय की ममज्ञता का द्योतक है।

विशेष—यहाँ प्रस्तुत बालक का वणन न कर सामान्य बालको का वणन किया गया है अत **अप्रस्तुत प्रशसालकार** है। दन्ता मुकुलानीव, मे समासगा **लुप्तोपमालकार** है, बाल स्वभाव का वणन होने से **स्वभावोक्ति** अलकार भी है। ऐसे ही लोग धन्य होते है पर मैं अधन्य हूँ। इस तात्पय से यहा **परिसख्यालकार** भी है। छेक, वृत्ति, श्रुति, अनुप्रास, वसन्ततिलका नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—अनिमित्ता अकारणा ये हासास्तै अनिमित्तहासै =कारण विनैव हास्यकरणै, आलक्ष्याणि ईषदव लोकनीयानि दन्ता मुकुलानीव येषा तान्-आलक्ष्यदन्तमुकुलान् =ईषद्दश्यदन्तकुडमलान, अव्यक्ता अपरिस्फुटा वर्णा अक्षराणि यासु ता अव्यक्तवर्णा तै रमणीया मनोहरा वचसा प्रवृत्तय वाग्व्यापारा येषाम् तान्—अव्यक्तवणरमणीयवच प्रवृत्तीन्, अङ्के क्रोडे आश्रय निवास तत्र प्रणयिन प्रेमवन्त अभिलाषिण तान्—अङ्काश्रयप्रणयिन, तनयान् =पुत्रान्, वहन्त =धारयन्त, धन्या =सौभाग्यवन्त, तेषा तनयानाम अङ्गे शरीरावयवे यद् रज धूलि तेन—तदङ्गरजसा =तनयशरीरा वयवधूल्या, मलिनी भवन्ति—कलुषी भवन्ति।

सस्कृत सरलार्थ—वस्तुत स्त एव सुकृतिनो धन्या ये तादृशान् स्वकीयान् पुत्रान् स्वक्रोडे धारयन्त तच्छरीरावयवरजसा आत्मान कलुषी कुवन्ति, ये कारण विनैव हास्यकरणै ईषद्दृश्यदन्तकुमुला एव मस्पष्ट वर्णोच्चारणरमणीयवाग्व्यापारा अथ च पितृक्रोडाश्रयाभिलाषिण सन्ति।

टिप्पणी

वाचामात्रेण—कहने मात्र से, "वष्टिभागुरिरल्लोप मवाप्यो रुपसगयो आप-ञ्चापि हलन्ताना यथा वाचा निशा दिशा" इस उक्ति के अनुसार यहाँ हलन्त वाच् शब्द के आप् या टाप् प्रत्यय है। **मृत्तिकामयूर**—इससे ज्ञात होता है कि कालिदास

तापसी—भवतु। न मामय गणयति। (पार्श्वमवलोक्य) कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम्? (राजानमवलोक्य) भद्रमुख एहि तावत्। मोचयानेन दुर्मोचहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमान बालमृगेन्द्रम। [होदु। ण म अअ गणेदि। को एत्थ इसिकुमाराण, भद्दमुह, एहि दाव। मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भलीलाए वाहीअमाण बालमिइन्दअ।]

राजा—(उपगम्य) (सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र!

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना
संयम किमिति जन्मतस्त्वया।
सत्त्वसश्रयसुखोऽपि दूष्यते
कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दन ॥१८॥

के समय मिट्टी के खिलौने अधिक प्रचलित थे, विक्रमोर्वशीय मे भी मृत्तिका मयूर का उल्लेख है, मृच्छकटिक मे मिट्टी की गाडी का। **दुर्ललिताय**—दुष्ट ललित यस्य तस्मै, जिसका प्रसन्न करना कठिन है, सम्भवत हिन्दी का दुलारा शब्द इसी का विकृत रूप है। **स्पृहयामि**—स्पृह—धातु के योग मे स्पृहेरीप्सित से चतुर्थी। **अनिमित्तहासै**—अविद्यमान निमित्त येषान्ते अनिमित्ता ते च हासा तै—हस्+घञ्। अत्र हेतौ तृतीया **रमणीय**—रम+अनीयर्। **प्रणयिन**—प्र+नी+अच्=प्रणय तत मत्वर्थे णिनि। मलिनी **भवन्ति**—मलिन+च्वि+भू+लट। मृच्छकटिक का यह श्लोक भाव साम्य के लिये द्रष्टव्यम् "इद तत् स्नेह सर्वस्व सममाढ्यदरिद्रयो, अचन्दनमनौशरीर हृदय स्यानुलेपनम्।"

तापसी—अच्छा, यह मुझे नही गिनता है अर्थात् मेरी बात नही मानता है। (अपने पार्श्वभाग (बगल) मे देखकर) क्या यहाँ कोई ऋषिकुमार है। (राजा की ओर देखकर) भद्रमुख, इधर आइये और बालक्रीडा के द्वारा सताये जाने वाले इस सिंह-शावक को, कठिनाई से छुडाये जाने वाले (इस बालक के) हाथ की पकड से छुडाइये।

राजा—(पास जाकर मुस्कुरा कर) हे महर्षि पुत्र।

एवमिति—अन्वय—एवम् आश्रम विरुद्ध वृत्तिना त्वया जन्मत सत्त्वसश्रयसुख अपि संयम कृष्णसर्पशिशुना चन्दन इव किमिति दूष्यते।

शब्दार्थ—एवम्=इस प्रकार, आश्रमविरुद्धवृत्तिना त्वया=आश्रम के विरुद्ध आचारण करने वाले तुम्हारे द्वारा, जन्मत=जन्म से ही, सत्त्वसश्रयसुख=प्राणियो के आश्रय के लिये सुखकर, अपि=भी, संयम=क्षमाशीलता, कृष्णसर्पशिशुना चन्दन इव=काले सर्प के बच्चे के द्वारा चन्दनवृक्ष की भाति, किमिति=क्यो, दूष्यते=दूषित किया जा रहा है।

अनुवाद—इस प्रकार आश्रम के विपरीत आचरण करने वाले तुम्हारे द्वारा, जन्म से ही, सभी प्राणियो के आश्रय के लिये सुख कर भी क्षमाशीलतादि नियम, काले सर्प के बच्चे के द्वारा चन्दन वृक्ष की तरह, क्यो दूषित किया जा रहा है।

भावार्थ—राजा, बालक से कहता है कि हे महर्षिपुत्र, आश्रम के विपरीत आचरण कर तुम आश्रम के उस क्षमाशीलतादि नियम को, जिसके कारण सभी जीव यहाँ सुखपूर्वक निवास करते है, उसी प्रकार दूषित कर रहे हो जैसे कि काले सप का बच्चा चन्द्रन वृक्ष को दूषित कर देता है। ऐसा करना उचित नही अर्थात् यहाँ के जीवो को सताना आश्रम नियम के विरुद्ध काय है जोकि तुम्हे नही करना चाहिये।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे **पूर्णोपमालकार है** तथा रथोद्धता नामक छन्द है "रात् परै नरलगै रथोद्धता"।

सस्कृत व्याख्या—एवम्=अनेन प्रकारेण, आश्रमस्य तपोवनस्य विरुद्धा विपरीला वृत्ति हिंसादिरुप माचरण यस्य तेन-आश्रमविरुद्धवृत्तिना त्वया=बालकेन, जन्मत=बाल्यादेव, सत्त्वाना वन्यजीवानाम् सश्रयाय ससुख निवासाय॰सुख सुखकर—सत्त्वसश्रयसुख अपि सयम=क्षमाशीलतादितपोवनोचितनियम, कृष्णश्चासौ सपस्तस्य शिशुस्तेन—कृष्णसपशिशुना, चन्दन=मलय वृक्ष, इव, किमिति=केन कारणेन, दूष्यते=कलुषी क्रियते।

सस्कृत सरलार्थ—राजा कथयति—यथा कृष्णसर्पाभको बाल्या देव सवजीव शैत्यप्रदानसुखकर चन्दनवृक्ष स्वगरलेन दूषयति तथैव त्वमपि तपोवननियमविपरीताचरणेन जीवविमदनरुपेण कमणानेन सवजीवाश्रयसुखावह क्षमाशीलताद्याश्रम नियम दूषयसि, कि त्वमेव तपोवननियमविरुद्धाचरण करोषीत्यह न वेद्मि पर मस्त्येतत् कर्मानुष्ठान मनुचितम्।

टिप्पणी

भद्रमुख—भले मनुष्य—सुन्दर आकृति वाले पुरुष। दुर्मोचहस्तग्रहेण=दु खेन मुञ्चत्येतमिति दुर्मोच—दुर+मुच् 'इषद्दुसुषु॰ इत्यादिना खल् (अ) प्रत्यय, खल् प्रत्यये कृते नात्र कुत्व सम्भवति अत दुर्मोक इति पाठ न समीचीन। हस्तेन ग्रह हस्तग्रह, गृहवृदृ॰ इत्यादिना हस्त+ग्रह+अप् (अ) प्रत्यय दुर्मोच हस्तग्रह यस्य तेन। **सत्त्वसश्रयसुख**—सत्त्वाना सश्रयाय सुखयति, अथवा सत्वाना य सश्रय तेन सुखयति। इस पद का अन्वय चन्दन और सयम दोनो के साथ होगा, चन्दन के साथ इसका अथ होगा—सत्त्व अर्थात् सत्त्वगुण—शैत्यादि प्रदगुण, सश्रय=ललाटादि पर धारण करना उमसे सुख सुखकर, अर्थात् चन्दन के शैत्यप्रद होने से ललाट पर धारण करने से जो सुखकारी है। वस्तुत चन्दन शब्द का प्रयोग सामान्यत नपुसकलिङ्ग मे होता है किन्तु 'चन्दनोऽस्त्रियाम्' इस कोश वचन के अनुसार यह पुल्लिङ्ग भी है, और सयम के साथ चन्दन प्रयोग ही यहाँ ठीक भी है। यहाँ जात्यादि से विशिष्ट बालक का कृष्ण सप उपमान कुछ खटकता अवश्य है पर वस्तुत यहाँ यह उपमान, सामान्य बालक का नही अपितु आश्रम नियम विपरीताचारी बालक का हे अत कोई अनौचित्य नही है।

तापसी—भद्रमुख ! न खल्वयमृषिकुमार । [भद्दमुह, ण क्खु अअ इसिकुमारओ ।]

राजा—आकारसदृश चेष्टितमेवास्य कथयति । स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवतर्किण ।

(यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन् बालस्पर्शमुपलभ्य) (आत्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलाङकुरेण,
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुख ममैव ।
का निर्वृति चेतसि तस्य कुर्याद्,
यस्यायमङकात् कृतिन प्ररुढ ॥१९॥

तापसी—भद्रमुख ! यह ऋषिपुत्र नही है ।

राजा—आकृति के समान इसकी चेष्टा ही यह कह रही है । (कि यह ऋषिकुमार नही है, सिहशावकामदन ऋषि कुमार का काम नही हो सकता) किन्तु इस आश्रमस्थान के विश्वास के कारण मेने ऐसा अनुमान किया था ।

(तापसी ने जैसा कहा था उसी के अनुसार काम करते हुये, अर्थात् बालक के हाथ से सिहशावक को छुडाते हुये) बालक का स्पश प्राप्त करके (मन ही मन)

अनेनेति अन्वय—कस्यापि कुलाड्कुरेण अनेन स्पृष्टस्य मम गात्रेषु एव सुखम्, यस्य कृतिन अड्कात् अयम् प्ररुढ तस्य चतेसि काम् निवृत्तिम् कुर्यात् ।

शब्दार्थ—कस्यापि कुलाड्कुरेण अनेन=किसी भी वश के अड्कुरस्वरूप इस बालक के द्वारा, स्पृष्टस्य मम गात्रेषु=स्पश किये गये मेरे शरीरावयवो मे, एव सुखम्=इस प्रकार सुख हो रहा है । यस्य कृतिन अड्कात्=जिस भाग्यवान् की गोद से, अयम् प्ररुढ =यह उत्पन्न हुआ है, तस्य चेतसि=उसके मन मे, काम् निवृत्तिम् कुर्यात्=किस प्रकार का अनिवचनीय आनन्द करता होगा ।

अनुवाद—किसी भी वश के अड्कुर स्वरूप इस बालक के द्वारा स्पश किये गये मेरे शरीरावयवो मे (जबकि) ऐसा सुख हो रहा है (तब) जिस भाग्यवान् की गोद से यह उत्पन्न हुआ है, उसके मन मे किस अनिर्वाच्य आनन्द को उत्पन्न करता होगा ।

भावार्थ—बालक के स्पर्श से आनन्दाभिभूत होकर राजा सोचता है कि जबकि मै इसके गात्रस्पश से इतना अधिक आनन्द प्राप्त कर रहा हूँ, जबकि मैं यह भी नही जानता कि यह किस वश का बालक है, तब वस्तुत जिस भाग्यवान् का यह औरस बालक होगा उसके तो चित्त मे यह न जाने कितना आनन्द नही उत्पन्न करता होगा ।

विशेष—राजा के स्पर्शजन्य सुखानुभव से पिता का सुखानुभव अथत ज्ञात होता है अत अर्थापत्ति अलकार है । कुलाड्कुरेण मे रूपक अलकार है । छेक, वृत्ति, श्रुति अनुप्रास, प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति, उपजाति छन्द है ।

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) आश्चर्यमाश्चर्यम्। [अच्छरिअ अच्छरिअ]

राजा—आर्ये, किमिव ?

तापसी—अस्य बालकस्य तेऽपि सवादिन्याकृतिरिति विस्मिताऽस्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोम सवृत्त इति। [इमस्स वालअस्स दे वि सवादिणी आकिदी त्ति विम्हिदम्हि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो सवुत्तो त्ति।]

सस्कृत व्याख्या—कस्यापि=वक्तुमशक्यस्य जनस्य, कुलाड्कुरेण=वशप्ररोहस्वरुपेण, अनेन=पुर स्थितेन वालकेन, स्पष्टस्य=स्पश प्राप्तस्य, मम=दुष्यन्तस्य, गात्रेषु=अड्गेषु, एवम सुखम्=अनिवचनीय सुखम् भवति, (तदा) यस्य कृतिन = यस्य भाग्यशालिनो जनस्य, अड्कात्=उत्सड्गात्, अयम प्ररुढ—अय बालक सजात, तस्य चेतसि=तस्य जनस्य मनसि, काम्=अनिवचनीयाम् निवृ तिम्= आनन्दम कुर्यात्=विदध्यात्, इति न शक्यते वक्तुमिति भाव ।

सस्कृत सरलाथ—राजा मनसि चिन्तयति यद्यहमस्याज्ञातकुलस्य बालकस्य गात्रस्य स्पशमवाप्यैतादश मनिर्वाच्य मानन्दमनुभवामि तर्हि स भाग्यवान् पुरुष यस्यायमस्ति औरस पुत्र, कीदशमान द नानुभविष्यति, स तु चिर परमानन्दमम द मवाप्स्यति।

टिप्पणी

स्थानप्रत्ययात—यह ऋषियो का आश्रम है अत यह बालक ऋषिकुमार ही होगा ऐसा विश्वास होने से। **कृतिन**—कृती-पुण्यात्मा भाग्यशाली। राजा का आशय है कि नि सन्तान होने से मै दुर्भाग्यी हूँ। प्ररुढ—प्र+रुह+क्त, उत्पन्न हुआ। इसमे कवि ने पुत्रालिङ्गन सुख का सु दर वणन किया है, इस सुख के विषय मे अन्य कवियो की सूक्तियाँ भी द्रष्टव्य है। तमड्क मारोप्य शरीरयोगजै सुखै निषिञ्चन्तमिवामृत त्वचि। रघु०। मलयाच्चन्दन जातमतिशीत वदन्ति वै। शिशोरालिङ्गन तस्माच्चन्दनादधिक भवेत्। महाभारत। न वाससा न रामाणा नापा स्पर्शस्तथाविध। शिशोरालिड्ग्यमानस्य स्पश सूनोयथा सुख पुत्रस्पर्शात् सुखतर स्पर्शो लोके न विद्यते। महाभारत। **स्पृष्टस्य**—स्पृश्+क्त। कृतमस्यास्तीति कृती तस्य कृतिन। कृ+क्त तत इनि। **निवृ तिम्**—निर्+वृ+क्तिन्।

तापसी—(दोनो को देखकर) आश्चय है, आश्चय है।

राजा—माननीया, क्या आश्चय है।

तापसी—इस बालक की और आपकी आकृति मिलनी-जुलती है, इसलिये मैं आश्चयचकित हो गई हूँ। अपरिचित भी आपके यह अनुकूल हो गया है अर्थात् आपका कहना मान गया है।

राजा—(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ कोऽस्य व्यपदेश ?

तापसी—पुरुवश [पुरुवसो ।)

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम ? अत खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते । अस्त्येतत् पौरवाणा मन्त्य कुलव्रतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं
क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम् ।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्
तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषय ।

राजा—(बालक को प्यार करते हुये) यदि यह ऋषिकुमार नही है तो इसका वश क्या है ।

तापसी—पुरुवश ।

राजा—(मन मे) क्या बात है कि इसका और मेरा वश एक है। इसीलिये यह तापसी इसको मेरे समान आकृति वाला मान रही है। किन्तु पुरुवशी राजाओ का तो यह अतिम कुलव्रत है।

भवनेष्विति-अवय—ये पूवम क्षितिरक्षाथम रसाधिकेषु भवनेषु निवासम उशन्ति । पश्चात् तेषाम नियतैकपतिव्रतानि तरुमूलानि गृही भवन्ति ।

शब्दाथ—ये पूवम्=जो लोग, पहले अर्थात् युवावस्था मे, क्षितिरक्षाथम= पृथिवी की रक्षा के लिये रसाधिकेषु भवनेषु=ऐहिक भोगो से परिपूण भवनो मे, निवासम उशन्ति=निवास करना चाहते है। पश्चात्=अर्थात् वृद्धावस्था मे, तेषाम्= उनके' नियतैकपतिव्रतानि=एक नियमधारिणी पतिव्रता पत्नी वाले, तरुमूलानि= वृक्षो के तल प्रदेश, गृही भवन्ति=घर होते है।

अनुवाद—जो (पुरुवशी) राजा, पहले अर्थात् युवावस्था मे पृथिवी पालन के लिये ऐहिक भोगो से परिपूण राजप्रासादो मे रहना चाहते है, उनके पश्चात् अर्थात् वृद्धावस्था मे वे वृक्षो के तल प्रदेश ही घर बनते है जिनमे केवल एक नियम परायण पतिव्रता पत्नी रहती है।

अयत्र नियतैकयतिव्रतानि भी पाठ है, वहाँ इसका अथ है जिनमे नियमित रूप से एक यतिव्रत अर्थात् वानप्रस्थ व्रत का पालन किया जाता है। किन्तु पहला पाठ ही, प्रसगानुकूल एव 'भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण साधँ, शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन्' इस पूव कथन के अनुकूल भी होने के कारण, ठीक है।

भावाथ—राजा मन मे सोचता है कि ऐसे आश्रमो मे तो कोई पुरुवशी राजा अपनी वृद्धावस्था मे ही केवल एक तपोनियमधारिणी पत्नी के साथ आकर तप करता है, अत उससे सतान की सम्भावना नही हो सकती और युवावस्था मे कोई पुरुवशी

राजा यहाँ आकर सपत्नीक रह भी नहीं सकता, इस देवस्थली मे मनुष्यो का आत्मगति से आना सम्भव नही है, तो फिर यह पुरुवशी बालक कैसे हो सकता है। पुरुवशी राजाओ का यह कुलव्रत रहा है कि वे युवावस्था मे तो पृथिवी का पालन करने के लिये सौख्यपूर्ण राजप्रासादो मे रहते हैं और जब वे वृद्ध हो जाते हैं तब अपनी सन्तान को राज्यभार सौंप कर केवल एक तपोनियमवती पतिव्रता पत्नी के साथ ऐसे आश्रमो मे आकर वृक्षो के नीचे वास करते हैं, अत इस बालक का पुरुवशी होना सम्भव नही जान पडता।

विशेष— 'तरुमूलानि गृही भवहन्ति' मे तरुमूलो पर गृहत्व का आरोप प्रकृतोपयोगी है, अत **परिणामालकार**, है, किन्ही आचार्यों ने यहाँ व्यस्त रूपक भी माना है, अनुप्रास, औपच्छन्दसिक नामक छन्द है। इसका लक्षण—

"षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तर" अर्थात् जिस छन्द के विषम चरणो मे छ मात्राओ के बाद एक रगण तदन्तर एक लघु तदनु दो गुरु वण हो वह औपच्छन्दसिक अर्धसम वृत्त कहा जाता है।

६ मात्राये	र गण ल० गु० गु०	८ मात्रायें	र गण ल० गु०गु०
	ऽ । ऽ । ऽऽ		ऽ । ऽ । ऽऽ
भ व ने षु र	सा धि के षु पूर्वं	क्षितिर क्षाथमु	शान्ति ये नि वासम्

सस्कृत व्याख्या—ये पौरवा, पूर्वं=प्रथमम् युवावस्थायामित्यथ, क्षितिरक्षाथम्=पृथिवी पालनाथम्, रसै ऐहिकसवभोगै अधिकेषु आढ्येषु—रसाधिकेषु भवनेषु=राजप्रासादेषु, निवासम्=अवस्थानम् उशन्ति=वाञ्छन्ति। पश्चात्= वाधक इत्यथ, नियता तपोनियमवती एका केवला पतिव्रता धर्मपत्नी येषु तानि— नियतैकपतिव्रतानि, तरुणाम मूलानि—तरुमूलानि=तपोवनवक्षतलानि, तेषाम= पुरुवशीयानाम् राज्ञाम, गृहीभवन्ति=गृहाणि सम्पद्यन्ते।

सस्कृत सरलाथ—ये पौरवा नृपा स्वयौवनकाले पृथिवीभरणाय सवभोग्य पदार्थाढ्येषु राजप्रासादेषु निवास वाञ्छन्ति ते एव वाधके एकया तपोनियमवत्या धमपत्न्या सह तपोवनाश्रम मागत्य तरुतलेषु स्वनिवास स्थान रचयन्ति।

प्रकाश मिति—(प्रकट) किन्तु यह स्थान मनुष्यो को अपनी शक्ति से प्राप्त नही हो सकता, अर्थात् कोई भी मनुष्य अपनी शक्ति से इस स्थान तक नही पहुँच सकता है।

टिप्पणी

सवादिनी—सवदतीति—सम्+वद्+णिनि डीप्, मिलती-जुलती। **अप्रतिलोम**—प्रतिगत लोमानि=प्रतिलोम—प्रति | लोमन् "अचप्रत्यन्वव०इत्यादिना अच् प्रत्यय तत —मत्वर्थे अच्। प्रतिलोम अर्थात् प्रतिकूल—न प्रतिलोम अप्रतिलोम अनुकूल। **उपलालयन्**—चौरादिक लल धातो णिच् शतृ।"लालयेत् पञ्च वर्षाणि" **व्यपदेश**—व्यदिश्यतेऽनेनेति—वश। **एकान्वय**—एक अन्वय वश यस्य स। **कुलव्रतम्**—वश परम्परा या कुल प्रथा। **रसाधिकेषु**—"रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयो, शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारद" इस कोश के अनुसार रस का

तापसी—यथा भद्रमुखो भणति। अप्सरःसबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता। [जह भद्दमुहो भणादि। अच्छरासबन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तवोवणे प्पसूदा।]

राजा—(अपवार्य) हन्त, द्वितीयमिदमाशाजननम्। (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

तापसी-कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम सकीर्तयितु चिन्तयिष्यति ? [को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम सकीतिदु चिन्तिस्सदि ?]

राजा—(स्वागतम्) इय खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातर नामत पृच्छामि। अथवा अनार्य परदारव्यवहार ।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

अथ यहाँ राग, शृङ्गारादि रस, मधुरादि रस एव रसास्वाद भी है। रसै अधिकानि **उत्तमानि येषु तेषु**। रस्य ते इति रसा तै अधिकेषु उत्तमेषु आढयेषु वा। **क्षितिरक्षाथम्**—इससे ध्वनित होता है कि राजा का भोगविलास करना आनुषङ्गिक मात्र था, पृथिवी पालन ही मुख्य ध्येय था। जैसा कि कवि ने स्वय रघुवश मे कहा है "असक्त सुखम वभूत्' यौवने विषयैषिणाम, वाधके मुनिवृत्तीनाम्। **उशन्ति**—वश् कान्तौ, कान्ति का अथ इच्छा है। **नियतकपतिव्रतानि**—प्राचीनकाल मे वानप्रस्थाश्रम मे प्रविष्ट होकर तत्कालीन राजा वन मे वृक्षो के नीचे कुटिया बनाकर रहा करते थे, उस समय उनके साथ केवल उनकी नियमवती धर्मपत्नी ही साथ रहती थी अथवा वे उसका भी परित्याग कर देते थे जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—"पुत्रेषु दारान् निक्षिप्य वन गच्छेत् सहैव वा" कवि ने 'सहैव वा' के अनुसार रघुवश मे कहा है—मुनिवनतरुच्छाया देव्या तया सह शिश्रिये।" **गृहीभवन्ति**—अगृहाणि गृहाणि भवतीत्यर्थे च्वि प्रत्यय। **आत्मगत्या**—अपनी शक्ति से, **विषय**—प्राप्य स्थान। दुष्यन्त भी ऐन्द्ररथ पर चढकर ही वहाँ पहुँच सका था, केवल अपनी शक्ति से नही।

तापसी—भद्रमुख आप जैसा कहते हैं, ठीक है। किन्तु अप्सरा अर्थात् मेनका के सम्बन्ध से इसकी माता ने इस देवगुरु मारीच के आश्रम मे इस बालक को उत्पन्न किया है।

राजा—(एक ओर मुह फेरकर) ओह, यह एक दूसरी आशाप्रद बात है। (प्रकट) अच्छा तो वह श्रीमती किस नाम के राजर्षि की पत्नी है।

तापसी—अपनी धर्मपत्नी का परित्याग कर देने वाले उस (राजा का) नाम का उच्चारण करने के लिये भी कौन सोचेगा।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) यह कहानी तो वस्तुत मुझे ही लक्ष्य करती है। तो अब क्या मै इस बालक की माता का ही नाम पूछूँ अथवा परस्त्री के विषय मे बातचीत करना अशिष्ट व्यवहार है।

(मिट्टी का मयूर हाथ मे लिये तापसी ने प्रवेश करके)

तापसी—सर्वदमन, शकुन्तलावण्य प्रेक्षस्व। [सव्वदमण, सउन्दलावण्ण पेक्ख।]

बाल—(सदृष्टिक्षेपम्) कुत्र वा मम माता ? [कहिं वा मे अज्जू ?]

उभे—नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सल । [णामसारिस्सेण वचिदो माउवच्छलो।]

द्वितीया—वत्स, अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्व पश्येति भणितोऽसि। [वच्छ, इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तण देक्ख त्ति भणिदो सि।]

राजा—(आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुन र्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।

बाल—मात, रोचते म एष भद्रमयूर । [अज्जुए, रोअदि मे एसो भद्दमोरओ।]

(इति क्रीडनकमादत्ते।)

तापसी—सवदमन, पक्षी के सौन्दर्य की ओर देखो। (वस्तुत तापसी का तात्पय था कि तुम इस पक्षी की सुदरता (शकुन्त=पक्षी, लावण्य=सुन्दरता) को देखो, किन्तु बालक (शकुन्तला—वणम्=शकुन्तला के रूप को) देखो, यह अथ समझ कर कहता है)।

बालक—(इधर-उधर दृष्टि डाल कर) कहाँ है मेरी माता ?

दोनो तापसी—नाम की समानता के कारण मातृप्रिय (यह बालक) धोखे मे पड गया है।

दूसरी तापसी—पुत्र ! (मैंने तुम से) यह कहा था कि इस मिट्टी के मोर की रमणीयता देखो।

राजा—(मन में) तो क्या इसकी माता का नाम शकुन्तला है ? किन्तु नामो मे भी तो समानतायें रहतीं हैं (अर्थात् एक ही नाम के कई व्यक्ति भी तो होते हैं, हो सकता है कि शकुन्तला नाम की यह कोई दूसरी स्त्री हो। अथवा यह भी सम्भव है कि मरुमरीचिका की तरह (शकुन्तला) का नाममात्र का कथन मेरे लिये दुख का कारण बन जाये, अर्थात् मैं शकुन्तला के नाम मात्र को श्रवण कर भ्रम मे पड कर दुख का अनुभव करूँ।

बालक—माता, यह सुदर मयूर मुझे अच्छा लगता है।

(यह कहकर खिलौना ले लेता है)

टिप्पणी

अप्सर सम्बन्धेन—तापसी का तात्पय है कि इसकी माता का मेनका नामक एक अप्सरा से सम्बन्ध है, अतएव इसकी माता यहाँ आई और उसने यही पर इस बालक को जन्म दिया, इस प्रकार यह बालक यहाँ पहुँचा है। **प्रसूता**—प्र+सू+क्त

प्रथमा—(विलोक्य । सोद्वेगम्) अहो, रक्षाकरण्डक मस्य मणिबन्धे न दृश्यते । [अम्हहे, रक्खाकरडअ से मणिवन्धे ण दीसदि ।]

राजा—अलमावेगेन । नन्विदमस्य सिंहशावकविमर्दात् परिभ्रष्टम् ।

(इत्यादातुमिच्छति ।)

उभे—मा खल्वेतदवलम्ब्य—कथम् ? गृहीतमनेन । [मा क्खु एद अवलम्बिअ । कह ? गहीद णेण ।]

(इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयत ।)

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धा स्म ?

टाप । द्वितीयम्—पहली बात तो यह आशाप्रद थी, कि यह बालक पुरुवशी है और अब दूसरी आशाजनक बात यह हुई कि इसकी माता का सम्बन्ध एक अप्सरा से है। राजा यह पहले से ही जानता था कि शकुन्तला, विश्वामित्र से सम्बन्ध होने के कारण मेनका से उत्पन्न हुई है।

धर्मदारपरित्यागिन—जो धमत परिणीता पत्नी का अकारण परित्याग करता है वह पापी माना जाता है, ऐसे पापी का स्पर्श करना या उससे बात करना अथवा उसका नाम लेना भी पाप कर्म समझा जाता है अतएव वह उसका नामोच्चारण भी करना नहीं चाहती थी। मामेव लक्ष्यी करोतिव—मेरे ही उद्देश्य से कही गई है। अनार्य—इससे कालिदास कालीन सामाजिक शिष्टाचार का पता चलता है जबकि परस्त्री के विषय मे बातचीत करना भी अशिष्ट व्यवहार समझा जाता था, इससे राजा की उच्च चरित्रशीलता का भी ज्ञान होता है। शकुन्तलावण्यम—प्राकृत भाषा मे वर्ण्यं और वण दोनों का ही वण्ण रूप होता है, बालक ने वर्णम् का वण्ण अर्थ लेकर प्रश्न किया था जबकि तापसी का तात्पय वण्यम् था। शकुन्तलावण्यम्, शकु तलावणम। यह कवि का प्राकृत भाषा का ज्ञान सूचित करता है कि उसने ऐसे द्वयथक शब्द का प्रयोग किया है। मातृवत्सल—मातृप्रिय अथवा मातृभक्त। नाममात्रप्रस्ताव—नाम मात्र का प्रसग या प्रयोग। शकुन्तलावण्यम्—इस वाक्य मे श्लेष मूलक वक्रोक्ति है और इसके द्व्यर्थक होने के कारण यहाँ पताका स्थानक भी है। "द्व्यर्थो वचन विन्यास सुश्लिष्ट काव्ययोजित । प्रधानार्थान्तरापेक्षी पताका स्थानक परम्" सा० द०।

प्रथम तापसी—(देखकर, घबराहट के साथ) ओह, रक्षा सूत्र इसकी कलाई पर (मणि बन्धन स्थान) नही दिखलाई पड रहा है।

राजा—घबडाइये नही, इसके द्वारा सिंह के बच्चे के साथ सघर्ष करने के कारण यह यहाँ गिर पडा था। (यह कह कर उठाना चाहता है)

दोनों तापसी—इसे मत उठाइये, क्या ? क्या इन्होने तो उठा ही लिया ?

(इस प्रकार विस्मयवश, अपने वक्षस्थल पर हाथ रखे हुये एक दूसरे को देखने लगती हैं)

राजा—आपने हमे क्यो (उठाने से) रो__ है ?

प्रथमा—शृणोतु महाराजः । एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति । [सुणादु महाराओ । एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एद किल मादापिदरो अप्पाण अ वज्जिअ अवरो भूमिपडिद ण गेह्णादि ।]

राजा—अथ गृह्णाति ?

प्रथमा—ततस्त सर्पो भूत्वा दशति । [तदो त सप्पो भविअ दसइ ।]

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ?

उभे—अनेकशः । [अणेअसो ।]

राजा—(सहर्षम् । आत्मगतम्) कथमिव सम्पूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ?

(इति बाल परिष्वजते ।)

द्वितीया—सुव्रते, एहि । इम वृत्तान्त नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयाव । [सुव्वदे, एहि । इम वुत्तन्त णिअमव्वावुडाए सउन्दलाए णिवेदेम्ह ।]

(इति निष्क्रान्ते ।)

बाल—मुञ्च माम् । यावन्मातुः सकाश गमिष्यामि [मुच म । जाव अज्जुए सआस गमिस्स ।]

राजा—पुत्रक, मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।

प्रथम तापसी—सुनिये महाराज । यह अपराजिता नाम की औषधि, इस बालक के जातकम के समय भगवान् मारीच ने दी थी । इस औषधि को माता पिता और अपने आपको छोडकर अन्य कोई व्यक्ति, पृथिवी पर गिरी हुई इसको नही उठाता है ।

राजा—अगर उठा लेता है तो ?

प्रथम तापसी—तो यह सप बन कर उसे काट लेती है ।

राजा—क्या आप दोनो ने कभी इसका इस प्रकार का विकार देखा है, अर्थात क्या कभी आप लोगो ने इसका सप बन कर काटना देखा है ?

दोनों तापसी—अनेक बार ।

राजा—(हष पूर्वक अपने मन मे) तो फिर क्यो न मैं अपने पूण हुये भी मनोरथ को अभिनन्दित न करूँ ।

(यह कहकर बालक का आलिङ्गन करता है)

दूसरी तापसी—सुव्रते, आओ, नियम पालन मे तत्पर शकुन्तला को यह समाचार बतलावें ।

(यह कहकर दोनो का प्रस्थान)

बालक—मुझे छोडिये । मैं अपनी माता के पास जाऊँगा ।

राजा—पुत्र, मेरे ही साथ अपनी माता का अभिनन्दन करना ।

बाल—मम खलु तातो दुष्यन्त । न त्वम् । [मम क्खु तादो दुस्सन्दो । ण तुम ।]

राजा—(सस्मितम्) एष विवाद एव प्रत्याययति ।

(तत प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला ।)

शकुन्तला—विकारकालेऽपि प्रकृतिस्था सवदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न मे आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यात तथा सभाव्यत एतत् । [विआरकाले वि पकिदित्थ सव्वदमणस्स आमहि सुणिअ ण मे आमा आसि अत्तणो भाअहेएसु । अहवा जह साणुमदीए आचक्खिद तह सभावीअदि एद]

राजा—(शकुन्तला विलोक्य) अये, सेयमत्रभवती शकुन्तला । यैषा—

बालक—मेरे पिता तो दुष्यन्त है तुम नही ।

राजा—(मुस्करा कर) यह विवाद ही मुझे विश्वास दिलाता है (कि मै इसका पिता हूँ)

टिप्पणी

रक्षाकरण्डकम—रक्षासूत्र, पर यहा इसका तात्पय प्रचलित शब्द तावीज से है, किसी वस्त्र मे कोई रक्षामन्त्र या औषधि रख कर बच्चे की कलाई पर बाँध दिया जाता था जिससे कि वह कुदृष्टि आदि के प्रभाव से सुरक्षित रहे, यद्यपि अब इसका उतना प्रचलन नही रह गया है जितना कि कालिदास के समय मे रहा होगा । **विस्मयात**—विस्मय इसलिये हुआ कि औषधि ने सप बन कर राजा को नही काटा था । **जातकम**— प्रसिद्ध षोडश सस्कारो मे यह चतुथ सस्कार है, इसमे बालक की जीभ पर स्वणशलाका से ओ३म् लिखा जाता है और बालक को घी और शहद, खिलाया जाता है । विक्रिया=विकार, औषधि का सप रूप मे बदल जाना । **नियमव्यापताय**— कमणा यमभिप्रैति० से चतुर्थी—नि+यम्+अप्— नियम । वि+आ+पृ कनरि क्त टाप् । **अनेकश**—न एक अनेक अनेकस्मिन् काले इत्यर्थे अनेक शब्दात् अधिकरणे शस् प्रत्यय । **प्रत्याययति**—विश्वास करा रहा है कि दुष्यन्त नामक इसका पिता मै ही हूँ, और यह मेरा ही पुत्र है '

(इसके बाद एक वेणी धारण किये हुये शकुन्तला प्रवेश करती है)

शकुन्तला—विकार के समय भी सवदमन की औषधि के प्रकृतिस्थ (अपने स्वभाव और अपने स्वरूप मे ही बने रहने की बात) रहने की बात को सुनकर भी मुझे अपने भाग्य पर (ऐसी) आशा न थी (कि दुष्यन्त स्वयमेव यहाँ तक आयेंगे) अथवा सानुमती ने जैसा कि कहा था वैसा भी यह सम्भव हो सकता है ।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) ओह, यह वही शकुन्तला है, जो कि यह—

वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणि ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रत विभर्ति ॥२१॥

वसन इति अन्वय—परिधूसरे वसने बसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणि शुद्धशीला अतिनिष्करुणस्य मम दीर्घ विरहव्रतम् विभर्ति ।

शब्दार्थ—परिधूसरे वसने वसाना=मलिन वस्त्र को धारण किये हुये, नियमक्षाममुखी=नियम पालन के कारण कृश मुखवाली, धतैकवेणि =एकवेणी को धारण किये हुये, शुद्धशीला=पवित्र आचरण वाली, अतिनिष्करणस्य मम=गर्भिणी पत्नी का परित्याग करने के कारण अति निष्ठुर मेरे, दीर्घ विरहव्रनम्=विरह के कारण लम्बे प्रतीत होने वाले विरहव्रत को, विभर्ति=पालन कर रही है ।

अनुवाद—मलिन दो वस्त्रो को पहने हुये, नियम पालन के कारण शुष्क मुख वाली, एकवेणी को धारण किये हुये, फिर भी पवित्र आचरण वाली, परित्याग के कारण अतिकठोर मेरे दीघकालीन विरहव्रत का पालन कर रही है ।

भावार्थ—शकुन्तला को, जो कि उस समय दा मलिन वस्त्रो को (एक अधोवस्त्र—साडी और दूसरी उत्तरीय दुपट्टा) पहने हुई थी, तथा विरहिणी के चिह्न स्वरूप एक ही वेणी को धारण किये हुये थी विरहिणी के नियमो का पालन करते रहने से जिसका मुख कृश हो गया था फिर भी जो पवित्र आचरण वाली थी, देखकर राजा कहता है कि यह मुझ जैसे गर्भिणी धमपत्नी का त्याग करने से अतिकठोर व्यक्ति के लिये इस दीघकालीन विरहव्रत का पालन कर रही है ।

विशेष—नियमक्षाममुखी मे **काव्यलिङ्ग** अलकार, सम्पूण श्लोक मे **स्वभावोक्ति** अलकार, छेक, वृत्ति अनुप्रास, औपच्छन्दसिक नामक छन्द है । आदश हिन्दू विरहिणी का एक सजीव चित्र है तथा नायिकागत विप्रलम्भ एव नायकगत विषादादि से उपस्कृत निर्वेद ध्वनित होता है ।

सस्कृत व्याख्या—परिधूसरे=अतिमलिने वसने=अधरोत्तर वस्त्रे, वसाना=परिदधाना, नियमै विरहकालीनोपवासादितपोनियमै क्षाम क्षीण कृश वा मुखम् आननम् यस्या सा—नियम क्षाममुखी, धृता शिरसि धृतेत्यथ , एका वेणि यया सा—धृतैकवेणि = एकवेणीधारिणी, शुद्ध पवित्रम् शील चरित्र यस्या सा—शुद्धशीला= पवित्राचारा साध्वी पतिव्रता, अतिनिष्करुणस्य=गर्भावस्थाया मपि परित्यागात् अत्यन्त क्रूरस्य, मम=दुष्यन्तस्य, दीघम्=बहुकालीनम्, विरहव्रतम्=वियोगनियमम् विभर्ति= धारयति पालयतीत्यथ ।

सस्कृत सरलाथ—अतिमलिनवस्त्रद्वयधारिणी विरहकालीनोपवासादिनियमै कृशमुखी तथा चैकवेणीधरा शुद्धाचारा शकुन्तलामवलोक्य राजा कथयति—इयमत्रभवती शकुन्तला गर्भावस्थायामपि परित्यागात् क्रूरस्य मम दीघकालीन विरहव्रत पालयति ।

शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) न खल्वार्यपुत्र इव । तत क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति ? [ण क्खु अज्जउत्तो इव । तदो को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि ?]

बाल—(मातरमुपेत्य) मातः, एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति । [अज्जुए, एसो को वि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिंगदि ।]

राजा—प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम्, यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

टिप्पणी

वसने—वसन (वस्त्र) नपुंसकलिङ्ग द्वितीया द्विवचन—एक अधो वस्त्र और एक उत्तरीय वस्त्र, स्त्रियों के लिये इन दो वस्त्रों का धारण करना आवश्यक होता है । परिधूसरे—परितः धूसरे—अतिमलिन, वसाना—वस् आच्छादने (अदादि) शानच् प्रत्यय परिदधाना । नियमक्षाममुखी—विरहकाल में अवश्य करणीय उपवासादि नियमों का पालन करने से जिसका मुख क्षीण हो गया था, वस्तुतः मुख ही नहीं उसका सम्पूर्ण शरीर ही क्षीण हो गया था पर शेष शरीर के वस्त्राच्छादित होने से राजा उसके केवल मुख को ही देख रहा था, अतएव उसे क्षाममुखी कहता है । धृतैकवेणि—वेणी और वेणि दोनों ही प्रकार के शब्द हैं । धृता एक वेणिः यया सा । एकवेणि=बालों की गूँथी हुई एक चोटी, एक ही बार बाँधी हुई चोटी । विरहिणी जो एक बार पहले चोटी बँध लेती है, उसे फिर खोलती नहीं क्योंकि विरहकाल में स्त्रियों के लिये शृङ्गार प्रसाधन और नई चोटी बाँधना वर्जित होता है "मण्डनं वर्जयेन्नारी तथा प्रोषितभर्तृका" देवताराधनपरा तिष्ठेद् भर्तृहिते रता" विष्णुधर्मोत्तर । न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्" हारीतस्मृ० । तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः "सा" द० । मेघदूत—आद्ये बद्धा प्रथमदिवसे या शिखा दाम हित्वा" एक वेणी करेण ।" भवभूति की विरहिणी सीता—"परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम् करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी" । एकवेणीधरा—धरतीति धरा पचाद्यच् एका या वेणी तस्याः धरा, न तु एकं वेणीं धरतीति विग्रहः कर्मण्यण् इति अण् प्रसङ्गात् । बिभर्ति=भृ+लट ।

शकुन्तला—(पश्चात्ताप के कारण उदासीन एवं मलिन आकृति वाले राजा को देखकर) यह आर्य पुत्र जैसे तो नहीं दीखते हैं, तो यह कौन इस समय जिसकी रक्षा के लिये मङ्गल किया जा चुका है, ऐसे मेरे पुत्र को अपने शरीर स्पर्श से दूषित कर रहा है ।

बालक—(माता के पास जा कर) माता, यह कोई मनुष्य, मुझे अपना पुत्र कह कर आलिङ्गन कर रहा है ।

राजा—प्रिये, तुम्हारे ऊपर, (मेरे द्वारा) की गई क्रूरता भी अनुकूल फल देने

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन। आर्यपुत्र खल्वेष। [हिअअ, समस्सस। समस्सस परिच्चत्तमच्छरेण अणुअम्पिअ म्हि देव्वेण। अज्जउत्त क्खु एसो।]

राजा—प्रिये,

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि।
उपरागान्ते शशिन समुपगता रोहिणी योगम्॥२२॥

वाली सिद्ध हुई है जो कि मैं इस समय, अपने को तुम्हारे द्वारा पहचाना हुआ देख रहा हूँ अर्थात् मेरी क्रूरता का अच्छा परिणाम निकला है, इस बात का यही प्रमाण है कि तुमने मुझे इस समय पहचान लिया है।

शकुन्तला—(अपने मन मे) हृदय ! धैय धारण करो, धैर्य धारण करो, भाग्य ने द्वेषभाव त्याग कर अब मुझ पर कृपा की है, यह वस्तुत: आय पुत्र ही हैं।

राजा—प्रिये—

स्मृतीति-अन्वय—हे सुमुखि ! दिष्ट्या, स्मृतिभिन्नमोहतमस: मे प्रमुखे स्थिता असि। उपरागान्ते रोहिणी शशिन योगम् समुपगता।

शब्दार्थ—सुमुखि=सुन्दर मुख वाली प्रिये, दिष्ट्या=सौभाग्य से, स्मृतिभिन्न मोहतमस मे=(पूर्ववृत्तान्त) की स्मति होने से जिसका अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे मेरे, प्रमुखे=सामने, स्थिता असि=तुम उपस्थित हो गई हो। उपरागान्ते=(जैसे) चन्द्रग्रहण के बाद, रोहिणी=रोहिणी नामक चन्द्रपत्नी, शशिन योग समुपगता=चन्द्रमा के पास उपस्थित हो जाती है।

अनुवाद—हे सुमुखी शकुन्तला, यह सौभाग्य की बात है कि पूर्व वृत्तान्त की याद आ जाने से जिसका अज्ञानान्धकार दूर हो गया है ऐसे मेरे सामने तुम उपस्थित हो गई हो, जैसे कि ग्रहण हटने के बाद रोहिणी चन्द्रमा के सम्पर्क मे आ जाती है।

भावार्थ—जैसे चन्द्रग्रहण हट जाने के बाद उसकी प्रिया पत्नी रोहिणी चन्द्रमा के पास आ जाती है, उसी प्रकार हे सुमुखी, सौभाग्यत अब तुम भी मेरे सामने उपस्थित हो गई हो, क्योकि पूर्व घटित गान्धव विवाह की स्मृति आ जाने के कारण अब मेरा उपराग रूप अज्ञानान्धकार दूर हो गया है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे दृष्टान्त अलकार है, और अथगत यत् तत् शब्दों द्वारा एकवाक्यत्व होने से सम्भवद् वस्तु सम्बन्ध लक्षणा निदशनालकार है। यहाँ दुष्यन्त को शकुन्तला की प्राप्ति और शकुन्तला को दुष्यन्त की प्राप्ति का वर्णन होने से परस्पर दुःख का शमन दिखलाया गया है अत कृति नामक निर्बहण सन्धि का अग है "लब्धार्थ शमन कृति"। श्रुत्यनुप्रास, आर्या जाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—हे सुमुखि सुवदने, दिष्ट्या सौभाग्येन, स्मृत्या पूर्ववृत्तान्तस्मरणेन भिन्नम्-उच्छिन्न मोह एव तम अज्ञानरुपान्धकार यस्य तस्य—स्मृतिभिन्न मोहतमस, मे=दुष्यन्तस्य, प्रमुखे=सम्मुखे, स्थिता असि=त्व मुप स्थिता असि।

शकुन्तला—जयतु जयत्वार्यपुत्र । [जेदु जेदु अज्जउत्तो ।]

(**इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति ।**)

राजा—**सुन्दरि,**

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जित मया ।
यत्ते दृष्टमसस्कारपाटलोष्ठपुट मुखम् ॥२३॥

उपरागस्य राहुग्रासस्य अन्ते अवसाने—उपरागान्ते, रोहिणी=नक्षत्ररुपा दक्षकन्या चन्द्रपत्नी, शशिन योगम्=चन्द्र सयोगम्, समुपगता=प्राप्ता ।

सस्कृत सरलार्थ—यथा चन्द्रोपरागोपरान्ते तत्पत्न्या रोहिण्या चन्द्रेण सह सम्मेलन जायते तथैव सौभाग्यत पूववृत्तान्त स्मरणेनोच्छिन्नमोहान्धकारस्य मे त्वमपि सम्मुख मागत्य समुपस्थितासि ।

टिप्पणी

विवर्ण—फीका मलिन या उदास, पश्चात्ताप के कारण राजा का मुख भी फीका पड गया था । **क्रौर्यम्**—क्रूरस्य भाव =क्रूरता, तुम्हारा परित्याग कर मैने तुम्हारे ऊपर क्रूरता की थी, **अनुकूल परिणाम सवृत्तम्**—किन्तु इस क्रूरता का परिणाम बडा ही सुखद निकला, दीघकालीन प्रवास और व्रतोपवासारदि नियमो से तुम्हारा जीवन पवित्र हो गया, दिव्याश्रम मे ऋषिकृपा से तुम्हारे पुत्र मे अमोध शक्ति उत्पन्न हुई, और मुझे पत्नी और पुत्र की प्राप्ति हुई । **स्मृति**—अर्थात पूत्रवृत्तान्त की स्मृति, स्मृत्या भिन्न मोहरुप तम यस्य तस्य—स्मृ+क्तिन्=स्मृति, मुह्+घञ्=मोह, भिद्+क्त=भिन्न ।

सुमुखि—शोभन मुख यस्या स्तत्सम्बोधने । **उपरागान्ते**=उपरज्यते अनेनेति उप+रञ्ज+घञ्—उपराग ग्रहणम् तस्य अन्ते । **रोहिणी**—अश्विनी आदि २७ नक्षत्र, दक्ष की २७ पुत्रिया कही जाती थी । इनमे रोहिणी नामक चतुथ कन्या चन्द्र की सबसे अधिक प्रिया पत्नी कहलाती है, चन्द्र ग्रहण काल मे वह उससे दूर रहती है, पर उपरागान्त होते ही वह चन्द्र सामीप्य मे आ जाती है, शकुन्तला पर भी शाप रूप उपराग था उसके हटते ही शकुन्तला दुष्यन्त के समीप आ गई थी ।

शकुन्तला—आय पुत्र की जय हो ।

(इतनी आधी बात कहकर आसुओ से गला भर जाने से रुक जाती है)

राजा—हे सुन्दरी,

बाष्पेणेति अन्वय—जयशब्दे बाष्पेण प्रतिषिद्धे अपि मया जितम् । यत् असस्कारपाटलोष्ठपुटम् ते मुखम् दृष्टम् ।

शब्दार्थ—जय शब्दे बाष्पेण प्रतिषिद्धे अपि=(तुम्हारे द्वारा उच्चरित) जय शब्द के आसू के द्वारा रोक दिये जाने पर भी, जित मया=मेरी विजय हो गई है। यत्=क्योकि, असस्कारपाटलोष्ठपुटम् ते मुखम्=प्रसाधन आलक्तकरसानुलेपन आदि के बिना भी स्वभावत एव श्वेतरक्त ओष्ठ पुट वाले तुम्हार, मुख को, दृष्टम्=देख लिया है ।

बाल—मात, क एष ? [अज्जुए, को एसो]

अनुवाद—जय शब्द के आसू के द्वारा रोक दिये जाने पर भी, मेरी विजय तो हो ही गई है। क्योकि कृत्रिम प्रसाधन के बिना भी स्वभावत एव श्वेतरक्त ओष्ठ पुटवाले तुम्हारे मुख को मने देख लिया हे।

भावार्थ—राजा कहता है, सुन्दरी शकुन्तला, यद्यपि तुम मेरे लिये प्रयुक्त जयशब्द का पूरा उच्चारण नही कर सकी हो क्योकि आसुओ ने तुम्हारे कण्ठ को अवरुद्ध कर दिया है तथापि मेरी तो विजय हो गई अर्थात् जय के फलस्वरूप मुझे तो उत्कर्ष की प्राप्ति हो ही गई है क्योकि मेने तुम्हारे सस्कार रहित भी स्वभावत श्वेतरक्त ओष्ठपुटो वाले मुख को देख लिया है। तुम्हारे इस सुन्दर मुख को देखने से जो मेरा वियोग दुख दूर हो गया है, यही मेरी सबसे बडी विजय है।

विशेष—'जयशब्दे प्रतिषिद्धेऽपि जितम्' इस कथन मे **विरोधाभास** अलकार तथा जितम् के प्रति उत्तरार्ध गत वाक्यार्थ हेतु हे अत **काव्यलिङ्ग** अलकार है, श्रुति, वृत्ति अनुप्रास, अनुष्टुप् नामक छन्द हे।

सस्कृत व्याख्या—जयशब्दे=जयतु जयतु इति शब्दे, वाष्पेण=अश्रुभि, प्रतिषिद्धे=अवरुद्धे अपि, मया—दुष्यन्तेन, जितम्=जय प्राप्त, ममोत्कर्षो जात इत्यर्थ। यत्=यस्मात् कारणात्, असस्कारेण=प्रसाधनरसानुलेपनादिसस्काररहितेन अपि पाटल स्वभावत एव श्वेतरक्त, ओष्ठपुट यत्र तत्—असस्कारपाटलोष्ठपुट, ते—तव, मुखम्—आननम्, दृष्टम्=अवलोकितम्।

सस्कृत सरलार्थ—राजा कथयति सुन्दरि शकुन्तले! यद्यपि मत्कृते त्वयोच्चारित जयतु जयतु इति शब्द तवाश्रुभि समवरुद्ध, तथापि ममोत्कर्षस्तु जात एव, यतोहि मया रसानुलेपनादिसस्कारविहीनेनापि स्वभावत एव श्वेतरक्तोष्ठपुट त्वदीय मुखमिद मवलोकितम्। तव स्वभावसुन्दरमुखावलोकनेन मम विरहदुखस्यापगमनेनैव मया जितमित्याशय।

टिप्पणी

वाष्प कण्ठी—वाष्प कण्ठे यस्या, वाष्पकण्ठ+ङीप्। **विमरति**—"व्याङ्परिभ्योरम" इति परस्मैपदम्। **पाटलोष्ठ**—पाटलोष्ठ और पाटलौष्ठ दोनो रूप ठीक हैं क्योकि 'आत्वोष्ठयो समासे वा "वार्तिक से विकल्पत पररूप होता है। इसी प्रकार विम्वौष्ठ और विम्वोष्ठ भी होते हैं। असस्कारेण सस्कारविहीनेनापि पाटलम् ओष्ठपुट यत्र तत्। स्वाभाविक सौन्दर्य के लिये कृत्रिम प्रसाधन की आवश्यकता नही होती। और सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्' अत राजा का कथन सर्वथा उपयुक्त है" "रागेण वालारुण कोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार" "कुमार०। इद किलाव्याज मनोहर वपु"।

बालक—माता, यह कौन है ?

शकुन्तला—वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ। [वच्छ, दे भाअहेआइ पुच्छेहि।]

राजा—(शकुन्तलाया पादयो प्रणिपत्य।)

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनस समोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवप्राया शुभेषु हि वृत्तय,
स्रजमपि शिरस्यन्ध क्षिप्ता धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

शकुन्तला—पुत्र, अपने भाग्य से पूछो।

राजा—(शकुन्तला के पैरो पर गिर कर)

सुतनु-अन्वय—हे सुतनु! ते हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकम् अपैतु। तदा मे किमपि बलवान् मनस समोह अभूत्। हि शुभेषु प्रबलतमसाम् वृत्तय एव प्राया (भवन्ति) अन्ध शिरसि क्षिप्ताम् स्रजम् अपि अहिशङ्कया धुनोति।

शब्दार्थ—सुतनु=सुन्दर शरीरवाली अर्थात् सुन्दरी, ते हृदयात्=तुम्हारे हृदय से, प्रत्यादेशव्यलीकम्=(मेरे द्वारा किये गये निराकरण की पीडा-कसक) अपैतु=दूर हो, तदा=प्रत्याख्यान के समय, मे किमपि बलवान्=मुझे कोई अनिर्वचनीय प्रबल, मनस समोह अभूत्=चित्त का अज्ञान हो गया था। हि=क्योकि, शुभेषु=मङ्गलमय पदार्थों के विषय मे प्रबलतमसाम्=प्रबल तमोगुणी लोगो की प्रवृत्तय=प्रवृत्तियाँ एवप्राया=इसी प्रकार की (भवन्ति=हो जाती है) अन्ध=नेत्रविहीन व्यक्ति, शिरसि क्षिप्ताम् स्रजमपि=किसी के द्वारा शिर पर डाली गई पुष्पमाला को भी, अहिशङ्कया=सर्प की आशका से, धुनोति=दूर फेंक देता है।

अनुवाद—हे सुन्दरी, तुम्हारे हृदय से (मेरे द्वारा किये गये) निराकरण का दुःख दूर हो, उस समय मेरे मन मे कोई अनिर्वचनीय प्रबल अज्ञान उत्पन्न हो गया था। क्योकि शुभ कार्यों अथवा पदार्थो के प्रति प्रबल तमोगुणी लोगो की प्रवृत्तियाँ इसी प्रकार की हो जाती हैं, (अन्धा व्यक्ति किसी के द्वारा) शिर पर डाली गई पुष्प माला को भी सर्प की आशका से दूर फेंक देता है।

भावार्थ—शकुन्तला के पैरो पर गिर कर राजा कहता है कि हे सुन्दरी, मैंने जो तुम्हारा निराकरण किया था और उसकी जो पीडा तुम्हारे हृदय मे है वह अब दूर हो जानी चाहिये, क्योकि निराकरण करते समय मेरे मन मे कोई अनिर्वचनीय प्रबल अज्ञान उत्पन्न हो गया था, अत अज्ञान से विवेक के ह्रास हो जाने से ही वस्तुत मैंने तुम्हारा अकारण परित्याग किया था, जानबूझकर विवेक पूर्वक नही। प्राय देखा जाता है कि जिन लोगो मे अज्ञानाधिक्य के कारण प्रबल तमोगुण उत्पन्न होता है वे अपने कल्याणकर कार्यों के प्रति अथवा मङ्गलमय पदार्थो के प्रति ऐसा ही विपरीत व्यवहार करने लगते है, उदाहरणार्थ, यदि कोई अन्धे व्यक्ति के शिर पर

पुष्पमाला भी डाल दे तो वह उसको सर्प समझ कर फेंक देता है। इसी प्रकार तमोगुणी व्यक्ति अपने लिये प्राप्त भी शुभ वस्तु का निरादर कर देता है।

विशेष—यहाँ प्रथम चरणगत अर्थ के प्रति द्वितीय पादगत अर्थ हेतु है अत वाक्यार्थ मूलक काव्यलिङ्ग है। तृतीय पाद वर्णित सामान्यार्थ से पूर्वार्द्ध वाक्यगत विशेषार्थ का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलकार है। चतुर्थ चरणगत उपमान और उपमेय मे साधर्म्य प्रतिबिम्बित होता है अत दृष्टांत अलकार है, अहिशङ्कया मे भ्रान्तिमान् अलकार है, श्रुति, 'छेक अनुप्रास हरिणी नामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—शोभना तनु यस्या सा तत्सम्बुद्धौ—सुतनु शोभनाङ्गि, ते—तव शकुन्तलाया, हृदयात्—मनस, प्रत्यादेशेन मत्कृतेन निराकरणेन यत् व्यलीक दु ख तत् प्रत्यादेशव्यलीकम्, अपैतु—दूरी भवतु। तदा—त्वत्प्रत्याख्यानकाले मे—मम दुष्यन्तस्य, किमपि—अनिर्वचनीयम् बलवान्—प्रबल, मनस—चित्तस्य, सम्मोह अज्ञानम्, अभूत्। हि—यतो हि, शुभेषु—मगलविषयेषु कल्याणकारिकार्येषु, प्रबल घोर तम अज्ञानान्धकार मोहो वा येषाम् तेषाम्—प्रबलतमसाम् वृत्तय—व्यापारा एवप्राया—एवम्विधा (भवन्ति) अन्ध—नेत्रहीन जन, शिरसि—मूर्ध्नि, क्षिप्ताम्—केनापि समर्पिताम् स्रजम्—पुष्पमालाम् अपि, अहिशङ्कया—सर्पभ्रान्त्या, धुनोति—दूर प्रक्षिपति।

संस्कृत सरलार्थ—शकुन्तलाया पादयो निपत्य दुष्यन्त कथयति—यदिदानी त्वन्मनस मत्कृतनिराकरणदु ख दूरी भवतु। वस्तुत त्वत्प्रत्याख्यानकाले मे मनसि कोऽप्यनिर्वचनीय प्रबल भ्रम आसीत्, एस्माद् भ्रमादेव मया प्रत्याख्यातम्, न तु कामत, अतोऽज्ञानवशात् कृत अपराध क्षन्तव्य। यतो हि शुभकरकार्येषु प्रबलमोह ग्रस्ताना जनाना व्यवहारा एतादृशा एव जायन्ते, मोहवशात्तै शुभकर सुखोपनत मपि वस्तु समुपेक्ष्यते। अन्धो जन केनापि तच्छिरसि परिधापिता पुष्पमाला अपि सर्पभ्रान्त्या दूर क्षिपति एवमेव वशप्रतिष्ठास्वरुपा स्वयमेवोपस्थिता त्वामह पूर्वं प्रबलसम्मोह-वशात् परित्यक्तवान्। अत ममापराधोऽय क्षन्तव्य।

टिप्पणी

भागधेयानि पृच्छ अर्थात् अपने भाग्य से पूछो कि अब वह क्या करना चाहता है, यदि वह अनुकूल होगा तब तो यह तुम्हारे पिता होंगे और तुम इनके उत्तराधिकारी होगे और यदि भाग्य अब भी प्रतिकूल है तो यह तुम्हारे लिये केवल एक सामान्य राजा मात्र होंगे और हम दोनो यही रहेगे। सुतनु—शोभना तनू यस्या सम्बोधन मे ह्रस्व होकर सुतनु होगा, समासान्त विधेरनित्यत्वान्न क प्रत्यय। **प्रत्यादेश व्यलीकम्**—'पीडार्थेव्यलीक स्यात्' इस वचन के अनुसार व्यलीक का अर्थ पीडा या कसक है। 'व्यलीक त्वप्रियेऽनृते' इस अमर कोश के अनुसार इसका अर्थ अप्रिय भी है किन्तु पीडा अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। अपैतु का आशय है कि मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम अब उस प्रत्याख्यान की कसक को निकाल दो। **हृदयात्**—यद्यपि व्यलीक का त्याग हृदय से ही होता है तथापि यहाँ पुन हृदयोपादान यह ध्वनित करता है कि व्यलीक

शकुन्तला—उत्तिष्ठत्वार्यपुत्र । नून मे सुचरित-प्रतिबन्धक पुराकृत तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरस सवृत्त । [उट्ठेदु अज्जउत्तो । णून मे सुअरिअप्पडिवन्धअ पुराकिद तेसु दिअहेसु परिणामाहिमुह आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो सवुत्तो ।]

(राजोत्तिष्ठति ।)

शकुन्तला—अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दु खभाग्यय जन ? [अह कह अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअ जणो ?]

राजा—उद्धृतविषादशल्य कथयिष्यामि ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधर परिबाधमान ।
त तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
बाष्प प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।)

का त्याग केवल वाणीमात्र से नही अपितु हृदय से भी होना चाहिये, उसका सस्कारोमूलनपूवक त्याग होना चाहिए, ऐसा न हो कि हृदय मे उसका कोई अश शेष बना रहे । **स्रजमपि**— जिस प्रकार अन्धा पुष्पमाला को फेंक देता है, उसी प्रकार प्रबल अज्ञान से अन्धे मैने शिर पर डाली गई भी पुष्पमाला के समान तुम को दूर कर दिया था, कवि की यह अति सुदर उपमा है ।

'शकुतलाया पादयो प्रणिपत्य" इस कथन से अनुनय नामक भूषण का निर्देश हे "अभ्यथनापर वाक्य विशेषोऽनुनयो बुधै । साहित्य दपण मे इसी को नाट्यलक्षण कहा है वाक्यै स्निग्धै रनुनयो भवेदथस्य साधनम् ।

शकुन्तला—आय पुत्र उठिये । निश्चय ही शुभ फल मे प्रतिबन्धक पूर्वजन्म मे किया हुआ कोई मेरा कर्म उन दिनो फल देने लगा था । (अर्थात् उन दिनो मे पूर्वजन्म मे मेरे द्वारा किया गया कोई अशुभ कर्म उदित होकर अशुभ फल दे रहा था जो कि मेरे पुण्यकम फल का प्रतिबन्धक था) जिससे दयालु होते हुये भी आप आर्यपुत्र मुझ पर नीरस या कठोर हो गये थे ।

(राजा उठता है)

शकुतला—अच्छा, तो आपने इस दु ख भागीजन को कैसे याद किया ?

राजा—दु खरूपी वाण के शल्य (अग्रभाग) के निकल जाने पर बतलाऊँगा ।

मोहादिति—हे सुतनु ! ते अधर परिवाधमान य वाष्पविन्दु मया मोहात् पूवम् उपक्षित, आकुटिलपक्ष्मविलग्नम् तम् वाष्प प्रमृज्य विगतानुशय भवेयम् तावत् ।

शब्दार्थ—सुतनु—सुन्दरी, ते अधर परिवाधमान =तुम्हारे अधरोष्ठ को पीडित करता हुआ, य वाष्पबिन्दु जो अश्रुबिन्दु, मोहात् मया पूवम् उपेक्षित =मैंने अज्ञानवश पहले उपेक्षित कर दिया था। आकुटिलपक्ष्मविलग्नम्=कुछ तिरछी पलको मे लगे हुये, त वाष्पम्=उस आसू को, प्रमृज्य=पोछ कर, विगतानुशय भवामि तावत् =पहले मे पश्चात्ताप से रहित हो जाऊँ।

अनुवाद—हे सुन्दरी, तुम्हारे अधरोष्ठ को पीडित करता हुआ जो अश्रुबिन्दु मैने अज्ञानवश पहले उपेक्षित कर दिया था, (तुम्हारी) कुछ तिरछी पलको मे लगे हुये उस आसू को पोछ कर, पहले मै पश्चात्ताप से रहित हो जाऊँ।

भावार्थ—शकुन्तला के यह पूछने पर कि आपने पुन कैसे मेरी याद की, राजा कहता है कि मैं वह बात बतलाऊँगा किन्तु पहले मुझे, तुम्हारी तिरछी पलको मे उलझे हुये उस आसू को पोछ कर पश्चात्ताप से रहित हो जाने दो, जिस आसू की मैंने अज्ञानवश पहले उपेक्षा कर दी थी, राजा यहाँ उस गत श्लोक की बात की ओर सकेत कर रहा है जिसमे उसने रोती हुई भी शकुन्तला पर ध्यान न देकर उसका परित्याग कर दिया था 'इत प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तु प्रवत्ता पुन दृष्टि वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती, मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्य दहति माम्। यही वह आँसू है जिसको वह पहले न पोछ कर अब पोछना चाहता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे 'मया' से तात्पय है, मुझ अविवेकी, धमभीरु दुष्यन्त के द्वारा, अत यहाँ अर्थान्तिर सक्रमित **वाच्य ध्वनि** है। अश्रुओ के स्थूल एव चिर स्थायी होने के कारण उनके माजन रूप कारण सामग्री के होते हुए भी, मार्जन रूप काय की उत्पति न होने से **विशेषोक्ति** अलकार है। पदाथ हेतुक **काव्यलिङ्ग**, श्रुति, वृत्ति अनुप्रास, वसततिलका छन्द है। वाष्पबिदुमाजन रूप काय का अन्वेषण होने से निवहण सन्धि का विवोध नामक अग है 'विवोध कायमागणम्" सा० द०। श्लोक मे दुष्यन्त की पश्चात्तापमाजनाथ आन्तरिक भावना का एव शकुन्तला की कारुणिक पूर्वावस्था का सुन्दर अकन किया गया है।

सस्कृत व्याख्या—सुतनु=हे शोभनाङ्ग ! ते अधर परिवाधमान =तें शकुतलाया अधरोष्ठ परित पीडयन्, य वाष्पबिन्दु—अश्रुकण, मोहात्= अज्ञानत, मया – दुष्यन्तेन, पूर्व=प्रत्याख्यानकाले, उपेक्षित =न गणित। आकुटिलेषु ईषद्वक्रेषु पक्ष्मसु नेत्रलोमसु विलग्न ससक्तम्—आकुटिलपक्ष्मविलग्नम् त वाष्पम्, त नेत्रजलम्, प्रमृज्य=अपनीय, विगतानुशय =पश्चात्तापरहित, भवामि तावत्,=भवेयम् तावत्।

सस्कृत सरलाथ—शकुन्तलया पृष्ट राजा कथयति यत्तव स्मरण कारणमपि निवेदयिष्याभि पर प्रथममह तवेषद्वक्रनेत्रलोम ससक्त त वाष्पबिन्दु प्रमृज्य अकारण-परित्यागजन्यपश्चात्तापात् विमुक्तो भवितु मिच्छाभि, यो हि वाष्पबिन्दु मया पूर्व प्रत्याख्यानकालेऽज्ञानवशा दुपेक्षित।

शकुन्तला—(नाममुद्रा दृष्ट्वा) आर्यपुत्र इदं तदङ्गुलीयकम्। [अज्जउत्त, एदं तं अंगुलीअअं।]

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात् खलु स्मृति-रुपलब्धा।

शकुन्तला—विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्। [विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि।]

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम्।

टिप्पणी

सुचरित प्रतिबन्धकं पुराकृतम्—यह कहकर शकुन्तला एक सती सुगृहिणी की भाँति अपने परित्याग में अपने पति को दोषी न बताकर अपने भाग्य को ही दोष देती है। विरस—विगत रस प्रेम यस्मात् स, उदधृतविषादशल्य—उदधृत विषाद एव शल्य येन स। अर्थात् विषादरहित। बाष्पम्—दो बार प्रयुक्त वाष्प शब्द की पुनरुक्ति वारणार्थ बाष्पम् के स्थान पर 'कारे' पाठ रखा जा सकता है। विगतानुशय —विगत दूरमपनीत अनुशय पश्चात्ताप यस्य स। परिबाधमान—परि+बाध+शानच्। प्रमृज्य—प्र+मृज्+क्त्वा—ल्यप्। बाष्पबिन्दु—यहाँ जात्यभिप्रायेण एक वचन है। जो बाष्पबिन्दु आखो से निकल कर कपोलो पर बह कर अधरोष्ठ पर देर तक ठहरने के कारण उसे पीडित करते थे इससे अश्रुबिन्दुओ को निरन्तर पातिता उष्णता स्थूलता अधिकता एव चिरस्थिति तथा शकुन्तला के अधरोष्ठ की अति-सुकुमारिता ध्वनित होनी है। यहा तम् पद का प्रयोग जो कि पूर्व वाष्प का निर्देश करता है अनुपयुक्त नहीं है क्योकि यह प्रसिद्धि है कि प्रियजनो के देखने से चिरकालानुभूत भी दुख नये से हो जाते है, इसी प्रकार अब जब शकुन्तला ने चिरकाल के बाद राजा को देखा तो उसे पूर्व प्रत्याख्यान का स्मरण हो आया था फलत आसू निकल आये थे, राजा को आसुओ को देखकर फिर उन्ही प्रत्याख्यानकालीन आसुओ की याद आ गई थी अत एतत्कालीन आसू उसे तत्कालीन से जान पडते थे अत तम् पद यहाँ सर्वथा उपयुक्त है।

इतीति—यह कहकर उसके आसू पोछने लगता है।

शकुन्तला—(राजा के नाम से अकित अँगूठी को देखकर) आर्यपुत्र! यही वह अँगूठी है।

राजा—इस अँगूठी के मिलने से ही वस्तुत (तुम्हारी) स्मृति प्राप्त हुई।

शकुन्तला—इसने विषम स्थिति उत्पन्न कर दी थी, क्योकि उस समय आपको विश्वास दिलाने के समय यह दुर्लभ हो गई थी।

राजा—तो (बसन्त) ऋतु के मिलन के चिह्न स्वरूप (अब) लता पुष्प धारण करे अर्थात् बसन्त रूप दुष्यन्त के समागम स्वरूप अब लता रूप शकुन्तला, इस पुष्प रूप अँगूठी को धारण करे।

शकुन्तला—नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैतद् धारयतु। [ण से विस्ससामि। अज्जउत्तो एव्व ण धारेदु।]

(तत प्रविशति मातलि।)

मातलि—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते।

राजा—अभूत् सम्पादितस्वादुफलो मे मनोरथ। मातले, न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्त स्यात्?

मातलि—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम्? एत्वायुष्मान्। भगवान् मारीचस्ते दर्शनं वितरति।

राजा—शकुन्तले, अवलम्ब्यतां पुत्र.। त्वां पुरस्कृत्य भगवन्त द्रष्टु-मिच्छामि।

शकुन्तला—जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीप गन्तुम्। [हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीव गन्तु।]

राजा—अप्याचरितव्य मभ्युदयकालेषु। एह्येहि।

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

शकुन्तला—मैं इसका विश्वास नही करती। आयपुत्र (आप) ही इसे धारण करें।

(इसके बाद मातलि का प्रवेश)

मातलि—सौभाग्यत धमपत्नी के मिलने से और पुत्र का मुख देखने से आपने अभ्युदय प्राप्त किया है (अन आपको बधाई है)

राजा—मेरी इच्छा ने अब स्वादिष्ट फल प्राप्त कर लिया है। मातलि! सम्भवत यह समाचार इन्द्र को विदित नही हुआ होगा।

मातिल—(मुस्कराहट के साथ) ऐश्वयशालियो के लिये कौन सी बात परोक्ष (अदृष्ट) होती है अर्थात् वे सब कुछ जान लेते हैं। आइये, आयुष्मान्, भगवान् मारीच आपको दशन दे रहे हैं।

राजा—शकुन्तला, पुत्र को मभालो, तुमको आगे करके भगवान् मारीच के दशन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—आयपुत्र आपके साथ गुरुजनो के समीप जाने मे मुझे लल्जा हो रही है।

राजा—अभ्युदय के समय ऐसा ही करना चाहिये, आओ, आओ।

(सब चलते हैं)

टिप्पणी

ऋतुसमवाय—कालिदास कि यह उक्ति बडी ही सुन्दर है वैसे तो उपमा के धनी कालिदास की अनेक ऐसी ही सुन्दर उक्तियाँ हैं, पर इसमे लिङ्ग साम्य विशेष रूप से

(तत प्रविशत्यादित्या सार्धमासनस्थो मारीच ।)

मारीच —(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि !

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी,
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।
चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्म जात
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरण मघोन ॥२६॥

आकपक हैं, दुष्य न और जस त पु०, शकु तला और लता स्त्रीलिङ्ग, अँगुलीयक और पुष्प नपु । लता पर ही पुष्प सुशोभित हाना है, शकु तला के पास ही अँगूठी हानी चाहिये, राजा का यह अभिप्राय ह । समवाय=मिलना अथवा सयोग । आखण्डल=इन्द्र आखण्डयति पवनान् शत्रून् वा आखण्ड+डलच । यहा यथोक्तमनुतिष्ठतीत्यादि मे प्रसाद नामक, तथा राजा के कथन मे भाषण नामक निवहणसन्धि का अग है । सुश्रुषादि प्रसाद स्यात् । सामदानादिभाषणम्" स० द० ।

(इसके बाद अदिति के साथ आसनस्थ मारीच का प्रवेश)

मारीच —(राजा को दखकर) हे दक्षपत्रि अदिति !

पुत्रस्येति—अन्वय—अयम दुष्यन्त इति अभिहित भुवनस्य भर्ता, ते पुत्रस्य रणशिरसि अग्रयायी, यस्य चापेन विनिर्वर्तितकम कोटिमत् तत् कुलिशम् मघोन आभरण जातम ।

शब्दाथ—अयम् दुष्यन्त इति अभिहित =यह दुष्यन्त नाम से विख्यात (राजा) भुवनस्य गोप्ता=पृथिवी लोक का सरक्षक (और) ते पुत्रस्य रणशिरसि अग्रयायी= तुम्हारे पुत्र इन्द्र के युद्धो मे आगे चलने वाला, (अस्ति=है) यस्य चापेन=जिसके धनुष से, विनिर्वर्तितकर्म=जिसने दानव हनन रूप सम्पूण काम पूरा कर दिया है ऐसा, कोटिमत्=तीक्ष्ण अग्र भाग (धार) वाला, तत्=वह प्रसिद्ध, कुलिशम्= वज्र, मघोन आभरणम्=(अब) इन्द्र के लिये आभूषण मात्र, जातम्=रह गया है ।

अनुवाद—यह दुष्यन्त नाम से विख्यात (राजा) भूलोक का सरक्षक (और) तुम्हारे पुत्र इन्द्र के युद्धो मे आगे चलने वाला (है) जिसके धनुष के द्वारा, जिसका दानव वध रूप सम्पूण काय पूरा कर दिया गया है, ऐसा, तीक्ष्ण धार वाला, वह प्रसिद्ध, वज्र अब केवल इन्द्र के लिये अलकार मात्र रह गया है ।

भावाथ—दुष्यन्त का परिचय दते हुये भगवान् मारीच अदिति से कहते है, दक्षपुत्री, इस राजा का नाम दुष्यन्त है, यह भूलोक का पालन करने वाला एव तुम्हारे पुत्र इन्द्र के युद्धो मे यह सबसे आगे चलने वाला है । इन्द्र का जो वज्र दानव वध के काम आता था इस राजा ने अपने धनुष के द्वारा वह सब काम पूरा कर दिया है, अथात् अपने धनुष से ही सब ही दानवो का वध कर लिया है अत अब इन्द्र का वह प्रसिद्ध तीक्ष्ण धार वाला वज्र, अब केवल इन्द्र के लिये आभूषण मात्र ही रह गया है,

अदिति —सभावनीयानुभावाऽस्याकृति । [सभावणीआणुभावा से आकिदी ।]

मातलि —आयुष्मन्, एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसा पितरावायुष्मन्तमवलोकयत तावुपसर्प ।

धनुष् ने ही कर दिया है अत अब वज्र केवल इ द्र के लिये उनका अलकार मात्र ही रह गया है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे लोकातिशय शौयसम्पत् का वर्णन होने से **उदात्ता-लकार** आभरण के प्रति विनिर्वर्तित कम हेतु है अत पदाथ हेतुक **काव्यलिङ्ग अलकार** है । 'यस्य चापेन विनिर्वर्तितकमजातम' इस कथन मे सम्पूण श त्रु वध रूप कारण की प्राप्ति होने से **पर्यायोक्त अलकार** है । आभरणम् का अथ है, आभरण रूप अत **रूपक** अलकार, वीररसोपस्कृत राजविषयक रतिभाव है, अनुप्रास, वसन्ततिलका छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—अयम्=पुरो दृश्यमान , दुष्यन्त इति अभिहित =दुष्यन्ते-त्याख्यात , भुवनस्य=मत्यलोकस्य, भर्ता=सरक्षक , ते=तव, पुत्रस्य=सुतस्य इन्द्र-स्येत्यथ , रणशिरसि=सग्रामाग्रभूमौ, अग्रयायी=अग्रेसर (अस्ति) यस्य=दष्य न्तस्य, चापेन=धनुषा, विनिर्वर्तित सम्पादित कर्म दानव वधादिकार्यं यस्य तत्=विनिर्वर्तित-कम, तत=प्रसिद्धम, कोटिमत=तीक्ष्णाग्रम् कुलिशम्=वज्रम्, मघोन =इन्द्रस्य, आभरणम्=अलड् कारस्वपरूपम जातम्=सप न्नम ।

सस्कृत सरलार्थ—राजान दुष्यन्त मवलोक्य भगवान मारीच दाक्षायणी कथयति, अय पुरोवतमान पुरुष दुष्यन्तेत्याख्याविख्यात अस्ति, अयमेव मत्यलोकस्य पालक एव तव पुत्रस्येन्द्रस्य सग्रामाग्रभूमौ अग्रेसरो भवति । अस्यैव धनुषा दानववधा-दि रूप मखिल कम सम्पादितम्, अत एवाधुना तत प्रसिद्ध तीक्ष्णाग्र व्रज्रम, इन्द्रस्या लड्कारस्व रुपमेव सम्पन्नम् । करशोभाकरमेवाधुनेन्द्रस्य वज्र, न तु तेन विजयादि लाभ , दुष्यन्तधनुषैव तत्सम्पादनादिति भाव ।

टिप्पणी

दाक्षायणी—दक्षस्यापत्य स्त्री दाक्षायणी तत्सम्बोधने दाक्षायणि=दक्षशब्दात् फिञ प्रत्यये तस्य आयन् इत्यादेशे षिद्गौरादिभ्यश्चेति ङीष् । **रणशिरसि**=सग्राम की अग्रभूमि मे । **ते पुत्रस्य**—यह कथन अदिति मे औत्सुक्य वधनाथ है । **कुलिशम्**—कुलि का अथ हाथ है "कुलि हस्त " इतित्रिकाण्ड शेष । कुलौ हस्ते शेते इति कुलिश - कुलि+शी+ड अथवा कुलिन पवतान् श्यति विनाशयति—कुलि+शो+क । **अग्र-यायी**—अग्र+या+णिनि । **कोटिमत्**—कोटि+मतुप् ।

अदिति—इसकी आकृति से ही इसके पराक्रम का अनुमान किया जा सकता है ।

मातलि—आयुष्मन्, ये देवताओ के माता पिता, पुत्र प्रेम सूचक दष्टि से आपको देख रहे है (अत आप) उनके पास चलें ।

राजा—मातले, एतौ—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं,
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं,
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥२७॥

राजा—मातले, ये दोनों—

प्राहुरिति—मुनयः यत् द्वादशधा स्थितस्य तेजसः कारणम् प्राहुः, यत् भुवनत्रयस्य भर्तारम् यज्ञभागेश्वरम् सुषुवे। यस्मिन् आत्मभवः परः पुरुषः अपि भवाय आस्पदम् चक्रे, दक्षमरीचिसम्भवम् स्रष्टुः एकान्तरम् तत् इदम् द्वन्द्वम्।

शब्दार्थ—मुनयः=व्यासादि मुनिजन, यत्=जिस द्वन्द्व जोड़े को अर्थात् पति-पत्नी रूप में जिस अदिति कश्यप रूप जोड़े को, द्वादशधा स्थितस्य=बारह प्रकार से स्थित तेजसः=सूर्य का, कारणम्=उत्पत्तिकरण, प्राहुः=कहते हैं। यत्—जिस अदितिकश्यप के जोड़े ने, भुवनत्रयस्य भर्तारम्=तीनों लोकों के संरक्षक, यज्ञभागेश्वरम्=यज्ञ भागों के अधिकारी देवताओं के स्वामी (इन्द्र) को, सुषुवे=जन्म दिया है। यस्मिन्=जिस अदितिकश्यप रूप जोड़े में, आत्मभवः परः पुरुषः अपि=स्वयम्भू परम पुरुष विष्णु ने (भी) भवाय=वामन रूप से जन्म धारण करने के लिये, आस्पदम् चक्रे=स्थान ग्रहण किया था, दक्ष मरीचिसम्भवम्=प्रजापति दक्ष और मरीचि से उत्पन्न, (अतएव) स्रष्टुः एकान्तरम्=ब्रह्मा से केवल एक पुरुष (वंश या पीढ़ी) का व्यवधान रखने वाला, तत् इदम् द्वन्द्वम्=वह यह जोड़ा अर्थात् अदिति और कश्यप का जोड़ा है।

अनुवाद—व्यासादि मुनिजन जिस जोड़े को बारह रूपों में विद्यमान सूर्य का (भी) उत्पत्ति कारण कहते हैं, जिस जोड़े ने तीनों लोकों के संरक्षक (और) यज्ञभागाधिकारी देवताओं के स्वामी इन्द्र को (भी) उत्पन्न किया है। जिस जोड़े में स्वयम्भू परम पुरुष विष्णु ने (भी) वामन रूप में जन्म धारण करने के लिये स्थान ग्रहण किया था प्रजापति दक्ष एवं मरीचि से उत्पन्न (अतएव) ब्रह्मा से केवल एक पुरुष का व्यवधान रखने वाला वह प्रसिद्ध यह अदिति कश्यप का जोड़ा है।

भावार्थ—अदिति कश्यप का यह पति पत्नी का जोड़ा दक्ष प्रजापति एवं मरीचि से उत्पन्न हुआ है, दक्ष एवं मरीचि दोनों ब्रह्मपुत्र हैं, दक्ष पुत्री अदिति है और मरीचि पुत्र मारीच हैं, इस प्रकार ब्रह्मा से इस जोड़े में केवल एक पीढ़ी का अन्तर है। यही जोड़ा बारह प्रकार से विद्यमान सूर्य का भी उत्पत्ति स्थान है। त्रिभुवनरक्षक और यज्ञभागाधिकारी देवताओं के अधीश्वर इन्द्र को भी इसी जोड़े ने जन्म दिया है, इतना ही नहीं स्वयम्भू परम पुरुष विष्णु ने भी वामन रूप में उत्पन्न होने के लिये इन्हीं का आश्रय ग्रहण किया था।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के तीन चरणों में महापुरुष चरित का वर्णन होने से **उदात्तालंकार है, 'आत्मभवः भवाय' में विरोधाभास अलंकार है, कुछ टीकाकारों ने**

यहाँ समुच्चयालकार भी माना है। देवविषयक रतिभाव है। शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—मुनय =व्यासादय ऋषय यत् द्वन्द्वम् द्वादशधा स्थितस्य= द्वादशमासेषु द्वादशमूर्तिधरस्य द्वादशात्मकस्येत्यथ, स्थितस्य=विद्यमानस्य, तेजस = तेजोमयसूयस्य, कारणम्—उत्पत्तिस्थानम् प्राहु =वदन्ति । यत=द्व द्वम्, भुवनत्रयस्य=भूर्भुव स्व सज्ञकस्य लोकत्रयस्य, भर्तारम्=सरक्षकम् यज्ञेषु भागो येषान्ते यज्ञभागा देवा तेषामीश्वरस्तम्—यज्ञभागेश्वरम=इन्द्रम् सुषुवे=उत्पादयामास, यस्मिन्=द्व द्वे, आत्मभव =स्वयम्भू, पर पुरुष =परमपुरुषो विष्णु अपि, भवाय= वामन रूपेण जन्मग्रहणाय, आस्पदम् चक्रे=स्थान कृतवान्। दक्ष मरीचिश्च सम्भव उत्पत्तिस्थान यस्य तत्—दक्षमरीचिसम्भवम्, स्रष्टु =ब्रह्मण, एकमात्रम् अन्तर व्यवधान यस्य तत—एकान्तरम्, तत् इदम् द्व द्वम्=युगलम्, (अस्ति)

सस्कृत सरलाथ—दक्ष मरीचिसमुदभूत मिद द्वन्द्व ब्रह्मण एकपुरुषव्यवधान मात्र वर्तते। इदमेव द्वन्द्व द्वादशरूपेण विद्यमानस्य तेजोमयस्य सूयस्योत्पत्तिस्थान मस्ति, इदमेव द्वन्द्व लोकत्रयस्य सरक्षक देवाधीश्वर देवेन्द्रम् अपि उत्पादयामास। अस्मिन्नेव द्वन्द्वे आत्मव परमपुरुषो विष्णुरपि वामनरूपेण जन्मग्रहणाय स्वाश्रय लेभे।

टिप्पणी

सम्भावनीयानुभावा—सम्भावनीय अनुभाव यस्या सा, जिसके प्रभावोत्कर्ष का अनुमान किया जा सकता है। **पुत्र प्रीतिपिशुनेन**—पुत्रे या प्रीति तस्या पिशुन सूचकम् तेन, **द्वादशधा स्थितस्य**—बारह महीनो मे सूय के बारह नाम इस प्रकार पुराणो मे पाये जाते हैं तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि। अयमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च। विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च। अशुभगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृता। विष्णु पुराण। "अदित्या द्वादशादित्या सम्भूता, भुवनेश्वरा धाता मित्रोऽयमा शक्रो वरुणस्त्वरेव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा। एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णु रुच्यते। महाभारत। कोई आचाय द्वादशधा का अथ द्वादशकलात्मकस्य भी करते हैं, क्योकि सूर्य की १२ कलाये मानी गई हैं। "तपनी तापिनी धूम्रा मरीचि ज्वालिनी रुचि। सुषम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा। **तेजस** =तेजोमय सूय का, इससे अदिति और कश्यप का प्रभावतिशय द्योतित होता है। **भुवनत्रयस्य भर्तारम्**—भू भुव स्व रूप तीनो लोकों की रक्षा करने वाले, **सुषुवे**—उत्पन्न किया अर्थात् इन्द्र के भी जनक, जैसा कि विष्णु पुराण मे कहा गया है, 'अदिते कश्यापाज्जाता देवाश्चेन्द्रादयोऽनघ। **आत्मभव**—स्वय उत्पन्न होने वाले, **पर पुरुष**=परम पुरुष विष्णु, **भवाय**—जन्म ग्रहण करने के लिए अर्थात् वामन रूप मे अवतार लेने के लिये, इससे स्पष्ट है कि अदिति और कश्यप से ही वामन अवतार हुआ था अत वह विष्णु के भी माता पिता हैं। विष्णु पुराण मे इस सम्बन्ध मे उल्लेख है "मन्वन्तरे च सप्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज। वामन कश्यपाद्द विष्णु

मातलि—अथ किम् ?

राजा—(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्त प्रणमति ।

मारीच—वत्स, चिर जीव । पृथिवी पालय ।

अदिति—वत्स, अप्रतिरथो भव । [वच्छ अप्पडिरहो होहि ।]

शकुन्तला—दारकसहिता वा पादवन्दन करोमि । [दारअसहिदा वो पादवन्दण करेमि ।]

मारीच—वत्से,

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिम सुत ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ।।२८।।

रदित्या सवभूव ह "स्रष्टु—सज+तृच् । आत्मभव—आत्मन भव यस्य स । भर्तारम्—भ+तृच् द्वितीयैक वचन एकान्तरम्—ब्रह्मा और इनके बीच केवल एक का ही व्यवधान है अर्थात् दक्ष और मरीचि का । मरीच का दूसरा नाम कश्यय भी है । आस्पदम—आ सम तात् पद्यते अस्मिन्निति—आ+पद्+अधिकरणे घ निपातनात् मुट—आस्पदम्, स्थानम् । द्वन्द्वम्—द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम् । यद्यपि प्रस्तुत पद्य के वणन से ज्ञात होता है कि कालिदास वैष्णव थे, तथापि वे सवत्र शैव ही प्रसिद्ध हैं । वस्तुत कालिदास की रचनाओ से यद्यपि वे शैव ही माने जाते है कि तु कालिदास की सभी देवताओ पर एक-सी ही आस्था थी, उन्हे जहा जिस किसी भी देवता के वर्णन का अवसर मिला है वहाँ उन्होने उसका बडी श्रद्धाभक्ति के साथ वणन किया है, वे किसी मत विशेष के कटटर अनुयायी न थे ।

मातलि—और क्या, अर्थात् आपका कथन सत्य है ।

राजा—(पास जाकर) इन्द्र का सेवक दुष्यन्त आप दोनो को प्रणाम करता है ।

मारीच—पुत्र, चिर जीवी हो, पथिवी का पालन करो ।

अदिति—पुत्र,,अद्वितीय महारथी बनो ।

शकुन्तला—पुत्र सहित मैं आप दोनो की चरणवन्दना करती हूँ ।

मारीच—पुत्री,

आखण्डलेति अन्वय—भर्ता आखण्डलसम , सुत जयन्तप्रतिम , पौलोमीसदृशी भव, अन्या आशी ते योग्या न ।

शब्दार्थ—भर्ता=तुम्हारा पति, आखण्डलसम =इन्द्र के समान है, सुत =पुत्र सवदमन, जय तप्रतिम —इन्द्रपुत्र जयन्त के समान है, पौलोमीसदृशी भव=तुम भी इन्द्राणी के समान बनो, अन्या आशी —इसके अतिरिक्त अन्य कोई आशीर्वाद, ते योग्या न=तुम्हारे योग्य नही है ।

अनुवाद—तुम्हारा पति दुष्यन्त इन्द्र के समान है, और तुम्हारा पुत्र सर्वदमन, इ द्र पुत्र जय त के तुल्य है, तुम इन्द्राणी के समान बनो, इसके अतिरिक्त अन्य कोई आशीर्वाद तुम्हारे योग्य नही है ।

अदिति—जाते, भर्तुर्बहुमता भव । अयं च दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु । उपविशत । [जादे, भत्तुणो बहुमदा होहि । अअं च दहुऊ वच्छओ उहअकुणन्दणो होदु । उववसिह ।]

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति)

मारीच—(एकैकं निर्दिशन्)

दिष्टया शकुन्तला-माध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ।।२९।।

भावार्थ—महर्षि मारीच कहते हैं कि वत्से, तुम्हारा पति इन्द्र के समान है, और तुम्हारा पुत्र, इन्द्र के पुत्र जयन्त के समान है, इसलिए तुम्हारे लिए अन्य कोई आशीर्वाद उपयुक्त नहीं है, केवल यही कि तुम भी इन्द्राणी के समान तेजस्विनी एवं ऐश्वर्यशालिनी बनो ।

विशेष—तृतीयपादगत अर्थ के प्रति पूर्ववाक्यद्वयगतार्थ हेतु है अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है । उपमा, अनुप्रास, तथा अनुष्टुप् छन्द है । आशंसा नामक नाट्यालंकार एवं वात्सल्य भाव है । "आशंसनं स्यादाशंसा" ।

संस्कृत व्याख्या—भर्ता=पतिः दुष्यन्तः, आखण्डलसमः=इन्द्र सदृशः, सुतः=तव पुत्रः सर्वदमनः, जयन्तः इन्द्रपुत्रः प्रतिमा उपमा यस्य सः—जयन्तप्रतिमः=जयन्त समः, (अतः) ते=तव सम्बन्धे, अन्या=एतद्व्यतिरिक्ता, आशीः=शुभाशंसावचनम, न योग्या=नोपयुक्ता । (अतः त्वम्) पौलोमीसदृशी भव=शचीतुल्या भव ।

संस्कृत सरलार्थ—मारीचः कथयति, ते पतिः दुष्यन्तः इन्द्रसदृशः अस्ति, तव सुतश्च जयन्तसदृशः अस्ति । अतस्तव विषयेऽन्या आशीः नोपयुक्ता, त्वमपि इन्द्राणी-तुल्या भवेति, यथेन्द्राणी सदैवाविधवा पत्याविवियुक्ता तिष्ठति तथैव त्वमपि भवेति ।

टिप्पणी

वासवनियोज्यः—इन्द्रस्याज्ञाकारी सेवकः । **अप्रतिरथ**—प्रतिकूलः रथः प्रतिरथः, न विद्यते प्रतिरथः यस्य अप्रतिरथः—अप्रतिद्वन्द्वी । **आखण्डलसमः**—आखण्डलेन समः । इन्द्र के समान सर्वगुणसम्पन्न । **पौलोमीसदृशी**—पौलोम्या सदृशी—इन्द्राणी के तुल्य सदा सौभाग्यवती रहो । **योग्या**—युज+ण्यत—टाप् । **पौलोमी**—पुलोमन नामक राक्षस की पुत्री थी, इन्द्र ने पुलोमन् का वध किया था । "पुलोमानं जघाना जौ जामाता सन् शतक्रतुः" हरिवंश ।

अदिति—पुत्री, पति की बहुमानीया बनो, और यह चिर जीवी बालक दोनों कुलों को आनन्दित करने वाला हो । तुम सब बैठो ।

(सभी प्रजापति के चारों ओर बैठ जाते हैं)

मारीच—(एक-एक को निर्देश करते हुए)

दिष्ट्येति—साध्वी शकुन्तला, इदं सदपत्यम्, भवान्, दिष्ट्या श्रद्धा वित्तं विधिः च इति तत् त्रितयं समागतम् ।

राजा—भगवन्, प्रागभिप्रेतसिद्धि । पश्चाद् दर्शनम् । अतोऽपूर्व खलु वोऽनुग्रह । कुत —

शब्दार्थ—साध्वी=सच्चरित्रा, इद सत् अपत्यम्=यह सद्गुणसम्पन्न पुत्र, भवान्=और आप दुष्यन्त, दिष्ट्या=सौभाग्यत , श्रद्धा=आस्तिक्य बुद्धि, वित्तम=धनसग्रह, विधि =शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान, इति तत् त्रितयम्=ये तीनो चीजे, समागतम्=एक स्थान पर मिल गई हैं ।

अनुवाद—यह सच्चरित्रा पतिव्रता शकुन्तला, यह सद्गुणी पुत्र और आप, सौभाग्य से श्रद्धा, धन और विधि ये तीनो ही एक स्थान पर मिल गये हैं ।

भावार्थ—यह बडे सौभाग्य की बात है कि आज यहाँ पर पतिव्रता शकुन्तला, श्रेष्टपुत्र और आप, ये तीनो इस प्रकार मिल गये है, जैसे श्रद्धा, धन और शास्त्र-विहित कर्मानुष्ठान एक साथ मिल जाते हैं ।

विशेष—यहाँ श्रद्धा आदि का कल्पित सादृश्य वर्णित होने से असम्भवद् वस्तु सम्बधलक्षणा निदर्शनालकार, यथासख्यालकार अनुष्टुप् छन्द है ।

सस्कृत व्याख्या—साध्वी—सच्चरित्रा पतिव्रता, शकुन्तला, इदम् सत अपत्यम्=अय स पुत्र , भवान=तथा भवान् दुष्यन्त । दिष्ट्या=सौभाग्यत , श्रद्धा—भक्ति , वित्तम—धन विधि =कर्मानुष्ठानम, च इति तत् त्रितयम्=एतत वस्तुत्रयम्, समागतम=एकत्र सम्मिलितम् ।

सस्कृत सरलार्थ—श्रद्धया धनेन विधिना च मिलित्वैव स्वर्गादिफलप्रदा यज्ञानुष्ठानादिधमा साध्यन्ते नान्यथा, पर मेतेषा सदैव योग सुदुलभ एव जायते, यदि सौभाग्यत कदाचिदेतत्त्रय कुत्रापि लभ्यते तर्हि मनोरथसिद्धौ न कापि सशीति जयिते । अत्र श्रद्धारूपिणी शकुन्तला, धनस्वरूप पुत्र एव विधिरूपो दुष्यन्त , सौभाग्यत एतत्त्रय समागतम्, अत सवमनोरथ सिद्धिभविष्यतीति निश्चय ।

टिप्पणी

उभयकुल=मातृकुल और पितृकुल । **नन्दन**—नन्दिधातो ल्यु अन् आनन्दित करने वाला । **श्रद्धा**—शास्त्रो एव पूज्यजनो पर दृढ विश्वास और अनुराग । **विधि**—शास्त्रप्रतिपादित विधि के अनुसार कर्मानुष्ठान । **त्रितयम्**—त्रिशब्द से सख्याया अवयवे तयप । कवि के इस साम्य मे लिंग साम्य भी द्रष्टव्य है, कवि, यज्ञादिकर्मानुष्ठान के पूण साफल्य, के लिए, श्रद्धा, धन एव विधि इन तीनो को ही आवश्यक बतलाया है, जिस कम मे इनमे से एक का भी अभाव होगा वह कार्य पूणत सफल न हो सकेगा । कवि के इस श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि वह उस समय वतमान था जब कि देश मे यज्ञो का पूर्णत प्रचलन था और शास्त्रो पर लोगो की पूण श्रद्धा थी, शुभ शकुन और भाग्य पर लोगो की आस्था थी ।

राजा—भगवन, पहले तो अपने मनोरथ की सिद्धि हुई (पत्नी और पुत्र की प्राप्ति रूप मेरी अभीष्ट सिद्धि हुई) इसके बाद आपका दशन हुआ । वस्तुत दर्शन

उदेति पूर्वं कुसुम तत फल,
घनोदय प्राक् तदनन्तर पय ।
निमित्तनैमित्तिकयोरय क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पद ॥३०॥

के पश्चात तत्फलस्वरूप अभीष्ट सिद्धि होनी चाहिए थी, क्योकि कारण के पश्चात् ही कार्य उत्पन्न होता है, कि तु यहा इसके विपरीत ही हुआ । अत आप लोगो का यह अनुग्रह बडा ही अद्भुत है । क्योकि—

उदेतीति—पूवम् कुसुमम् उदेति, तत फलम । प्राक घनोदय तदनन्तरम् पय । निमित्तनमित्तिकयो अयम् क्रम, तव प्रसादस्य तु पुर सम्पद ।

शब्दार्थ—पूवम्=पहले, कुसुमम्=पुष्प, उदेति=निकलता है, तत फलम्=तब उसमे फल लगता है । प्राक=पहले घनोदय =मेघो का उदय होता है । तदनन्तरम् पय =इसके उपरान्त जल बरसता है । निमित्त नैमित्तिकयो =कारण और कार्य का, अयम् क्रम =यह क्रम होता है अर्थात पहले कारण और तब कार्य होता है । तव प्रसादस्य तु पुर सम्पद =किन्तु (कारण रूप) आपके अनुग्रह के पूव ही, (कार्य रूप) सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

अनुवाद—पहिले पुष्प निकलता है, तब फल लगता है, पहले मेघो का उदय होता है, इसके बाद जल बरसता है, कारण और कार्य के बीच यही क्रम रहता है अर्थात् कारण के बाद काय होता है, किन्तु (कारण रूप) आपके अनुग्रह के पूव ही (काय रूप) सम्पत्तियाँ प्राप्त हो गई हैं, अत आपका अनुग्रह अपूर्व है ।

भावार्थ—कार्य और कारण के बीच, नियमत कारण की स्थिति पहले होती है और तब उस कारण से ही काय की उत्पत्ति होती है, फल का कारण पुष्प होता है अतएव वृक्षादि मे पुष्प पहले होता है तदनु उसमे फल लगता है, जल वर्षा का कारण मेघो का उदय होना है अतएव पहले मेघ आते हैं इसके बाद वर्षा होती है । परन्तु काय कारण की इस स्थिति के विपरीत ही आपके अनुग्रह और फल प्राप्ति की परिस्थिति है, पत्नी और पुत्र की प्राप्ति तो मुझे पहले हो गई पर आप का अनुग्रह बाद मे प्राप्त हुआ, आप जैसे महर्षियो के अनुग्रह मे यही अपूवता है ।

विशेष—यहाँ प्रथम दो वाक्यार्थ तृतीय वाक्यगत अथ के प्रति हेतु हैं अत वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलकार है । चतुर्थपाद मे काय कारण का व्यतिक्रम बतलाया गया है अत अतिशयोक्ति अलकार है । दोनो के परस्पर निरपेक्ष होने से ससृष्टि है, उदेति क्रिया का अयन्त्र भी अन्वय होने से क्रियादीपक अलकार है । शकुन्तला और पुत्र न कह कर 'सम्पद कहने से अप्रस्तुतप्रशसालकार है । कोई आचाय यहाँ दृष्टान्त अलकार मानते हैं । छेक, वृत्ति, अनुप्रास, वशस्थ नामक छन्द है । विस्मय

मातलि —एव विधातार प्रसीदन्ति ।

राजा—भगवन्, इमामाज्ञाकरी वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित् कालस्य गन्धुभिरानीता स्मृतिशैथिल्यात् प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य । पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वा तद्दुहितरमवगतोऽहम् । तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति ।

भाव । यहा मधुर नामक नाट्य लक्षण है । सा० द० मे विश्वनाथ ने इसे प्रियोक्ति नामक नाटकीय लक्षण का उदाहरण दिया है "स्यात् प्रमाणयितु पूज्य प्रियोक्ति र्हषभाषणम्" ।

सस्कृत व्याख्या—पूवम्=प्रथमम्, कुसुमम्—पुष्पम्, उदेति=उद्गच्छति, तत—कारणरुप पुष्पोद्गमनानन्तरम्, फलम=तत्कायरुप वृक्षादिषु फल जायते । प्राक्—प्रथमम्, घनाना मेघानाम् उदय आगम —घनोदय, तदनन्तरम्, तत्पश्चात्, पय —वृष्टि भवति । निमित्तनैमित्तकयो —निमित्तस्य कारणस्य नैमित्तिकस्य कार्यस्य च, अयम क्रम =अय नियम पौर्वापयक्रम आनुपूर्वी वा भवति । तव—मारीचस्य, प्रसादस्य—अनुग्रहस्य, तु=किन्तु, पुर =पूवमेव, सम्पद =कायरुपपुत्रकलत्रावाप्तिरुपसम्पत्तय सन्ति ।

सस्कृत सरलाथ—कायकारणयो पौर्वापयक्रम एवविधो भवति यत् कारण पूर्व भवति, कारणानन्तर मेव कार्य जायते, यथा पुष्पोद्गमानन्तर फलागम मेघोदयानन्तर वर्षागमा भवति, पर मारीचस्यानुग्रह रुपकारणात् पूवमेव राज्ञ पुत्रकलत्रावाप्तिरूप काय मजायत, अतएवा पूर्वोऽय तस्यानुग्रह आसीत् ।

टिप्पणी

अभिप्रेत सिद्धि—अभिप्रेतस्य अभीष्ट पदाथस्य सिद्धि प्राप्ति—पुत्रकलत्रावाप्तिरुपाभीष्टार्थ प्राप्ति । **अपूव** =अनुपम । **निमित्त नैमित्तिकयो**—निमित्त च नैमित्तिक च तयो । निमित्त+ठक् ।

मातलि—भाग्यविधाता लोग इसी प्रकार कृपा करते हैं ।

राजा—भगवन्, आपकी आज्ञाकारिणी इस शकुन्तला के साथ गान्धवविवाहविधि से विवाह करके, कुछ समय बाद, बन्धुजनो द्वारा मेरे पास ले आई गई इसका स्मरणशक्ति की दुबलता के कारण परित्याग करते हुए मैंने आपके वशज पूजनीय कण्व ऋषि का अपराध किया है, इसके बाद अँगूठी के मिलने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने पहले उनकी पुत्री के साथ विवाह किया था । यह बात मुझे आश्चर्यजनक सी प्रतीत होती है ।

**यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥३१॥**

यथेति—यथा समक्षरूपे गज न इति, तस्मिन् अपक्रामति सशय स्यात् । पदानि दृष्ट्वा तु प्रतीति भवेत् तथाविध मे मनस विकार ।

शब्दार्थ—यथा=जैसे, समक्षरूपे=प्रत्यक्षत सामने होने पर, गज न इति= यह मान लिया जाय कि यह गज नही है । तस्मिन् अपक्रामति=उसके चले जाने पर, सशय स्यात्=यह सन्देह हो कि सम्भवत वह गज ही था । पदानि दृष्टवा तु प्रतीति भवेत्=उसके पदचिन्हो को देखकर (उसके होने का) विश्वास हो । तथाविध वे मनस विकार आसीत=उसी प्रकार का मेरे मन का विकार था ।

अनुवाद—जैसे प्रत्यक्षत सामने होने पर तो यह मान लिया जाय कि यह गज नही है और उसके चले जाने पर यह सन्देह हो कि सम्भवत वह गज ही था, पुन उसके पद चिन्हो को देखकर यह विश्वास हो कि वह निश्चयत गज ही था, इस प्रकार का ही वह मेरे मन का विकार था ।

भावार्थ—राजा कहता है कि मेरे मन का वह विकार जिससे बाध्य हो मैंने शकुन्तला का परित्याग किया था वैसा ही था जैसा कि किसी व्यक्ति को गज के सामने उपस्थित होने पर तो यह समझ लिया जाय कि वह गज नही है, और जब वह चला जाय तब यह सन्देह हो कि सम्भवत वह गज ही था और फिर उसके पदचिन्हो को देखकर यह पूरा विश्वास हो जाय कि वह गज ही है । तात्पय यह कि जब शकुतला स्वय मेरे सामने उपस्थित हुई तब तो मुझे यह ज्ञात हुआ कि यह मेरी भार्या नही है, उसके चले जाने पर यह सन्देह हुआ कि क्या मैंने कभी इसके साथ विवाह भी किया था । इसके बाद अँगूठी देखकर यह निश्चय हुआ कि वास्तव मे वह मेरी भार्या ही थी ।

विशेष—असम्वद्वस्तुसम्बन्धलक्षणा निदशना अलकार, अनुप्रास, उपजाति छन्द, अद्भुत रस, "कुर्यान्निवहणेद्ऽभुतम्" इस उक्ति के अनुसार निवहण सन्धि मे अद्भुत रस होना चाहिये ।

सस्कृत व्याख्या—यथा—येन प्रकारेण, समक्ष प्रत्यक्ष रुपम् स्वरुप यस्य तस्मिन् —समक्षरुपे, (गजे) (अयम्) गज न इति=गजो नास्ति, इति विश्वासो भवेत्, तस्मिन्=गजे, अपक्रामति=दूर गते सति, सशय स्यात=सन्देहो भवेत् । पदानि दृष्ट्वा=भूमौ तस्य पदचिन्हानि निरीक्ष्य, प्रतीति =विश्वास भवेत, यत स गज एवासीत् । तथाविध =तादृश एव, मे=दुष्यन्तस्य, मनस =चेतस, विकार =विभ्रम आसीत्=था ।

मारीच —वत्स, अलमात्मापराधशङ्कया। सम्मोहोऽपि त्वय्यनुपपन्न ।
श्रूयताम्—

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीच -यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात् प्रत्यक्ष-वैक्लव्या शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयक-दर्शनावसान ।

संस्कृत सरलार्थ—यथा प्रत्यक्षतः समुपस्थिते गजे विश्वासोऽयं जायेत यदयं नास्ति गज, तस्मिन दूरं गते सति सन्देहो भवेत्। तदनु भूमौ तस्य पदचिन्हानि निरीक्ष्य दृढो विश्वासो जायेत यद् वस्तुत स गज एवासीत्। सादृश एव मम चित्तस्य विभ्रम आसीत्।

टिप्पणी

विधातार —वि+धा+तृच्, भाग्य विधाता, भाग्य को अपनी इच्छानुसार चलाने वाले मारीच सदृश ऋषिजन। **प्रसीदन्ति**—प्र+सद लट=प्रसन्न होते हैं। **आज्ञाकरीम्**—आज्ञाकारिणीम् सेविकामित्यर्थ आज्ञा+कृ "कृञोहेतुताच्छील्येत्यादिना ताच्छील्यार्थेट (अ) प्रत्यय ङीप्। **उपयम्य**—उप=यम्+क्त्वा=ल्यप्—विवाह करके। **कस्यचित् कालस्य**=कुछ समय बाद **अपराद्ध** —अप+राध्+क्त—अपराध किया था। **सगोत्रस्य**=समान गोत्र यस्य तस्य। मारीच पुत्र मारीच को कश्यप भी कहा गया है और महाभारत मे महर्षि कण्व को काश्यप भी कहा गया है इससे स्पस्ट है कि कश्यप गोत्रीय होने से ही कण्व काश्यप कहलाते थे। महर्षि मरीचि कश्यप वश के प्रवतक थे अत युष्मत्मगोत्रस्य का इस प्रकार विग्रह किया जाना ठीक होगा, गोत्रेण सहित सगोत्र त्व सगोत्र यस्य तस्य अर्थात् आप जिस वश के प्रवर्तक हैं। **यथेति**—श्लोक मे राजा ने बुद्धि की तीन अवस्थाओ का निर्देश किया है—शकुन्तला के प्रत्यक्षत उपस्थित होने पर राजा कहता है—"चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरण मित्यादि। और उसके चले जाने पर वह सन्देह करता है "सदिग्ध बुध्दि मा कुर्वन, मूढ स्यामहमेषा वा" इत्यादि, अन्त मे अगूठी प्राप्त कर दृढ विश्वास करता है "अगुलीयकदशनादनुस्मृतम् इत्यादि" इसी बात को गज के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया गया है। **अपक्रामति**—अप+क्रम्+शतृ।

मारीच—पुत्र, अपने अपराध की शका करना व्यर्थ है, अर्थात् तुम्हे अपने को अपराधी न समझना चाहिए। चित्त भ्रम या मनोविकार भी तुम मे सम्भव अर्थात् उचित नही। सुनिये—

राजा—मैं सावधान हूँ।

मारीच—ज्योहि अप्सरस्तीथ घाट से अत्यधिक व्याकुल शकुन्तला को लेकर मेनका दाक्षायणी के पास आई, उसी समय मैंने ध्यान से जान लिया था कि दुर्वासा के

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि ।

शकुन्तला—(स्वगतम्) दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्र । न खलु शप्तमात्मान स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदित । अत सखीभ्या सन्दिष्टास्मि भर्तृ रङ्गुलीयक दर्शयितव्यमिति । [दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो । ण हु सत्त अत्ताण सुमरेमि । अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो । अदो सहीहि सट्ठिम्हि भत्तुणो अगुलीअअ ऽइदव्व त्ति ।]

मारीच—वत्से, चरितार्थासि । तदिदान सहधर्मचारिण प्रति न त्वया मन्यु कार्य । पश्य—

शाप से यह बेचारी सहधमचारिणी तुम्हारे द्वारा निराकृत हुई है, अन्यथा नही, और वह शाप अँगूठी के देखते ही समाप्त होने वाला था ।

राजा—(लम्बी सास लेकर) अब मैं लोकनिन्दा से मुक्त हो गया हू ।

शकुन्तला—(मन मे) यह सौभाग्य की बात है कि आय पुत्र ने बिना कारण मेरा परित्याग नही किया था, वस्तुत मुझे स्मरण नही है कि मुझे कभी शाप दिया गया था, अथवा मुझे शाप दिया तो गया था किन्तु विरह से शू य हृदया होने के कारण मैं उस शाप को नही जान पाई थी, इसीलिए मेरी सखियो ने मुझसे विशेष रूप से कहा था कि पति को अपनी यह अँगूठी दिखा देना ।

टिप्पणी

आत्मापराध—आत्मन अपराधस्य शङ्का तया । अलमिति योगे तृतीया । **अनुपपन्न**—असम्भव या अनुचित । न उप+पद्+क्त, अर्थात् तुम्हारे जैसे व्यक्ति मे अकारण चित्त भ्रम उत्पन्न होना भी सम्भव नही था । **अवतरणात्**—घाट से, अवतार भी इसी अथ का वाचक है । **प्रत्यक्षवैक्लव्याम्**—वैक्लव्य—विकलता, अर्थात् जिसकी व्याकुलता प्रत्यक्ष देखी जा सकती थी, व्याकुलता मानसिक ही नही शरीरत भी प्रकट हो रही थी ।

ध्यानात्—प्रणिधान से । मारीच द्वारा शाप की बात स्पष्ट कर देने से राजा अपने को निर्दोष समझने लगा था और शकुन्तला ने भी राजा को निर्दोष मान लिया था जो कि दोनो के भावी प्रेम के लिए आवश्यक था । कवि द्वारा यह शापकल्पना नायक को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए आवश्यक थी ।

अगुलीयक—अङ्गुलीयकस्य दर्शनम् अवसान यस्य स । अव+सो (सा) ल्युट्—अवसान=समाप्ति ।

मारीच—पुत्री, तुम चरितार्था-सफल मनोरथा हो, अर्थात् तुम्हारा मनोरथ अब पूर्ण हो गया है । अब तुम्हे अपने सहधर्मचारी पति के प्रति क्रोध न करना चाहिए, देखो—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे,
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥३२॥

शापादिति—शापात् स्मृतिरोधरूक्षे भर्तरि प्रतिहता असि अपेततमसि (तस्मिन्) तव एव प्रभुता। मलोपहतप्रसादे दर्पणतले छाया न मूर्च्छति शुद्धे तु सुलभावकाशा।

शब्दार्थ—शापात्=शाप के कारण, स्मृतिरोधरूक्षे=स्मरण शक्ति के रुक जाने से निष्ठुर, भर्तरि=पति के होने पर, प्रतिहता असि=तुम तिरस्कृत हुई थी। अपेततमसि भर्तरि=जिसका आज्ञानान्धकार दूर हो गया है ऐसे पति पर (अब) तव एव प्रभुता=तुम्हारी ही प्रभुता रहेगी। मलोपहतप्रसादे दर्पण तले=मैल के कारण जिसकी स्वच्छता नष्ट हो गई है ऐसे दर्पण पर, छाया न मूर्च्छति=प्रतिबिम्ब स्पष्ट नही दिखाई पडता है। शुद्धे तु=स्वच्छ दर्पण पर तो, सुलभावकाशा=प्रतिबिम्ब साफ दिखलाई पडेगा।

अनुवाद—अपने पति के, शापवश, स्मृति निरोध के कारण कठोर हो जाने पर तुम तिरस्कृत हुई थी। अब उस शाप ज य अज्ञान के नष्ट हो जाने पर पति पर तुम्हारी ही प्रभुता रहेगी। मैल से विनष्ट स्वच्छता वाले दर्पण पर प्रतिबिम्ब नही पडता, पर उसी शुद्ध स्वच्छ दर्पण पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पडने लगता है।

भावार्थ—मारीच कहते हैं कि दुर्वासा शाप के कारण पहले तुम्हारे पति की स्मरण शक्ति नष्ट हो गई थी इसीलिए यह तुम्हारे प्रति इतने कठोर हो गये थे और फलत तुम उनके द्वारा तिरस्कृत हुई थी। किन्तु अब उस शाप का प्रभाव समाप्त हो गया है इसलिए अब तुम्हारे पति पर तुम्हारा ही पूर्ण अधिकार रहेगा। इसी बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि धूलि आदि से मलिन होने के कारण जब दर्पण की स्वच्छता नष्ट हो जाती है तब उस पर प्रतिबिम्ब साफ दिखाई नही पडता किन्तु जब वह स्वच्छ होता है तब उस पर वही प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पडने लगता है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे कुछ टीकाकारो ने त्वम् और छाया, भर्ता और दर्पणतल, स्मृतिरोधरूक्ष और मलोपहतप्रसाद, प्रतिहता और न मूर्च्छति, अपेततमस् और शुद्ध, प्रभुता और सुलभावकाशा। इन सब मे तुलना करके **उपमालकार** माना है, पर उपमा की यह कल्पना समीचीन नही, इससे तो **दृष्टान्त** अलकार ही यहाँ स्पष्ट है इसी प्रकार **प्रतिवस्तूपमालकार** की कल्पना भी अस्पष्ट है। छाया की स्पष्ट अभिव्यक्ति मे शुद्धता हेतु है, अत **काव्यलिङ्ग** अलकार है। "भर्तरि प्रभुता तवैव" इस कथन मे असम्बन्ध मे सम्बन्ध लक्षणा **अतिशयोक्ति** अलकार है, क्योकि प्रभुता, भर्ता मे ही रहती है, पत्नी मे नही "यो भर्ता स प्रभु या वनिता सा गुणभूता" इस शास्त्र वचन के अनुसार पति ही प्रभू और प्रधान तथा भरण पोषण करने वाला होता है, भार्या

राजा—यथाह भगवान् ।

मारीच—वत्स, कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेय ?

राजा—भगवान् अत्र खलु मे वशप्रतिष्ठा ।

(इति बाल हस्तेन गृह णाति ।)

गौण होती है क्योकि वह पति द्वारा भरणीया होती है । कवि ने यहा प्रभुत्व और भतृत्व को अलग-अलग आश्रयो मे बतलाया है, जबकि नियमत दोनो का आश्रय एक होना चाहिए अत यहा असगति अलकार ही है, दोनो मे अड गाड्गीभाव है ।

सस्कृत व्याख्या—शापात=महर्षिणा दुर्वाससा दत्तात शापात् स्मृते स्मरणशक्ते रोधात् भ्रशात अवरोधात् वा रुक्ष निष्ठुर तस्मिन्—स्मतिरोधरुक्षे, भतरि—दुष्य ते सति, प्रतिहता असि=तिरस्कृता असि (पञ्मध्ना) अपेत दूरीभूत तम शापजन्याज्ञानान्धकारो यस्मात तस्मिन—अपेततमसि= प्रकृतिस्थे भतरि इत्यथ, तव एव प्रभुता=तव शकुन्तलाया एव स्वाम्यत्वम्, प्रभुत्व मधिकारी वा न त्वन्यसपत्नीनामिति भाव । मलेन धल्यादिना उपहत विलुप्त प्रसाद स्वच्छता यस्य तस्मिन्—मलोपहतप्रसादे, दर्पणतले—मुकुरतले, छाया=प्रतिविम्वम् न मूच्छति=न प्रसरति, शुद्धे तु=किन्तु निमले दपणतले (सा छाया) सुलभ सुखेन लभ्य अवकाश प्रवेश स्थान वा यस्या सा—सुलभावकाशा (भवति)

सस्कृत सरलाथ—मारीच कथयति, प्रथम तव प्रत्याख्यानस्य कारण दुर्वाससा प्रदत्त शाप एवासीत्, शापवशादेव स्मतिभ्र शात्तव पतिस्त्वा प्रत्याख्यातवान् नान्यथा, अतस्त प्रति न त्वया मन्यु काय । अधुनाअड्गुलीयकदर्शनात स शापो व्यपगत शापान्धकारे दूरीभूतेऽधुना तव भर्तरि दुष्यन्ते तवव प्रभुता भविष्यति नत्वन्यसपत्नीनाम् । धूल्यादिना मलिनीभूते दपणे प्रतिविम्व न प्रसरति, निमले तु दपणे तदेव स्पष्ट निपतति ।

टिप्पणी

चरितार्था—चरित्र सफलीभूत अथ प्रयोजन यस्या सा—सफलमनोरथा । **मूच्छति**—निपतति "शिलोच्चये मूच्छति मारुतस्य" रघु० । **शापात्**—शप+घञ् **प्रतिहता**—प्रति+हन्+क्त टाप् । **शुद्ध**—शुध्+क्त । मन्यु =क्रोध । रोध =रुध्+घञ् । **अपेत**—अप+इण्+क्त । छाया=प्रतिविम्व ।

राजा—भगवन् जैसा आप कहते हैं अर्थात् आप ठीक कहते हैं ।

मारीच—पुत्र, हम लोगो के द्वारा जिसका विधिवत जातकम सस्कार किया गया है ऐसे इस शकुन्तला पुत्र का क्या आपने अभिनन्दन किया ? अर्थात् क्या आपने इसे सहष स्वीकार कर लिया है ?

राजा—भगवन्, इस पुत्र पर ही तो मेरे वश की प्रतिष्ठा निभर करती है ।

(यह कहकर बालक का हाथ पकडता है)

मारीच —तथाभाविनमेन चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य—

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधि ,
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथ
इहाय सत्त्वाना प्रसभदमनात् सर्वदमन ,
पुनर्यास्यत्याख्या भरत इति लोकस्य भरणात्।।३

मारीच—आप इसे उसी प्रकार का होने वाला अर्थात् वश प्रतिष्ठाका चक्रवर्ती सम्राट् समझे, देखिये—

रथेनेति अ वय —अप्रतिरथ अयम् अनुद्धातस्तिमितगतिना रथेन तीणजलधि पुरा सप्तद्वीपाम् वसुधाम् जयति । इह सत्त्वानाम् प्रसभदमनात् सवदमन , पुन लोक भरणात भरत इति आख्याम् यास्यति ।

शब्दार्थ—अप्रतिरथ अयम्=अप्रतिद्वन्द्वी अर्थात् अद्वितीय वीर यह (बाल अनुद्धातस्तिमित गतिना=झटके या धक्के से रहित और शान्त गति वाले, रथेन रथ से, अर्थात् रथाकार आकाशयान से, तीर्णजलधि=समुद्रो को पार करने वा (होकर), पुरा सप्तद्वीपाम् वसुधाम् जयति=भविष्य मे सात द्वीपो वाली पृथिवी जीतेगा । इह अयम=यहाँ (इस तपोवन मे) यह बालक, सत्त्वाना प्रसभदमनात् वन्य जीवो के बलात् दमन करने के कारण, सवदमन=इसका नाम सवदमन थ पुन=पर भविष्य मे, लोकस्य भरणात्=लोको का भरण पोषण करने के कार भरत इति आख्याम् यास्यति=भरत इस नाम को प्राप्त करेगा ।

अनुवाद—अद्वितीय महारथी यह बालक, (भूतल का स्पर्श न होने के कार झटके या धक्के से रहित एव शान्त गति वाले रथ अर्थात् रथाकार आकाशयान समुद्रो को पार करने वाला (होकर) भविष्य मे सप्तद्वीपो वाली पृथिवी को जीतेग यहाँ इस तपोवन मे यह बालक, वन्यजीवो का बलात् दमन करने के कारण सर्वद नाम वाला था कि तु भविष्य मे लोको का भरण पोषण करने के कारण, भरत नाम को प्राप्त करेगा ।

भावार्थ—महर्षि मारीच कहते हैं कि यह बालक अद्वितीय महारथी होगा, अपने रथाकार उस विमान द्वारा, जिसमे कि भूतल स्पर्श न होने के कारण धक्के लगते हो और जो शान्त गति से चलने वाला हो, समुद्रो को पार करके भविष्य सप्तद्वीप वसुधा को जीतेगा । यहाँ यह सर्वदमन इस नाम से इस लिये पुकारा जा है क्योकि यह बलात् वन्य जीवों का दमन करने वाला है किन्तु भविष्य मे यह लो का भरण पोषण करने वाला होगा, अत इसका नाम भरत पडेगा ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे भावी विजय का उल्लेख होने से भाविक अलक "प्रत्यक्षा इव यत्रार्था क्रियन्ते भूतभाविन तद् भाविकम्" काव्यलिङ्ग, छेक, वृ अनुप्रास, तथा शिखरिणी नामक छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—न विद्यते प्रतिरथ प्रतिद्वन्द्वी प्रतियोद्धा रथ यस्य स —अप्रतिरथ —अद्वितीयो वीर, अयम्=पुर स्थितो बालक, न उद्घाता अनुद्घाता अभूतलस्पर्शात् प्रतिघातरहिता (अतएव) स्तिमिता निश्चला शान्ता वा गति गमन यस्य तेन—अनुद्घातस्तिमितगतिना, रथेन=रथाकारेण आकाशयानेन, तीर्णा समुत्तीर्णा जलधय, समुद्रा येन स—तीर्णजलधि पुरा=आगमिनि काले, सप्तद्वीपाम्=जम्वुप्लक्षादिसप्तद्वीपसमन्विताम् वसुधाम्=पृथिवीम् जयति=जेष्यति। इह=अत्राश्रमे, सत्त्वानाम्=सिंहादिवन्यजन्तूनाम् प्रसभदमनात् (प्रसभ वलात् दमन शासन तस्मात्' वलाद् दमनकारणात्, सवदमन =सवदमन इतिनामधेय अस्ति। पुन =भूय लोकस्य=भुवनस्य, भरणात्=पालनात्, भरत इति आख्याम्=भरत इति नामधेयम् यास्यति=प्राप्स्यति।

संस्कृत सरलार्थ—मारीच कथयति—अय ते पुत्र अद्वितीयो वीरो भविष्यति। अय मस्खलितनिष्कम्पगतिना आकाशयानेन समुद्रान् समुत्तीय आगामिनि काले सप्तद्वीपसमन्विताम् पृथिवी जेष्यति, अत्राश्रमे त्वय सिंहादिवन्यजन्तूना वलाद् दमनकारणात् सवदमन इत्याख्यायते पर मागामिनि काले लोकभरणाद्य भरत इत्याख्यां प्राप्स्यति।

टिप्पणी

कच्चित्—प्रश्न सूचक अव्यय। **शाकुन्तलेय**—शकुन्तलाया अपत्य पुमानित्यर्थे शकुन्तला शब्दात् 'स्त्रीभ्या ढक्' इति ढक प्रत्यय, (एय)। **तथाभाविनम्**—जो भविष्य से वैसा हो अर्थात् वशप्रतिष्ठाकारक होगा। अवश्य तथाभवतीति तथाभावी—तम्, तथा+भू+कर्तरि आवश्यकके णिनि। **रथेन**—यहाँ रथ पद से रथाकार विमान से तात्पय है, क्योकि साधारण रथ से समुद्रो को पार नही किया जा सकता था, इसी प्रकार के रथ का उल्लेख रघुवश मे कवि ने किया है "वसिष्ठ मन्त्रोक्षणजात् प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु। मरुत्सखस्येव वलाहकस्य गति विजघ्ने नहि तद्रथस्य"। **अनुद्घात्**—न उद्घात अनुद्घात 'ययावनुद्घातसुखेन मार्गम्" रघु०। **सप्तद्वीपाम्**—सात द्वीपो वाली—सात द्वीप—जम्वु, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक, और पुष्कर, सम्पूण पृथ्वी का इन सात द्वीपो मे विभक्त माना गया था, एक द्वीप के बाद एक समुद्र इसे विभक्त करता है, इन द्वीपो मे जम्वुद्वीप प्रमुख एव मध्य भाग मे माना जाता है 'जम्बुद्वीप प्रधानोऽय प्लक्ष शाल्मलिरेव च। कुश क्रौञ्चश्च शाकश्च पुष्करश्चैव सप्तम। एते सप्त महाद्वीपा समुद्रै सप्तभिर्वृता। अन्यत्र ९ और अठारह द्वीप भी माने गये हैं, अष्टादशद्वीपनिखातयूप (रघु०) पुरा जयति=यावत्पुरानिपातयो लट्। आलोके ते निपतति पुरा (मेघदूत) **अनुद्घात**—नञ्+उत्+हन्+घञ्, **तीर्ण**—तृ+क्त। **भरणात्**—भृ+ल्युट्। **भरत**—भरति अथवा विभर्ति इति भरत, इसी नाम के कारण इस देश का नाम भारत या भारतवर्ष पडा है 'भरणाच्च प्रजाना वै मनुभरत उच्यते" यद्यपि इस पुराण वचन से मनु को भी भरत कहा गया है तथापि शाकुन्तलेय

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन् वयमाशास्महे ।

अदिति —भगवान् अस्या दुहितृमनोरथसम्पत्त्ये कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम् । दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति । [भअवं, इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु । दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठदि]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या । [मणोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए ।]

मारीच —तपः प्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः ।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः ।

मारीच —तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

शिष्य —भगवन्, अयमस्मि ।

मारीच —गालव इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात् तत्भवते

भरत से ही इस देश का नाम भारत मानना अधिक उचित है। "शकुन्तलया भरतो यस्य नाम्नास्य भारता" हरिवंश ।

राजा—आपके द्वारा जिसका संस्कार किया गया है, ऐसे इस पुत्र से हम सभी बातों की आशा करते है ।

अदिति—भगवन् पुत्री की इस मनोरथ सिद्धि के विस्तृत समाचार से कण्व को भी विदित करा देना चाहिये। पुत्री वत्सला मेनका तो (हम लोगों की) सेवा करती हुई यहीं पर है ।

शकुन्तला—भगवती अदिति ने वस्तुतः मेरे ही मन की बात कह दी है ।

मारीच— तप के प्रभाव से माननीय कण्व को सभी बातें प्रत्यक्ष हैं ।

राजा—अतएव मुनि वस्तुतः मुझ पर विशेष क्रुद्ध नहीं हुए हैं ।

मारीच—तो भी यह प्रिय समाचार उन्हे सुनाना ही चाहिये । यहाँ कौन है ।

(प्रवेश करके)

शिष्य—भगवन्, यह मैं हू ।

मारीच—गालव, अभी आकाश मार्ग से जाकर मेरी ओर से माननीय कण्व

कण्वाय प्रियमावेदय यथा—पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति ।

शिष्यः—यथाज्ञापयति भगवान् ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

मारीचः—वत्स, त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व ।

राजा—यथाज्ञापयति भगवान् ।

मारीचः—वत्स, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति । यदीह भगवान् प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु । भरतवाक्यम्—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥३४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

(इति सप्तमोऽङ्कः । समाप्तः)

को यह शुभ समाचार सुनाना—कि पुत्रवती शकुन्तला को, उसका शाप समाप्त हो जाने पर, स्मृतियुक्त दुष्यन्त ने पुनः स्वीकार कर लिया है ।

शिष्य—जैसी आपकी आज्ञा ।

(यह कहकर प्रस्थान)

मारीच—पुत्र, तुम भी अपने पुत्र और पत्नी के साथ अपने मित्र इन्द्र के रथ पर चढ़ कर अपनी राजधानी के लिये प्रस्थान करो ।

राजा—जो आपकी आज्ञा ।

मारीच—पुत्र, इससे अधिक और क्या मैं पुनः आपका उपकार करूँ ।

राजा—क्या इससे भी अधिक और कुछ प्रिय हो सकता है ? यदि आप और प्रिय करना चाहते हैं तो यह भरत वाक्य पूरा हो—

प्रवर्ततामिति-अन्वय—पार्थिव प्रकृतिहिताय प्रवर्तताम्, श्रुतमहताम् सरस्वती महीयताम्। परिगतशक्ति आत्मभू नीललोहित मम अपि च पुनर्भवम क्षपयतु।

शब्दार्थ—पार्थिव =राजा, प्रकृतिहिताय=प्रजाजनो के कल्याण के लिए, प्रवर्तताम्=प्रयत्नशील हो। श्रुतमहताम्=शास्त्रश्रवण द्वारा ज्ञानगरिष्ठ कवियो की, सरस्वती=वाणी (कृति) महीयताम्=पूर्णतया सत्कृत हो। परिगतशक्ति =सर्वशक्ति सम्पन्न, आत्मभू =स्वयम्भू, नीललोहित =शिव, मम अपि=मेरा भी, पुनर्भवम्= पुनर्जन्म, क्षपयतु=क्षीण करें अर्थात् नष्ट करें।

अनुवाद—राजा प्रजाजनो के कल्याण के लिए तत्पर हो, शास्त्रश्रवण से ज्ञान-गरिष्ठ कविजनो की वाणी पूर्ण सत्कार प्राप्त करे, सर्वशक्तिमान् स्वयम्भू भगवान् शिव मेरे भी पुनर्जन्म को निवृत्त करें।

भावार्थ—भारतवाक्य नाम से प्रसिद्ध अन्तिम आशीर्वादात्मक वाक्य के द्वारा राजा कहता है कि राजा प्रजाकल्याण के लिए तत्पर हो, शास्त्रश्रवण से जिन्होंने उच्चकोटि की काव्य क्षमता प्राप्त की है ऐसे कवियो की वाणी सदा समादृत हो और वे भगवान् शिव जो स्वयम्भू एव सर्वशक्ति सम्पन्न हैं, मेरे भी पुनर्जन्म को निवृत्त करें अर्थात् मुझे भी मुक्ति प्राप्त हो।

विशेष-प्रवर्तताम्—यहाँ क्रियादीपक अलकार, श्लेष, वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास, रुचिरा नामक छन्द है "चतुर्ग्रहैरिहरुचिराजभौ सजौग" यहाँ निर्वहण सन्धि का प्रशस्ति नामक अग है "प्रशस्ति शुभशसनम् "अथवा" देवद्विजनृपादीना प्रशस्ति स्यात् प्रशसनम्" अर्थात् जहाँ देव द्विज राजा आदि की मगल कामना की जाय। परमेश्वर विषयक रतिभाव।

संस्कृत व्याख्या—पार्थिव =पृथिवीपति राजा, प्रकृतीना प्रजानां हिताय हितसाधनाय—प्रकृतिहिताय, प्रवर्तताम्=तत्परो भवतु। श्रुतेन शास्त्रश्रवणेन महता ज्ञानगरिष्ठानाम्—श्रुतमहताम्, सरस्वती=वाणी कृति र्वा, महीयताम्—सत्कार लभताम्। परित गता प्राप्ता सर्वतो व्याप्ता शक्तय यस्य स—परिगतशक्ति— परिव्याप्तशक्तिसमन्वित, आत्मभू =स्वयम्भू नीललोहित =शिव, मम—दुष्यन्तस्य अपि, च पुनर्भवम्=पुनर्जन्म, क्षपयतु=नाशयतु, मुक्ति ददातु इत्यथ।

संस्कृत सरलार्थ—भरतवाक्येत्याख्यानेन अन्तिमाशीर्वादात्मकेन वाक्येन दुष्यन्त कथयति—राजा प्रकृतिहितसाधनाय तत्परो भवतु। शास्त्रश्रवणजात ज्ञानेनोत्तमकवीना सरस्वती समादर लभताम्, सर्वशक्तिमान् स्वयम्भू शिव मम दुष्यन्त-स्यापि पुनर्जन्म नाशयतु अर्थात् मुक्ति प्रददातु।

टिप्पणी

प्रवर्तताम्—प्र+वृत्+लोट्=तत्पर हो या प्रयत्नशील बनें। **प्रकृतिहिताय**—प्रकृतीनां हितम् तस्मै—तादर्थ्ये चतुर्थी, अथवा प्रकृतीनां हित कर्तुम् क्रियार्थोप-

पदस्येति कर्मणि चतुर्थी। श्रुतमहताम्—श्रुतेन महान्तस्तेषाम। अन्यत्र श्रुतिमहताम् इति पाठ तत्र श्रुत्या वेदज्ञानेन ये महान्तस्तेषाम्' महीयताम्=गौरव को प्राप्त हो। परिगत-शक्ति—परित गता परिगता प्रादि समास परिगता शक्ति यस्य। नीललोहित= नीलश्चासौ लोहितश्च। पुनर्भवम्—भवतीति भव जन्म, पुन भवस्तम्—पुनर्भवम् पुनर्जन्म। क्षपयतु—नष्ट करे अर्थात् तत्वज्ञान देकर मुक्ति प्रदान करें। आत्मभू—स्वयम्भू यह शब्द ब्रह्मा विष्णु महेश तीनो के लिये प्रयुक्त होता है। भरतवाक्यम्—यह नाटक के अन्त मे आशीर्वादात्मक श्लोक होता है। भरत का अथ नट या अभिनेता होता है अत भरताना वाक्यम्—भरतवाक्यम्, नाटक के अन्त मे अभिनेता मिलकर जनता के लिये मगल कामना करते हैं, अथवा, भरत से तात्पय नाट्यशास्त्रप्रणेता भरत मुनि से है, भरत मुनि के प्रति आदर प्रकट करने के लिये अथवा उनकी स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये यह भरत वाक्य प्रयुक्त होता है।

(सप्तमोऽङ्कः समाप्त)

परिशिष्ट १

प्रक्षिप्त श्लोक

(प्रथम अक मे "वैखानस—हस्तमुद्यम्य' इत्यन आश्रममृगोऽय न हन्तव्यो न हन्तव्य)—

न खलु न खलु बाण. सन्निपात्योऽमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्नि: ।
क्व बत हरिणकाना जीवित चातिलोल
क्व च निशितनिपाता वज्रसारा: शरास्ते ॥१॥

नेति-अन्वय—अस्मिन् मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशौ अग्नि इव अयम् बाण न खलु न खलु सन्निपात्य । बत हरिणकानाम् अतिलोलम् जीवितम् च क्व, निशितनिपाता वज्रसारा ते शरा च क्व ।

शब्दार्थ—अस्मिन् मृदुनि मृगशरीरे=इस कोमल मृग के शरीर पर, पुष्पराशौ अग्नि इव=फूलो के ढेर पर अग्नि के समान, अयम् बाण =यह बाण, न खलु न खलु सन्निपात्य =न चलाना चाहिए, न चलाना चाहिए। बत=खेद की बात है कि, हरिणकानाम अतिलोलम् जीवितम् च क्व=कहाँ तो बेचारे मृगो का अतिचञ्चल जीवन, निशितनिपाता =तीक्ष्ण प्रहार वाले, वज्रसारा =वज्र के समान कठोर, ते शरा च क्व= और तुम्हारे बाण कहाँ ।

अनुवाद—इस कोमल मृग के शरीर पर, फूलो के ढेर पर अग्नि के सदृश, यह बाण न चलाना चाहिए, न चलाना चाहिए, खेद की बात है कि कहाँ तो बेचारे मृगो का अतिचञ्चल जीवन और कहाँ तीक्ष्ण प्रहार वाले ये तुम्हारे वज्र के समान कठोर बाण ?

भावार्थ—वैखानस कहता है कि इस मृग का शरीर अति कोमल है और तुम्हारा बाण अति कठोर है जिस प्रकार फूलो के ढेर पर पडकर अग्नि उसे तुरन्त भस्म कर देता है उसी प्रकार तुम्हारा यह बाण मृग के शरीर को नष्ट कर देगा, इन बेचारे हरिणों का कहाँ तो अति चञ्चल जीवन और कहाँ तुम्हारे ये वज्रवत् कठोर बाण, दोनों में बड़ा अन्तर है अत इस पर बाण चलाना उचित नही ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के अन्तिम दो चरणो के सामान्य अर्थ से प्रथम दो चरणों के विशेष अथ का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलकार, पुष्पराशाविवाग्नि में उपमालकार, तथा वज्रसारा मे लुप्तोपमालकार, दो क्व के द्वारा विरुद्ध कार्यों का

(प्रथम अंक में "नीवारा इत्यादि १३वें श्लोक के बाद यह श्लोक प्रक्षिप्त है ।)

अपि च—

कुल्याम्भोभि पवनचपलै शाखिनो धौतमूला,
भिन्नो राग किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।
एते चार्वागुपवनभुवि छिन्नदर्भाङ्कुरायां,
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्द चरन्ति ॥२॥

सम्बन्ध वर्णित होने से विभावनालङ्कार है और इसमे मालिनी नामक छन्द है। "न न म य य युतेय मालिनी भोगिलोकै" ।

संस्कृत व्याख्या - अस्मिन् मृदुनि मृगशरीरे=एतस्मिन् सुकुमारे हरिणदेहे, पुष्पराशौ=कुसुमसमूहे अग्नि=अनल, इव, अय बाण=एष शर, न खलु न खलु=नैव नैव, सन्निपात्य=प्रहरणीय बत=खेदे, हरिणकानाम्=दयनीयाना बालमृगाणाम्, अतिलोलम अतिसुकुमार चञ्चल च, जीवितम्=जीवनम् च, क्व=कुत्र, निशितनिपाता=तीक्ष्णप्रहारा, वज्रसारा=वज्रवत् कठोरा, ते=तव दुष्यन्तस्य, शरा=बाणा, च क्व=कुत्र ।

संस्कृत सरलार्थ—वैखानस राजान कथयति, राजन्—अतिकोमलेऽस्मिन् मृगवपुषि त्वया वज्रकठोरोऽय बाणो न प्रहरणीय । कुसुमसमूहेऽनल इव तवाय बाणो मृगशरीर त्वरितमेव नाशयिष्यति । इमे मृगा पुष्पराशिवत् सुकुमारा दयनीया निरपराधिनश्च सन्ति, पर तवेमे वाणा अग्नितुल्या वज्रवत्कठोराश्च सन्ति, अत एतादृशा बाणास्त्वया मृगशरीरे न मोक्तव्या ।

टिप्पणी

सन्निपात्य—सम्+नि+पत्+णिच्+यत् । **हरिणकानाम्**—अनुकम्पनीया हरिणा इति हरिणका तेषाम्, अत्र अनुकम्पार्थे क । **निशितनिपाता**—निशिता तीक्ष्णा निपाता प्रहारा येषान्ते—नि+शो+क्त, नि+पत्+घञ् । **वज्रसारा**—वज्रवत् सारो बल येषान्ते ।

पुष्पराशौ—पुष्पाणा राशि तस्मिन्, मृग की कोमलता, सुन्दरता और दयनीयता सूचित करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है, कालिदास ने इन गुणो को सूचित करने के लिए अन्यत्र भी पुष्पो से ही तुलना की है "को नामोष्णोदकेन नवमालिका सिञ्चति" शाकु०, यदयमम्भोजमिवोष्ण वारणम् "कुमार सम्भव"। कवि का तात्पर्य है कि मृग का वध करना वैसा ही घृणित काय है जैसे अग्नि से पुष्पो को जलाना, अन्यत्र तूलराशाविवाग्नि भी पाठ है, रुई के ढेर मे तुरन्त अग्नि लग जाती है, यह पाठ भी अच्छा है पर कालिदास द्वारा अभिप्रेत सुकुमारता सुन्दरता एव दयनीयता, तूल शब्द से प्रकट नहीं होती । **क्व**—दो क्व के प्रयोग से दोनो मे महान् अन्तर बतलाया गया है । ●

कुल्येति-अन्वय—पवनचपलै कुल्याम्भोभि शाखिन धौतमूला (सन्ति)

आज्यधूमोद्गमेन किसलयरुचाम् राग भिन्न (अवलोक्यते) एते च नष्टाशङ्का हरिणशिशव छिन्नदर्भाङ्कुरायाम् उपवनभुवि अर्वाक् मन्द-मन्दम् चरन्ति।

शब्दार्थ—पवनचपलै =वायु के द्वारा चञ्चल=हिलते हुए, कुल्याम्भोभि =(कृत्रिम नदी=कुल्या) नहर आदि के जलो से, शाखिन =वृक्ष, धौतमूला =धुली हुई जड़ों वाले (सन्ति=हैं) आज्यधूमोद्गमेन=(यज्ञ के हव्य) घृत के धुये के उठने से, किसलयरुचाम्=कोमल पत्तो (कोपलो) की, राग =कान्ति की लालिमा, भिन्न = नष्ट हो गई है। एते च=और ये, नष्टाशका =आशङ्का रहित अर्थात् निर्भीक, हरिणशिशव =मृगशावक, छिन्नदर्भाङ्कुरायाम्=कटे हुए कुशों के अकुरो वाली, उपवनभुवि=उद्यानभूमि पर, अर्वाक्=पास ही मे, मन्दमन्दम =धीरे धीरे, चरन्ति= चर रहे हैं अथवा घूम रहे हैं।

अनुवाद—वायु के द्वारा आन्दोलित किये गये नहरो आदि के जलो से वृक्ष धुली हुई जड़ों वाले हैं अर्थात् जल से उनकी जड़े धुल गई हैं। (यज्ञ के) घृत के धुयें के उठने से कोमल पत्तो की कान्ति की लालिमा विवर्ण हो गई है और ये निर्भीक मृगशावक, कटे हुए कुशकण्टको वाली उद्यानभूमि पर पास ही धीरे-धीरे घूम रहे हैं।

भावार्थ—वायु द्वारा हिलाया गया कृत्रिम नहरो का जल किनारे पर खड़े वृक्षो की जड़ों मे टकराता है जिससे उनकी जड़ें धुलकर साफ स्वच्छ दिखलाई पड़ती हैं। आश्रम मे यज्ञो का होना स्वाभाविक है, यज्ञाग्नि मे घृत का हवन किया जाता है, अग्नि मे पड़ने से जो घृत का धुआँ उठता है वह वृक्षों के नये पत्तो की कान्ति की लालिमा को विवर्ण (भदरग) कर रहा है और हरिणों के बच्चे, इस विश्वास से कि आश्रम मे कोई शिकारी हमे मारेगा नही, निर्भीक होकर उस उद्यानभूमि पर जिसमे कुशकण्टकों को काट कर साफ कर दिया गया है, पास ही मे इधर-उधर धीरे धीरे घूम रहे हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे काव्यलिङ्ग, अनुमान, स्वभावोक्ति और समुच्चय अलकार है, और मन्दाक्रान्ता नामक छन्द है "मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगै र्मोभनौ तौ गयुग्मम्"।

संस्कृत व्याख्या—पवनेन वायुना चपलै आन्दोलितै—पवनचपलै, कुल्याया कृत्रिमक्षुद्रसरित अम्भोभि जलै—कुल्याम्भोभि, शाखिन =वृक्षा, धौतानि प्रक्षालितानि मूलानि येषान्ते धौतमूला (सन्ति) आज्यस्य यज्ञियघृतस्य धूमस्य हविर्धूमस्य उद्गमेन उत्थानेन—आज्यधूमोद्गमेन, किसलयानाम् नवपल्लवानाम् रुचाम् कान्तीनाम्—किसलयरुचाम्, राग =रक्तिमा, भिन्न =विवर्ण (अवलोक्यते) एते च, नष्टा आशङ्का येषान्ते नष्टाशका निर्भया, हरिण शिशव =मृगशावका, छिन्ना दर्भाणाम् अङ्कुरा यस्या तस्याम् छिन्नदर्भाङ्कुरायाम्=लूनकुशाग्रभागायाम् उपवनभुवि=उद्यानभूमौ, अर्वाक्=समीप एव, मन्द मन्दम्=शनै शनै, चरन्ति=भ्रमन्ति।

संस्कृत सरलार्थ—वायुसञ्चालितकृत्रिमसरिज्जलै रत्रत्या वृक्षा प्रक्षालित-मूलभागा सन्ति। यज्ञियघृतधूमोत्थानेन नवपल्लवरागो विवर्णो दृश्यते। विश्वासोपगमाद-भ्रत्वा मृगशावका लूनकुशकण्टकाया मुद्यान भूमौ समीप मेव शनै शनै परिभ्रमन्ति।

प्रथम अंक मे १६वें श्लोक के बाद "प्रियंवदा—(सहासम) अत्र पयोधरविस्तार-यितृ आत्मनो यौवनमुपालभ्यस्व) के बाद यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

राजा—सम्यगियमाह—

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे,
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्या पुष्यति स्वां न शोभां,
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण ॥३॥

टिप्पणी

शाखिन—शाखा सन्त्येषामित्यर्थे शाखा+इनि। भिन्न=भिदिर्+क्त। राग=रञ्ज्+घञ्। छिन्न—छिदिर्+क्त। मन्द-मन्दम् अत्र वीप्सायां द्विरुक्ति, 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' से समस्तपदत्वात् पूर्वपदस्य विभक्ते लोप। कुल्याम्भोभि—इस पद के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रम के पास वृक्षो को सीचने के लिए कोई एक नहर या नाली बनाई गई थी, कुल्या का अर्थ नाली भी होता है।

राघवभट्ट सम्पादित निर्णयसागर से छपी अभिज्ञान शाकुन्तल मे तथा अन्य भी सस्करणो मे यह श्लोक नही मिलता सम्भवत यह श्लोक भी प्रक्षिप्त है, इसके अर्थ मे प्रथम दो पंक्तियो के अर्थ मे ही कुछ नवीनता है, शेष मे पुनरुक्ति ही है, पूर्वोक्त श्लोक मे भी यही भाव है, प्रथम मे मृगो का वर्णन है इसमे मृगशावको का, अन्य कोई नवीनता नही है, वस्तुत यह श्लोक प्रक्षिप्त ही है।

राजा—प्रियंवदा ने यह ठीक ही कहा है—

इदमिति-अन्वय—स्कन्धदेशे उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन अस्या इदम् अभिनवम् वपु पाण्डुपत्रोदरेण पिनद्धम कुसुमम् इव स्वाम शोभाम् न पुष्यति।

शब्दार्थ—स्कन्धदेशे=कन्धे पर, उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना=जिसमे कि छोटी गाँठ लगाई गई है। स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना=दोनो स्तनो के विस्तार को ढक लेने वाले, वल्कलेन=वल्कलवस्त्र से, अस्या इदम् अभिनवम् वपु=इसका यह नव-यौवन सम्पन्न सुन्दर शरीर, पाण्डुपत्रोदरेण=पीले पत्ते के मध्य भाग से, पिनद्धम्, घिरे हुये, कुसुमम् इव=फूल के समान, स्वाम् शोभाम् न पुष्यति=अपनी शोभा को नही धारण कर रहा है।

अनुवाद—कन्धे पर बँधी हुई छोटी गाँठ वाले, (और) दोनो स्तनो के विस्तार को ढक लेने वाले वल्कल वस्त्र से, इसका यह नवयौवनालकृत सुन्दर शरीर, पीले पत्ते के मध्य भाग से ढके हुये फूल के समान, अपनी शोभा को धारण नही कर रहा है।

भावार्थ—वल्कलधारिणी शकुन्तला को देखकर राजा कहता है कि इसने जो वल्कल वस्त्र धारण किया है, इसकी एक छोटी गाठ कन्धे पर बँधी हुई है और

इसने इसके दोनों स्तनो के विस्तार को ढक लिया है। इस कारण इसका यह नव यौवनशाली सुन्दर शरीर अपनी शोभा को उसी प्रकार प्रकाशित नही कर पा रहा है जैसे कि पीले पत्तो से ढका हुआ पुष्प अपनी शोभा को प्रकाशित नही कर पाता। अर्थात् वल्कल वस्त्र से आच्छादित होने के कारण इसका पूण शारीरिक सौन्दय प्रकट नही हो रहा है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे 'कुसुममिव' मे उपमालकार तथान्यत्र अनुप्रास है, मालिनी नामक छन्द है।

सस्कृत व्याख्या—स्कन्धदेशे=असप्रदेशे, उपहित वद्ध सूक्ष्म क्षुद्र ग्रन्थि बन्धनम् यस्य तेन=उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना, स्तनयुगस्य उरोजयुगलस्य परिणाहम् विस्तारम् विशालताम् वा आच्छादयितु शील मस्य तेन—स्तनपरिणाहाच्छादिना= उरोजद्वयविस्तारपिधायिना, वल्कलेन=धृतवल्कलकञ्चुकेन, अस्या शकुन्तलाया, इदम्=एतत्, अभिनवम्=मनोहरम्, वपु=शरीरम्, पाण्डुपत्राणाम्=परिणामवशात पीतवर्णदलानाम् उदरेण मध्यभागेन पाण्डुपत्रोदरेण=पीतदलाभ्य तरभागेन, पिनद्धम्=समाच्छादितम्, कुसुमम्=पुष्पम् इव स्वाम्=स्वकीयाम शोभाम्= कान्तिम्, न पुष्यति=न धारयति।

सस्कृत सरलार्थ—वल्कलधारिणी शकुन्तला मवलोक्य राजा मनसि चिन्तयति— असदेशे दत्तक्षुद्रग्रन्थिना उरोजद्वयविस्तारपिधायिना धृतेन अनेन वल्कलकञ्चुकेन नवयौवनशाल्यस्या सुन्दरमपूर्वं शरीर तथैव स्वकीय सौन्दर्यं न प्रकटी करोति यथा पीत दलाच्छादित पुष्प स्वकीया शोभा न पुष्यति।

टिप्पणी

उपहित—उप+धा+क्त—दधाते र्हि। **परिणाह**—परि+नह+घञ्— परिणाह, परिणाहो विशालता इत्यमर **आच्छादिना**—आच्छादयितु शीलमस्येति आच्छादी तेन, ताच्छील्यार्थे णिनि। **पिनद्धम्**=अपि+नह क्त, भागुरिमते पाक्षिक अकारलोप। **पाण्डुपत्रोदरेण**—पाण्डु पत्राणामुदरेण—पीले पत्तों के मध्य भाग से, वस्तुत यहाँ उदर शब्द अनावश्यक है। **अभिनवम्**—अभिनव यौवनसम्पन्न। **पुष्यति**= धारयति।

राघवभट्ट आदि द्वारा सम्पादित पुस्तको मे यह श्लोक नही है, इसे पुनरुक्तिदोष-वश छोड दिया गया है, अन्य सस्करणो मे भी यह श्लोक नही है अत इसे प्रक्षिप्त श्लोक ही समझना चाहिए। इस श्लोक के नीचे के गद्य भाग मे 'अथवा' शब्द भी अनावश्यक है, इस श्लोक के रखने पर ही 'अथवा' शब्द की उपयोगिता है, अन्यथा नही।

इस श्लोक मे शकुन्तला के द्वारा धारण किये गये वल्कलवस्त्र को उसके सौन्दर्य प्रकाशन मे बाधक बतलाया गया है, परन्तु इसके आगे के श्लोक मे "इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी" कहा गया है, राजा एक बार तो उसी वल्कल को सौन्दर्य मे बाधक बतलाता है और फिर दूसरे ही क्षण उसे ही सौन्दर्यवधक भी बतलाता है। अत इसे प्रक्षिप्त श्लोक ही मानना चाहिए।

प्रथम अंक में १९वें श्लोक के बाद, "शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) अम्मो, सलिल-
सेचनसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते" (इति भ्रमरबाधां
इसके बाद यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

राजा—(सस्पृह विलोक्य) साधु, बाधनमपि रमणीयमस्याः—

यतो यतो षट्चरणोऽभिवर्तते,
ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते,
भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम् ॥४॥

राजा—(बड़े चाव से देखकर) बहुत अच्छा, इसका खिन्न होना भी अति
।

यत-इति-अन्वय—हि यत यत षट्चरण अभिवर्तते, तत तत प्रेरितवामलोचना
भ्रू इयम् भयात् अकामा अपि अद्य दृष्टिविभ्रमम् शिक्षते।

शब्दार्थ—हि=क्योंकि, यत यत=जिस-जिस ओर, षट्चरण=भ्रमर,
=जाता है, तत तत=उस उस ही ओर, प्रेरित वामलोचना=अपने सुन्दर
घुमाने वाली, विवर्तितभ्रू=(और) भ्रुकुटी को उसी ओर परिवर्तित कर लेने
इयम्=यह, शकुन्तला, भयात्=भय के कारण, अकामा अपि=कामभावना
भी अथवा न चाहती हुई भी, अद्य=आज, दृष्टिविभ्रमम्=कटाक्षनिक्षेप
ो, कटाक्षपात की विधि को, शिक्षते=सीख रही है, अर्थात् कटाक्षपात का
कर रही है।

अनुवाद—क्योंकि जिस-जिस ओर भ्रमर जाता है, उस-उस ओर ही अपने
नेत्रों को घुमा देने वाली (और) भौंहो को भी उसी ओर चला देने वाली यह
, भय के कारण न चाहती हुई भी आज कटाक्षपात का अभ्यास कर रही है।

भावार्थ—भ्रमर बाधा से भयकातरा शकुन्तला को देखकर राजा सोचता
कि यह इस समय जिस-जिस ओर यह भ्रमर जाता है उस-उस ओर ही यह
दर नेत्रों को घुमाकर और उस ही ओर को अपनी भौंहों को भी तान कर
ाती है अत ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह आज इस प्रकार न चाहते हुये
ाश कटाक्षपात की विधि का अभ्यास कर रही है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे सकामत्वरूप कारण के अभाव मे भी शिक्षणरूप कार्य
त्ति बतलाने से और भयात् इस पद के प्रयोग से यहाँ उक्तनिमित्ता विभावना
है शिक्षते का अर्थ यहाँ 'शिक्षते इव' है अत यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षालकार है।
ामक छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—हि=यस्मात् कारणात्, यत यत=यस्यां यस्या दिशि,
=भ्रमर, अभिवर्तते, धावति, तत तत=तस्या तस्यां दिशि, प्रेरिते निक्षिप्ते

वामे सुन्दरे लोचने नेत्रे यया सा—प्रेरितवामलोचना, विवर्तिता विशेषेण सञ्चालिता भ्रू यया सा—विवर्तितभ्रू =परिवर्तित भ्रुकुटि, इयम्=शकुन्तला, भयात्=भ्रमर-भयवशात्, अकामा अपि=इच्छाविरहिता अपि सती, अद्य=अधुना, दृष्टे विभ्रमम्=दृष्टिविभ्रमम्=कटाक्षनिक्षेपम्, शिक्षते=अभ्यसतीव।

संस्कृत सरलार्थ—भ्रमरभयकातरा शकुन्तला निरीक्ष्य दुष्यन्त स्वमनसि चिन्तयति, भ्रमरोऽय यस्या यस्या दिशि धावति तस्या तस्यामेव दिशि इय स्वमनोहर-लोचने निक्षिपति एव परिवर्तितभ्रूरप्यस्ति, अनेन प्रतीयते यदियमद्य स्वेच्छाविरहितापि सती भ्रमरभयवशात् कटाक्षनिक्षेपविधिमभ्यस्तीवेति।

टिप्पणी

यत यत—अत्र "इतराभ्योऽपि दृश्यते" इति सप्तम्यर्थे तसिल्। **षट्चरण** षट्पद भ्रमर, **भयात्**—अत्र हेत्वर्थे पञ्चमी। **अकामा**—न काम इच्छा यस्या सा, तापसबाला होने से उसे कटाक्षनिक्षेपविधि को सीखने की आवश्यकता न थी, पर भ्रमर ने उसको नेत्र और भ्रू लता को भयवश इधर-उधर सञ्चालन करने के लिये विवश कर दिया था, आत्मरक्षार्थ उसे चञ्चल नेत्रा एव परिवर्तित भ्रू देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है। मानो वह कटाक्षनिक्षेप का अभ्यास कर रही हो। अकामा का अर्थ कामभावना रहिता भी है। वस्तुत सकामा युवती ही कटाक्षनिक्षेप सीखती है, पर तापस बाला को इसकी आवश्यकता न थी। **दृष्टिविभ्रमम्**—दृष्टि अर्थात् नेत्रो का एक विशेष प्रकार से सञ्चालन।

यह श्लोक भी प्रक्षिप्त है अत कई सस्करणो मे यह उपलब्ध नही होता, इस श्लोक का भाव आगे वाले श्लोक मे आ गया है अत इसकी कोई उपयोगिता भी नहीं है। भाव एव प्रसग के अनुकूल होने से कुछ सस्करणो मे यह श्लोक देखा जाता है, वस्तुत इसे प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। ●

प्रथम अक मे २६वें श्लोक के आगे "राजा—मा भैवम्। वचनेनैवात्र भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि"।

इस गद्य के आगे 'यह गद्यांश भी कुछ सस्करणो मे प्रक्षिप्त मिलता है—

शकुन्तला—अनसूये, अभिनवकुशसूच्या परिक्षत मे चरण, कुरबक-शाखा परिलग्न च वल्कलम्। तावत्परिपालयत मां यावदेतन्मोचयामि।

अणसूए, अहिणअकुससूईए परिक्खद मे चलण कुरवअसाहापरिलग्ग अ वक्कल। दाव परिपालेध म जाव ण मोआवेमि।

अनुवाद—शकुन्तला—अनसूया, नवीन कुश के अग्रभाग से मेरा पैर घायल हो गया है और मेरा वल्कल कुरवक वृक्ष की शाखा मे उलझ गया है, जब तक मैं इसे छुडाऊँ तब तक तुम लोग मेरी प्रतीक्षा करो। ●

चतुर्थ अक मे "अन्तर्हिते शशिनि—इत्यादि तीसरे श्लोक के बाद, एक बगला सस्करण मे, निम्नलिखित दो श्लोक और उपलब्ध होते हैं, ये पूणत प्रक्षिप्त है, अतएव यहाँ इनका सक्षिप्त अर्थ ही दिया जा रहा है —

अपि च—

(१) कर्कन्धूनामुपरि तुहिन रञ्जयत्यग्रसन्ध्या,
दार्भं मुञ्चत्युटजपटल वीतनिद्रो मयूर ।
वेदिप्रान्तात् खुरविलिखिता दुत्थितश्चैष सद्य ,
पश्चादुच्चै र्भवति हरिण स्वाङ्गमायच्छमान् ॥

अर्थात् बेर की झाडियो पर (पडी हुई) ओस की बूदो को प्रात कालीन सन्ध्या अनुरञ्जन कर रही है अर्थात् ओस की सफेद बूदो को रक्ताभ बना रही है। प्रात जागा हुआ मयूर कुश निर्मित कुटीर की छत को छोड रहा है। खुरो से खुदी हुई यज्ञ वेदी के किनारे से उठा हुआ यह मृग अपने अगो को फैलाता हुआ पीछे मे उठ रहा है। इसमे मृग स्वभाव का वणन होने से स्वभावोक्ति अलकार और मन्द्राक्रान्ता छन्द है।

(२) पादन्यास क्षितिधरगुरो र्मुर्ध्नि कृत्वा सुमेरो ,
क्रान्त येन क्षपिततमसा मध्यम धाम विष्णो ।
सोऽय चन्द्र पतति गगनादल्पशेषै र्मयूखै ,
अत्यारुढि र्भवति महता मप्यपभ्र शनिष्ठा ॥

अर्थात् पवतराज सुमेरु की चोटी पर पैर रखकर (अपने किरणो को फैलाकर) अन्धकार को दूर करने वाला जो चन्द्रमा विष्णु के मध्यम स्थान अर्थात् आकाश पर आरुढ हुआ था, वही यह अब प्रात काल अपनी थोडी-सी शेष किरणो के साथ आकाश से गिर रहा है, महापुरुषो का भी अत्युच्च स्थान पर आरुढ होना पतन मे ही परिवर्तित होता है। प्रस्तुत पद्य मे श्लेष, समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास अलकार एव मन्दाक्रान्ता छन्द है।

सप्तम अक मे ३३वें श्लोक के बाद "राजा यवा ज्ञापयति भगवान्" के बाद यह एक श्लोक अन्य सस्करणों मे उपलब्ध होता है, जो कि अनावश्यक होने से प्रक्षिप्त ही समझा जाना चाहिए —

मारीच —अपि च .—

तव भवतु बिडौजा. प्राज्यवृष्टि प्रजासु,
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिण प्रीणयस्व ।
युगशत परिवर्तनिवमन्योन्यकृत्यै—
र्नयत मुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयै . ॥५॥

तवेति-अन्वय—बिडौजा तव प्रजासु प्राज्यवृष्टि भवतु, त्वम् अपि विततयज्ञ.